कल्याण

श्रीभगवत्कृपाङ्क

प्रभु मूरति कृपामई है

छूट न राम कृपा बिनु
नाथ कहहुँ पद रोपि

संख्या १

श्रीहरिः

'कल्याण'के प्रेमी पाठकों और ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

१—'श्रीभगवत्कृपा-अङ्क' नामक यह विशेषाङ्क प्रस्तुत है। इसमें ५२८ पृष्ठोंकी है। सूची आदि अलग हैं। बहुत-से बहुरंगे, दुरंगे, इकरंगे तथा रेखा-चित्र भी दिये गये हैं।

२—जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिख दें, जिससे वी० पी० भेजकर 'कल्याण'को व्यर्थ हानि न उठानी पड़े।

३—**मनीआर्डर-कूपनमें और वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें स्पष्टरूपसे अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या स्मरण न होनेकी स्थितिमें 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नया ग्राहक बनना हो तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।** मनीआर्डर 'व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय'के नाम भेजें, उसमें किसी व्यक्तिका नाम न लिखें।

४—ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जायगा। इससे आपकी सेवामें 'श्रीभगवत्कृपा-अङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० चली जाय। दोनो ही स्थितियोंमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटाये नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको नया ग्राहक बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका 'कल्याण' हानिसे बचेगा और आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५—'श्रीभगवत्कृपा-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड पोस्टसे जायगा। हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग ४-५ सप्ताह तो लग ही सकते हैं। ग्राहक महोदयोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-सख्याके क्रमानुसार जायगा। इसलिये यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

६—आपके 'विशेषाङ्क'के **लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नम्बर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें।** रजिस्ट्री या वी० पी० नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये।

७—'कल्याण-व्यवस्था-विभाग' तथा गीताप्रेसके नाम अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर **पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)**—इस प्रकार पता लिखना चाहिये।

८—'कल्याण-सम्पादन-विभाग', 'साधक-संघ' तथा '**नामजप-विभाग**'को भेजे जानेवाले पत्रादिपर **पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)**—इस प्रकार पता लिखना चाहिये।

९—सजिल्द अङ्क देरसे ही जा सकेंगे। ग्राहक महोदय क्षमा करें।

व्यवस्थापक—**कल्याण-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र०**

भ० कृ० अं० क—

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य रत्न हैं। दोनों ही ऐसे प्रासादिक एवं आशीर्वादात्मक ग्रन्थ हैं, जिनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना कल्याण कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदिकी कोई बाधा नहीं है। आजके नाना भयोंसे आक्रान्त भोग-तमसाच्छन्न समयमें तो इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है। धर्मप्राण जनताको इन मङ्गलमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंका अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे गीता-रामायण-प्रचार-संघकी स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंको, जिनकी संख्या इस समय लगभग पचपन हजार है, श्रीगीताके छः प्रकारके, श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके एवं उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणीमें रखा गया है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित हों। पत्र-व्यवहारका पता—'मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्म-विकासपर ही अवलम्बित है। आत्म-विकासके लिये सदाचार, सत्यता, सरलता, निष्कपटता, भगवत्परायणता आदि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, लोभ, द्वेष, हिंसा आदि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग २८ वर्ष पूर्व 'साधक-संघ'की स्थापना हुई थी। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी एवं एक आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको ४५ पैसेके डाक-टिकट या मनीआर्डर अग्रिम भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। **विशेष जानकारीके लिये कृपया नियमावली निःशुल्क मँगवाइये।** संघसे सम्बन्धित हर प्रकारका पत्र-व्यवहार नीचे लिखे पतेपर करना चाहिये।

संयोजक—साधक-संघ, पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद—गोरखपुर (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय, दिव्यतम ग्रन्थ हैं, इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको पढ़कर भी अचिन्त्य लाभ उठाया है। लोकमानसको इन ग्रन्थोंके प्रचारसे अधिकाधिक उजागर करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग २०,००० परीक्षार्थियोंके लिये ५०० परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्न-लिखित पतेपर कार्ड डालें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

श्रीहरि

'श्रीभगवत्कृपा-अङ्क'की विषय-सूची

चरित्र

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र

दोरंगा चित्र

रेखा-चित्र

कृपासिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

यस्य श्रीकरुणार्णवस्य करुणालेशेन बालो ध्रुवः स्वेष्टं प्राप्य समार्यधाम समगाद्रङ्कोऽप्यविन्दच्छ्रियम् ।
याता मुक्तिमजामिलादिपतिताः शैलोऽपि पूज्योऽभवत् तं श्रीमाधवमाश्रितेष्टदमहं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ५० } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०१, जनवरी १९७६ { संख्या १
पूर्ण संख्या ५९०

कृपासिन्धुकी चरण-वन्दना

चरण-कमल बंदौं हरि-राइ ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कछु दरसाइ ॥
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बंदौं तिहिं पाइ ॥
(सूरसागर १)

वेदोंमें भगवत्कृपा

उदु तिष्ठ स्वध्वर स्तवानो देव्या कृपा।
अभिख्या भासा बृहता शुशुक्वनिः॥ (ऋग्वेद ८। २३। ५)

मार्गदर्शक प्रभो! (भक्तोंकी रक्षाके निमित्त) आप सदा उत्थित (तत्पर) ही रहें। आप सुप्रसिद्ध, प्रकाशमान, दिव्य एवं महती कृपासे देदीप्यमान होते हैं अर्थात् स्तुतिसे प्रसन्न होकर निःसीम कृपालु होनेके कारण निजजनोंकी रक्षा-हेतु सदा प्रस्तुत रहते हैं।

त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतो य ईं भवन्त्याजयः।
तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवोऽवस्युर्नाम भिक्षते॥ (ऋग्वेद ७। ३२। १७)

हे प्रभो! सबके धन-प्रदाता एकमात्र आप ही हैं। जो भी आन्तर और बाह्य संघर्ष होते हैं, उनमें (विजेता-रूपमें) आपका ही यश सुना जाता है। हे बहुप्रार्थित परमात्मन्! समस्त प्राणी आपके हैं और यह प्रसिद्ध है कि अपनी रक्षाके लिये मानव आपसे ही याचना करते हैं।

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। (यजुर्वेद ३६। १८)

अज्ञाननाशक प्रभो! (आपकी कृपासे) सब प्राणी मुझे मित्रकी दृष्टिसे देखें, मैं भी समस्त प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखूँ। हम सब परस्पर मित्रकी दृष्टिसे देखें।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्। (यजुर्वेद ३६। २४)

देवताओंके हितचिन्तक तथा पापोंसे सर्वथा असंस्पृष्ट जो प्रभु आदित्यरूपसे पूर्व-दिशामें प्रत्यक्ष उदय होते हैं, (उनकी कृपासे) हम सौ वर्षोंतक जीवित रहें, सौ वर्षोंतक देखते रहें, सौ वर्षोंतक सुनते रहें, सौ वर्षोंतक बोलते रहें, सौ वर्षोंतक दीनतारहित रहें, सौ वर्षोंके बाद भी पुनः 'शरदः शतम्'की आवृत्ति होती रहे।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥ (अथर्ववेद १९। १५। ५)

प्रभो! हमें अन्तरिक्षलोकसे अभय करें, द्युलोक एवं पृथ्वीलोक—इन दोनोंसे अभय करें। (आपकी कृपासे) हमें आगे, पीछे, ऊपर, नीचे—चारों ओरसे अभय प्राप्त हो।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ (अथर्ववेद १९। १५। ६)

हम मित्रसे अभय हों, शत्रुसे भी अभय हों, ज्ञात और अज्ञात—दोनोंसे अभय प्राप्त हों! रात्रि और दिवस अभयप्रद हों। समस्त दिशाएँ मेरी मित्र हों।

विश्वतोदावन्विश्वतो न आ भर यं त्वा शविष्ठमीमहे। (सामवेद ४३७)

दाता प्रभो! हम जिस अति बलिष्ठ (आप)की याचना करते हैं, वे (आप) सब प्रकारसे हमारी चारों ओरसे रक्षा करें।

इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवानावनाधृष्यौ सुप्रतीकावसह्यौ।
तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते याभ्यां जितमसुराणां सहो महत्॥ (सामवेद १८६९)

परमात्माके विचार और उत्साह अथवा व्यवसाय और अध्यवसायरूप दो सुन्दर भुजाएँ हैं, जो अति प्राचीन, नित्य नवीन, अधृष्य एवं बलिष्ठ हैं, जिनसे अनेक बार बाह्य एवं आभ्यन्तर शत्रुओंके महान् बलको पराजित किया गया है; प्रभु अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये अवसर आनेपर उन सर्वोत्कृष्ट भुजाओंका उपयोग करते हैं।

उपनिषदोंमें भगवत्कृपा-दर्शन

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्॥

(कठोपनिषद् १ । २ । २३)

ये परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे, न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकते हैं, जिसको ये (कृपापूर्वक) स्वीकार कर लेते हैं, उसके द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं। ये परमात्मा उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देते हैं।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ । २०)

वे सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, महान्से भी महान् परमात्मा इस जीवकी हृदयरूपा गुफामें छिपे हुए हैं। सबकी रचना करनेवाले परमेश्वरकी कृपासे उन संकल्परहित परमेश्वरको, उनकी महिमाको जो देख लेता है, वह सब प्रकारके दुःखोंसे रहित हो जाता है।

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४ । १५)

वे (परमदेव परमेश्वर) ही समयपर समस्त ब्रह्माण्डोंकी रक्षा करनेवाले तथा समस्त जगत्के अधिपति एवं समस्त प्राणियोंमें छिपे हुए हैं; जिनमें वेदज्ञ महर्षिगण और देवतालोग भी ध्यानद्वारा संलग्न हैं, उन परमदेव परमेश्वरको इस प्रकार जानकर मनुष्य मृत्युके बन्धनोंको काट डालता है।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ । १२)

जो अकेले ही बहुत-से अक्रिय जीवोंके शासक हैं और एक प्रकृतिरूप बीजको अनेक रूपोंमें परिणत कर देते हैं, उन हृदयस्थित परमेश्वरको जो धीर पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परमानन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि॥

(ईशावास्योपनिषद् १६)

हे भक्तोंका पोषण करनेवाले! हे मुख्य ज्ञानस्वरूप! हे सबके नियन्ता! हे भक्तोंके परम लक्ष्यरूप! हे प्रजापतिके प्रिय! इन रश्मियोंको एकत्र कीजिये या हटा लीजिये। इस तेजको समेट लीजिये या अपने तेजमें मिला लीजिये, जो आपका अतिशय कल्याणमय दिव्य स्वरूप है। आपके उस दिव्य स्वरूपको मैं आपकी कृपासे ध्यानके द्वारा देख रहा हूँ। वह जो सूर्यका आत्मा है, वह परम पुरुष आपका ही स्वरूप है, मैं भी वही हूँ।

आर्तत्राणपरायणनारायणाष्टादशकस्तोत्र

(अनुवादक—प० श्रीरमाधारजी शुक्ल, शास्त्री, साहित्यकेसरी)

प्रह्लाद प्रभुरस्ति चेत्तव हरिः सर्वत्र मे दर्शय स्तम्भे चैनमिति ब्रुवन्तमसुरं तत्राविरासीद्धरिः ।
वक्षस्तस्य विदारयन्निजनखैर्वात्सल्यमावेदयन्नार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ १ ॥

'प्रह्लाद ! यदि तेरा स्वामी हरि सर्वत्र है तो तू उसे इस खंभेमें मुझे दिखा ।' दैत्यराज हिरण्यकशिपुके ऐसा कहते ही श्रीहरि वहाँ आविर्भूत हो गये और (प्रह्लादपर) स्नेह प्रदर्शित करते हुए उन्होंने हिरण्यकशिपुके वक्षःस्थलको अपने नखोंसे विदीर्ण कर दिया । इस प्रकार आर्तजनोंकी रक्षामें तत्पर रहनेवाले वे भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

श्रीरामात्र विभीषणोऽयमधुना त्वार्तो भयादागतः सुग्रीवानय पालयेऽहमधुना पौलस्त्यमेवागतम् ।
एवं योऽभयमस्य सर्वविदितं लङ्काधिपत्यं ददावार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ २ ॥

(सुग्रीवने कहा—) 'श्रीराम ! यह आर्त विभीषण अभी-अभी भयभीत होकर (शरणमें) आया है, आप इसकी रक्षा कीजिये ।' (तब श्रीराम बोले—) 'सुग्रीव ! उसे शीघ्र ले आओ, मैं इस समय उस शरणागत पुलस्त्यनन्दन विभीषणकी रक्षा अवश्य करूँगा ।' इस प्रकार जिन्होंने विभीषणको अभयदान तथा सर्वविदित लंकाका आधिपत्य प्रदान किया, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

नक्रग्रस्तपदं समुद्यतकरं ब्रह्मेश देवेश मां पाहीति प्रचुरार्तरावकरिणं देवेश शक्तीश च ।
मा शोचेति ररक्ष नक्रवदनाच्चक्रश्रिया तत्क्षणादार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ ३ ॥

ग्राहद्वारा पैर पकड़ लिये जानेपर जो अपनी सूँडको ऊपर उठाकर 'ब्रह्मेश ! देवेश ! देवाधिदेव ! शक्तीश ! मेरी रक्षा कीजिये ।' यों उच्चस्वरसे आर्तनाद कर रहा था, उस गजेन्द्रकी उसी क्षण 'मा शोच—शोक मत करो—यों कहते हुए जिन्होंने सुदर्शन चक्रद्वारा ग्राहके मुखसे छुड़ाकर रक्षा की, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

हा कृष्णाच्युत हा कृपाजलनिधे हा पाण्डवानां सखे क्वासि क्वासि सुयोधनादवगतां हा रक्ष मां द्रौपदीम् ।
इत्युक्तोऽक्षयवस्त्ररक्षिततनुं योऽरक्षदापद्गणादार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ ४ ॥

'हा कृष्ण ! हा अच्युत ! हा कृपाजलनिधे ! हा पाण्डुपुत्रोंके सुहृद् ! आप कहाँ हैं ? आप कहाँ हैं ? सुयोधनद्वारा अपमानित की जाती हुई मुझ द्रौपदीकी रक्षा कीजिये ।' इस प्रकार पुकारे जानेपर जिन्होंने अक्षय वस्त्रद्वारा शरीरको सुरक्षित करते हुए आपत्तिसमूहसे द्रौपदीकी रक्षा की, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

यत्पादाब्जनखोदकं त्रिजगतां पापौघविध्वंसनं यन्नामामृतपूरणं च पिबतां संतापसंहारकम् ।
पाषाणश्च यदङ्घ्रितो निजवधूरूपं मुनेराप्तवानार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ ५ ॥

जिनके चरणकमलके नखोंका धोवन-जल त्रिलोकीके पापसमूहका विध्वंसक है, जिनका नाम अमृतसे भरपूर एवं उसका पान करनेवालोंके संतापका विनाशक है और जिनके चरणस्पर्शसे मुनि-पत्नी अहल्या पाषाणरूपको त्यागकर अपने मानव-रूपको प्राप्त हो गयी, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

यन्नामश्रुतिमात्रतोऽपरिमितं संसारवारांनिधिं त्यक्त्वा गच्छति दुर्जनोऽपि परमं विष्णोः पदं शाश्वतम् ।
तन्नैवाद्भुतकारणं त्रिजगतां नाथस्य दासोऽस्म्यहमार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ ६ ॥

जिनके नाम-श्रवणमात्रसे दुर्जन भी अपार संसारसागरको पार करके भगवान् विष्णुके अविनाशी परमपदको यदि प्राप्त हो जाता है तो यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है । (जब दुर्जनकी यह दशा है, तब मेरे लिये तो कहना ही क्या है; क्योंकि) मैं तो त्रिलोकीनाथका दास हूँ । ऐसे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

पित्रा भ्रातरमुत्तमाङ्कगमितं भक्तोत्तमं यो ध्रुवं दृष्ट्वा तत्सममारुरुक्षुमुदितं मात्रावमानं गतम् ।
योऽदात्तं शरणागतं तु तपसा हेमाद्रिसिंहासनं ह्यार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ ७ ॥

अपने भ्राता उत्तमको पिताद्वारा अपनी गोदमें बैठाया हुआ देखकर ध्रुवने भी उसीके समान प्रसन्न होकर गोदमें चढ़नेकी इच्छा की, किंतु विमाता सुरुचिने उन्हें तिरस्कारपूर्वक झिड़क दिया, तब ध्रुव तपस्या करके भगवान्‌के शरणागत हुए । इसके फलस्वरूप भक्तश्रेष्ठ ध्रुवको जिन्होंने स्वर्णसिंहासन प्रदान किया, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

नाथेति श्रुतयो न तत्त्वमतयो घोषस्थिता गोपिका जारिण्यः कुलजातिधर्मविमुखा अध्यात्मभावं ययुः ।
भक्तिर्यस्य ददाति मुक्तिमतुलां जारस्य यः सद्गतिर्ह्यार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ ८ ॥

व्रजके घोषोंमें रहनेवाली गोपिकाएँ न तो श्रुतिकी जानकार थीं; न उन्हें तत्त्वका ही ज्ञान था; अपितु वे कुल और जातिके धर्मसे विमुख जारिणी थीं; फिर भी (भगवद्गतमानसा होनेके कारण) वे अध्यात्मभावको प्राप्त हुईं । इस प्रकार जिनकी भक्ति अतुलनीय मोक्ष प्रदान करती है तथा जो जारकी भी सद्गति हैं, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

क्षुत्तृष्णार्तसहस्रशिष्यसहितं दुर्वाससं क्षोभितं द्रौपद्या भयभक्तियुक्तमनसा शाकं स्वहस्तार्पितम् ।
भुक्त्वातर्पयदात्मवृत्तिमखिलामावेदयन् यः पुमानार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ ९ ॥

जिन महापुरुषने द्रौपदीद्वारा भय और भक्तियुक्त मनसे अपने हाथसे दिये गये शाक-पत्रका भोग लगाकर अखिल आत्मवृत्तिको प्रदर्शित करते हुए भूख और प्याससे व्याकुल अपने सहस्र शिष्योंसहित क्षुब्ध दुर्वासाको तृप्त कर दिया, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

येनारक्षि रघूत्तमेन जलधेस्तीरे दशास्यानुजस्त्वायातं शरणं रघूत्तम विभो रक्षातुरं मामिति ।
पौलस्त्येन निराकृतोऽथ सदसि भ्रात्रा च लङ्कापुरे ह्यार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ १० ॥

दशाननका छोटा भाई विभीषण लंकापुरीमें अपने ज्येष्ठ भ्राता पुलस्त्यनन्दन रावणद्वारा राजसभामें तिरस्कृत होकर समुद्रतटपर आया और 'सर्वव्यापक रघुश्रेष्ठ श्रीराम ! मुझ दुःखातुर शरणागतकी रक्षा कीजिये ।'—यों पुकार की, तब जिन रघुवंशशिरोमणिने उसकी रक्षा की, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

येनावाहि महाहवे वसुमती संवर्तकाले महालीलाक्रोडवपुर्धरेण हरिणा नारायणेन स्वयम् ।
यः पापिद्रुमसम्प्रवर्तमचिराद्धत्वा च योगात् प्रियामार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ ११ ॥

प्रलयकालमें लीलामय महान् सूकरका रूप धारण करनेवाले जो नारायण श्रीहरि स्वयं अपनी प्रिया पृथ्वीको धारण करनेके कारण सम्मुख उपस्थित कण्टकवृक्ष-सदृश हिरण्याक्षको उस महासमरमें शीघ्र ही मारकर पृथ्वीको अपने दंष्ट्राग्रपर धारण किये हुए जलके ऊपर आये, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

योद्धासौ भुवनत्रये मधुपतिर्भर्ता नराणां बले राधाया अकरोद्रते रतिमनःपूर्तिं सुरेन्द्रानुजः ।
यो वा रक्षति दीनपाण्डुतनयान्नाथेति भीतिं गतानार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥ १२ ॥

जो बलमें त्रिलोकीमें सर्वप्रधान योद्धा, मधु-वंशके स्वामी, मनुष्योंका भरण-पोषण करनेवाले और देवराज इन्द्रके अनुज (उपेन्द्र) हैं, जिन्होंने सुरतकालमें राधाकी रतिविषयिणी कामनाकी पूर्ति की है, जो दीन-हीन पाण्डुपुत्रों तथा 'हे नाथ ! (रक्षा कीजिये)' इस प्रकार कहनेवाले भयभीत जनोंके रक्षक हैं, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

यः सांदीपनिदेशतश्च तनयं लोकान्तरात्संनतं चानीय प्रतिपाद्य पुत्रमरणाद्दुःखाभिभूतायं ।
संतोषं जनयन्नमेयमहिमा पुत्रार्थसम्पादनादार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥१३॥

जिन अप्रमेय महिमाशाली श्रीकृष्णने गुरु सांदीपनिके आदेशसे अन्य लोकमें गये हुए गुरु-पुत्रको लाकर पुत्र-मरणसे अत्यन्त दुःखी गुरुको प्रदान किया और इस प्रकार पुत्रानयनरूप प्रयोजनकी पूर्तिद्वारा गुरुको संतुष्ट किया, वे आर्तजन-रक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

यन्नामस्मरणादघौघसहितो विप्रः पुराजामिलः प्राणान्मुक्तिमदोपितामनु च यः पापौघदावाग्नियुक् ।
सद्यो भागवतोत्तमात्मनि मतिं प्रापाम्बरीषाभिधश्चार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥१४॥

प्राचीन कालमें पापसमूहसे युक्त अजामिल नामक ब्राह्मण पापसमुदायरूप दावानलसे घिरा हुआ था, उसके प्राण जिनके नाम-स्मरणसे सर्वथा मुक्त हो गये, तत्पश्चात् उसकी बुद्धि तुरंत उत्तम भागवतोंमें संलग्न हो गयी और वह अम्बरीषनामसे प्रसिद्ध हुआ, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

योऽरक्षद्वसनादिनित्यरहितं विप्रं कुचैलाभिधं दीनादीनचकोरपालनपरः श्रीशङ्खचक्रोज्ज्वलः ।
तज्जीर्णाम्बरमुष्टिमात्रपृथुकानादाय भुक्त्वा क्षणादार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥१५॥

दीन-अदीन (धनी-गरीब)रूप चाकरों (स्वाभिमुखी भक्तों)के पालनमें तत्पर तथा शङ्ख और चक्र-की-सी उज्ज्वल कीर्तिवाले जिन श्रीकृष्णने सदैव अच्छे वस्त्र आदिसे हीन एवं फटे-पुराने वस्त्रधारी सुदामा नामक ब्राह्मणकी उनके पुराने वस्त्रमें बँधे हुए चावल-कणोंकी मुट्ठीमात्र खाकर रक्षा की, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

यत्कल्याणगुणाभिराममलं मन्त्राणि संशिक्षते यत्संदोतिपतिप्रतिष्ठितमिदं विश्वं वदत्यागमः ।
यो योगीन्द्रमनःसरोरुहतमःप्रध्वंसविज्ञानुमानार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥१६॥

मन्त्र जिनके परम सुन्दर एवं निर्मल कल्याणगुणोंकी शिक्षा देते हैं, आगम इस विश्वको जिनके द्वारा प्रतिष्ठित बतलाता है और जो योगीन्द्रोंके मनः-कमलके अन्धकारका प्रध्वंस करनेमें निपुण सूर्य हैं, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

कालिन्दीहृदयाभिरामपुलिने पुण्ये जगन्मङ्गले चन्द्राम्भोजवटे पुटे परिसरे धात्रा समाराधिते ।
श्रीरङ्गे भुजगेन्द्रभोगशयने शेते सदा यः पुमानार्तत्राणपरायणः स भगवान् नारायणो मे गतिः ॥१७॥

जो महापुरुष यमुनाजीके हृदयाभिराम, पावन और जगन्मङ्गल पुलिनमें, चन्द्राम्भोज नामक वटवृक्षके दोनेमें, ब्रह्माद्वारा भलीभाँति पूजित कालिन्दीके कछारमें और श्रीरंगमें शेषनागके फणोंकी शय्यापर सदा शयन करते हैं, वे आर्तजनरक्षक भगवान् नारायण मेरी गति हैं ।

वात्सल्यादभयप्रदानसमयादार्तार्तिनिर्वापणादौदार्यादघशोषणादगणितश्रेयःपदप्रापणात् ।
सेव्यः श्रीपतिरेव सर्वजगतामेते हि तत्साक्षिणः प्रह्लादश्च विभीषणश्च करिराट् पाञ्चाल्यहल्या ध्रुवः ॥१८॥

वात्सल्य, अभयदानकी प्रतिज्ञा, आर्त-दुःख-निवारण, उदारता, पापके विनाश और असंख्य कल्याण-पदोंकी प्राप्ति करानेके कारण सभी लोकोंके लिये लक्ष्मीपति नारायण ही सेव्य हैं । इस विषयमें प्रह्लाद, विभीषण, गजेन्द्र, द्रौपदी, अहल्या और ध्रुव—ये सभी साक्षी हैं ।

॥ इति श्रीमदाद्यशंकराचार्यविरचितमार्तत्राणपरायणनारायणाष्टादशकं सम्पूर्णम् ॥

श्रीपादरूपगोस्वामिविरचित श्रीकार्पण्यपञ्जिकास्तोत्र

(अनुवादक—गोलोकवासी श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री)

तिष्ठन् वृन्दाटवीकुञ्जे विज्ञप्तिं विदधात्यसौ। वृन्दाटवीशयोः पादपद्मेषु कृपणो जनः॥

वृन्दाकाननके कुञ्जमे स्थित हुआ यह दीनजन वृन्दावनेश्वर श्रीकृष्ण तथा वृन्दावनेश्वरी श्रीराधाके चरणकमलोंमे इस प्रकार निवेदन करता है।

* * * * *

योग्यता मे न काचिद् वां कृपालाभाय यद्यपि। महाकृपालुमौलित्वात् तथापि कुरुतं कृपाम्॥
अयोग्ये सापराधेऽपि दृश्यन्ते कृपयाकुलाः। महाकृपालवो हन्त लोके लोकेशवन्दितौ॥
भक्तेर्वा करुणाहेतोर्लेशाभासोऽपि नास्ति मे। महालीलेश्वरतया तदप्यत्र प्रसीदतम्॥
जने दुष्टेऽप्यभक्तेऽपि प्रसीदन्तो विलोकिताः। महालीला महेशाश्च हा नाथौ बहवो भुवि॥
अधमोऽप्युत्तमं मत्वा स्वमज्ञोऽपि मनीषिणम्। शिष्टं दुष्टोऽप्ययं जन्तुर्मन्तुं व्यधित यद्यपि॥
तथाप्यस्मिन् कदाचिद् वामधीशौ नामजल्पिनि। अवद्यवृन्दनिस्तारिनामाभासौ प्रसीदतम्॥
यदक्षम्यं नु युवयोः सकृद् भक्तिलवादपि। तदागः क्वापि नास्त्येव कृत्वाशां प्रार्थये ततः॥

यद्यपि मुझमे आपकी कृपाको प्राप्त करनेकी कोई योग्यता नहीं है, फिर भी महाकृपालुओंके मुकुटमणि होनेके कारण आप दोनों इस दीनपर अवश्य कृपा करें। हे लोकपालोंके द्वारा वन्दित प्रिया-प्रियतम! बड़े ही हर्षकी बात है कि इस जगत्मे ऐसे महान् कृपालु भी देखे जाते हैं, जो अयोग्य एवं अपराधी जनके प्रति भी दयासे कातर हो जाते हैं (फिर आप तो उन सबके शिरोमणि ही ठहरे)। मैं जानता हूँ कि भक्ति ही आपके हृदयमे करुणाका संचार करती है, किंतु मुझ दीनमें भक्तिके लेशका आभास भी नहीं ह। फिर भी आप दोनों बडे ही लीलामय एव सर्वसमर्थ हैं, अतः इस जनपर अवश्य प्रसन्न होइये। हे प्राणेश्वर! एवं हे प्राणेश्वरि! इस पृथ्वीपर बहुत-से ऐसे महान् कौतुकी एवं महासमर्थ पुरुष दुष्ट एवं अभक्तोंपर भी प्रसन्न होते देखे जाते हैं। यद्यपि यह प्राणी अधम होते हुए भी अपनेको उत्तम समझता है, अज्ञानी होनेपर भी अपनेको पण्डित मान बैठा है और दुष्टोंका सरदार होकर भी अपनेको शिष्ट माने हुए है और इस प्रकार वह आपका विशेष अपराधी है, फिर भी कभी-कभी यह आप दोनोंके नामका उच्चारण कर लेता है। अतः हे स्वामिन्! एवं स्वामिनि! मुझपर आप दोनों अवश्य रीझ जायँ; क्योंकि आपका नामाभास भी राशि-राशि दोषोंसे छुटकारा दिला देता है। एक बार भक्तिका लेशमात्र आचरण करनेपर भी आप दोनों जिसे क्षमा न कर दें, ऐसा अपराध कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता—इसी आशाको लेकर मैं आपके श्रीचरणोंमे यह याचना कर रहा हूँ।

हन्त क्लीबोऽपि जीवोऽयं नीतः कष्टेन धृष्टताम्। मुहुः प्रार्थयते नाथौ प्रसादः कोऽप्युदञ्चतु॥
एष पापी रुदन्नुच्चैरादाय रदनैस्तृणम्। हा नाथौ नाथति प्राणी सीदत्यत्र प्रसीदतम्॥
हाहारावमसौ कुर्वन् दुर्भगो भिक्षते जनः। एतां मे शृणुतं काकुं काकुं शृणुतमीश्वरौ॥
याचे फूत्कृत्य फूत्कृत्य हाहाकाकुभिराकुलः। प्रसीदतमयोग्येऽपि जनेऽस्मिन् करुणार्णवौ॥
क्रोशत्यार्त्तस्वरैरास्ये न्यस्याङ्गुष्ठमसौ जनः। कुरुतं कुरुतं नाथौ करुणाकणिकामपि॥
वान्चेह दीनया याचे साक्रन्दमतिमन्दधीः। किरतं करुणखान्तौ करुणोर्मिच्छटामपि॥

मधुराः सन्ति यावन्तो भावाः सर्वत्र चेतसः। तेभ्योऽपि मधुरं प्रेम प्रसादीकुरुतं निजम्॥
सेवामेवाद्य वां देवावीहे किंचन नापरम्। प्रसादाभिमुखौ हन्त भवन्तौ भवतां मयि॥
नाथितं [illegible] परमेवेदमनाथजनवत्सलौ। स्वं साक्षाद्दास्यमवासिन् प्रसादीकुरुतं जने॥
अञ्जलिं मूर्ध्नि विन्यस्य दीनोऽयं भिक्षते जनः। अस्य सिद्धिरभीष्टस्य सकृदप्युपपाद्यताम्॥

हाय! हाय! सर्वथा असमर्थ एवं पौरुषहीन होनेपर भी इस जीवको कर्मोंने ढीठ बना दिया है, इसीलिये हे स्वामिन् और स्वामिनि! यह बार-बार आपसे प्रार्थना करनेका दुःसाहस कर रहा है। इसे आपका यत्किञ्चित् प्रसाद तो मिलना ही चाहिये। हे स्वामिन् और स्वामिनीजू! हाय, हाय! यह पापी दाँतों-तले तृण दबाकर उच्च स्वरसे विलाप करता हुआ आपसे दयाकी भीख माँगता है, अतः इस दुःखी जीवपर आप अवश्य ढरें। यह अभागा जन्तु हाहाकार करता हुआ आपसे दयाकी याचना करता है। अतः हे प्रिया-प्रियतम! आप मेरी इस विनयवाणीको अवश्य सुनें, मेरी प्रार्थनापर अवश्य ध्यान दें। मैं व्याकुल होकर सुबक-सुबककर हाहाकार करता हुआ दीन शब्दोंमें आपसे (कृपाकी) याचना करता हूँ। अतः हे करुणासागर प्रिया-प्रियतम! इस अयोग्य जनपर भी आप अवश्य कृपा करें। मुखमें अँगूठा देकर यह जीव आर्तस्वरसे विलाप कर रहा है। अतः हे स्वामिन् एवं स्वामिनीजू! इसपर करुणाका एक छोटा-सा कण अवश्य डाल दें। अत्यन्त मन्दबुद्धि मैं क्रन्दन करता हुआ दीन-वाणीसे आप दोनोंसे प्रार्थना करता हूँ कि आप करुणापूर्ण हृदयसे मुझपर करुणाकी एक छोटी-सी लहर अवश्य बहा दें। सम्पूर्ण जगत्के अन्तःकरणके जितने भी मधुर भाव हैं, उन सबसे आपके चरणोंका प्रेम मधुरतर है। अतः कृपया उसी प्रेमका प्रसाद इस जनको दें। हे देव शिरोमणि तथा महादेवि! मैं आज आपकी सेवाको ही चाहता हूँ, अन्य किसी वस्तुकी मुझे अभिलाषा नहीं है, अतः आप दोनों कृपा करके मुझ दीनके प्रति प्रसन्न हो जायँ। हे अनाथ-जनवत्सल प्रिया-प्रियतम! मुझे आपसे केवल यही याचना करनी है कि आप इस दीन-जनको प्रसन्न होकर अपनी प्रत्यक्ष सेवाका ही अधिकार प्रदान करें। मस्तकपर अञ्जलि बाँधकर यह दीन-जन आप दोनोंसे भीख माँगता है कि एक बार ही सही, इसका मनोरथ अवश्य सिद्ध करें।

* * * * *

क्वासौ दुष्कृतकर्माहं क्व वामभ्यर्थनेदृशी। किं वा कं वा न युवयोरुन्मादयति माधुरी॥
यया वृन्दावने जन्तुरनर्होऽप्येष वास्यते। तयैव कृपया नाथौ सिद्धिं कुरुतमीप्सिताम्॥
कार्पण्यपञ्जिकामेतां सदा वृन्दाटवीनटौ। गिरैव जल्पतोऽप्यस्य जन्तोः सिध्यतु वाञ्छितम्॥

कहाँ तो मैं पापाचारी और कहाँ आपसे इस प्रकारकी कृपाके लिये प्रार्थना करना! इन दोनोंमें कोई संगति नहीं है; परंतु मेरा क्या वश है। आप दोनोंकी अनुपम माधुरी जड-चेतन वर्गमेंसे किसको उन्मत्त नहीं बना देती? जिस कृपाके कारण यह जीव सर्वथा अयोग्य होनेपर भी वृन्दावन-वास कर रहा है, उसी कृपासे प्रेरित होकर हे स्वामिन् एवं स्वामिनि! मुझे अभिलषित सिद्धि प्रदान करें। हे वृन्दावनविहारी श्रीराधा-कृष्ण! यद्यपि यह जन्तु इस कार्पण्यपञ्जिका (दैन्योक्ति)का केवल वाणीसे ही उच्चारण कर रहा है (इसके भीतर दीनताका आभास भी नहीं है), फिर भी आप दोनोंकी कृपासे इसका मनोरथ अवश्य पूर्ण हो।

॥ श्रीमद्रूपगोस्वामिविरचितश्रीकार्पण्यपञ्जिकास्तोत्रम् ॥
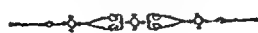
श्रीभगवत्कृपाकटाक्षस्तोत्र

(रचयिता—श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृतितीर्थ)

यस्याश्रयेण गणिकागजग्राहजीवा
दुःखार्णवस्य परपारमगुः सुखेन ।
संसारदुःखजलधिं सुखमुत्तितीर्षु-
स्तं संश्रयामि भगवत्सुकृपाकटाक्षम् ॥ १ ॥

जिसके आश्रयसे वेश्या, गजराज और ग्राह आदि जीव सुखपूर्वक दुःखमय समुद्रके उस पार चले गये, मैं इस संसाररूप दुःख-समुद्रको सुखपूर्वक पार करनेकी इच्छासे भगवान्‌के उसी सुन्दर कृपाकटाक्षका आश्रय ग्रहण करता हूँ ।

यत्संश्रयाद् द्रुपदराजसुता सभायां
लज्जां ररक्ष रिपुहस्तगताप्यनग्ना ।
तं साम्प्रतं भगवतो सुलभं कटाक्ष-
मीहे सुरद्रुममहं शरणागतस्य ॥ २ ॥

जिसका आश्रय ग्रहण करनेसे द्रुपदराजकी पुत्री द्रौपदीने कौरव-सभामें शत्रुके हाथमें पड़कर भी विवस्त्रा न होते हुए अपनी लाज बचायी तथा जो शरणागतोंके लिये कल्पवृक्षके समान है, भगवान्‌के उस सुलभ कृपाकटाक्षकी मैं इस समय इच्छा करता हूँ ।

यस्यावलम्बनमशेषविशेषक्लेश-
कक्षैकदावज्वलनं भगवज्जनानाम् ।
तं प्रार्थयामि सुमदा भगवत्कटाक्षं
शीघ्रं तितीर्षुरथ दिष्टफलाम्बुराशिम् ॥ ३ ॥

जिसका अवलम्बन भगवद्भक्तोंके समस्त विशेष क्लेशरूप वनके लिये दावाग्नि-सदृश है, भगवान्‌के उस सुन्दर कृपा-कटाक्षकी मैं प्रार्थना करता हूँ, जिससे पूर्वजन्मार्जित पुण्य-पापके फलरूप समुद्रको शीघ्र ही पार कर जाऊँ ।

यस्यावलम्बमधिगम्य ततार सिन्धुं
श्रीमान् समीरणसुतः सुरसां विजित्य ।
श्रीमत्कटाक्षमहमद्य भवाम्बुराशिं
तर्तुं श्रयामि भजनीयकत्राणदक्षम् ॥ ४ ॥

जिसका अवलम्ब पाकर वायुनन्दन श्रीहनुमान्‌जी सुरसाको परास्तकर समुद्रको पार कर गये तथा जो भगवद्-भजन करनेवालोंकी रक्षा करनेमें निपुण हैं, आज मैं संसार-समुद्रको पार करनेके लिये भगवान्‌के उसी सुन्दर कृपाकटाक्ष-का आश्रय ग्रहण करता हूँ ।

यस्य प्रसादबलमेत्य युधिष्ठिराद्या
लाक्षागृहस्य दहनाद् विदधुः सुरक्षाम् ।
तेनैव शत्रुकुलमप्यदहन् समस्तं
तं संश्रयामि सदयं भगवत्कटाक्षम् ॥ ५ ॥

जिसका कृपा-बल प्राप्तकर युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डवोंने लाक्षागृहकी अग्निसे अपनी सुरक्षा कर ली और

उसी कृपा-बलसे अपने समस्त शत्रुओंको भी जला डाला (नष्ट कर दिया), भगवान्‌के उसी दयापूर्ण कृपाकटाक्षका मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ ।

तं　　श्रीनिकेतनमहं　　भवदुःखदुर्गी
　　रक्षोगणैकदहनं　　भवसिन्धुपोतम् ।
नित्यं　स्मरामि　भजनीयपदस्य　विष्णोः
　　सौम्यं　　कृपायुतकटाक्षमरीन्द्रनाशम् ॥ ६ ॥

जो भगवती श्रीलक्ष्मीका निवास-स्थान, राक्षसगणको भस्म करनेके लिये अग्नि-स्वरूप, संसार-समुद्रसे पार करनेके लिये जहाजस्वरूप और शत्रुओंका विनाशक है, उपासनीय चरणवाले भगवान् विष्णुके उस सौम्य एवं कृपासे ओत-प्रोत कटाक्षका मैं सांसारिक कष्टसे व्याकुल होकर सदा स्मरण करता हूँ ।

दैत्याश्च यं युधि विलोक्य गताः सुशान्तिं
　　ब्रह्मादयः　सुरगणाः　सततं　समीहाम् ।
कुर्वन्ति　द्रष्टुमथ　यं　भगवत्कटाक्षं
　　तं　प्रार्थयामि　वृजिनार्णवमुक्तिनौकम् ॥ ७ ॥

दैत्यलोग युद्ध-भूमिमें जिसका दर्शन कर परम शान्तिको प्राप्त हो गये तथा ब्रह्मा आदि देवगण निरन्तर जिसके दर्शनकी अभिलाषा करते रहते हैं, उस कृपाकटाक्षकी पाप-समुद्रको पार करनेका इच्छुक मैं प्रार्थना करता हूँ ।

सीतां　जहार　जननीं　जगतः　सुरारी
　　रक्षोनृपोऽतिबलवान्　　दशकन्धराख्यः ।
रामस्य　रोषकुटिलं　निहतः　कटाक्षं
　　पश्यन्　सहैव　निजमित्रजनैः　स　संख्ये ॥ ८ ॥

अत्यन्त बलवान् देव-शत्रु राक्षस-राज दशकन्धरने जगज्जननी सीताका अपहरण किया, इसलिये वह संग्राम-भूमिमें भगवान् श्रीरामके क्रोधसे वक्र हुए कटाक्षको देखते हुए अपने मित्रजनोंके साथ ही मारा गया (उस कृपाकटाक्षका मैं स्मरण करता हूँ) ।

कृष्णस्य　　कोपसुलभारुणपद्मपत्रं
　　श्रीमच्च　शत्रुहननं　　भगवत्कटाक्षम् ।
कंसो　हतो　निजस्वसुस्तनयैकमृत्यु-
　　र्मञ्चस्थितो　भुवि　पतंश्च　निरीक्षमाणः ॥ ९ ॥

अपनी बहनके पुत्रोंका कालस्वरूप कंस ऊँचे मञ्चपर बैठा हुआ भगवान् श्रीकृष्णके क्रोधसे स्वभावतः सुन्दर और शत्रुके लिये मृत्युस्वरूप अरुण पद्मपत्रके समान नेत्रोंके कटाक्षको (मञ्चसे) पृथ्वीपर गिरते समय देखता हुआ मारा गया (उसी कृपाकटाक्षको मैं देखना चाहता हूँ) ।

ब्राह्मे　मुहूर्ते　चोत्थाय　यः　पठेत्　सुसमाहितः ।
　　तस्मै　श्रीभगवान्　कृष्णः　प्रददाति　शुभां　मतिम् ॥ १० ॥

जो प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शान्तचित्तसे इस कृपाकटाक्षस्तोत्रको पढ़ेगा, उसे भगवान् श्रीकृष्ण सुन्दर बुद्धि प्रदान करेंगे ।

भगवान्‌की दया

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराजका प्रसाद)

परमर्षि गौतमजीने अपने गौतम-धर्म-सूत्र नामक धर्म-शास्त्रमें ब्राह्मणके लिये अड़तालीस आवश्यक संस्कारोंका निर्देश करते हुए आठ आत्मगुणोंपर अधिक बल दिया है। उनका कथन करते समय 'दया सर्वभूतेषु'—सभी प्राणियोंपर दयाको प्रथम स्थान दिया गया है।

दयाका क्या तात्पर्य है ? न्यायशास्त्रमें 'परदुःखप्रहाणेच्छा' अर्थात् दुःखियोंका दुःख दूर करनेकी अभिलाषाको 'दया' कहा गया है। बिना दयाके इस संसारका सचालन सम्भव नहीं है। बच्चेका जन्म होते ही माता उसपर दया करती है। माँकी सदैव यही इच्छा होती है कि मेरा बच्चा कभी भूखा न रहे, कभी बीमार न पड़े, साफ-सुथरा, स्वस्थ और मुस्कराता रहे। इसी दयासे प्रेरित होकर वह स्वयं अनेक प्रकारके कष्ट सहकर भी बच्चेका लालन-पालन करती है।

दूसरोंकी दयासे ही मनुष्य बड़ा बना और बहुत कुछ कर सका। यदि आरम्भमें दया नहीं मिलती तो उसका जीवन ही सम्भव नहीं था। अध्यापक दया करें तो साधारण शिष्य भी शास्त्र-पारंगत हो सकता है। दयावान्‌के शासनमें सारी प्रजा अपनेको सुखी मानती है।

हममें दया है, परंतु वह सीमित है। हमारा ज्ञान भी सीमित है। मनुष्य ज्ञानवान् अवश्य है, परंतु सर्वज्ञ नहीं। हमारी दया वहींतक है, जहाँतक हमारा द्वेष न हो। अज्ञानवश मनुष्य किसीसे राग और किसीसे द्वेष करता है। संसार द्वन्द्वमय है। इसीलिये 'संसारी' व्यक्तिकी दयाकी सीमा होती है।

ज्ञानके विषयमें योगशास्त्रका कहना है कि मनुष्योंका ज्ञान सीमित होनेसे ईश्वरकी सिद्धि हो जाती है अर्थात् ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इसका तात्पर्य यों समझिये—घड़ेका परिमाण (आकार) सीमित है। वही परिमाण आकाशमें सीमासे बँधा हुआ नहीं अर्थात् विभु-परिमाण है। कहीं भी हम आकाशके अभावका अनुभव नहीं कर सकते। क्षुद्रका प्रतियोगी महान् हुआ ही करता है। अतः जहाँपर परिपूर्ण ज्ञान सिद्ध हो, वही ईश्वर है—ऐसा मानना चाहिये।

इसी उदाहरणसे हम सोच सकते हैं कि हमारी सीमित दयाका भी कोई प्रतियोगी अवश्य है, जो अव्यय, नित्य एवं सर्वज्ञ है, वह समानरूपसे सम्पूर्ण जीवोंका हित करता है। वे सर्वसमर्थ एकरस परमात्मा हैं। लौकिक माता-पिता तो अपने परिवारपर ही दया करते हैं, सर्वत्र नहीं; परंतु भगवान् तो सर्वत्र दया करते हैं—

'पितासि लोकस्य चराचरस्य' (गीता ११। ४३)

भगवान् सारे संसारके पिता हैं। 'स पूर्वेषामपि गुरुः' (यो० सू० १। २६)। उन्होंने ही तो कृपापूर्वक दक्षिणामूर्तिरूपसे आदिगुरु होकर महर्षियोंको ज्ञान दिया। अब भी वे ही भक्तोंके अन्तःकरणमें बैठकर, 'ज्ञानदीप'से अज्ञानका नाश कर उन्हें आत्मस्वरूपका प्रकाश दे रहे हैं।

हम कष्ट पड़नेपर दूसरोंकी दया चाहते हैं। सांसारिक पुरुष कितने भी समर्थ क्यों न हों, वे हमारे सारे दुःखोंका सर्वथा परिहार नहीं कर सकते। कविकी उक्ति है—

त्वयि सति शिव दातर्यस्मदभ्यर्थितानामितरमनुसरन्तो दर्शयन्तोऽर्थिमुद्राम्।
चरमचरणपातैर्दुर्ग्रहं दोग्धुकामाः करभमनुसरामः कामधेनौ स्थितायाम्॥
(कुवलयानन्द ५४)

'भगवान् शिव ! हम-जैसे याचकोंकी कामनाएँ पूर्ण करनेवाले आपके रहते हुए यदि हम याचक-मुद्रा प्रदर्शित करते हुए दूसरेका अनुसरण करते हैं तो हमारी वैसी ही दशा होगी, जैसी दूध दुहनेकी इच्छासे कामधेनुके रहते हुए दुलत्ती मारनेवाली ऊँटनीका अनुसरण करनेसे होती है।'

भगवान् सबके लिये सुलभ हैं। अनन्य भक्तिमात्रसे संतुष्ट होकर वे हमारे कष्टोंका निवारण करते हैं।

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

उपर्युक्त श्लोकमें यह बताया गया है कि कैसे-कैसे लोगोंपर भगवान्‌की कृपा हुई और वे तर गये। प्राणि-हत्या कर मांस बेचनेवाला धर्मव्याध, प्रपञ्चपरिचयसे विहीन छोटी आयुवाला बालक ध्रुव, ज्ञानलेशरहित गजेन्द्र, जातिसे शूद्र विदुर, कंसका पिता पौरुषहीन उग्रसेन, कुरूपा कुबड़ी—कुब्जा और चिथड़ोंमें लिपटे गरीब सुदामा आदि केवल भक्तिसे भगवत्कृपाके पात्र बन अपने जन्म सार्थक कर गये।

वे कृपालु प्रभु यह नहीं देखते कि इसमें कौन-से गुण, पद, योग्यता या सामर्थ्य आदि हैं ? भक्तिमात्रसे संतुष्ट होकर वे कृपावृष्टि करते हैं। भगवान्‌की भक्तिका आश्रय लेकर उनकी दया प्राप्त करनेमें ही मानव-जन्म सार्थक होगा।

श्रीभगवत्कृपा-प्राप्तिका साधन

(अनन्तश्रीविभूषित पूर्वाम्नाय गोवर्धन पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराजके सदुपदेश)

अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम अखण्ड सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वरकी कृपाप्राप्तिके बिना प्राणीका कल्याण कदापि सम्भव नहीं। परम निःश्रेयसका एकमात्र आधार उन्हीं अशरणशरण, अकारणकरुणावरुणालय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिष्ठान भगवान्की कृपा तो है ही, किंतु इस लोकमें सर्वविध सर्वाङ्गीण समुन्नतिका एकमात्र साधन भी भगवत्कृपा ही है। उनके बिना सुखोंके सभी साधन सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं, उलटे घोर दुःखके कारण बन जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भगवान्की कृपा ही प्राणिमात्रके लिये इहलोक और परलोकमें सुख-शान्ति प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है।

भगवान्की कृपा प्राप्त करनेका सबसे सरल मार्ग भगवदाज्ञापालन ही है। लोकमें भी यदि हम किसीकी कृपा प्राप्त करना चाहें तो उसका सीधा-सा साधन उसका आज्ञापालक बन जाना है। कठोर-से-कठोर हृदयवाले पुरुष भी निरन्तर अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले व्यक्तिपर कृपा-दृष्टि बनाये रखते देखे जाते हैं। फिर अत्यन्त कोमल स्वभाववाले प्रभुका तो कहना ही क्या है?

भगवान्की कोमलता लोकोत्तर है। समस्त संसारकी ऐश्वर्य-माधुर्याधिष्ठात्री जगज्जननी भगवती पराम्बा महालक्ष्मी अपने कमलसे भी कोमल हाथोंसे भगवान्के श्रीचरणारविन्दोंका संवाहन करनेकी इच्छासे जब उनका स्पर्श करनेके लिये अग्रसर होती हैं, तब मन-ही-मन सकुचाती हैं कि कहीं मेरे इन कठोर हाथोंसे श्रीचरणारविन्दोंको कष्ट न हो जाय।

प्रश्न हो सकता है कि लौकिक मनुष्योंकी तरह भगवान् प्रत्यक्ष होकर तो आज्ञा देते नहीं, फिर भगवान्की आज्ञाका पालन कैसे किया जाय? किंतु हमारे विश्वजनीन, सर्वहितकारी, सर्वजनसुखकारी सनातन धर्मकी यह एक अद्भुत विशेषता है कि उसमें स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे ही अपनी आज्ञाका स्पष्ट निर्देश करते हैं। अनादि अपौरुषेय विश्वकल्याणकारक वेदवाक्य और धर्म-शास्त्र ही भगवान्की आज्ञाएँ हैं। उनका पालन करना ही उन प्रभुकी आज्ञाका पालन और उनका उल्लङ्घन करना ही भगवान्की आज्ञाका उल्लङ्घन करना है। लौकिक व्यक्ति भी अपने स्वामीकी आज्ञाकी उपेक्षा करनेपर जैसे सांसारिक सुखोंसे वञ्चित रहता है, ठीक वैसे ही श्रीभगवदाज्ञास्वरूप वेद-शास्त्र (धर्मशास्त्र, स्मृतियाँ)के विधानका उल्लङ्घन करनेवाला व्यक्ति भी इहलोक और परलोकमें कभी किसी प्रकारकी भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जो वेद-शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह न तो भगवद्भक्त कहलानेका अधिकारी है और न उसे वैष्णव ही कहा जा सकता है। स्वयं श्रीभगवान्के वचन हैं—

> श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञा यस्तामुल्लङ्घ्य वर्तते।
> आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णव॥
> (वाधूलस्मृति १८९)

'वेद-शास्त्रप्रतिपादित वर्णाश्रमधर्मका उल्लङ्घन करनेवाला व्यक्ति मेरी आज्ञाका पालन नहीं करता, इसलिये वह मेरा भक्त नहीं, अपितु मेरा द्रोही है; फिर उसे वैष्णव कहलानेका अधिकार कहाँसे मिल सकता है?'

भगवद्भक्तिद्वारा श्रीभगवत्कृपा प्राप्त करनेका भी यही एकमात्र उपाय है। अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार यथाशक्ति, यथासम्भव स्वधर्मानुष्ठान करना चाहिये तथा उसके फलकी इच्छाका परित्याग कर अपने किये हुए सत्कर्म, सद्धर्मको भगवान्के श्रीचरणारविन्दोंमें अर्पण कर देना चाहिये। शास्त्र निषिद्ध कर्मोंमें अपने मनको कभी प्रवृत्त न होने देना ही भगवद्भक्तिका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। स्वयं भगवान्ने ही अपनी भक्तिके इस स्वरूपका स्पष्ट प्रतिपादन किया है—

> वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
> विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकम्॥
> (विष्णुपु० ३।८।९)

भगवान् कहते हैं—'यदि मुझे प्रसन्न करना चाहते हो तो अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्यकर्मका अनुष्ठान करो तथा बिना फलकी इच्छा रखे उन कर्मोंको मेरे चरणोंमें अर्पित कर दो। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय मुझे संतुष्ट करनेका नहीं है।' स्पष्ट है कि भगवान्के संतुष्ट होनेपर ही भगवान्की कृपा प्राप्त होगी तथा भगवत्कृपा-प्राप्तिसे ही सर्वविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और शाश्वत सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी। (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

भगवत्कृपाकी आवश्यकता

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु [illegible])

इस अद्भुत स्थावर-जङ्गमात्मक विश्वमें मानव-शरीर ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसी शरीरमें विवेक अथवा ज्ञानकी प्रधानता है। इतर शरीरोंमें प्रकृति या अविद्याकी प्रधानता होनेके कारण उनमें विवेकशक्तिकी न्यूनता एवं स्वभावानुबद्ध प्रवृत्तिके प्रभावका आधिक्य परिलक्षित होता है। व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक प्राणियोंमें पिपासा-शान्त्यर्थ जिह्वाद्वारा जल ग्रहणकी प्रवृत्ति जन्मके प्रारम्भसे एक ही प्रकारकी उपलब्ध होती आ रही है। गाय भैंस आदि पशुओंमें घास-भूसा आदिकी भक्षण-क्रिया भी स्वभावानुकूल देखी जाती है। ये सब प्राणी प्रकृतिके अधीन होनेके कारण स्वतन्त्रतासे ज्ञानपूर्वक अपना विकास करनेमें असमर्थ हैं। मानवेतर समस्त प्राणियोंपर प्रकृतिका कठोर नियन्त्रण है, पर मनुष्यकी रचना ठीक इसके विपरीत है, क्योंकि इतर प्राणियोंकी अपेक्षा इसमें ज्ञानकी विशेषता है। यही कारण है कि मनुष्य प्रकृतिके ऊपर नियन्त्रण स्थापित करनेके लिये सतत सचेष्ट रहता आया है। तात्पर्य यह है कि विवेकमयी प्रतिभा ही वह विभाजक तत्त्व है, जिसके कारण मनुष्य प्राकृतिक सामान्य जगत्से भिन्न विशिष्ट भूमिकापर विराजित है। ईश्वरद्वारा सृष्टिका निर्माण सोद्देश्य हुआ है।

मानव-जीवनका एकमात्र उद्देश्य आत्म-स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना है। भगवती श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केनोपनिषद् २।५)

'हे मानव! अपने इस जीवनमें यदि तूने ज्ञानद्वारा परमात्मतत्त्वको जान लिया, तब तो तेरा जीवन सार्थक है; अन्यथा तेरा (जन्म-मरण-लक्षणयुक्त) महान् विनाश ध्रुव है।' श्रुतिका यह ज्ञान भी ब्रह्मात्मैक्यविषयक साक्षात्काररूप ही विवक्षित है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(शुक्लयजु० वाजसनेयिसंहिता ३१।१८)

यदि यहाँपर श्रुतिको ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान अनभिप्रेत माना जाय तो 'अयमात्मा ब्रह्म,' 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियोंका अर्थ बाधित हो जानेपर अप्रामाण्य हो जायगा। प्रमाण अज्ञात-ज्ञापक होता है। लोकमें चक्षु रूप विषयमें प्रमाण है; क्योंकि

'वेदान्त तथा आचार्यकी कृपासे, निदिध्यासनरूप योगाभ्याससे और परमेश्वरके अनुग्रहसे जब स्वात्मबोध होता है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार होता है।' इस व्याख्याके प्रसङ्गमे आचार्य श्रीसुरेश्वर स्पष्टरूपसे ईश्वर-कृपाकी उपादेयता एवं उसका महत्त्व प्रस्थापित करते हैं।

श्रीविद्याके परमाचार्य महर्षि दत्तात्रेयजी तथा दार्शनिक मूर्धन्यशिरोमणि श्रीहर्ष अपने 'खण्डनखण्डखाद्य'मे ईश्वरानुग्रहको ही अद्वैततत्त्व-साक्षात्कारमे मुख्य प्रयोजन मानते हैं—

ईश्वरानुग्रहादेपा पुंसामद्वैतवासना ।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते ॥
(१।७५)

'महाभय—संसारादिसे रक्षा करनेवाली यह अद्वैतवासना ईश्वरकी कृपासे ही उद्भूत होती है और दो-तीन ही पुरुषोको अर्थात् कदाचित् किसी पुरुषको ही होती है।' यहाँ ईश्वरकी विशेष कृपाकी दुर्लभता प्रदर्शित हुई है।

इस प्रकार वेदान्तके विभिन्न ग्रन्थोंमे आचार्योंके लेखोके अध्ययन एव पर्यालोचन करनेके पश्चात् हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि आत्मसाक्षात्कारके लिये शास्त्रकृपा, गुरुकृपा तथा आत्मकृपाके साथ-साथ भगवत्कृपा अत्यन्त अपेक्षित एवं उपादेय है। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी प्राप्ति और मुमुक्षा भी भगवत्कृपाके बिना नहीं होती, अतएव भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥
(विवेकचूडामणि ३)

'मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व तथा महापुरुष अर्थात् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी प्राप्ति भी भगवान्‌की कृपाके विना नही होती।'

शास्त्र-कृपा शास्त्रोके यथार्थ अवधारणकी शक्तिको कहते हैं। शास्त्र एव स्वानुभवके आधारपर जिज्ञासुको तत्त्वज्ञान कराना गुरुकृपा कहलाती है। आचार्य एव शास्त्र-वचनोमे श्रद्धान्वित साधनद्वारा अन्तःकरणका निर्मल होना आत्मकृपा कहलाती है। इन कृपाओसे अद्वैत-तत्त्वका बोध होता है। ये सभी कृपाएँ भगवत्कृपासे अनुप्राणित होती हैं। भावार्थ यह कि भगवत्कृपाके विना अन्य कृपाएँ अकृतकृत्य ही रहती हैं—

यावन्नानुग्रहः साक्षाज्जायते परमेश्वरात् ।
तावन्न सद्गुरुः कश्चित् सच्छास्त्रमपि वा लभेत् ॥

'जबतक भगवत्कृपा नही होती, तबतक किसीको भी सद्गुरु अर्थात् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य तथा सच्छास्त्रकी उपलब्धि नही होती।' अतः शांकरवेदान्तदर्शनमे भगवत्कृपाकी नितान्त आवश्यकता है।

कृपा-कण

(अनन्तश्रीविभूषित उत्तराम्नाय बदरीक्षेत्रस्थ ज्योतिषपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

नाना प्रकारके संकल्प-विकल्पों और चिन्ताओंसे सांसारिक प्राणी दुखी रहते हैं, परंतु भगवत्कृपासे ये एक क्षणमें ही मिट जाते हैं। अतः उन्हींकी शरणमें जाना चाहिये।

× × ×

जबतक अहंकार रहता है, प्रभु नहीं आते। गजेन्द्रने सहस्र दिव्य वर्षोंतक अपने बलके अहंकारपर ग्राहसे युद्ध किया। जब उत्साह भङ्ग हो गया, तब प्रभुकी शरणमें जानेपर ही उसका संकटसे छुटकारा हुआ।

× × ×

दो वस्तुएँ ही प्राणीको इस संसार-सागरमें डूबनेसे बचाती हैं—अपना पुण्य और भगवान्‌की कृपा। अतः शुभ कर्मोंके द्वारा पुण्य-संचय करो और उन अकारण-करुणकी शरणमें जाओ।

× × ×

संसारमें लोग धनवानोंकी कृपा चाहते हैं। वे यदि धनवानोंके बदले भगवत्कृपाका अनुभव करें तो बन्धनसे ही छूट जायँ?

× × ×

भगवान्‌के बल और कृपाका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। जिसे जितना विश्वास होता है, उसे उतनी ही शक्ति-सिद्धि मिल जाती है और वह भगवत्कृपासे कृतकृत्य हो जाता है। (संकलित)

भगवत्कृपासे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर [illegible]
श्रीचन्द्रशेखरेन्द्र [illegible] स्वामीजी महाराज [illegible])

पातञ्जलयोगदर्शन मोक्ष-शास्त्र है। 'दर्शन' शब्दका अर्थ है साक्षात्कार। जो शास्त्र प्रमाणोंद्वारा तत्त्व-साक्षात्कारका उपाय अथवा स्वरूप बतलाता है एवं तत्त्वका बोध कराता है, वह 'दर्शनशास्त्र' कहलाता है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (यो० सू० १ । २)

'मनोवृत्तिका निरोध करना ही योग है।' यह योग तत्त्व-दर्शनके लिये बहुत उपयोगी है। भगवान् आदि शंकराचार्यके वचन हैं—

'अथ तत्त्वदर्शनाभ्युपायो योगः।'

'योग मोक्ष पानेका मुख्य साधन बन जाता है।'

मनोवृत्ति-निरोधरूप योग ईश्वर-भक्तिद्वारा सुगमतासे प्राप्त होता है। अविद्या आदि क्लेशों, धर्माधर्म, उनके फल वासना अथवा संस्कारोंके साथ तीनों कालोंमें सम्बन्ध न रखनेवाला पुरुष ही ईश्वर है। ईश्वरके ध्यानसे योगकी सिद्धि होती है। बृहदारण्यक उपनिषद्के वचन हैं—'(वह परमात्मा ही) सुनने योग्य, मनन करने योग्य और ध्यान करने योग्य है'—

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य.।'

(४ । ५ । ६)

इस तरह निदिध्यासन तत्त्व-साक्षात्कारका उपाय कहा गया है। इसी बातकी परिपुष्टि श्वेताश्वतरोपनिषद्में भी की गयी है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥

(२ । ८, १४)

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
(जीवन [illegible]
[illegible]
[illegible] कृतकृत्य और शोकरहित हो जाता है।)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌की उक्ति है—

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

(६ । १५)

'आत्माको निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें लगाता हुआ स्वाधीन मनवाला योगी मुझमें स्थितिरूप परमानन्द-पराकाष्ठावाली शान्तिको प्राप्त होता है।'

वस्तुतः जीव परमात्माका साक्षात् अंश होनेके कारण सत् और आनन्दस्वरूप ही है, अपने स्वरूपको भूलकर वह बाह्य-जगत्‌में सुखकी खोज करने लगा, अतः दुःखित हुआ; ठीक उसी प्रकार जैसे कस्तूरीकी सुगन्धसे मोहित कस्तूरी-मृग उसे पानेके लिये चारों ओर इधर-उधर भटकता रहता है, अपनी नाभिमें स्थित कस्तूरीकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि जीवात्मा स्वतः मुक्त है, केवल बहिर्मुखताको मिटाना मात्र अभिप्रेत है। इसे कर्मयोगके आचरणसे, भक्तियोगके अनुष्ठानसे अथवा ज्ञानयोगद्वारा विवेकपूर्वक चाहे जिस प्रकार मिटा लिया जाय। जिस किसी भी प्रकारसे देश, काल, वस्तु, व्यक्तिकी अपेक्षासे मानी गयी परिच्छिन्नताका नाश करना है।

आनन्दस्वरूप आत्मानुभव ही मोक्ष है। यह निर्विवाद है कि ईश्वरप्रणिधान (भगवत्कृपा)से योगके द्वार विघ्न दूर होकर आत्मस्वरूप (मोक्ष)की प्राप्ति हो जाती है।

अनन्त कृपा-पयोधि श्रीराधा-माधव

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य 'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डाधिपति, क्षराक्षरातीत, जगजन्मादि-हेतु, निरतिशय सौन्दर्य-माधुर्य-सौकुमार्य-सौगन्ध्य-लावण्य-कारुण्य-मार्दवादि निखिल कल्याण-गुणगणनिलय, कोटि-कन्दर्पदर्प-दलन-पटीयान्, नवलजलधर-रुचिर, अनन्त-कृपाधिष्ठान, सर्वनियामक, सर्वविलक्षण, सर्वदेवा-राध्य, सर्वेश्वर, परात्पर, परब्रह्म, वृन्दावन-नित्यनवनिकुञ्ज-विहारी, युगलकिशोर श्यामा-श्याम श्रीराधा-माधवकी अनन्त अचिन्त्य अपरिमेय अनिर्वचनीय असमोर्ध्व कृपाका वर्णन वाणी अथवा लेखनीका विषय नहीं है। कदाचित् वे अनुग्रह-विग्रह, अकम्पानुकम्पामय, अकारणकरुण, करुणा-वरुणालय श्रीहरि ही अपने अहैतुक युगल कृपाकटाक्षोंका अभिवर्षण कर जिस प्रपन्न रसिक भक्तको अभिषिक्त कर दें, वह भले ही श्रीप्रभुकी अनन्त कृपाके स्वरूपकी किंचित् अभि-व्यक्ति करनेमें कुछ समर्थ हो, अन्यथा इस प्राकृत जगत्में प्राकृत मानवकी प्राकृत भाषाके माध्यमसे उन अच्युत अनन्त गोविन्दकी अनिर्वचनीय कृपाका निर्वचन अत्यन्त दुरूह है।

भगवान् श्रीराधासर्वेश्वरकी कृपा अपरिमित, अनुपम और लोकातीत है। यह विविध-विचित्र-संस्थान-सम्पन्न चेतना-चेतनात्मक समग्र संसार उन्हीं लीलामय प्रभुकी अचिन्त्य-कृपाकी अभिव्यक्ति है। समग्र विश्व-ब्रह्माण्ड उन्हीं करुणार्णव सर्वेश्वरकी कृपापर ही अवस्थित है। सब कुछ उन जगन्नियन्ता-की कृपापर ही आधारित है। केवल साधन-सम्पन्नता, तपः-साधना, उपासना-सरणि आदिके बलपर ही वे लभ्य नहीं, अपितु—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'

(कठोप० १। २। २३)

वे कृपैकलभ्य हैं, जिसे वे अपनी लोकोत्तर कृपा-मयी दृष्टिसे अभिषिक्त कर दें, वही उनके दिव्यातिदिव्य सच्चिदानन्दमय चिन्मय वपुके कमनीय दर्शनोंका असीम सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कृपाके ये परमोच्च अद्भुत उदाहरण कितने सुन्दर हैं!—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(९। ३०)

'कोई अत्यन्त दुराचारपरायण भी अनन्य भाव-संवलित होकर यदि सतत मुझे भजता है तो वह साधु अर्थात् श्रेष्ठ ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९। २२)

'जो भक्तजन अनन्यभावसे निष्काम होकर मुझ सर्वेश्वर-का अनवरत चिन्तन करते हुए भजन करते हैं, उन नित्या-भियुक्त जनोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।'

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८। ६६)

'समस्त धर्मोंके आश्रयका परित्याग कर तुम एकमात्र केवल मुझ परमानन्दकन्द गोविन्दकी अनन्य-शरणागतिका अवलम्ब ग्रहण करो। मैं तुम्हें निखिल पाप-पुञ्जोंसे उन्मुक्त कर दूँगा, तुम किसी प्रकारका शोक मत करो।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(४। ११)

'हे धनंजय! जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं अखिलान्तरात्मा भी उन्हें उसी प्रकार भजता हूँ। विवेकीजन इसी रहस्यमयी बातको जानकर सर्वतोभावसे मेरे निर्दिष्ट पथ-का अनुगमन करते हैं।'

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।'

(वा० रा० ६। १८। ३३)

श्रीप्रभुके पादपद्मोंमें एक बार भी सच्चे हृदयसे कोई यह कह दे कि 'भगवन्! मैं आपका हूँ,' केवल इतने कथनमात्रपर तो वे प्रभु अपनी अनन्तकृपा-कादम्बिनीकी अजस्र रसधारा-सीकरों-से उसे अभिषिक्त कर देते हैं। यह कृपाकी निस्सीम पराकाष्ठा है। वस्तुतस्तु वे श्रीराधामाधव कृपाके एकमात्र अधिष्ठान हैं, जहाँसे कृपा-पयस्विनी अखण्डरूपसे प्रवहमान है—'तदात्मानं सृजाम्यहम्', 'सम्भवामि युगे युगे' आदि अनुग्रहपूर्ण भगवद्वचन उसी निर्हैतुकी कृपाका द्योतन करते हैं।

श्रीगीतामें अर्जुनकी निम्नाङ्कित दिव्योक्ति भी उसी परम कृपाका संदर्शन कराती है—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥
(११।१)

'(हे अनुग्रह-निकेतन भगवन्!) मुझपर अनुग्रह (कृपा)-के निमित्त ही आपके द्वारा यह परम गोपनीय अध्यात्म-विषयक उपदेश प्राप्त हुआ, मेरे अन्तःस्थ अज्ञानका परिहार हो गया।'

यद्यपि इदमित्थं श्रीभगवत्कृपाका प्रतिपादन कभी सम्भव नहीं—

'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।'
(तैत्तिरीय० २।४।१)

तथापि उनके मङ्गलमय अनुग्रहसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्मा, श्रुतियाँ, ध्रुव, प्रह्लाद, नागपत्नियाँ आदिकी स्तुतियोंमें श्रीभगवत्कृपाके वैशिष्ट्यका दर्शन होता है। ब्रह्माजी कहते हैं—

रूपं यदेतदवबोधरसोदयेन
शश्वन्निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय।
आदौ गृहीतमवतारशतैकबीजं
यन्नाभिपद्मभवनादहमाविरासम्॥
(श्रीमद्भा० ३।९।२)

'हे भगवन्! आपकी चित्-शक्तिके सम्प्रकाशित होनेके कारण अज्ञानान्धकार आपके निकट भी नहीं आ सकता, वह सदा ही दूर रहता है। आपका यह कमनीय रूप, जिसके नाभिकमलसे मैं प्रकट हुआ हूँ, जो सैकड़ों अवतारोंका आदि कारण है, वह सर्वप्रथम साधुजनोंपर कृपा-हेतु ही अवतरित हुआ है।'

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज
आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥
(श्रीमद्भा० ३।९।११)

'हे प्रभो! आपका दिव्य पथ एकमात्र आपके गुणगण-श्रवणसे ही जाननेमें आ सकता है। आप यथार्थतः भक्त-जनोंके पराभक्तिसे विशुद्ध अन्तःकरणमें विराजते हैं। हे कृपा-मय गोविन्द! आपके प्रपन्न भावुक भक्त जैसी भावनासे युक्त होकर आपका स्मरण करते हैं, उन महापुरुषोंपर अनुग्रहार्थ अर्थात् कृपा-हेतु आप वही स्वरूप धारण करते हैं।'

दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो
भारोऽपनीतस्तव जन्मनेशितुः।
दिष्ट्याङ्कितां त्वत्पदकैः सुशोभनै-
र्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम्॥
(श्रीमद्भा० १०।२।३८)

'हे अनुग्रह-विग्रह प्रभो! यह समग्र धरा तो आपका पादपद्म है। आपके अवतरित होनेसे इसका कष्ट दूर हुआ। हे गोविन्द! हमारे लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आपके मङ्गलमय मनोहर चिह्नोंसे अङ्कित चरणारविन्दोंसे सुशोभित इस पृथ्वीका दर्शन करेंगे तथा उसी भाँति स्वर्गको भी आपकी अनुपम कृपासे कृतकृत्य देखेंगे।'

श्रुतियाँ भी प्रार्थना करती हैं—

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा
महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम्॥
(श्रीमद्भा० १०।८७।१७)

'हे सर्वान्तर्यामिन्! प्राणियोंका साफल्य इसीमें है कि वे आपका निरन्तर चिन्तन करें, आपके उपदेशका अनुकरण करें; किंतु ऐसा न करनेपर उनका जीवन निरर्थक है तथा उनकी देहेन्द्रियोंकी स्थिति एवं प्राणोंका संचालन अर्थात् श्वास-ग्रहण वैसा ही है, जिस प्रकार लुहारकी धौंकनीमें वायुका प्रवेश एवं निस्सरण। महत्तत्त्व, अहंकार प्रभृतिद्वारा आपकी अनुकम्पासे आपके उनमें प्रविष्ट होनेपर ही इस निखिल ब्रह्माण्डकी सृष्टि सम्पादित होती है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय—इन पञ्चकोशोंमें पुरुष-रूपसे विराजनेवाले आप ही हैं।'

स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरि-
र्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः।
कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना
पस्पर्श बालं कृपया कपोले॥
(श्रीमद्भा० ४।९।४)

कृपा करते हैं । जो पापके प्रवाहमें बह रहा है, भगवान् उसको उस प्रवाहसे बचानेके लिये उसके ऐश्वर्यको, उसकी सफलताको बलात्कारसे हर लेते हैं । जो वस्तु उसे अभिलषित है, उसे प्राप्त नहीं होने देते और जो वस्तु उसे प्राप्त है, जिसने उसे मोहित कर रखा है, उसे छीन लेते हैं, नष्ट कर देते हैं—

'यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।'

(श्रीमद्भा० १० । ८८ । ८)

यह मान-भङ्ग, ऐश्वर्य-नाश आदि भगवान्‌की महती कृपासे होता है । यदि कोई धनका होकर रह रहा है तो भगवान् चाहते हैं कि वह हमारा होकर रहे । वे उसका धन-ऐश्वर्य आदि सब कुछ ले लेते हैं । भगवान् तो चाहते हैं उसे अपनाना, वे उसे अपनी गोदमें लेना चाहते हैं; पर जबतक वह जगत्‌को अपनाये है, तबतक ऐसे मोहमें रहता है कि मानो सारा जगत् ही हमारा है । उसे भ्रम रहता है कि सारा जगत् हमसे प्यार करता है । वह जगत्‌में चारों ओर आशा लगाये रहता है । उसमें फूलकर वह भगवान्‌को भूल जाता है । उसमें जगत्‌का प्रेम, जगत्‌की ममता, जगत्‌का बन्धन प्रगाढ़ और विस्तृत होता जाता है । भगवान् उसे दिखाते हैं कि तुम्हारे साथ प्रेम करनेवाला, तुम्हें अपना माननेवाला, तुम्हें आश्रय देनेवाला मेरे अतिरिक्त कोई स्थिति, कोई अवस्था, कोई प्राणी और कोई सम्बन्धी है ही नहीं । ये सब धोखेकी वस्तुएँ हैं । वह इन्हें धोखेकी वस्तु मान ले, इसके लिये भगवान् ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं । जैसे हम आपसे प्रेम करते हैं, आपके लिये प्राण देनेकी बात करते हैं, पर कहीं आपपर कोई लाञ्छन लग जाय, आपका कोई पाप प्रकट हो जाय, जगत् आपसे घृणा करने लगे, आपके पास बैठनेमें लोक-लज्जाका अनुभव होने लगे, उस समय हम आपके पास नहीं बैठ सकेंगे और बड़ा सुन्दर तर्क देते हुए कह देंगे—'अंदरसे हमलोगोंका प्रेम तो बना ही है, पर बाहर प्रकट करके अपयश लेनेसे क्या लाभ ?' कल-तक जो लोग उसकी बड़ाईमें, उसके यशमें, उसके सुखमें हर समय हिस्सा ले रहे थे, आज वह बुरा आदमी माना गया है, इसलिये वे उसे 'अपना' स्वीकार नहीं करते । उनका प्रेम, ममत्व, अपनत्व कहाँ चला गया ? मनुष्य पाप करता है, पर क्या वह अपनेसे घृणा करता है ? श्रीनारदजीने प्रेमका स्वरूप बताया—'गुणरहितं कामनारहितम् ।' (ना० भ० सू० ५४) प्रेम गुणरहित और कामनारहित होता है अर्थात् प्रेम गुण और वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता ।

सच बात तो यह है कि भोगासक्त संसारवालोंको हमसे प्रेम है ही नहीं । सच्चे प्रेमी तो प्रभु हैं, जो गुण नहीं देखते और कामना तो उनके मनमें है ही नहीं । भगवान्‌का प्रेम ही असली प्रेम है, अतएव भगवान्‌को छोड़कर जो भोगोंमें मन लगाता है, यह बड़े ही दुर्भाग्यकी बात है । मजेकी बात तो यह है कि जगत्‌में जिन लोगोंके पास जगत्‌की कुछ वस्तुएँ हैं, वे अपनेको भाग्यवान् मानते हैं और मूर्खतावश और लोग भी उन्हें 'भाग्यवान्' कहते हैं, किंतु एक फकीर जिसके पास जागतिक वस्तुओंका अभाव है और जिनकी उसे कामना भी नहीं है तथा जो अपनी स्थितिमें भगवान्‌का स्मरण करते हुए सर्वथा निश्चिन्त और मस्त है, उसे लोग गरीब या अभागा कहते हैं और कह देते हैं—'बेचारेको सुख कहाँ ?' पर जो पदार्थ हमें भगवान्‌से दूर कर दे और नरकानलमें दग्ध करनेमें सहायक हो, उस पदार्थजनित भाग्यशीलताके लिये क्या कहा जाय ? श्रीशिवजी कहते हैं—

सुनहु उमा ते लोग अभागी । हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी ॥

(मानस ३ । ३२ । २)

'वे अभागे हैं, भाग्य फूटा है उनका, जो भगवान्‌को छोड़कर विषयोंसे प्रेम करते हैं । सौभाग्यवान् कौन ? जो सबको छोड़कर भगवान्‌की सेवामें लग जाता है ।' भरतजीने श्रीलक्ष्मणके भाग्यकी सराहना करते हुए कहा था—

अहह धन्य लछिमन बड़भागी । राम पदारबिंदु अनुरागी ॥

(मानस ७ । ० । २)

'लक्ष्मणके समान कौन बड़भागी है, जिसका श्रीरामके चरण-कमलोंमें अनुराग है ।' श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

रमा बिलासु राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥

(मानस २ । ३२३ । ४)

'रमाके वैभवको जो श्रीरामानुरागी जन वमनके समान त्याग देते हैं, वे ही बड़भागी हैं ।' भोगरूपसे तो लक्ष्मी अलक्ष्मीके रूपमें—दुर्भाग्यके रूपमें ही रहती हैं । उस दुर्भाग्यके रूपको दूर करनेके लिये भगवान् कृपा करते हैं और कृपा करके, हमने जिसे सौभाग्य मान रखा है, उसे हर लेते हैं । भगवान्‌के प्रेमको हरनेवाली सम्पूर्ण

वस्तुओंको भगवान् हर लेते हैं, दूर कर देते हैं। मान गया, धन गया, यश गया, प्रतिष्ठा गयी, सब कुछ चला गया— मनुष्य रोने लगता है, छटपटाने लगता है; पर उस समय दयामय प्रभु मधुर-मधुर मुसकराते हैं, हँसते हैं कि 'यह मेरा प्यारा बच्चा विपत्तिसे बच गया।' जिसे हम सम्पत्ति मानते हैं, सचमुच वह विपत्ति ही है—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः ।
विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः ॥

'जगत्‌की विपत्ति विपत्ति नहीं, जगत्‌की सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं, भगवान्‌की विस्मृति ही विपत्ति है और भगवान्‌की स्मृति ही सम्पत्ति है।' श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें—

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥
(मानस ५। ३१। २)

जिस कालमे भगवान्‌का साधन-भजन—उनका मधुर स्मरण नहीं होता, वह काल भले ही सौभाग्यका माना जाय, उस समय चाहे चारों ओर यश, कीर्ति, मान, पूजा होती हो, सब प्रकारके भोग उपस्थित हों, समस्त सुख उपलब्ध हों; पर जो भगवान्‌को भूला हुआ है, भगवान्‌की ओरसे उदासीन है वह तो विपत्तिमे ही है—असली विपत्ति है यह। इस विपत्तिको भगवान् हरण करते हैं अपने स्मरणकी सम्पत्ति देकर। यहाँ भी भगवान्‌की कृपा प्रतिफलित होती है।

जब हम धन-पुत्रकी प्राप्ति, व्यापारकी उन्नति, कमाई, प्रशंसा, शरीरके आराम, अच्छे मकान, कीर्ति, अधिकार आदिको भगवानकी कृपा मान लेते हैं, तब उसे बहुत छोटेसे दायरेमे ले आते हैं और गलत समझते हैं। भगवान्‌की कृपा यहाँ भी है, परंतु ये समस्त सामग्रियाँ भगवान्‌की पूजाके उपकरण बनी हुई हों तो और यदि ये भोग-सामग्रियाँ, सारी-की-सारी वस्तुएँ भगवान्‌के पूजनका उपकरण न बनकर अपने ही पूजनमे मनुष्यको लगाती हैं तो वहाँ भगवान्‌का तिरस्कार होता है, अपमान होता है। वस्तुतः भगवान् इनको इसीलिये देते हैं कि इनके द्वारा उनकी पूजा करके मनुष्य कृतार्थ हो जाय; पर ऐसा न करके वह यदि इनका स्वामी बनकर भगवान्‌को भूल गया तो वह भोगोका स्वामी नहीं, उनका किङ्कर है। भोग उसे चाहे जहाँ ले जाते हैं, उसे धर्मच्युत कर देते हैं। वह भोगोंका गुलाम है। भगवान्‌ने भोगोंको 'दुःखयोनि' कहा है। भोगोंपर स्वामित्व हो, मन निगृहीत हो, सारे-के-सारे भोग और अन्तःकरण निरन्तर भगवान्‌की सेवामें लगे हों, तभी भोगोंका स्वामित्व है। ऐसा नहीं है तो भोगका स्वामी कहलाकर भी वह भोगका गुलाम ही बना हुआ है और जहाँ भोगोंकी गुलामी है, वहाँ भगवान्‌की कृपा कैसी? भगवान्‌की कृपा तो वहाँ प्रकट होती है, जहाँ सारी गुलामी छूटकर केवल भगवान्‌की दासता होती है, जहाँ तमाम परतन्त्रता टूट चुकी होती है, रह गया होता है केवल भगवान्‌का चरणाश्रय। जितनी-जितनी भोगोंकी वृद्धि होती है, उतनी-उतनी उनकी दासता बढ़ती है। जिसकी जितनी बड़ी ख्याति है, बड़ी कीर्ति है, उसकी उतनी ही अधिक बदनामी होती है। इसलिये भोगबाहुल्य भगवान्‌की कृपाका लक्षण नहीं है। भगवान्‌की सच्ची कृपा तो वहाँ मानी जाती है, जहाँ भगवान्‌का प्रेम है और भगवच्चरणानुराग है। कितने ही साधक भगवान्‌से कहते हैं—'अमुक आदमी कितना सुखी हो गया, कितने पैसेवाला हो गया, उसके व्यापार हो गया, आपने उसपर कृपा की। हमारे साथ तो आपका दुर्भाव है।' पर उन्हें कैसे समझाया जाय कि भोगबाहुल्य तो भगवान्‌की अकृपाका लक्षण है। गोस्वामी तुलसीदासजीने घोषणा की—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितन्हि भये मुद मंगलकारी॥
(विनयप० १७४। १-२)

जिनको भगवान् सीताराम प्यारे नहीं हैं, वे यदि प्यारे-से-प्यारे हों, परम स्नेही हों तो भी त्याज्य हैं। यदि हम किसीके माता, पिता, भाई, गुरु स्वामी हैं तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम उन्हें भगवान्‌मे लगानेका प्रयास करें, न कि उन्हें नरकोंमे पहुँचानेका प्रबन्ध कर दें। वह पिता पिता नहीं, वह माता माता नहीं, वह भाई भाई नहीं, वह गुरु गुरु नहीं और वह देवता देवता नहीं, जो भगवान्‌से हटाकर हमे भोगोंमे लगा दे।

तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानतें प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥
(विनयप० १७४। ४)

'वही परम हितैषी है, वही परम पूज्य है, वही प्राणोंका प्यारा है, जिससे श्रीरामके चरणोंमें स्नेह बढ़े, यह हमारा (तुलसीदासजीका) निश्चित मत है।' भगवान्‌में मन लगे, भोगोंसे मन हटे।

वास्तवमें भोगको प्रोत्साहन देना मनुष्यको बिगाड़ना है, उसे बुरे मार्गमें लगाना है। ऐसे मार्गमें लगा देना तो उसके साथ शत्रुता करना है। ऐसी कोई वस्तु कोई किसी प्राणीको दे दे कि वह भगवान्‌को भूल जाय, अमृतको भूलकर विष खा ले तो वह मित्र नहीं। उसका मुख ऊपरसे मीठा है, पर उसके भीतर हलाहल भरा हुआ है। मित्र वह है, जो अंदरसे मित्र है और जो हमें सुधार देता है। विषय-भोगोंमें लगानेवाले मित्र कदापि मित्र नहीं। ऐसे ही मित्रके लिये कहा गया है—'विषकुम्भं पयोमुखम्' (चाणक्यनीति २।५)। ऐसे जहर-भरे दुधमुँहे घड़े के सदृश ऊपरसे मीठे बोलकर विषयोंमें लगानेवाले मित्रोंको छोड़ देनेमें ही कल्याण है। संसारके विषय-भोग ठीक ऐसे ही हैं। वे देखनेमें अमृत-से लगते हैं, पर परिणाममें विष ही सिद्ध होते हैं। 'परिणामे विषमिव' (गीता १८। ३८)। माता, पिता, गुरु, भाई, मित्र—किसीको दूध बताकर विष दे देना, उसका उपकार करना नहीं, बुरा करना है। अतएव सबको स्पष्ट बता देना चाहिये कि इस विषमें बचो। यह मार देगा, यह नरकोंमें डाल देगा। पर यह कहना तो तभी बनता है, जब हम स्वयं इससे बचे हुए हों। असली वस्तु तो यही है कि भोगोंकी प्राप्ति, भोगोंकी स्पृहा, भोगोंको प्राप्त करनेकी कामना, मकान, मोटर, अधिकार, पद, पाँच आदमी मेरे आगे-पीछे चलें—यह कामना तथा यह सब देखकर मनका ललचाना आदि नरकरूप ही कहे गये हैं—

ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-विमुख अभागी॥
(विनयप० १४० । १)

संसारकी प्रलोभनीय वस्तुओंको दे देना, इनमें लगा देना, इनमें आकर्षण उत्पन्न कर देना, उनकी महत्ता बता देना हितकर नहीं है, अतः उचित नहीं है। यह तो उसके साथ वैर करना है। जिनके पास ये सामग्रियाँ हैं, उनको भी इनकी बुराइयोंसे अवगत करा देना चाहिये।

भगवान्‌की कृपाका आश्रय लें और वह जब जिस रूपमें आये, उसका स्वागत करें। यदि वह कृपा हमारा मान भङ्ग करनेवाली हो, प्रतिष्ठा मिटानेवाली हो, जगत्‌से सम्पर्क हटानेवाली हो तो यह समझना चाहिये कि भगवान्‌का सांनिध्य शीघ्र प्राप्त होनेवाला है। जगत् तभीतक पकड़ता है, जबतक उसे कुछ मिलता रहे। बूढ़े माता-पिताको भी लोग कहते हैं— 'भगवान् अब तो आपकी सुन ले तो अच्छा है' अर्थात् ये चल बसें, तो सुख रहे। जगत्‌के भोग किसीके नहीं हैं। किसीका प्रेम यथार्थ नहीं है। धनमें, मानमें, कीर्तिमें— कहीं भी सुख नहीं है। केवल जो आत्मा है, जो हमारा अपना स्वरूप है, जो सदा हमारे साथ है, इस शरीरके नष्ट होनेपर जो हमारे साथ रहेगा, उसीमें सुख है। यह धन, कीर्ति और मानका सुख तो उधार लिया हुआ मिथ्या सुख है। हम इसे सच्चा सुख समझ लेते हैं, यह हमारी भूल है। ये न तो सुख हैं और न ये सदा रहते ही हैं।

साधकको चाहिये कि वह निरन्तर भोगोंसे मन हटाता रहे, भोग हमारे शत्रु हैं—यह भाव मनमें बार-बार भरता रहे और प्रेममय, आनन्दमय भगवान्‌में मन लगाता रहे। हमें चाहिये कि हम इसके लिये पूरा प्रयत्न करें। भोगोंका नाश हो तो दुःखी न होकर परम सौभाग्य मानें, उसमें सहज सुहृद् श्रीभगवान्‌की कृपाका अनुभव करें। भगवान् हमारे नित्य सुहृद् हैं। वे कभी अकृपा करना जानते ही नहीं। मलेरिया होनेपर डाक्टरने कड़वी दवा दे दी, हम मानते हैं कि यह हमारे लाभके लिये है। इसी प्रकार आवश्यक होनेपर भगवान् हमें कड़वी दवा देंगे। डाक्टरद्वारा हमारे हितके लिये किये जानेवाले अङ्गच्छेद (ऑपरेशन)की भाँति आवश्यकता पड़नेपर वे हमारे अङ्ग भी काट सकते हैं, पर उसमें हमारा लाभ ही होगा। हमारे भयानक दुःखदायी रोग-दोष दूर करनेके लिये भगवान् हमपर कृपा कर रहे हैं, यह समझना चाहिये। भगवान्‌की कृपा समझकर निरन्तर उनका नाम लेते रहें और अपना जीवन भगवान्‌की इच्छाके अनुकूल बनायें। भगवान् हमारा सारा कार्य करते हैं, वे नित्य हमारा हित ही करते रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे, यह विश्वास रखेंगे तो निश्चय ही हम निहाल हो जायँगे।

कृपाके विलास

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

(१)

ईश्वरवादी मानव-समाजमें यह सिद्धान्त सर्वसम्मतिसे मान्य है कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अपराधीन, परमप्रेमास्पद एवं परम कृपालु हैं। किसी-किसी सम्प्रदायमें ऐसा स्वीकार करते हैं कि ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र होनेपर भी प्रेमके परतन्त्र है। अब प्रश्न यह है कि ईश्वर जीवके हृदयमें रहनेवाले प्रेमके परतन्त्र हैं अथवा अपने हृदयमें रहनेवाले प्रेमके? जीव भगवान्के सौन्दर्य, औदार्य, सौशील्य, माधुर्य आदि सद्गुणोंको देखकर जैसे उनपर मुग्ध हो जाता है तो ईश्वर जीवके किन गुणोंको देखकर उसके प्रति मुग्ध होते हैं? वस्तुतः ईश्वर किसी अन्यके गुणोंको देखकर मुग्ध नहीं होते। उनमें ही उनका स्वरूपसिद्ध कोई सहज स्वाभाविक गुण है कि वे स्वयं अपनी कृपा बरसाने लगते हैं—'मेघ जलमय प्रभु कृपामय', 'कृपैव प्रभुतां गता,' 'प्रभु मूरति कृपामई है' आदि पद्यांश इसी तथ्यको परिपुष्ट करते हैं।

प्राचीन ग्रन्थोंमें कारुण्य, कृपा, अनुकम्पा, अनुग्रह, पुष्टि, दया आदिके नामसे एक ही वस्तु प्रसिद्ध है और वह है—भगवान्का सहज स्वभाव। वह नैमित्तिक नहीं है, प्रत्युत भागवत आनन्दका सरल-सरल, तरल-तरल, पावन प्रवाह है।

(२)

भगवत्सम्बन्धी अनेक प्रश्नों और समस्याओंका समाधान उनकी कृपामें ही निहित है, जैसे—निराकार साकार क्यों होता है? अव्यक्त व्यक्तिके रूपमें क्यों प्रकट होता है? पूर्ण परिच्छिन्न कैसे हो जाता है? अकाल कालकी धारामें कैसे आ जाता है? कारण कार्यके रूपमें कैसे परिणत होता है? वह मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके रूपमें क्यों अवतीर्ण होता है? असम्बन्ध होनेपर भी सम्बन्धी क्यों बनता है—इन सबका, ऐसी अनेक मानसिक विकल्प ग्रन्थियोंका और बौद्धिक उलझनोंका एक ही समाधान है—हृदयके अनेक नाम-रूपमें अजस्र प्रवहमान एवं तरंगायमान कृपा-स्रोतस्विनीकी अखण्ड धारा। सत्पुरुष अपनी अन्तर्दर्शिनी, तत्त्वावगाहिनी दृष्टिसे इसका सतत दर्शन करते रहते हैं। कृपा एक दर्शन है, भाव नहीं। श्रीमद्भागवतमें अनुकम्पाके समीक्षणका वर्णन है, प्रतीक्षणका नहीं। समीक्षण प्राप्तका होता है और प्रतीक्षण अप्राप्तका। [illegible] कृपामय परमेश्वरकी [illegible] निमग्न [illegible] है। [illegible] प्राप्तिकी लालसा मत करो, [illegible] पहचानो।

(३)

श्रीमद्भागवतके व्याख्याता महानुभावोंने कहा है कि जब श्रीयशोदामाताने बालकृष्णको बाँधनेके लिये हाथमें रस्सी उठायी, तब भगवान्की स्वतःसिद्ध अनेक शक्तियाँ उसमें बाधा डालनेके लिये उद्यत हो गयीं। व्यापकता कहती थी कि जिनका ओर-छोर नहीं, वे रस्सीकी सीमामें कैसे आयेंगे? पूर्णता कहती थी कि जिनमें बाहर-भीतर नहीं, वे रस्सीके भीतर कैसे अटेंगे। असंगता सोचा कर रही थी कि प्रभुके शरीरके साथ रस्सीका संग असम्भव है। अद्वितीयताने स्पष्ट मना कर दिया कि स्वयंमें स्वयंका क्या बन्धन? बन्धन 'पर'के साथ होता है। इस आपाधापीके समय श्रीमती भगवती भास्वती कृपादेवी मन ही मन मुसकरा रही थीं। उन्होंने एक बार अपनी तिरछी चितवनसे देखा और सब शक्तियाँ निष्प्राण-सी धरी की धरी रह गयीं। बालकृष्ण प्रभु बन्धनमें आ गये। 'दामोदर' नाम-रूप प्रकट हो गया। भक्त केवल प्रेमकी रस्सीसे ही नहीं, परन्तु बाँधनेकी रस्सीसे भी प्रभुको बाँध लेते हैं। भक्तोंमें इतना सामर्थ्य कहाँसे आता है? इस प्रश्नका उत्तर है—'कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने।' ठीक ही है, भगवती कृपा ही '[illegible]' है, भगवान्की प्रेयसी पटरानी!

(४)

जब घर-बाहर—सर्वत्र प्रलयाग्निकी ज्वाला धधकने लगती है, अपने पाप-तापकी मायाने सम्पूर्ण विश्व झुलसने लगता है, उस समय एक सच्ची माँ जैसे अपने शिशुओंको गोदमें उठा लेती है, वक्षःस्थलसे चिपका लेती है, उनको बाहरकी आती वायु भी नहीं लगने देती, उनकी शय्या बन जाती है, अपनी छातीके दूधसे ही उनका पालन-पोषण करती है, वैसे ही महाप्रलयके समय भगवान् सब जीवोंको अपनी ही सत्ता, ज्ञान और आनन्दमें लीन कर लेते हैं। उनके संस्कार-शेष बीजके सिवा अर्थात् उनके जीवत्वके सिवा और कुछ भी शेष नहीं छोड़ते। जैसे माँके गर्भमें शिशु समग्र सम्पोषण और संवर्द्धन प्राप्त करता है, उसी

प्रकार यह जीव ईश्वरके गर्भमें विश्राम, आराम, शान्ति और पुष्टि प्राप्त करता है। महाप्रलयके समय भी इस प्रकार जीवकी शय्या बनकर उसे आराम देना और प्रलय-कालानलके तापसे बचा लेना—यह भगवान्‌की कृपाका ही एक स्वरूप है। यह 'जननी-कृपा' है और जीवके जीवनमें भी सर्वदा ही अनुगत रहती है। जब-जब जीवरूप पौधा मुरझाने लगता है, तब-तब उसकी वृद्धि-समृद्धि एवं पुष्टि-तुष्टिके लिये वह जननी ही 'उज्जीवनी' बनकर आती है। आप किसी भी जीवके जीवनमें इस माँका दर्शन कर सकते हैं। यह उपवास और भोजन, शोषण और पोषण, प्रक्षालन और स्नेहन—सभी प्रक्रियाओंमें जीवका हित करती रहती है। इसको पहचाननेमें देर-सवेर हो सकती है, परंतु इसके क्रियान्वित होनेमें कभी कोई रुकावट नहीं पड़ती।

(५)

प्रलयके समय जीव शयनमें होता है। विस्मृति और अज्ञानका गहरा पर्दा इसको चारों ओरसे आच्छादित किये रहता है। उसे कोई दुःख नहीं होता—यह तो ठीक है; परंतु इस शयन-दशामें कुछ धर्म, अर्थ, भोग, मोक्ष भी तो नहीं है। कोई शिशु सोता ही रहे—निद्रा-तन्द्रामें अलसाया हुआ निकम्मा पड़ा रहे, यह बात किसी भी वात्सल्यमयी जननीको कैसे रुचिकर हो सकती है? वह चाहती है कि हमारा बेटा उठे, भले-बुरेको पहचाने, कुछ करे, कुछ कमाये, अपने पौरुषसे कुछ भोगे। भला कौन ऐसी माँ होगी, जो यह न चाहेगी? वही माँ अपने बालकको जगाती है। एक-एकको अलग-अलग जगाती है। एक साथ जगाती है। सबके आलस्य भगाती है। स्नान-मार्जन कराती है। हाँ, वही माँ जो जननी थी, 'प्रबोधनी' हो गयी। वह प्रबोधनी कौन है? वह प्रभुकी कृपा है। यदि यह जीव प्रलयकी प्रगाढ़ निद्रामें सोता ही रहता तो क्या इसको किसी पुरुषार्थकी प्राप्ति होती? श्रीमद्भागवतके अनुसार सोते हुए ग्वाल-बालोंको जगानेके लिये स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण शृङ्गध्वनि करते हुए आते हैं—'प्रबोधयन् शृङ्गरवेण चारुणा।' जागरणके पश्चात् श्रीकृष्णके साथ ही वे भव-वनमें प्रवेश करते हैं। अनेक रूप-प्रपञ्चका दर्शन होता है। यदि ईश्वर चैतन्य साथ न हो तो न प्रपञ्चका दर्शन हो और न उसकी क्रीड़ाका हो, इसलिये यहाँ आकर कृपा ही अनेक प्रकारके दृश्योंका सर्जन-विसर्जन करने लगती है। जो कुछ कारण-शरीरमें लुप्त, गुप्त या सुप्त था, उसको वह विस्तारके साथ फैलाती है। अन्तःकरण, बहिःकरण, विषय, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, क्षिप्त-विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सभी स्थूल-सूक्ष्म विषयोंका विस्तार, प्रचार-प्रसार प्रपञ्चनी कृपा ही करती है। अविद्या निद्रामें सुषुप्त जीवको जहाँ कुछ भी प्रतिभात नहीं होता था, वहाँ अब सब कुछ प्रतीत होने लगा। शिशुके नेत्र खुल गये, मन काम करने लगा। सोते हुए जीवोंको जागरण-दशामें लानेवाली यह 'प्रबोधनी' कृपा है।

(६)

अब कृपाका एक नया विलास प्रकाशमें आता है। इस कृपाकी अभिव्यक्तिके बिना कोई भी प्राणी अपनी अनुकूलता और प्रतिकूलता—सुपथ्य और कुपथ्यको नहीं जान सकता। वृक्ष अपनी वृद्धिके लिये कहाँसे मुड़े? चींटी शक्करके साथ कैसे जुड़े? पक्षी कौन-सा चारा खाये? पशु कौन-सी घास चरे? यह भोजन जीवनका साधन है और यह मरणका—यह कैसे जान पड़े? करना न करना, खाना न खाना, छिपना-प्रकट होना, बोलना न बोलना—ये सब प्राणियोंको कैसे ज्ञात हों? सचमुच वही वात्सल्यमयी जननी कृपा प्रशिक्षणी-रूप धारण करके जीवनमें विशेष ज्ञानकी एक धारा प्रवाहित करती है। अग्निका स्पर्श दाहक है, माताका वक्षःस्थल वाहक है। पाँवसे चलना, हाथसे खाना, प्यास लगनेपर जल पीना, इष्ट-अनिष्टकी पहचान कराना—यह सब भगवान्‌की 'प्रशिक्षणी' कृपाका विलास है।

(७)

इसी प्रशिक्षणसे जीवनमें प्रणयन अर्थात् निर्माणका अवतारण होता है। जीवनके प्रणयनका मूल प्रशिक्षण ही है। इसके बिना जीव-जगत् सब अंधे ही रहें। अन्तरमें बैठकर प्रवृत्ति और निवृत्तिके लिये उन्मुख कौन करता है? वह अन्तःप्रविष्ट शास्ताकी प्रशासन शक्ति ही है। वह सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और भावोंका परस्पर विश्लेषण, विशेष रूप, आकृति, गुण, धर्म, स्वभावकी रचनामें भिन्न-भिन्न प्रकारका उत्पादन, सम्भरण और संहरण क्यों करती है? वह किसीके पूर्व-संस्कारोंका अनुगमन अथवा नवीनीकरण ही क्यों करती है? विचार-दृष्टिसे देखनेपर वह शक्ति किसी हेतु, निमित्त या प्रयोजनसे प्रेरित नहीं जान पड़ती। जब शक्ति अहैतुक ही कार्य करती है, तब 'प्रणयिनी' कृपाके सिवा उसके लिये दूसरा नाम नहीं हो सकता।

(८)

इसी प्रणयनके अनन्तर इष्ट-अनिष्टका भाव परिपक्व हो जाता है, तब इष्ट-प्राप्ति और अनिष्टको दूर करनेकी इच्छा होती है। यह इच्छा ही 'अभिलाषिणी' कृपाका रूप है। जो अभिलाष देता है, वही प्राप्त भी कराता है और प्राप्तिके साधन भी देता है। धर्म, अर्थ, काम—कुछ पाना है तो उसके लिये लौकिक-वैदिक कर्म चाहिये। कर्मके करण-उपकरण चाहिये। कर्मका अधिकारी कर्ता चाहिये। उपयुक्त स्थान और समय चाहिये। सहायक और सामग्री चाहिये। विशेष ज्ञान चाहिये। यह सब लेकर कौन आता है? प्रभुकी 'प्रापणी' कृपाके ही ये भिन्न-भिन्न रूप हैं। यह है सर्वदा, सर्वत्र, सबपर; परंतु पहचानता है कोई-कोई।

(९)

अनुकूल अथवा प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्ति होनेपर दातापर दृष्टि जानी चाहिये; परतु कुछ ऐसी मोहमयी लीला चल रही है कि अनुकूलमे राग हो जाता है, प्रतिकूलमे द्वेष और दातापर दृष्टि जाती नहीं। रागसे पक्षपात और द्वेषसे क्रूरता तथा रागमे स्वाद और द्वेषमे कटुताका जन्म होता है। परंतु ऐसा क्यों होता है? ऐसी दशामे प्रभुकी कृपा कहाँ प्रसुप्त हो जाती है? गम्भीरतामे देखे, वह कहीं जाती नहीं है; हमारी स्वतन्त्र विवेकशक्तिको जाग्रत् करती रहती है। क्या कल्पित गणित ठीक-ठीक सीख लेनेपर वास्तविक गणितका साधन नहीं बनता? बिना सुख-दुःखके झकोरे सहन किये किसके जीवनमे स्फूर्तिका उदय हुआ है? इस प्रक्रियामे जो लोग प्रभुके कृपा-वैभवको देखकर मुग्ध होने लगते हैं, उन्हें वह प्रभुके सम्मुख कर देती है और 'अनुरोधनी' बन जाती है।

(१०)

यह मोहनी किस-किस विलक्षण और विचक्षण रीतिसे विभिन्न-लक्षण जीवोंको संसारकी विविध प्रवृत्तियोंमे लगाकर 'प्रवर्तनी' नाम धारण करती है यह पृथक्-पृथक् निरूपण करना शक्य नहीं है। संसारमे जितनी क्रियाएँ है, भाव है, संज्ञा है—सभी इस नवनवायमान 'अभिव्यञ्जनी'के ही रूपान्तर हैं। जो इनके बाह्य स्वॉगके रंगमे ही अपने अन्तरङ्गको रंग लेता है, वह चक्रवातमे तृणके समान उड़ता-पड़ता रहता है और जो इसके अन्तरङ्गमे विराजमान करुणावरुणालय प्रभुके तरंगायित रूपको देख लेता है, वह क्षण-क्षण उनका दर्शन करके आनन्दमग्न रहता है।

(११)

प्रभुकी कृपाका एक रूप है—'आकर्षणी'; परंतु वह प्रारम्भमे 'विकर्षणी'का रूप ग्रहण करके आती है। विकर्षणी भी अपना सहज सौरभ तब प्रकट करती है, जब वह 'तापनी' होकर हृदयमे प्रपञ्च-संवेदनके प्रति ताप उत्पन्न कर चुकती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि जब ईश्वर-वियोगिनी वृत्ति प्रपञ्च-संयोगमे ताप और ज्वालाका अनुभव करने लगती है—संसारकी सुरभित वस्तुमें भी दुरभिगंधिकी शङ्का होती है, रसमे भी विष स्पष्ट जान पड़ता है, सुरूपतामें छिपी कुरूपता दीखने लगती है, सुकुमार मारका दूत लगने लगता है, मधुर स्वर सुख-विधुरताके कर्णभेदी ध्वनि-सदृश प्रतीत होने लगने हैं और प्रिय-सम्बन्ध बन्धन लगने लगते हैं, तब यह 'तापनी' ससारकी ओरसे विकर्षितकर प्रभुकी आकर्षण-धारामे डाल देती है। अब ऐसा लगने लगता है कि कोई मेरा प्रेमी है। वह मुझे बलात् अपनी ओर खींच रहा है। मेरा वास्तविक प्रियतम वही है। मेरा निवास-स्थान उसीके पास है। इतने दिनोंतक मैंने घोर अन्धकारमें, पराये घरमें जीवन व्यतीत किया है। मैंने भ्रमवश दुःखको सुख माना है। मैं जहाँ हूँ, वहाँ शान्ति नहीं है, प्रकाश नहीं है, सुख नहीं है। मुझे अपने प्रियतमके उस रसमय, मधुमय प्रदेशमें चलना चाहिये, जहाँ बस, वही-वह विहार करता है।

(१२)

जब इस प्रकारके सकल्प उठने लगते हैं, तब इनके प्रवाहमे वासनाके मल धुलने लगते हैं। कृपा 'क्षालनी' होकर आती है और धीरे-धीरे अन्तर्देश पवित्र होने लगता है। तब वह कृपा 'द्रावणी' और 'स्नेहनी' भी बनती है। प्रभुके लिये तीव्र व्याकुलताकी ज्वालासे वह अन्तःकरणको द्रुत करती है और उसमे परमानन्दमय प्रभुके लिये एक प्रकारकी स्निग्धता उत्पन्न करती है। इस क्षालन, द्रावण और स्नेहनकी प्रक्रियाके बिना हृदयमे रासायनिक प्रभाव (संवेदन) उत्पन्न नहीं होता और उसमे भगवदाकार होनेकी योग्यता नहीं आती। वासनाएँ दूसरा आकार बना देती हैं। ममता कठोर बनाती है और अन्योन्यमुखता रक्षा करती है। इन तीनों दोषोंकी निवृत्तिके लिये कृपा उक्त तीनों रूप धारण करती है और क्षालित, द्रावित एवं स्निग्ध हृदयमे भगवान्‌के प्रासादिक रूपका अनुभव कराती है। अब उसका एक नाम 'प्रसादनी' भी हो जाता है।

(१३)

इस अवस्थामें ईश्वरके जिस स्वरूपका अनुभव होता है, वह अत्यन्त विविक्त एवं स्पष्ट नहीं होता; क्योंकि वासनाओंके शान्त हो जानेपर भी अविद्याके संस्कार बने रहते हैं, परंतु हृदय शुद्ध होनेके कारण ईश्वरको सम्पूर्ण रूपसे अपना विषय बनानेके लिये एक दिव्य वृत्तिका उदय होता है। उसमें व्याकुलता नहीं है। दाह और ताप भी नहीं है; परंतु सम्पूर्ण अनुभूतिके लिये एक आन्तरिक प्रयत्न होता रहता है। इस प्रयत्नको 'अन्वेषणी', 'विवेचनी' अथवा 'जिज्ञासनी' कृपाका नाम दिया जा सकता है। इसमें अपने अन्वेष्य अथवा अनुसंधेय वस्तुके अतिरिक्त किसी अन्य विषयकी ओर चिन्तनकी धारा नहीं गिरती। परिणामतः 'प्रकाशनी' कृपा अभिव्यक्त हो जाती है। उस समय अपने अन्तःकरणके ही सूक्ष्मतम आधार-प्रदेशमें भगवत्स्वरूपकी स्फूर्ति होने लगती है। वह स्वरूप न घटादिके समान प्रत्यक्ष होता है और न स्वर्गादिके समान परोक्ष। वस्तुतः वह अवेद्य अपरोक्ष ही होता है, परंतु 'अन्वेषणी'से पृथक्, 'विवेचनी'से स्वरूप और 'जिज्ञासनी'से प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मके रूपमें अनुभव होता है। इस अनुभूतिको 'मेलनी'की संज्ञा दी जा सकती है, क्योंकि जिसका अनुसंधान कर रहे थे, वह अब मिल गया है। यह मेलनी ऐसी है कि फिर वियोजनी अथवा संयोजनी वृत्तिका संसर्ग नहीं होता; क्योंकि वियोग-संयोगकी कल्पनाके लिये अब कोई अवकाश नहीं रहता। कर्मके नष्ट होनेपर फलका नाश अथवा ह्रास होता है, किंतु प्रमाण-वृत्तिके रहने न रहनेका प्रमेय वस्तुपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुके लिये स्मरणी-विसरणी भी अकिंचित्कर है। भक्तिमार्गसे भी मेलनी केवल नित्य सम्बन्धकी अभिव्यञ्जनी होती है, उत्पादनी नहीं।

(१४)

इसमें संदेह नहीं कि यह सर्वविध बन्धनसे मुक्त कर देती है, चाहे इसका रूप कुछ भी क्यों न हो! इसलिये मेलनीका ही एक नाम 'मोचनी' हो जाता है। यह अनात्मासे, अनिष्टसे, द्वैतभ्रमसे सर्वथा मुक्त करनेमें समर्थ है। इसके बाद तीन रूप प्रकट होते हैं—'शमनी'में सम्पूर्ण वृत्तियोंकी उपशान्ति होकर प्रपञ्चका अभाव हो जाता है। 'स्वच्छन्दनी'में वृत्तियोंकी प्रतीतिमात्र रहती है अर्थात् उपस्थिति-अनुपस्थितिका कोई महत्त्व नहीं रहता और 'ह्लादनी' रसिक, रस्य और रसनको परमानन्द, एकरस कर देती है। तब भूमि, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, समीर, आकाश, मन, भोक्ता, भोग्य, कर्ता, कर्म (कहाँतक गिनायें!) सब कुछ भगवन्मय हो जाता है। धाम, नाम, रूप, लीला, गुण, स्वभाव, दुर्जन, सज्जन—सब कुछ रस-स्वरूप परमात्माकी निर्माण-लीलामात्र होते हैं। यह 'ह्लादनी' कभी 'अभिसारणी' और कभी 'माननी' होकर आती है। सुखकी व्यञ्जनाके लिये मनाती है, मिलनेके लिये नदीकी तरह बहती है, आनन्दधारामें हिम-शिलाके समान मान करके बैठ जाती है। यह चाहे जो रूप धारण करे, रहती है—'भावनी,' 'रञ्जनी', 'तर्पणी' और 'नन्दनी'। चाहे आँख-भौं चढ़ी हो, चाहे प्रसन्न, वह प्रियतमकी प्रसन्नताके लिये अपनी प्रियताकी अभिव्यक्ति ही होती है, क्योंकि अब आनन्द-रसके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इसीसे यह कभी मिलकर 'मोदनी' दिखायी देती है तो कभी 'मादनी' दीखती है। संयोग और वियोग घुल-मिलकर एक हो चुके होते हैं और उनकी आकृतिविशेष होनेपर भी तत्त्वविशेष नहीं होता। वे रस-विशेषके उल्लास हैं, प्रेमके प्रकाश हैं, प्रीति-महार्णवकी तरंगें हैं; कभी दो हैं, कभी एक हैं। वहाँ 'कभी' है, परंतु काल नहीं। 'वहाँ' है; परंतु देश नहीं। दो हैं, परंतु द्वैत नहीं। यह 'सरूपणी' कृपा अभेदस्वरूपा ही है।

(१५)

इस कृपाका स्वरूप देश-काल-वस्तु-व्यक्तिसे परे भी है और उनमें अनुस्यूत भी। वस्तुतः कृपाके अतिरिक्त और कोई महत्ता-सत्ता नहीं है। वह 'अरूपिणी' रहकर सर्वरूपमें प्रकाशित होती है। कृपा और कृपालु दो तत्त्व नहीं हैं। जब, जो, जहाँ कृपालुका स्वरूप है, तब, वहाँ, वही कृपाका स्वरूप है। आत्मा-परमात्माका भेद और अभेद—दोनों ही कृपा हैं। जब सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च अन्धतमसाच्छन्न होता है, तब क्या हमारे नेत्रोंके भीतरसे सूर्य-ज्योति बेरोक-टोक झाँकती हुई नहीं ज्ञात होती? अन्धकारके पीछे क्या सूर्यमण्डल जगमगाता हुआ नहीं होता? अन्धकार, दुःख, मृत्युके आगे-पीछे सर्वत्र वही मङ्गलमयी ज्योति झिलमिला रही है। इस 'अरूपिणी' कृपाको केवल पहचानना पड़ता है, पाना नहीं। तत्त्वज्ञानका अर्थ भी इसे पहचानना है। इसको चाहे ब्रह्म कह लो

या आत्मा ? सगुण-निर्गुणका भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं ।

(१६)

'रूपिणी' कृपा तब समझमे आती है, जब वह हमारे इष्टके स्मरणमें हेतु बनती है—जैसे सत्सङ्ग मिले, भगवद्धाम मिले, कुछ कालतक भगवान्की आराधना मिले । भक्तकी दृष्टिसे वह रूपिणी कृपा होगी; क्योंकि वह साधनका रूप धारण करके आयी है । यह कृपा अपने-अपने पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्तिमें अनुकूलता उत्पन्न करनेपर पहचानी जाती है । जिज्ञासुको संत मिले, अर्थीको सेठ मिले, कामीको कामिनी मिले और धर्मात्माको सत्पात्र मिले तो उसे वह भगवान्की रूपिणी कृपा समझेगा; परंतु यह दृष्टि पुरुषार्थकी उपाधिसे है । इसमें कृपाकी सच्ची पहचान नहीं है । सच्ची कृपामें अपनी इच्छा या आवश्यकतापर दृष्टि नहीं जाती । उसमें प्रत्येक परिस्थितिमें ही उसका समीक्षण होता है, प्रतीक्षण नहीं, प्रार्थना भी नहीं । जो है, उसके लिये क्या प्रतीक्षा और क्या प्रार्थना ? उसकी अनेक-रूपता वैसी ही है, जैसी रासलीलाके समय श्रीकृष्णकी अनेकरूपता या ब्रह्माके प्रति अनन्त रूपका दर्शन । कृपाकी पहचान हो जानेपर उसमें स्मरण, प्रतिष्ठा और निष्ठाकी भी आवश्यकता नहीं रहती । जो कुछ है, नहीं है, भासता है, नहीं भासता है, प्रिय है, अप्रिय है, भेद है, अभेद है—बस, कृपाका ही विलास है ।

ईश्वर-कृपा-विवेचन

शिष्य—जब ईश्वरकी कृपा होगी और वे अनुकम्पा करेंगे, तब क्या संसारकी समस्त आसक्तियाँ क्षणभरमें छिन्न-भिन्न हो जायँगी ?

स्वामीजी—हाँ, उनकी कृपा हो तो ऐसा हो सकता है; किंतु उनका कृपापात्र बननेके लिये स्वयंको शुद्ध बनाना आवश्यक है । पहले स्वयंको शुद्ध और पवित्र न बनाओगे तो कैसे कृपा करेंगे ?

शिष्य—परंतु गुरुदेव ! यदि तन-मन-वचनका संयम हो जाय तो कृपाकी आवश्यकता ही क्या रह जायगी और यदि संयम ही हो सके, तब तो अपनी आत्मोन्नति मैं स्वतः कर ही सकता हूँ ?

स्वामीजी—तू एक बार अन्तःकरणसे प्रयत्न तो करके देख, उनकी कृपा होती है या नहीं—इसपर विचार पीछे करना । पुरुषार्थ किये बिना हाथ-पर हाथ रखकर बैठे रहनेसे कोई भी उनकी कृपा नहीं पा सकता ।

× × × ×

शिष्य—भगवन् ! ऐसी बात सुननेमें आती है कि जो लोग किसी समयमें महापापी और व्यभिचारी थे, वे किसी प्रकारका साधन-भजन किये बिना ही ईश्वर-कृपासे अनायास ही उनका दर्शन प्राप्त कर सके । इसका क्या कारण है ?

स्वामीजी—लोग बाहरसे पापी, व्यभिचारी और दुराचारी होते हुए भी ईश्वर-दर्शन कर सके, इस विषयमें यह अवश्य समझना चाहिये कि उनके हृदयमें पहले एक बार तीव्र अशान्ति उत्पन्न हो चुकी होती है । जब इस प्रकारकी अशान्तिसे उनका हृदय सुलगने लगता है, भोगोपभोगके प्रति तिरस्कार उत्पन्न हो जाता है, उन्हें किसी प्रकार भी शान्ति नहीं मिलती, तब वे भगवान्की कृपा प्राप्त करनेके लिये हृदयके पवित्र भावसे प्रार्थना करते हैं और प्रभु उसे सुनते ही हैं ।

× × × ×

शिष्य—देव ! मैं ऐसा समझता हूँ कि जो लोग इन्द्रियादिका निग्रह कर काम-काञ्चनादिका त्याग करके ईश्वर-कृपा-प्राप्तिके लिये सर्वदा तत्पर रहते हैं, उन्हें पुरुषार्थवादी अथवा स्वावलम्बी कह सकते हैं और जो केवल ईश्वरके नामपर विश्वास रखकर उसपर ही निर्भर रहते हैं, उनकी संसारासक्ति ईश्वर स्वयं ही दूर करते हैं और अन्तमें वे ही उन्हें परमपद भी प्रदान करते हैं ।

स्वामीजी—हाँ, किंतु ऐसे भाववाले भक्त विरले ही होते हैं । ऐसे साधक ही कृपासिद्ध माने जाते हैं ।

—स्वामी विवेकानन्द

भगवत्कृपासे सत्सङ्ग या सत्सङ्गसे भगवत्कृपा ?

(लेखक—महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभजनानन्दजी सरस्वती महाराज)

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति मनुष्य-जीवनका परम पुरुषार्थ है। श्रीमद्भगवद्गीतामे तत्त्व-प्राप्तिके लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि साधन बताये गये हैं; किंतु वर्तमान समयमे मनुष्य कोई भी कठिन पारमार्थिक साधन करनेमे अपनेको असमर्थ पाता है। कभी वह समयके अभावका बहाना बनाता है, कभी पारिवारिक समस्याओंका और कभी शारीरिक अस्वस्थताका। पर सच्चाई यह है कि उसमे साधन करनेकी रुचि या लगन ही नहीं होती। यदि एक बार सच्ची लगन उत्पन्न हो जाय तो साधकको सभी ओरसे सहायता प्राप्त होने लगती है। जो मार्ग अगम दिखायी देता था, वही सुगम हो जाता है।

यदि सुगमताकी दृष्टिसे देखा जाय तो प्रभु-कृपा-प्राप्तिके लिये सत्सङ्गसे बढ़कर और कोई साधन नहीं दीखता। सत्सङ्गतिसे मनुष्य सहज ही दुस्तर भवसागरको पार कर जाता है। दूसरी ओर जिस साधकके हृदयमे सत्सङ्ग करनेकी इच्छा-उत्पन्न हो, उसे अपने ऊपर भगवान्‌की बड़ी भारी कृपा समझनी चाहिये; क्योंकि—

संतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
(मानस १। २। ४)

सत्सङ्ग सब मङ्गलोंका मूल है। जैसे फूलसे फल, फलसे बीज और बीजसे वृक्ष होता है, उसी प्रकार कृपा-साध्य सत्सङ्गसे विवेक, विवेकसे 'सत्'का ग्रहण और उससे भक्तिकी प्राप्ति होती है। सत्सङ्गसे इस प्रकार सहज ही मनुष्य आवागमनके चक्रसे छूट जाता है। ऐसा क्यों कहा गया? इसलिये कि भगवान्‌को उनकी भक्तिसे प्राप्त करना सबसे सुगम है और भक्ति सत्सङ्गसे सहज ही प्रकट हो जाती है। इसीलिये गोस्वामीजीने सत्सङ्गको संसृतिका अन्त बताया—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥
(मानस ७। ४४। ३)

तथा—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
(मानस १। २। ४)

सत्सङ्गके समान अन्य कोई लाभ नहीं और वह सुलभ होता है केवल भगवत्कृपासे—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥
(मानस ७। १२५)

भगवान् शंकर बतला रहे हैं—'गिरिजा! कोई देश या काल ऐसा नहीं है, जहाँ संत दुर्लभ हों'—

सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥
(मानस १। १। ६)

परंतु निकट होते हुए भी संतोंकी पहचान नहीं हो पाती, पता नहीं चलता कि अमुक व्यक्ति संत है। 'जो 'सत्' पदार्थ परमात्माके यथार्थ तत्त्वको जानता है और उसे उपलब्ध कर चुका है, वही संत है।' महाभारतमे कहा गया है—

सन्तो हि सत्येन नयन्ति सूर्यं
सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन्
सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः॥
(महा० वन० २९७। ४८)

'सत्पुरुष सत्यके बलसे सूर्यका संचालन करते हैं। संत-महात्मा अपनी तपस्यासे इस पृथ्वीको धारण करते हैं। राजन्! सत्पुरुष ही भूत, वर्तमान और भविष्यके आश्रय हैं। श्रेष्ठ पुरुष संतोंके बीचमे रहकर कभी दुःख नहीं उठाते हैं।'

संतोंकी महिमाको भगवान् श्रीरामने स्वयं नारदजीके प्रति सविस्तर कहा और यहाँतक कह दिया कि—

मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥
(मानस ३। ४५। ४)

ऋषभदेवजीने अपने पुत्रोंको उपदेश देते हुए कहा—

महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये।
(श्रीमद्भा० ५। ५। २)

'महापुरुष (संत) वे ही हैं, जो सम-चित्त, शान्त-स्वभाव, क्रोधहीन, सबके सुहृद् और सदाचारसम्पन्न हों।' ऐसे संतोंका मिलना वस्तुतः भगवत्कृपासे ही सम्भव होता है। काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं—

आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन॥
(मानस ७। १२३ क)

'यद्यपि मैं सब प्रकारसे तुच्छ हूँ, फिर भी श्रीरामचन्द्र-जीने आज मुझे अपना निज-जन जानकर संत-समागम दिया।'

श्रीरघुनाथजीकी भक्तिको सुलभ और समस्त सुखोंकी जननी बताया गया है। संत उस त्रिताप-नाशिनी कलिमल-हारिणी भक्तिका अकारण दान करते रहते हैं; परंतु मिलते कब हैं ? जब अकारणकरुण भगवान् द्रवित होते हैं, तब—

रघुपति-भगति सुलभ, सुखकारी। सो त्रयताप-सोक-भय-हारी॥
बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवै जब सोई॥
जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु संगति पाइये।
जेहि दरस-परस-समागमादिक पापरासि नसाइये॥
(विनयप० १३६। १०)

श्रीरघुनाथजीकी दयासे संत-समागम होता है और उसके फलस्वरूप पाप-पुञ्जोंका नाश होता है।

सेवत साधु द्वैत-भय भागै। श्रीरघुवीर-चरन लय लागै॥
देह-जनित विकार सब त्यागै। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागै॥
(विनयप० १३६। ११)

सत्सङ्गसे सांसारिक द्वन्द्व—राग-द्वेष, मान-अपमान, हर्ष-शोक आदि समाप्त हो जाते हैं और जीव अपने निज स्वरूपमें अनुरक्त हो जाता है अर्थात् जीवनका परम पुरुषार्थ—परमात्म-तत्त्व प्राप्त कर लेता है।

सत्सङ्गका इसीलिये इतना महत्त्व है कि यह अत्यन्त सुगम साधन होते हुए भी ऊँचा-से-ऊँचा लाभ प्रदान करता है। परमात्माकी प्राप्तिसे बढ़कर ऊँचा लाभ अन्य कोई हो ही नहीं सकता। भगवान् श्रीरामको प्राप्त करनेमें विभीषणको क्या परिश्रम करना पड़ा ? भगवत्कृपासे ही उन्हें परम भागवत हनुमान्‌जीका सत्सङ्ग मिला—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥
(मानस ५। ६। २)

और सत्सङ्गके फल-स्वरूप विभीषणपर श्रीराघवेन्द्रकी कृपा मानो उमड़ पड़ी। भगवान्‌ने उन्हें लंकाका अविचल राज्य ही नहीं दिया, प्रत्युत अपना अलौकिक प्रेम भी प्रदान किया—

सुनु लंकेस सकल गुन तोरें। तातें तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें॥
(मानस ५। ४८। १)

श्रीराम-कृपासे जिसे सत्सङ्ग मिलता है, उसके सारे संशय दूर हो जाते हैं अर्थात् अपने भूले हुए स्वरूपकी स्मृति हो जाती है। काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

राम कृपाँ तव दरसन भयऊ। तव प्रसाद सब संसय गयऊ॥
(मानस ७। ६८। ४)

यहाँ गोस्वामीजी 'राम-कृपा'पर विशेष बल देते प्रतीत होते हैं।

सत्सङ्ग भगवत्कृपा-प्राप्तिका एकमात्र सुगम और अमोघ उपाय है। एक निमिषका सत्सङ्ग भी दुर्लभ होता है, परंतु सत्सङ्ग मिलता उसीको है, जिसे प्रभुकी कृपा प्राप्त होती है, जिसकी ओर प्रभु कृपा कर एक बार देख लेते हैं—

सत संगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा॥
(मानस ७। १२२। ३)

संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥
(मानस ७। ६८। ४)

यह निर्णय असम्भव-सा है कि भगवत्कृपासे सत्सङ्गकी प्राप्ति होती है अथवा सत्सङ्गसे भगवत्कृपा-प्राप्ति। वस्तुतस्तु इन दोनोंको अन्योन्याश्रित ही कहा जा सकता है।

दीनकी पुकार

कृपानिधान करियो कछु कृपा दीन माथै ॥टेक॥
मैं आदि तुमरो अंसा, अब विसर गयो निजवंसा।
सांसे में आव विहावै, प्रभु तोहि दया सुख थावै॥
तुम जीवों के प्रति-पाला निज देवा देव दयाला।
सब के जो अंतरजामी, अब मोहि दया कर स्वामी॥
हम दीना दीन पुकारै, तुम सुण हो सिरजनहारै।
अब तारण विरद विचारो, सांई वेग मुझ तारो॥
हमसूं कुछ नांहि लहीजै, तुम देव दया निज कीजै।
'हरिदेव' सदा हरि तेरो, चित चरण कमलको चेरो॥

—संत श्रीहरिदेवदासजी महाराज

भगवत्कृपाका दुःखावतार !

(लेखक—सिद्धपीठाधीश्वर स्वामी श्रीरामप्रसन्नाचार्यजी महाराज)

इस संसारमे आर्त-प्रपन्न भक्त तो तत्क्षण ही (प्रपत्युत्तर-कालमें ही) अजर, अमर, प्रशान्त वैकुण्ठमे अपने भावनानुकूल सारूप्य, सायुज्य, सामीप्य, सालोक्य मुक्तिरूपा भगवत्कृपा प्राप्त कर लेते हैं; किंतु दृप्त-प्रपन्न भक्त शरीरावसानपर्यन्त इस संसारमें रहना चाहते हैं और तदनन्तर मोक्षकी प्रार्थना करते हैं। यद्यपि उनके शरणागत होनेके साथ ही उन्हें मुक्ति उपलब्ध हो जाती है, तथापि उनकी इस प्रकारकी प्रार्थना सुनकर उनकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये भगवान् इस शरीरपर्यन्त उन्हें संसारमें रखनेके लिये राजी हो जाते हैं।

अब शङ्का यह होती है कि इस जीवनके पुण्यमय प्रारब्धको रखकर केवल सुखमय जीवन-यापनकी व्यवस्था तथा पापमय प्रारब्धोंको नष्टकर दुःखरहित जीवन-यापनकी व्यवस्था करनेमें समर्थ होते हुए भी भगवान् ऐसा क्यों नहीं करते ? इसका समाधान करते हुए कवि-तार्किककेसरी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीवेदान्तदेशिक स्वामीजी 'न्यासतिलक'के माध्यमसे कहते हैं—

शोकास्पदांशमथनाश्रयतां भवाब्धौ
रागास्पदांशसहजं न रुणत्सि दुःखम्।
नोचेदमी जगति रङ्गधुरीण भूयः
क्षोदिष्ठभोगरसिकास्तव न स्मरेयुः॥
(१३)

'हे रङ्गधुरीण भगवन् ! आप पिछले जन्मोंके प्रारब्धोंको नष्ट कर देते हैं, किंतु इस जन्मके पापमय प्रारब्धको नष्ट नहीं करते; क्योंकि जब इस शरीरमे सुख-ही-सुख मिलता रहेगा तो क्षुद्र सांसारिक भोगोंमे लिप्त भक्त आपको स्मरण ही नहीं करेंगे।'

भगवान् यदि मानवको दुःख न दें तो क्षुद्र स्त्री, पुत्र, परिवार और भोगोंमें फँसा रहनेसे संसारमे उसकी रुचि उत्पन्न होगी और भगवदनुभवकी चाह समाप्त हो जायगी तथा भगवत्कृपासे परे होकर उसे पुनः न जाने किस अनर्थका सामना करना पड़ेगा। अतः श्रीभगवान् अपने भक्तों (यह 'भक्त' शब्द भक्ति-मार्गपर चलनेवाले साधकोंका वाचक है।)के प्रारब्धके अन्तर्गत पापोंको निमित्त बनाकर दुःखमयी परिस्थियोंको उत्पन्नकर उन्हें सांसारिक दोषोंका अनुभव कराकर संसारसे विरक्त बना देते हैं।

यह भी भगवान्का कृपा करनेका एक प्रकार है। अपने अंश (जीव)को इस संसारसे विरक्त एवं अपने प्रति अनुरक्त बनानेके लिये वे स्वयं अपने कृपा-प्रदर्शनका वर्णन करते हैं—

यस्यानुग्रहमिच्छामि धनं तस्य हराम्यहम्।
बान्धवेभ्यो वियोगेन भृशं भवति दुःखितः॥
यदि मां तेन दुःखेन संतप्तो न परित्यजेत्।
तं प्रसादं करिष्यामि यः सुरैरपि दुर्लभः॥

'जिस पुरुषपर मैं कृपा करना चाहता हूँ, उसकी सम्पत्तिको हर लेता हूँ तथा उसे बन्धुओंसे वियुक्त कर देता हूँ, उस वियोग-दुःखसे संतप्त होता हुआ भी यदि वह मेरा परित्याग नहीं करता तो उसके ऊपर मैं वह कृपा करता हूँ, जो देवताओंको भी (अत्यन्त) दुर्लभ है।' कहा भी गया है—

हरिर्दुःखानि भक्तेभ्यो हितबुद्ध्या करोति हि।
शस्त्रक्षाराग्निकर्माणि स्वपुत्रस्य पिता यथा॥

'श्रीभगवान् हित करनेके विचारसे भक्तोंको दुःख उसी प्रकार देते हैं, जिस प्रकार पिता अपने पुत्रको कठिन रोगसे बचानेके लिये शस्त्र, क्षार और अग्निसे उसकी चिकित्सा करता है।'

भगवान् भी संसारसे वैराग्य और भगवदनुभवकी पात्रता उत्पन्न करने एवं सुख देनेके लिये इन दृप्त-प्रपन्नों (भक्तों)-को दुःख देते हैं; क्योंकि दुःखानुभव होनेपर ही अच्छी तरहसे सुखका आस्वादन किया जा सकता है। अतएव शास्त्रमें कहा गया है—

अग्नेः शीतेन तोयस्य तृषा भक्तस्य च क्षुधा।
क्रियते सुखकर्तृत्वं तद्विलोमस्य चेतरैः॥

अर्थात् शीत ही अग्निको सुखप्रद बनाता है तथा पिपासा और क्षुधा जल और अन्नको सुखदायक बनाते हैं। वैसे अग्नि आदि भी शीत आदिको सुखप्रद बनाते हैं। शीत, भूख, प्यास आदि दुःख देनेवाले हैं। इनसे होनेवाले दुःखके तारतम्यसे ही सुख प्राप्त होता है।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि दुःख ही सुखको मधुर बनाता है। दुःख दिये बिना भगवान् जीवोंको सुख नहीं भोगाते; क्योंकि सुख-दुःख दोनों परस्पराश्रित हैं। वे प्रारब्धानुसार होनेवाले दुःखोंको नहीं रोकते। यह एक विलक्षण भगवत्कृपा है, जो दुःखरूपमें संनिहित है। यह सबकी समझमें आनेवाली बात नहीं, प्रपन्न भक्त ही भगवत्कृपाके उस 'दुःखावतार'को पहचानकर प्रसन्न होते हैं।

कृपा-शक्ति

(लेखक—अनन्तश्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य पुरुषोत्तमाचार्य रङ्गाचार्यजी महाराज)

'कृपा' भगवान्‌की एक विशेष शक्ति है, भगवच्छक्तिके सामान्य स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर ही उसके विशेषरूप 'कृपाशक्ति'का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। अतः प्रथम भगवच्छक्तिके स्वरूपका प्रतिपादन किया जाता है—

कृपा-शक्ति—

इस 'भगवच्छक्ति'के सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और निग्रह—ये पाँच कार्य हैं। शास्त्रोंमें इसका 'पञ्चकृत्यकरीं नुमः' रूपसे वर्णन है। इसमें 'अनुग्रह' कृपाका पर्याय है, अतः अनुग्रह ही कृपाशक्ति है। इसलिये 'कृपाशक्ति'का अन्तर्भाव षड्गुणोंमें है, कारण कि परमात्माके कृपा, वात्सल्य, सौशील्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, सौकुमार्य आदि अनन्त गुण षड्गुणोंके ही वितति (विस्तार) रूपमें हैं। दर्शनशास्त्रमें कार्य और कारणमें अभेद माना गया है। इस मतमें 'कृपाशक्ति' साक्षात् भगवान् वासुदेव ही है।

कृपा-शक्ति-निरोध—

यहाँ उन कारणोंका भी निर्देश किया जाता है, जिनकी उपस्थितिमें 'कृपाशक्ति'का प्राकट्य नहीं होता। उनमें जिह्मभाव, अनृतभाव, मायाभाव—ये तीन कपूयाचरण अर्थात् दुर्भावनाएँ तथा भगवत्तुष्टि, शरणवरणतुष्टि, कालतुष्टि, भाग्यतुष्टि—ये चार आध्यात्मिक 'तुष्टियाँ' प्रमुख हैं।

कपूयाचरण—

(१) जिह्मभाव—दुष्टता, टेढ़ापन, वचन-भाव-क्रियामें कुटिलता अर्थात् सरलताका अभाव।

(२) अनृतभाव—असत्य अर्थात् मन, वाणी, क्रिया आदि द्वारा यथार्थताको छिपानेका भाव एवं वैसा ही आचरण करना।

(३) मायाभाव—मान, पूजा और प्रसिद्धिके लिये दूसरोंको ठगकर अपनी श्रेष्ठताका भाव दिखाना।

ये तीनों भाव वैष्णवशास्त्रमें 'कपूयाचरण' कहे गये हैं। इनके रहते जीवोंपर भगवत्कृपा प्रकट नहीं होती अर्थात् वे नित्य-निरन्तर अजस्र-धारासे बरसती हुई कृपासे विमुख हो उसके अनुभवसे वञ्चित रहते हैं। इसके विपरीत—

'सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥'

(मानस ७। ४५। १)

—ऐसा जिनका स्वभाव है, वे भगवत्कृपाका नित्य-निरन्तर अनुभव कर कृतकृत्य हो जाते हैं।

आध्यात्मिक तुष्टियाँ—

(१) भगवत्तुष्टि—स्वस्वरूप(जीवात्मस्वरूप), परस्वरूप (परमात्मस्वरूप) आदिका ज्ञान होनेपर किसीके इस उपदेशमें कि जीवात्मा परमात्माकी वस्तु है, वे अवश्यमेव उसपर 'कृपा' करेंगे; इसके लिये ध्यान, धारणा, अभ्यास आदि साधनोंकी आवश्यकता नहीं है—ऐसा सुनकर जो केवल भगवान्‌के भरोसे-पर ही 'तुष्ट' होकर रह जाता है, ध्यान, धारणा, अभ्यास आदि नहीं करता, उसकी वह तुष्टि 'भगवत्तुष्टि' कहलाती है।

(२) शरणवरणतुष्टि—परमात्मा तो सर्वसामान्य हैं, उनकी विशेष कृपाका प्राकट्य 'अकस्मात्' मान लेनेपर वैषम्य आदि दोष एवं 'सर्वमुक्ति' प्रसङ्ग आ जायगा। अतः व्याजमात्रके लिये केवल वाणीसे 'शरणवरण' शब्द (मैं शरणागत हूँ)का उच्चारण करना पर्याप्त है, दूसरे उपाय ध्यान, अभ्यास आदिकी आवश्यकता ही नहीं है—इस प्रकार उत्पन्न तुष्टिको 'शरणवरणतुष्टि' कहते हैं।

(३) कालतुष्टि—काल सबका कारण है, असमयमें कोई कुछ नहीं कर सकता। जब किसीका 'भगवत्कृपा'-प्राप्तिका समय (काल) आयगा, तब उसे कृपा अवश्य प्राप्त हो जायगी, उसके लिये ध्यान-अभ्यास आदि उपायोंकी आवश्यकता नहीं है, इस विचारसे उत्पन्न तुष्टि 'कालतुष्टि' है।

(४) भाग्यतुष्टि—कुछ साधक ऐसा भी मानते हैं कि 'भगवत्कृपा'-प्राप्तिका हेतु न भगवान् हैं, न शरणवरण और न काल ही, उसका हेतु तो केवल भाग्य ही है। भाग्यके विपरीत होनेपर ये सब व्यर्थ हैं। जब अनुकूल भाग्य आयगा, तब अपने-आप ही 'भगवत्कृपा' हो जायगी। इसके लिये ध्यान, धारणा, अभ्यास, कीर्तन आदि करनेकी आवश्यकता नहीं है। यह 'भाग्यतुष्टि' है।

उपर्युक्त 'आध्यात्मिक तुष्टियाँ' और 'कपूयाचरण' (दुर्भावनाएँ) भगवत्कृपाशक्तिके निरोधक हैं, अतः साधकोंको इनसे सावधान रहना चाहिये।

जो भी हो, 'शक्ति' और 'शक्तिमान्' दोनों सदा संश्लिष्ट रहते हैं, यह निश्चित है—

नैव शक्त्या विना कश्चिच्छक्तिमानस्ति कारणम्।
न च शक्तिमता शक्तिर्विनैकाप्यवतिष्ठते॥

प्रपन्नता और भगवत्कृपा

(लेखक—जगद्गुरु रामानुजाचार्य वेदान्तमार्तण्ड श्रीरामनारायणाचार्य त्रिदण्डिस्वामीजी महाराज)

अकारणकरुण, करुणा-वरुणालय, अखिलकल्याणगुण-गणार्णव, निखिलहेयप्रत्यनीक, उभयविभूतिनायक, भगवान् श्रीमन्नारायणकी सर्वात्मना शरणागतिको ही संसृति-चक्रमें आवर्तमान मानव-प्रभृति समस्त प्राणिनिकायके लिये 'परम निःश्रेयस' शब्दसे अभिहित किया गया है। तदर्थ सद्ग्रन्थोंमे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, शरणागति (प्रपत्ति)योग एवं आचार्यानुग्रह—इन पाँच योगोंका साधनके रूपमे विधान किया गया है। इनमे भी प्रपत्ति ही अमोघ साधन है—ऐसी शास्त्रतत्त्ववेत्ता मनीषियोंकी मान्यता है। प्रपत्तिको ही न्यास-विद्या, साध्यभक्ति, अनन्यभक्ति, शरणवरण आदि नामोंसे भी निर्दिष्ट किया गया है। इसके स्वरूपका चित्रण पञ्चरात्रकी संहिताओंमे तथा प्रबन्ध-ग्रन्थोंमे भी विभिन्न रूपमे किया गया है। हमारा उद्देश्य भगवान्‌की असीम कृपाके बिना सुलभ नहीं होगा, इस प्रकार पूर्ण विश्वासके साथ प्रभु-कृपाकी याचना करना प्रपत्ति या शरणागति कही गयी है—

अनन्यासाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायतायाञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः॥
(विष्वक्सेनसंहिता)

मैं सारे दोषोंका असाधारण निलय हूँ, साधनरूप धनसे रहित—अकिंचन एवं गतिशून्य हूँ, मेरा दूसरा कोई रक्षक नहीं है। आपका 'पतितपावन'—यह असामान्य विरद है। मैं आपकी शरण हूँ। आप मेरे कर्मोंपर ध्यान न देकर अपने प्रपन्नजन-संरक्षणैकव्रतकी ओर दृष्टिपात करें और संसारसे मेरे समुद्धारका एकमात्र साधन बनें। इस प्रकारकी प्रार्थना-रूपा मति ही शरणागति है—

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिंचनोऽगतिः।
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः॥
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्।
(अहिर्बुध्न्यसंहिता ३७। ३०-३१)

इस प्रपत्ति नामक साधनको अपनाकर साधक-जीव 'प्रपन्न' कहलाता है। वह प्रभुका पूर्ण कृपा-भाजन बनकर माताकी गोदमे सोये हुए बालककी तरह निश्चिन्त एवं निर्भय हो जाता है। प्रभुके प्राकट्यके अवसरपर अम्बा देवकी कहती हैं—'प्रभो! मृत्युरूप सर्पसे भयभीत होकर सभी योनियोंमे भागता हुआ जीव आपकी अहैतुकी कृपासे मानव-शरीर प्राप्त कर जब आपके चरणकमलोंकी शरण लेता है, तब मृत्युकी बाधासे छुटकारा पाकर सुखकी नींद सोता है'—

मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्
लोकान् सर्वान् निर्भयं नाध्यगच्छत्।
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य
स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति॥
(श्रीमद्भा० १०। ३। २७)

प्रातःस्मरणीय श्रीगोस्वामीजी इसी तथ्यको इस प्रकार प्रकट करते हैं—

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥
(मानस ४। १६। १)

प्रपन्नशेखर भगवत्पाद यामुनाचार्यजीने भी अपने-आपको अन्य साधनोंमें असमर्थ पाकर भगवान्‌के चरणोंकी शरण ग्रहण की है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्य
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥
(आलवन्दारस्तोत्र २५)

'हे शरण्य! मेरेमें न तो धर्मनिष्ठा है, न आत्मज्ञान है और न आपके चरणोंमें भक्ति ही है। अतः जिसकी अन्यगति नहीं है, ऐसा मैं अकिंचन आपकी शरण हूँ।' प्रपन्नको प्रभु-कृपाकी अनुभूति अनवरत होती रहती है, जिससे वह उनका साक्षात्कार कर 'कृतकृत्योऽत्र जन्मनि'—इसी जन्ममें कृतार्थ हो जाता है।'

प्रपत्ति भी व्याजमात्र है, शरण्य प्रभुकी अद्भुत कृपा ही सारे फलोंकी साधिका है। प्रभु-मुखकी श्रीसूक्ति है—

नाहं पुरुषकारेण न चाप्यन्येन हेतुना।
केवलं स्वेच्छयैवाहं प्रेक्ष्ये कंचन कदाचन॥

'मैं किसी भी प्रार्थना (संस्तुति) या अन्य साधनोंसे नहीं, वरन् अपनी इच्छासे ही कभी किसी जीवपर अपनी दयादृष्टि डाल देता हूँ।'

प्रपत्तिनिष्ठा भगवान्‌के वात्सल्यको उद्बोधित एवं कृपाको उद्वेलित कर देती है। सुवत्सला गौकी भाँति शरणागतवत्सल प्रभु प्रपन्नोंके अपराधोंको भोग्य एवं उपहार मानकर उनपर

कृपाकी सरस वर्षा कर देते हैं। अन्य साधनोंकी तुलनामें प्रपत्तिकी यह विशेषता है कि वह एक बार अनुष्ठित होती है और प्रभुको द्रवित कर प्रपन्नको अक्षय फलभागी बना देती है।

'प्रपन्नश्चातको यद्वत् ।'

चातक सारे जलाशयोंसे मन हटाकर स्वातीकी बूँदकी प्रतीक्षा करता है, वैसे ही प्रपन्न प्रयोजनान्तरों एवं उपायान्तरोंका त्याग कर प्रभुके चरणोंको ही उपायोपेय मानकर एकनिष्ठ रहे।

करुणासागर, परम पिता प्रभु अपनी अहैतुकी कृपासे निम्नयोनियोंमें भटकते जीवोंको अपनी शरणमें आने-हेतु साधन-धाम विचित्र मनुष्य-शरीर प्रदान करते हैं—

विचित्रा देहसम्पत्तिरीश्वराय निवेदितुम्।
पूर्वमेव कृता राजन् हस्तपादादिसंयुता॥

× × ×

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। ... ...॥

(मानस ७।४३।३, ४२।४)

इस प्रकार प्रभु-कृपा उनकी प्रपत्ति एवं उपासनाके लिये मिले इस नरदेहको माया-मोहित यह जीव जब 'अमृतस्य पुत्राः', 'स स्वराड् भवति'—'मैं अखिल ब्रह्माण्डाधिपति अविनाशी सर्वेश्वरका पुत्र हूँ,' 'मैं मुक्तिरूप साम्राज्यका सम्राट् बननेयोग्य हूँ' आदि श्रौत-वचनोंको भूलकर (विषयोंमें रमण करता हुआ) विनाशकी दिशामें जाने लगता है, तब वे परम दयालु परमपिता स्वजात-सम्बन्धसे इसे अपनानेके लिये इसका अनुसरण करने लगते हैं। जिसके फलस्वरूप अबुद्धिपूर्वक किये गये भी इसके असत्कर्मोंमें यदि कोई अज्ञात—यादृच्छिक, आनुषङ्गिक और प्रासङ्गिक सुकृत बन जाते हैं, तब प्रभु उनका बहाना लेकर तथा उन्हे विशुद्ध पुण्यका रूप देकर अपनी सहज करुणासे जीवोंको अपनाते और उनका उद्धार कर देते हैं।

विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें अज्ञात सुकृतीकी एक रोचक कथाका उल्लेख है—'देविका नदीके तटपर एक विष्णु-मन्दिर था। उसमें जलता हुआ अखण्ड दीपक जब बुझने लगा, तब उसकी वत्तीको एक मूषिकाने खानेके लिये खींच लिया, जिससे दीपक जलने लगा। दीपक जलानेके अनजाने पुण्यसे वह मूषिका मरनेके बाद विदर्भनरेशकी ललिता नामकी सुन्दरी कन्या हुई। कालान्तरमें वह काशीनरेशकी पटरानी तथा महती भगवद्भक्ता बन गयी।'

अजामिल-जैसे महान् पापीका उद्धार भी प्रभुने उसके द्वारा उच्चरित 'नारायण' नामको प्रासङ्गिक पुण्य मानकर अपने अनुग्रहसे ही किया। भगवद्विमुख पापियोंके द्वारा घुणाक्षर-न्यायसे बने पुण्योंको भी वास्तविक पुण्य मानकर जब उनका भी उद्धार भक्तवत्सल भगवान् कर देते हैं, तब उनके अनन्य अनुरागी प्रपन्न भक्तोंपर उनकी विशेष कृपा स्वाभाविक ही है, इसमें कहना ही क्या है। प्रपन्नोंकी महिमा शास्त्रोंमें अनेकत्र वर्णित है। अपने दूतोंके कानोंमें यमराज कहते हैं—

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्
प्रभुरहमन्यनृणामवैष्णवानाम्॥

(विष्णुपुराण ३।७।१४)

'भगवान्‌के प्रपन्न भक्तोंके पास आपलोग नहीं जायँगे; क्योंकि मैं भक्तिविमुख जीवोंका ही स्वामी हूँ, वैष्णवोंका नहीं।'

कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे।
भवशरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान्॥

(विष्णुपुराण ३।७।३३)

"(दूतो)! 'हे कमलनयन! हे वासुदेव! हे विष्णो! हे धरणिधर! हे अच्युत! हे शङ्खचक्रपाणे! मैं आपकी शरण हूँ,' ऐसी प्रार्थना करनेवाले प्रपन्न सर्वथा निष्पाप हो जाते हैं। आपलोग उनके समीप न जायँ। उनसे सर्वथा दूर रहें।"

भगवान्‌को परम प्राप्य बतलानेवाली वामनपुराणकी सूक्तिके अनुसार 'शार्ङ्गधारी भगवान् विष्णुके जो प्रपन्न होते हैं, वे न तो यमपुरी जाते हैं और न उनका नरकमें ही वास होता है'—

देवं शार्ङ्गधरं विष्णुं ये प्रपन्नाः परायणम्।
न तेषां यमसालोक्यं न च ते नरकौकसः॥

इस प्रकार प्रपन्न अपने जीवनमें प्रभु-कृपाकी झाँकी देखता हुआ चिन्तारहित एवं कृतार्थ हो जाता है। प्रपन्नता और भगवत्कृपाका अविनाभाव सम्बन्ध है। प्रपन्नपर प्रभुकी पूर्ण कृपा होती है, यही लोक-वेदका सार है।

अद्वैत (शांकर)-सिद्धान्तमें भगवत्कृपाका स्वरूप

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी नन्दनन्दनानन्दजी सरस्वती महाराज)

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा० १। २। ११)

अखिल विश्व-प्रपञ्चके तत्त्वको जाननेवाले तत्त्वदर्शी महायोगिवृन्द जिस अन्तिम तत्त्वको अद्वय ज्ञान मानते हैं, उसी अद्वयतत्त्वको औपनिषद् ब्रह्म, हैरण्यगर्भ सिद्धान्तवाले परमात्मा और सात्वत लोग भगवान् आदि नामोंसे पुकारते हैं। उसी परम-तत्त्व, परब्रह्म, परमात्मा अथवा भगवान्की कृपा-प्राप्तिकी अभिलाषा आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सभी जीव निरन्तर करते हैं।

वस्तुतः जीव अनादि, अविद्यापरवश, दिक्-काल-वस्तु-परिच्छेदपरिच्छिन्न, अल्पज्ञान, अल्पशक्ति, अल्पसाधनसम्पन्न, अनादिकालसे भवाटवीमें परिभ्रमणसे परिश्रान्त एवं तापन, सम्प्रतापन, तामिस्र, अन्धतामिस्र, सूचीमुख आदि अनेक नरकोंकी भीषण यातनाओंसे सर्वथा निराश, निराश्रय हो जब एकमात्र परमाश्रय अकारणकरुण करुणा-वरुणालयके द्वारपर अपनेको पटक देता है, तब वह शरणागत कहलाता है और यहींसे भगवत्कृपाका श्रीगणेश अर्थात् जीवके सर्वविध कल्याणका सूत्रपात होता है। सामान्यतः यह प्रश्न उठता है कि अद्वैतसिद्धान्तमे जब अपनेसे द्वितीय है ही नहीं, तब कौन किससे प्रार्थना करेगा और कौन किसपर कृपा करेगा?

किंतु यह शङ्का अत्यन्त साधारण स्तरपर ही उठती है। वस्तुतः वर्तमान अनादि संसारके जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि अनन्तानन्त दुःखोंसे संत्रस्त कोई भाग्यशाली जीव ही इस भवाटवीको अनेकार्थ-परिप्लुत मानकर ऐहिकामुष्मिक विषयवितृष्ण अर्थात् वैराग्यसम्पन्न हो, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषकी शरणमे जाकर अत्यन्त दीनभावसे स्वात्मरक्षाके लिये प्रार्थना करता है। उस समय गुरुदेव कृपा कर दुःखनिवृत्तिका उपाय बतलाते हैं। इस प्रकार इस दुःख-निवृत्तिका निमित्त गुरुकृपा और शास्त्रकृपा है। इसीलिये तो श्रुतिने भी कहा है—'**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेच्छ्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्**' (मुण्डक० १। २। १२) और समस्त जगत्मे अद्वैत भावना करता हुआ भी '**नाद्वैतं गुरुणा सह**'—गुरुके साथ अद्वैत-भावना न करे। इससे सिद्ध हुआ कि गुरु-शरणागतिसे ही निःश्रेयसका मार्ग प्रशस्त हो सकता है। अतः गुरुकृपाका एकमात्र आश्रय श्रीमद्भगवत्पाद शंकराचार्यने प्रतिपादित किया है—

अपारसंसारसमुद्रमध्ये सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका॥
(प्रश्नोत्तरी १)

अपार संसारके अगाध समुद्रमें डूबता-उतराता जीव अपनी रक्षाका उपाय केवल गुरुप्रसादसे ही प्राप्त कर सकता है और परम कृपालु गुरु ही ऐसे सम्मग्न शिष्यका उद्धार करनेमें समर्थ हैं। पर आद्याचार्य कहते हैं कि विश्वेशपादाम्बुज ही दीर्घ नौका है। भगवान् भाष्यकार गीता अध्याय १२के सप्तम श्लोकके भाष्यमे लिखते हैं—

तेषां मदुपासनैकपराणामहमीश्वरः समुद्धर्ता कुत इत्याह, मृत्युसंसारसागरात्, मृत्युयुक्तः संसारो मृत्युसंसारः स एव सागर इव सागरो दुस्तरत्वात् तस्मान्मृत्युसंसार-सागरादहं तेषां समुद्धर्ता भवामि न चिरात्, किं तर्हि क्षिप्रमेव, हे पार्थ! मय्यावेशितचेतसां मयि विश्वरूपे आवेशितं समाहितं चेतो येषां ते मय्यावेशितचेतसः तेषाम्॥

'हे पार्थ! मुझ विश्वरूप परमेश्वरमे ही जिन्होंने अपना चित्त समाहित कर दिया है, ऐसे केवल एक मुझ परमेश्वरकी उपासनामे ही लगे हुए उन भक्तोंका मैं ईश्वर उद्धार करनेवाला होता हूँ। किससे (उनका उद्धार करते हैं)? मृत्युयुक्त संसारसमुद्रसे। मृत्युयुक्त संसारका नाम मृत्यु-संसार है, वही पार उतरनेमे कठिन होनेके कारण सागर है, उससे मैं उनका विलम्बसे नहीं, किंतु शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ।'

इसमे संदेह नहीं कि आद्यशंकराचार्य भगवत्पादप्रवर्तित वर्तमान अद्वैतसिद्धान्तविचारधारा अत्यन्त कट्टरतासे अद्वैतवादका प्रतिपादन और द्वैतप्रपञ्चका पारमार्थिक तिरस्कार करती है, परंतु व्यवहारसत्ता तो प्रतीयमान प्रपञ्चरूपमें प्रतिभासित हो रही है, उसका पारमार्थिक बोध होनेपर भी भगवत्प्रीतिको व्यावहारिकरूपसे स्वीकारकर गुरूपदिष्ट महावाक्यद्वारा ही इस द्वैतका उद्धार सम्भव है। अतएव यज्ञ-यागादि वैदिक कर्मकलापकी उपयोगिता चित्त-शुद्धिमे और उपासनाकी उपयोगिता इष्टदेवता-प्रसाद-

प्राप्तिद्वारा मुमुक्षुता, विवेक, वैराग्य, शम, दमादि षट्-सम्पत्तिके सम्पादनमें साधन मानी जाती है। इस कारण आचार्य विवेकचूडामणिमें कहते हैं—

तटस्थिता बोधयन्ति गुरवः श्रुतयो यथा।
प्रज्ञयैव तरेद् विद्वानीश्वरानुगृहीतया ॥
(४ ७७)

अर्थात् गुरु और श्रुतिद्वारा प्रदत्त ज्ञान भी परोक्ष रह जाता है, जबतक ईश्वरानुग्रहद्वारा प्राप्त प्रज्ञा उसको प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण न कर ले। इसी तथ्यको श्रीभगवान्ने गीतामें प्रतिपादित किया है—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥
(१०।११)

'हे अर्जुन! उन (भक्तों)के ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ।' इससे स्पष्ट है कि अपरोक्षज्ञानकी प्राप्तिका मुख्य साधन ईश्वरानुकम्पा ही है।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्रादि ज्ञानकाण्डविवेचनमें कठोरतम अद्वैतका प्रतिपादन करनेपर भी उपासना-क्षेत्रमें आचार्यश्रीका अनुपम अद्वितीय स्थान है—

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः ॥
(षट्पदी १)

'हे करुणामय नारायण विष्णो! हमारे अपराधोंको क्षमा करो, इन्द्रिय-मनका दमन करो, संसार-प्रपञ्चरूपा मृगतृष्णाका शमन करो, प्राणिमात्रमें दयाका विस्तार करो और संसार-सागरसे पार करो।' इसी षट्पदी प्रार्थनाके अन्तमें भगवत्पाद परम करुणावरुणालय नारायणकी चरण-शरणमें जाते हैं—

नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ।
(षट्पदी ७)

इस प्रकार आचार्य शंकर भक्त्यर्थ कल्पित द्वैतको अद्वैतसे भी सुन्दर मानते हुए इष्ट देवताके साथ अनुपम द्वैतशून्य अभिन्न स्नेहका परिचय देते हैं। विविध देवताओंकी विविध रूपोंमें उपासना करते हुए भी वे उन सबको परमार्थतः सर्वथा अभिन्न, एकरूप, एकरस परब्रह्म ही समझते हैं। इस प्रकार लक्ष्मी-नृसिंह-स्तोत्रमें 'लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलम्बम्।'की पुकार करनेवाले आचार्य सौन्दर्यलहरीमें श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी पराम्बासे कहते हैं—

दृशा द्राघीयस्या दरदलितनीलोत्पलरुचा
दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे।
अनेनायं धन्यो भवति न च ते हानिरियता
वने वा हर्म्ये वा समकरनिपातो हिमकरः ॥
(५७)

'हे परम करुणामयि, पुत्रवत्सले, पराम्बे, शिवे! ईषदुत्फुल्ल कमलकी शोभासे युक्त विशाल नेत्रोंसे मुझ अत्यन्त लघु और दीनको भी कृपादृष्टिका स्नान करायें, इससे यह दीन तो धन्य-धन्य हो जायगा और आपकी कोई हानि भी न होगी। जैसे हिमवर्षिणी चन्द्र-ज्योत्स्ना समानरूपसे परम विभूतिसम्पन्न उच्च प्रासादपर पड़ती है, वैसे ही निर्विशेष आह्लादकतासे वनके लता-गुल्मोंपर भी पड़ती है।'

कहना न होगा कि आचार्यचरणका स्तोत्रसाहित्य अलौकिक भगवत्करुणाके आह्लादका अनुपम साधन है।

पुरुषं वा स्मरेद्देवीं स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत्।
अथवा निष्कलं ध्यायेत् सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥

पुरुष, स्त्री, सच्चिदानन्द-लक्षण सर्वथा निष्कल अथवा समस्त विश्व-प्रपञ्चमें व्याप्त सचराचर विग्रहके रूपमें परब्रह्म शक्तिका चिन्तन किया जा सकता है। तदनुसार आचार्य शंकरने भी विष्णु, कृष्ण, नरसिंह, शंकरादि पुमान् रूपसे और शिवा, भवानी, लक्ष्मी, ललिता, त्रिपुराम्बा आदि मातृरूपसे तथा सर्वथा निर्गुण निष्कल परब्रह्मका परमात्मरूपसे परमोत्कृष्ट स्तरपर स्तवन किया है। प्रत्येक स्थितिमें आचार्यका इष्ट देवतासे निकटतम संनिधान एवं अद्वितीय असाधारण संस्पर्श (कृपाप्राप्ति) है।

जगदम्बा पराम्बाकी लोकोत्तर दयार्द्रताके फलस्वरूप स्वयं बालशंकर (द्रविड) शिशुरूपमें पराम्बाका दिव्य सुधामय स्तन्यपानकर धन्य हो गये। इस तथ्यका आचार्य स्वयं वर्णन करते हैं—

तव स्तन्यं मन्ये तुहिनगिरिकन्ये हृदयतः
पयःपारावारः परिवहति सारस्वत इव।
दयावत्या दत्तं द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता ॥
(सौन्दर्यलहरी ७५)

कृपासिन्धु भगवान् श्रीशंकर

'हे धरणिधर हिमालयकी पुत्रि ! आपके करुणामय हृदयसे समुद्भूत पयोधाराका क्षीरसमुद्र साक्षात् सारस्वत सुधा-प्रवाह-रूपमे प्रवाहित हो रहा है, जिसका आस्वादन-पान परम दयावती पराम्बाने (द्रविड़ जातिमे समुत्पन्न) शिशुको करा दिया और जिसके आस्वादनने उस परमप्रगल्भ शिशुको महाकवियोकी पङ्क्तिमे अत्यन्त रमणीय (कमनीय) कविता करनेवाला कवि बना दिया ।' इस प्रकार जगदीश्वरी अघटितघटनापटीयसी कृपासे प्रकृति-मूक और जड भी महाकवि बन जाते हैं ।

वस्तुतः वेदादि सच्छास्त्रोका प्राकट्य ही परम करुणामय श्रीभगवान्की कृपाका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है । अनादिनिधना वाग्रूपा समस्त वेदराशिको अपने निःश्वासरूपसे अवतरित करना अथवा स्वयं श्रीहरिका श्वाससमीरद्वारा शब्द-ब्रह्मरूपमे अवतीर्ण होना अविद्या-परवश जीवके उद्धाररूपा कृपावत्सलताका अनुपम प्रमाण है । विवेकशून्य जीवके भगवदुन्मुख होनेकी कोई आशा नहीं थी, यदि अकारणकरुण भगवान् स्वयं हठात् उसका उद्धार न करते । पाषाणशिला अहल्याका उद्धार निश्चय ही असम्भव था, यदि अशरण-शरण श्रीराम उसके उद्धारके लिये दृढ संकल्प न करते—

गृहते गवनि, परसि पद पावन, घोर सापते तारी ।

परमकरुणामय परमप्रकाशरूप सदाशिव ही करुणावश विमर्शरूपिणी शक्ति बनकर गुरु-शिष्य-व्याजसे समस्त शास्त्र, तन्त्र, मन्त्र-यन्त्र-जालको प्रकट करते हैं । आद्य भगवान् शंकराचार्यविरचित 'प्रपञ्चसार'तन्त्र-ग्रन्थमे इस तत्त्वका विशेष विवेचन किया गया है । तन्त्रशास्त्र उपासनाकाण्डका प्राण है । उसमे अमोघ एवं अमूल्य साधन तथा साध्य हैं ।

देशकालपदार्थात्मा यद्यद्वस्तु यथा तथा ।
तत्तद्रूपेण या भाति तां श्रये सांविदीं पराम् ॥

परमसंविद्रूपा पराशक्ति पराम्बा ही सदाशिवानुग्रहस्वरूप प्रकाशात्मा शिवके प्रति विमर्शरूपिणी बन बिम्ब-प्रतिबिम्ब-दर्पण तत्सम्बन्ध तथा तन्निवृत्तिका सम्पादन करती हैं । वे ही उपाधि-भेदसे उपहत चैतन्यमे प्रतीत होनेवाले सुख-दुःखका सम्पादन तथा दर्पण एवं प्रतिबिम्ब-भाव-निवर्तनद्वारा जीवके दिक्काल-वस्तु-परिच्छेदका उन्मूलन कर उसे पुनः सर्वात्मभाव परमोत्कृष्ट तत्त्वमें पहुँचा देती हैं । अद्वैतसिद्धान्तके परमाचार्य अद्वैतसिद्धिकार श्रीमधुसूदन सरस्वती महाराजका कथन है—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा ।
भगवच्छरणत्वं स्यात् पूर्वाभ्यासानुपाकतः ॥

(गीता १८ । ६६ की गूढार्थदीपिका टीका)

'मैं उनका ही हूँ, प्रभु मेरे हैं और मैं वही हूँ—ये तीन पर्याय केवल पूर्वजन्मान्तरीय संस्कारोके भेदसे भिन्नत्वेन प्रतीत होते हैं, परंतु वस्तुतः तीनो साध्यके अभेदसे परस्पर प्रायः अभिन्न ही हैं ।'

अतः अद्वैतसाम्राज्यलक्ष्मी (कृपा)को प्राप्त करके ज्ञानमहाब्धिराशि शुक, भगवत्पाद आचार्य शंकर, रसिक-शिरोमणि आचार्य मधुसूदन सरस्वती, अद्वैतपथप्रदर्शक श्रीश्रीधर स्वामी, चतुःसनत्कुमार तथा श्रीदत्तात्रेय प्रभृति महापुरुष स्वयं भगवत्कृपाके केन्द्रमे पहुँचकर भवाटवी-परिश्रान्त जीवोपर कृपा-दृष्टि-वृष्टिसे अनन्तानन्त जीवोका उद्धार करते रहे हैं, कर रहे हैं और करते रहेगे ।

त्रिपुरारिकी उदारता

देव नर किंनर कितेक गुन गावत पै
पावत न पार जा अनंत गुन पूरे को ।
कहै 'पदमाकर' सुगाल के बजावत ही
काज करि देत जन-जाचक जरूरे को ॥
चंद की छटान जुत पन्नग-फटान-जुत
मुकुट विराजै जटाजूटनके जूरे को ।
देखौ त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ
पैये फल चारि फूल एक दै धतूरे को ॥

—महाकवि पद्माकर

रामस्नेही-सम्प्रदायमें भगवत्कृपाका स्वरूप

(लेखक—श्रीभगवद्दासजी महाराज शास्त्री, भूतपूर्वाचार्य सिंहस्थल, रामस्नेही-सम्प्रदाय)

राजस्थानमे रामस्नेही-सम्प्रदायके चार आचार्यपीठ हैं—(१) सिंहस्थल, (२) खेड़ापा, (३) रेण और (४) साहपुरा। इन चारों प्रमुख सम्प्रदायोंकी साधना-पद्धतियोंमे प्रायः समानता रही है, फिर भी इनकी पृथक्-पृथक् उत्कृष्ट परम्पराएँ, पृथक्-पृथक् आचार्य और आदर्श हैं।

रामस्नेही-सम्प्रदायमे गुरु-कृपा और भगवत्कृपामे प्रायः भेद नही माना जाता—

'रामस्नेही जाको नामा। हरिगुरु साधु संगति विश्रामा॥'

(श्रीदयालुपरची)

साधकके जीवनमें सद्गुरुका महत्त्व कम नहीं होता। सद्गुरु भगवत्कृपासे मिलते हैं और उनसे ही भव-सागरका क्लेश मिटता है—

रामदास सतगुरु मिल्या, मिलिया राम-दयाल।
सुखसागर मैं रम रह्या मेट्या विषै-जंजाल॥

× × ×

साध संगत विन रामदास किणी न पायो राम॥

× × ×

रामदास हितकर किया पावै पद निरवाण।

अर्थात् विना गुरुकी कृपाके निर्वाण प्राप्त नही हो सकता।

भगवत्कृपाकी महत्ताको स्वीकार करते हुए श्रीरामदासजी महाराज कहते हैं—

प्रथम वंद परब्रह्म नित, जिना दिये सिर पाव।

'उन परब्रह्मको प्रथम नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने सिर-पाँव (अर्थात् विवेक एवं तदनुसार आचरण-हेतु करण) देकर उपकार किया।'

श्रीहरिरामदासजी महाराज कहते हैं कि गर्भमें शरीरकी रक्षा भगवत्कृपासे ही होती है। उन्होंने भगवान्का उपकार मानते हुए उनके भजनको महत्त्व दिया है—

जिन यौ नर तेरौ तन धरियो, सों कारीगर ध्यावरे।
जिन प्रतपाल करी गरभन में, विन ही आव उपावरे॥

× × ×

ऐसे ते राम सिवर नर बावरे।

मनुष्य-शरीरकी यह विशेषता मानी गयी है कि इसमे भगवान्‌ने विशेष कृपा करके विवेक-बुद्धि दी है, जो और योनियोंको प्राप्त नहीं। श्रीरामदासजी महाराजकी अनुभव-वाणीमें कहा गया है—

अकल दई है रामजी, किरपा कर करतार।
रामदास संतां लई और चले जग हार॥

बुद्धि-विवेक प्राप्त करके जब मनुष्य सद्गुरुकी कृपासे अपना परम पुरुषार्थ 'ज्ञान' पा जाता है, तब वह हर समय उन्हींके ध्यानमें निमग्न रहने लगता है—

गुरु गोविंद की महर ते, हम तो पाया ग्यान।
रामदास इक राम कूं, अंतर उपजै ध्यान॥

गुरु और गोविन्द—दोनोंकी ही कृपासे ज्ञानोपलब्धि मानी गयी है।

गोविन्दकी कृपासे ज्ञान पानेवाले संत उसका महत्त्व भलीभाँति जानते हैं, वह ज्ञान भवसागरसे पार लगा देता है। भगवानकी कृपा वास्तवमें अद्भुत है, उसका रहस्य कोई नहीं जान सकता। संत श्रीहरिरामदासजी महाराजने भगवत्कृपाको निम्नाङ्कित पदमें (गति शब्दसे व्यक्त) करते हुए उसकी भूरि-भूरि महिमा गायी है—

हो अजोनी राम तेरी गति किनीय न जांनी।
ताहि दलीप उभै महूरत में हरि सुख मांहि मिलांनी॥
सात दिवस मैं जानि परीपत परम दसा परसांनी।
जिन गजराज तारि लीयौ छिनमें, सिंवरे सारंगपांनी॥
तोता राम पढावत गिनका, पुहंती पार विवांनी।
हेत सुता हरि नांव पुकारत, अजामेल उधरांनी॥
सेना काज भये हरि नाई, भगत आपनौ जांनी।
जन हरिराम अनंत निज महमा सागर सिला तिरांनी॥

(अनुभववाणी पद ९९)

'भगवान्‌ने कृपा कर राजा दिलीपको दो घड़ीमे और परीक्षित्को सात दिनोंमे ही परम पद दे दिया, अजामिलका उद्धार किया, तोता पढ़ानेवाली वेश्याको तार दिया, सेना नाईपर कृपाकर उसका रूप ही धारण कर लिया और जिन प्रभुने सागरमे शिला तैरा दी, उनकी महिमा अनन्त है।' ये सब भगवत्कृपाके ही प्रमाण हैं।

हरि ही कृपा करके साधु-सङ्गत देते हैं, जो परम गति देनेकी विलक्षण क्षमता रखती है । भगवान् मङ्गलकरण अर्थात् कृपालु हैं, वे जीवके दुःख-द्वन्द्व मिटा देते हैं। उसे संसार-बन्धनसे छुड़ा देते है । वे कृपालु 'राम' पतित-पावन जो हैं—

यों भजि पूरण परमानंदा । मंगल करणा हरणा दुख दंदा ॥
नर सुर नाग लोक तिहुँ नायक। निज मन सदा सकल सुख दायक

× × ×

हरि हितकर साध सत संगति, भाव भगति परमा गति सेवा॥
जन हरिरास राम पतितपावन, पद बंदन आतम गुरुदेवा ॥

(श्रीहरिरामदासजी महाराज)

'श्रीराम मङ्गलमय कृपालु और सब प्रकारका सुख देनेवाले हैं। उनकी कृपाके बिना दूसरा कौन है, जो जन्म-मरणका कष्ट निवारण करे ।

बिना श्रीराम-कृपाके कर्मोंसे अर्थात् तीनों प्रकारके कर्म-फलोंसे छुडानेवाला कोई और नहीं है—

..............कीया करम कहो किम छूटै।

× × ×

तोड ताड सबही ले खावै, राम बिना कहो कूण छुड़ावै ॥

यह जीव नाना प्रकारकी योनियोंमे भटकता है। केवल मनुष्य-योनिमे ही यह अपने परमार्थका साधन कर सकता है । इसे आवागमनकी चक्कीसे केवल श्रीराम-कृपा ही छुड़ा सकती है । संत-जन उसी पतितको पावन करनेवाली सहायता (कृपा)की याचना करते हुए कहते हैं—

बिरही वचन जीव करुणाकर भक्त बिछल बिर्दं भारी।
अबके साय करो परमानंद पावनपतित मुरारी॥

पतितोंको पावन करनेके लिये वे परम अनुग्रह करके सगुण रूप धारण करते हैं—

निर्गुण आप सगुण जनहेता, जीव उधारण देह धरेता ॥

(श्रीहरलालदासजी महाराज)

जीवमात्रपर कृपा करना श्रीभगवान्का स्वभाव है, पर संतोंको वे विशेष सुख देते हैं—

साचा सांई यू खड़ा वे, संताई सुख दैण ॥

(श्रीजयमलदासजी महाराज)

किंतु रामस्नेही-सम्प्रदायमें, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गुरु-कृपा और श्रीराम-कृपाको समान रूपसे महत्त्व दिया गया है। श्रीदयालजी महाराजने 'नामी नाम-निर्णयका अंग' साखीमें स्पष्ट कहा है—

'लहै जथारथ गुरुकृपा आतम परचै होय ।'

अहैतुकी गुरु-कृपासे आत्मपरिचय होनेमें किंचित् भी संदेह नहीं । श्रीरामदासजी महाराजने तो हृदय-ग्रन्थि खोलनेके लिये गुरु-कृपासे ही कुंजी प्राप्त की है—

किरपा कीनी कूंची गीनी, ताला दूर झडंदा है।
सतगुरु बोल्या अंतर खोल्या हरी हीरा आखंदा है ॥

गुरुकी कृपासे हृदयमें हरिरूप हीरेका दर्शन करना सहज है, फिर भी सम्प्रदायके आचार्योंने श्रीरामकी शरणमें गये बिना अनन्त जन्मोंसे दृढ़ हुआ भ्रम मिटना असम्भव ही माना है—

अब राखि सरनै राम मोहि। बोह बेर भरम्यो बिन तोहि ॥

'आपके बिना बहुत बार (बारंबार) भ्रममें ही पड़ा रहा हूँ । हे प्रभो! अब तो कृपा कर मुझे शरणमें रख लीजये।'

जगन्माताकी कृपा

तुम्हारा विश्वास, आन्तरिकता, आत्मसमर्पण जितना ही पूर्ण होता जायगा, भगवत्कृपा और अभयकी छाया भी उतनी ही तुम्हारे साथ रहेगी। जब तुम जगन्माताकी कृपा पा चुके हो, माताकी अभय-छाया जब तुम्हारी रक्षा कर रही है, तब तुम्हें स्पर्श करनेकी भी शक्ति किसमें है? फिर तुम्हें किससे भय करनेकी आवश्यकता है? इसका कणमात्र मिलते ही तुम समस्त विघ्न-बाधाओं और विपत्तियोंसे छूट जाओगे । जब यह (कृपा) पूर्णभावसे विराजमान होकर तुम्हें घेर लेगी, तब तुम निश्चिन्त होकर अपने पथपर चल सकोगे, तब तुम अपनेको विपत्तियोंसे अग्राह्य कर सकोगे; क्योंकि वह पथ माताका ही पथ है। इस जगत् या अन्य किसी भी अदृश्य जगत्से कितनी भी प्रबल विपरीतता क्यों न आये, तुम्हें कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकेगी। माँकी कृपाके स्पर्शसे सारी बाधाएँ सहायक बन जाती हैं, दुर्बलता ही अजेय शक्ति हो उठती है, कारण जगन्माताकी कृपा श्रीभगवान्का ही निर्देश है।

—योगीराज श्रीअरविन्द

हरि ही कृपा करके साधु-सङ्गत देते हैं, जो परम गति देनेकी विलक्षण क्षमता रखती है। भगवान् मङ्गलकरण अर्थात् कृपालु हैं, वे जीवके दुःख-द्वन्द्व मिटा देते हैं। उसे संसार-बन्धनसे छुड़ा देते हैं। वे कृपालु 'राम' पतित-पावन जो हैं—

याँ भजि पूरण परमानंदा। मंगल करणा हरणा दुख दंदा॥
नर सुर नाग लोक तिहुँ लायक। निज मन सदा सकल सुख दायक

× × ×

हरि हितकर साध सत संगति, भाव भगति परमा गति सेवा॥
जन हरिराम राम पतितपावन, पद बंदन आतम गुरुदेवा॥

(श्रीहरिरामदासजी महाराज)

'श्रीराम मङ्गलमय कृपालु और सब प्रकारका सुख देनेवाले हैं। उनकी कृपाके विना दूसरा कौन है, जो जन्म-मरणका कष्ट निवारण करे।

विना श्रीराम-कृपाके कर्मोंसे अर्थात् तीनों प्रकारके कर्म-फलोंसे छुड़ानेवाला कोई और नहीं है—

.............कीया करम कहो किम छूटै।

× × ×

तोड़ ताड़ सबही के खावै, राम बिना कहो कूण छुड़ावै॥

यह जीव नाना प्रकारकी योनियोंमे भटकता है। केवल मनुष्य-योनिमे ही यह अपने परमार्थका साधन कर सकता है। इसे आवागमनकी चक्कीमे केवल श्रीराम-कृपा ही छुड़ा सकती है। संत-जन उसी पतितको पावन करनेवाली सहायता (कृपा)की याचना करते हुए कहते हैं—

बिरही बचन जीव करुणाकर भक्त बिछल बिर्द भारी।
अबके साय करो परमानंद पावनपतित मुरारी॥

पतितोंको पावन करनेके लिये वे परम अनुग्रह करके सगुण रूप धारण करते हैं—

निर्गुण आप सगुण जनहेता, जीव उधारण देह धरेता॥

(श्रीहरलालदासजी महाराज)

जीवमात्रपर कृपा करना श्रीभगवान्का स्वभाव है, पर संतोंको वे विशेष सुख देते हैं—

साचा सांई यू खड़ा वे, संताई सुख देण॥

(श्रीजयमलदासजी महाराज)

किंतु रामस्नेही-सम्प्रदायमे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गुरु-कृपा और श्रीराम-कृपाको समान रूपसे महत्त्व दिया गया है। श्रीदयालजी महाराजने 'नामी नाम-निर्णयका अंग' साखीमे स्पष्ट कहा है—

'लहै जथारथ गुरुकृपा आतम परचै होय।'

अहैतुकी गुरु-कृपासे आत्मपरिचय होनेमें किंचित् भी संदेह नहीं। श्रीरामदासजी महाराजने तो हृदय-ग्रन्थि खोलनेके लिये गुरु-कृपासे ही कुंजी प्राप्त की है—

किरपा कीनी कूंची दीनी, ताला दूर झड़ंदा है।
सतगुरु बोल्या अंतर खोल्या हरी हीरा आखंदा है॥

गुरुकी कृपासे हृदयमे हरिरूप हीरेका दर्शन करना सहज है, फिर भी सम्प्रदायके आचार्योंने श्रीरामकी शरणमें गये विना अनन्त जन्मोंसे दृढ़ हुआ भ्रम मिटना असम्भव ही माना है—

अब राषि सरनै राम मोहि। बोह बेर भरम्यो बिन तोहि॥

'आपके विना बहुत बार (बारंबार) भ्रममे ही पड़ा रहा हूँ। हे प्रभो! अब तो कृपा कर मुझे शरणमे रख लीजये।'

जगन्माताकी कृपा

तुम्हारा विश्वास, आन्तरिकता, आत्मसमर्पण जितना ही पूर्ण होता जायगा, भगवत्कृपा और अभयकी छाया भी उतनी ही तुम्हारे साथ रहेगी। जब तुम जगन्माताकी कृपा पा चुके हो, माताकी अभय-छाया जब तुम्हारी रक्षा कर रही है, तब तुम्हें स्पर्श करनेकी भी शक्ति किसमें है? फिर तुम्हें किससे भय करनेकी आवश्यकता है? इसका कणमात्र मिलते ही तुम समस्त विघ्न-बाधाओं और विपत्तियोंसे छूट जाओगे। जब यह (कृपा) पूर्णभावसे विराजमान होकर तुम्हें घेर लेगी, तब तुम निश्चिन्त होकर अपने पथपर चल सकोगे, तब तुम अपनेको विपत्तियोंसे अग्राह्य कर सकोगे; क्योंकि वह पथ माताका ही पथ है। इस जगत् या अन्य किसी भी अदृश्य जगत्से कितनी भी प्रबल विपरीतता क्यों न आये, तुम्हें कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकेगी। माँकी कृपाके स्पर्शसे सारी बाधाएँ सहायक बन जाती हैं, दुर्बलता ही अजेय शक्ति हो उठती है, कारण जगन्माताकी कृपा श्रीभगवान्का ही निर्देश है।

—योगीराज श्रीअरविन्द

कृपापात्रकी प्रत्यभिज्ञा

(लेखक——स्वामी श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज, तर्कशिरोमणि)

यहाँ 'भगवत्कृपा-पात्र'की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) के ज्ञापक (परिचायक) कतिपय हेतुओंका उल्लेख किया जाता है, इनसे साधक 'अबतक मैं भगवत्कृपाका पात्र बना अथवा नहीं'—इस रूपसे अपनी प्रत्यभिज्ञा निश्चितरूपसे कर सकता है। इन हेतुओंका जैसा उपयोग अपनी प्रत्यभिज्ञामे होता है, वैसा दूसरोंकी प्रत्यभिज्ञामे असंदिग्ध रूपसे नही हो सकता; क्योंकि—

'सुगुप्तस्यापि दम्भस्य ब्रह्माप्यन्तं न गच्छति।'

∴ मनुष्य अपनेको ही यथार्थरूपसे पहचान सकता है, दूसरोंको नहीं। यह सुभाषित-न्याय प्रसिद्ध है।

संतोंने अनुभवद्वारा समस्त शास्त्रोंका परीक्षण कर एक मतसे यह निर्णय किया है कि दुर्लभ मानव-शरीर मिल जानेपर इस चेतन (जीव) का उत्तमोत्तम एवं महत्तम कर्तव्य 'भगवत्कृपाका पात्र' बनना ही रह जाता है। यही उसका अहोभाग्य एव मानव-जन्मकी सफलता है। वह मानव बड़ा अभागा है, जिसका 'भगवत्कृपा-पात्र' बने बिना ही प्राणान्त हो गया हो। महाभारतमे भगवान् व्यासदेवने 'भगवत्कृपा-पात्र'को श्रेष्ठतर माना है—'न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्' अर्थात् रत्न, मुक्ता, प्रवाल आदि अचेतन जीव; आम्र, निम्ब, अश्वत्थ आदि अर्धचेतन जीव; कृमि, कीट, पतंग आदि चेतन जीव—तीन प्रकारके इन पार्थिव जीवों तथा पिशाच, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, पैत्र्य, ऐन्द्र, प्राजापत्य, ब्राह्म आदि आठ प्रकारके देव जीवों एवं ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि अनन्त आधिकारिक जीवोंकी अपेक्षा 'भगवत्कृपा-पात्र' प्राणी श्रेष्ठतर चेतन है। भगवान् मनुका भी इस विषयमे यही उद्घोष है—

'किं भूतमधिकं ततः।'

(मनुस्मृति १। ९५)

अर्थात् इस ब्रह्माण्डमें 'भगवत्कृपा-पात्र' जीवसे अधिक महान् कोई जीव नहीं है।

प्रत्यभिज्ञाके उपाय—

यहाँ संतोंद्वारा प्राप्त 'भगवत्कृपा'के उन ज्ञापक हेतुओंका उल्लेख किया जाता है, जिनसे मानवको यह विदित हो सके कि 'अबतक मैं भगवत्कृपाका पात्र बन पाया हूँ अथवा नहीं।' इसका उल्लेख संत ज्ञानेश्वर महाराज, भक्त शठकोप स्वामी, श्रीमद्रामानुजाचार्य, सूरदासजी, तुलसीदासजी आदि भगवत्-रसिक संतोंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें अनेक रूपोंमे किया है।

१—संत श्रीज्ञानेश्वर महाराजने गीताकी प्रसिद्ध और यथार्थ टीका 'भावार्थदीपिका' (ज्ञानेश्वरी)मे इस विषयका इस प्रकार विवेचन किया है—'जिस मानवके हृदयमे वैराग्यका अङ्कुर प्रस्फुटित हो चुका हो एवं तत्त्व-जिज्ञासाके लिये जिसकी शास्त्र-श्रवणमे रुचि हो, उसको निस्संशय और निर्भय होकर यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं भगवत्कृपा-पात्र बन गया हूँ।' हृदयमें वैराग्यका उदय एवं शास्त्र-श्रवणमे रुचि—ये दोनों भगवत्कृपाके बिना नहीं रहते। अतः 'साहचर्यनियमो व्याप्तिः' (तर्कसंग्रह, अनुमानखण्ड)—इस न्यायसे ये भगवत्कृपाके सूचक हैं।

२—स्वामी रामानुजाचार्यजीके जीवनकी एक घटना है—एक दिन उनके शिष्योंने सेवामे उपस्थित होकर यह जिज्ञासा प्रकट की कि 'भगवन्! अभीतक हम भगवत्कृपाके पात्र हुए अथवा नहीं—इसकी प्रतीति कैसे हो सकती है?' इसका समाधान करते हुए आचार्यचरणने कहा—"जिसने सबसे बड़े 'अज्ञान' एवं सबसे बड़े 'ज्ञान'के स्वरूपोंका यथार्थ आकलन कर लिया है, उसका यह निश्चय करना वृथा न होगा कि 'मै भगवत्कृपाका पात्र हूँ।' बिना भगवत्कृपाके इन दोनोंके स्वरूपोंका आकलन असम्भव है।"

३—संत श्रीशठकोप स्वामीद्वारा अनुगृहीत 'सहस्रगीति'-के व्याख्यारूप 'भगवद्विषय' ग्रन्थमे उल्लेख है—"जिसकी सत्सङ्गमे रुचि है, जो सत्कार, कीर्ति एवं धनोपलब्धिके लिये नहीं, अपने उद्धारके उद्देश्यसे सत्सङ्ग करता है, जिसमे आभ्यन्तर वैष्णवताका विकास है, उसको तत्काल यह निश्चय कर लेना चाहिये कि 'मैं भगवत्कृपाका पात्र हूँ।' बिना भगवत्कृपाके मानवके मनमे सत्सङ्गके प्रति

रुचि और आभ्यन्तर वैष्णवताका विकास नहीं होता।"

'प्रपन्नपारिजात'मे वैष्णवताके दो प्रकार उपलब्ध हैं—बाह्य वैष्णवता और आभ्यन्तर वैष्णवता। तिलक, छाप, कण्ठी, माला आदि 'बाह्य वैष्णवता' कहलाते हैं। दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, माङ्गल्य, अकार्पण्य, अस्पृहा—ये आठ आत्म-गुण आभ्यन्तर 'वैष्णवता' हैं। जीवात्माके उद्धारके लिये दोनों आवश्यक हैं, किंतु भगवत्कृपाके बिना आभ्यन्तर वैष्णवता विकसित नहीं हो सकती। अतः यह भगवत्कृपाके पात्रत्वकी सूचिका है।

दया, क्षमा, अनुसूया, शौच आदिके स्वरूप प्रसिद्ध हैं, केवल अनायासके स्वरूपका विवेचन किया जाता है। उसका स्वरूप है—

'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।'

अर्थात् प्राणियोंके अनुकूल चलना एवं उनके प्रतिकूल आचरण न करना 'अनायास' है। जो प्राणियोके सुख-दुःखमे उनके साथ खडा है, परमात्मा भी उसके साथ खडे हैं। जिसने अपने हृदयमे दूसरोंको स्थान दिया है, उसको परमात्मा भी अपने हृदयमे स्थान देते हैं। दूसरे शब्दोंमे वह 'भगवत्कृपाका पात्र' है।

'अकारण कृपा है प्रभु करुणानिधानकी'

(रचयिता—श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी')

गर्भ बीच अर्भककी रक्षा कर जन्म देती,
देख-रेख करती जवानी चढ़तीकी है।
देती है कलत्र-पुत्र, कुलको बढ़ाती और
भूलें साफ माफ कर देती जिंदगीकी है॥

भजन कराती है, विरक्ति उपजाती,
चित्त-शुद्धि कर देती भक्ति-मुक्ति अति नीकी है।
भींजते नहीं हैं वे, जो तर्कके वितान ताने,
बरसे हरीकी कृपा सब पै सरीखी है॥

अग-जग ऊपर बरसती अखण्ड रूप,
सीमा पार करती जमीन-आसमानकी।
'प्रेमी कवि' दूरीकी जरा भी मजबूरी नहीं,
बिना कान सुनती है सबके जबानकी॥

शूल बन आती, कभी फूल बन आती,
पर जानी नहीं जाती बिरलोंने पहचान की।
भव-वरुणालयके तारणको केवल,
अकारण कृपा है प्रभु करुणानिधानकी॥

कृपामयी श्रीमद्भगवद्गीता

(लेखक—स्वामी रामसुखदास)

जीवात्मा परमात्माका अंश है । इसने परमात्मासे विमुख होकर प्रकृति और उसके कार्य त्रिगुणात्मक संसारसे सम्बन्ध मान लिया है । इसी कारण उसे (सबपर सब समय सामान्य रीतिसे बरसती हुई) भगवत्कृपाका अनुभव नहीं हो पाता । जबतक मनुष्यकी सांसारिक पदार्थोंमें संग्रह और सुख-बुद्धि रहेगी, तबतक भगवद्विमुखताके कारण उसमें भगवत्कृपा-दर्शनका सामर्थ्य ही कैसे आ सकता है ? जब कि भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं, उसी प्रकार उनकी कृपा भी सर्वत्र परिपूर्ण है, निरन्तर है, सब प्राणियोंपर समानरूपसे है ।

जीव भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, तब उसके समस्त बन्धन कट जाते हैं और आगेकी सारी जिम्मेवारी स्वयं भगवान्‌की हो जाती है । यही सम्मुखता कृपामय ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीताके प्राकट्यका कारण है । अर्जुनद्वारा एक अक्षौहिणी शस्त्रास्त्र-सुसज्जित सेनाको छोड़ अकेले भगवान् श्रीकृष्णको स्वीकार किया जाना उनकी भगवत्सम्मुखताका एक उत्कृष्ट उदाहरण है । घटना इस प्रकार है—

महाभारत-युद्धकी तैयारी हो चली थी । भगवान् श्रीकृष्णकी सहायता प्राप्त करनेके लिये दुर्योधन उनके पास पहुँचा । भगवान् विश्राम कर रहे थे । दुर्योधन जाकर उनके सिरहानेकी ओर सिंहासनपर बैठ गया । कुछ समय पश्चात् ही अर्जुन भी वहाँ पहुँचे । उनका उद्देश्य भी भगवान्‌को युद्धमें अपनी ओर सम्मिलित करनेका था । भगवान्‌के विश्राममें विघ्न न डालकर अर्जुन उनके चरण-प्रान्तमें विनयावनत मुद्रामें खड़े हो गये । कुछ समय पश्चात् जब भगवान्‌की निद्रा भङ्ग हुई तो उनकी दृष्टि पहले अर्जुनपर पड़ी और प्रश्न हुआ—'कैसे आये ?' अर्जुनके उत्तर देनेसे पूर्व ही दुर्योधन बोल पड़ा—'पहले मैं आया हूँ, श्रीकृष्ण ! युद्धमें आप हमारे पक्षमें रहिये ।' भगवान्‌ने अब दुर्योधनपर दृष्टिपात किया । स्थितिका अनुमान लगाया । दोनों पक्षके वरिष्ठ पुरुष उनको अपनी सेनामें सम्मिलित करनेका निमन्त्रण लेकर आये थे । भगवान् तो राजनीतिके भी पण्डित हैं । उन्होंने व्यवस्था दी—'ठीक है, दुर्योधन ! पहले तुम आये हो, पर मेरी दृष्टि पहले अर्जुनपर पड़ी है; फिर नीति-शास्त्र भी यही कहता है कि जब किसी वस्तुका विभाजन करना हो तो पहला अवसर छोटेको दिया जाय; अतः जो छोटा हो, वही पहले अपनी माँग रखे ।' अर्जुन अवस्थामें दुर्योधनसे छोटे थे । इसलिये पहले माँगनेका अवसर उन्हें मिला । श्रीकृष्णने प्रस्ताव रखा—'एक पक्ष तो मुझे ले ले, मैं कोई शस्त्र धारण नहीं करूँगा और दूसरा पक्ष मेरी एक अक्षौहिणी सेना ले सकता है, जो अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित रहेगी ।' दुर्योधन मन-ही-मन एक अक्षौहिणी सेनाकी कामना कर रहा था, पर बड़ा होनेके नाते पहले माँग तो सकता नहीं था । पहले अर्जुनने ही अपना प्रस्ताव रखा—'भगवन् ! मुझे सेना नहीं चाहिये, मैं तो आपको ही चाहता हूँ ।' दुर्योधन यह सुनकर प्रसन्न हो गया ।

दुर्योधनकी मनचाही हो गयी । उसे एक अक्षौहिणी सेना प्राप्त हुई और अर्जुनको निःशस्त्र भगवान् श्रीकृष्ण मिले । दुर्योधन अब अभिमानसे फूला नहीं समाता था । उसने सर्वत्र ढोल पीटना आरम्भ कर दिया कि 'मैंने आज श्रीकृष्णको ठग लिया ।' उधर भगवान्‌ने एकान्त होते ही अर्जुनको फटकारा—'तुम्हें अवसर दिया, फिर भी तुमने सेना नहीं माँगी । मुझे लेकर क्या करोगे ? मैं तो शस्त्र भी नहीं उठाऊँगा ।'

अर्जुनने कहा—'मेरा काम शस्त्रोंसे नहीं चलता । मुझे तो आपसे ही काम है; क्योंकि मेरे मनमें बहुत दिनोंसे यह इच्छा थी कि आप मेरे सारथि हों, मेरे रथके घोड़े हाँकें; मेरे जीवनकी बागडोर आपके हाथोंमें हो ।' अर्जुनका यह निवेदन ही भगवत्कृपाको स्वीकार करना है ।

दुर्योधनने वैभव स्वीकार किया, वह भगवान्‌से विमुख हो गया और अर्जुनने स्वयंको ही भगवान्‌को सौंप दिया, इसलिये वे भगवान्‌के सम्मुख होकर उनकी महती कृपाके प्रियपात्र बन गये ।

दस दिन युद्ध हो चुका था । ग्यारहवें दिन संजयने युद्धभूमिसे आकर धृतराष्ट्रको समाचार दिया कि 'भीष्मजी युद्धमें गिरा दिये गये, वे शर-शय्यापर पड़े हैं ।' धृतराष्ट्र यह सुनकर मूर्च्छित हो गये । कुछ समय पश्चात् जब उन्हें चेतना आयी, तब पूछा—'भीष्म कैसे गिरा दिये गये ?'

तब संजयने दस दिनोंसे चले आ रहे महाभारत-युद्धका वर्णन क्रमशः धृतराष्ट्रको सुनाया है। धृतराष्ट्र और संजयका संवाद वैशम्पायनजी जनमेजयके प्रति कहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताका आरम्भ 'अथ'से होना है।
'अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा' (१।२०)

तथा 'इति'से समाप्ति भी द्रष्टव्य है—
'इत्यहं वासुदेवस्य (१८।७४)

श्रीमद्भगवद्गीताका श्रीगणेश भगवान्की असीम कृपाके कारण ही हुआ है। महाभारत-युद्धारम्भसे पूर्व व्यासजीने नेत्रहीन धृतराष्ट्रसे कहा—'युद्धका होना अवश्यम्भावी है। यदि तुम यहाँ बैठे-बैठे ही संग्राम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करूँ।'

धृतराष्ट्रमें कुटुम्बीजनोंका वध देखनेका साहस नहीं था। उसने दिव्य दृष्टिकी प्राप्तिका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, किंतु यह याचना की कि 'मैं युद्धका सारा वृत्तान्त सुनना अवश्य चाहता हूँ।' तब व्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान की और कहा—'राजन्! संग्रामभूमिमें कोई ऐसी बात नहीं होगी, जो यह न जान सके।' इसके बाद संजयने ही धृतराष्ट्रको भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके मध्य घटित हुए संवादको अक्षरशः क्रमानुसार सुनाया।

श्रीमद्भगवद्गीता भगवान्का साक्षात् अनुग्रह है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। अर्जुनने न तो भगवान्के समक्ष कोई तात्त्विक विवेचन सुननेकी इच्छा व्यक्त की और न धर्म-सम्बन्धी कोई जिज्ञासा ही की। उन्होंने तो भगवान्से कहा—

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥
(१।२२)

'हे कृष्ण! जबतक मैं युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओंको भली प्रकार देख न लूँ कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है, (तबतक रथको यहीं खड़ा रखिये)।' इस प्रकार अर्जुन तो युद्धके लिये संनद्ध हैं, अपनेसे युद्ध करनेवाले राजाओंको वे देखना चाहते हैं। ऐसे अर्जुनको भगवद्गीताका उपदेश करना केवल कृपा नहीं तो और क्या है?

भगवान्ने अर्जुनका रथ उनकी आज्ञामें दोनों सेनाओंके मध्य ले जाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने रथ ऐसे स्थानपर खड़ा किया, जहाँ भीष्म और द्रोण विद्यमान थे। फिर वे बोले—'हे पार्थ! युद्धके लिये आये हुए इन कुरुवंशियोंको देखो—

उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति।
(१।२५)

यहाँ 'कुरुवंशियों'को देखनेके लिये कहना भी अर्जुनको अपने कौटुम्बिक स्नेहमें बाँधनेकी युक्ति ही है। अन्यथा भगवान् कह सकते थे—'धार्तराष्ट्रान् समानिति'। 'युद्धभूमिमें एकत्रित इन धृतराष्ट्रके पुत्रोंको देखो।'

रथको भीष्म और द्रोण अर्थात् पितामह और गुरु-जैसे आदरणीय जनोंके सम्मुख खड़ा करना और फिर यह कहना कि 'कुरुवंशियोंको देखो'—भगवान्के विशिष्ट प्रयोजनकी ओर इंगित करता है। वस्तुतः संसारमें दो प्रकारके सम्बन्ध ही मुख्य माने गये हैं—(१) योनि-सम्बन्ध, जिसके अन्तर्गत माता, पिता, पितामह, भाई, मामा, नाना आदि सम्बन्धी आते हैं। (२) विद्या-सम्बन्ध अर्थात् आचार्य अथवा गुरुका सम्बन्ध। अर्जुन प्रथमतः इन दोनों सम्बन्धोंको देखकर ही मोहाविष्ट हो युद्ध करनेसे हिचकिचाये—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥
(२।४)

अर्जुन बोले—'हे मधुसूदन! मैं रणभूमिमें किस प्रकार बाणोंसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध लड़ूँगा; क्योंकि हे अरिसूदन! ये दोनों ही पूजनीय हैं।'

यदि दुर्योधन या कर्णके सम्मुख रथ खड़ा किया जाता तो निश्चय ही अर्जुनके हृदयमें युद्धोत्साह और शौर्य उत्पन्न होते। पर दोनों आदरणीय जनोंके सामने रथ खड़ा करनेसे अर्जुनको ऐसा प्रतीत हुआ कि इन गुरुजनोंकी हत्या मैं कैसे कर सकूँगा? उधर वंशके नाशका दृश्य सामने उपस्थित हो आया। अतः अर्जुनके मनका मोह प्रकट हो गया। इस सुप्त मोहको जाग्रत् करना ही भगवान्की कृपाका उपक्रम था। मोहके कारण उन्होंने युद्ध करनेसे इन्कार कर दिया। फलस्वरूप भगवान्ने कृपा करके अर्जुनको निमित्त बनाकर गीतामृतका ऐसा उपदेश किया, जिससे अनन्तकालतक अनन्त मोहाविष्ट जीवोंका कल्याण होता रहेगा।

मोहाविष्ट और विषादयुक्त अर्जुन बोले—'हे कृष्ण! न तो मुझे विजय चाहिये, न राज्य और न सुख। मैं ऐसा युद्ध नहीं करता। मुझ निःशस्त्रको धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो यह भी मेरे लिये कल्याणकारक होगा।' (१।४६) ऐसा कहकर वे रथके पिछले भागमें शोकाविष्ट होकर बैठ गये।

उस समय उन्हें प्रोत्साहित करनेके लिये भगवान् कुछ तीखे वचन कहते हैं—'हे अर्जुन! क्लैब्य (कायरता)को छोड़ दो। अरे! उत्साहित होनेके समय तुममें यह मोह कैसे उत्पन्न हुआ? हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़े हो जाओ।' (२।२-३)

भगवान्‌ने यह उद्बोधन केवल कृपा-दृष्टिसे ही किया, अन्यथा वे कह सकते थे—'युद्ध नहीं करना चाहते हो तो न करो। जैसा तुम्हारी समझमें आये, वैसा ही करो।' पर यह बात भगवान्‌ने अन्तमें कही—'यथेच्छसि तथा कुरु' (१८।६३)।

भगवान्‌के हृदयमें उसी प्रकार करुणा उमड़ रही थी जैसे बछड़ेको देखते ही गायके स्तनोंमें दूध निकल पड़ता है। वे अर्जुनका कल्याण चाहते हैं। साधारण मनुष्यमात्रकी जैसी मनःस्थिति होती है, वैसी ही मनःस्थितिका ध्यान रखते हुए गीताका उपदेश करना, भगवान्‌की विशिष्ट कृपाका एक विलक्षण उदाहरण है।

गीतामृतरूपा भगवत्कृपाका प्रत्येक अध्यायके अनुसार अवलोकन किया जाय तो कृपापूर्वक भगवान्‌का अर्जुनके सामने अपने-आपको विशेषतासे प्रकट करना और अर्जुनके मनमें क्रमशः भगवान्‌के प्रति विशेष आदर एवं श्रद्धा-भावका बढ़ना द्रष्टव्य है। अत्र इसी दृष्टिसे प्रत्येक अध्यायके कतिपय कृपापरक स्थलोंका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है—

मोहग्रस्त अर्जुन ज्यों ही अपनेको मोहितचित्त स्वीकार करते हैं और कल्याणकारक साधन पूछते हैं, त्यों ही भगवान् करुणा करके साधारण जनकी भाषामें मुस्कराते हुए उपदेश आरम्भ कर देते हैं।

दूसरे अध्यायके ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवान्‌ने सत्-असत्‌का विवेचन किया, किंतु इस प्रसङ्गमें उन्होंने ब्रह्म, अविद्या, माया, ईश्वर, प्रकृति, जीव, आत्मा, अनात्मा, अधिभूत, अधियज्ञ आदि दार्शनिक शब्दावलिका प्रयोग किया ही नहीं, इस विवेचनमें देह-देही, शरीर-शरीरी, नित्य-नाशवान्-जैसे सामान्य जनकी समझमें आनेवाले शब्दोंका ही प्रयोग हुआ है। तात्पर्य यह कि गीता मनुष्यमात्र (चाहे वह अपढ़ हो या विद्वान्, मूर्ख हो या बुद्धिमान्)के कल्याणकी दृष्टिसे कही गयी है।

पहले अध्यायके इकतीसवें श्लोकमें अर्जुन जहाँ कहते हैं कि 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि'—युद्धमें श्रेय नहीं देख रहा हूँ, वहीं दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें 'निश्चित श्रेय'के लिये पूछ रहे हैं—'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।' इस प्रसङ्गको देखनेसे एक बात तो यह सिद्ध होती है कि अर्जुन मारनेसे डर रहे हैं, मरनेसे नहीं। इसलिये भगवान्‌ने उनके हृदयसे 'मारनेका भय' निकालनेकी भावना और कर्तव्य दृष्टिसे ही कहा—'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।' (२।३१) अर्थात् क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर कल्याणकारी दूसरा कोई कर्तव्य ही नहीं है। फिर भी अर्जुन अभीतक मोहित हैं और पुनः प्रश्न करते हैं—'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' (३।२), इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने कृपा कर कर्तव्य-पालनको ही परम कल्याणकारक बताया—

> श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
> स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
> (३।३५)

'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयप्रद है।'

जो अर्जुन मोहासक्तिके कारण अपने कर्तव्यसे च्युत हो रहे हैं, उन्हें भगवान् सहज धर्मयुक्त कर्तव्यमें आरूढ़ करनेके उद्देश्यसे उपदेश दे रहे हैं। यह उनकी ऐसी कृपा है, जिसकी अर्जुनने कभी वाञ्छा और जिज्ञासा भी न की थी। भगवान्‌का स्वभाव ही अहैतुकी कृपा करना है।

श्रेष्ठ पुरुष अपने हृदयका गोपनीय-से-गोपनीय रहस्य भी अपने कृपाभाजनके सामने प्रकट कर देते हैं। अर्थात् उससे कुछ भी दुराव नहीं रखते। इसी दृष्टिसे भगवान्‌ने तीसरे अध्यायमें कृपापूर्वक कर्तव्यपालनपर बल देते हुए अर्जुनसे कहा—'मेरा तीनों लोकोंमें कोई कर्तव्य नहीं है, फिर भी मैं कर्तव्य निबाहता हूँ। मैं कर्म न करूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि सब मनुष्य मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं

अर्थात् यदि मैं शास्त्रोक्त कर्मका आचरण न करूँ तो सब मनुष्य नष्ट हो जायँ[1]।' (इस प्रकार भगवान्‌ने इन श्लोकोंमें कृपापूर्वक यह प्रकट किया है कि मैं तीनों लोकोंका आदर्श पुरुष हूँ।)

इस उपदेशके पश्चात् क्षत्रियोंके कर्मका महत्त्व बतलाते हुए भगवान्‌ने चौथे अध्यायमें परम्परासे प्राप्त कर्मयोग और उसकी अनादिताको सिद्ध किया। तत्पश्चात् अपनेको आदि उपदेष्टा बताकर वे कहते हैं कि मैं वही उपदेश, जो लोपप्राय हो गया था, फिर कहता हूँ। युद्ध-भूमिमें युद्धकी बात न करके इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और निष्काम-कर्मकी बात करना भगवान्‌की केवल विशिष्ट कृपा ही है, अन्य कुछ नहीं।

पाँचवें अध्यायका आरम्भ अर्जुनकी इस जिज्ञासासे होता है कि 'हे कृष्ण! आपने सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा बतलायी (३।३); परंतु मेरे लिये दोनोंमेंसे कौन-सी निश्चितरूपसे श्रेयस्कर है—यह स्पष्ट बतलाइये।'

ज्ञानयोग और कर्मयोगका विस्तृत विवेचन करते हुए और उन्हें तत्त्व-प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतलाते हुए अन्तमें भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! मुझे सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् (तत्त्वसे) जान लेनेमात्रसे मनुष्य परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है'—

'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥'
(५।२९)

'ज्ञात्वा' पदसे भगवान् अर्जुनको मानो आश्वासन देते हैं कि 'तुम क्यों चिन्ता करते हो, केवल मुझे सब भूतोंका अर्थात् अपना भी सुहृद् जान लो, इतने मात्रसे तुम्हारेद्वारा कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—सबका अनुष्ठान स्वयमेव ठीक-ठीक होने लगेगा।'

यह भगवान्‌की कितनी कृपा है! कितना सुगम उपाय है जीवनके चरम-लक्ष्यकी प्राप्तिका!!

अर्जुनकी दृष्टि दोषरहित है, इसीलिये भगवान् उनके बिना पूछे ही विशेष कृपा करके उन्हें ध्यान और भक्तिकी विशेषतासे अवगत कराते हैं और आदेश देते हैं—'कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन' (६।४६) इससे हे अर्जुन! तुम योगी बनो; क्योंकि कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है।

छठे अध्यायके तीसवें श्लोकमें तो भगवान्‌ने कृपा करके यह विलक्षण सत्य उद्घाटित कर दिया कि समस्त जगत्‌में जितने भी रूप हैं, वे सब मेरे ही वेष हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

इसी अध्यायमें अर्जुनने मनसम्बन्धी प्रश्न भी किया है। उन्हें शङ्का होती है कि योगमें श्रद्धालु पुरुष संयमी न होनेके कारण यदि अन्त समयमें योगसे विचलित हो जाय तो उसकी क्या गति होती है? कहीं वह उभयभ्रष्ट हो नष्ट तो नहीं हो जाता?—'कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति' (६।३८)। अर्जुनका यह अडिग विश्वास है कि 'मेरे इस संशयको दूर करनेवाला भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता।' उत्तरमें भगवान् भी अपना हृदय खोलकर रख देते हैं। अर्जुनको अत्यन्त कृपा करके उन्होंने 'तात' शब्दसे सम्बोधित किया। (यह सम्बोधन समस्त गीतामें एक ही बार आया है।) भगवान्‌ने आश्वासन देते हुए कहा—'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥' (६।४०) 'हे पार्थ! भगवदर्थ कर्म करनेवाला कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।'

मनुष्यको वस्तुतः अन्तकालकी गति और उससे त्राण दिलानेवाली उपासना—दो ही प्रश्नोंके विषयमें सर्वाधिक जिज्ञासा रहती है। अकारण-कृपालु भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनको निमित्त बनाकर सर्वसामान्यकी सद्गतिके भावसे गीतामें इन्हीं दो प्रसङ्गोंका सर्वाधिक विवेचन किया है[2]।

सातवें अध्यायको स्वयं भगवान्‌ने अपनी ओरसे कहना आरम्भ किया है। (६।४७ में) भक्तोंकी बात आते ही भगवान् मानो मग्न हो गये, ठीक उसी प्रकार जैसे भगवान्‌की बात

---

१. न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन । नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः । मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् । संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥
(गीता ३।२२-२४)

२. छठे अध्यायके सैंतीसवें, अड़तीसवें और उनतालीसवें श्लोकोंमें किये गये प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान्‌ने छठे अध्यायके ८, सातवेंके ३०, आठवेंके २६, नवेंके ३४ और दसवें अध्यायके ११—अर्थात् कुल १०९ श्लोकोंमें अन्तकालीन गतिका ही विस्तृत विवेचन किया।

चलते ही भक्त मग्न हो जाते हैं। इस अध्यायमें भगवान् अपने चारों प्रकारके भक्तोंका वर्णन करते हुए आर्त और अर्थार्थी भक्तको भी उदार बतलाते हैं (७ । १७)। यह उनकी कितनी कृपावत्सलता है! आशय यह प्रतीत होता है कि ये (आर्त, अर्थार्थी आदि) संसारसे हटकर मुझ परमात्माकी ही ओर लग गये—यह इनकी उदारता है।

आठवें अध्यायमे भगवान्ने कृपापूर्वक बतलाया कि अन्तकालमें जो कोई मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर-त्याग करता है, वह मेरे ही भावको प्राप्त होता है (८ । ५), यह कहते हुए भगवान् पुनः इसीको और स्पष्ट करते हुए (८ । ६ मे) कहते हैं कि मनुष्य अन्तकालमे जिस-जिस भावका स्मरण करता हुआ मरता है, उसी भावके अनुसार उसकी गति होती है अर्थात् स्वर्ग, नरक या अन्य योनिकी प्राप्ति होती है। जिस अन्तकालमें भोगोंका स्मरण करते हुए मरनेवाला मनुष्य शूकर-कूकर या कीट-पतंगकी योनि प्राप्त करता है, उसी अन्त समयमें भगवान्को स्मरणकर परमगतिको प्राप्त हो सकता है, चाहे उसका विगत जीवन कैसा ही क्यों न रहा हो। यह न्यायकारी प्रभुका कैसा कृपापूर्ण संविधान है! प्रभुके इस विधानमें न्याय और कृपाका विलक्षण साम्य दृष्टिगोचर होता है।

तदनन्तर भगवान्ने पुनः स्वयं अपनी ओरसे ही कहा—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(९ । १)

कौन ऐसा दयालु होगा, जो बिना पूछे अपने हृदयकी गुह्यतम बात बतायेगा? यही नहीं, भगवान्ने इस गुह्यतम ज्ञानके आठ विशेषण दिये हैं—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
(९ । २)

'यह ज्ञान (१) सब विद्याओंका राजा, (२) समस्त गोपनीयोंका भी राजा, (३) अति पवित्र, (४) उत्तम, (५) प्रत्यक्ष फलवाला, (६) धर्मयुक्त, (७) साधन करनेको बड़ा सुगम और (८) अविनाशी है।'

लोकमे भी अपने उपदेशकी प्रशंसा स्वयं करनेमें सज्जन पुरुष कुछ संकोचका अनुभव करते हैं; किंतु भगवान्के हृदयमे कृपाका समुद्र उमड़ रहा है और अर्जुन दोषदृष्टिरहित—'अनसूयु' हैं, अतः वे अर्जुनको (और उनके निमित्तसे जीवमात्रके हितकी दृष्टिसे) पग-पगपर कल्याणका मार्ग बताते हुए कहते हैं—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥
(१० । १)

'हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम रहस्ययुक्त और प्रभावयुक्त वचनोंको सुनो, जो मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके प्रति हितकी इच्छासे कहूँगा।'

नवें अध्यायका आरम्भ जहाँ भगवान्ने 'गुह्यतमम्' शब्दसे किया, वहाँ दसवेंके आरम्भमे 'परमं वचः' कह रहे हैं और वह भी हितकामनाके भावसे। इसका उद्देश्य अर्जुनको भलीभाँति अपने कर्तव्यका भान कराना एवं उनकी शङ्काओंको निर्मूल करना है। भगवान् चाहते हैं कि अर्जुनका मोह नष्ट हो जाय, इसीलिये इतना कहनेके पश्चात् भी वे असंतोष अनुभव करते हैं, उनकी तृप्ति नहीं होती; अतः दूसरे प्रकारसे उसी विषयका प्रतिपादन करते हैं। जीवके कल्याणकी ऐसी उत्कट कामना वे अकारणकरुणार्णव ही कर सकते हैं। वे कहते हैं—'जिस रहस्यको न देवता जानते हैं, न महर्षि, वही अपने लीलासे प्रकट होनेका रहस्य मैं तुम्हें बताता हूँ[3]।

इस प्रकार कहकर भगवान्ने दसवें अध्यायके पाँच श्लोकों- (२–६)में अपनी योग-शक्ति और विभूतियोंका वर्णन किया और सातवें श्लोकमे उनके फलरूप अविचल भक्तियोगकी प्राप्ति बतायी। अर्जुनने जब योगशक्ति और विभूतियोंका विस्तारसहित वर्णन करनेके लिये स्तुति और प्रार्थना[4] की [क्योंकि भगवान्का अमृत-वचन

---

३. न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः। अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ (१० । २)

४. दसवें अध्यायके बारहवेंसे पंद्रहवेंतकके श्लोकोंमें अर्जुनने भगवान्की विभूति जाननेके लिये स्तुति की है और सोलहवेंसे अठारहवेंतक तीन श्लोकोंमें प्रार्थना की है। पंद्रहवें श्लोकमें तो अर्जुनकी श्रद्धा इस सीमातक बढ़ गयी है कि उन्होंने इस एक ही श्लोकमें भगवान्के प्रति पाँच सम्बोधन दे डाले—

स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥

'हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले! हे भूतोंके ईश्वर! हे देवोंके देव! हे जगत्के स्वामी! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने —— जानते हैं।'

सुननेसे उनकी तृप्ति ही नहीं होती थी (१० । १८)] तब भगवान्‌ने कृपापूर्वक अपनी इक्यासी विभूतियोंका वर्णन किया। सम्भवतः अर्जुनको भ्रम था कि भगवान्‌की विभूतियाँ इतनी ही हैं अर्थात् सीमित हैं, इसलिये उन्होंने 'अशेषेण' (१० । १६) पदका प्रयोग किया, किंतु भगवान्‌ने कृपापूर्वक यह भी बता दिया कि मैं तो समस्त जगत्‌को अपने एक अंशसे ही व्याप्त करके स्थित हूँ और इसीलिये उन्होंने अपनी विभूतियोंको 'प्राधान्यतः' (१० । १९) बतलाया। जिसका अन्त ही नहीं है, उसे 'अशेषेण' (पूर्णतासे) कैसे बताया जा सकता है !—

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥'
(१० । ४२)

उपर्युक्त श्लोक ही ग्यारहवें अध्यायका बीज है। अर्जुनको जिज्ञासा हुई कि वह रूप भी देखूँ, जिसके एक अंशमे ही सम्पूर्ण जगत् स्थित है। भगवान्‌की अचिन्त्य एवं अनन्त विभूति एवं ऐश्वर्यको सुनकर अर्जुनको अपनी भूल तब समझमे आयी, जब १० । ४२में भगवान्‌ने अपने किसी एक अंशमें समस्त जगत्‌को स्थित बताया, इसलिये वे ११ । ३में अत्यन्त विनम्रतासे कहते हैं—'हे प्रभो ! आप जो कुछ कह रहे हैं, वह ठीक वैसा ही है, मैं भी उसे वैसा ही मानता हूँ, अब मैं आपके उसी रूपको देखना चाहता हूँ (जिसके एक अंशमे समस्त जगत् स्थित है)।' फिर कहते हैं—'यदि आप यह समझते हैं कि मैं उस रूपको देख पानेमे समर्थ हूँ तो उसे (अवश्य) दिखायें (अन्यथा जैसा आप उचित समझें)।' यहाँ वे १० । १६की तरह न बोलकर विनम्रतासे कहते हैं। यह भाव देखकर कृपालु प्रभु मानो अर्जुनपर न्यौछावर हो जाते हैं और प्रसन्न होकर कहते हैं—'पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः' (११ । ५)—हे अर्जुन ! एक रूप तो क्या, तुम मेरे सैकड़ों और हजारों रूपोंको देखो।

उपर्युक्त प्रसङ्गसे यह सिद्ध है कि साधकका भगवदाश्रय, दैन्य और अपनी इच्छाओंका भगवदिच्छाओंमें विलय भगवान्‌को अत्यन्त प्यारा है। ऐसे साधककी इच्छा पूरी करनेके लिये भगवान् तरसते रहते हैं तथा कभी कोई अवसर मिल जाता है तो अभीष्टसे अत्यधिक सेवा करते हैं।

इस प्रकार ग्यारहवाँ अध्याय भगवदनुग्रहकी स्वीकृतिसे ही आरम्भ हुआ—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥
(११ । १)

जब समस्त ब्रह्माण्डोंको ही भगवान्‌ने अपने एक अंशमें धारण किया हुआ बता दिया, तब अर्जुनने भगवान्‌के अनुग्रह और उनके उपदेशकी प्रशंसा की। तभी उनके हृदयमें विश्वरूप-दर्शनके बहाने प्रभुकी विशिष्टतम कृपा प्राप्त करनेकी अभिलाषा जाग्रत् हुई। वे भगवान्‌की प्रशंसा करते हुए यहाँतक कह बैठे कि 'मोहोऽयं विगतो मम'—मेरा मोह दूर हो गया। परम कृपालु भगवान् तो जानते थे कि अभी मोह दूर नहीं हुआ, इसीलिये उन्होंने आगे ११ । ४९ में कहा—'मा ते व्यथा मा च विमूढभावः'। इसमें रहस्य यह है कि अर्जुनने भगवान्‌का प्रभाव जाना और उसे जानकर ही बोल पड़े कि मेरा मोह दूर हो गया। वास्तवमें साधकको भगवान्‌के प्रभावका थोड़ा-सा ज्ञान हो जानेपर प्रायः ऐसा ही भान होता है। अर्जुनकी इसी स्थितिको समझकर भगवान्‌ने कृपापूर्वक कहा—

'हे पार्थ ! तुम मेरे सैकड़ों-हजारों, नाना प्रकारके, नाना वर्ण और आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देखो।' यह है अर्जुनपर विशिष्ट कृपाका एक अन्य उदाहरण। भगवान्‌ने अपनी ओरसे ही अपना विराट्-रूप प्रकट किया तो अर्जुन उसे देख नहीं पाये। पाँचवेंसे सातवें श्लोकतक भगवान्‌ने पाँच बार 'पश्य' शब्दका प्रयोग किया। इससे सिद्ध हुआ कि अर्जुन विराट्-रूप देख ही न सके। उन्हें देखनेमे असमर्थ जानकर ही भगवान्‌ने हितकी कामनासे उन्हें दिव्य चक्षुओंका दान किया—'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' (११ । ८) और तब अर्जुनने विराट्-रूपका दर्शन किया। वह रूप देखनेके बाद जब अर्जुनने भयभीत होकर स्तुति और प्रार्थना की कि मुझे तो फिर वही (चतुर्भुज) रूप दिखाइये, मैं अत्यन्त भयभीत हो रहा हूँ, मुझपर प्रसन्न हो जाइये (११ । ४५), तब भगवान्‌ने कहा—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥
(११ । ४७)

'हे अर्जुन ! अनुग्रहपूर्वक (प्रसन्न होकर) ही मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे अपना यह परमतेजोमय, सबका आदि

और सीमा-रहित विराट्-रूप तुम्हे दिखाया है, जो कि तुम्हारे सिवाय पहले किसीके द्वारा नहीं देखा गया।'

इस विराट्-रूपमें भगवान्ने अर्जुनकी शङ्का—'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' अर्थात् युद्धमे हम जीतेंगे या वे हमे जीतेंगे १ (२।६)का भी उत्तर दे दिया। उन्होंने विशेष अनुग्रह करके दिखा दिया कि विकराल दाँतोंवाले एवं अग्निके समान प्रज्वलित उनके मुखमें धृतराष्ट्रके पुत्र, भीष्म, द्रोण आदि सभी समा रहे हैं। इस प्रकार जो मृत्युको प्राप्त नहीं हुए थे, उन्हें भी मृत दिखाकर भगवान्ने अर्जुनको कृपापूर्वक आसन्न-भविष्यका दर्शन करा दिया और सावधान कर दिया कि तुम जो युद्ध नहीं करनेको कहते हो एवं गुरुजनोंकी मृत्युसे डर रहे हो, वे सब तो मरनेवाले ही हैं, चाहे तुम युद्ध करो या न करो। ऐसा कहकर भगवान्ने फिर समझाया—तुम क्षत्रिय-धर्मका पालन करो और विजयश्री प्राप्त करो—

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
(११।३३)

यहाँ भगवान्का आशय यही है कि मनुष्यको सदैव अपने कर्तव्य-पालनमें तत्पर रहना चाहिये। फलकी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

भगवान्ने भी जब देखा कि अर्जुन मेरे विराट्-रूपको देखकर डर गये हैं और अब ये अधिक समयतक मेरे इस 'तेज'को सह न सकेंगे, तब कृपालु प्रभु अपने प्यारे सखाके अनुरोधपर पुनः चतुर्भुज रूप हो मुस्कराते हुए बोले—'(सखे) अर्जुन! तुम डरो मत। मोहको प्राप्त न हो। मेरे चतुर्भुज-रूपको फिर देखो।' अर्जुन चतुर्भुज-रूपको देखकर आश्वस्त हुए तो भगवान्ने अपनी विशिष्ट कृपा उद्घाटित की—'हे अर्जुन! मेरा यह चतुर्भुज-रूप देखनेको अति दुर्लभ है। वेद, दान, तप, यज्ञ आदिसे भी यह नहीं देखा जा सकता। यह तो अनन्य-भक्तिसे ही देखा जा सकता है।'

विराट्-रूपका दर्शन कराकर भगवान्ने अर्जुनपर अभूत-पूर्व कृपा की। किसी नाटकमे भी पात्र अपना असली रूप नहीं बताता। यदि वास्तविक रूप प्रकट कर दिया जाय तो अभिनयकी सफलता ही संदिग्ध हो जाय। इसीलिये भगवान्ने अपना विराट्-रूप अनुग्रह करके दोषदृष्टिरहित अनन्य-भक्त अर्जुनको ही दिखाया, अन्य लोगोंको नहीं। आगे बारहवें अध्यायमें भगवान्ने अर्जुनके पूछनेपर सगुणोपासना-की श्रेष्ठतापर प्रकाश डाला।

गीताके तीन षट्कोंमें पहला कर्मका, दूसरा भक्तिका और तीसरा ज्ञानका प्रकरण माना जाता है। वैसे तो तीनों षट्कोंमें ही कर्म, भक्ति और ज्ञानयोगका वर्णन हुआ है, किंतु अन्तिम षट्कमें जितना ज्ञानका वर्णन है, उससे भी अधिक वर्णन पहले षट्कमें कर्मका हुआ और मध्य षट्कमें तो उपासना-का ही वर्णन सर्वाधिक है। इससे सिद्ध यही होता है कि गीतामें सर्वाधिक वर्णन भक्तियोगका ही हुआ है। बारहवें अध्यायके १९, तेरहवें अध्यायके ३४ और चौदहवें अध्यायके २०—कुल ७३ श्लोकोंमे उपासनाका प्रकरण चला है। इस लम्बे प्रकरण-में केवल भगवान् ही बोलते गये हैं, अर्जुन मात्र श्रोता रहे हैं। इसके पश्चात् अठारहवें अध्यायके ७१ श्लोक भी दोनों उपासनाओंके वर्णनमें ही कहे गये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्को उपासनाविषयक प्रसङ्ग रुचिकर लगता है; क्योंकि उपासना जीवोंका कल्याण करनेमें अत्यन्त सहायक है।

भगवान्ने इन श्लोकोंसे ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग—दोनोंका ही विवेचन विशद रूपसे किया है। भगवान्के इस वर्णनके पीछे उनका यह कृपा-भाव है कि मनुष्यमात्र किसी भी मार्गका अवलम्बन लेकर अपना कल्याण करे।

बारहवें अध्यायमे सगुणोपासनाका विवेचन करनेके पश्चात् भगवान्ने तेरहवें अध्यायमे अव्यक्त अक्षर निर्गुणको जानने और उसकी उपासनाका वर्णन करते हुए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको भली प्रकार जाननेका फल परमात्माकी प्राप्ति बताया। चौदहवें अध्यायमें प्रकृतिके कार्य गुणोंको लेकर मुख्यतः गुणातीतके लक्षण, आचरण और गुणातीत होनेके उपाय बताये और विशिष्ट अनुग्रहके रूपमे यह रहस्य उद्घाटित किया—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(१४।२६)

'जो अव्यभिचारी भक्तिरूप योगके द्वारा सदा मुझे भजता है, वह तीनों गुणोंका उल्लङ्घन करके ब्रह्ममें एकी-भावसे स्थित होनेके लिये योग्य होता है।'

पंद्रहवें अध्यायको तो भगवान्‌की महती कृपा ही कहा जा सकता है; क्योंकि एक तो भगवान्‌ने अर्जुनके बिना पूछे ही इसे आरम्भ किया, दूसरे सम्पूर्ण गीतामे एक यही अध्याय ऐसा है, जिसे भगवान्‌ने 'गुह्यतम शास्त्र'की संज्ञा दी है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥
(१५।२०)

भगवान्‌ने कृपा करके इस अध्यायमे अपना परम गोपनीय प्रभाव भली प्रकारसे कहा है। जो मनुष्य भगवान्‌को सर्वोत्तम समझ लेता है, फिर उसका मन एक क्षणके लिये भी भगवच्चिन्तनका त्याग नहीं कर सकता। जब मनुष्य भगवान्‌का प्रभाव भली प्रकार समझ लेता है, तब वह परमात्माकी शरण होकर उनकी कृपासे अन्ततः परमतत्त्वको पा लेता है।* (क्रमश)

भगवत्कृपाका भरोसा

(ब्रह्मलीन विरक्त संत श्रीगुलाबदासजी महाराज)

मनुष्य-जीवनका परम पुरुषार्थ है प्रभु-चरणोंमें पूर्ण समर्पण। अपने आपको सदाके लिये प्रभुमें स्थापित कर देना, उनकी कृपाके भरोसे ही रहना, उनकी ही आज्ञाका पालन करना—

एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास॥

प्रभुमें विश्वास और उनके चरणोंका आश्रय स्वीकार करतेही विषयोंसे उपरामता होने लगती है और अहंता-ममताके कारण जो भूल हुई है, वह भी उनकी कृपासे मिट जाती है। अहंता-ममताका अन्धकारपूर्ण आवरण भगवत्कृपाकी शक्तिसे छिन्न-भिन्न हो जाता है। यदि मनुष्य एक बार सच्चे हृदयसे प्रभुकी शरणमें चला जाय तो वे कृपालु उसकी भूलको भी क्षमा कर देते हैं। वस्तुतः उनका स्वभाव ही क्षमाशील है, अतः वे अपने प्रपन्नकी भूलपर ध्यान ही नहीं देते। वे भक्तवत्सल हैं। जैसे गौ अपने नवजात शिशुको स्नेहपूर्वक चाट कर उसे शुद्ध—निर्मल बना देती है, उसी प्रकार वे प्रभु अपने शरणापन्न भक्तोंके अवगुण ध्यानमें न लाकर अथवा कृपापूर्वक नष्ट करके, उन्हें (भक्तोंको) पवित्र-बना देते हैं। नृसिंह-अवतारमें भक्त प्रह्लादको जिह्वासे चाटकर अपूर्व कृपा-वर्षा की। शरणागतके लिये कृपापरवश प्रभु जब सेठ तथा दासीका रूपतक बना लेते हैं, उनकी कृपाद्वारा जहरसे अमृत बनना तो साधारण-सी बात है। नरसी मेहताके लिये वे (माहेरा) भरने सेठ बनकर प्रकट हुए। सखूबाईके लिये दासी-भावसे सारा कार्य करते हुए उन्होंने भक्तवत्सलताका अद्भुत स्नेहमय भाव प्रकट किया। मीराके लिये विषको अमृत बना दिया, कहाँतक गिनाएँ, उनकी भक्तवत्सलताके अनन्त आख्यान हैं। संतोंने कहा है कि—

राम भरोसो राखिये ऊणत नहीं काई। पूरणहारा पूरसी कलपो मत भाई॥

जबसे यह शरीर मिला है, सब व्यवस्था हो रही है। अतः संकल्प-विकल्पको त्यागकर सबके सहायक श्रीरामजीका भजन करना चाहिये—

जबसे यह बानक बना सब सूझ बनाई। 'दरिया' विकलप मेटके भजो राम सहाई॥

सभी प्रकारकी व्यवस्था करनेवाली हमारी सच्ची माँ है भगवत्कृपा। बच्चा (जीवात्मा) जब माँ (भगवत्कृपा) को भूलकर बाह्य विषयोंसे ही खेलने लगता है और अधिक- उत्पात करता है, तब कृपामयी माँ प्रतिकूल परिस्थितिरूपा लाठी दिखाकर उधरसे हटाती है। पुचकार एवं फटकार दोनों स्थितियोंमें बालक (भक्त) माँ (भगवत्कृपा) की गोदमें ही जाना चाहता है; क्योंकि उसे एकमात्र भरोसा माँ (कृपा) का ही है।

(प्रेषक—श्रीमाजी सा, रायपुरिया)

* इस लेखका शेषांश फरवरीके अ[illegible]।

विश्वास और भगवत्कृपा

जैसे अरुणोदयमात्रसे अमावस्याकी घोर निशाका नाश हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌का पूर्ण विश्वास होनेके पूर्व ही अर्थात् थोड़े ही विश्वाससे पाप-तापरूप तम नष्ट हो जाता है। मनुष्य तभीतक पापाचरण करता है और तभीतक संसारके विविध दुःखोंके दावानलमें दग्ध होता रहता है, जबतक कि उसका ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं होता। 'ईश्वर है'—इस विश्वाससे ही मनुष्य निर्विकार, निःशङ्क, निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। भगवान्‌पर विश्वास करनेवाला पुरुष इस बातको भलीभाँति जानता है कि भगवान् सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान्, परमदयालु, योगक्षेमवाहक, विश्वम्भर और परम सुहृद् हैं। ऐसी अवस्थामें वह काम, लोभ या भय आदि किसी कारणसे भी पाप नहीं करता। जब एक पुलिस-अधिकारीको देखकर मनुष्य विधान-विरुद्ध काम करनेमें हिचकता है, किसी सुयोग्य गुरुजनके सामने पाप करनेमें सकुचाता है, तब वह सबके स्वामी और परमगुरु भगवान्‌को सामने समझकर पाप कैसे कर सकेगा? जब भगवान् विश्वम्भर योगक्षेमका निर्वाह करनेवाले हैं, तब साधक अपने और परिवारके भरण-पोषणादिके लिये न्यायपथको छोड़कर पाप-पथपर क्यों जायगा? जब वह अपने परम सुहृद्, परम दयालु, सर्वशक्तिमान् परमात्माको सर्वव्यापीरूपसे सर्वत्र देखेगा, तब ऐसा कौन-सा ताप या भय है, जो उसे जला सकेगा या पापके मार्गमें ले जायगा? भगवद्विश्वासी पुरुष तो वस्तुतः ईश्वरकी ही दयापर भरोसा करनेवाला बन जायगा, उसे पद-पदपर, पल-पलमें भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव होता रहेगा।

जो भगवत्कृपापर निर्भर रहता है, वह किसी कालमें दुःखी नहीं हो सकता। वह तो प्रत्येक बातमें भगवान्‌का विधान समझकर और भगवान्‌के विधानको उनकी दयासे ओतप्रोत देखकर प्रफुल्लित होता रहता है। वह समझता है कि मेरे नाथने मेरे लिये जो कुछ विधान कर दिया है, वही परम कल्याणरूप है और वास्तवमें है भी ऐसा ही। उसकी बुद्धिमें ही यह भाव नहीं आता कि 'भगवान्‌का कोई विधान कभी जीवके लिये अमङ्गलरूप होता है।' मङ्गलमय भगवान् अपने अंश जीवका अमङ्गल कभी कर ही नहीं सकते। जब कभी वे किसीके लिये कोई दुःखका विधान करते हैं तो अत्यन्त ही दयाके वश हो, उसके कल्याणार्थ ही करते हैं। जैसे जननी अपने बच्चेके कल्याणके लिये कभी-कभी उसके साथ ऐसा व्यवहार करती है, जो बच्चेको बड़ा क्रूर प्रतीत होता है और वह भूलवश मातासे अप्रसन्न भी होता है, परंतु माता उसकी अप्रसन्नताकी कुछ भी परवाह न कर अपने उस व्यवहारको नहीं छोड़ती; क्योंकि उसका हृदय स्नेहसे भरा है, वह बच्चेका परम हित चाहती है। इसी प्रकार स्नेह-सुधाके असीम सागर भगवान्, जिनके स्नेहकी एक बूँदने ही विश्वकी सारी माताओंके हृदयोंमें पैठकर उनको अनादि-कालसे स्नेहमय बना रखा है, अपने प्यारे बच्चोंके लिये उनके हितार्थ ही दण्ड-विधान किया करते हैं। उनका दण्ड-विधान वैसा ही होता है, जैसे माता बच्चेको आगके समीप जानेसे रोककर उसे अलग कर देती है, नहीं मानता तो कभी-कभी उसे बाँध देती है। अथवा उसके हाथसे छूरी या और कोई ऐसी चीज, जो उसको हानि पहुँचानेवाली है और उसने मोहवश ले रखी है, बलात् छीन लेती है तथा बुरा आचरण न छोड़नेपर डराती-धमकाती है। भगवान्‌के विधानद्वारा मनुष्यमें विषय-भोगोंके योग्य शक्ति न रहना, विषयोंसे अलग होनेको बाध्य होना, विषयोंका हठात् छिन जाना या नाश हो जाना आदि कार्य इसी श्रेणीके हैं। वास्तवमें विषयभोग—दुनियाके धन-धाम, यश-कीर्ति, स्त्री-पुत्र आदि पदार्थ तो मनुष्यको नरकाग्निकी ओर ले जानेवाले हैं, जो इनमें रचता-पचता है, वह दुःख-दावानलमें दग्ध होनेसे नहीं बच सकता। भला, भगवान् जो हमारे परम सुहृद् और परम हितैषी हैं, हमें वे वस्तुएँ क्यों देने लगे? और क्यों हमें इनमें आसक्त रहनेकी स्वतन्त्रता प्रदान करने लगे?

जो लोग केवल इन वस्तुओंकी रक्षा और प्राप्तिमें ही भगवान्‌की कृपा समझते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। ये वस्तुएँ तो हमें संसार-सागरमें डुबानेवाली हैं, दयालु भगवान् हमें संसार-समुद्रमें ढकेलनेके लिये इनको कैसे दे सकते हैं? माता क्या कभी प्यारी संतानको जान-बूझकर आरम्भमें मीठे लगनेवाले जहर-भरे लड्डू दे सकती है? क्या कभी उसे सोनेकी पिटारीमें रखकर काला नाग (सर्प) दे सकती है? क्या कभी उसे लाल-लाल लपटोंवाली आगमें झोंक सकती है? फिर भगवान् हमें ये विषय-भोग देकर ऐसा क्यों

करेंगे ? इसीलिये जब ये विषय नहीं रहते, जब विषय-नाशरूप सांसारिक दृष्टिका कोई दुःख आता है, तब भगवान्‌के विश्वासी भक्तोंका चित्त हर्षसे नाच उठता है, वे उसको भगवत्कृपासे ओतप्रोत देखकर, उसमे भगवत्कृपाकी माधुरी मूर्तिके दर्शनकर शिशुकी भाँति उसको जोरसे पकड़ लेते हैं। उसमे उन्हें बड़ा आनन्द मिलता है, इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव तब होता है, जब हम दुःख आनेपर भगवान्‌की बड़ी भारी कृपा मानते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान्‌से सासारिक वस्तु माँगनेवालोको भगवत्कृपा नहीं मिलती। मिलती है; क्योंकि प्रत्येक वस्तु आती है उन्हींके भण्डारसे, परंतु ऐसी चीजोंके माँगने-वाले गल्ती करते हैं। भगवान्‌पर ही आस्था रखनेवाले विश्वासी अर्थार्थी-भक्त यदि कोई ऐसी वस्तु माँगते हैं तो भगवान् उन्हे दे देते हैं और फिर उसी तरह उसकी सँभाल भी करते हैं, जैसे माता छोटे शिशुके हठ पकड़ लेनेपर उसे चाकू दे देती है, पर कहीं लग न जाय, इस बातकी ओर सतर्क दृष्टि भी रखती है। भगवान्‌की कृपाके रहस्यको जाननेवाला सच्चा निर्भर भक्त तो ऐसी वस्तुएँ माँगता ही नहीं, माँग भी नही सकता। उसकी दृष्टिमे इनका कोई मूल्य ही नहीं रहता। वह तो भगवान्‌की इच्छामे ही परम सुखी होता है। कभी माँगता है तो बस, यही माँगता है—'हे भगवन्! मैं सदा आपके इच्छानुसार बना रहूँ, आपकी इच्छाके विपरीत मेरे चित्तमे कभी कोई वृत्ति ही न उदय हो।' भगवान् मङ्गलमय हैं, उनकी अनिच्छामयी इच्छा भी कल्याणमयी है, अतएव इस प्रकारकी प्रार्थना करनेवाला भक्त भी मङ्गलमयी इच्छावाला अथवा सर्वथा इच्छारहित—निःस्पृह बन जाता है। वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें ही लगा रहता है और उसीमे उसको शान्ति मिलती है, थोड़ी देरके लिये भी यदि किसी कारणवश भगवान्‌का विस्मरण हो जाता है तो वह उस मछलीसे भी अनन्तगुना अधिक व्याकुल होता है, जो जलसे अलग होते ही छटपटाने लगती है। वह संसारमें सर्वत्र, सब ओर, सब समय अपने प्रभुकी मुनि-मनोमोहिनी छविको देखता और पल-पलमे पुलकित होता रहता है। सारा विश्व उसे अपने प्रभुसे भरा दीखता है। वह सबको सुख पहुँचाता है। किसी भी वेषमे आये हुए पिताको पहचान लेनेपर जैसे सुपुत्र उसका अपमान और अहित नहीं कर सकता, उसे किंचित् भी दुःख नहीं पहुँचा सकता, इसी प्रकार भक्त संसारके प्रत्येक जीवके वेषमें अपने प्यारेको पहचानकर उनका सत्कार और हित करता है तथा प्राणपणसे सुख पहुँचानेकी ही चेष्टा करता है।

'जापै राम राजी होत करिकैं कृपाकी कोर'

(रचयिता—ठा० श्रीरणवीरसिंहजी शक्तावत 'रसिक')

जापै राम राजी होत करिकैं कृपाकी कोर,
राजी होत तापै नर-अमर तमाम ही,
होत बल-बुद्धि-ज्ञान-सागर उजागर सो,
नागर-गुनागर कहात ठाम-ठाम ही।
हाथ मैं हमेस विजै-लच्छमी रहत बनी,
सहज सफल होत ताके सब काम ही,
जग में 'रसिक' ताके जसके पताके उरि,
पार सविताके जाइ होत चिरनाम ही॥

शरणागति और भगवत्कृपा

(लेखक—स्वामी श्रीसनातनदेवजी महाराज)

कृपा प्रभुका स्वभाव है। स्वरूप भी कहा जाय तो अनुचित न होगा। भगवान्के निज-जन कहते हैं—'प्रभु-मूरति कृपामई है।' कृपाके सिवा भगवान्मे और कुछ है ही नहीं। जो और कुछ-सा दिखायी देता है, वह भी कृपाका ही विलास है। उनके प्यार और मार—दोनों ही कृपामय हैं। माँ बच्चेको डाँटती और मारती भी है; किंतु क्या उसकी मारमे प्यार नहीं है ? माँ तो अल्पशक्ति और अल्पज्ञ है; इसलिये सम्भव है, उसकी मारमे कोई प्रति-शोधका अंश और प्यारमे स्वार्थकी गन्ध रह जाय; परंतु प्रभु तो सर्वसमर्थ और सर्वज्ञ हैं, उन्हें किसीसे कुछ भी पाने या लेनेकी अपेक्षा नहीं रह सकती। अतः वे जो भी विधान करते हैं, वह आपातदृष्टिसे भले ही भयावह और असह्य जान पड़े, परंतु उसमे जीवका हित-ही-हित भरा रहता है। उनका कोई भी विधान जीवके अहितका कारण हो—यह सम्भव नहीं है।

किंतु क्षुद्र जीव प्रभुकी इस अनवरत बरसती हुई कृपाका आकलन नहीं कर पाता। उसने अपनेको इस देह-गेहकी संकुचित परिधिमे ऐसा बाँध दिया है कि उसे अपनी अल्प-मतिके अनुसार जो अपने अनुकूल दीखता है, उसमें प्रभुकी कृपा और जो प्रतिकूल जान पड़ता है, उसमें उनका कोप दिखायी देता है; परतु वह बेचारा यह नहीं जानता कि प्रभुका कोप भी कृपाका ही विलास है—

'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः।'

(पाण्डवगीता २३)

हो सकता है उस (कोप) से उसके इस पार्थिव-शरीरकी कोई क्षति या कोई आर्थिक संकट उपस्थित हो जाय और समाजमें उसे नीचा देखना पड़े, परंतु यह सब होनेपर भी प्रभुके कृपाकोपद्वारा उसका वास्तविक मङ्गल ही सम्पादित होता है। उसे यह विचारना चाहिये कि उसके पास जो कुछ है, वह सब प्रभुका ही तो दिया हुआ है। स्वेच्छासे या स्वप्रयत्नसे तो उसने कुछ भी प्राप्त नहीं किया। यदि उसे ऐसा लगता है कि मैंने अमुक वस्तु या अमुक परिस्थिति अपने पुरुषार्थसे प्राप्त की है तो उसे सोचना चाहिये कि उस पुरुषार्थकी शक्ति, योग्यता और प्रेरणा भी क्या उसने स्वयं ही उपार्जित की थी, क्या वे किसीकी देन नहीं हैं ? अतः जो शक्तिके स्रोत और प्रेरणाके प्रदीप हैं, वे परम उदार प्राणाधार ही वास्तवमें सब कुछ देते हैं, वे ही देते रहे हैं और वे ही देते रहेंगे। वे इतने उदार हैं कि आप उनकी देन स्वीकार नहीं करेंगे तो भी वे देना बंद नहीं करेंगे, आप उनकी सत्ता स्वीकार नहीं करेंगे तो भी वे कुपित नहीं होंगे और आप उनसे विरोध करेंगे तो भी वे आपका अहित नहीं करेंगे। इस प्रकार आपका काम तो उन्हें स्वीकार न करनेपर भी चलता रह सकता है, परंतु फिर काम ही चलेगा, राम नहीं मिलेगा। उनके पवित्र प्रेम और उदार आश्रयमें जो अनुपम रस, शान्ति और निश्चिन्तता हैं, उनसे आप वञ्चित ही रह जायँगे। ऐश्वर्य तो रावण, हिरण्यकशिपु और कंसका भी कम नहीं था; परंतु विभीषण, प्रह्लाद और उग्रसेनको जो भक्ति-रस और भगवत्संरक्षण प्राप्त था, उससे तो वे वञ्चित ही रहे।

इस प्रकार यद्यपि भगवत्कृपा अहैतुकी और सार्वभौम है, तथापि उसकी अनुभूति उन्हींको होती है, जो अपना कुछ न मानकर सब प्रकार प्रभुके शरणापन्न हो जाते हैं।

कामनाओंका जाल जीवको स्वार्थ और मोहमें फँसाये रखता है। उनके कारण उसकी दृष्टि अत्यन्त कुण्ठित हो जाती है और वह भगवत्कृपाका दर्शन करनेकी क्षमता खो बैठती है। यदि प्राणी कामनाओंको छोड़कर भगवद्विधानमें संतुष्ट रहनेका स्वभाव बना ले तो पद-पदपर उसे भगवत्कृपाका दर्शन होगा। कामना ही चित्तकी अशुद्धि है। जब इस मलका मार्जन हो जाता है, तब हृदय-दर्पण शुद्ध हो जाता है और उसमे भगवान्के कर्तृत्वका स्पष्ट आभास पड़ने लगता है। इससे शनैः-शनैः अपने कर्तृत्वकी भ्रान्ति विलीन होने लगती है और फिर कर्तृत्वके साथ कर्ताका भी लोप हो जाता है। कर्ताका न रहना ही अहंताकी निवृत्ति है और अहंताकी निवृत्ति ही सच्ची शरणागति है। शरणागतकी अपनी कोई सत्ता नहीं रहती। फिर वह न रहकर उसके प्रभु ही रह जाते हैं। इससे पहले तो शरणागतिकी भावना ही होती है। यद्यपि वह भी साधनरूप होनेसे श्रेयस्कर ही है। ममता तो इससे पहले ही समर्पित हो जाती है।

अहंताकी निवृत्ति ही शरणागतिकी पूर्ति है। ऐसे शरणागतका अपना कुछ नहीं रहता। वह कर्म और भोग—दोनोंसे असङ्ग हो जाता है। उसे सब कुछ अपने प्रभुका लीला-विलास ही जान पड़ता है। वह स्वस्वरूपसे उसका तटस्थ प्रेक्षक या साक्षीमात्र रहता है और देहदृष्टिसे अपने प्रियतमके हाथका खिलौना। खिलौनेका प्रयोजन अपने खिलाड़ीका मनोरञ्जन ही होता है, अपने लिये उसे कुछ नहीं चाहिये। अतः ऐसे महापुरुष अपने प्राणप्रेष्ठको रस प्रदान करते हैं और बदलेमें कुछ नहीं चाहते। भगवान्‌को उनकी ही आवश्यकता होती है और भगवान् उन्हींके अधीन कहे जाते हैं। यद्यपि भगवान् आप्तकाम हैं, तथापि ऐसे भक्तोंके प्रीति-रसका आस्वादन करनेके लिये वे सकाम हो जाते हैं। उन्हींकी दृष्टिसे भगवान् 'भक्तभक्तिमान्' कहे जाते हैं। यही है जीवनकी चरम परिणति और मानव-जन्मकी सफलता। ऐसे भक्त ही मुक्तिका तिरस्कार करते हैं। उन्हें पाकर मुक्ति 'मुक्त' हो जाती है। ऐसे मोक्ष-संन्यासी महापुरुषोंके चरणस्पर्शसे वसुंधरा पुण्यवती हो जाती है और तीर्थोंको तीर्थत्व प्राप्त होता है।

ऐसे महापुरुष ही भगवत्कृपाका ठीक-ठीक आकलन कर सकते हैं। उन्हें सृष्टिके कण-कणमें और जीवनके क्षण-क्षणमें भगवत्कृपाके ही दर्शन होते हैं। उनकी दृष्टिमें कृपा ही भगवान्‌का स्वरूप होता है और सम्पूर्ण प्रपञ्च उस कृपा-शक्तिका ही विस्तार जान पड़ता है। उनके द्वारा जो कुछ भी होता है, वह सब भगवान्‌की कृपा-शक्तिका ही लीला-विलास होता है। भगवत्कृपासे भिन्न उनका अपना भी कोई अस्तित्व नहीं होता। अतः उनके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, वह सर्वमङ्गलकारिणी ही होती है। उन्हें आधार बनाकर प्रभु ही लोक-कल्याण करते हैं। वे प्रभुके लीला-विलासका रसास्वादन करते हैं और प्रभु उनके प्रीति-रसका पान करते हैं। दोनों ही अलौकिक और चिन्मय हैं। यही है प्रेमी और प्रियतमका चिन्मय नित्य-विहार।

भगवत्कृपा एवं शरणागति

(रचयिता—श्रीकेशवदेवजी शास्त्री 'केशव')

भगवत्कृपा भक्तिसे होती, भक्त शान्ति-गति लाते हैं।
शरणागत-भक्तोंकी सद्गति, वेद-पुराण सुनाते हैं॥
शरणागत आये जो प्रभुके, सबने संकट ढाया है।
ध्रुव, प्रह्लाद, अजामिल, गणिका, सबने गौरव पाया है॥
भारई के अण्डे भारतमें, घण्टा टोर बचाये हैं।
जौ भर सूँड़ उबारा गज को, प्रभु नंगे पद धाये हैं॥
द्रुपद सुता की टेर सुनी जब, साड़ी-वास बनाया था,
लंकापति बन गया विभीषण, शरण-प्रताप बताते हैं॥ भगवत्कृपा०॥
कर्मठ बनो, करो पुरुषारथ, लोकलाभ निष्ठा लाओ।
प्रातः सायं प्रभु चिंतन कर, भगवद्—भक्ति हृदय लाओ॥
जब आश्रय होगा प्रभु-पदका, सात्त्विक भक्ति सुहायेगी।
शरणागति होगी जब प्रभुकी, पावन मनगति लायेगी॥
भगवत्कृपा बिना मानव ना, वांछित फल ला सकता है,
भगवच्छरणागति-प्रतिमा से, पुरुष-प्रदीप जगाते हैं॥ भगवत्कृपा०॥

युगल-उपासनामें कृपा-रहस्य

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी महाराज)

युगलचरण-कृपा-पात्र प्रातःस्मरणीय श्रीगोस्वामीजी महाराजने श्रीसीतारामजीकी तात्त्विक एकताका बड़ा ही सटीक वर्णन किया है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥
(मानस १ । १८)

'श्रीसीताजी और श्रीरामजी वाणी और अर्थ, जल और जलकी तरंगके समान कहनेमे तो भिन्न-भिन्न हैं, पर (तत्त्वतः) भिन्न नहीं हैं। मैं उनके चरणोंकी वन्दना करता हूँ, जिन्हे दीन परम प्यारे हैं।'

'वाणी' और 'अर्थ' तत्त्वतः एक हैं। मान ले 'पय' वाणी है तो 'दूध' इसका अर्थ है। इसमे 'पय' और 'दूध' एक ही वस्तु हैं; उसी प्रकार 'जल' और 'जलकी लहर'—दोनों जल-रूपसे एक वस्तु हैं, इसी प्रकार श्रीसीताजी और श्रीरामजी एक ही हैं। दोनों मिलकर एक अखण्ड ब्रह्मतत्त्व हैं। 'गिरा अरथ' मात्र कहा गया होता तो 'गिरा' स्त्रीलिङ्ग है, इससे 'अरथ' प्रकट होता है। अतः श्रीसीताजी कारण और पुॅंल्लिङ्ग पद 'अरथ' रूप श्रीरामजी कार्य समझे जाते। ऐसे ही 'जल' पुॅंल्लिङ्ग है, इसलिये श्रीरामजीके लिये है और 'बीचि' पद स्त्रीलिङ्ग है, इस कारण श्रीसीताजीके लिये है। जलसे बीचि प्रकट होती है। अतः श्रीरामजी कारण और श्रीसीताजी कार्य समझी जाती। दो बार हेर-फेर कर कहनेमे दोनों रूपोंमे कार्य-कारणका निषेध किया गया है।

श्रीभरतजीने भी दोनोका अन्तर्यामित्व साथ-साथ कहा है—

'अन्तरजामी रामु सिय‥‥।' (मानस २ । २५६)

लीला-व्यापारमे भी श्रीजी सदा सहायिकारूपमे श्रीहरिके साथ रहती हैं—

एवं यदा जगत्स्वामी देवदेवो जनार्दनः।
अवतारं करोत्येषा तदा श्रीस्तत्सहायिनी॥
राघवत्वेऽभवत् सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि।
अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी॥
देवत्वे देवदेहेऽयं मनुष्यत्वे च मानुषी।
विष्णोर्देहानुरूपां वै करोत्येषाऽऽत्मनस्तनुम्॥
(श्रीविष्णुपु० १ । ९ । १४२, १४४-१४५)

अर्थात् 'इस प्रकार संसारके स्वामी देवाधिदेव श्रीविष्णु-भगवान् जब-जब अवतार धारण करते हैं, तब-तब श्रीलक्ष्मीजी उनके साथ रहती हैं। श्रीहरिके श्रीराम होनेपर ये श्रीसीता-जी हुईं और श्रीकृष्णावतारमे श्रीरुक्मिणीजी हुईं। इसी प्रकार अन्य अवतारोंमें भी ये भगवान्‌से कभी पृथक् नहीं होती। भगवान्‌के देवरूप होनेपर ये दिव्य शरीर धारण करती हैं और मनुष्य होनेपर मानवीरूपमे प्रकट होती हैं। विष्णुभगवान्‌के अनुरूप ही ये अपना शरीर भी बना लेती हैं।'

शङ्का—उपर्युक्त विवेचनके अनुसार श्रीसीताजी और श्रीरामजी—दोनो एकरूप (ब्रह्म) ही हैं, फिर—

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥
(मानस १ । १५१ । २)

श्रीसीताजीको 'माया' कहकर भिन्न बतानेका क्या कारण है ?

समाधान—(क) जैसे श्रीरामजीके अंशसे नाना त्रिदेव उत्पन्न होते हैं, वैसे ही श्रीसीताजीके अंशसे उन त्रिदेवोंकी शक्तियाँ (मायाएँ) प्रादुर्भूत होती हैं और फिर यह भी प्रमाण है कि—

'माया सब सिय माया माहूँ।' (मानस २ । २५२ । २)

सभी मायाएँ श्रीसीताजीकी मायामे हैं। इस प्रमाणसे सृष्टिकी उत्पत्तिकी मुख्य कारणरूपा मूलप्रकृति भी श्रीसीताजीकी इच्छासे प्रादुर्भूत होती है। यथा—

'यत्कटाक्षेण वै जाता मूलप्रकृतिसंज्ञिता।'

अर्थात् जिन श्रीसीताजीके कटाक्षसे मूलप्रकृति उत्पन्न हुई है, वे ही माया जगत्-रचनामे कारण हैं। इसीलिये ऊपर श्रीसीता-जीके प्रति 'जग उपजाया' आदि कहा गया है। श्रीराम-जीकी सृष्टि-इच्छा होनेपर आप अपने कटाक्षसे मूलप्रकृति (माया)के माध्यमसे जगत्-रचना आदि करती हैं, इससे श्रीरामजीने इन्हें अपनी माया कहा है। अन्यत्र भी—

‥‥‥‥‥‥‥‥‥‥‥‥‥‥'माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥
(मानस २ । १२५ छन्द)

अर्थात् हे कृपानिधान! श्रीजानकीजी आप (श्रीरामजी) की माया (आदिशक्ति) हैं, वे आपका रुख पाकर जगत्को रचती, पालती और संहार करती हैं। सृष्टि-रचना जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही होती है, इसलिये यहाँ प्रभुको 'कृपानिधान' कहा गया है।

त्रिगुणात्मिका माया जड है, वह अचित्-तत्त्वके नामसे कही जाती है। श्रीसीताजी वह माया नहीं हैं, प्रत्युत चिद्रूपा हैं—

'हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकारया चिता।'

(रामतापनीयोप० पू० २७)

'विश्वमूला, विश्वमाता, स्वर्णवर्णा और चिद्रूपा, सुन्दरी, दिव्य रूपवाली श्रीसीताजी एकान्तमें विराजमान हैं'—

एकान्तेऽवहितां सीतां दिव्यरूपां मनोरमाम्।
विश्वाद्यां विश्वजननीं स्वर्णरूपां चिदात्मिकाम्॥

(सुन्दरीतन्त्र, प्रथम-पटल)

अयोध्याधिपति श्रीरामजी परब्रह्म हैं और उनकी अर्धाङ्गिनी श्रीसीताजी ज्ञानमय-विग्रहवाली कही गयी हैं—

योऽसावयोध्याधिपतिः स परब्रह्मशब्दितः।
तस्य या जानकी देवी साक्षात्सा चिन्मयी स्मृता॥

(पद्म० पाताल० रा० २९। ६३)

श्रीजानकीजीमें 'कृपा'-गुणकी प्रधानता है। कृपाका पर्याय माया शब्द भी है—

'माया दम्भे कृपायां च।'

अर्थात् 'माया' पद कृपा और दम्भके अर्थमें आता है, इस कोष-प्रमाणसे कृपारूप गुणकी प्रधानतासे भी श्रीसीताजीको माया कहा जाता है, जैसे आनन्द-गुणकी प्रधानतासे ब्रह्म 'आनन्द' नामसे कहा जाता है।

श्रीजानकीजी कृपामयी हैं और श्रीरामजी परम कृपालु हैं। फिर यह भी लिखा गया है कि श्रीरामजीका रुख पाकर श्रीजानकीजी जगत्-रचना करती हैं। प्रश्न उठता है, संसार तो दुःखमय है, इससे मुक्त होकर ही जीव सुखी होते हैं, ऐसे दुःखमय संसारकी रचना इन्होंने क्यों की?

रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड (दो० ७७—८२)में विद्या-मायाके द्वारा काकभुशुण्डिजीके प्रति इसका रहस्य प्रकट किया गया है। वहाँ श्रीरामजीने मायाद्वारा अपने उदरमें ले जाकर अनन्त कालतक करोड़ों ब्रह्माण्डोंका भ्रमण कराया, उनमेंसे एक-एक ब्रह्माण्डमें एक-एक सौ वर्ष काकभुशुण्डिजीका रहना हुआ था। जब कृपालु श्रीरामजीने उनको श्रमित एवं प्रेममें व्याकुल देखा, तब हँसकर उन्हें बाहर निकाल दिया। बाहर आनेपर काकभुशुण्डिजीको जान पड़ा कि यह सब दृश्य तो मैंने दो ही घड़ीमें देखे हैं।

इस कौतुकका पारमार्थिक रहस्य यह है कि श्रीरामजीने हँसकर काकभुशुण्डिजीपर माया प्रेरित की है, अतः उनकी हँसी मायामूलक है—

'माया हास बाहु दिगपाला।' (मानस ६। १४। ३)

हँसना प्रसन्नतासे होता है, जिसपर प्रभु प्रसन्न होते हैं, उसपर कृपा करके अपनी विद्या-माया प्रेरित कर उसके द्वारा उसे अपने ऐश्वर्यका ज्ञान कराते हैं। वह माया भगवान्के शरीरमें अनन्त ब्रह्माण्डोंका ज्ञान कराती है।

श्रीकौसल्याजीको ऐश्वर्य दिखानेमें भी उन्होंने हँसकर ही लीला प्रारम्भ की है, यथा—

'प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥'

(मानस १। २००। ४)

'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।'

(मानस १। २०१)

इस ऐश्वर्य-ज्ञानसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत् भगवान्का शरीर है, वे अपने विविध अङ्ग-रूप चराचर जीवोंका उनके कर्मानुसार पारस्परिक सम्बन्धोंसे पालन करते हैं। सभी उनके शरीर हैं, अतएव (हस्त-पाद आदि सेवक-रूप अङ्गोंके समान) सभी जीव अपने शरीरी भगवान्के सेवक हैं, अतः सबको उन श्रीहरिका ही भजन करना चाहिये।

तात्पर्य—भगवान् अपनी संतानोंको दो घड़ीसे अधिक पृथक् नहीं रहने देते। दो ही घड़ीमें अनन्त काल एवं अनन्त ब्रह्माण्डोंका चक्कर लगवाकर संसारकी विलक्षणता दिखा, इनका अपनेमें गाढ़ प्रेम उत्पन्न कर फिर इन्हें अपने पास बुला लेते हैं। त्रिपाद्-विभूतिमें जीवोंकी स्वाभाविक स्थितिसे उन्हें विशेष सुख देनेके लिये श्रीसीतारामजी इस जगत्की रचना करके उन जीवोंको उनके अनादि कर्मानुसार घुमाते रहते

हैं। जैसे माता बच्चेको अधिक सुख देनेके लिये शय्यापर शयन करा देती है कि बच्चा सोकर उठेगा, फिर इसे भूख लगेगी, तब मैं इसे दूध पिलाकर विशेष सुखी करूँगी। इससे मेरा बच्चा विशेष प्रसन्न एवं पुष्ट होगा। बच्चा (शिशु) प्रायः दो ही घड़ी सोता है। उसके अधिक विलम्बतक सोते रहनेपर माता चिन्तित हो उसको जगानेका प्रयत्न करती है।

लीला-व्यापार विशेषकर माता श्रीजानकीजीके द्वारा होता है, इसीसे इन्हें 'जग-उपजाया' आदि कहा गया है। प्राणियोंका मोहवश होना, उनका सोना और नानात्वरूप जगत्के व्यवहारोंका अनुभव करना—उस निद्रामे उनका स्वप्न देखना है।

नित्य-धामकी दो ही घड़ियोंमे जीव यहाँके सैकड़ों कल्पोंका चक्कर लगा लेता है। फिर माता श्रीसीताजी ही चिन्तित हो अपनी अंगभूता मूलप्रकृतिके द्वारा इसे जाग्रत् होनेकी प्रेरणा करती है।

श्रीजानकीजीको प्रसन्न करनेके लिये किसी साधनकी आवश्यकता नही है; क्योंकि माताकी अपनी संतानपर स्वभावतः कृपा होती है, अतः आप निष्कारण प्रसन्न होकर आश्रितकी रक्षा करनेवाली हैं।

देखिये, भगवान् श्रीरामजीने प्रतिज्ञा करते हुए कहा है—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।'

(वा०रा० ६ । १८ । ३३)

अर्थात् दीन होकर 'मैं आपका हूँ'—यह याचना करते हुए। इसमे मुमुक्षुके लिये भगवान्की शरण होनेकी एक क्रिया है, परंतु श्रीजानकीजीने ऐसी किसी भी क्रियाकी अपेक्षा नहीं रखी, वे अपने मातृस्वभावसे स्वतः चिरकालसे पड़े हुए अपराधी जीवोंको श्रीहरि-शरणागतिका अधिकारी होते न देखकर वात्सल्यवश उनका पुरुषकारत्व ही करती हैं।

श्रीजानकीजीने घोर अपराधी जयन्तकी और अत्यन्त दुःखदायिनी राक्षसियोंकी भी रक्षा क्रमशः श्रीरामजीसे और श्रीहनुमान्जीसे करवायी। ये सब श्रीजानकीजीके ही अपराधी थे। इनके प्रति भी उनके हृदयमे इस प्रकारकी कृपा थी, तब और आश्रित प्राणियोंके प्रति कृपा करनेके विषयमें तो कहना ही क्या है? अतः युगल-उपासनामे श्रीजानकीजीकी कृपा अत्यन्त सुलभ है।

माताएँ स्वामीके द्वारा ही सतानोकी रक्षा करवाती हैं। इसी रीतिसे मुमुक्षुओंका परम कल्याण होता है।

श्रीरामजीके साथ प्रथम श्रीसीताजीकी उपासना करनी चाहिये। श्रीसीताजी निर्हेतुकी, क्षमामयी एवं कृपामयी हैं। वे प्रथम उपासित होनेपर आश्रितोंके दोषोंको क्षमा कर उनपर कृपा करती हैं। फिर अपने स्वाभाविक पुरुषकारत्वसे स्वामी श्रीरामजीमे भी वैसी ही क्षमा एवं कृपाकी वृद्धि करती है।

जब श्रीसीताजी प्रसन्न हो अपने स्वभावानुसार स्वामी-को अनुकूल कर (उक्त रीतिसे) उनमे भी निर्हेतुकी क्षमा एवं कृपा उद्दीप्त करती हैं, तब बद्ध जीवोंके पापोको दिखानेवाली स्वामीकी सर्वज्ञता एव सर्वज्ञतासे देखे हुए दोषोंके प्रति उन्हे दण्ड देनेमे प्रवृत्त करनेवाली उनकी सर्वशक्तिमत्ता—ये दोनों निरुपम रह जाती हैं। जीव अधिकारी सिद्ध होकर कृतकृत्य हो जाता है।

इस प्रकार युगल-स्वरूपकी एकता, इनके सम्बन्ध एव स्वभावका तत्त्व, रहस्य आदि समझते हुए उपासकोंको इनकी उपासना करनी चाहिये।

'समर्थ राम कृपालु हो'

समर्थ राम कृपालु हो, दाता वड़े दयाल।
किरपा लघु दीरघ करो, निर्धन करण निहाल॥
निर्धन करण निहाल, हरो विपदा दे समना।
निबल सबल कर ल्योह, मूक मूढ़ करिहौ बकता॥
'रामचरण' कह रामजी! यह तुम्हारी चाल।
समर्थ राम कृपालु हो, दाता वड़े दयाल॥

—श्रीरामचरणजी महाराज

भगवान् शंकरका कृपा-वैभव

आहुकापर कृपा [पृष्ठ ३९२

बालक नभगपर कृपा [पृष्ठ ३९३

२— उपमन्युपर कृपा [पृष्ठ ३९४

अर्जुनपर कृपा [पृष्ठ ३९५

भगवती जगदम्बाका कृपा-कटाक्ष

महिषासुर-उद्धार [पृष्ठ ३९७

देवी कौशिकी एवं कालिकाका प्राकट्य [पृष्ठ ३९७

बालक सुदर्शनपर कृपा [पृष्ठ ३९८

बालिका शशिकलापर कृपा [पृष्ठ ३९८

श्रीजानकीजीकी अहैतुकी कृपा

(लेखक—स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज)

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी प्राणवल्लभा जगज्जननी श्रीजानकीजीकी अहैतुकी कृपाका शास्त्रोंमे सर्वत्र विशद वर्णन हुआ है। 'श्रीगुणरत्नकोश'मे स्वामी श्रीपराशर भट्ट कहते हैं—

मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता।
काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः
सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी ॥
(०५)

'हे माता मैथिलि! राक्षसराजपुरी लंकामे अपने विषयमे नित्य-नवीन अपराध करनेवाली उन राक्षसियोंकी विना शरणागति ग्रहण किये ही उनपर रुष्ट श्रीहनुमान्‌जीसे अनेक हेतुदर्शक वाक्योंद्वारा रक्षा करके आपने रघुकुलभूषण श्रीराघवेन्द्रकी क्षमामयी सभाको अत्यन्त लघु कर दिया, क्योंकि श्रीराघवेन्द्रने तो जयन्त तथा विभीषणकी 'मै आपका हूँ'—इस प्रकार शरणागति ग्रहण करनेपर रक्षा की, किंतु आप अपने क्षमागुणकी प्रबलतासे शरणागतिकी अपेक्षा न करके केवल अहैतुकी कृपासे ही रक्षा करती हैं, आपकी वह अहैतुकी क्षमा हमारे-सदृश महान् अपराधियोंको सुखी करे।'

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायणके एक प्रसङ्गके अनुसार त्रिजटाने जब श्रीराम-विजय-सूचक स्वप्नका दर्शन किया, तब उसने सब राक्षसियोंसे कहा—'श्रीराघवेन्द्र-द्वारा राक्षसोंको घोर भय उपस्थित हुआ है, अतः श्री-विदेहनन्दिनीसे हम सब क्षमाकी याचना करें। यद्यपि हम-लोगोंने श्रीवैदेहीकी बहुत ही भर्त्सना की है, किंतु श्रीमैथिली केवल प्रणाममात्रसे ही प्रसन्न होती हैं, महान् भयसे रक्षाके लिये हम सब राक्षसियोंके उनके प्रति प्रणतिमात्र ही पर्याप्त है।' राक्षसियोंका यह विचार स्वगोष्ठीगत ही रह गया। उन्होंने श्रीविदेहनन्दिनीको प्रणाम नहीं किया—

भर्त्सितामपि याचध्वं राक्षस्यः किं विवक्षया।
राघवाद्धि भयं घोरं राक्षसानामुपस्थितम्॥
प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा।
अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात्॥
(५। २७। ८५-८६)

अनेक जन्मोंके सुकृत उदय होनेपर ही भगवान्‌के श्रीचरणोंमे जीवका मस्तक झुकता है। रजोगुणकी अधिकता तथा पुण्यके अभावके कारण ही राक्षसियोंके मस्तक श्री-जानकीजीके चरणोंमे नहीं झुके। जब राक्षसियोंके मुखसे श्री-मैथिलीने श्रीराम-विजय सूचक स्वप्न श्रवण किया, तब अपनी ओरसे ही उन्होंने उन राक्षसियोंसे कहा—'यदि वास्तवमे मेरे प्रियतम विजयी होंगे तो सब प्रकारसे मैं तुमलोगोंकी रक्षा करूँगी'—

ततः सा ह्रीमती बाला भर्तुर्विजयहर्षिता।
अवोचद् यदि तत्तथ्यं भवेयं शरणं हि वः॥
(वा० रा० ५।२७।५४)

श्रीजानकीजीके इस अभयदानकी सार्थकता युद्धकाण्ड-मे हुई। जब दुष्ट रावणका वध हो चुका, तब प्रभुका विजय-संदेश सुनानेके लिये श्रीमैथिलीके समीप श्रीहनुमान्‌जी पधारे। श्रीहनुमान्‌जीसे विजय-संदेश श्रवणकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुईं। प्रसन्नताके कारण उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। श्रीहनुमान्‌जीने पूछा—'मैंने श्रीराघवेन्द्रका विजय-संदेश सुनाया, किंतु आप मुझसे बोल क्यों नहीं रही हैं?' श्री-मैथिलीने उत्तर दिया—'आनन्दातिरेकके कारण मेरा कण्ठ रुँध गया है तथा इससे सुन्दर कोई प्रत्युत्तर (कहनेयोग्य वचन) मेरे पास है नहीं, पृथ्वीके समग्र स्वर्ण-रत्नादि एवं तीनों लोकोंका साम्राज्य भी इस वचनके ऊपर न्यौछावर किये जायँ तो भी इस वचनके योग्य नहीं होंगे।'

अन्तमे श्रीहनुमान्‌जीने हाथ जोड़कर विनम्र-भावसे श्रीमैथिलीसे प्रार्थना की—'हे जनकनन्दिनि! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं इन राक्षसियोंका वध कर दूँ; क्योंकि इन्होंने आपको बहुत ही कष्ट दिया है। वास्तवमे ये सभी घोररूपा एवं दुष्ट आचरण करनेवाली हैं।' इस प्रकार हनुमान्‌जीकी प्रार्थनापर यशस्विनी श्रीजनकनन्दिनी आश्रित-रक्षणरूप परमधर्मसे युक्त वचन बोलीं—'हे वानरराज! राजा-की सेवाके परवश राजाज्ञाके अनुसार काम करनेवाली, आज्ञा-भङ्ग करनेपर दण्ड पानेवाली, पराधीन रावणकी इन दासियों-पर भला कौन कोप कर सकता है?'

श्रीजनकनन्दिनीके इस कथनका तात्पर्य यह है कि इन राक्षसियोंने रावणके परवश होकर अपराध किया, अतः इस अपराधकी भाजन वे नहीं हैं, किंतु रावण ही है।

श्रीजानकीजी हनुमान्‌जीसे पुनः कहती हैं—हे वानरश्रेष्ठ! पूर्वकालमें किसी जंगलमे एक बाघके खदेड़नेसे एक व्याध वृक्षपर चढ़ गया। उस वृक्षपर एक ऋक्ष निवास करता था। वृक्षके समीप जाकर बाघने ऋक्षसे कहा—'तुम इस व्याधको नीचे गिरा दो; क्योंकि यह हमलोगोंका शत्रु है। ऋक्षने कहा—'मेरे निवासस्थानपर आये हुए इस व्याधको'

मैं नीचे नहीं गिराऊँगा; क्योंकि ऐसा करनेसे शरणागतिधर्म कलङ्कित हो जायगा।' ऐसा कहकर ऋक्ष जब सो गया, तब बाघने व्याधसे कहा—'तुमको मैं छोड़ दूँगा, तुम सोये हुए ऋक्षको वृक्षसे गिरा दो।' कृतघ्न व्याधने सोये हुए ऋक्षको वृक्षसे ढकेल दिया। किंतु पूर्वाभ्यासके बलसे ऋक्ष वृक्षकी शाखाको पकड़कर किसी भाँति बच गया, नीचे नहीं गिरा। तब बाघने ऋक्षसे कहा—'देखो, यह व्याध कितना दुष्ट है, तुम्हारे साथ इसने विश्वासघात किया, अब इस विश्वासघाती व्याधको तुम नीचे ढकेल दो। हम दोनो मिलकर इसे खायेंगे। हम दोनों एक जगलमे रहनेके कारण मित्र हैं।' इस प्रकार बारबार बाघके कहनेपर भी ऋक्षने व्याधको नीचे नहीं गिराया तथा बाघसे कहा—'मैं इस अपराधीकी रक्षा करूँगा; क्योंकि शरणागति-धर्ममें अपराधियोंकी भी रक्षाका विधान है।' इस प्रकार श्रीजानकीजीने श्रीहनुमान्‌जीको यह गाथा सुनाकर अपनी शरणागतवत्सलता प्रकट की।

पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणामथापि वा।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥
(वा० रा० ६। ११३। ४५)

'पापी हो या पुण्यात्मा, अथवा वधके ही योग्य क्यो न हो, आर्य महापुरुषको तो ऐसे अपराधियोंपर भी कृपा ही करनी चाहिये; क्योंकि ऐसा एक भी जीव नहीं है, जिसने अपराध न किया हो। सभी जीवोंसे कुछ-न-कुछ अपराध कभी-न-कभी बन ही जाते हैं, अतः अपराधी जीवोपर कृपा करनेसे ही कृपाका उत्कर्ष है।' श्रीजानकीजी कहती हैं—'हे कपिश्रेष्ठ! पापमय होनेके कारण तुम्हारे विचारसे ये राक्षसियाँ वधके योग्य हैं, किंतु मेरे विचारसे तो ये दयाकी ही पात्र हैं; क्योंकि मलिनके लिये ही स्नानकी अपेक्षा होती है। यदि ये राक्षसियाँ पुण्यमयी होती तो इनकी रक्षा पुण्यसे ही हो जाती, हमारी क्या आवश्यकता होती? हमारे लिये तो इनके पाप ही भेटस्वरूप हैं, पुण्य नहीं। यदि कहो कि अपराधियोंको दण्ड न देनेसे धर्मशास्त्रकी मर्यादा लुप्त हो जायगी तो शास्त्रानुसार अपराधी शरणागतकी रक्षा करना विशेष-धर्म भी कहा गया है। विशेष-धर्मके समक्ष सामान्य-धर्म शिथिल हो जाते हैं। धर्मशास्त्र सामान्य जीवोंके लिये है। शरणागतिरूप विशेष-शास्त्र शरणमें आये हुए विशेष व्यक्तियोंके लिये है, अतः दोनों शास्त्र अपने-अपने स्थलों उपयोगी हैं।' भगवती सीताकी कृपाको अहैतुकी सिद्ध करते हुए श्रीगुणरत्नागार 'हरिस्तोत्र'मे स्वामी श्रीवीरराघवाचार्यजी कहते हैं—

तव क्षान्तिं भट्टारकगुरुरगादीत्तव तुला-
बकस्मादुद्भूतामिह जननि केचिज्जडधियः।
प्रसन्ना ह्रीत्युक्तेः प्रणिपतनतो मैथिलसुता
सहेतुः साऽपि स्यादिति जगदुरापातमतिनः॥
त्वदुक्त्यैव प्रोक्तं प्रणतसुमुखीति त्रिजटया
न चैतद्धर्मस्ते नलिनदलनेत्रप्रियतमे।
यदेकाक्षीप्रख्यायतबहुलहिंसानवधिक-
प्रवृद्धाद्भ्रागस्काः पवनतनयाद्रक्षितवती॥

"हे जननि! श्रीपराशरभट्ट स्वामीने 'श्रीगुणरत्नकोश'में आपकी अहैतुकी क्षमाका वर्णन किया है, किंतु कुछ जड-बुद्धिवाले पुरुष ऐसा कहते हैं कि श्रीमिथिलेशनन्दिनी भी प्रणतिसे प्रसन्न होती हैं, अतः उनकी करुणा सहेतुकी है। बिना विचारे ही ऐसा कथन हो सकता है। अपनी बुद्धिसे ही त्रिजटाने कहा है कि श्रीमैथिली प्रणिपातसे प्रसन्न होती हैं, किंतु राजीवनयन श्रीरामकी प्रियतमे! 'प्रणिपात-प्रसन्नता' आपका धर्म नहीं है। आप तो अहैतुकी करुणाकी सागर हैं, तभी तो आपने एकाक्षी-प्रभृति विख्यात हिंसापरायण तथा अपराध करनेवाली राक्षसियोंको श्रीहनुमान्‌जीसे रक्षा की।'

भगवान् श्रीरामकी प्राप्तिमें श्रीजानकीजी पुरुषकार (सिफारिश करनेवाले) का कार्य करती हैं, यह वैष्णव-सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है। श्रीजानकीजीकी उपस्थितिमें जयन्त-जैसे महापराधीकी रक्षा हो गयी तथा इनकी अनुपस्थितिमें वाली-जैसे अल्पापराधीका वध हो गया। समग्र रामायणमें पद-पदपर श्रीजानकीजीकी अहैतुकी कृपाका प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

'चहियतु कृपा लली सीता की'

चहियतु कृपा लली सीता की।
नवधाभक्ति ज्ञानका करना, रही न संक वेद गीता की॥
वेद पुरान कहावत षटमत, करत वाद नर वपु बीता की।
झगर करत उरझो नहिं सुरझो, मिटी न एक दूत भय ताकी॥
जाकी ओर तनक भरि चितवति, करत सहाय राम जन ताकी।
'अग्रअली' भजु जनकनंदिनी, पाप भँडार ताप रीता की॥

—स्वामी श्रीअग्रदासजी महाराज

बालक सुदर्शनपर कृपा

भगवत्कृपाभिलाषी ही कृपाधिकारी

(लेखक—महन्त श्रीनृत्यगोपालदासजी महाराज, शास्त्री)

कृपाविग्रह श्रीभगवान् स्वाभाविक रूपमे सभी भूत-प्राणियों-पर कृपा करते हैं; क्योंकि वे 'सहज कृपाला' हैं। जीवमात्रपर उनकी अहैतुकी कृपा है—'सब पर मोहि बराबरि दाया', (मानस ७ । ८६ । ४) 'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५ । २९) उन्हींकी दिव्य वाणी है । वे कृपाकी साक्षात् मूर्ति हैं । उन कृपामयकी अनवरत अक्षुण्णरूपसे प्रवाहित कृपाधारामे सभी अवगाहन कर सकते हैं। इसमे देश, काल, पात्रकी अपेक्षा नहीं।

अभागा जीव ऐसी सर्वसुलभ कृपा-गङ्गामे भी स्नानकर अपनेको पवित्र नहीं करता। मोह, अविद्याके अन्धकारसे घिरा वह उसके समीप भी नहीं जाता। पर हमे यह न भूलना चाहिये कि प्रतिपल अनुभवमे आनेवाली भगवत्कृपा ही जीवमात्रका परम अवलम्ब है। भगवत्कृपा-सुधा जीवका प्राण है। कृपामय जीवन ही वास्तविक जीवन है, सफल और कृतकृत्य है।

भगवान्की मानवमात्रपर बरसती कृपा-सुधाका स्वरूप क्या है ? उत्तर है कि सर्वप्रथम तो मानव-शरीरकी प्राप्ति भी उनकी कृपाका ही परिणाम है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥
(मानस ७ । ४३ । ३)

भारत-भूमिमे जन्म, पुनः स्वस्थ शरीर, तीर्थ-सेवन, सत्सङ्ग, भजन-कीर्तन आदि उनकी कृपाके फल हैं—

'जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये।'
(विनयप० १३६ । १०)

प्रभुकी कृपा अनुकूल-प्रतिकूल सभी परिस्थितियोंमें छिपी है। अनुकूल परिस्थितियोमे तो वह है ही, किंतु प्रतिकूलतामे छिपी भगवत्कृपा उस कडवी भेपजके समान है, जो सेवनकाल-मे अप्रिय प्रतीत होते हुए भी परिणाममें सुखद है, आनन्ददायक है।

भगवत्कृपा सभी दिशाओंमे ओत-प्रोत है, चतुर्दिक् व्याप्त है। जीवनकी भूतकालिक घटनाओंपर तनिक दृष्टिपात कीजिये तो पायेंगे कि हम प्रत्येक पगपर भगवत्कृपासे सुरक्षित रहे हैं। उसी प्रकार भविष्यमें भी प्रभु-कृपारूप वरदहस्त निरन्तर हमपर बना रहेगा। कृपा विश्वासकी जननी और श्रद्धाकी भगिनी है। भगवान्के साक्षात् दर्शन उनकी कृपाके रूपमें ही होते हैं।

आचार्योंने भगवत्प्राप्तिके विषयमे कहा है कि वह साधन-साध्य नहीं, कृपा-साध्य है। उनका यह कथन साधनोंके त्यागमे कदापि अभिलक्षित नहीं है। जिस प्रकार ढके हुए पात्रमे वर्षा-जल प्रविष्ट नहीं होता, उसके प्रवेशके लिये पात्रका मुख खुला रखना आवश्यक है, उसी प्रकार कृपासे लाभान्वित होनेके लिये साधनोंसे यथासम्भव मुख नहीं मोड़ना चाहिये। साधकोंके साधनक्रमसे ही तो उनकी जिज्ञासा बनी रहती है। जिज्ञासा न होनेसे भगवत्प्राप्तिका लक्ष्य कैसे बन सकता है ? कृपाभिलाषिता बनी रहे, यही मानवके लिये अभीष्ट है।

कृपाभिलाषिताका स्वरूप क्या है ? अपने अभिमान, अहंकारको पूर्णतः विस्मृत कर दासानुदासपनका अनुसंधान करना अथवा आत्यन्तिक दैन्यभावको ग्रहण कर सतत साधनस्वरूप स्वधर्मका पालन करते हुए प्रभु-कृपाकी बाट जोहना।

साधक यह विश्वास बनाये रखे कि भगवान् ही कर्ता-कारयिता हैं, उनकी कृपासे ही हमारी वर्तमान स्थिति है और भविष्यमे भी उनकी कृपा निरन्तर प्राप्त होती रहेगी। कृपाभिलाषी सदा उत्कण्ठित, लालायित, पिपासाकुल रहता है—स्नेहमयी कृपा-दृष्टिके लिये।

'कृपा रावरी कीजै'

साजन ! सुध ज्यूँ जाणों त्यूँ लीजै।
तुम बिन मेरे और न कोई, कृपा रावरी कीजै ॥
दिन नहिं भूख, रैण नहिं निद्रा, यों तन पलपल छीजै।
'मीरां'के प्रभु गिरधरनागर, मिलि बिछुरन नहिं दीजै ॥

सनातन-धर्म और भगवत्कृपा

(लेखक—शास्त्रार्थमहारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

श्रीमन्नारायण भगवान्का एकत्व अव्याहत है, वहाँ अनेकत्वकी कल्पना सर्वथा अनुपादेय है। वैसे ही भगवत्संकल्पित तत्तन्नियमभूत धर्मका भी एकत्व अपरिहार्य है। जैसे भगवान्का अनेक होना किसी भी मतान्तरवादीको अभीष्ट नहीं हो सकता, उसी प्रकार भगवान्के नियमोपनियमोंकी समष्टिका संग्राहक जो 'धर्मापर' नामक तत्त्व है, उसकी भी अनेकता युक्तिसिद्ध नहीं कही जा सकती। फलतः भगवान् एक हैं और धर्म भी एक ही है। प्राचीन ग्रन्थोंमें 'निर्विशेष धर्म' शब्दद्वारा ही उस तत्त्वको अभिव्यक्त किया गया है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।

(तैत्तिरीयारण्यक १० । ६३ । ७)

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।

(महा० कर्ण० ६९ । ५८)

सर्वज्ञ भगवान् चारों युगोंकी परिस्थितिके ज्ञाता हैं। अतः युगान्तरमें विशुद्ध धर्मके स्थानमें धर्माभासोंका प्रावल्य हो जायगा, यह जानकर 'धर्म' शब्दके साथ 'सनातन' विशेषणका प्रयोग हुआ, जिससे सर्वसाधारणको धर्मका विशुद्ध परिचय हो सके। इसलिये 'आथर्वण' श्रुतिमें कहा गया है—

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥

(१० । ८ । २३)

अर्थात् मनुष्योंके पालनीय धर्मको 'सनातन' नामसे कहा गया है। यद्यपि वह अनादि है, प्राचीनतम है, तथापि सार्वकालिक कल्याणक्षम होनेके कारण युगानुरूप नये-से-नया भी है। जैसे दिन-रात बदलते हैं; परंतु सूर्य उसी प्रकार निर्विकार रहता है, वैसे ही सृष्टि-रचना और संहार भी होते रहते हैं; परतु वह सनातन-धर्म पूर्ववत् अक्षुण्ण बना रहता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्की स्तुति करते हुए अर्जुनने उन्हें 'सनातन' नामसे स्मरण किया है—

'सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।' (११ । १८)

भगवान्ने भी जीवका स्वरूप सनातन बतलाया है; 'अचलोऽयं सनातनः' (गीता २ । २४), इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् भी सनातन हैं और जीव भी 'सनातन' शब्दवाच्य है। तदनुसार जीवको ब्रह्मतक पहुँचानेवाले मार्गका नाम भी 'सनातन-धर्म' है।

श्रीमन्नारायण अनेक कल्याणगुणोंके आगार हैं। सुप्रसिद्ध 'आलवन्दारस्तोत्र (२१)'में भगवान्के कतिपय गुणोंका वर्णन किया गया है—

वशी वदान्यो गुणवानृजुः शुचि-
मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः
समस्तकल्याणगुणामृतोदधिः॥

तदनुसार वे दयालु और वदान्य अर्थात्—अकारण-करुण, करुणावरुणालय हैं। दानशौण्ड बहुप्रद और वरदराज भी हैं। भगवान्के उक्त दोनों गुण जीवमात्रपर निर्हेतुक वात्सल्य प्रकट करनेपर ही चरितार्थ होते हैं। अतः वे सब-पर ही निरन्तर अयाचित कृपा करते रहते हैं।

यह जीव वेदोक्त पञ्चाग्नि-विद्याके अनुसार सर्वप्रथम मेघके गर्भमें जलरूपसे प्रविष्ट होता है—वहाँसे बरसकर पृथ्वीके गर्भमें अन्न-तृणादिके रूपमें प्रकट होता है। तदनन्तर भोक्ता प्राणीके वैश्वानर नामक अग्नि-गर्भमें रह-कर रजोवीर्यका रूप धारण करता है। अन्तमें यह जीव-धारियोंमें माताके गर्भमें प्रविष्ट होकर पाँचवीं आहुतिमें शरीरधारी बनकर जन्म लेता है। इन पाँचों आहुतियोंमें एकमात्र भगवत्कृपा ही उसे जीवित और स्थानान्तरित करती है। प्रधानतया माताके गर्भमें जिस जठराग्निमें भक्षित भोजनादि कठिन पदार्थ भी—कुछ ही घंटोंमें परिपक्व हो जाते हैं, उसी अग्नि-कुण्डमें यह जीव (एक वीर्य-बिन्दुके सत्रह लक्ष कीटोंमेंसे) एक कीट-रूपसे परिवर्तित और परिवर्द्धित होता हुआ अन्यून नौ-दस मास और हस्ती आदि योनियोंमें तो चार वर्षतक जीवित रहता है। यह भगवान्की कृपाका ही प्रत्यक्ष एवं चमत्कारी निदर्शन है।

गर्भगत बालकके पोषणार्थ माताकी और बालककी नाभिसे सम्बन्धित एक नाल (गर्भस्थ) शिशुको माताद्वारा

भक्षित भोजनका सूक्ष्म रस निरन्तर पहुँचाती है। जो भगवान् विना पेट और विना मुखवाले मांसपिण्डभूत गर्भगत जीवको भी अपने कृपामय विधानसे पालित करते हैं, वे कितने कृपालु हैं! इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है।

हमें अपने घरमे अमुक वस्तुके अभावकी चिन्ता एक-दो दिन पूर्व होती है; परंतु भगवान्को गर्भगत बालकके जन्म लेनेपर उसकी नालके उच्छिन्न हो जानेसे खान-पानकी क्या व्यवस्था हो? इसकी चिन्ता बालकके जन्मसे चार-पाँच मास पूर्व होती है। इसीलिये सगर्भाके स्तनोंमें दूधका निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। भगवान्की यह अहैतुकी असामान्य कृपा यों तो प्राणिमात्रपर होती है, इसमें कुछ संदेह नहीं, परतु 'भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः'—परम्पराके अनुसार तारतम्यसे भगवान्की सर्वाधिक कृपाके पात्र भगवदाज्ञाभूत वेदादिशास्त्रानुमोदित सनातन-धर्मके सिद्धान्तों-पर प्राण-पणसे चलनेवाले ज्ञानी मनुष्य ही हैं। श्रीमद्भगवद्गीता-में भगवान्ने स्वयं घोषणा की है—

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'　　(७। १८)

अर्थात् ज्ञानी तो मेरा अपना आत्मा ही है। वस्तुतः सनातन-धर्म भगवान्का अपना ही स्वरूप है, अतः उसपर भगवान्की विशेष कृपाका होना स्वाभाविक ही है। तदनुसार सनातन-धर्मपर श्रीमन्नारायणकी जो अनन्त विशेष कृपाएँ हैं, उनमेंसे कतिपयका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

भगवन्निःश्वासभूत वेदोंमें एकमात्र सनातन-धर्मका ही प्रतिपादन हुआ है। यह निर्हैतुकी कृपा केवल सनातन-धर्मको ही प्राप्त हुई है[1]।

सनातन-धर्मकी रक्षाके लिये समय-समयपर भगवान् अवतरित होते हैं, यह सौभाग्य भी सनातन-धर्मको ही प्राप्त है। यह भगवत्कृपाका दूसरा निदर्शन है।

सनातन-धर्मके अतिरिक्त प्रायः सभी मताभिमानी सज्जन ईश्वरके चाक्षुष साक्षात्कारमें सर्वथा असमर्थ हैं। वे लोग अपनी इस असमर्थताको भगवान्के निराकार होनेका बहाना बनाकर शब्दजालमें छिपानेका प्रयत्न करते हैं; परंतु सनातन-धर्म समस्त बुद्धिजीवी प्राणियोंको ईश्वरके साक्षात्कारका खुला निमन्त्रण देता है। यह धर्म ईश्वरदर्शनाभिलाषी व्यक्तिको महर्षि पतञ्जलिके विद्यालयमें प्रविष्ट होकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि आदि अष्टाङ्ग योगोंका अनुष्ठान करते हुए हस्तामलककी भाँति स्वयं भगवत्साक्षा-त्कार कर सकनेका अवसर प्रदान करता है। यह सनातन-धर्मपर तीसरी भगवत्कृपा है।

अन्यान्य मतावलम्बियोंकी मान्यताके अनुसार उनके बताये हुए मार्गपर चलता हुआ मनुष्य अन्तमें अमुक स्थानविशेषतक ही पहुँच सकता है, किंतु जन्म-मरणके बन्धनसे सर्वथा छूटकर मुक्त नहीं हो सकता। इस प्रकार अन्यान्य मतवादी सदा-सर्वदाके लिये मोक्षके अधिकारी नहीं बन सकते; परंतु सनातन-धर्मकी पद्धतिका अनुसरण करते हुए जीव ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त पुनरावर्ती लोक-लोकान्तरोंको लाँघकर उस परमपदको प्राप्त हो जाता है, जहाँसे 'न स पुनरावर्तते'के अनुसार उसे पुनः कभी लौटनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। यह सनातन-धर्मपर चौथी भगवत्कृपा है।

अन्य मतोंमें व्यक्तिविशेषकी योग्यताका कुछ भी ध्यान न रखकर सर्वसाधारणके लिये एक समान मार्ग ही उपदिष्ट है; परंतु सनातन-धर्ममें व्यक्तिगत योग्यताके तारतम्यसे सात्त्विक, राजस और तामस सभी प्रकारके अधिकारियोंके लिये श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—नवधा मार्ग उपदिष्ट हैं। ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोगादि साधन भी हैं तथा साधककी प्रकृतिके अनुकूल उनके इष्टदेव भी पृथक्-पृथक् हैं। इस प्रकार सनातन-धर्ममें सभी योग्यताके व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार भगवत्प्राप्तिके किसी भी मार्गका अनुसरण करके परमपदके अधिकारी बन सकते हैं। यह सनातन-धर्मपर पाँचवीं भगवत्कृपा है।

इस प्रकार सनातन-धर्मपर भगवत्कृपाके अन्य भी अगणित प्रकार विद्यमान हैं। लेखका कलेवर बढ़ जानेके भयसे उन सबका यहाँ उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

---

१. इस विषयका सप्रमाण विशेष निरूपण लेखकके 'क्यों?' नामक ग्रन्थमें देखा जा सकता है।

भारतीय वाङ्मयमें भगवत्कृपाका दर्शन

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

स्खलन्नयनवारिभिर्विरचिताभिषेकश्रिये
त्वराभरतरंगतः कवलितात्मविस्फूर्तये ।
निशातशरशायिना सुरसरित्सुतेन स्मृतेः
सपद्यवशवर्त्मणे भगवतः कृपायै नमः ॥[1]

(हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु २ । १ । ५६)

किसी भी सत्तथ्यके निर्णयमें प्रमाणभूत वेद-पुराण एवं धर्मशास्त्र ही सबकी शरण, दर्पण या नेत्र हैं—

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं······················॥

(हितोपदेश, प्रस्ताविका १०)

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' (गीता १६ । २४)

किंतु जटिल शास्त्रीय गुत्थियोंका निर्णय—तत्त्व-निर्धारण भी उत्सर्गापवाद, सामान्य-विशेष, पूर्वोत्तरपक्ष, विविध प्रकारके गुणवाद, भूतार्थकादि वादोंके ज्ञान एवं भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटव, पक्षपातशून्यता, न्यायैक-शरण्यता तथा भगवत्कृपासे ही हो पाता है, अन्यथा 'वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः' (श्रीमद्भा० ११ । ३ । ४३) 'वेद भगवद्रूप है, उसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी मोहित हो जाते हैं । पद-पदपर व्यामोहकी दुरन्तता भी सम्भव ही है, फिर मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत, गृह्य, स्मार्त, कल्प, धर्मसूत्र, निरुक्त, चतुर्लक्षणी एवं द्वादश-लक्षणी-मीमांसायुक्त वेद, इनके भाष्य एवं सभी वेदाङ्गोंका भी सम्यक् ज्ञान अत्यन्त दुष्कर है । वस्तुतः इनका ठीक-ठीक ज्ञान तो केवल ईश्वरकृपासे ही शक्य है । इनके द्रष्टा, रचयिता यायावर, औदुम्बर, बालखिल्य, फेनप, सैकत, ईश्वरैकप्राण ऋषिगण ही थे । सनकादि, मार्कण्डेय, नारद, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, पुलस्त्य, वसिष्ठ, वाल्मीकि, व्यास, शुकदेव, गौतम, जैमिनि, पतञ्जलि, पाणिनि, शंकर, रामानुज, मण्डन मिश्र, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, कालिदास आदि सभी विद्वद्गण एवं स्वायम्भुव मनु, इन्द्र, वरुण, कुबेर, सूर्य, चन्द्र, गुरु, शुक्रादि देवाचार्य-असुराचार्य, ध्रुव, प्रह्लादादि दैन्य, विरक्ति एवं भक्तियुक्त तपसे ही षट्ग्रन्थिभेदनादिपूर्वक भगवत्कृपा एवं साक्षात् श्रीभगवान्का सान्निध्य लाभकर कृतार्थ हुए तथा अब भी भगवत्कृपाविशेषार्थ लालायित—सचेष्ट रहते हैं—

जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथ बादी॥

(मानस ७ । ५ । ३)

इस प्रकार ये वेद, शास्त्र एवं सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात समाधिसिद्ध योगि ऋषि-मनीषिगण—'श्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्य-तन्निरसनेन भवन्निधनाः।' (श्रीमद्भा १० । ८७ । ४१) तथा 'अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः' (श्रीमद्भा० १० । १४ । २८) के अनुसार नेति-नेति निषेध करते हुए परमात्माको शुद्ध सन्मात्ररूप ही निश्चित करते हैं—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत' (छान्दो० ६ । २ । १)

एवं—

रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३ । २४)

इस प्रकार मूलतः स्वयंमें ब्रह्मका शुद्ध स्वरूप लक्षण, चित्, ज्ञान, आनन्द, कृपा-कोपादिसे सर्वथा मुक्त ही है, पर तटस्थता ग्रहणकर अव्यक्तादि रूपमें सृष्ट्युन्मुख होनेपर वही परमात्मा चिदानन्दरूप एवं 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १ । १ । २, श्रीमद्भा० १ । १ । १) जन्म, पालन, प्रलय-गुणलक्षणोपेत होता है । इस प्रकार इस सगुणरूपमें पालनमें कृपा एवं प्रलयमें प्रकोपादि द्वन्द्वात्मक लक्षण युगपत् ही अन्तःप्रविष्ट होते हैं, अतः ब्रह्माने कहा है—'कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ।' (वा० रा० १ । १ । १८) 'वे क्रोधमें कालाग्निके समान और क्षमामें पृथिवीके सदृश हैं ।' इसीलिये भक्तोंको जहाँ इनकी मूर्ति कृपामयी प्रतीत होती है—'है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु मूरति कृपामई है', वहीं असुरोंके लिये वह कालरूप भी है—

१. शरशय्यापर पड़े गङ्गातनय भीष्मने जब भगवान्का स्मरण किया, उस समय जिन मङ्गलमयी करुणादेवीने प्रभुके नेत्रोंसे मानो उनके अभिषेकके लिये अश्रु-धारा-सी उँडेल दी, जिसके कारण श्रीभगवान् वे अपनी सुध-बुध ही खो बैठे और तत्क्षण वहाँ पहुँच गये, उन प्रभुकी कृपादेवीको मैं नमस्कार करता हूँ ।

रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट कालसम देखा ॥
(मानस १ । २४० । ४)

कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता ॥
(मानस ७ । ४० । ३)

इस प्रकार शास्त्रानुसार निर्गुण भगवान् उपासक भक्तोंके अनुग्रहार्थ ही सगुण साकार एवं अनुग्रह रूप बनते हैं—

चिन्मयस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥
(रामपूर्वता० १ । ७)

······ ······। साधकानां हितार्थाय······
(कुलार्णवतन्त्र ६ । ६८)

'तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।'
(श्रीमद्भा० ३ । ९ । ११)

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥
(मानस १ । ११५ । १)

यद्यपि भक्ति, तप आदि साधनोंका एवं उनके भेदोंका भी अन्त नहीं है, पर वेद-पुराणोंके अनुसार सात्त्विक भक्तियुक्त साधन ही आशुतोष प्रभुको तुष्ट करने एवं उनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये उपयुक्त बताये गये हैं। यथार्थ विधि-वचन भी एतादृश ही हैं—

'अतप्ततनुर्न तदामोऽश्नुते', 'नातपस्कैः प्राप्यः शंकरः परमेश्वरः ।' (वाराहपु० २०७ । ३५-३६, शिवपुराण, उमासंहि० १२ । ४७ आदि)

दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किएँ कलेसू ॥
(मानस १ । ६९ । २)

कृपामूर्ति, आशुतोष शिवकी कृपा-प्राप्तिके लिये पार्वतीकी तपस्या शिवपुराण, कुमारसम्भव, मानसादिमें प्रसिद्ध है—

रिषिन्ह गौरि देखी तहँ कैसी। मूरतिमंत तपस्या जैसी ॥
(मानस १ । ७७ । १)

इसी प्रकार मनुस्मृतिके रचयिता स्वायम्भुव मनु भी 'तप्यमानस्तपो घोरमिदमन्वाह भारत' (श्रीमद्भा० ८ । १ । ८) प्रभुकृपाप्राप्त्यर्थ घोर तप करते हैं । अतः एक ओर जहाँ यह कृपा सामान्यतया सर्वत्र है, वहीं दूसरी ओर विशेष कृपा शास्त्रदृष्ट्या दुर्लभ भी है—'क्रियामेव जायते ।' अतः भगवत्प्रसादप्राप्त्यर्थ यहाँ उसपर कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है—

अमरसिंहने अपने 'नामलिङ्गानुशासन' (१ । ७ । १८)में 'कारुण्यं करुणा घृणा । कृपा दयानुकम्पा स्यादनुक्रोशोऽप्यथो हसः ॥'से कृपाके दया, करुणा, घृणा, कारुण्य, अनुक्रोश एवं अनुकम्पा—ये छः पर्याय[२] बतलाये हैं। हेमचन्द्रने 'अभिधानचिन्तामणि' (३६९)में एक पर्याय 'शूक' भी लिखा है—

'दया शूकः कारुण्यं करुणा घृणा । कृपानुकम्पानुक्रोशः ।'
(काण्ड ३)

मोनियर विलियम्सके अनुसार 'शूक' शब्द बहुर्थक है, यह दयावाचक भी है, पर साहित्यमें इस अर्थमें उन्हें कहीं प्रयुक्त नहीं मिला। इसके अतिरिक्त अनुग्रह, अभ्युपपत्ति, अनुभाव, औदार्य, प्रसाद आदि शब्द भी इसके निकटार्थक या पर्याय[३] ही कहे जायँगे। वैसे साहित्यमें 'प्रसाद'-गुणको काव्योंका प्राण भी कहा गया है, इसीसे 'शक्ति' होती है। जिससे काव्यका विश्वमें दिग्दिगन्त प्रचार होता है, प्रायः यह शक्ति देवताप्रसादजनित ही होती है, अतः प्रसाद भी यहाँ देवताप्रसाद ही है। यही दशा 'करुणा'की है। वैसे समस्त काव्योंका बीज (वाल्मीकीय) रामायण है—

'पठ रामायणं व्यास काव्यबीजं सनातनम् ।'
(बृहद्धर्मपुराण १ । ३० । ४७)

और रामायणका बीज है 'करुणा'—

'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ।' (रघुवंश १४ । ७०)

'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।'
(ध्वन्यालोक १ । ५)

'सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ।'
(वा० रा० १ । २ । ४०)

—इन वचनोंमें 'शोक' भी करुणाका ही पर्याय है। भवभूतिके अनुसार तो एकमात्र करुणा ही 'रस' है और निमित्त-भेदसे यही पुनः शृङ्गार, हास्य, रौद्र, वीर एवं अद्भुत आदि रसोंमे रूपान्तरित या विवर्तित होता है। जैसे एक जल ही कभी आवर्त, कभी बुद्बुद, कभी

२. 'भगवद्गुणदर्पण'में इन सभी पर्यायोंके अन्तर एवं भगवान् श्रीराममें इनका समावेश निर्दिष्ट है।

३. मानस ८ । ८७-८८ को देखते—प्रसाद, प्रसन्नता, प्रियता, आत्मीयता, स्नेह, प्रीति आदि भी इसके निकटार्थक ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार कृपाद्वारा स्वरूपप्रासित पहुँचना शब्दोंद्वारा भी सिद्ध है।

तरंग आदि रूपोंमें परिणत या रूपान्तरित होता रहता है—

> एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्-
> भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
> आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारा-
> नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥
> (उत्तरराम० ३ । ४७)

इस प्रकार जहाँ 'प्रभु मूरति कृपामई है'की बात है, वहीं काव्यशास्त्र-बीज करुणामयी भागवती शक्ति ही भगवान् है—'रसेषु करुणो रसः'—यह दीखने लगता है—'कृपैव प्रभुतां गता ।'

वेदोंमें भगवत्कृपा—

कृपारसरसिक भावुक भक्तोंने 'दयाशतक', 'करुणाशतक', 'करुणाकल्पलता', 'करुणाक्रन्दन,' 'करुणाराधन[4]' आदि कई स्वतन्त्र ग्रन्थ एवं स्तोत्र लिख डाले। वैसे 'करुणा' शब्द बहुत प्राचीन है एवं वेदोंमें (ऋक्० १ । १०० । ७, कृष्णयजुः १ । ६ । ४ । ४०, अथर्ववेदीय शौनकसंहिता १२ । ३ । ४७, पैप्पलादसंहिता १७ । ४०-८ आदि) भी सादर व्यवहृत हुआ है । वेदोंके अनुसार भक्तानुग्रहकातर प्रभु करुणासे ही अवतरित होते हैं । मानसकारका कथन है—

> 'तहाँ बेद अस कारन राखा·········· ॥'
> × × ×
> सो केवल भगतन हित लागी । परम कृपाल प्रनत अनुरागी ॥
> जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू॥
> गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥
> (मानस १ । १२ । ३-४)

अर्थात् वेदोंके अनुसार प्रभु केवल अपने भक्तोंकी दर्शनजनित मनःकामना पूरी करनेके लिये ही अवतीर्ण होते हैं; क्योंकि उनकी अपने भक्तोंपर अत्यन्त ममता एवं करुणा रहती है और यह करुणा जिसपर भी एक बार हो गयी, बढ़ती ही गयी; उसपर आपने पुनः कभी भी कोप नहीं किया (देखिये—मानस १ । २७ से २८ दोहापर्यन्त) । वे कृपालु स्वभावसे ही अपने भक्तोंकी गयी (खोयी) वस्तुओंके भी बहुरानेवाले, गरीबनिवाज, सरल एवं सबल उपास्य स्वामी हैं । अस्तु,

उपनिषदोंमें भगवत्कृपा—

केनोपनिषद्की यक्ष-गाथा शिवपुराण एवं देवीभागवतमें भी उपबृंहित हुई है। इसके अनुसार भगवत्कृपासे ही देवताओंको विजय मिली थी, पर उन्हें अहंकार हो गया कि वह विजय उन्हींकी थी। पर यक्षने वायु, अग्निको दिखला दिया कि वे एक तृणको भी हिलाने-जलानेमें असमर्थ हैं। फिर उमा हैमवतीने इन्द्रको यक्ष-ब्रह्मका ज्ञान कराया। इस प्रकार उमाकी कृपासे इन्द्रको ब्रह्म-संस्पर्श प्राप्त हुआ और वे सभी देवताओंमें श्रेष्ठ हुए—'तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरां नेदिष्ठं पस्पर्श।' (केनोप० ४। ३)। फिर यही बात साधनरूपमें दैवी-आसुरी सम्पत्तिरूपमें सर्वत्र वर्णित हुई। (द्रष्टव्य—गीता ४। ७-८, ८, १५-१६, ९ । ३, १६। ३-४, १७ । ६ आदि, इनमें अतिमान या अभिमान प्रभुको सर्वथा अनभिप्रेत है।) इसके अतिरिक्त 'नायमात्मा' श्रुति जो कठोपनिषद् (१ । २ । २३) तथा मुण्डकोपनिषद् (३ । २ । ३) आदिमें मिलती है और जिसे आचार्य रामानुजने अपने वेदान्त-दर्शनके श्रीभाष्य १ । १ । १, १ । २ । १०, १ । ४ । ६, ३ । २ । २३, २४ और ३ । ४ । ४६ गीताभाष्य ३ । १, ७ । १ की प्रस्तावना ८ । १४ तथा सर्वदर्शन-संग्रह ४ । २० । ३२ इत्यादि अनेक स्थलोंपर उद्धृत किया है, (उनके अनुसार) यह बतलाती है कि सफलता, विजय एवं ईश्वर-दर्शनप्राप्ति केवल भगवत्कृपासे ही साध्य[5] है ।

---

४. 'करुणाराधन-स्तोत्र' पण्डित जगद्धर भट्टकी 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि'का पंद्रहवाँ स्तोत्र है। इसमें कविकी उत्प्रेक्षा सर्वत्र देखते ही बनती है। नवें श्लोकमें वे कहते हैं—'हे कृपालु भगवान् शंकर ! इस करुणादेवीने तो भगवती श्रीउमादेवीको भी मात कर दिया । उमा-पार्वतीने तो तपद्वारा आपके शरीरार्धका ही अपहरण किया था, पर इस करुणाने तो आपका सर्वस्व ही हरण कर लिया, जिससे आपको सैकड़ों अवतारतक धारण करने पड़े'—

> करुणा तव जीवितेश्वरीमतिशेते भगवन्नुमामपि । उमया हृतमर्द्धमेव यत् सकलस्त्वं पुनरेतया हृतः ॥

५. इसपर शंकराचार्यका भाष्य कुछ और ही है । उनके अनुसार यह वरण शरणागति आदिसापेक्ष है ।

श्रीमद्भागवतमें भगवत्कृपा—

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के महाकारुणिक, 'अदभ्रदयः' (८ । ३ । १९) 'घृणार्दितः' (१० । १२ । २७) आदि अनेक विशेषण प्राप्त होते हैं । इसमें भगवत्कृपाका स्मरण सर्वत्र ही बड़ा मार्मिक है । वे भक्तको अपनाने तथा सम्पत्त्यादि दानके लिये ही आप्तकाम होते हुए भी उनके द्वारा भक्तिपूर्वक समर्पित जल-तुलसीदल आदि ग्रहण करते हैं—

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद् यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥
(७ । ९ । ११)

'भगवान् तो आत्मलाभसे ही पूर्ण हैं, वे क्षुद्र पुरुषोंसे पूजाकी इच्छा नहीं रखते । वे केवल करुणावश ही अपने भक्तोंद्वारा की हुई परिचर्याको स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि जिस प्रकार अपने मुखकी शोभा प्रतिबिम्बको भी सुशोभित करती है, उसी प्रकार भक्त भगवान्‌के प्रति जो-जो मान प्रदर्शित करता है, वह उस भक्तको ही प्राप्त होता है ।'

श्रीमद्भागवतमें कृपाके और पर्यायोंकी तुलनामें अनुग्रह[१] शब्दका प्रयोग अधिक है । ध्रुवकी दृष्टिमें भगवान्‌का हृदय अपने भक्तोंके लिये लाक्षा या नवनीतके समान द्रवित होनेवाला या वास्रा (वाश्रा) अर्थात् तुरंत ब्यायी गायके समान स्रवणशील वात्सल्य 'कृपा-कातर' कहा गया है—

अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वा (स्रे) श्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥
(४ । ९ । १७)

श्रीमद्भागवतमें संत-मिलन, सत्कर्मानुष्ठान, भगवद्दर्शन आदिको भी भगवत्कृपामूलक ही बतलाया गया है—

अनुग्रहाय भद्रं व एवं मे दर्शनं कृतम् ॥
(४ । २४ । २७)

'इस समय तुमपर कृपा करनेके लिये ही मैंने तुम्हें इस प्रकार दर्शन दिया है ।'

.........'आत्मा मे दर्शितोऽर्वहि. ।
यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥
(३ । ९ । ३७-३८)

'हे तात ! तुमने जो मेरी कथाओंके वैभवसे युक्त मेरी स्तुति की और तपस्यामें तुम्हारी रुचि हुई—यह मेरी कृपाका ही फल है ।'

श्रीमद्भागवतके (३ । २० । २५) 'अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम्' तथा (३ । ९ । ११) 'तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय'में भी भक्तके मनोऽनुरूप भगवद्दर्शन-को—प्रभुके साक्षात्कारको या भगवदवतारको भक्तपर अनुग्रह या कृपामूलक ही बताया गया है ।

इसमें भक्तके क्लेश एवं अन्यथा स्थितिमें भी मङ्गल-विधान तथा कृपाकी भावना द्योतित की गयी है । श्रीनारदजी अपनी माताकी अनुपस्थितिमें ऐसा ही मानते हैं—

तदा तदहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः ।
अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तराम् ॥
(१ । ६ । १०)

'तब उस घटनाको भक्तोंका मङ्गल चाहनेवाले भगवान्‌का अनुग्रह समझकर मैं उत्तर दिशाकी ओर चल दिया ।'

स्वयं प्रभु भी श्रीमुखसे इसे स्वीकार करते हैं—
'यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ॥'
(१० । ८८ । ८)

पर श्रीमद्भागवतके ही अनुसार सहज भगवत्कृपा-प्राप्त प्राणीका दुरन्त काल भी बाल बाँका नहीं कर सकता । (१ । १८ । १, ८ । २ । ३३, ८ । ३ । १९) ।

दुष्टोंके उद्धारमें भी भगवत्कृपा मूल है । 'कालिय-उद्धार' (१० । १६)में 'अनुग्रह' शब्द बार-बार प्रयुक्त है (द्रष्टव्य ३४, ५२, ५९, ६७ आदि श्लोक) ।

अपनी माताका क्लेश देख कृपापरवश होकर श्री-भगवान् स्वयं ही बँध जाते हैं—'कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने' (१० । ९ । १८) । भगवान्‌की भृत्यवश्यता, कृपाप्रसादका यह सुख लक्ष्मी, शिव, ब्रह्मादि अथवा ज्ञानियोंको भी प्राप्य नहीं है—

एवं संदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता ।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥
नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥
नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ॥
(१० । ९ । १९—२१)

---

१. श्रीमद्भागवतमें 'अनुग्रह' शब्द संज्ञा एवं क्रियापदके रूपमें लगभग सौ बार प्रयुक्त है ।

इसी प्रकार किसी प्राणीको अपनाना—उसका वरण करना भी भगवत्कृपाका ही कार्य है—

'अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः ॥'

(१० । ५३ । ३८)

यहाँ त्रिलोककृत् परमात्मा भी श्रीकृष्ण ही हैं, यह विदर्भ-वासियोंको ज्ञात नहीं है, अतः वे परमात्माके अनुग्रह और श्रीकृष्णके पाणिग्रहणकी बात कर रहे हैं।

प्रभुके लीलावतार-धारणका कारण भी उनकी करुणा या उनका अनुग्रह ही बतलाया गया है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥

(१० । ३३ । ३७)

श्रीमद्भागवतके 'यथा यथाऽऽत्मा' (११ । १४ । २६) श्लोकमें तप या भगवत्प्रेमद्वारा आत्म-मार्जनसे ही सूक्ष्म तत्त्वदर्शनक्षमता-प्राप्ति निर्दिष्ट है तथा भगवच्चरणोंकी प्राप्ति भी भगवत्कृपासे ही सम्भव बतलायी गयी है—

'सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।'

(१० । ४० । २८)

'हे ईश! मैं आपकी चरण-शरणमें आया हूँ। आपके चरण असत्पुरुषोंके लिये सर्वथा दुष्प्राप्य हैं। मुझ अधमको उनका दर्शन हुआ, यह मैं आपकी ही कृपाका फल समझता हूँ।'

इस ग्रन्थमें भक्तोंमें भगवत्कृपाकी होड़के विषयमें भी गुप्त चर्चा है। कहते हैं कि देवर्षि नारदद्वारा प्रह्लादकी (श्रीमद्भा० ७ । १–१० आदिमें) कथा सुनकर युधिष्ठिरको मनः-क्षोभ हुआ कि अहो! प्रह्लादका भाग्य ही सबसे श्रेष्ठ था, जिनपर भगवान्‌की सर्वाधिक कृपा हुई, क्योंकि स्वयं प्रह्लादने कहा था—

क्वाहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मि-
न्जातः सुरेतरकुले क्व तवानुकम्पा ।
न ब्रह्मणो न तु भवस्य न वै रमाया
यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥

(७ । ९ । २६)

'हे ईश! कहाँ तो इस तमःप्रधान असुरकुलमें रजोगुणसे उत्पन्न हुआ मैं और कहाँ आपकी कृपा! अहो! जो परमपुरुषार्थस्वरूप कर-कमल आपने कभी ब्रह्मा, महादेव और लक्ष्मीजीके सिरपर भी नहीं रखा, वही मेरे मस्तकपर रखा।'

और स्वयं भगवान् नृसिंहने भी प्रह्लादसे कहा था—

'भवान् मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक् ॥'

(७ । १० । २१)

और तभी—

'नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥'

(मानस १ । २५ । २)

वस्तुतः प्रह्लाद-जैसी कृपा तो किसीपर भी नहीं हुई।

युधिष्ठिरके इस प्रकार तरसनेपर नारदजीने उन्हें सान्त्वना दी और कहा कि वस्तुतः आपलोग ही अधिक भाग्यशाली हैं; क्योंकि ये साक्षात् परब्रह्म आपके यहाँ निवास कर रहे हैं और मुनिगण भी आपके यहाँ निरन्तर आ रहे हैं। आपलोगोंकी तो इन्होंने (भगवान् श्रीकृष्णने) पग-पगपर रक्षा की है—

यूयं नृलोके बत भूरिभागा
लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥

(७ । १५ । ७५)

इसके अतिरिक्त प्रह्लादके यहाँ तो ये सब बातें भी न थीं—

'न तु प्रह्लादस्य गृहे परं ब्रह्म वसति, न च तस्य ब्रह्म मातुलेयादिरूपेण वर्तते ।···अतो यूयमेव ततोऽपि अस्मत्तोऽपि भूरिभागाः ।' (७ । १० । ५० पर श्रीधरी-व्याख्या) ।

किंतु 'लघुभागवतामृतकार'ने आगे चलकर इसी प्रकार इन पाण्डवोंसे भी क्रमशः यादवों, उद्धव, गोपी, राधिकादिकी विशेष कृपा-प्रीतिकी बात सिद्ध की है। अन्य लोग अर्जुन, हनुमान्, गरुड़ एवं लक्ष्मी आदिको विशेष कृपापात्र मानते हैं। यह तो रसिक भक्तों तथा आलोचकोंकी चिन्तन-पद्धति है। वस्तुतः विशुद्ध भजन, ईश्वर-सम्बन्ध-सेवा-संनिधान ही उत्तरोत्तर कृपोपलब्धि है।

अन्य पुराणोंमें भगवत्कृपा—

प्रायः अन्य पुराणों—नारदपुराण (१ । ८), विष्णुधर्म (१ । ५७) तथा महाभारतके नारायणीयधर्म आदिमें भी भगवत्कृपाका अनुसंधान बड़ी समाहिततासे हुआ है। इनमें 'याद दे कदाच

दे, लादनवाला साथ दे'के सिद्धान्तसे सभी साधनों एवं सिद्धियोंकी हेतु भगवत्कृपा ही मानी गयी है। भगवत्कृपा-दृष्टिसे ही मानवकी प्रबोध, सात्त्विकता एवं ज्ञान-मोक्षकी ओर प्रवृत्ति बतलायी गयी है—

जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः।
सात्त्विकस्तु स विज्ञेयो भवेन्मो॑ च निश्चितः॥
एवमात्मेच्छया राजन् प्रतिबुद्धो न जायते॥
(महा० शान्ति० ३४८। ७३, ७५)

'जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए जिस पुरुषको भगवान् मधुसूदन अपनी कृपादृष्टिसे देख लेते हैं, उसे सात्त्विक जानना चाहिये। वह मोक्षका सुनिश्चित अधिकारी हो जाता है। अपनी इच्छामात्रसे कोई ज्ञानी नहीं होता।'

तुलसी-साहित्यमें भगवत्कृपा—

मानसमें केवल 'कृपा' शब्द सात सौ बार के लगभग प्रयुक्त है। (द्रष्टव्य—श्रीबदरी-दास तथा श्रीसूर्यकान्त आदिके कोश, शब्द-सूची आदि) साथ ही गोस्वामीजीकी दीनता एव भगवत्कृपानुसंधित्सा सर्वाधिक दीखती है। वे 'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः'के अनुसार रात-दिन भगवत्कृपाकी ही प्रतीक्षा करते हैं—

'नाथ ! कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिन रात।'
(विनयप० २२१। १)

'छप्पयरामायण' उनकी अत्यन्त भावपूर्ण रचना है। इसमें इकतीस छप्पय हैं, प्रत्येक छप्पयके अन्तिम चरणमें—'कृपा करहु श्रीरामचन्द्र, मम हरहु सोक-संतापना'से कृपाकी याचना की गयी है। गोस्वामीजीके स्वामी भगवान् श्रीरामचन्द्र अत्यन्त कृपालु हैं—

करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराईं॥
(मानस २। ८४। १)

करुनामय मृदु राम सुभाऊ।........................॥
(मानस २। ३९। २)

अति कोमल करुना निधान बिनु कारन पर उपकारी॥
साधन हीन दीन निज अघ बस सिला भई मुनि नारी।
गृह तें गवनि परसि पद पंकज घोर साप ते तारी॥
(विनयप० १३। १६६। १-२)

इसी प्रकार निषादकी धार्मिक योग्यता, जयन्तका व्यवहार, जटायुका व्रतानुष्ठान, शबरी, सुग्रीव आदिकी स्थिति क्या थी; पर प्रभुने सबको अपनाया। अहल्याके लिये तो कुछ शक्य ही न था, केवल कृपाद्वारा ही उनका उद्धार हुआ। सम्भवतः इसीलिये 'कोमल चित अति दीन दयाला,' 'अति कोमल रघुबीर सुभाऊ' आदि उक्तियाँ मानसमें पद-पदपर उपलब्ध हैं। श्रीगोस्वामीजी महाराज केवल श्रीभगवान्‌की कृपामात्रसे ही सभी कल्याणोंकी प्राप्ति सम्भव मानते हैं। विभीषणादिके विषयमें वे लिखते हैं—

करुनाकरकी करुना भई।
मिटी मीचु, लहि लंक, संक गइ, काहू सों न खुनिस खई॥
बिधि-हरि-हर-मुनि सिद्ध, सराहत, मुदित देव दुंदुभी दई।
कौसिक-सिला-जनक-संकट हरि भृगुपतिकी टारी टई॥
खग-मृग, सबर-निसाचर, सबकी पूँजी बिनु बाढ़ी सई॥
(गीतावली ५। ३७। १, ३-४)

विभीषणको अमरत्व एवं लंकाके राज्यकी प्राप्ति हुई। उसका देव-दानव सबसे प्रेम हो गया। इसी प्रकार प्रभु-कृपाद्वारा श्रीविश्वामित्रजी, जनकजी आदिके क्लेश दूर हुए। निशाचरोंके पुण्य क्या थे ? पर भागवती कृपाशक्तिने इनको भी अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष प्रदान कर दिया।

कृपाशक्तिका सार्वत्रिक चमत्कार—भगवान्‌की कृपाशक्ति अघटनघटनापटीयसी है, उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि भगवत्कृपाकी लीलाशक्ति जलको थल, धूलिको पर्वत, तृणको वज्र, अग्निको बर्फ तथा हिमादिको अग्नि आदिमें भी परिवर्तित कर सकती है। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥
(मानस ५। ४। १-२)

बिष पियूष सम करहु अगिनि हिम तारि सकहु बिनु बेरें।
तुम सम ईस कृपाल परम हित पुनि न पाइहौं हेरें॥
(विनयप० १८७। ४)

बिनहीं ऋतु तरुबर फलत सिला द्रवति जल जोर।
राम लखन सिय करि कृपा जब चितवत जेहि ओर॥
सिला सुतिय भइ गिरि तरे मृतक जिये जग जान।
राम अनुग्रह सगुन सुभ सुलभ सकल कल्यान॥
(दोहावली १७३-१७४)

कृपिन देइ पाइअ परो बिनु साधे सिधि होइ।
सीतापति सनमुख समुझि जो कीजिय सुभ सोइ॥
(दोहावली १७१)

कामक्रोधादि षड्वर्गोंका संयम या 'योगसिद्धि' भी साधनोंसे सम्भव नहीं, एकमात्र भगवत्कृपा ही उसे सम्पन्न करा सकती है—

यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई ॥
(मानस ४। २०। ३)

जेहि निसि सकल जीव सूतहिं तव कृपापात्र जन जागै।
(विनयप० ११। ९३)

बिनु तव कृपा दयालु दासहित मोह न छूटै माया ॥
(विनयप० १२३। १)

भगवच्चरितमें अनुराग होना—भगवद्भजनमें लगाना तो विशेष भगवत्कृपाका परिणाम है ही—

अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई ॥
(मानस ७। १२८। २)

भगवत्कृपासे विद्या-प्राप्ति भी अनायास ही सम्भव है—
जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥
(मानस १। १०४। ३)

प्रभुकी कृपा हीन-दीन एवं उपेक्षितोंका भी सभी प्रकार परम मङ्गल करती है। गुह, केवट, विभीषण, जटायु, सुग्रीव, मारीच आदि हीन-जाति, हीन-योनि प्राणियों तथा राक्षसोंको भगवत्कृपाने सुप्रतिष्ठित एवं भक्त-संतोंकी गोष्ठीमें सम्मानित किया है—

केवट निसिचर बिहँग मृग किये साधु सनमानि।
तुलसी रघुबर की कृपा सकल सुमंगल खानि ॥
(दोहावली ३२८)

ते भरतहि भेंटत सनमाने। राज सभाँ रघुराज बखाने ॥
(मानस १। [illegible]८। ४)

वे भजते-न-भजते ही कृपा करते हैं—

'भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥'
(मानस १। १९९। ३)

भगवत्स्मरण-ध्यानादि भगवत्सम्बन्धसे भगवत्कृपा होती है और पुनः भगवत्कृपासे प्राणी भगवत्तुल्य अथवा सामीप्य, सायुज्यादि मुक्तियोंका भागीदार बन जाता है—

जानकीसकी कृपा जगावती सुजान जीव जागि त्यागि मूढ़ता अनुराग श्रीहरे।
तुलसीदास प्रभु कृपाल निरखि जीवजन बिहालु, भंज्यो भवजाल परम मंगलाचरे ॥
(विनयप० ७४। १–४)

किंतु इन्द्रादि देवता तथा राजा-महाराजोंकी कृपा या कोपमें जीवकी स्वरूपानुरूपता—स्वरूप-प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा-में कुछ बनता-बिगड़ता नहीं; ये केवल लौकिक लाभ-हानि ही कर सकते हैं। अतः श्रीतुलसीदासजीको इनकी कृपाकी चिन्ता नहीं है। प्रभु तो थोड़ी ही सेवासे निहाल कर देते हैं—

कृपाँ जिनकी कछु काजु नहीं न अकाजु कछू जिनकें मुखु मोरें।
करैं तिनकी परवाहि ते, जो बिनु पूँछ-बिषान फिरैं दिन दौरें ॥
तुलसी जेहिके रघुनाथसे नाथु, समर्थ सुसेवत रीझत थोरें।
कहा भव भीर परी तेहि धौं, बिचरै धरनीं तिनसों तिनु तोरें ॥
(कवितावली ७। ४९)

वस्तुतस्तु भगवान्के करुणा-प्रभावका तो वर्णन शक्य ही नहीं है—

पाप हरे, परिताप हरे, तनु पूजि भो हीतल सीतलताई।
हंसु कियो बकतें, बलि जाउँ, कहाँ लौं कहौं करुना-अधिकाई॥
(कवितावली ७। ५८)

स्वारथको परमारथको रघुनाथु सो साहेबु, खोरि न लाई ॥
(कवितावली ५७। ४)

गोस्वामीजी कहते हैं कि प्रभुने कृपा कर मेरे पाप भगाये, दुःख भगाये, मुझे जगत्पूज्य, पावन बनाया। मेरा हृदय भी शुद्ध शीतल हो गया। अधिक क्या कहूँ, मैं बगुलेसे हंस हो गया—प्रभुने लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, जागतिक एवं आध्यात्मिक सभी प्रकारके कल्याण कर दिये।

कृपा एवं द्रुति—अत्यधिक कृपाके लिये तुलसी-साहित्यमें 'द्रव' धातुका प्रयोग हुआ है। जैसे—'औढर दानि द्रवत पुनि थोरे', 'पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता', 'द्रवउ सो श्री भगवाना', 'द्रवउ सकल कलिमल दहन', 'कस न दीन पर द्रवहु उमावर', 'जब द्रवै दीन दयाल राघव साधु संगति पाइये', 'बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।' इत्यादि। गोस्वामीजीने द्रौपदी, प्रह्लादादिपर कई उत्प्रेक्षाएँ लिखी हैं—

त्राहि तीनि कह्यो द्रौपदी तुलसी राज समाज।
प्रथम बढ़े पट बिय बिकल चहत चकित निज लाज ॥
सभा सभासद निरखि पट पकरि उठायो हाथ।
तुलसी कियो इगारहों बसन बेस जदुनाथ ॥
(दोहावली १६८-१६९)

'भगत सिरोमनि भे प्रहलादू'पर भी कवितावली आदिमें कविकी अनेक उत्प्रेक्षाएँ हैं। 'तीव्रसंवेगानामासन्नः'-

भगवान् श्रीरामकी कृपामयी लीलाएँ

अहल्यापर कृपा

केवटपर कृपा
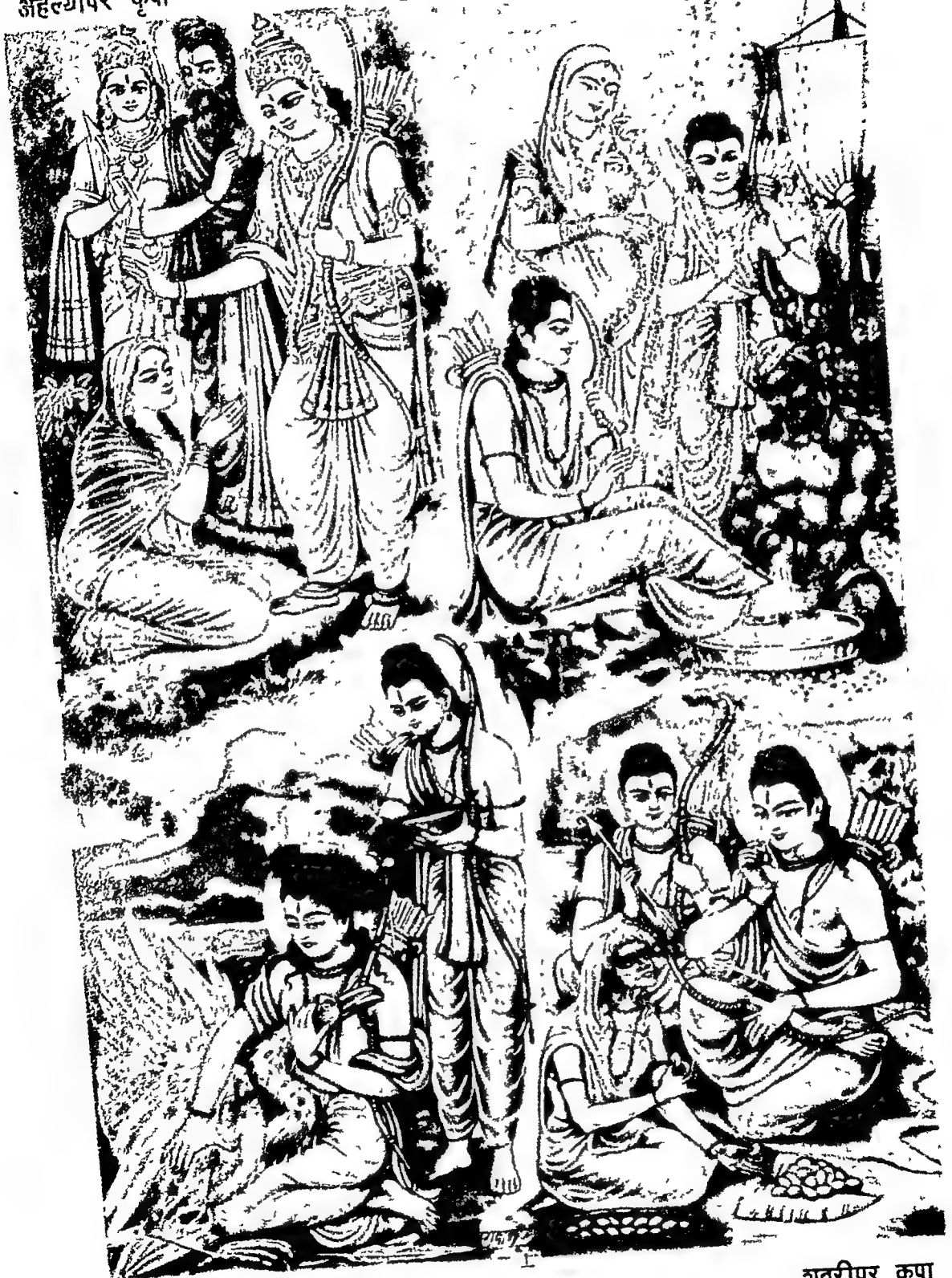
जटायुपर कृपा

शबरीपर कृपा

का भाव 'जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥' (मानस ३। १५। १) में व्यक्त हुआ है। (३। १६)के अनुसार 'हृत्कमलवासी' कृपालु भगवान् प्रह्लाद, गजेन्द्र, ध्रुव, द्रौपदी आदिके समान ही जहाँ और जब चाहें, किसी भक्तके सामने प्रकट हो सकते हैं।

इसी प्रकार 'कुण्डलियारामायण' (तुलसी-ग्रन्थावली भाग २, पृ० ८४८) मे—

'दीनदयाल दया करौ दीन जानि शिव मोहि।
सीताराम सनेह उर सहज संत गुण होहिं।
राम कृपा सुख नित रहौं जगतजनित संशय हरौ।
कह तुलसीदास संकर उमा दीनदयाल दया करौ॥'

तथा 'कलिधर्माधर्मनिरूपण' (तुलसी-ग्रन्था० २। पृ० ८३०)पर भी भगवत्कृपा-महिमा प्रदर्शित है। अस्तु,

प्राणीके सारे क्लेशोंका उपशम भी प्रभुकी कृपासे ही सम्भव है—

जब कब राम-कृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई॥
(विनयप० १२७। ५)

कृपाका तारतम्य—गोस्वामीजी 'कृपा कोप बध बंध गुसाई' आदिसे सरलतापूर्वक भाव-तारतम्य ही मानते हैं तथा द्रवण, अनुकम्पा, अनुग्रह, कृपा आदिमें भी कुछ तारतम्य मानते दीखते हैं। यदि गम्भीरतासे देखा जाय तो सुग्रीवादिके प्रति 'ताडना, शिक्षण' आदिमे 'कृपा'की भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः निरवच्छिन्न भजन, भगवत्प्राप्ति एवं भगवत्सांनिध्य ही उनकी पूर्ण कृपा है। भगवत्सांनिध्यमें भी अहंकार, अनाचार, असद्ग्राह, अनीति प्रभुके व्याकोपके ही हेतु हैं, जैसे दुर्योधन, रावणादिको प्राप्त प्रभु-सांनिध्य व्याकोपरूप ही था—

'सो धौं कहा जु, न कियो सुजोधन, अबुध आपने मान जरै।'
(विनयप० १३७। ४)

गोस्वामीजीका साहित्य प्रसादपूर्ण है, इसमे मनुष्य जिस लक्ष्य, साधना—ज्ञान, भक्ति आदिको लेकर प्रवृत्त होता है, उसे सर्वत्र वही मिलने लगता है। कुछ लोग इस रहस्यको न जानकर घबराते हैं। उनकी प्रत्येक चौपाईमे 'र, म' देखकर; प्रति-प्रकरण वेद, उपनिषद्, शास्त्र, पुराणोंकी दुहाई देखकर; चारों ओर देव, यक्ष, गन्धर्वोंको विमानसे आते-जाते, नगाड़े बजाते, स्तुति करते एवं लीला देखते देखकर; सुन्दर, मङ्गल, रुचिर आदि शब्दोंके पर्याय आदिका विस्तार देखकर; मानस, गीतावली आदिमे श्रीरामके रूप-ध्यानादिका विस्तृत वर्णन देखकर; मानससर, कल्पित लक्ष्मी, परशुरामके युद्धयज्ञ तथा चित्रकूट-आदिमें वर्णन रूपकोंकी शृङ्खला देखकर; उपमामे करोड़ों काम-रतिका तिरस्कार और सर्वत्र अजामिल, वाल्मीकि, व्याध, गणिका, मारीच आदिको कृपापूर्वक तारते-उद्धारते देखकर उन लोगोंको पुनरुक्ति-दोषकी प्रतीति होती है। फिर गोस्वामीजीका कृपासम्बन्धी अनुसंधान तो सर्वाधिक है। वास्तविक बात तो यह है कि यह सब उनका कृपा-प्रसाद-प्रदत्त सहज वरदान या अभ्यासरूप प्रसाद है। परमात्मदेवकी कृपाका पार वे स्वयं भी नहीं पा सकते; फिर वेद, शास्त्र, पुराणादिके विषयमें तो कहना ही क्या!

'बिनु कारन रामु कृपाल'

जहाँ जमजातना, घोर नदी, भट कोटि जलच्चर दंत-टेवैया।
जहाँ धार भयंकर, वार न पार, न बोहितु नाव, न नीक खेवैया॥
'तुलसी' जहँ मातु-पिता न सखा, नहिं कोउ कहूँ अवलंब-देवैया।
तहाँ बिनु कारन रामु कृपाल बिसाल भुजा गहि काढ़ि लेवैया॥
(कवितावली ७। ५२)

भगवत्कृपाकी पहचान

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

वाराणसीके एक शास्त्रीजीसे प्रायः इस विषयपर मेरा पत्र-व्यवहार होता रहा है कि जब कर्मका फल भोगना आवश्यक है, तब भगवान्की कृपाकी आवश्यकता कहाँ रही ? हम भगवान्से उसकी माँग ही क्यों करें ? एक बार उन्होंने श्लोकरूपमे इस प्रकार उत्तर दिया—

अपारः संसारः प्रतिपदविकारः सुखहरः
क्षणं नो विश्रामः क्वचिदपि न कामः फलति नः ।
तथाप्येतद् भ्रातः शपथवचनं वच्मि भवतो
भवानीभक्तस्य स्थिरसहचरी स्यात् कमलजा ॥

'इस अपार संसारमे पद-पदपर सुखको हरनेवाले विकार भरे पड़े हैं, न तो क्षणभरका विश्राम मिलता है, न हमारा कोई काम ही सिद्ध होता है; फिर भी भाई ! तुमसे शपथपूर्वक कहता हूँ कि भगवती लक्ष्मी जगदम्बिकाके भक्तकी सदा सहचरी बनी रहती हैं ।'

मैंने उन्हें लिखा कि यह तो सही है कि भगवान् भूखा उठाते हैं, पर भूखा सुलाते नहीं; किंतु भाग्यका चक्र भक्तिके फलकी अपेक्षा अधिक बलवान् है । इसपर श्रीशास्त्रीजी सम्भवतः कुछ खीझ गये और उन्होने दूसरा श्लोक लिखा—

भाग्यं न मन्ये समयं न मन्ये
ग्रहं न मन्ये न च कर्मबन्धम् ।
मन्ये परं केवलमेकमेव
क्रीडाविनोदं जगदम्बिकायाः ॥

'मैं न भाग्यको मानता हूँ, न समयको, न ग्रहको और न कर्म-बन्धनको । मैं केवल एक ही वस्तुको श्रेष्ठ मानता हूँ कि जो कुछ हो रहा है, वह जगदम्बिका महामायाका क्रीड़ा-विनोद है ।'

यहाँपर एक प्रश्न यह उठता है कि हमारी तो जान संकटमे है और जगदम्बिका क्रीड़ा-विनोद कर रही हैं ? इसका उत्तर मुझे वृन्दावनमे मिला । श्रीबाँकेविहारीजीके एक अनन्य सेवक, जो बड़े धनी तथा सम्पन्न पुरुष हैं, दिन-रात भगवान्की सेवामें जुटे रहते हैं । उनका नवयुवक ज्येष्ठ पुत्र अचानक कालके वशीभूत हो गया । लोग सहानुभूति प्रकट करने उनके यहाँ दौड़ पड़े; पर पिताके चेहरेपर शिकन भी न थी । एक व्यक्तिने कह दिया—'भगवान्की इतनी सेवा करनेवालेपर यह विपत्ति !'

यह बात उन्हें चुभ गयी । वे बड़े सौम्यभावसे बोले—'देखो भाई ! उन्होंने (परमात्माने) मेरा घर तो देखा है, पर मैंने उनका घर नहीं देखा । वहाँ क्या लिखा-पढ़ा जाता है, यह मुझे ज्ञात नहीं । फिर मैं उन्हें दोष क्यों दूँ ? मेरे घरकी बुराई तो उन्हे ज्ञात है । वहाँ किसको, कब बुलाया अथवा भेजा जाता है, यह हमलोगोंकी समझके बाहरकी बात है; पर यह सत्य है कि उन सर्वज्ञ दयालु प्रभुके यहाँ न्याय ही होगा, उनका प्रत्येक विधान मङ्गलमय ही होगा ।'

हम सबके लिये यह बड़े मर्मकी बात है । हम हर बातमें भगवान्की अनुकूलतारूपा कृपा ही चाहते हैं । यहाँतक कि चोरी करनेके पहले चोर भी मन्दिरके सामने हाथ जोड़ लेता है, चोरीमें प्राप्त सफलताको वह भगवान्की कृपा समझता है । चोरबाजारीसे धन कमानेवाला व्यापारी भी अपनेको इसी कृपाका आश्रित मानता है । प्रायः लोगोंकी तो यह गलत धारणा ही बन गयी है कि जो काम बनता है, वह भगवान्की कृपा और जो बिगड़ता है, वह उनकी निष्ठुरताका फल है ।

पर ऐसा सोचनेवाला यह नहीं जानता कि परमात्मा वास्तवमे क्या है । आइये, इस विषयपर कुछ विचार करें—यदि वे करुणासागर होनेके साथ ही क्रूर तथा कठोर दण्डनायक भी हैं तो उनपर दोषारोपण हो सकता है और तब तो वे गुण-अवगुण दोनोंसे युक्त होनेके कारण भगवान् नहीं, साधारण न्यायाधीश हो गये । यदि वे करुणासिन्धु हैं तो हम क्यों न मान लें कि हमारे कर्मानुसार जितनी विपत्ति आनेवाली थी, उसमें कुछ कमी हो गयी । करुणासिन्धुने उसके आघातको हल्का कर दिया । यदि काम बिगड़ता है तो उसमे हमारा कर्मफल निमित्त है, पर उनकी कृपासे उतना नहीं बिगड़ा, जितना बिगड़ना चाहिये था । जिसने भगवत्कृपाको इस रूपमे समझ लिया, उसका जीवन बहुत कुछ सार्थक हो गया ।

'गमालील बेली' नामक एक अमेरिकन पत्रकारने लिखा था कि 'संसारमें यदि कुछ जानने योग्य है तो वह

है ईश्वर और अपना आत्मा।' 'ओवेनयंग' लिखते हैं कि 'जो व्यक्ति ईश्वरका शत्रु है, वह किसी मनुष्यका मित्र नहीं हो सकता।' यूनानी दार्शनिक 'प्लेटो'का कहना था कि 'सत्य ही भगवान्‌का स्वरूप है और प्रकाश ही उनकी छाया है।' ईरानी दार्शनिक 'शेख सादी'ने एक स्थलपर लिखा है—'मुझे ईश्वरसे अधिक डर उससे लगता है, जो ईश्वरसे नहीं डरता।' स्काटलैंडके एक पादरी 'रावर्ट मरे मैकचेपोन'ने कहा है कि 'एक वार भी ईश्वरके निकट चले जाओ तो तुम्हें अन्य सब कुछ तुच्छ प्रतीत होगा।' किंतु यह सब तो उनकी महत्ताका प्रतिपादन हुआ।

उनकी कृपाके विषयमें अमेरिकाके सुप्रीम कोर्टके मुख्य न्यायाधीश 'जान जे'ने बहुत ही मार्केकी वात कही है—'ईश्वर जो कुछ कर रहे हैं, वह हमारे लाभके लिये ही है। जब हम सम्पत्तिसे भरपूर रहते हैं, तब वे हमारी कृतज्ञताकी परीक्षा लेते हैं। जब हम बहुत साधारण जीवन विताते हैं, तब हमारे संतोषकी परीक्षा होती है। विपत्तिकालमें वे देखते हैं कि हममें उनके प्रति कितना आत्मसमर्पण है! जब हम लोभ-लालचमें पड़ जाते हैं, तब समझना चाहिये कि हमारी दृढ़ताकी परीक्षा हो रही है। इस प्रकार प्रतिक्षण वे हमारी परीक्षा ले रहे हैं, जिससे वे जान सकें कि उनमें हमारा कितना विश्वास है तथा उनके प्रति हमारी कितनी आस्था है।'

ईश्वर ही संसारका संचालन कर रहे हैं। हमको तो केवल अपने कर्त्तव्यका पालन करना है, वह भी बुद्धिमानीके साथ। परिणाम भगवान्‌के हाथों छोड़ देना चाहिये—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'
(गीता २। ४७)

परमात्माको पहचानना कठिन है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि मैं अपनी योगमायासे आच्छादित हूँ। इसलिये मन्दबुद्धि मुझे नहीं पहचानते—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
(गीता ७। २५)

मेरी शरण ग्रहणकर जो इस मायाको पार कर जाते हैं, वे मुझे पाते हैं और इस मायाके वशीभूत होनेसे जिनका ज्ञान नष्ट हो जाता है, वे भोगासक्त मूढ मुझे नहीं प्राप्त कर सकते।

मायाका विकार मनपर अपनी छाप डाल देता है। प्राणी जिससे मनन करता है, उस अन्तःकरणको मन कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्‌में मनको समस्त संकल्पोंका अयन—स्थान कहा गया है—

सर्वेषाᳬसंकल्पानां मन एकायनमेवम्। (२।४।११)

अद्वय, अविभक्त, परमात्मा, भगवान्, ब्रह्म—उन्हें कुछ कहिये, वे परमसत्य हैं। सत्यको जाननेवाले ही इस तथ्यको जानते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(श्रीमद्भा० १। २। ११)

'तत्त्ववेत्तागण ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित अखण्ड अद्वितीय ज्ञानको तत्त्व कहते हैं। उसीको कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान्‌के नामसे पुकारते हैं।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि भगवत्कृपाके इच्छुकको पहले भगवान्‌की शरणमे जाना होगा, भगवान्‌से प्रेम करना होगा। जिस प्रेमके लिये बृहदारण्यक उपनिषद्‌ने लिखा है कि 'जीवोंके लिये प्रेमके विषय केवल परब्रह्म परमात्मा हैं और उन्हें भी (जीव) उसी प्रकार प्रिय हैं (१।४।८) तथा जीव उनसे वैसा ही प्रेम करें, जैसा अपनेसे—

'आत्मानमेव प्रियमुपासीत'

वह प्रेम निःस्वार्थ होना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि श्रीकृष्णका भक्त पाँचों प्रकारकी मुक्ति या मोक्ष नहीं चाहता, उसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारोंकी कामना भी नहीं है। यदि उसे ये सब दिये भी जायँ तो ग्रहण नहीं करता। उसे बस, केवल भगवान्‌की सेवा करना ही अभीष्ट है। भक्त सब कुछ भगवान्‌पर छोड़ देता है, वे कृपा करें, न करें; दें, न दें; जो कुछ चाहें, वही करें; हमें कुछ नहीं चाहिये—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

शक्तिसे शक्तिमान् पृथक् नहीं हो सकता। जीवसे भगवान् या भगवान्‌से जीवका पृथक् होना सम्भव नहीं है; पर भोगैश्वर्यमें फँसे जीव इस आनन्दसे विमुख हैं, दूर हैं। निकट रहकर भी दूर रहना कितना बड़ा दुर्भाग्य है!

जब हम इस तथ्यको जान लेते हैं अर्थात् परम प्रेमी दयालु प्रभुके साथ अपने अटूट सम्बन्धको पहचान लेते हैं, तब भगवत्कृपाकी अखण्ड धारा हमें ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर सर्वत्र आप्लावित करती हुई दीख पड़ती है। हमारा दारिद्र्य सदाके लिये समाप्त हो जाता है।

गांधीजीका सर्वोच्च सामर्थ्य—भगवन्निष्ठा और भगवत्कृपा

(लेखक—सम्मान्य श्रीकाकासाहेब कालेलकर)

दक्षिण अफ्रिकाका अपना जीवन-कार्य सफलतापूर्वक पूर्ण करके महात्मा गांधीजी सन् १९१५ ई०में भारत लौटे। लगभग तबसे अन्ततक मैं उनके सम्पर्कमें रहा। मुझे एक लम्बे समयतक श्रीगांधीजीके सम्पर्कमें रहनेका शुभ अवसर मिला, इसे मैं भगवान्‌की कृपा मानता हूँ।

उनका मुझे विशेष आकर्षण क्यों रहा ? यह बात कुछ शब्दोंमें कहकर ही मैं गांधीजीकी भगवद्भक्तिसे सम्बन्धित विशेषताएँ स्पष्ट कर सकूँगा।

भारत-जैसे धर्मपरायण देशको अर्थात् यहाँकी जनताको भगवान्‌ने दुनियाके सम्पूर्ण धर्मोंका परिचय प्राप्त कराया। इससे इस जमानेके युवक-युवती अलिप्त कैसे रहें ! मैंने स्वयं धर्मनिष्ठायुक्त वायुमण्डलमें अपना बाल्यकाल व्यतीत किया। भक्ति-भावसे भगवान्‌की पूजा-अर्चा करनेमें और व्रत, [illegible] त्योहार, आतिथ्य, अनुष्ठान और तपस्या आदिमें मेरा सब प्रकारसे [illegible] सम्पर्क रहा।

उसके बाद मेरी गणित-[illegible] मुझे जीवन-रहस्यको समझनेकी उत्कट भावना दी। मैं बुद्धिवादी नास्तिक बना। फिर तो रूढ़ि धर्मकी निन्दा करनेमें मुझे उतना ही आनन्द आता, जितना बचपनमे पूजा-अर्चामें आता था।

परंतु मेरी उस समयकी तत्त्वनिष्ठा ही मुझे चरित्र-शुद्धि और जीवन-रहस्यको समझनेकी जिज्ञासाकी ओर ले गयी। मैं वेदान्तका भक्त बना। लम्बे समयके विचारके फलस्वरूप मैं इस निर्णयपर पहुँचा कि भारतकी राजनीतिक मुक्तिके बिना आध्यात्मिक मुक्ति न इष्ट है, न शक्य है।

उन दिनों भारतके उद्धारका उत्कट प्रयत्न करनेवाली एक ही राजनीतिक संस्था थी—कांग्रेस; किंतु उसका वैधानिक मार्ग मुझे पसंद न था। मैं तो गुप्तरूपसे फौजी तैयारी करके भारतको स्वतन्त्र करानेमें भलाई मानता था। यह काम कितना कठिन है, इसका अनुभव होनेके बाद भगवत्कृपाने मुझे गांधीजीसे परिचय कराया।

'राष्ट्रमत'-जैसा तेजस्वी मराठी अखबार चलाते हुए दक्षिण अफ्रिकामें गांधीजी वहाँके भारतीयोंको कैसे तैयार कर रहे हैं, इसकी जानकारी मुझे पहलेसे ही थी। मैं स्वयं एक क्रान्तिकारी गुप्त संस्थाकी सेवाके उपरान्त, स्वामी विवेकानन्दके रामकृष्णमिशनके साथ परिचित होता जा रहा था और कविवर रवीन्द्रनाथके 'शान्ति-निकेतन'में शिक्षाकार्य करनेकी थोड़ी सेवा मैंने मान्य भी की थी। रेवरेंड एंड्रूज-जैसे चरित्रवान् भगवद्भक्त अंग्रेजके माध्यमसे वहाँ गांधीजीसे मेरा परिचय हो सका और मैंने देखा गांधीजी चरित्रवान् एवं महान् राष्ट्रसेवक तो हैं ही, किंतु उनकी सेवाके पीछे असली प्राणतत्त्व है उनकी भगवद्भक्तिका।

उन दिनों मैं अपनी नित्यकी मौन-प्रार्थनामें कहता कि 'हे प्रभो ! मुझे राजनीतिक नेता नहीं बनना है, अपितु सफल क्रान्तिकारी गुप्त सेनापति बनना है।' उच्च चारित्र्यके बिना जीवनका उद्धार न होगा; किंतु यदि मैं समाजमें संत बनकर ईश्वरका जयगान करने लगूँ तो लोग मेरी भक्ति-पूजा करेंगे, उसमें चारित्र्यकी साधना गौण बनेगी। संतोंके सम्पर्कसे जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, लोगोंमें उन्हींका आकर्षण बढ़ेगा। मुझे तो अध्यापक, शिक्षाशास्त्री और सेवापरायणके रूपमें ही दुनियाके सामने रहना है। मैंने देखा कि इसी आदर्शको पूर्णरूपसे सिद्ध करनेवाले महात्मा गांधी थे। उनमें सच्ची भगवद्भक्ति थी। वे आदर्श चारित्र्यके उपासक थे। देशमें सेवापरायण युवक-युवतियोंको तैयार करना उनका पवित्र उद्देश्य था। इससे बढ़कर मुझे और क्या चाहिये था !

एक तो मैंने देखा कि गांधीजी प्रार्थनामें विश्वास करते थे। गीताके श्लोक बोलते हुए वे भगवद्भक्तिमें तल्लीन हो जाते थे। किंतु उसका प्राकट्य न हो जाय (यह तल्लीनता दूसरोंपर प्रकट न हो), इसका भी वे ध्यान रखते थे। जब उन्होंने देखा कि मैं सचमुच उनकी जीवन-साधनाको समझना चाहता हूँ और उनके आश्रममें रहकर राष्ट्र-सेवकोंको तैयार करनेमें तल्लीन हूँ, तब वे अपने विषयमें कभी-कभी स्पष्ट शब्दोंमें भी बोलने लगे थे।

एक दिन ऐसे ही किसी प्रसङ्गमें बोलते हुए उन्होंने कहा—'भोजन और नींदके बिना भी मैं सम्भवतः दीर्घकालतक जी सकूँगा, किंतु राम-नामके बिना एक क्षण भी जीना मेरे लिये असह्य है।'

गांधीजी पूरे-पूरे (सच्चे) भक्त थे । उनके प्रत्येक शब्दकी मेरे पास कीमत थी । समाज-जीवनके अनुभवी लोग राष्ट्र-सेवकोंकी कीमत तो सूक्ष्मदृष्टिसे आँकते ही आये थे । गांधीजीके उस वचनका मेरे ऊपर जो प्रभाव पड़ा, उसको क्या कहूँ ! प्रार्थना मौन रहकर किंतु उत्कटभावसे कैसे करनी चाहिये, इसका नमूना मैं गांधीजीमें ही देख सका था ।

अब भगवत्कृपाके सम्बन्धमें गांधीजीके विचार क्या थे, यह स्पष्ट करना सरल होगा ।

गांधीजीका जीवन-रहस्य उनके सत्याग्रहमें है, यह तो मैं पढ़ भी चुका था और देख भी चुका था; इसीलिये तो मैं उनका अनुयायी बना था । अब एक दिन आत्म-परीक्षण करते उनसे सुना—'हम सत्याग्रहके लिये ही जीते हैं, किंतु हमारी निष्ठा तबतक टिकेगी और तब सफल होगी, जब हम भगवत्कृपाके योग्य बनेंगे ।'

बस, गांधीजीका यह वाक्य मेरे हृदयकी गहराइयोंतक पहुँच गया । गांधीजीमे मैंने जो कुछ तेजस्विता, सत्यनिष्ठा देखी, उसके पीछे कौन-सी शक्ति है, इसीका मानो उस वाक्यके द्वारा मुझे नये ढंगसे विशेष परिचय मिला । गांधीजीका सामर्थ्य था उनकी भगवन्निष्ठामें और उन्हें आध्यात्मिक समाधान मिलता था—अनुभवमें आयी हुई भगवत्कृपासे ।

मैंने अपने सुदीर्घ जीवनमें अनेक देशोंकी यात्रामें अनेक संत देखे, किंतु भगवन्निष्ठाकी उत्कटता और भगवत्कृपाका अनुभव जितना गांधीजीमें देखा, उतना और कहीं भी न पा सका ।

आज जब जीवन-कार्य लगभग समाप्त हो रहा है और भगवान्‌के चरणोंतक पहुँचनेकी एक ही अभिलाषा शेष है, तब गांधीजीका पवित्र स्मरण ही सर्वोच्च प्रेरणा दे रहा है ।

'कृपा करौ अब, दरसन देहु मुरारी'

महा प्रभु, तुम्हें बिरद की लाज ।
कृपा-निधान, दानि दामोदर, सदा सँवारन काज ॥
जब गज-चरन ग्राह गहि राख्यौ, तबहीं नाथ पुकार्‌यौ ।
तजिकै गरुड़ चले अति आतुर, नक्र चक्र करि मार्‌यौ ॥
निसि-निसि ही रिषि लिए सहस-दस दुरवासा पग धार्‌यौ ।
ततकालहिं तब प्रगट भए हरि, राजा-जीव उबार्‌यौ ॥
हिरनाकुस प्रहलाद भक्त कौं बहुत सासना जार्‌यौ ।
रहि न सके, नरसिंह रूप धरि, गहि कर असुर पछार्‌यौ ॥
दुस्सासन गहि केस द्रौपदी, नगन करन कौं ल्यायौ ।
सुमिरत हीं ततकाल कृपानिधि, बसन-प्रवाह बढ़ायौ ॥
मागधपति बहु जीति महीपति, कछु जिय मैं गरवाए ।
जीत्यौ जरासंध, रिपु मार्‌यौ, बल करि भूप छुड़ाए ॥
महिमा अति अगाध, करुनामय भक्त-हेत हितकारी ।
सूरदास पर कृपा करौ अब, दरसन देहु मुरारी ॥

(सूरसागर १०९)

कृपा-रहस्य

(लेखक—श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० लिट्०)

असीम भगवान्‌की कृपा भी असीम ही है । उनका न कहीं ओर है न छोर; न आदि है, न अन्त; वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक करुणावरुणालय परमैश्वर्य-सम्पन्न भगवान्‌की ही लीलाका विलास है, उनका एक नैसर्गिक गुण है । इस नैसर्गिकी कृपासे सम्पन्न उनका हृदय-कलश सदा-सर्वदा छलकता रहता है, परंतु अनधिकारी (अजिज्ञासु) व्यक्तिको उसका अनुभव नहीं होता । भागवती कृपाके अमृत-बिन्दुओंका रसास्वादन करनेके लिये जीवमें कृपाके प्रति सम्मुखता अपेक्षित होती है ।

उस कृपाका अधिकारी बननेके लिये तामस-राजस गुणोंका परित्याग तथा सात्त्विक गुणोंका ग्रहण जीवके लिये नितान्त आवश्यक होता है । इसके लिये स्वधर्माचरण प्राथमिक निष्ठा है । भारतीय वैदिक-समाजके अनुसार जिस वर्णमें किसी व्यक्तिका जन्म होता है, उसके लिये निश्चित किये गये धर्म ही 'स्वधर्म' माने गये हैं । उनका आचरण करनेसे व्यक्ति अपनेको सात्त्विक गुणोंका अधिष्ठान बनानेमें समर्थ होता है ।

अधिकारी भक्तके लिये चैतन्य महाप्रभुने कुछ अन्य गुणोंकी सत्ताको भी आवश्यक बतलाया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

इस श्लोकमें जिन चार गुणों—तृणसे भी अधिक नम्रता, वृक्षके समान द्वन्द्वसहिष्णुता, अमानिता तथा मान-दातृत्वका उल्लेख किया गया है, उनमें अमानित्वका अपना वैशिष्ट्य है । अभिमान साधकको कभी आगे नहीं बढ़ने देता, न वह उसे भगवत्प्राप्तिके लिये समर्थ ही होने देता है । गोस्वामी तुलसीदासजीने संतोंके लक्षणोंमें इसका विशिष्ट उल्लेख किया है—

कोमल चित दीनन्ह पर दाया । मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी । भरत प्रान सम मम ते प्रानी ॥
(मानस ७ । ३७ । २)

फलतः अमानिता तथा मानदायकता परस्पर संयुक्त रहते हैं, ये भागवत-गुण हैं—भगवान्‌की ओर साधकको प्रेरित करनेवाले गुण । इसीलिये भगवान्‌के सहस्र नामोंके अन्तर्गत इन दोनोंके साथ, इनसे ही सम्बद्ध एक तीसरे नामका उल्लेख किया गया है—

'अमानी मानदो मान्यः ।' (विष्णुसहस्रनाम ९३)

इन तीनोंमें क्रमिक विकास भी लक्षित किया जा सकता है । जो व्यक्ति अभिमानशून्य होता है, वही दूसरेको मान (सम्मान) देता है और तभी वह मान्य होता है, दूसरोंके हाथों मान पानेका अधिकारी होता है । निष्कर्ष यह है कि भागवती कृपाका अधिकारी होनेके लिये 'अमानी' होना नितान्त आवश्यक है ।

जीवके हृदयमें 'आर्तभाव'के उदित होनेकी विशेष आवश्यकता है । 'अमानिता' तथा 'आर्तता'—दोनोंमें कार्य-कारणभावका सम्बन्ध भी लक्षित किया जा सकता है । जो अमानी होगा, अभिमान तथा अहंकारसे विहीन होगा, वही 'आर्त' हो सकेगा । मानी व्यक्ति अपने-आपको सर्वसमर्थ समझता है । वह अपनेसे बड़ा तथा अधिक शक्तिशाली किसीको मानता ही नहीं । फलतः वह भागवती कृपाके अनुभवका अधिकारी कथमपि नहीं हो सकता । आर्त व्यक्ति अपनी एक ही करुण-पुकारसे भगवान्‌को अपनी ओर खींचनेमें समर्थ होता है ।

श्रीमद्भागवतके गज-ग्राह-प्रसङ्गमें गजका ग्रहण आर्तताके प्रतीक-रूपमें किया गया है । अष्टम स्कन्धके द्वितीय तथा तृतीय अध्यायोंमें इस प्रसङ्गका मार्मिक विवरण प्रस्तुत किया गया है—

न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजाः
कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम् ।
ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतो-
ऽप्यहं च तं यामि परं परायणम् ॥
(श्रीमद्भा० ८ । २ । ३२)

'अहो ! विधाताके इस ग्राहरूप पाशमें पड़नेपर अत्यन्त आतुर हुए मुझको, जब ये मेरे साथी हाथी ही नहीं उबार सके, तब हथिनियाँ तो छुड़ा ही कैसे सकती हैं । अतः अब मैं सबके परमाश्रय उन श्रीहरिकी ही शरण लेता हूँ ।'

स्तुति सुनकर भगवान् पधारे और उन्होंने कृपापूर्वक अपने दुर्दमनीय सुदर्शन चक्रसे ग्राहको मारकर गजेन्द्रका मोक्षण किया ।

ऊपर उद्धृत पद्यमे 'आतुर' एवं 'आर्त' शब्द व्याकरण-दृष्टिसे भिन्न शब्द ही माने जाते हैं, परंतु भाषाशास्त्रीय-दृष्टिसे 'आतुर' आर्तसे निष्पन्न शब्द है; फलतः शास्त्रकी दृष्टिसे भी भगवत्कृपाको उद्रिक्त करनेके लिये 'आर्तभाव'की नितान्त उपादेयता है और यह तभी सम्भव है, जब जीवमे अमानिताका उदय होता है। पुराणोंमे इस तथ्यका प्रतिपादन शब्दतः तथा तात्पर्यतः बहुशः किया गया है।

भगवान्‌की कृपाके रहस्यका उद्घाटन श्रीकृष्णकी ऊखल-बन्धन-लीलाके प्रसङ्गमे बड़ी मार्मिकतासे किया गया है। श्रीयशोदा मैया दूध पीते हुए बालकृष्णको अपनी गोदसे उतारकर उफनते हुए दूधको सँभालनेके लिये चली गयीं, तब श्रीकृष्णने रुष्ट होकर दहीके मटकेको फोड़ दिया और भागकर मक्खनके भाण्डके पास पहुँचे। वहाँ वे उलूखलपर चढ़कर मक्खन निकालकर बंदरोंको लुटाने लगे। यह देखकर माता यशोदा छड़ी लेकर दौड़ीं और कुछ दूरपर ही उन्होंने अपने लालाको पकड़ लिया। उन्होंने चाहा कि गोपालको उलूखलमे बाँधकर उनकी स्वच्छन्द गतिको सीमित कर दिया जाय। इस बन्धनकार्यके लिये उन्होंने घरके भीतरसे एक डोरी लाकर उन्हे बाँधना चाहा, परंतु डोरी दो अङ्गुल छोटी रही, बाँधना न हो सका। दूसरी रस्सी लायी गयी, परंतु वह भी दो अङ्गुल छोटी निकली। तीसरी भी जब इस त्रुटिसे मुक्त न रही, तब मैयाने घरभरकी समस्त डोरियाँ लाकर एक अम्बार ही खड़ा कर दिया; परंतु महान् आश्चर्य! ये समस्त डोरियाँ मिलकर भी दो अङ्गुल छोटी रहीं—लालाकी कमरको न बाँध पायीं। भगवान् बन्धनमे न आ सके। माता दौड़-धूप करते-करते नितान्त परिश्रान्त हो गयी—शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया, कबरीकी माला खिसक गयी। माताको अत्यन्त विथकित देखकर श्रीकृष्णचन्द्र कृपया स्वयं बन्धनमे आ गये—

स्वमातुः खिन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने॥
(श्रीमद्भा० १०।९।१८)

इस प्रसिद्ध लीलामे बन्धन-रज्जुकी द्व्यङ्गुलिन्यूनताका रहस्य क्या है? सब बन्धनडोरियाँ दो ही अङ्गुलि न्यून होती थीं। भगवान् बँधें, तो कैसे बँधें। उनकी ऐश्वर्यशक्ति उन्हे बन्धनमे डालनेके लिये क्या कथमपि आदेश देती थी? नहीं, कभी नहीं। इस रहस्यका उद्घाटन, कवि कर्णपूरने अपने सरस 'आनन्दवृन्दावनचम्पू'में सुन्दर ढंगसे किया है—

'भजजनपरिश्रमो निजकृपा चेति द्वाभ्यामेवायं बद्धो भवति, नान्यथेति। यावत् तद्द्वयानुत्पत्तिरासीत्, तावदेव दाम्नां द्व्यङ्गुलिन्यूनताऽऽसीत्। सम्प्रत्युभयमेव जातमिति पुनरुद्यममात्रे तया क्रियमाण एव बन्धनमुररीचकार।
(आनन्दवृन्दावनचम्पू ६।१४)

भक्तका 'भजन-परिश्रम' एवं सर्वेश्वरकी 'स्वनिष्ठकृपा'—इन दोनोंके व्यक्त होनेपर ही सर्वेश्वर बन्धन स्वीकार करते हैं। इनके अतिरिक्त उन्हे बाँधनेका अन्य कोई साधन नहीं। उन्हे बाँधनेके लिये उपनीत डोरियाँ इसकी सूचना अपनी दो अङ्गुलिकी न्यूनताके द्वारा दे रही थीं। जब भगवान्‌ने भक्तरूपिणी माताका परिश्रम देखा, तब उनकी कृपाशक्तिका सद्यः आविर्भाव हुआ और वे स्वतः बन्धनमे आ गये। कृपाशक्तिके आनेपर श्रीकृष्णचन्द्रकी अन्य समस्त शक्तियाँ या तो छिप जाती हैं या आवश्यकता होनेपर उसीका अनुगमन करती हैं।

इस संदर्भका निष्कर्ष यही है कि भगवान्‌की कृपाशक्तिको जागरित तथा उद्बुद्ध करनेके लिये भक्तमे 'भजन-परिश्रम'-की नितान्त आवश्यकता है। जबतक वह भगवान्‌के भजनमें परिश्रम नहीं करता, उसमें अपनी पूरी शक्ति नहीं लगाता, तटस्थ वृत्तिसे ही भजनमे निमग्न रहता है, तबतक उनकी नैसर्गिकी कृपाशक्तिका आविर्भाव ही नहीं होता।

स्वधर्मके आचरणसे शुद्ध सात्त्विक हृदयमे आर्तभावका उन्मेष तथा भगवान्‌के नामरूप-चिन्तनमे भक्तका घोर परिश्रम—ये दोनो ही मिलकर भगवान्‌की असीम कृपाका उन्मीलन करते हैं, जिससे साधक कृतकार्य हो जाता है। भागवती कृपाका यही रहस्य है।

अपार दयार्णव भगवान् जीवको सकटसे मोक्ष प्रदान करें, यही विनम्र प्रार्थना है—

यं धर्मकामार्थविमुक्तिकामा
भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
किं त्वाशिषो रात्यपि देहमव्ययं
करोतु मेऽदभ्रदयो विमोक्षणम्॥
(श्रीमद्भा० ८।३।१९)

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी इच्छावाले पुरुष जिनका भजन करते हुए अपनी अभीष्ट गति प्राप्त करते हैं, यही नहीं, जो उन्हे नाना प्रकारके भोग और सुदृढ़ शरीर प्रदान करते हैं, वे परमदयालु प्रभु मेरा उद्धार करें।'

भगवत्कृपा—एक महती शक्ति

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्यावाचस्पति, विद्यानिधि)

पाण्डव पाँच ही थे, इधर कौरव थे सौ और फिर उनके संरक्षक भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्य-जैसे महान् बलशाली और सुप्रसिद्ध महायोद्धा थे। पाण्डवोंकी सेना सात अक्षौहिणी थी और कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी। कौरव-दलमें नारायणी सेना भी शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित थी, जिसे स्वयं दुर्योधनने श्रीकृष्णसे आग्रहपूर्वक माँगा था। इतना होते हुए भी कौरवगण पाण्डवोंका बालतक बाँका न कर सके।

सो धौं कहा जु न कियो सुजोधन, अबुध आपने मान जरै।
प्रभु-प्रसाद सौभाग्य विजय जस पांडवनै बरिआइ बरै॥

(विनयप० १३७। ४)

यही दिव्यशक्ति 'भगवत्कृपा' कहलाती है। यह कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ है। जिसको पुरुष सोच नहीं सकता, उसे यह चरितार्थ कर देती है।

केनोपनिषद्में यक्षकी कथाके संदर्भमें इस रहस्यका सुस्पष्ट प्रतिपादन उपलब्ध होता है। परमात्माकी शक्तिसे शक्तिमान् अग्नि, वायु तथा इन्द्र आदि भी उस समय शक्तिसे रहित हो जाते हैं, जब अहंकारवश ये अपने आपको ही सर्वसमर्थ मान लेते हैं। परमात्माकी कृपा-शक्तिसे ही सभी अनुप्राणित हैं, यह निर्विवाद है—

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति॥ तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति॥ तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति॥ तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते। नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥

(३। ३। ३–६)

"देवताओंने अग्निसे कहा—'हे अग्ने! इस यक्षका पता तो लगाओ कि यह कौन है?' —'बहुत अच्छा' कहकर अग्नि उसके पास गये। यक्षने पूछा—'तुम कौन हो? और तुममें क्या बल है?' उन्होंने कहा—'मैं अग्नि अपर नाम जातवेदस् हूँ। जगत्में जो कुछ भी पदार्थ हैं, मैं उसे जला सकता हूँ।' यक्षने उन्हें एक तिनका दिया और कहा—'इसे जलाओ।' अग्नि सम्पूर्ण वेगसे उसपर दौड़े, पर जला न सके। वे वहाँसे लौट आये और बोले—'मैं उस यक्षको न जान सका।'"

'अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति॥ तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति। तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति॥ तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥

(३। ३। ७–१०)

"तत्पश्चात् देवताओंने वायुको यक्षका पता जाननेको भेजा। वायु यक्षके पास गये। यक्षने पूछा—'तुम कौन हो और तुममें कितना बल है?' वायुने कहा—'मैं पृथ्वीकी कोई भी वस्तु उड़ा सकता हूँ। मेरा नाम मातरिश्वा है।' यक्षने उन्हें वही तिनका उड़ानेको दिया, पर वे न उड़ा सके और वहाँसे वापस लौट आये तथा देवताओंसे बोले—'मैं भी यक्षको न जान सका।'"

फिर यक्षको जाननेके लिये इन्द्र गये। पर यक्ष तबतक अन्तर्धान हो चुका था। उसकी जगह उन्हें हिमालयकी पुत्री उमादेवी मिलीं। उन्होंने कहा—

'आपलोगोंमें जो शक्ति है, वह ब्रह्मकी है। ब्रह्मकी विजयमें अपनी विजय समझो।' अर्थात् भगवान् जब इन देवताओंसे अपनी शक्ति खींच लिया करते हैं, तब वे देवता भी निस्तेज हो जाया करते हैं। सूर्य एवं चन्द्रादि भगवान्की कितनी अमोघ शक्तियाँ हैं, पर प्रलयकालमें ये ही शक्तियाँ कुछ नहीं कर सकतीं।

ये जो वृक्ष, पर्वत आदि आकाशमें ठहरे हुए हैं, जबतक उनमें भगवान्की शक्ति है, तबतक वे सुरक्षित हैं, उन्हें कोई भी नहीं गिरा सकता; पर भगवान्की शक्ति उनसे हटते ही मकान, वृक्ष, पहाड़ आदि अनायास गिर पड़ते हैं। महाभारत-युद्धके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको रथसे उतर जानेको कहा, उतरते ही वह जल गया, जो भीष्म, द्रोण आदिके अस्त्रोंसे पहले ही दग्ध हो चुका था। श्रीकृष्णकी कृपाशक्तिके प्रभावसे ही वह तबतक सुरक्षित रहा था।

'श्रीकृष्णस्य कृपालवो यदि भवेत् कः कं निहन्तुं क्षमः'

भगवत्कृपाका परमार्थ

(लेखक—पं० श्रीसूरजचंदशाह सत्यप्रेमी ('डाँगीजी'))

यह सम्पूर्ण विश्व, वह परिपूर्ण विश्वम्भर और दोनोंकी अनुभूति करनेवाली अचिन्त्य सम्यक्-दृष्टिकी प्राप्ति ही भगवत्कृपाका परमार्थ है । प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजीकी घोषणा है कि—

बिनु सतसंग बिबेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥

(मानस १ । २ । ४)

श्रीराम-कृपाके बिना सत्सङ्ग सुलभ नहीं और सत्सङ्गके बिना विवेक-दृष्टि नहीं और—

'बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई'

बिना विवेक-दृष्टिके संसारसागरसे कोई पार नहीं पा सकता । अब हम विचार करें कि जीवनके इस पारमार्थिक फलका स्वारस्य क्या है ? संत तुकारामजीकी अभंगवाणी है—

सेवितो हा रस वाटितो आणीका । घ्यारे होउ नका रान-भरी ॥

भगवत्कृपाके इस रसका मैं स्वयं सेवन कर रहा हूँ और अन्य सबके लिये वितरण करता हूँ—सब इस रसका पान करें और ग्राम्य-विषयरसमें मुग्ध होकर संसारसागरमें गोते न लगायें, न डूबें, न बहें । तरनेका उपाय करें । अब यह सोचें कि यह भगवत्कृपा उपलब्ध कैसे होती है ?—

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई । भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥

(मानस १ । १९९ । ३)

वैसे तो भगवत्कृपा सबपर एवं सब समय अनवरत बरस रही है; परंतु मन, वचन, कर्मसे सम्पूर्ण चतुराई छोड़कर निरन्तर श्रीहरि-भजन करनेसे भगवत्कृपाकी अनुभूति होती है ।

नाम घेतां उठाउठी । पडे संसाराची तुटी ॥

निरन्तर प्रभुका स्मरण हो, यही प्रभुकृपाका मूल है और जीवनमें केवल स्मरण ही रह जाय, यही फल है । स्मरणमें 'स्'—स्वीकृति छूट गयी; यही मरण है, यही संसार है, यही नास्तिकता है । 'वह नहीं'—यही नास्तिकता है और 'वह है'—यही आस्तिकता है । केवल 'है' ही कालनिरपेक्ष, अनादि और अनन्त है— इस चिन्मय सत्ताकी अखण्ड प्रतीति ही तत्-कृपा—भगवत्कृपा है ।

जिनका भ्रम निर्मूल हो गया हो, वे ही तन्निष्ट और तत्परायण हैं, वे ही भगवत्कृपा-प्राप्तिके यथार्थ पात्र हैं—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(गीता ५ । १७)

'तद्रूप है बुद्धि जिनकी और तद्रूप है मन जिनका तथा उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं ।'

अब हम विचार करें, उस भगवत्कृपाके पाँच रूप हैं, जो हमें पञ्चदेवोंसे प्राप्त होते हैं और उसकी विश्लेषण-विधिसे पाँच ही फल हैं—पहली है करुणा, जो हमें भगवच्छक्ति पराम्बाके कृपा-कटाक्षसे प्राप्त होती है, वह अकारण होती है । ठीक उसी प्रकार, जैसे हमारी माँ बिना ही किसी हेतुके जन्मदान और स्तनपान आदि विविध सत्कर्मोंसे हमपर सहज ही करुणा करती है ।

या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

(दुर्गासप्तशती ५ । २०—२५)

हम दिनभर कार्यरत रहते हैं । रात्रिमें माता काली निद्रारूपसे आकर हमें विश्राम, शान्ति और सामर्थ्य प्रदान करती हैं । उनके प्राप्त हो जानेपर ही हम दिनभर कार्यरत रह सकते हैं ।

महाकालीरूप मृत्यु आती है और जीवन-भरके अभिमानको खा जाती है । हमें चिरनिद्रा—चिरशान्तिका दान कर देती है, इसीलिये किसीके मरनेपर हम कहते हैं, 'अमुक व्यक्ति शान्त हो गया ।'

इस प्रकार उस जगदम्बाकी परम करुणा समझकर हम निरन्तर उसकी उपकार-स्मृतिमें ही निहाल हो जायँ । फिर जन्मदात्री सरस्वती और पालनकर्त्री लक्ष्मीजीकी करुणाका तो क्या कहना । जगदम्बाकी परम कृपा धन्य है कि वह जीवन्मुक्तिका दान कर बिना मरे ही हमारा अहंकार

खा जाती है। उसके वक्षःस्थलमे करुणा-ही-करुणा है। यह भगवत्कृपाका पहला रूप है—पराम्बाकी करुणा।

दूसरा रूप है भगवान् शंकरकी दया—वे आशुतोष हैं—शीघ्र दया करते हैं और भूलमे पड़े हुए प्राणियोंका भी उद्धार करते हैं। रावण, भस्मासुर, बाणासुर आदि असुर-दैत्योंपर भी दया करके वे उन्हे सम्पूर्ण वैभव प्रदान करते हैं और विष्णुभगवान्‌को सौंप देते हैं, जिनके प्रसादसे उनका उद्धार हो जाता है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।
(गीता १८। ५८)

भगवान्‌ने यह आदेश दिया है कि 'मेरेमे चित्त लगानेवाले मेरे प्रसादसे सब संकटोको पार कर जाते हैं।' यह विष्णुभगवान्‌का प्रसाद ही तीसरा रूप है, जिससे सब दुःखोंका सदाके लिये नाश हो जाता है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
(गीता २। ६५)

भगवत्कृपाका एक और रूप है, जो 'अनुग्रह'के नामसे विख्यात और सर्वगुह्यतम है—सबसे अधिक स्मर्तव्य है। इस अनुग्रहका मर्म जिसने समझ लिया, वह निहाल हो गया। यह अनुग्रह सूर्यनारायणपर हुआ, '**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्**' (गीता ४। १) जिसे आजकल वे सम्पूर्ण विश्वपर बरसा रहे हैं। निर्लिप्त होकर फलकी इच्छा किये विना सब कर्म करते हुए भी सर्वथा सजग हैं।

यह (अनुग्रह) योग अव्यय है। हम भी सब परिस्थितियोमे निर्लिप्त रहकर सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी उनसे अलग रहें और भगवत्कृपाका अनुभव करें।

अनुग्रहका अर्थ है अनुकूल ग्रहण करना—किसी भी परिस्थितिको हम प्रतिकूल न समझें। '**मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**' (गीता १५। १५) अपोहन और स्मृति—दोनोंको ही प्रभु-प्रदत्त समझकर निरन्तर प्रभु-कृपाका ही अनुभव करते रहें।

प्रत्येक परिस्थितिमें प्रत्येक व्यक्तिपर उनकी सर्वथा कृपा है। हमारी इच्छा पूरी हो जाय तो 'लाभ' (क्योंकि भगवदिच्छासे मिली है) और पूरी न हो तो 'सवा लाभ' क्योंकि उसमे हमारी सम्मति न रहनेसे केवल शुद्ध भगवदिच्छा (सर्वश्रेष्ठ) है। हमारी इच्छा पूरी न हो, तो उसमें (हमारी इच्छामे) दोष समझकर प्रभु-इच्छाकी प्रतीक्षा करें। ईसामसीहने अन्त समयमें यही कहा—'प्रभो! तुम्हारी इच्छा पूरी हो।' अनुग्रहका स्वरूप प्रभु-कृपाका अन्तिम रूप है।

सर्वत्र सर्वथा अनुकूल ग्रहण करना और प्रतिकूलताकी इति कर देना ही कृपा-प्रतीतिका उत्कृष्ट लक्षण है। यह प्रतीति उपलब्ध हुई कि हमारे जीवनमे विघ्नोंका अन्त हो जायगा, फिर 'विघ्न' शब्द हमारे लिये कोई अर्थ न रख पायगा और हम विघ्ननाशक गणपतिके मङ्गलमय गुणका अनुभव करेंगे—

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥
(मानस १। १८। २)

फिर हरिनाम, हरिनाम ही रह जायगा, जो भगवत्कृपाका अन्तिम और प्रथम रूप है। सम्पूर्ण कृपाका परमार्थ एक ही एक, जहाँ एकानेकका भी भेद नहीं है।

'भगवत्कृपा यदि मान ले'

(रचयिता—श्रीजेठमलजी व्यास 'मास्टर')

जीवन सफल, जग जन्म भी, भगवत्कृपा यदि मान ले।
भूले नहीं, भटके नहीं, यदि शक्ति यह पहचान ले॥
तो तीव्रतर फिर तीव्रतम, शुचि विकलता प्रभु-मिलनकी।
अनुभूति भी हो मधुर शीतल, विरहके उस ज्वलनकी॥
हो आस अरु विश्वास भी प्रभु कृपाके सत्तत्त्वका।
वह बीज है, वह वृक्ष है, इस सृष्टिके मातृत्वका॥
हो ज्ञात या अज्ञातमें हिमस्पर्श, शीतल ही करे।
त्यों ही अदृष्ट कि दृष्ट हो, हरिकृपा मंगल ही भरे॥

असमर्थता—सर्वसमर्थकी !

(लेखक—पं० श्रीरामदरशजी त्रिपाठी, पत्रकार)

साधक जो आज है, वह कल नहीं था । जन्मसे मरण-तक प्रतिक्षण उसके स्वरूपमे परिवर्तन होता रहता है, यह एक वैज्ञानिक तथ्य है । इस परिवर्तनको माप लिया जाय अथवा उसका वास्तविक आकलन हो जाय, यह सम्भव नही । नवजात शिशु किस क्षण किशोर हो जाता है और इस अन्तरालमे कितना काल व्यतीत हो जाता है, उसमे प्रतिक्षण होनेवाले परिवर्तनका विभागके साथ पूरा-पूरा समयाङ्कन नही किया जा सकता; किंतु वे परिवर्तन किन्हीं नियमोसे नियमित अवश्य हैं । नियम है तो नियामक होगा ही । वह नियामक ही भगवान् हैं और नियम ही उनकी कृपा है ।

पृथ्वी बिना भेद-भाव अर्थात् जाति, धर्म, लिङ्ग, जडता, चेतनता आदिका विचार किये सबको धारण करती है । जल बिना भेदभावके सरसता एवं तरलता देता है । सूर्यकी रश्मियाँ समानभावसे उष्णता और प्रकाश देती हैं । आकाश उन्मुक्त विचरणका अवकाश देता है और वायु भी इसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त होकर जीवनदान करता है । इनमे काल, देश, धर्म, जाति, सजीव-निर्जीव (जड-चेतन) या सूक्ष्म-स्थूलके लिये कोई विभेद नहीं देखा जाता । ये ही पाँच तत्त्व हैं, जिनका वैज्ञानिक एकीकरण मानव-शरीर है । सृष्टिके नियमोंके अनुसार प्राणियोंका शरीर नियामककी कृपाका प्रसाद है अर्थात् मानव स्वयं भगवत्कृपाका सजीव प्रतिफल है ।

भगवत्कृपा हुई, फलस्वरूप सृष्टिका एक चेतन प्राणी—मानव प्रत्यक्ष हुआ । उसने जिज्ञासासे प्रयास प्रारम्भ किया और साधना, तप, स्वाध्याय, मनन आदिद्वारा वह इस निष्कर्षपर पहुँचा कि जीव स्वयं कुछ नही, मात्र ईश्वरका अश है । यह सत्यता ज्यो-ज्यो दृढ़ होती गयी, त्यों-त्यों वह पूर्णताकी ओर अर्थात् अंशीको प्राप्त करनेकी दिशामे अग्रसर होता गया और उसने विश्वासपूर्वक उद्घोष किया—'अहं ब्रह्मास्मि' । इस लक्ष्यतककी मानी हुई दूरी और उसे तय करना जिन नियमोंके अन्तर्गत नियमित है, उसे ही समझ लेनेके प्रयासमे दर्शनशास्त्रोकी उत्पत्ति हुई भगवत्कृपा उस दार्शनिक प्रक्रियाका चरम प्राप्तव्य ...

सगुण-निर्गुण, निराकार-साकार, हिंदू-मुस्लिम, ईसाई आदि दार्शनिक एवं धार्मिक परिवेशोंमे उसे अनन्तकालसे कोटि-कोटि चेष्टाएँ हुई और यह भी मान लिया जाने लगा कि 'वह यही है ।' वस्तुतः 'वह यही है'—यह आज भी सदिग्ध है । जिसने अपनी साधनासे जैसा समझा, उसने उसे वैसा ही बता दिया । विभिन्न धर्मोंकी स्थिति उस शिक्षा-सस्थाकी-सी है, जहाँ प्रत्येक विषयका प्राध्यापक उस विषय-विशेषके निर्धारित समयमे वही विषय छात्रोको पढ़ाकर अपने उत्तरदायित्वका निर्वाह कर लेता है, अपने कर्तव्यकी इतिश्री मान लेता है । ठीक दूसरे कालाश (period)मे दूसरे विषयका प्राध्यापक दूसरा विषय पढ़ा देता है, किंतु विद्यालयका प्राचार्य सामूहिक उत्तरदायित्वसे बँधा है कि उसके विद्यालयमे पढ़नेवाले छात्र प्रतिकालाशमे पढ़ाये गये विषयोका ज्ञानार्जन करें, परीक्षामे उचित अङ्क प्राप्तकर उत्तीर्ण हो सकें । इसी प्रकार परमात्माको समझनेके लिये अथवा उनके विषयमे उचित अङ्क प्राप्त कर उत्तीर्ण होनेके लिये सभी विषयों (धार्मिक सम्प्रदायो, मान्यताओं)-का उचित ज्ञान प्राप्त करना कर्तव्य है । उसके लिये आवश्यक है कि पूर्वाग्रहोंको त्यागकर जिज्ञासु-भावसे उसकी जानकारी-हेतु सभी विषयोंका गम्भीरतासे मनन अर्थात् एकाग्र-चिन्तन किया जाय । ऐसा करनेसे ही उनका स्वरूप प्रत्यक्ष होगा । तब साधकके चिन्तनमे, उसके व्यवहारमे और उसके चतुर्दिक् विद्यमान परिवेशमे यह स्पष्ट हो जायगा कि वे न निराकार हैं, न साकार; न वे किसी धर्ममे बँधे हैं, न सम्प्रदायमे; अपितु वे सर्वत्र हैं, सर्वव्यापी हैं । 'क्यों,' 'क्या,' 'कैसे,' तथा 'मैं' और 'तू'से भी परे हैं । उनके लिये न कोई धार्मिक बन्धन है, न तार्किक समर्थन ।

वे सर्वत्र हैं, उनकी कृपा भी सर्वत्र है, यह निश्चित है । उनमे कृपाके अतिरिक्त कुछ और है ही नही, जो वे किसीको दे सकें । उनमें लेनेकी शक्ति नहीं है । वे केवल दे सकते हैं, वह भी मात्र कृपा, किंतु देनेके बाद वे अपने ही नियमोसे कुछ ऐसे नियमित हैं कि अपनी कृपा वापस नहीं ले सकते । जैसे सूर्यने जो ...ा बिखेर दी, उसे वह वापस नहीं ले सकता, ...कार भगवान्मे यह शक्ति नहीं है कि वे हमे अथवा ...ष्टिके किसी भी अंशको अपनी कृपासे वञ्चित ...समर्थ होते हुए भी ऐसा करनेमे सर्वथा

भगवत्कृपाकी सर्वोत्कृष्टता

(लेखक—प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव, एम्० ए०)

मनुष्यकी शक्ति सीमित है। मानवकी वह ससीम शक्ति और बुद्धि जहाँ कोई काम नहीं कर पाती, मनुष्य जहाँ सर्वथा निरुपाय हो जाता है, वहीसे असीम शक्तिसम्पन्न अहैतुकी भगवत्कृपाका कार्य प्रारम्भ होता है।

भगवत्कृपा ही सर्वोपरि है, इसमे संदेह नहीं। आस्तिक या नास्तिक, पौरस्त्य या पाश्चात्त्य, सभी दर्शन-कारोका चिन्तन भागवती चेतना (सत्ता)के संदर्भमे हुआ है। यह बात दूसरी है कि आस्तिक दार्शनिकोने भागवती सत्तापर प्रत्यक्षतः अपनी अखण्ड आस्था व्यक्त की है और नास्तिक दार्शनिकोने परोक्षतः (मण्डनात्मिका शैलीकी अपेक्षा खण्डनात्मिका शैलीमे) भागवती सत्ताको स्वीकृत किया है। अनेकरूपात्मक जगत्‌मे भगवान्‌के रूपकी स्वीकृतियाँ भी अनेक प्रकारकी हो सकती हैं, किंतु अनेक (विभक्त)मे फिर उन्हीं एक (अविभक्त) सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान्‌की स्वीकृति ही उभरकर सामने आती है, जिनकी कृपा सर्वोपरि है।

ईश्वरकी स्वीकृति विभिन्न धर्मोंमें हुई है। आधुनिक विचारक मानवताके मानदण्डकी प्रतिष्ठाके संदर्भमे ईश्वरवादकी उपेक्षा करके पुरुषार्थको महत्त्व देते हैं। उनकी धारणा है कि ईश्वरवादसे भाग्यवाद जुड़ा हुआ है, इसलिये इन दोनो वादोके व्यापक सिद्धान्तसे पुरुपार्थकी अवधारणा शिथिल पड़ जाती है; किंतु उनकी यह धारणा निश्चय ही विचारणीय है। तात्त्विकता तो यह है कि भगवत्कृपाको सर्वोपरि माननेवाला व्यक्ति कभी पुरुषार्थसे च्युत नहीं होता। भारतीय चिन्तन-धारामे भगवदाश्रित रहनेके साथ-ही-साथ पुरुषार्थके प्रति भी सदा जागरूक रहनेका संकेत किया गया है। अपने हाथोको कार्यव्यस्त और मनको भगवदाश्रित रखनेका सनातन संदेश भारतीय विचारधाराकी अपनी मौलिक विशेषता है। अहंभावनासे स्वार्थमूलक कर्मासक्ति बढ़ती है; परंतु मन जब भगवदा-श्रित रहता है, तब अहंभावनाका विनाश होकर फलासक्तिरहित कर्मशीलताका विकास होता है। इसीलिये कर्म मनुष्यके अधीन है, परंतु उसका फल तो भगवत्कृपापर ही आधृत है। यद्यपि कुछ लोग निष्काम कर्मकी अवधारणाको स्वीकार नहीं करते, उनका तर्क है कि कर्म सदा सकाम ही हो सकता है, निष्काम नहीं, तथापि ईश्वरवादको न माननेके कारण ही कदाचित् वे ऐसा सोचते हैं।

पूर्वोक्त ईश्वरवादसे पुरुपार्थकी अवधारणाके शिथिल पड़नेकी बात अवश्य ही तथ्यहीन है; क्योंकि भारतीय चिन्तन-पद्धतिमें भगवान्‌की (सत्ताकी) स्वीकृति षडैश्वर्य-सम्पन्न प्रधान पुरुषके रूपमें की गयी है। 'ऐश्वर्य'की प्राप्ति बिना 'पुरुषार्थ' कष्टसाध्य या असाध्य है। यहाँतक कि मोक्ष-प्राप्ति भी पुरुषार्थ-सिद्धिका ही प्रतीक है। भगवान्‌की षडैश्वर्य-सम्पन्नता उनमे निहित पुरुषार्थके प्रति प्रेरणा देनेवाली सत्ताको संकेतित करती है।

भगवान् महावीरका वचन है—'जैसे तैरना जानते हुए भी यदि कोई जलकी धारामें कूदकर हाथ-पाँव नहीं हिलाता तो वह डूब जाता है, इसी प्रकार शास्त्र जानते हुए भी यदि कोई तदनुसार आचरण नहीं करता तो वह विपत्तिमें पड़ जाता है।' ऐसी स्थिति—विपत्तिमें पड़नेपर तो केवल भगवान् ही सहायता करते हैं। अतएव पुरुषार्थके संदर्भमे सत् और असत्‌की विवेक-ख्याति आवश्यक है। यों तो पुरुषार्थ अपने-आपमें निष्क्रिय या निष्फल है। यह सक्रिय और सफल तभी होता है, जब 'पुरुष' उसे अपने 'अर्थ' (प्रयोजन)के लिये प्रयुक्त करता है। नीतिकारोंका कहना है—

> काकतालीयवत्प्राप्ते दृष्ट्वापि निधिमग्रतः।
> न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते॥

अर्थात् संयोगवश या भगवत्कृपावश सामने धनका ढेर दिखलायी पड़ता है तो स्वयं दैव उसे उठाकर गठरीमे नहीं बाँध देता, किंतु उसकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थकी अपेक्षा होती है।

कहना न होगा कि जीवनका प्रत्येक क्षण पुरुषार्थसे ही गतिशील रहता है। शास्त्र पढ़ लेना कोई बड़ी भारी बात नहीं, बड़ी बात है—शास्त्रज्ञानके प्रकाशमें क्रियावान् होना। असली विद्वान् तो क्रियावान् ही होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सक्रियता ही जीवन है और सक्रिय होनेकी प्रेरणा भी भगवत्कृपासे सतत प्राप्त है।

मनुष्यके बहुत प्रयास करनेपर भी जो कार्य सिद्ध नहीं होता, भगवत्कृपासे वह अनायास ही सफल होते देखा गया है । इसीलिये भगवान्‌को 'अघटितघटनापटीयान्' विशेषणसे विभूषित किया गया है । स्पष्ट है कि लौकिक उपायोंसे जिन विपत्तियोंका प्रतिकार नहीं हो सकता, उनसे रक्षा भगवत्कृपा अपने अचिन्त्य-अलौकिक स्वरूपमें प्रकट होकर स्वतः कर देती है ।

निःसंदेह भगवत्कृपाकी अनुभूति तर्कसे नहीं प्राप्त हो सकती, उसकी उपलब्धि तो एकान्त भक्तिसे ही सम्भव है । ज्ञानातीत सर्वोच्च सत्ताके प्रति अवितर्क भावसे आत्म-समर्पण ही पराभक्ति है और यह भक्ति भी भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है—

'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ॥'

जिस प्रकार सूर्य अस्पृश्योंके घरसे भी अपनी किरणोंको नहीं समेटते, उसी प्रकार भगवत्कृपा आस्तिक या नास्तिकका कोई विभेद न कर सबपर समानरूपसे बरसती रहती है । यह और बात है कि नास्तिकोंको पूर्वाग्रहवश अपने ऊपर धारासार बरसनेवाली भगवत्कृपाका कोई आभास नहीं होता । यों सम्पूर्ण सृष्टि ही भगवत्कृपाकी प्रभावशालिनी विततिसे संवलित है; क्योंकि उसकी सर्वाधिक व्यापक सत्ता सर्वथा अनुल्लङ्घनीय है ।

अवश्य ही भगवत्कृपा सबपर समानरूपसे है, किंतु जो अज्ञ प्राणी उसकी अनुभूति नहीं कर पाता, वही अपनेको दुःखी समझता है । जहाँ निरन्तर भगवत्कृपा-की अनुभूति होती है, वहाँ विभूतिमत्ता, श्रीमत्ता, ऊर्जितत्व आदि महार्घ उत्कर्ष सहज ही दृष्टिगत होते हैं । निष्कर्ष यह कि सुख और आनन्द भगवत्कृपाकी अनुभूतिके प्रतीक हैं और जहाँ भगवत्कृपाकी अनुभूति नहीं होती, वहाँ दुःख और निरानन्द जड़ जमाये रहते हैं ।

आध्यात्मिक क्षेत्रमे भगवत्कृपाकी वर्षाको ही 'शक्तिपात' कहा गया है । वह 'शक्तिपात' सबपर समानरूपसे होता है । तान्त्रिक आचार्योंके मतसे जीवकी स्वरूप-स्थितिके उपायका नाम ही 'शक्तिपात' है । भगवदनुग्रह या भगवत्कृपा इसीका नामान्तर है । इसे छोड़कर शुद्ध पौरुष-प्रयत्नसे भगवत्प्राप्ति सम्भव नहीं है । वस्तुतः भगवन्मुखी वृत्तिके मूलमें सर्वत्र भगवत्कृपा माननी ही पड़ेगी ।

शक्तिपात या भगवत्कृपामें कृपणता नहीं होती । सक्रम या अक्रम भावसे सबपर भगवत्कृपा अवश्यमेव होती है । इस संदर्भमें महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथजी कविराजका मूल्यवान् मन्तव्य मननीय है—

शक्तिपात अथवा श्रीभगवान्‌की कृपाके विना कोई जीव पूर्णत्व-लाभ नहीं कर सकता । यहाँतक कि पूर्णत्वके मार्गमें भी प्रवेश नहीं कर सकता । शक्तिपातका तारतम्य जीवके आधार (धारणाशक्ति)के भेदसे होता है; परंतु यह भी सत्य है कि जीव चाहे कितने ही निम्न अधिकारका हो और कितना ही भोगाकाङ्क्षायुक्त हो, एक बार शक्तिपात होनेपर वह परमपदको अवश्य प्राप्त हो जायगा । भोगाकाङ्क्षादि अन्तरायके रहनेसे उसकी गतिमें विलम्ब होगा, नहीं तो शीघ्रातिशीघ्र—यहाँतक कि क्षणमात्रमें भी कार्य हो सकता है । शक्तिपातके समय योग्यताका विचार नहीं होता, परंतु स्वभावतः योग्यताके अनुसार ही शक्तिपातकी मात्रा निर्दिष्ट होती है । वह मात्रा कुछ भी हो, भगवच्छक्ति-की ऐसी ही महिमा है कि इसका एक बार पात होनेपर वह जीवको भगवद्धाममें पहुँचाये विना शान्त नहीं होती, इसमें कोई संदेह नहीं ।

निश्चय ही दस्यु रत्नाकरसे महर्षि वाल्मीकिके पदपर प्रतिष्ठित होनेमें उक्त चेतश्चमत्कारी शक्तिपात या भगवत्कृपा-का ही हाथ है । इससे बढ़कर भगवत्कृपाकी उदारताका प्रमाण और क्या हो सकता है ? इस संदर्भमें महामाहेश्वराचार्य उत्पलदेवकृत भगवत्स्तुति भी ध्यातव्य है—

शक्तिपातसमये विचारणं
प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित् ।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः
स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे ॥

उक्त स्तुतिके क्रममें कहा गया है कि भगवान् जीवपर कृपा करनेके समय पात्र-अपात्रका भी विचार नहीं करते ।

स्थावरान्तमपि देवस्य स्वरूपोन्मीलनात्मिका ।
शक्तिः पतन्ती सापेक्षा न क्वापि······॥

यहाँ 'स्थावरान्त' पदसे सूचित होता है कि अत्यन्त अयोग्यमें भी शक्तिपात होता है । उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि भगवत्कृपा ही सर्वोपरि है । विना भगवत्कृपाके

पौरुषकी सफलतामें भी संदेह ही रहता है, इसलिये पौरुष और भगवत्कृपाको अन्योन्याश्रित मानकर ही अविश्रान्त भावसे कर्ममें प्रवृत्त रहना चाहिये। भगवत्कृपा उसीपर होती है, जिसके कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। जो अहंकारविमूढ होता है, वही अपनेको कर्ता मानता है। गीता (३। २७) में कहा है—'अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।' इसलिये आवश्यकता इस बातकी है कि अपनेद्वारा किये जानेवाले समस्त कर्मोंको भगवान्‌की आराधना मानी जाय। 'यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।' (शिव-मानसपूजा ४) भगवान्‌के प्रति पूर्ण समर्पित भावसे कर्म करनेवालोंको ही भगवत्कृपाकी अनुभूति होती है और भगवत्कृपा-से संवर्द्धित मनुष्य अपने जीवनमें कभी पराजित नहीं होता—

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनो हरिः॥
(गरुडपु० २। २६। ४६)

'जिनके हृदयमें मङ्गलके भण्डार श्रीहरि विराजमान हैं, उनके लिये लाभ और जयकी प्राप्ति निश्चित है। उनकी पराजय किसी प्रकार नहीं हो सकती।'

भगवत्कृपाकी भाँति भगवान्‌के अस्तित्वकी अनुभूति भी तभी हो सकती है, जब मनुष्य अपने बौद्धिक तर्कजालसे मुक्त रहे। दुर्निवार दुःख या भयकी स्थितिमें पड़ा हुआ मनुष्य यदि सहसा सुख या निर्भयताकी स्थितिमें आ जाता है तो उस अवस्थामें संशयात्मा या नास्तिक होते हुए भी उसे यह माननेको बाध्य होना पड़ता है कि मनुष्यकी विचार-परिधिसे परे कोई एक लोकोत्तर शक्ति अवश्य है, जो असीम और मङ्गलमय तत्त्वोंका अनन्त कोष है। इस अपार शक्तिको, जो अबतक वैज्ञानिकोंको भी बुद्धिगम्य नहीं हो सकी है, हम ईश्वर या भगवान् कहें या न कहें, किंतु उस विशिष्ट शक्तिकी सर्वोत्कृष्टताको अर्थात् स्थूल सांसारिक जीवनके अन्तरालमें प्रवाहित एक विराट् शक्तिमयी अवस्थाको स्वीकार करना ही पड़ेगा।

भगवान् और उनकी अहैतुकी कृपाके प्रति विश्वासके निमित्त हृदयकी सरलता पहली शर्त है और उसकी अनुभूति निराकाङ्क्षा या निरपेक्षताकी भावनासे ही होती है। भगवत्कृपाके प्रति विश्वास उसी मनुष्यमें उत्पन्न होता है, जिसका हृदय शिक्षा, संस्कार, आचार, उपदेश, शास्त्र और महापुरुषके वचनोंसे शुद्ध हो गया है। सरल हृदयमें विश्वास उत्पन्न होनेपर ही महाशक्तिरूपा भगवत्कृपाकी सर्वोत्कृष्टताकी अनुभूति होती है और यह अनुभूति न केवल सांसारिक अभ्युदय, अपितु मोक्ष-सुखकी प्राप्तिका भी कारण बनती है। इस प्रकार अनन्य एवं सर्वोत्कृष्ट महाशक्तिरूपा भगवत्कृपासे ही विश्वकी समग्र सृष्टि प्रस्फुटित—प्रस्पन्दित है।

'कल्याण कृपासे ही होता'

(रचयिता—श्रीपथिकजी महाराज)

भगवान् हमारे जीवनका कल्याण कृपासे ही होता।
भव-दुःख-विनाशक आत्मज्ञान-विज्ञान कृपासे ही होता॥
जिससे सब दोष दिखा करते, जिससे कि असुर-दानव डरते।
उस सद्विवेकका प्रेमसहित सन्मान कृपासे ही होता॥
अच्छे दिन बीते जाते हैं, गुरु-जन सब विधि समझाते हैं।
भोगस्थलसे योगस्थलमें प्रस्थान कृपासे ही होता॥
शीतलता जिससे आती है, सारी अतृप्ति मिट जाती है।
वह नित्य प्राप्त है शान्ति-सुधा, पर पान कृपासे ही होता॥
यद्यपि हैं नित्य सुलभ साधन, सब, साध न पाते साधक जन।
जो जडमय है, वह चिन्मय हो, यह ध्यान कृपासे ही होता॥
वह कृपा निरन्तर रहती है, कुछ भी न किसीसे चहती है।
हम 'पथिक' उसे देखें, ऐसा उत्थान कृपासे ही होता॥

कृपा-अकृपा-रहस्य

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

इस जीवनमे हम सदा किसी-न-किसीकी कृपाके लिये लालायित तथा किसी-न-किसीकी अकृपाका विचार करके आशङ्कित रहते हैं। कृपाओंकी उपलब्धि और अकृपाओंके निवारण-हेतु राग-द्वेष एवं दीनता-चाटुकारितापूर्ण तरह-तरहकी सुचेष्टाएँ-कुचेष्टाएँ करते-करते हमारी आयु बीत जाती है और हम कोल्हूके बैल बने गोल-परिधिमें ही चक्कर लगाते रहते हैं, मंजिलतक नहीं पहुँचते, ठिकानेपर नहीं लगते।

अन्ततः ऐसा क्यों ?

कोल्हूके बैलके समान ही हमारी आँखोंपर भी पट्टी बँधी हुई है। उसे खोलकर दृष्टिपात करें तो सहज ही पता चलेगा कि हमारी इस करुण-भयावह स्थितिका एकमात्र कारण है हमारी चाहोंकी अनन्तता। एक-एक चाहमे शाखाओं-प्रशाखाओंके नित्य-नित्य जन्म लेते रहनेके कारण चाहोंके जंगल खड़े हो जाते हैं। एक शब्दमें हम मात्र 'चाहपुञ्ज' बनकर रह जाते हैं। ये चाह-महारानियाँ अपने चंगुलमे फँसे किसी भी बेचारेसे क्या-क्या चाकरियाँ नहीं करातीं, क्या-क्या चक्र-फेरियाँ नहीं कटातीं !

अचाह हो जाना जितना सरल दीखता है, उतना है नहीं। ठीक दिशामे सतत, तीव्र एव एकचित्ततासे किये गये सुप्रयास रंग ला सकते हैं—गहरा, गाढा, साफल्य-सूचक। हाँ, मोरचा दोहरा लगाना होगा। एक ओर तो हमे अगणित चाहोंके जंगलसे, जो हमने अपनेमे खड़े कर रखे हैं, अपनी मूल चाहको (अन्य सब चाहे, जिसके पसारामात्र हैं, शाखा-पत्ते मात्र हैं) खोज निकालना होगा और तब अन्य सब चाहोंसे नाता तोड़ बस, उसीका होकर रह जाना होगा।

हमारी खोज जिस मूल चाहसे हमारा साक्षात्कार करायेगी, वह यही होगी कि 'हम पूर्ण हों, सम्पूर्ण तृप्त हों।' दूसरे शब्दोंमे कह सकते हैं कि अचाह होना ही हमारी मूल चाह है। कृपा-अकृपाके मूलके सम्बन्धमे सोच-विचारकर हम इस निश्चयपर पहुँचेगे कि कोई सत्ता है—परम सत्ता, जो सर्वसमर्थ है, जिसकी इच्छाके बिना पत्ता भी नहीं हिलता।

अब यह स्पष्ट हो गया कि हमें करना क्या है ? ले-देकर एक ही काम हमे करना है कि और सब चाहोंके झमेलेको छोड़कर मूल चाहकी ही (हाथीके पाँवमे जिस तरह सबका पाँव समाया रहता है, उसी तरह सब चाहोंके इसी एक चाहमे समाये रहनेके कारण सौदा घाटेका किसी स्थितिमे नहीं रहेगा) पूर्तिके लिये सजग हो जायँ, सामान्य कृपा-अकृपाकी चिन्ता छोड़कर उस परम सत्ताकी ही कृपोपलब्धिके लिये जुट जायँ। हाँ, लगे तन-मनसे, जुटें जी-जानसे !

ठीक डगरपर पैर धरने और पैर धरकर पैरपर पैर धरे चले जानेकी देर है, काम बनते देर नहीं लगेगी। क्षण-क्षण, पद-पदपर सफलता हमारे पाँव चूमेगी। परम सत्ताके साक्षात्कारी संतजनोंसे यह पता चलनेपर कि वह परम सत्ता अकृपालु तो किसीके प्रति है ही नहीं, उसकी अकृपाकी आशङ्कासे तो अतिशीघ्र छुटकारा हो ही जायगा, साथ ही यह जाननेमें आनेपर कि वह सबके प्रति सहज कृपालु है—अनन्त कृपालु, उसकी कृपोपलब्धिमें सदेहके लिये अवकाश भी नहीं रहेगा। यह इसलिये कि है ही वह, उसके अतिरिक्त मैं-तू-यह-वह और कोई भी तो नहीं। कोई भी अपने प्रति सदैव-सर्वथा कृपालु ही होता है, अकृपालु कदापि नहीं, रंचमात्र नहीं। उसके लीला-रूपको लें—यह सारा ससार और इसमे जो कुछ हो रहा है, उसकी लीला ही है, तो भी यही बात निष्कर्षरूपसे बच रहेगी कि वह परम सत्ता हमपर अनवरत कृपा कर रही है।

और भी शीघ्र काम बनाना है तो एक काम और कर डालना होगा, छोटा-सा ही। क्रियाकी प्रतिक्रिया होती ही है—यह सुनिश्चित सिद्धान्त है। इसीके अनुसार हमें भी उस परम सत्तापर उसकी अमित कृपा पानेके लिये थोड़ी-सी अपनी कृपा कर देनी होगी। वह यह कि परम सत्ताकी अपनेपर होती अविरल-अतिशय कृपा-वर्षा और अपने बीचमें हम कोई व्यवधान खड़ा न करें।

इतना करते ही नितान्त असंदिग्ध रहें, वह परम कृपामयी परम सत्ता अविलम्ब हमारी चाह पूरी करेगी—हम अचाह होंगे। अचाह होनेका आशय—वही होंगे, जो वह स्वय है और जिससे बढकर होनेको और कुछ है ही नहीं। यह स्वरूप-प्राप्ति ही उसकी कृपा-प्राप्तिका पर्याय है। आप्तकाम होना ही—चिरतृप्तिमूलक भगवत्कृपाकी सिद्धि है, महती लब्धि है।

भगवत्कृपा—एक विवेचन

(लेखक—साहित्यमहोपाध्याय प्रो० श्रीजनार्दनजी मिश्र, 'पङ्कज', एम्० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, षट्विषयाचार्य)

क्या भगवत्कृपा नित्य-सिद्ध है ?—यह आजके युगका एक तर्क-पूर्ण प्रश्न है। यदि वह नित्यसिद्ध है तो साधन-अनपेक्षित है और यदि साधन-सिद्ध है तो साधन भी अनेक हैं—उच्चावच, दुरूह एवं दुर्गम।

संसारमें आकृमि देव-दानव सभीको 'सुख' अभीष्ट है और सुख भी वह, जो शाश्वत, चिरन्तन एवं निरतिशय हो। निरतिशयका अर्थ है—सबसे बढ़कर, जिससे अतिशय कोई दूसरा न हो। जो न कभी कम हो, न कभी दूर हटे और न कभी खो जाय अर्थात् जो सदा एकरस बना रहे; पर पुनः प्रश्न यह उठता है कि ऐसा सुख क्या इस विनाशी और प्रतिक्षण परिवर्तनशील जगत्में अथवा तादृश किसी भी जागतिक पदार्थमें प्राप्त हो सकता है ?

इसका उत्तर एक ही होगा कि इस भौतिक जगत्में ऐसा सुख सम्भव नहीं है, जो कुछ है—सुखाभास है, सुखकी प्रतीतिमात्र है। इस सम्बन्धमें सांख्य-दर्शनमें महर्षि कपिलके दो सूत्र प्रसिद्ध हैं—

'कुत्रापि कोऽपि सुखीति।' (६। ६)

अर्थात् क्या कहीं भी इस विश्वमें कोई पूर्ण सुखी व्यक्ति है ? ऐसा प्रश्न कर वे पुनः इसका समाधान करते हुए स्वयं विवेचन करते हैं—

'तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः।' (६। ८)

अर्थात् सभी सुखियोंके सुख भी दुःखमिश्रित हैं, अतः विवेचकोंकी दृष्टिसे वे सभी एक प्रकारके दुःख ही हैं। अतः सिद्ध है कि—

> न चेन्द्रस्य सुखं किंचिन्न सुखं चक्रवर्तिनः।
> सुखमस्ति विरक्तस्य मुनेरेकान्तजीविनः॥
> (पाद्मीय भागवत-माहा० ४। ७५)

'इन्द्र अथवा चक्रवर्ती राजाको भी कुछ सुख नहीं है, सुख तो एकमात्र एकान्तवासी वैराग्यवान् मुनिको ही है।'

हाँ, यदि कहीं सुखकी अक्षय सत्ता है तो वह है श्रीभगवान्के चरणोंकी शरणमें। गोस्वामीजीके शब्द हैं—

> 'सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥'
> (मानस ४। १६। १)

अब क्या हो ? इन्द्र भी सुखी नहीं, चक्रवर्ती भी सुखी नहीं। हाँ, 'मुनेरेकान्तजीविनः'—एकान्तवासी (एकमात्र परमेश्वरका सहारा लेनेवाले) मुनिको सुख है।

कपिलजीके उपर्युक्त सूत्रका आशय इतना ही है कि जगत्के सभी भौतिक सुख क्षणस्थायी हैं, क्षणभङ्गुर हैं तथा किंचित्कालोपभोग्य हैं।

अनादिकालसे अर्थात् जबसे सृष्टि है, गगन-पवन है, तभीसे प्राणी सुखकी खोजमें भटक रहा है। विचारणीय इतना ही है कि खोज सही जगह हो रही है या अनुचित जगह ! सही जगह प्राप्त हो चुकी है, तब तो सुख ही नहीं, परम सुख करतलामलकवत् है और यदि अनुचित जगह खोज की जा रही है तो उसकी प्राप्ति असम्भव होगी। महात्मा कबीरदासजीने सुखाभासके पीछे भटकनेवाले ऐसे ही लोगोंके लिये कहा था—

> कस्तूरी कुंडलि बसै मृग ढूँढै बन माँहि।
> ऐसें घटि घटि राम है, दुनियाँ देखै नाँहि॥
> (कबीर-ग्रन्थावली ५३। १)

इससे तो यही निष्कर्ष निकला कि सुख तो है, पर जहाँ है, वहाँ खोज नहीं और जहाँ सुख नहीं है, वहीं खोज की जा रही है। वस्तुतः अन्वेषकको ज्ञान होना चाहिये कि उसके एकमात्र साध्य हैं—श्रीभगवान्। इस प्रकार साध्य स्थिर हो जानेपर अपनी स्थिति और शक्तिके अनुसार उसकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले प्रयत्नका नाम 'साधना' है।

भगवान् और भक्तके बीच दयालु-दीन, दानी-भिखारी, पतितपावन-पातकी, नाथ-अनाथ आदि नित्य-सिद्ध और स्वतःसिद्ध सम्बन्ध बतलाये गये हैं; बीचमें मात्र विस्मृति है। हम अपना सम्बन्ध भूले हुए हैं, अल्पज्ञताके कारण। पर भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, वे हमें कैसे भूल सकते हैं ? जीव एवं ईश्वरके बीच अनेक सम्बन्ध हैं, उनमें किसी एकको केवल ठीक-ठीक जान लेना है। अंशांगिभाव,

अङ्गाङ्गिभाव, जन्य-जनकभाव, सख्य-भाव और दास्य-भाव आदि स्वतःसिद्ध हैं। एक गगन है और दूसरा तारा; एक सागर है, दूसरा विन्दु, एक वृक्ष है, दूसरा फल, एक आधार है, दूसरा आधेय, एक भित्ति है, दूसरा उसपर अङ्कित चित्र।

श्रुति-स्मृति, ऋषि-मुनि एवं साधु-संतोंके मतानुसार तो अवतार-लीलाओंके क्रममें अवतरित श्रीभगवान्‌के परिकर भी नित्य-सिद्ध ही हैं। वस्तुतः उनके लिये साधनों-की अपेक्षा नहीं है, तथापि वे लोकमर्यादा-पालनकी दृष्टिसे साधन-भजन करते हुए हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं। कौसल्या, यशोदा, देवकी, रोहिणी एवं दशरथ, नन्द, उपनन्द, वसुदेव आदि प्रभुकी लीलाके अन्तरङ्ग अभिनेता (पात्र) हैं—नित्य-सिद्ध परिकर हैं।

कहते हैं—व्रजकी गोपियोंमें भी कुछ तो नित्य-सिद्धा थीं और कुछ साधन-सिद्धा। गोपियोंने अपनी दिनचर्यामें ही साधनोंको समाविष्ट कर रखा था। वे घरेलू कार्य-कलापोंमें ही परमात्मा, सर्वेश्वर श्यामसुन्दरसे अहर्निश युक्त थीं। श्रीकृष्णसे उनका नित्यसंयोग था, वियोग तो मात्र बाह्य लीलाएँ थीं। निम्नलिखित श्लोकमें उन गोपियोंकी दिनचर्याकी झाँकी देखिये—

> या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
> प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
> गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
> धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
> (श्रीमद्भा० १०।४४।१५)

'गौओंको दुहती हुई, धान कूटती हुई, चावल और चिउरा तैयार करती हुई, घर-दरवाजोंको लीपती हुई, दही-दूधको बिलोती हुई, पलनेपर रोते बच्चोंको लोरियाँ सुना-सुनाकर चुप कराती हुई, तुलसी आदि पौधोंमें जल देती हुई, झाड़ू-बहारू लगाती हुई—किमधिकम्, वे अपने सारे घरेलू काम-काजोंमें लगी हुई भी गाढ़ अनुरागपूर्वक गोविन्द-के गुण गाती-गाती रोने लगती थीं, उनका कण्ठ गद्गद हो जाता था। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! व्रजकी रमणियाँ धन्य हैं; क्योंकि उनके चित्तमें सदैव श्यामसुन्दर निवास करते हैं।'

नर-देहकी प्राप्ति तो भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका ही फल है। स्वर्ग-नरक तथा अपवर्गतक पहुँचानेमें यह सीढ़ी-का काम करता है। भव-सागरके लिये यह एक प्रकारका बेड़ा (बाँस या लकड़ीका ठट्टर) है। नाव और जहाज तो कभी टूट भी जाते हैं, पर बेड़ा अपनी विशेषता रखता है। वह पानीपर तैरता रहता है। उसपर बैठनेवालोंको डूब जानेका भय नहीं है।

साधनकालमें साधक जिस प्रकारके भाव और जैसी श्रद्धासे भावित होकर परमात्माकी उपासना करता है, उसको उसी भावके अनुसार परमात्माकी प्राप्ति होती है। शांकर-भाष्यानुसार जो अभेदरूपसे (परमात्मासे अपनेको अभिन्न मानकर) उनकी (परमात्माकी) उपासना करते हैं, उन्हें अभेदरूपसे परमात्माकी प्राप्ति होती है और जो भेदरूपसे भजते हैं, उन्हें भगवान् भेदरूपसे दर्शन देते और भगवत्कृपा की वर्षा करते हैं। भगवत्कृपा अचिन्त्य और अतर्क्य है।

'नहीं बनेगा काम हरि किरपाके बिना'

बिना तुम्हारी मेहरके, दरस कबू नहिं होय।
चाहे हम सब माल-धन, सहित जानके खोय॥
सहित जानके खोय, बुद्धि विद्या सगरी।
नही होवे दीदार, बिना किरपाके तुमरी॥
कहे 'शाहन्शाह' छोड़ सकल चतुराई मना।
नही बनेगा काम हरि किरपाके बिना॥

परम विश्रामप्रदायिनी भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीबजरंगबलीजी ब्रह्मचारी, एम्० ए० (द्वय), साहित्यरत्न)

मानव-जीवनकी माँग केवल दाम-काम अथवा आरामकी अधिकाधिक उपलब्धि कर लेना मात्र नहीं है, उसकी माँग है—'परम विश्राम' अथवा 'दुर्लभ राम'। मधुरातिमधुर मधुका पान करनेवाली मधुमक्खियाँ, रंग-बिरंगे पंखोंसे अलंकृत तितलियाँ तथा दर्जनों बच्चोंको एक साथ जन्म देनेवाले कूकर-शूकर-जैसे प्राणियोंने भोजन, स्थान तथा संतान-प्रजननके सांसारिक सुखोंकी होड़में मनुष्यको बहुत पीछे ढकेल दिया है। इसीलिये विवेकके प्रकाशमें हमें मानव-जीवनकी सही-सच्ची माँगकी खोज करनी है।

मानव-जीवनका चरम लक्ष्य केवल दुःख-सुखका भोग करना नहीं, अपितु उनके बन्धनसे मुक्त होना है। तरंग जलका परित्याग कर, घटाकाश महाकाशकी महिमाको नकारकर तथा कुण्डल कनककी व्यापकताको भुलाकर अपने अस्तित्व एवं महत्त्वकी स्थापना नहीं कर सकते। इसी प्रकार जगत्पति जगदीश्वरकी सत्ता-महत्ता और कृपाको भुलाकर केवल जगत्का चिन्तन कर कोई भी अक्षय शक्ति, दैवी सम्पत्ति तथा परम शान्तिकी प्राप्ति नहीं कर सकता। जगत्की कृपा हममें अन्धकार तथा भगवत्कृपा ज्योति-जागृति लाती है।

सुन्दर जीवनके निर्माणसे ही देश, राष्ट्र, समाज और संसार—इन सबका समुचित उत्थान हो सकता है। 'पर'से हटकर 'स्व'का सतत चिन्तन करने, अधिकारकी आहुति देकर कर्तव्य-पथपर दृढ़तासे चलने तथा जगत्के सभी नाते निभाते हुए जगदीशकी कृपापर पूर्ण आस्था रखनेसे सुन्दर व्यक्तित्वका निर्माण होता है। भगवत्कृपासे सुन्दर व्यक्तित्व-निर्माणकी सभी आवश्यक साधन-सामग्रियाँ हम सबको सुलभ हैं। अब गुरु-कृपाके मार्गदर्शन तथा स्वयंके आत्मनिरीक्षण-द्वारा उन प्रभु-प्रदत्त सामग्रियोंका सदुपयोग करना है।

सुन्दर जीवन-निर्माणकी आधारशिला भावशुद्धि है। भावशुद्धिके बिना कर्मशुद्धि असम्भव है। भाव-अशुद्धिसे भ्रान्ति तथा भावशुद्धिसे शान्ति और परमपदकी प्राप्ति होती है। हीरेकी प्राप्तिके पश्चात् काँचके मनकेसे मोह अपने-आप कम हो जाता है, जाग जानेपर स्वप्नका भ्रम स्वयमेव दूर हो जाता है। इसी भाँति भावशुद्धि होते ही प्रभुकी कृपा और उनसे अभिन्नताकी अनुभूति अपने-आप होने लगती है।

मानव-जीवन ही सृष्टि-निर्माताकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। संसारकी कोई भी शक्ति अथवा सम्पत्ति मानव-जीवनकी प्राप्तिसे बढ़कर नहीं हो सकती। सम्पूर्ण मानव-जीवन अथवा अरबों-खरबों रुपये खर्च करके भी उसके एक छोटे-से अङ्गका निर्माण नहीं किया जा सकता। तत्त्वज्ञान तथा भौतिक-विज्ञान दोनोंने मानव-शक्तिकी गरिमाको स्वीकार किया है; क्योंकि इन दोनोंका अन्वेषक, आविष्कारक तथा प्रचारक मनुष्य ही तो है और मानव-जीवनकी प्राप्तिका हेतु केवल 'भगवत्कृपा' है—

'जीवे दुःखाकुले तस्य कृपा क्वाप्युपजायते'

'जीवको व्याकुल देखकर भगवान् कृपापूर्वक कभी यह मानव-शरीर दे देते हैं।' किंतु मानव-जीवनकी श्रेष्ठता तभी सार्थक होगी, जब श्रेष्ठताके दाताकी अहैतुकी कृपाको हम व्यावहारिक रूप देंगे। हमारे आचार-विचार एवं कार्यकी प्रत्येक ईंट सत्यकी सीमेंट तथा भगवद्भक्तिकी जलधारसे इस प्रकार सनी होनी चाहिये, जिससे हमारे वज्रवत् सुदृढ़ चरित्ररूप प्रासादका निर्माण हो सके। राष्ट्रियताके उत्थान तथा मानवताके कल्याणके लिये ऐसे दृढ़-व्रतरत सुन्दर व्यक्तित्वकी सर्वत्र अपेक्षा और आवश्यकता है।

प्रभुकी अहैतुकी कृपाका आदर करनेसे सभी समस्याओंका समाधान सरलतासे हो जाता है। जो हमारे न चाहनेपर भी हमको चाहते हैं, जो हमारे न जाननेपर भी हमको जानते हैं और जो हमारे न माननेपर भी हमको मानते हैं तथा प्रेम करते हैं; वे तो इतने अकारणकरुण परम कृपालु हैं कि हमारे कुछ न करनेपर भी हमको सब कुछ

देते रहते और शत्रुभावसे मनन करनेवालेका भी वे कल्याण ही करते हैं। मित्रभावसे ध्यान करनेवालोंका तो योग-क्षेम भी वे स्वयं वहन करते हैं। इससे बढ़कर उनकी कृपाका और कौन उदाहरण हो सकता है ?

मानव-जीवनकी पूर्णता स्वाधीनतामें निहित है। इस स्वाधीनताका ही दूसरा नाम—भक्ति, मुक्ति, शान्तिधाम अथवा परम विश्राम है। धर्म, अर्थ और कामको पुरुषार्थ तथा मोक्षरूप प्रभु-प्रेमको परम पुरुषार्थ कहा गया है। बन्धन और मोक्षका कारण मानव-मनमें निहित अनेक कामनाओंकी उत्पत्ति और निवृत्ति है। कामनाकी उत्पत्तिमें दुःख, पूर्तिसे सुख तथा निवृत्तिसे परम विश्रामकी प्राप्ति होती है। रागसे कामनाओंकी उत्पत्ति और त्यागसे कामनाओंकी निवृत्ति होती है। इसीलिये भगवान्‌ने सभी प्रकारके कर्मोंको अपने चरणोंमें अर्पित करनेको कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९ । २७)

'हे अर्जुन! तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो, जो कुछ दान देते हो और जो कुछ स्वधर्माचरणरूप तप करते हो, वह सब मुझे अर्पण कर दो।'

इस प्रकार भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा जनकल्याणार्थ सर्वस्व-समर्पणकी भावना दृढ होते ही व्यक्ति भगवत्कृपासे—

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।'
(गीता ९ । ३१)

'अति शीघ्र धर्मात्मा बनकर परम विश्रामसे सम्पन्न हो जाता है।'

'भगवत्कृपा अपार निधि'

(रचयिता—स्वामी श्रीरंगीलीशरण देवाचार्यजी, काव्यतीर्थ, मीमांसा-शास्त्री, साहित्य, वेदाचार्य)

लोभ-लाभ की लालसा, कुकलि काल को मूल।
कृष्ण-कृपा उन्मूलनी, भव सम्भव सब शूल॥
स्वर्गादिक जग भोग सों, जिय की जरन न जाय।
कृष्ण-कृपा पावन शरन, जरन की जर जर जाय॥
महा महा महिमामयी, ममतामयी अपार।
भगवत्कृपा अपार निधि, केहि विधि पावें पार॥
घटाटोप कलि कोपको, कृष्ण-कृपा की घाट।
निकट विकट संकट कटै, टूटै कपट कपाट॥
कृपा-कोर घन ओर लखि, जन मन मोर नचाय।
विषय-वासना वास सों, कृपया कृष्ण बचाय॥
कृष्ण करोगे कब कृपा, कृपा सिन्धु समुदार।
दीनबन्धु निज बन्धु पर, सुधा-सिन्धु सुख-सार॥

भगवत्कृपाके विचित्र रूप

(लेखक—डॉ० श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

साधना-मार्गके कुछ पथिक अभ्युदय अथवा भौतिक उत्कर्षके उपादानोंकी उपलब्धि, सांसारिक इच्छाओंकी पूर्ति अथवा अभीष्ट लौकिक कार्योंकी सिद्धिमे ही भगवत्कृपाके प्रकाशका अनुभव करते हैं। उसे ईश्वरकी अनुकूलता मानकर वे भगवान्‌के असीम अनुग्रहके प्रति विविध रूपोंमें कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं और फिर दूने उत्साहसे उच्चतर उपलब्धियोंके लिये इष्टदेवकी उपासनामे प्रवृत्त होते हैं; किंतु यदि दैवयोगसे अभीप्सित वस्तुकी प्राप्ति नहीं हुई अथवा उनकी इच्छाके विरुद्ध परिणाम निकला, तब या तो वे साधना-पथसे पराङ्मुख हो जाते हैं या प्रतिक्रियास्वरूप उसके घोर विरोधी बन जाते हैं। इस प्रकारकी मनःस्थितिका विश्लेषण करनेपर विदित होता है कि ऐसा साधक अथवा भक्त (कहलानेवाला प्राणी) वास्तवमें अपनेको आराध्यका अनुगत न मानकर नियामक समझता है। अतः उससे अपनी इच्छाके अनुकूल आचरणकी ही आशा रखता है, अन्यथा होनेपर वह अपना मानसिक संतुलन खो देता है। इससे उसके द्वारा सिद्धान्तरूपमे स्वीकृत सेवक-स्वामि-भाव व्यवहारमे स्वामि-सेवक-भावमे परिणत हो जाता है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह पता चलता है कि अध्यात्म-साधनाको विनष्ट करनेवाली इस भावनाके मूलमें अर्थार्थी-भाव अथवा सकाम-उपासना है। उस (मानव) की कर्म, ज्ञान अथवा भक्ति-साधनाका उद्देश्य वस्तुतः भव-संतरण न होकर वैषयिक सुखोंको प्राप्त कर भव-मज्जनका सुयोग लाभ करना है। अतः उनकी प्राप्तिमे सहायक होनेवाला ही कृपा-सिन्धु है, दयासागर है, भक्तवत्सल है तथा बाधा उपस्थित करनेवाला अन्यायी, स्वेच्छाचारी और घोर शत्रु है। कबीरने ऐसे स्वार्थी साधकोंको भक्तिमार्गका कलङ्क माना है—

भक्ति बिगाडी कामिया, जिह्वा इन्द्री स्वाद।
सूने घरको पाहुना, जनम गया बरबाद॥

सम्यग्दृष्टिसम्पन्न साधक अनुकूलताको भगवत्कृपा और प्रतिकूलताको प्रारब्ध-भोग मानकर दोनों प्रकारकी परिस्थितियोंमे प्रसन्न रहते हुए मनोगत अन्धकारसे मुक्त होते है—

सुख होवे सो हरि कृपा, दुख कर्मनका भोग।
'बनादास' यों काटिये मन मूरखका रोग॥

किंतु यह उपदेश साधारण स्थितिके साधकोंके लिये है। विशेष उत्कर्ष-प्राप्तिके स्पृही साधकोंको अपेक्षाकृत कठोर अनुशासनके भीतरसे गुजरना पड़ता है; यह साधनाका 'विपर्यय-मार्ग' अथवा 'उलटा रास्ता'के नामसे जाना जाता है। संसारके लोग जिसे काम्य समझते हैं, वे सारी वस्तुएँ उन साधकोंके लिये त्याज्य हैं। यहाँ जो कुछ श्रेयस्कर माना जाता है, उस मनःस्थितिको प्राप्त जनके लिये वे सभी हानिकर ही हैं, लोकमे जिसे उन्नति समझा जाता है, वह उसके लिये अवनतिका मूल स्रोत है। इतना ही नहीं, लौकिक बुद्धि जिसे ईश्वरकी प्रतिकूलताका प्रतीक समझती है, वह रुग्णता, पारिवारिक संकट, अपमान और निर्धनता ही तब पारमार्थिक उन्नतिका मुख्य साधन बन जाती है। आवागमनके चक्रमें फँसे हुए जीवोंके उद्धारकी जगन्नियन्ताने यह विचित्र पद्धति बना रखी है—

ईश्वर छोरैं जाहि को, तासु पुत्र धन लेयँ।
अरु डारैं अपमान करि, रोग वृद्धि करि देयँ॥
रोग वृद्धि करि देयँ रहै नहिं कोई आसा।
लोग निरादर करैं, हृदय महँ होइ प्रकासा॥
यहि बिधि लावैं सरन निज, रहै कमल पद सेय।
ईश्वर छोरैं जाहि को, तासु पुत्र धन लेयँ॥

वेद-पुराण, काव्य-ग्रन्थ तथा संत-चरित ऐसी गाथाओंसे ओतप्रोत हैं, जिनमे कृपाके इस अलौकिक स्वरूपका निदर्शन तथा गुणगान हुआ है।

महात्मा कबीर भी इसी निष्कर्षपर पहुँचे थे—

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हरीका जाय।
बलिहारी वा दुःखकी पल-पल नाम रटाय॥

गोस्वामी तुलसीदासजी भगवत्कृपाके विविध रूपोंका विवेचन करते हुए दुःखात्मिका परिस्थितियोको अन्तःशुद्धिका साधन मानकर उनकी सृष्टिमे नियामकका आयोजन स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

राम कृपा भाजन तुम्ह ताता। हरि गुन प्रीति मोहि सुखदाता॥
ताते नहिं कछु तुम्हहि दुरावउँ। परम रहस्य मनोहर गावउँ॥
सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥
(मानस ७। ७३। २–४; ७४ क)

पुत्रके शरीरमें फोड़ा हो जानेपर माता उसे शल्य-चिकित्सकके पास ले जाती है और हृदय कठोर करके उसका ऑपरेशन कराती है। बच्चा दर्दसे तड़फड़ाता है, किंतु रोगकी आत्यन्तिक निवृत्तिसे प्राप्त होनेवाले भावी सुखको दृष्टिमें रखते हुए माता बालकके तात्कालिक कष्टपर ध्यान नहीं देती। भक्तवत्सल भगवान् भी यही रीति अपनाते हैं; इससे अल्पज्ञताके कारण साधकको आरम्भमें तो कष्ट होता है; किंतु इससे उसके जन्म-जन्मान्तरके संचित एवं प्रारब्ध-मल नष्ट हो जाते हैं और कालान्तरमें उसके 'ऊर्ध्व-स्थिति' प्राप्त करनेका मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

अध्यात्म-साधनाका इतिहास ऐसे उदाहरणोंसे भरा पड़ा है, जिनमें विषम तथा विपरीत परिस्थितियाँ ही भोगमय जीवनसे वितृष्ण बनाकर विषयी जीवोंको जीवन्मुक्त महा-पुरुष बनानेमें सहायक हुई। उदात्तीकरणकी मनोवैज्ञानिक पद्धतिद्वारा लौकिक भोगोंमें लिप्त मनको विरक्तिपूर्वक भगवत्प्रेम-के आस्वादनका अभ्यासी बनानेका सिद्धान्त वैष्णव-भक्ति-आन्दोलनकी सबसे बड़ी देन है। सगुणमार्गी भक्तोंकी कृतियोंमें इसकी पद-पदपर पुष्टि की गयी है—

विषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बनसी पद अंकुस, परम प्रेम-मृदु-चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥
(विनयप० १०२। ३-४)

अनादिकालके भोगाभ्यासी मनको विषयोंसे पृथक् करना अत्यन्त दुष्कर व्यापार है। वह स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव, जमीन-जायदाद, शत्रु-मित्र आदि अगणित सम्बन्ध-सूत्रोंमें बँधा है, चिपका हुआ है। सामान्यतया उसके लिये इनसे अलग हो पाना अकल्पनीय है। जबतक इन सम्बन्धोंसे उसे रस प्राप्त होता रहेगा, वह इनमें लिप्त रहेगा। छूटनेका एकमात्र उपाय है, तीव्र झटका अथवा गहरा आघात। यह असह्य अपमान, घोर दारिद्र्य, प्रिय व्यक्तिका आकस्मिक निधन आदि किसी भी माध्यमसे प्राप्त हो सकता है।

अयोध्याके प्रसिद्ध संत महात्मा बनादासजीने आपबीतीके आधारपर इस सिद्धान्तका दृढ़तासे समर्थन किया है। उनका बारह वर्षका एकमात्र पुत्र सामान्य बीमारीसे सहसा दिवंगत हो गया। उस घटनाने उनकी जीवनधाराको एक नया मोड़ दिया। पुत्रके शवको लेकर गाँववालोंके साथ वे अयोध्या चले गये। वहाँ उन्होंने भरतके आदर्शपर चौदह वर्षतक रामघाटपर नाम-साधना करके इष्टदेवका साक्षात्कार प्राप्त किया। इस घटनाको उन्होंने ईश्वरकी असीम कृपा मानी—

कृपापात्रको रुज मिलै, निर्धनता अपमान।
कुल कुटुम्बको नास मैं अति करुना भगवान॥
अति करुना भगवान, बंसको छेदन कीना।
ममता रही न कहूँ, सिथिल मन तन सुठि खीना॥
बनादास पीछे दिये, इतना आतम ज्ञान।
कृपापात्रको रुज मिलै, निर्धनता अपमान॥

इसके विपरीत जिस सम्पन्नता और सुखको लोग ईश्वरीय कृपाका फल मानते हैं, वह उनके मतसे जगन्नियन्ताकी अप्रसन्नताका प्रतीक और अधोगतिका द्वार है—

हरि-बिमुखनको मिलत है, तन सुख औ धन धाम।
मान प्रतिष्ठा अमित बल, माया केर गुलाम॥
माया केर गुलाम, रामको भूलि न जाने।
खान-पान सनमान माहिँ, निसि-दिन लपटाने॥
बनादास दिन मृषा गे, अहनिसि भोगत काम।
हरि-बिमुखनको मिलत है, तन सुख औ धन धाम॥

हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति जगल्लीलाकी इस अनबूझ पहेलीको देखकर आश्चर्यचकित होता है। कोई भगवान्के सिर अन्याय-का दोष मढ़कर संतोष करता है तो कोई प्रारब्धका भोग मानकर; किंतु कितने ऐसे हैं, जो अनाचारियोंकी भौतिक समृद्धिको इन्द्रजाल समझकर उसके पीछे झाँकती हुई महाप्रकृतिकी कुटिल भौंहोंका दर्शन कर पाते हैं।

करुणा, कृपा अथवा दया भगवान्का नित्य गुण है। घोर आपत्तियोंको दैवीप्रकोप अथवा रोषका परिणाम मानने-वाले मोहमग्न जीव प्रत्यक्ष प्रतिकूलतामें निहित कल्याण-भावनाका अनुभव नहीं कर सकते। काली घटाओंमें रह-रहकर कौंधनेवाली बिजलीकी अन्धकारभेदन-शक्तिकी प्रतीति कितनोंको होती है? किंतु प्रेममार्गके वीर पथिक इस रहस्यको हृदयंगम कर मृत्युमें भी नित्य जीवन-सुखका अनुभव करते हैं। जागतिक ज्वालाकी लपटोंके बीच प्रियतमकी कृपावारि-धारासे सिंचित होनेका अनुभव तथा अवगुणमें गुण-दर्शन करने भक्तकी पहचान है।

भगवत्कृपा कैसे प्राप्त करें ?

(लेखक—स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी)

यह जगत् भगवद्विभूतिके द्वारा जीवन धारण कर रहा है, भगवत्कृपाकी धारा-प्रपात वर्षा हो रही है। एक औंधे प्यालेके समान मनुष्यका क्षुद्र मन उस कृपाकी पूर्णताका अनुभव करनेमें असमर्थ है।

योगमार्गके नव-सिखुआ बहुधा भगवत्कृपाकी प्राप्ति और पुरुषार्थ (साधना)—इन दोनों विरोधी भावनाओंका पोषण करते हैं। उनका कहना है कि यदि भगवत्कृपासे ही मनुष्य चरम प्रगति करनेमें समर्थ हो सकता है तो वह पुरुषार्थ क्यों करे ? इसके विपरीत यदि वह अपने पुरुषार्थसे ही सफल होता है तो भगवत्कृपाकी बात ही क्यों की जाय ?

तथापि योगदर्शनके सिद्धान्तोंको गम्भीर दृष्टिसे देखनेपर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि पुरुषार्थ और भगवत्कृपा, भाग्य तथा संकल्पकी स्वतन्त्रताके समान एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। पुरुषार्थ मनुष्यके अहंभावकी चेतनाके इर्द-गिर्द-से प्रारम्भ होता है और उस अवस्थाको लक्ष्यमें रखकर अग्रसर होता है, जिस अवस्थामें पहुँचनेपर अन्तरात्मा इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी सीमामें आबद्ध नहीं रहता और इस प्रकार परमात्माके साथ अभेदभावका अनुभव करता है; दूसरी ओर मनुष्यके अस्तित्वमें ईश्वरीय सत्ताकी बढ़ती हुई अभिव्यक्ति भगवत्कृपा है।

वास्तविक पुरुषार्थ मनुष्यके भीतर अभेदभावको विकसित करता है। अभेदभावापन्न व्यक्ति लौकिक जीवनके एकत्व अर्थात् ईश्वरके सामने आत्म-समर्पण कर देता है। साधकके व्यावहारिक जीवनमें उसका पुरुषार्थ भगवत्कृपाको आकर्षित करता है तथा भगवत्कृपा उसके पुरुषार्थको सम्पन्न और पूर्ण बनाती है। अपनी प्रगतिके उच्चस्तरमें उसको यह तथ्य ज्ञात हो जाता है कि भगवत्कृपा और पुरुषार्थमें कोई विभेद नहीं है।

ईश्वर बाह्य सत्ता नहीं है, वह सारी सृष्टिको परिव्याप्त करनेवाली अन्तरतम सत्ता है। इसलिये जीवनमें अन्तःकेन्द्रकी ओर अग्रसर होनेके प्रयत्नमें सदा 'भीतरी खिंचाव'के द्वारा सहायता मिलती है। यह भीतरी खिंचाव और कुछ नहीं, भगवत्कृपा है। जब हमें भगवत्कृपाकी चाह होती है, तब हम अपनी दृष्टिको अपने भीतर गहराईतक दौड़ाते हैं। जब हम भगवान्को आत्मसमर्पण करते हैं, तब हम अपनी ही अन्तरतम सत्ताको आत्मसमर्पण करते हैं। आत्म-समर्पणकी प्रक्रिया जब प्रयत्नके द्वारा फलीभूत होने लगती है, तब वह पुरुषार्थ कहलाती है; परंतु जब अनायास फलीभूत होने लगती है, तब हम उसे भगवत्कृपा कहते हैं।

भगवत्कृपा-प्राप्तिको स्वतः सिद्ध मानकर पुरुषार्थ न करना एक बड़ी भूल है। योगशास्त्रमें मनुष्यके पुरुषार्थको चार प्रकारके उद्देश्यमें अभिव्यक्त किया गया है—धर्म (जीवनमें आचार-सम्बन्धी वैशिष्ट्य), अर्थ (जीवनमें भौतिक वैशिष्ट्य), काम (जीवनमें प्रजननसम्बन्धी वैशिष्ट्य) और मोक्ष (जीवनकी अनन्तताका वैशिष्ट्य)। एक साधक आचार-सम्बन्धी जागरूकता बढ़ाते हुए जीवन-यापन करनेके लिये सचेष्ट रहता है और अपने भौतिक साधनोंको तथा अपने बन्धु-बान्धव और परिवारके साथ अपने जीवनको सब प्रकार-की तृष्णाके उच्छेदकी प्राप्तिकी ओर लगा देता है; यह सारी प्रक्रिया पुरुषार्थका क्षेत्र है।

पर क्या किसी भी मनुष्यके लिये इस दुष्कर कृत्यमें सफलता प्राप्त करना सम्भव है, यदि वह पूर्णतया अपनी अहंभावनाके द्वारा प्रेरित होकर कार्य करता है ? अन्तरात्माकी सहायताके बिना मनुष्यके लिये आध्यात्मिक मुक्तिकी अभिलाषा करना भी असम्भव होगा। भगवत्-कृपा ही उस पुरुषार्थका रूप धारण करती है, जो आत्मा-नुभूतिमें लगाता है। वह प्रत्येक मानव-प्राणीके भीतर अन्तरतम तथ्यके रूपमें स्थित है।

साधकका व्यक्तित्व योग-मार्गपर जैसे-जैसे संयमित होता जाता है, वैसे-ही-वैसे भगवत्कृपा विभिन्न रूप ग्रहण करती जाती है। कृपाके सामान्यतः चार रूप होते हैं—(१) आत्मकृपा, (२) गुरुकृपा, (३) शास्त्रकृपा और (४) ईश्वरकृपा। जैसे एक नदी पहाड़से निकलकर चौड़ी होती हुई आगे बढ़ती है और मैदानमें बहती हुई समुद्रमें गिरती है, उसी प्रकार पुरुषार्थका लघु प्रयत्न बढ़ते हुए और विस्तारको प्राप्त करते हुए कृपारूप समुद्रमें एकाकार हो जाता है।

(१) आत्मकृपा—जब जीवात्मा स्वयं मानव-शरीरमें निज स्वरूपका अनुभव प्राप्त करनेकी उत्कण्ठाको विकसित करता है, तब उसे आत्मकृपा कहते हैं। अपने आत्माद्वारा प्रेरित हुए बिना मनुष्य योगमार्गपर अग्रसर नहीं हो सकता, तथापि यह जान लेना आवश्यक है कि अतीतकालके शुभ कर्म मनुष्यको इस योग्य बनाते हैं कि वह अपनी आन्तरिक हृदयग्राहिता तथा रुचिको आत्मानुभवकी प्राप्तिमें विकसित करे।

(२) गुरुकृपा—जब साधक साधनाके मार्गमें चलनेके लिये अधिकाधिक गम्भीर और सचेत हो जाता है, तब वह आध्यात्मिक मार्गप्रदर्शककी खोजमें लगता है। उसकी अध्यात्म-मार्गपर चलनेकी उत्कण्ठा उसे एक अज्ञात शक्तिकी सहायतामें एक अध्यात्म-पथ-प्रदर्शक (गुरु)की प्राप्ति करा देती है। उन गुरुके आज्ञानुसार चलनेपर उनकी कृपासे साधककी पारमार्थिक अड़चनें चमत्कारिक ढंगसे दूर हो जाती हैं। जब बिना अधिक प्रयास किये स्वभावगत दोष दूर हो जाते हैं और जब तृष्णासे विरक्ति बढ़ने लगती है और आध्यात्मिक उन्नतिके लिये मानसिक एकाग्रता तथा आकाङ्क्षाकी वृद्धि होती है, तब हम समझने लगते हैं कि गुरुकृपा हमारे भीतर कार्य करने लगी है।

(३) शास्त्रकृपा—गुरुकृपाका पर्यवसान शास्त्रकृपामें होता है। जब साधककी अन्तर्दृष्टि उपनिषद्, गीता, योगवासिष्ठ तथा दूसरे योगसम्बन्धी ग्रन्थोंके अध्ययनसे विकसित होती है, तब जानना चाहिये कि उसको शास्त्र-कृपा प्राप्त हो रही है। उसकी विवेकशील दृष्टिसे शास्त्र अपने रहस्यमय कोशको नहीं छिपाते। जो लोग शास्त्र-कृपासे समृद्ध नहीं हैं, वे आध्यात्मिक उपदेशोंसे प्रेरणा प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते। वे इन्द्रियोंको उतने उत्तेजित करनेवाली नाना प्रकारकी पुस्तकें पढ़कर अपना मन-बहलाव करते हैं और जीवनमें क्षणिक उन्नतिके लिये निरर्थक अभिलाषाको महत्त्व देकर मनोविनोद करते हैं। साधकके लिये रहस्यमय धर्मग्रन्थोंकी गङ्गा प्रवाहित हो रही है, वह क्यों सड़े पानीके मटमैले कुण्डमें डुबकी लगाकर अपने-आपको गंदा करेगा ?

(४) ईश्वरकृपा—जब साधकका चित्त संसारके विषयोंसे विरक्त हो जाता है और निरन्तर भगवान्की ओर प्रवाहित होने लगता है, तब इसको ईश्वरकृपाकी पूर्णताकी अभिव्यक्ति समझना चाहिये। भगवत्कृपाद्वारा उपासक सदा भगवान्की स्मृतिमें तल्लीन रहता है। ज्ञान-योगी सतत 'अहं ब्रह्मास्मि'रूपा भावनाके उत्कट निदि-ध्यासनकी साधना करता है। राजयोगी गम्भीर समाधिमें स्थित होनेकी साधना करता है और कर्मयोगी सृष्टिके माध्यमसे भगवान्की सेवा करता है।

भगवत्कृपाकी अजस्र-वृष्टिसे आप आप्लावित हों!

भगवान्की दयालुता

(रचयिता—पाण्डेय प० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री, 'राम')

हो तौ दया-सिन्धु जौ न बनि दीनबंधु कहा
दिन दिन दीन-मुख देखि दुख पावतो।
काशीधाम वामदेव मुकुति लुटावतो क्यो
रावरो अमोघ राम-मंत्र जौ न पावतो॥
राम जू! क्यौं हू आप पावन कहावतो जौ
पतितन हेरि हेरि हिय न लगावतो।
गाइ गुन-गाथ तो पै माथ को नवावतो
जौ, नाथ न अनाथन को हाँक सुनि धावतो॥

कृपानिधिकी कृपा

(१)

हरि ! तुम सौं पहिचानि को, मोहि लगाव न लेस[1]।
इहिं उमंग फूल्यौ रहौं, बसौं कृपाके देस ॥

(२)

स्याम-सुजान[2]-हियें बसियै रहै नैननि त्यौं लसियै भरि भाइनि[3]।
बैननि बीच बिलास करै मुसक्यान-सखी सौं रचौ[4] चित चाइनि ॥
है बस जाके सदा घनआनंद ऐसी रसाल महा सुखदाइनि।
चेरि भई मति मेरि निहारिकै सील-सरूप कृपा ठकुराइनि ॥

(३)

मोसे अनपहचानकों, पहचानै हरि ! कौन ।
कृपा-कान मधि नैन ज्यौं, त्यौं पुकार मधि मौन[5] ॥

(४)

फीके सवाद परे सब ही अब ऐसो कछू रसपान कृपा को।
नीरस मानि कहै न लहै गति, मोहि मिल्यौ मन मान कृपा को[6] ॥
रीझनि लै भिजियौ हियरा घनआनंद-स्याम-सुजान-कृपा को[7]।
मोल लियौ बिन मोल, अमोल है प्रेम-पदारथ दान कृपा को ॥

(५)

सुख-सुदेसको राज लहि, भए अमर अवनीस[8]।
कृपा कृपानिधिकी सदा, छत्र हमारे सीस ॥

—कविवर संत श्रीघनानंद

(१) अर्थात् मैं पहचाने जानेके योग्य नहीं हूँ। (२) चतुर-चूडामणि। (३) भावोंसे भरकर। (४) हिल-मिलकर। (५) जिस प्रकार आपके नेत्रोंमें कृपाके कान लगे हुए हैं, उसी प्रकार मेरी पुकार मौनमें है। (६) मुग्ध हुए मनको जबसे कृपाका मान प्राप्त हुआ है, तबसे वह मोक्षको नीरस मानकर उसे न माँगता है और न मिलनेपर लेता ही है। (७) कुशल-शिरोमणि श्रीकृष्णकी कृपाके आनन्दमय मेघने रीझिरूपी वृष्टिके द्वारा मेरे हृदयको रससिक्त कर दिया है। (८) हम अमर नरेश।

जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती

(लेखक—श्रीअवधकिशोरदासजी वैष्णव 'प्रेमनिधि')

श्रीराम परम कृपालु हैं; निस्सीम करुणमय हैं, उनके सुकोमल हृदयमें कृपा सदैव छलकती रहती है। दीन-हीन आर्तजनोंपर द्रवित-चित्त रहना उनका सहज स्वभाव है। केवल श्रीराम ही कारणरहित कृपालु स्वामी हैं। जड-पाषाण सर्वसाधनहीन अहल्यापर कृपा करना उनके दीनवत्सल स्वभावका परिचायक है। श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल॥
(मानस १। २११)

श्रीराम परम उदार हैं, वे दीनजनोंपर स्वाभाविक कृपासे द्रवित होकर उनका दुःख दूर करते हैं—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥
(विनयप० १६२)

अनन्त, अखण्ड, सम्पूर्ण ऐश्वर्य-ज्ञान-बल-वीर्य-पराक्रम-लक्ष्मी और वैराग्यादि गुणगणके सागर भगवान्‌में यदि कृपा न होती तो हमारे-जैसे क्षुद्र जीव कोटि-कोटि कल्पपर्यन्त साधन करके मर जाते और प्रभुकी प्राप्ति सुदुर्लभ ही रहती। कारण यह है—

यद्ब्रह्मकल्पनियुतानुभवेऽप्यनाश्यं
तत्किल्बिषं सृजति जन्तुरिह क्षणार्धे॥
(श्रीवैकुण्ठस्तव ६१)

'जो हजारों-लाखों ब्रह्मकल्पपर्यन्त निरन्तर भोगनेपर भी नष्ट न हो सके, उतना बड़ा पाप जीव आधे क्षणमें उपार्जन कर लेता है।' ऐसे अधम पतित जीवोंपर 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'—यह न्याय लागू कर दिया जाय तो उनकी क्या दशा होगी? उनके लिये सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सर्वेश्वरको भी द्रवित करनेवाली कोई महान् शक्ति चाहिये, जो दीन-हीनोंका परित्राण कर सके। वेद-शास्त्र, आचार्य तथा संतोंने उस महासमर्था शक्तिका नाम भगवत्कृपा रखा है—

रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः।
इति सामर्थ्यसंधानं कृपा सा पारमेश्वरी॥
(भगवद्गुणदर्पण २। १)

'मैं परात्पर प्रभु अशेष जीवमात्रोंका संरक्षण करनेमें परमसमर्थ हूँ—इस प्रकारके गुणका अनुसंधान करानेवाली पारमेश्वरी शक्ति कृपा ही है।' कृपाके समान तो कृपा ही है। उस कृपाके बिना वे परमेश्वर निरञ्जन-निराकार ही बने रहते; यही नहीं, उनके समस्त सद्गुण भी महत्त्वहीन हो जाते। उनका दिव्य धाम सूना ही रह जाता। वे दीन-हीनोंको क्यों चाहते और आर्तजन भी उनका ही द्वार क्यों खटखटाते? यह कृपादेवीकी ही अद्भुत सामर्थ्य है, जो अनन्त-विभूतिनायक भगवान् भी भक्त-पराधीन बन जाते हैं।

उनका 'करुणानिधान' कितना प्रिय नाम है! प्रभुके अनन्त कोटि नामोंमें श्रीजनक-किशोरीजीको यही नाम अत्यन्त प्रिय है। वे अपने प्राणधन प्रियतम लोकललाम नयनाभिराम प्रभु श्रीरामको इसी प्रियनामसे स्मरण करती हैं। यही कारण है कि श्रीरामके अन्तरङ्ग प्रिय परिकर श्रीमारुतनन्दनजीने श्रीकिशोरीजीका विश्वास और आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये—'राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥' (मानस ५। १२। ५)—कहकर ही उनसे आत्मीय भाव उपलब्ध किया था।

वेदोंकी ऋचाएँ भगवत्कृपा-प्राप्तिकी प्रार्थनाओंसे भरी पड़ी हैं। उपनिषदें, शास्त्र तथा पुराण भगवत्कृपाकी कथाओंको कहते थकते नहीं हैं। देवर्षि, ब्रह्मर्षिगण, संत-महात्मा भगवद्भक्ति-वृद्धिके लिये भगवत्कृपाको प्राप्त करनेकी लालसा रखते हैं—

ऐश्वर्यश्रवणाद् भक्तिरुत्पन्नापि न वर्द्धते।
विना गुणानुसंधानाद् भगवत्पादपद्मयोः॥
तस्माद् गुणानुसंधानं कर्तव्यं भक्तिसिद्धये।
(भगवद्गुणदर्पण द्वि० प०)

श्रीरामानन्द-सम्प्रदायके रहस्योंको प्रकट करते हुए स्वामी श्रीमधुराचार्यजी महाराजने 'भगवद्गुणदर्पण'में कृपागुण-अनुसंधानके विषयमें कहा है कि 'प्रभुके ऐश्वर्यका श्रवण करनेसे भक्ति तो अवश्य उत्पन्न हो जाती है, परंतु जबतक प्रभुके कृपा-दया-करुणादि माधुर्य गुणोंका अनुसंधान न किया जाय, तबतक उनके श्रीचरणकमलोंमें निरन्तर प्रेमकी वृद्धि नहीं होती। इसलिये भक्तिकी अभि-

शुद्धिके लिये दीन-हीन, स्वसामर्थ्यका सर्वथा अभाव मानने-वाले और प्रभु-प्रेम-प्राप्तिकी सच्ची लगनसे युक्त भक्तको नित्य-निरन्तर उनके मधुर गुणोंका चिन्तन अवश्य करते रहना चाहिये।'

प्रभुकी कृपा तो जगत्में बिना भेदभावके निरन्तर सचराचर प्राणिमात्रपर बरसती ही रहती है, परंतु आर्त होकर उसका अनुसंधान करके आनन्दरस-सिन्धुमें मग्न होनेवाले इस जगत्में विरले ही हैं।

अनादिकालसे मोहनिद्रामें प्रसुप्त जीवको कृपामयी श्रीजीकी प्रेरणासे द्रवितचित्त प्रभुने मानव-देह प्रदान करनेका शुभ संकल्प किया, यही है भगवत्कृपाकी अवतरण-भूमि—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस ७। ४३। ३)

यह परम्परा अद्यावधि अक्षुण्ण ही है—

एवं निसर्गसुहृदि त्वयि सर्वजन्तोः
स्वामिन् चित्रमिदमाश्रितवत्सलत्वम्।

(आलवन्दारस्तोत्र ११)

'प्रभो! इस प्रकार नैसर्गिक स्वभावसे ही सर्वसुहृद् आपका सभी जीवोंपर अकारण कृपा करना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। स्वामिन्! आप तो इसी प्रकार आश्रित-जनोंपर सदैव वात्सल्य रखते ही आये हैं।'

श्रीजी भगवत्कृपाकी साकार प्राणमयी प्रतिमा हैं। उनका कृपापूर्ण भाव भक्त और भगवान्—दोनोंको आह्लादित कर देता है। इसलिये वे आह्लादिनी महाशक्ति भी कहलाती हैं। वे करुणानिधानके कृपाधनको अखिल विश्वके जीवोंके लिये उदारहृदयसे सर्वदा लुटाते रहना ही चाहती हैं। कृपारूपिणी कल्याणी श्रीजानकीजी कारुण्यपूर्ण हृदयसे निरन्तर भगवत्कृपारस वितरण करते हुए कभी अघाती नहीं हैं—'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।' (मानस १। २७। २) जब प्रभु कृपा करते हैं, तब कृपामूर्ति श्रीजी चाहती हैं कि प्रभु इतनी ही कृपा करके क्यों रह गये, उनके पास कमी क्या है, वे अधिक कृपा क्यों नहीं करते! श्रीजीकी भावना देखकर जब करुणानिधान अधिक कृपा करते हैं, तब कृपा स्वयं चाहती है कि प्राणनाथ कुछ और उदारता बरतते तो मैं सबको कृतार्थ कर देती। यह भगवत्कृपाका परम रमणीय स्वरूप है।

यह जीव मुझको प्राप्त हो जाय, इसके लिये भी प्रयास वे स्वयं ही करते हैं। भगवान्‌के वचन हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।' परंतु मायाके प्रबल साम्राज्यमें बड़े-बड़े धीर-वीर गिर जाते हैं, तब दण्ड देकर कभी-कभी प्रभु उनकी शुद्धि भी करना चाहते हैं। ऐसे अवसरपर श्रीकिशोरीजी प्रभुको पुनः-पुनः उनपर कृपा करनेकी प्रेरणा देती रहती हैं—

दुःखार्णवे निमग्नानां दृष्ट्वा जीवानहैतुकः।
करुणासिन्धुरामस्य जायते कोऽप्यनुग्रहः॥
पुण्यं भवति चाज्ञातं रामस्यानुग्रहेण हि।

(श्रीरामप्राप्तिपद्धति १)

'दुःखसागरमें डूबते हुए जीवोंको देखकर करुणासिन्धु श्रीरामके हृदयमें अकारण ही कृपा उमड़ती है। सहज अनुग्रह-के फलस्वरूप उनसे कोई अज्ञात पुण्य अवश्य ही हो जाता है, जिसको निमित्त बनाकर प्रभु उनका उद्धार कर देते हैं।'

जिनको धर्माचरण एवं योगाभ्यासका किंचिन्मात्र अधिकार नहीं है तथा तत्त्वज्ञान-प्राप्तिसे भी जो वञ्चित ही हैं, वे तृणादिक भी प्रभुकी क्रीड़ाभूमि श्रीअवधकी रजके सम्बन्धमात्रसे समस्त द्वन्द्वोंसे विमुक्त हो परमपद—साकेत-धामको प्राप्त हो गये। धन्य है भगवत्कृपा!

कृपालु प्रभु कहते हैं कि जो भक्त प्रेमसे मेरा भजन करते हैं, उनसे मेरा इतना अभेदभाव हो जाता है कि वे मेरे आत्मामें रमण करते हैं और मैं उनके।

दया दुःखितोंपर, वात्सल्य दोषयुक्त अल्पज्ञोंपर, सुशीलता दीन-हीन-मन्दजनोंपर तथा उदारता अकिंचन दरिद्रोंपर ही सुशोभित होती है। अवतार लेकर प्रभु भक्तोंके साथ इतनी आत्मीयता कर लेते हैं कि उनके सम्बन्धसे अपनी श्रेष्ठताका भी अनुभव करने लगते हैं—

'एषा सा दृश्यते सीते राजधानी पितुर्मम।'

(वा० रा० ६। १३०। ५५)

'सीते! देखो, यह मेरे पूज्य पिताजीकी राजधानी अयोध्या दीख रही है। यह मेरा निजधाम है।'—ऐसा

कहकर दशरथजीके दिवंगत होनेपर चौदह वर्षके पश्चात् भी उनके सम्बन्धसे भगवान् श्रीराम अपनेको कृतार्थ मान रहे हैं। अभिप्राय यह कि मैं परब्रह्म परमात्माका अवतार हूँ, यह बात कोई कदाचित् माने या न माने, परंतु मैं दशरथकुमार हूँ, क्या कोई इस बातमें भी कुछ शङ्का कर सकता है!

यज्जातीयो यादृशो यत्स्वभावः
पादच्छायां संश्रितो योऽपि कोऽपि।
तज्जातीयस्तादृशस्तत्स्वभावः
श्लिष्यत्येनं सुन्दरो वत्सलत्वात्॥
(सुन्दरबाहुस्तव ३०)

'भगवच्चरणारविन्दोकी छायाका आश्रित जिस-किसी प्रकारका, जो कोई भी, जिस किसी जातिका हो, जिस किसी प्रकारका और जैसे भी स्वभावका हो, प्रभु उसी जातिके, उसी प्रकारके और उसी स्वभावके बनकर कृपावात्सल्यवश उसका प्रेमपूर्वक आलिङ्गन करते हैं।' वे कृपापरवश प्रेमियोंके प्रेमबन्धनमें प्रीतिपूर्वक स्वयं बँध जायँ तो उनको कौन रोक सकता है; क्योंकि भगवत्कृपा ही जीवलोककी रक्षिका है, धर्म-संरक्षण तथा प्रभुके आत्मीय जनोंकी सुरक्षा भी कृपाशक्तिके ही अधीन है। आदिकविकी उक्ति है—

रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य च परिरक्षिता॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
(वा० रा० १। १। १३-१४)

कृपा और आत्मबल—

क्षुद्र विषयोंको भोगनेके लिये भी जब शक्तिकी आवश्यकता है, तब भगवद्विषयानुसंधानके लिये कितना अपरिमित आत्मबल चाहिये—यह सभी विचारक समझ सकते हैं। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' (मुण्डक० ३। २। ३); परंतु जब कोई साधक प्रभुके प्रेमरसका आस्वादन करना चाहता है, तब वे करुणानिधान स्वयं कृपापूर्वक उसे बल (मुझे भगवत्प्रेम तो अवश्य प्राप्त होगा ही—इस प्रकारका उत्साह और विश्वास) प्रदान करते हैं, जिसको पाकर जीव कृतार्थ हो जाता है।

देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम्।
(वा० रा० २। २१। ६)

'प्रभु श्रीराम देवताके समान शुद्ध, सरल और जितेन्द्रिय तो हैं ही, परंतु विलक्षणता यह है कि वे शत्रुओंपर भी कृपावत्सलता रखते हैं।'

राम-रावण-युद्धमें रावण श्रीरामका नाम मिटा देना चाहता था। उसने घमासान युद्ध किया। सबका बदला चुका लेनेकी ठान ली। प्रभुने शत्रुको संतुष्ट करनेके लिये अपनी कुछ शक्तिका प्रयोग कर दिखाया। रावणके रथ-आयुध सभी नष्ट हो गये, वह मरणोन्मुख हो गया, उस समय प्रभुके हृदयमें करुणा छा गयी। दयालु देव द्रवित होकर कहने लगे—

कृतं त्वया कर्म महत् सुभीमं हतप्रवीरश्च कृतस्त्वयाहम्।
तस्मात् परिश्रान्त इति व्यवस्य न त्वां शरैर्मृत्युवशं नयामि॥
(वा० रा० ६। ५९। १४२)

'तुमने आज बड़ा भयंकर काम (युद्धकर्म) किया है, मेरे अजेय वीरोंको तुमने आहत कर दिया है। आज तुम अत्यन्त थक गये हो, इसलिये थके हुएको मैं बाणोंसे मारना नहीं चाहता हूँ।' कृपालुने कृपाकर पुनः स्पष्ट करते हुए कहा—

प्रयाहि जानामि रणार्दितस्त्वं प्रविश्य रात्रिंचरराज लङ्काम्।
आश्वस्य निर्याहि रथी च धन्वी तदा बलं प्रेक्ष्यसि मे रथस्थः॥
(वा० रा० ६। ५९। १४३)

'निशाचरराज! जाओ, आज तुम विश्रान्तिके लिये लंकामें चले जाओ, तुम संग्राममें थककर बहुत ही लाचार हो गये हो। घरमें विश्रामकर, स्वस्थ होकर तथा नया रथ, धनुष-बाण, शस्त्रास्त्र आदिसे सुसज्जित होकर पुनः आना, तब मेरे बलको देखना।'

कितनी कृपा है, कितनी निर्भयता है, कितनी शक्ति है! आचार्यने प्रभुके इस कृपा-गुणका महत्त्वाङ्कन किया है—

यत्तादृशागसमरिं रघुवीर वीक्ष्य
विश्राम्यतामिति मुमोचिथ मुग्धमाजौ।
कोऽयं गुणः कतरकोटिगतः क्रियान्वा
कस्य स्तुतेः पदमहो बत कस्य भूमिः॥
(अतिमानुषस्तव २७)

"हे श्रीरघुवीर! जो इस प्रकारके महाशत्रु देवकण्टक त्रिभुवन-विजयी रावणको आपने कृपापरवश 'जाओ, विश्राम करो'—कहकर प्राण-संशयसे मुक्त कर दिया, वह आपका विलक्षण गुण कैसा, किस कोटिका और कितना महान् है! इस स्तुतिके योग्य अन्य कौन हो सकता है!"

भगवत्कृपाका वैशिष्ट्य

(लेखक—श्रीदिनेश जयन्तीलालजी रावल)

मनुष्य भौतिक समृद्धिमें शाश्वत सुख, संतोष, शान्ति और आनन्द ढूँढ़नेका प्रयास करता है, परंतु भौतिक सुख स्वभावतः अपूर्ण और नाशवान् है, अतएव उससे स्थायी सुख कैसे मिल सकता है ? अपनी इस चेष्टामें निष्फल मानव स्वतः भगवान्‌की ओर आकर्षित होता है तथा संतों और सद्ग्रन्थोंका आश्रय लेकर अपने अनुकूल आध्यात्मिक मार्गकी खोज करता है। सुखकी खोजमें भटकते हुए मानवकी भेंट भौतिक सुखोंमें आनन्द माननेवाले और उसीको जीवनका परम और चरम लक्ष्य माननेवाले लोगोंसे होती है, अतः वह भी उन्हींकी तरह भौतिक सुख प्राप्त करनेका ध्येय बनाता है, किंतु गम्भीर विचार, सत्सङ्ग, सत्-शास्त्र-अध्ययन या अन्य किसी प्रकारसे भी उसे जब यह दृढ विश्वास हो जाता है कि यह संसार दुःखमय है, इसमें सच्चे सुखका लेश भी नहीं है, अब तो एकमात्र प्रभु ही मेरे हैं, तब उसे संतों और भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका दिव्य अनुभव होता है, वह साधारण सांसारिक जनोंकी कृपाकी अपेक्षा ईश्वरीय कृपाकी विशिष्टताको समझता है।

भगवत्कृपाकी विशेषताके सम्बन्धमें विचार करते समय एक बात स्पष्ट समझमें आती है कि भगवान् सर्वसुहृद् हैं, अतएव उनकी कृपादृष्टि सब प्राणियोंपर एक-सी होती है; परंतु उसके अनुभवका आनन्द जैसा ईश्वरीय मार्गमें जानेवाले श्रद्धालु साधकको प्राप्त होता है, वैसा भगवद्विमुख लोगोंको नहीं होता, क्योंकि ऐसे मनुष्य स्थूल सुख-दुःखको भगवान्‌की कृपा अथवा अकृपाके रूपमें देखते हैं। वे इस बातको भूल जाते हैं कि मङ्गलमय भगवान्‌का प्रत्येक विधान प्राणिमात्रके मङ्गलको लक्ष्यमें रखकर निश्चित होता है। श्रीभगवान् कहीं और कभी भी अकृपा नहीं करते। जैसे साधारण मनुष्य कारणवश अपने सम्पर्कमें आनेवाले लोगोंपर कृपा-अकृपा करते हैं, वैसी नीति श्रीभगवान्‌पर लागू नहीं होती; क्योंकि वे तो अहैतुकी कृपा करनेवाले हैं। भगवान् और सांसारिक जन—दोनोंके कृपा करनेके कारण भिन्न-भिन्न होते हैं।

ईश्वर-विमुख मानव साधारणतः धनवान् और सत्तावान् मनुष्यकी कृपा-याचना करता है, परंतु धन-सत्तावाला मनुष्य किसीपर कृपा करनेके पहले इस बातपर विचार करता है कि कृपाकाङ्क्षी मनुष्य अपने लिये कितना उपयोगी सिद्ध हो सकेगा; क्योंकि वह कितना भी ऐश्वर्यशाली क्यों न हो, वस्तुतः अभावग्रस्त ही है, अतः वह याचकके अन्य गुण-दोषोंपर ध्यान नहीं देता। याचक कृपाद्वारा प्राप्त वस्तुका सदुपयोग करता है या दुरुपयोग, इसकी भी जानकारी वह नहीं रखता। फलतः भौतिक सुखोंकी लालसावाला मनुष्य जनसाधारणके लिये दुःखरूप हो जाता है, परंतु भगवान्‌की कृपा करनेकी रीति इससे नितान्त पृथक् है। वे जिसके ऊपर कृपा करते हैं, उसके दोषोंको उग्र या सौम्य—किसी भी उपायसे दूर कर उसके अन्तःकरणकी शुद्धि करते हैं; क्योंकि भगवान्‌को छल-छिद्र या कपट अच्छा नहीं लगता। परमार्थ-पथपर मिथ्याचारी या दम्भी नहीं चल सकता। इसलिये अध्यात्ममार्गके पथप्रदर्शक महापुरुष प्रभुमें शुद्ध भावकी स्थापना करने तथा दम्भ या चतुराई न करनेकी सलाह देते हैं। इसका कारण यह है कि भगवान् सर्वज्ञ और सर्वविद् होनेके कारण सब प्राणियोंके अन्तःकरणकी स्थितिको जानते हैं। अतः दम्भ करना भगवत्कृपावर्षणको रोकनेके लिये छाता लगानेके सदृश है।

श्रीभगवान् अहैतुकी कृपा करते हैं, यह बात सच्ची होनेपर भी साधकको सिद्धिके प्रलोभनमें न पड़कर साधन-मार्गमें आनेवाले आधिभौतिक और आधिदैविक विघ्नोंसे क्षुब्ध न होकर इस मार्गका दृढ़तापूर्वक अनुसरण करना चाहिये। ऐसे दृढ और श्रद्धालु साधकके मार्गमें यदि विघ्न भी आता है तो भगवत्कृपा उसका निवारण-कर उसे सही लक्ष्यतक पहुँचा देती है।

भगवत्कृपा श्रीभगवान्‌का स्वरूप ही है, इसलिये सम्पूर्णरूपसे इसका रहस्य स्वयं भगवान् ही जानते हैं। स्थूल सुखको भगवत्कृपा और स्थूल दुःखको भगवान्‌की अकृपा मानना बड़ी भूल है। साधनमार्गमें चलते समय दुःख या यातना भी भोगनी पड़े तो साधक उसे अपने प्रियतमका प्रसाद मानकर प्रसन्नतापूर्वक शिरोधार्य करता है। यद्यपि जगत्‌की दृष्टिमें भक्त दुःख और यातना

भोगता है, तथापि भगवत्कृपासे उसके मनमें शान्ति और आनन्दका समुद्र लहराता रहता है। यह भगवत्कृपाकी ही विलक्षणता है। भगवत्कृपा भक्तको सुख और दुःखमें धैर्यपूर्वक समान रहनेकी क्षमता प्रदान करती है। भक्तका धैर्य कैसा होना चाहिये, इसका वर्णन करते हुए किसी कविने कहा है—

मेरु तो डगे पण जेनां मन नव डगे
मरने मांगी पड़े ब्रह्माण्डजी।
विपत्ति पड़े तो मे वणसे वद्दिजे
सोइ हरिजन ना प्रयाणजी॥

सच्चा भक्त तो दुःखको भी भगवत्कृपाका ही वरदान समझता है; क्योंकि दुःखमें उसको भगवान्‌का निरन्तर स्मरण होता है। अपने भक्तोंके प्रकार बतलाते हुए श्रीभगवान्‌ने आर्त भक्तको सर्वप्रथम स्थान दिया है; क्योंकि आर्त हृदयकी पुकार भगवान्‌के पास शीघ्रातिशीघ्र पहुँचती है और दुःखमें आर्तभावकी अपेक्षाकृत अधिकता होनेके कारण भगवत्कृपाका अनुभव शीघ्रतासे होता है। इसी कारण माता कुन्ती भगवान्‌से याचना करती हैं कि प्रभो! हमें सदा दुःख-ही-दुःख दो, जिससे निरन्तर आपका स्मरण होता रहे। भक्तकी दृष्टिमें भगवत्स्मरण ही सबसे बड़ा सुख तथा भगवान्‌का विस्मरण ही सबसे बड़ा दुःख है।

भगवत्कृपासे साधककी दृष्टि केवल बदलती ही नहीं, अपितु नयी प्राप्त भी होती है। साधारण मनुष्य थोड़ी शारीरिक यातनासे त्रस्त हो जाता है, किंतु अनेक संतोंने जीवनके अत्यन्त कष्टप्रद यातनाकालमें भी भगवत्कृपाका दर्शन किया है और इससे प्राणान्तकारी कष्टमें भी उनके मनकी स्थिरता तथा भगवत्कृपामें श्रद्धा बनी रही, उनका वह श्रद्धारूप दीप निरन्तर जलता रहा, जो आज भी असंख्य साधकोंका पथप्रदर्शन करता है और करता रहेगा।

भगवत्कृपाका एक अन्य वैशिष्ट्य यह भी है कि वह साधकको कदापि भगवद्विमुख नहीं होने देती, अपितु समस्त निर्बलताओंको पार करनेमें उसकी सहायता करती है। अभिमान मनुष्यके लिये अधोगतिका कारण बनता है, परंतु भगवत्कृपा अभिमानकी कारणरूपा कामनाओंको भगवान्‌से तन्मय कर देती है। जो कुछ होता है, वह केवल भगवदिच्छासे ही होता है—ऐसा विश्वास दिलाकर अर्थात् साधकका अभिमान मिटाकर उसे पतनसे बचा लेती है; क्योंकि जो अपनेको ही सम्पूर्ण कर्मोंका कर्ता मानता है, उसीके लिये अभिमान बन्धनरूप होता है।

भगवत्कृपाका पापनाशक होना भी उसका वैशिष्ट्य है। कहा जाता है कि भगवत्कृपा पापहारिणी शक्ति है। स्वयं भगवान्‌की वाणी है—'अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी यदि अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो वह शीघ्र ही साधु बन जाता है; क्योंकि उसने सत्यमार्गको ग्रहण कर लिया है (गीता ९। ३०-३१)। इस भगवद्वाणीसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवत्कृपाकी महिमा कितनी महत्त्वपूर्ण है और यह मनुष्यमें कितना अद्भुत परिवर्तन ला सकती है। भगवत्कृपाका यह अप्रतिम चमत्कार है। अशरण-शरण भगवान्‌की श्रद्धापूर्वक एकात्मभावसे शरण ग्रहण करनेपर भगवत्कृपा अपने प्रभावको प्रकट करती है और शरणापन्नके दुर्गुणोंको दूर कर उसे सद्गुणोंका धाम बना देती है और इस प्रकार पाप और दुर्गुणके अनिवार्य परिणाम अधोगतिसे बचा लेती है। भगवान् अन्तर्यामी होनेके कारण साधनमार्गमें आगे बढ़नेके लिये साधककी आवश्यक वस्तुओंका योगक्षेम स्वयं वहन करते हैं और उसकी याचनापर भी उसे साधनमार्गसे च्युत करनेवाली वस्तु प्रदान नहीं करते। अतएव साधनाके मार्गमें दृढ़ रहनेके लिये भगवत्कृपा ही साधकका मुख्य आधार है। भगवत्कृपाके बिना साधन-मार्गमें प्रगति नहीं हो सकती, अतएव भक्तको अन्य अवलम्बन छोड़कर केवल भगवत्कृपाका ही अवलम्बन ग्रहण करना चाहिये। भगवत्कृपाका वैशिष्ट्य अनन्त, अपार एवं असीम है, यहाँ तो उसका दिग्दर्शनमात्र करानेका प्रयत्न किया गया है।

परम कृपालुसे याचना

अब तौ कृपा करौ गोपाल।
दीनबन्धु करुनानिधि स्वामी अंतर परम कृपाल॥
जग आसा विषफल मत खावौ प्यावौ भक्ति रसाल।
'नागरिया' पर दया करौ किन जन दुख हरन दयाल॥
(नागर-समुच्चय)

भगवत्कृपाका रहस्य

(लेखक—आचार्य श्रीविश्वम्भरजी द्विवेदी)

भगवत्कृपा भक्ति-वेदान्तका प्रमुख अङ्ग है। भगवदनुकम्पा, भगवदनुग्रह आदि इसके अनेक नाम हैं। भगवत्कृपाकी अमृतमयी वृष्टि जबतक भक्तके भाव एवं हृदय-जगत्में नहीं होती, तबतक भीतर-बाहर सर्वत्र व्याप्त भगवान् भी उसके लिये नहींके समान होते हैं; क्योंकि भगवान् सर्वप्रथम भाव अथवा भावनामे ही अस्तित्व ग्रहण करते हैं। भाव ही भगवान्की सगुण, साकार एवं सापेक्ष सत्ताका मुख्य कारण है।

रामचरितमानसमे भगवान् शंकरका एक ऐसा ही दिव्य प्रेमभाव भगवान्के सर्वत्र व्यापक होनेकी घोषणा करता है। यदि उन्हें प्रकट देखना है तो पहले अपने हृदयमें उसी प्रेमभावको जगाना होगा, जिसके वशीभूत हो भगवान् सर्वत्र प्रकट हो जाते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
(१ । १८४ । ३-४)

प्रत्येक मनुष्यकी भावात्मक तरलता उसे बलपूर्वक काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर आदि कुप्रवृत्तियोंमें बहा ले जाती है, किंतु वही भावात्मक तरलता उन्हें भगवान्की शरणमें तबतक नहीं ले जा पाती, जबतक वह स्वयं भगवत्कृपासे स्वच्छ, पवित्र एवं सत्त्वगुणी नहीं बन जाता।

साथ ही हम यह भी जानते हैं कि चराचर प्राणियोंका अकारण कल्याण करनेके लिये अमृतस्वरूपा भगवत्कृपा उनपर अविराम बरसती ही रहती है, फिर भी उनका भाव-क्षेत्र परिष्कृत एवं संस्कृत नहीं होता। जैसे पानीमें भी मछली प्यासी ही रह जाती है, उसी तरह वे अपने जीवनमें भगवान्की और उनकी अजस्र-कृपाकी अनुभूति नहीं कर पाते।

भक्ति-सिद्धान्तके अनुसार अपने जीवनमें निरन्तर विद्यमान रहनेवाली भगवत्कृपाकी श्रद्धा-विश्वाससे युक्त साधना द्वारा अनुभूति हो जाना ही भगवत्प्राप्ति किंवा भगवत्-साक्षात्कारमे हेतु है।

भगवत्कृपाका स्वरूप—

भगवान्की सतत प्रवाहशीला सहज कृपा सार्वकालिक है। न वह कालसापेक्ष है और न साधनोंपर ही निर्भर करती है। वह अहैतुकी है, अतएव अकारण ही सबपर बरसती रहती है। वह देश, काल, वस्तु और व्यक्तिसे परे भी है और उन सबमे अनुस्यूत भी[1]। वह रूप-रहिता रहकर भी सर्वरूपोंमे प्रकाशित होती है। वह अपने मूलाधारमें एकरस है। आशय यह कि कृपा और कृपालु दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं[2]। हम कृपालुसे इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति आदिकी जो कुछ भी अभिलाषा रखते हैं, वह हमें 'अभिलाषिणी' नामक भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है।

इस प्रकार जब जहाँ जो कृपालुका स्वरूप है, तब वहाँ वही कृपाका भी स्वरूप है। वास्तवमे भगवान्की मूर्ति ही भगवत्कृपाका रूप है, भगवान्के विग्रहसे भिन्न भगवत्कृपाका कोई दृश्य रूप नहीं है[3]। अतः सभी भगवद्विभूतियोंमें अरूपिणी भगवत्कृपाका स्वरूप झलकता है; क्योंकि वे स्वयं भगवान्के ही तैजस-अंशसे उत्पन्न हैं[4]। अतएव घोर तमसाच्छन्न विश्व-प्रपञ्चमे भी हमारे अन्तर्बाह्य नेत्रोंके भीतरसे जो सूर्य-ज्योति एवं आशाका प्रकाश बेरोक-टोक झाँकता हुआ प्रतीत होता है, वह भगवान्की कृपाकी ही मङ्गलमयी ज्योति

१. मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय। मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (गीता ७ । ७)

२. गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। (मानस १ । १८)

३. प्रभु मूरति कृपामयी है। (वि० प० १७०)

४. यद्यद्विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ (गीता १० । ४१)

है। वह जीवमात्रको सतत प्राप्त होती रहती है। इसे पाना नहीं होता, केवल पहचानना पड़ता है। यह सार्वकालिक है, अतः इसकी प्राप्तिके हेतु किसी विशेष समयकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। सतत प्रवाहशीला होनेसे जीवमात्रको इसका सुखद-शीतल स्पर्श प्राप्त होता रहता है।

इस प्रकार यद्यपि यह त्रिकालाबाधित 'कृपा' तत्त्वतः एकरस, अखण्ड एवं अविनाशिनी है, तथापि जीवमात्रके कल्याणके लिये तथा उसके प्रेय एवं श्रेयकी समस्त सुविधाएँ जुटाने-हेतु वह स्वयं कभी जननी, कभी उज्जीवनी, कभी प्रबोधिनी, कभी प्रपञ्जिनी, कभी शिक्षाप्रदायिनी, कभी प्रणयिनी, कभी अभिलाषिणी, कभी प्रापणी एवं कभी अभिव्यञ्जनी आदि अनेक रूपोंको ग्रहण करती रहती है, जिनसे जीवमात्रको ऐहिक और पारलौकिक श्रेय प्राप्त करनेके अवसर एवं यथायोग्य सुविधाएँ प्राप्त होती रहती हैं।

निःसंदेह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वाधीन, परम प्रेमास्पद एवं परम कृपालु परमेश्वरकी 'कृपा' स्वयं उनका ही एक 'सहज स्वभाव' है, जो कभी किसी निमित्तके बिना ही भागवत आनन्दका तरल-से-तरल पावन प्रवाह बनकर जगत्का सतत कल्याण करता है। इस पावन प्रवाहमें स्वयं उन्हींके सौन्दर्य, औदार्य, सौशील्य एवं माधुर्य आदि गुणोंकी सुरभि तथा शीतलता मिश्रित रहती है, जिसे पाकर अर्थात् जिसका अनुभव करके जगत्के प्राणिमात्र कृतार्थ हो जाते हैं।

दुःख-शोकादिमें भी हितकारिणी भगवत्कृपा—

ऊपर वर्णित भगवत्कृपाके स्वरूपसे कदाचित् यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या दुःख-शोकादिकी अवस्थामें भी भगवत्कृपाका हितकारिणी होना अनुभव-सिद्ध है? यदि है तो इसका प्रमाण क्या है?

इसका उत्तर यह है कि इसमें कोई संदेह नहीं कि भगवत्कृपाका परिणाम अथवा फल सर्वदा सुखद एवं आकर्षक ही होता है, अतः प्रभुकी कृपाका एक रूप 'आकर्षिणी' भी है; किंतु वह प्रारम्भमें विकर्षिणीका रूप ग्रहण करके ही आती है। यह विकर्षिणी भी अपना सहज सौरभ तभी प्रकट करती है, जब वह हृदयमें प्रपञ्च-संवेदनके प्रति 'तापनी' बन चुकती है। आशय यह है कि जब ईश्वर-वियोगिनी वृत्ति प्रपञ्च-संयोगमें ताप और ज्वालाका अनुभव करने लगती है—संसारकी सुरभिमें दुर्गन्धकी, रसमें विष, सौन्दर्यमें कुरूपता, सुकुमारमें मारकत्व, मधुर स्वरमें नीरस एवं कर्णभेदी गड़गड़ाहट, प्रिय सम्बन्धमें बन्धन, समतामें विषमता तथा आत्मत्वमें परत्वकी दारुण प्रतीति करने लगती है, तब यह 'तापनी' जीवका संसारसे विकर्षण कर उसे प्रभुकी आकर्षण-धारामें डाल देती है। उस समय उसे ऐसा अनुभव होता है—'मेरा भी कोई प्रेमी है। मैं अकेला और असहाय नहीं हूँ। कोई मेरी ओर अवलम्बनका वरद हस्त बढ़ा रहा है। वह मुझे अपनी ओर बलपूर्वक खींच रहा है। वही मेरा वास्तविक प्रियतम है, जो मुझ-सदृश संसार-परित्यक्तको भी अपना रहा है। उसीके पास मेरा वास्तविक निवास है। अबतक तो मैं घोर अन्धकारमें, भ्रममें, पराये घरमें भटक रहा था, दयनीय जीवन काट रहा था, भ्रमवश दुःखको सुख मान बैठा था। मैं जहाँ हूँ, वहाँ तो प्रकाश, शान्ति और सुखमें-से एक भी नहीं है। मुझे अपने प्रियतमके उस रसमय-मधुमय प्रदेशमें चला जाना चाहिये, जहाँ सतत सुख-शान्ति एवं प्रकाशस्वरूप केवल वही-वह नित्य विहार करता है।' मानवकी उक्त प्रकारकी अनुभूति ही इस तथ्यमें प्रमाण है कि दुःख-शोकादिकी अवस्थामें भी भगवत्कृपा हितकारिणी ही होती है।[5]

भगवत्कृपाके विभिन्न रूप—

सामान्यतः अनुकम्पा, दया, कृपा, करुणा आदि शब्द प्रायः एक ही अर्थमें बोले जाते हैं, किंतु भक्ति-सिद्धान्तकी दृष्टिसे देखनेपर वस्तुतः इन शब्दोंमें भेद है।

---

५. प्रस्तुत सदर्भसे मिलाइये—

(क) अनुग्रहाऽय भवत कृतो हि नो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः। यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मत ॥

(श्रीमद्भा० १० । १६ । ३४)

(ख) भिक्षुगीतम्–(तितिक्षुद्विजोपाख्यान) श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्ध, २३वाँ अध्याय।

(ग) विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो। भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

(श्रीमद्भा० १ । ८ । २५)

अनुकम्पा एक ऐसा भाव है, जो किसी स्वामीके हृदयमें सेवककी असहायावस्था, विवशता एवं अत्यन्त समर्पण-शीलताका अनुभवकर उसके उपकारार्थ उत्पन्न होता है।

दया वह भाव है, जो किसी विपन्न, दीन-हीन, दुःखी व्यक्तिके प्रति जाग्रत् होता है। अतएव यदि हम करुणाको इस विषयके अन्तर्गत न लें तो दया और करुणा प्रायः समान दशाओं एवं समान आलम्बनोंको पाकर जाग्रत् होते हैं। अनुग्रह और पुष्टि शब्द अवश्य ही कृपाके अधिक निकटवर्ती हैं।

अब केवल 'कृपा' शब्द रह जाता है, वह उक्त शब्दोंका सजातीय होकर भी भावकी दृष्टिसे वस्तुतः उनसे पर्याप्त मात्रामें आगे है। कृपा—विशेषतया भगवत्कृपा, जिसे हम समझनेका प्रयास कर रहे हैं; न तो किसी वातावरण-विशेषपर आश्रित है और न किसी विशिष्ट आलम्बनपर ही अनिवार्यतः निर्भर है। वह तो भगवान्‌को ऐश्वर्यवान् और प्रभुको प्रभुतासम्पन्न तथा विभुको व्यापक बने रहने-हेतु बाध्य करनेवाली उनकी अपनी नैसर्गिक प्रकृति—शक्ति है, जिसके बाहर भगवान् कभी रह ही नहीं सकते। वह भागवती कृपा ही भगवान्‌की चक्रवर्तिनी शक्ति तथा उनकी अपनी परम प्रेयसी पटरानी है, वही अखिल ब्रह्माण्डकी योग-क्षेम-व्यवस्थापिका साम्राज्ञी तथा कर्म-प्रवाहमें पतित एवं सतत जन्म-मरणके भवचक्रमें पड़े हुए सम्पूर्ण भूतोंको अपनी-अपनी भुक्ति अथवा मुक्तिके लिये निर्बाध अवसर देनेवाली त्रिशक्ति-[7] स्रोतस्विनी त्रिवेणी है। इससे जीवमात्रका हित-ही-हित होता है, वह चाहे कर्मप्रवाहकी किसी भी स्थितिमें क्यों न हो[8]। यह 'कृपा' ही एक ऐसा पारमार्थिक तत्त्व है जो स्वयं ही अपने धारक अथवा आधारकी केन्द्रीय शक्ति बन गया है। 'कृपैव प्रभुता नवा' अर्थात् कृपा स्वयं ही प्रभुकी 'प्रभुता' बनकर समग्र चराचर प्राणिमात्रके लिये लौकिक 'हित' और पारलौकिक श्रेय बिखेर रही है। सम्पूर्ण विश्व उसकी एकरस ममतामयी छायामें पालित-पोषित एवं समृद्ध हो रहा है।

भगवत्कृपानुभूति—

भक्तिमार्गी साधनाका भावयोगी सर्वप्रथम श्रद्धाका सम्बल लेकर इस मार्गमें प्रवेश करता है। भावनाके मन्दिरमें आविर्भूत भगवान्‌को वह कभी मन-मन्दिरमें, कभी भगवान्‌की प्रतिमाओंमें और कभी उनकी विभूतियोंमें मानसिक भावनाद्वारा प्रतिष्ठित कर उनकी उपासना करता है। उसकी उपासना नवधाभक्तिकी पद्धतियोंसे नित्य-निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होती रहती है। इस साधनावस्थामें उसे भगवत्कृपाका परोक्ष ज्ञान ही रहता है; क्योंकि तबतक उसकी साधना शास्त्रोपदेश, गुरुदीक्षा एवं भक्तिमार्गी रूढ़ियोंकी लीकपर ही चल रही होती है। साधककी यह जीवन-स्थिति भगवत्कृपाके परोक्ष ज्ञानका फल है। यही स्थिति अत्यन्त दृढ़ एवं पुष्ट होकर भगवत्कृपाकी 'परोक्ष-प्रतीति'[9]का स्थान ले लेती है। यहीं आकर साधककी श्रद्धा विश्वासमें समरस होकर अचल हो जाती है। कितने ही प्रलोभन, आकर्षण एवं संकट आयें, उसे डिगा नहीं सकते, किंतु अबतक भी भगवत्कृपाकी अपरोक्षानुभूति उसे सिद्ध नहीं होती है, यद्यपि उसकी भूमिका तैयार हो चुकती है।

भगवत्कृपाकी अपरोक्षानुभूति, जिसे हम सच्चे अर्थमें भगवत्कृपानुभूति कह सकते हैं—उस साधकके जीवनमें तब जगती है, जब भगवत्स्वरूपमें तदाकार एकमात्र वृत्तिमें समरस हुआ उसका अन्तःकरण अन्य

---

६. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः... ... ...सलिलमेव तु तत्समस्तम्॥ (उ० रा० च० ३।४७)

७. तीन शक्तियाँ—सर्जन, पालन एवं प्रलयकी त्रिमूर्ति शक्ति।

८. सुरसरि सम सब कहँ हित होई। (मानस १।१३।५)

९. जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥ (मानस ७।७।४)

सभी प्रकारकी चित्तवृत्तियोंसे रहित होकर भगवान्‌के सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें इतना तन्मय हो जाय, ऐसा ओत-प्रोत हो जाय कि उसे देह-गेह आदि पार्थिव एवं स्वर्ग-मोक्ष आदि अपार्थिव पदार्थोंकी स्मृति भी न रह जाय। यही भगवत्कृपानुभूति है।

भगवत्कृपाकी ऐसी भाव-समाधिके परमानन्दमें लीन भक्तको समाधि और व्युत्थान—सभी दशाओंमें, भीतर-बाहर सभी स्थानोंमें, ब्रह्मासे लेकर तृणसमूह पर्यन्त सभी प्राणी-पदार्थोंमें, तथाकथित सुख-दुःखमयी सभी परिस्थितियोंमें, ऊँच और नीचमें सर्वत्र केवल भगवत्कृपाकी ही अनुभूति होती है। वह सब कुछके रूपमें और सब कुछमें भगवत्कृपाको ही पाकर अमर हो जाता है। उसकी समस्त अनुभूतियाँ समाप्त हो जाती हैं और वह भगवन्मय अथवा भगवत्कृपामय होकर कृतकृत्य हो जाता है।

भागवत आनन्दके अनुभवको प्राप्त भक्त भी भगवत्कृपाका आश्रय नहीं छोड़ता। रामचरितमानसमें भी माता सीता भगवान्‌की परमाद्या आह्लादिनी शक्ति अपने सर्वश्रेयस्करी रूपमें भगवत्कृपाकी ही अभिव्यक्ति हैं—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥
(मानस १ श्लोक ५)

'जो उत्पत्ति, स्थिति (पालन) और संहार करनेवाली, क्लेशनाशिनी तथा सम्पूर्ण मङ्गलोंकी प्रदात्री हैं, उन श्रीरामचन्द्रजीकी प्रियतमा सीताजीको मैं नमस्कार करता हूँ।'

पारमार्थिक तत्त्व तो यही है कि भगवत्कृपा चाहे आकर्षिणी हो या विकर्षिणी, परंतु उन दोनोंका परिणाम मङ्गलमय ही होता है।

भक्त और भगवत्कृपा—

भक्ति-सिद्धान्तमें भगवत्कृपा ही भगवत्प्राप्तिका मूल आधार है।

श्रीमद्भागवतमहापुराणके अवलोकनसे ज्ञात होता है कि ध्रुव और प्रह्लाद—दोनों ही भक्त थे। दोनोंके हृदयमें प्रभुकी प्रभुता किंवा उनकी कृपाके प्रति अगाध श्रद्धा एवं असीम विश्वास था। यहाँ भक्तिके क्षेत्रमें दोनोंको ही यदि हम किसी विशिष्ट जाति, देश, काल, संस्कृति एवं वातावरणकी परिधिसे बाहर केवल भक्तके रूपमें देखें तो हमें ज्ञात होगा कि साधना और सिद्धि—दोनों दृष्टियोंसे भगवत्कृपाने दोनोंका समानरूपसे पालन-पोषण किया और उन्हें भक्तिके चरम लक्ष्य भगवत्सांनिध्यकी प्राप्ति करा दी, जिसे पाकर वे भक्तयुगल कृतार्थ हो गये, धन्य हो गये। ध्रुव अटल पद पा गये और प्रह्लाद भक्तशिरोमणि बन गये।

इस प्रकार भगवत्कृपाके अमृत-कणोंकी अनवरत वृष्टि हो रही है। जिन भाग्यशाली मानवोंके हृदय भगवद्भक्तिके द्वारा जिस रूपमें शुद्ध हो गये हैं, उन्हें उसी अनुपातसे उसका रसास्वाद मिलता है। अतः भगवत्कृपाका रहस्य समझनेके लिये सभीको उसका आश्रय लेकर भगवद्भक्तिमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

जय जय जय श्रीकृपानिधान

छूटि गये कर्मन के बंधन,
मिट्यौ मोह सूझे सुस्थान॥
दरस्यौ भक्ति-पंथ अनुरागी,
सूझे सच्द स्वरूप निदान।
देखत नहीं उलूक सकामी,
जद्यपि दिनकर है विद्यमान॥
राजत एक महा सरत्रोपर,
बढ़्यौ प्रताप और न समान।
'दामोदर' हित सुर मुनि वंदित,
जय जय जय श्रीकृपानिधान॥

भगवत्कृपाका कारण

(लेखक—श्रीअशोककुमारजी विद्यार्थी)

भगवत्कृपाका कारण क्या है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

संत तुलसीदासजीका कथन है कि भगवत्कृपाका कोई भी कारण नहीं। वह अकारण ही होती है। यदि उसका कोई कारण माना ही जाय तो वह भगवान्‌का कोमल-चित्त और दयालु होना ही है—

कोमल चित अति दीन दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥

(मानस ३।३२।१)

× × ×

बिनु कारन दीन दयाल हितं। छबि धाम नमामि रमा सहितं॥

(मानस ६।११० के उपरान्त छंद)

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजीका कथन है कि सभी साधनोंसे हीन होना ही भगवत्कृपा-प्राप्तिका साधन है—

भगवत् (कृपा) प्राप्त्युपायो हि सर्वसाधनहीनता।

(रामानन्ददिग्विजय १५।११२)

नारदजीका कथन है कि भगवत्कृपाकी प्राप्ति महात्माओंकी कृपा अथवा भगवत्कृपाके लेशसे होती है। महात्माओंकी सङ्गति दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। वह सङ्गति भी भगवत्कृपासे ही मिलती है; क्योंकि भगवान् और संतोंमें भेदका अभाव है—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा। महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। लभ्यते तु तत्कृपयैव। तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्। (ना० भ० सू० ३८—४१)

कतिपय आचार्य भगवत्प्राप्ति या भगवत्कृपाका कारण भगवत्कृपाको ही मानते हैं—'माँ ! तुम्हारी प्राप्ति अखण्ड पुण्यसे नहीं होती, अतः पुण्यके होनेसे होती है और न होनेसे नहीं होती—ऐसा तर्क-वितर्क करना ही व्यर्थ है। वह (आपकी प्राप्ति) तो आपकी कृपासे ही होती है, उसे (पाप) रोक नहीं सकते और उस कृपाकी प्राप्ति हो जानेपर कार्यनाशकी चिन्ता कैसी ? यदि तुम इस गुणरहित पुत्रका परित्याग कर दोगी तो आज तुम्हारी वह करुणा व्यर्थ हो जायगी, बस, मुझे इसी बातकी चिन्ता है। इस विषयमें मेरे वचनपर सबका एकमत होगा; क्योंकि जिस जलमें गंदगी नहीं है अर्थात् जो शुद्ध है, उसकी शुद्धता नहीं की जाती।'—

नावाप्तिरस्ति तव मातरखण्डपुण्यात्
तस्मात्तदस्ति न च वेति वृथा वितर्कः।
सा तु त्वदीयकृपयैव न सा प्रधृष्या
हेतौ स्थिते किमिति कार्यविपत्तिचिन्ता॥
हास्यस्यमुं यदि सुतं गुणलेशशून्यं
कारुण्यमद्य विफलं तु तवेति चिन्ता।
स्यादैक्यमत्यमिह मे वचने समेषां
शोध्यं विनास्ति न हि शोधकता जलस्य॥

इस प्रकार उक्त कथनोंसे प्रमाणित होता है कि भगवत्कृपाका कारण संत-कृपा है और संत-कृपाका कारण भगवत्कृपा है।

परंतु यदि यह माना जाय कि भगवत्कृपा अकारण है तो 'कारणाभावे कार्याभावः' अर्थात् कारणके अभावमें कार्यका अभाव होता है—इस सिद्धान्तके विपरीत है। यदि भगवत्कृपाका कारण भगवत्कृपाको ही मानें तो अपनी ही अपेक्षाके कारण आत्माश्रय (स्वापेक्षापादकोऽनिष्टप्रसङ्ग आत्माश्रयः) दोष होता है। यदि भगवत्कृपाका कारण संत-कृपा और संत-कृपाका कारण भगवत्कृपा मानें तो या तो परस्परापेक्षित्वके कारण अन्योन्याश्रय (स्वापेक्षितत्वनिबन्धनोऽनिष्टप्रसङ्गोऽन्योन्याश्रयः) अथवा परम्पराके विराम न होनेके कारण अनवस्था (अव्यवस्थितपरम्परारोपाधीनानिष्टप्रसङ्गोऽनवस्था) नामक दोष आता है। इसलिये कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सभी कथन असमीचीन हैं; परंतु भगवत्कृपा स्वतः कारणरूप है। इसलिये अकारण माननेसे 'कारणाभावे कार्याभावः'के सिद्धान्तसे विरोध नहीं होता; क्योंकि वहीं कहा गया है कि कार्यके अभावसे कारणका अभाव नहीं होता—'न तु कार्याभावात् कारणाभावः।' भगवत्कृपाको कारणरूप माननेपर इसमें आरोपित उक्त आत्माश्रय दोष भी नहीं आता; क्योंकि स्वाश्रित होना कारणका गुण है, दोष नहीं। इसी प्रकार संत और भगवान्‌में अभेद (तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्) माननेपर अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता और अनादि होनेके कारण प्रमाणकीय अनवस्था होनेसे दोष नहीं है—'बीजाङ्कुरवत् प्रमाणकीयमनवस्था न दोषाय, अनादित्वात्।'

यदि भगवत्कृपाका कोई कारण माना जाय तो वह अनादि,

अनन्त और नित्य नहीं हो सकती, परंतु भगवत्स्वरूपा होनेसे वह अनादि, अनन्त तथा नित्य है।

अतएव उपर्युक्त सभी कथन समीचीन हैं और भगवत्कृपाको स्वतन्त्र बतलाना भी यथार्थ है। संत-कृपा भी भगवत्कृपासे ही होती है—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥
जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा॥
(मानस ५। ६। २-३)

मानसमें महर्षि वाल्मीकि भी कहते हैं—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥
(२। १२६। २)

मानसके उत्तरकाण्डमें कहा गया है—

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग सोई॥
(७। १२८। २)

अतः भक्त अपनेको केवल कारणरहित भगवत्कृपाकी शरणमें अर्पित कर कहता है—

सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वतः।
पापपीनस्य दीनस्य श्रीरामः शरणं मम॥
रघुपते करुणावरुणालय
त्वमसि दीनसमुद्धरणव्रती।
अत इदं विनयामि पुनः पुनः
सहजया दयया परिपाहि माम्॥

'सम्पूर्ण साधन-सम्पत्तिसे रहित, चारों ओरसे (विषयोंके) पराधीन और बढ़े हुए पापवाले मुझ दीनके श्रीराम ही रक्षक हैं। हे रघुपते! करुणा-सिन्धो!! आपने तो दीन-समुद्धरणका व्रत ले रखा है। अतः बार-बार मैं यह विनय करता हूँ कि आप अपनी स्वाभाविकी दयासे मेरी रक्षा कीजिये।'

भगवत्कृपाकी अभिव्यक्ति

(लेखक—श्रीआनन्दस्वरूपजी गुप्त)

विश्वके मूलमें जो एक अखण्ड चेतन-तत्त्व है, जो सृष्टि, स्थिति तथा संहारका आदि कारण है, जो प्रत्येक जड तथा चेतन पदार्थका परम आत्मा है, जिसकी सत्तामात्रसे अखिल विश्वकी तथा विश्वके प्रत्येक जीव (प्राणी)की [ऋत (अर्थात् सृष्टिके निश्चित नियमों)के आधारपर] अनवरत ऊर्ध्वगति हो रही है, वही समष्टि चेतनतत्त्व भगवत्तत्त्व है। अग्निकी चिनगारीके समान या सूर्यकी किरणके समान जीव उसी भगवत्-तत्त्वकी व्यष्टिरूपमें अभिव्यक्ति है। समष्टि भगवत्-तत्त्वसे प्रकट होकर व्यष्टिरूप जीव-तत्त्व कर्मफलके रूपमें सुख-दुःखको भोगता तथा अनेक उतार-चढ़ावका अनुभव करता हुआ अन्तमें उसी भगवत्-तत्त्वमें लीन हो तद्रूप हो जाता है। इसी क्रमको जीवकी ऊर्ध्वगति कहते हैं। इस संसारवृक्षका मूल (अर्थात् समष्टिरूप अखण्ड चेतन-सत्ता) ही इसका ऊर्ध्व है, उस ऊर्ध्व अर्थात् मूलकी ओर जीवकी ऐच्छिक अथवा अनैच्छिक गति ही उसकी ऊर्ध्वगति है और जीवोंकी इस नैसर्गिक ऊर्ध्वगतिमें भगवत्-तत्त्व अर्थात् भगवान्‌की ओरसे निरन्तर जो सहायता प्राप्त होती रहती है, वही भगवत्कृपाका पारमार्थिक स्वरूप है। भगवत्कृपाके इस स्वरूपकी ही विविध अनुभवगम्य लौकिक रूपोंमें अभिव्यक्ति होती रहती है।

अलौकिक भगवत्-तत्त्वका तथा भगवत्कृपाका लोकमें जो सर्वश्रेष्ठ उपमान मिल सकता है, वह सूर्य तथा उसका तेजोमय प्रकाश है। सूर्यका प्रकाश बिना किसी पक्षपातके सर्वसाधारणको प्राप्त हो रहा है। सूर्यके तेज और प्रकाशसे संसारका प्रत्येक चर-अचर पदार्थ अनुप्राणित एवं प्रकाशित है। इसी प्रकार सृष्टिकी स्थितिके निमित्त भगवत्कृपाका प्रवाह बिना किसी भेद-भावके अनवरतरूपसे प्रवाहित होता हुआ इस महान् संसार-वृक्षका सिंचन कर रहा है। इस संसार-वृक्षका सर्वश्रेष्ठ फल मनुष्य है; क्योंकि वह ज्ञानपूर्वक इस अजस्र प्रवाहित भगवत्कृपाका आस्वादन करनेमें समर्थ है। माताके गर्भाशयमें मनुष्य-शरीर एक बिन्दुसे विकसित होकर शिशु-शरीरके रूपमें परिणत हो जाता है, गर्भाशयसे बाहर आनेपर उसके पोषणके निमित्त माताके स्तनोंमें दूधका बनना तथा माता-पिताके हृदयमें उत्पन्न ममता और स्नेहके कारण उनका शिशुके पालन-पोषण, संवर्धन-शिक्षण आदिमें निमित्त होना, मनुष्यके जीवनयापन-के निमित्त अन्य प्राणिवर्ग तथा वनस्पतिवर्गकी उत्पत्ति, सूर्य तथा चन्द्रमा द्वारा प्रकाशकी यथोचित व्यवस्था और काल-विभाजन, ताप, वर्षा आदिका यथासमय प्राप्त होते रहना, विभिन्न रोगोंसे पुनः-पुनः आक्रान्त होनेपर भी

स्वाभाविक जीवनक्रियाद्वारा शरीरका पुनः स्वास्थ्य लाभ करना तथा विपर्ययोंसे आक्रान्त मानव-मानसका उचित समय पाकर पुनः ज्ञानके प्रकाशसे आलोकित हो उठना एवं उच्च तथा सात्त्विक भावनासे समन्वित हो जाना—यह सब कुछ भगवत्कृपाके कारण ही होता है। इस प्रकारकी सार्वजनीन भगवत्कृपाको समष्टिरूप भगवत्कृपा कहा जा सकता है।

परंतु जिस प्रकार व्यक्तिविशेषके द्वारा किसी विशेष साधन तथा उपायसे किसी भौतिक उद्देश्यकी पूर्तिके लिये, अपने लिये या समूहविशेषके लिये, सूर्यका विशेष तेज एवं प्रकाश प्राप्त करना सम्भव है—जैसे आजकल पृथ्वीपर बिखरे हुए सूर्यके तेज और प्रकाशको वैज्ञानिक साधनोंद्वारा संगृहीत करके ऊर्जामें परिणत करनेकी योजना बनायी जा रही है, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक साधनोंद्वारा अपने लिये भगवत्कृपाको विशेषरूपसे भी प्राप्त कर सकता है और उस कृपाका सहारा पाकर तीव्र गतिसे शीघ्रातिशीघ्र ऊपर उठने या अपवर्गकी [illegible] समर्थ हो सकता है। कभी-कभी भगवान् स्वयं ही किसी व्यक्तिके कष्ट-निवारणके लिये या उसपर [illegible] आयी हुई विपत्तिको हटानेके लिये अपनी सहज कृपा करते हैं। भगवान्की यह अहैतुकी कृपा प्रायः सभी प्राणियोंको समय-समयपर मिलती रहती है, चाहे वे इसका अनुभव करें या न करें। भगवान् रुद्र होनेपर भी शिव हैं, मृत्युरूप होनेपर भी अमृतस्वरूप हैं। सृष्टिका संहार पुनः उसे नवीनता प्रदान करनेके लिये ही होता है; पतझड़के पश्चात् ही वृक्षोंपर नये और कोमल पत्तोंकी बहार सम्भव है, मृत्यु भी मनुष्यको नवीन जीवन प्रदान करनेके लिये होती है, शरीरकी व्याधि प्रायः शरीरको स्वच्छ तथा निर्मल करनेके लिये ही आती है। मनुष्य अपने इकलौते पुत्रकी मृत्युसे या धन-नाश आदि अनेक कारणोंसे अगाध शोकसागरमें डूब जाता है, मालूम पड़ता है कि उसका अब इस शोकसागरसे उद्धार नहीं होगा, परंतु कालकी महिमा या भगवत्कृपाका चमत्कार ही है कि समय बीतनेपर उसका वह शोक न जाने कहाँ विलीन हो जाता है और वह अन्य पुरुषोंकी तरह (भगवान्की मायासे मोहित होकर) पुनः लोक-व्यवहारमें लिप्त हो जाता है। मनुष्यके ऊपर महान्-से-महान् संकट आते हैं, वह समझने लगता है कि अब वह सदाके लिये नाशको प्राप्त हो गया, परंतु जब उस संकटके बवंडरमें भी उसकी जीवन-कली कुसुमित हो जाती है, तब वह यदि सहृदय हुआ तो समझने लगता है कि भगवान् वस्तुतः रुद्र होते हुए भी शिव हैं। धन्य हैं वे व्यक्ति जो अपने आपको भगवत्कृपाका पात्र बनानेका सच्चे हृदयसे निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति ही भगवान्के पोषण-कार्यमें साधनरूप बनते हैं।

'करिहैं कृपा निबाहि'

भजौ सुत, साँचे स्याम पिताहि।
जाके सरन जात ही मिटिहै दारुन दुखकी दाहि॥
कृपावंत भगवंत सुने मैं छिनि छाँड़ौ जिनि ताहि।
तेरे सकल मनोरथ पूजें जो मथुरा लौं जाहि॥
वै गोपाल दयाल दीन तू, करिहैं कृपा निबाहि।
और न ठौर अनाथ दुखिन कौं मैं देख्यौ जग माँहि॥
करुना बरुनालयकी महिमा मोपै कही न जाहि।
'व्यासदास'के प्रभुको सेवत हारि भई कहु काहि ?॥

अनुग्रहमूर्ति भगवान् श्रीगणेश

देवताओंपर अनुग्रह [पृष्ठ ४००

[illegible]विद्रुमापर अनुग्रह [पृष्ठ ४०१

३— भक्त बल्लालपर कृपा [पृष्ठ ४०२

भगवान् वेदव्यासपर अनुग्रह [पृष्ठ ४०४

भगवान् सूर्यकी कृपा

देवी अदितिपर कृपा
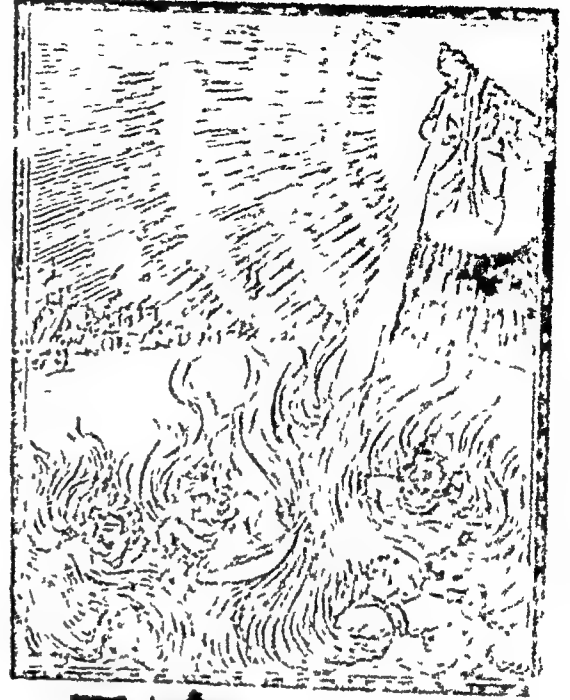
[पृष्ठ ४०५

तेजोमयी दृष्टिमात्रसे दैत्य भस्म

संतान

[पृष्ठ ४०५

प्रजाजनपर कृपा

[पृष्ठ ४०६

धर्मराज युधिष्ठिरपर कृपा

[पृष्ठ ४०७

भगवत्कृपाकी व्यापकता

(लेखक—श्रीओमप्रकाशजी)

अविनाभाव, अव्यभिचरित सम्बन्ध या नित्य साहचर्यको व्याप्ति कहते हैं अथवा हेतु और उसके व्यापक साध्यका जो सामानाधिकरण्य है, उसे व्याप्ति कहते हैं। जिसमें यह व्याप्ति रहती है, वह व्याप्य है और जिसकी यह व्याप्ति होती है, वह व्यापक कहलाता है। व्याप्य कभी भी व्यापकसे बाह्य नहीं रह सकता—

अनधिकदेशकालनियमं व्याप्यम्। अन्यूनदेशकालवृत्तिर्व्यापकम्॥

इस प्रकार स्वरूपतः सर्वदेशकाल-सम्बन्धको व्यापकत्व कहा जाता है—

सर्वदेशसम्बद्धत्वं हि व्यापकत्वम्।

विशिष्टाद्वैतदर्शनमें भगवान्के व्यापकत्वके सम्बन्धमें कहा गया है कि त्याज्य गुणोंके विरोधी जो उपादेय सद्गुण हैं, उनका जो आकर हो, नित्य हो [illegible] वस्तुमें रहता हो, उसे व्यापक कहते हैं—

हेयप्रत्यनीकगुणगणाकरत्वे नि[illegible] स्वेतरनिखिलवस्तुमात्रवृत्तित्वं व्यापकत्वम्॥

विष्णुसहस्रनाममें भगवान्को व्याप्त, व्यापी, विष्णु, अनन्त, विभु आदि कहा गया है। जिसकी व्याख्यामें आचार्य शंकर लिखते हैं—

कारणत्वेन सर्वकार्याणां व्यापनाद् व्याप्तः।

(विष्णुसहस्रनाम शां० भा० ५७)

"कारणरूपसे सब कार्योंको व्याप्त करनेके कारण 'व्याप्त' है।"

आकाशवत् सर्वगतत्वाद् व्यापी 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' इति श्रुतेः, कारणत्वेन सर्वकार्याणां व्यापनाद् वा व्यापी॥

(विष्णुसहस्रनाम शां० भा० ६३)

"आकाशके समान सर्वव्यापी होनेसे 'व्यापी' है। श्रुति कहती है—'आकाशके समान सर्वगत और नित्य है।' इसलिये समस्त कार्योंमें कारणरूपसे व्याप्त होनेके कारण 'व्यापी' है।"

व्याप्ता मे रोदसी पार्थ कान्तिश्चाभ्यधिका मम॥
क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ विष्णुरित्यभिसंज्ञितः।

(महा० शान्ति० ३४१। ४२-४३)

"हे पार्थ! पृथ्वी और आकाश मुझमें व्याप्त हैं तथा मेरा विस्तार भी बहुत है। इस विस्तारके कारण ही मैं 'विष्णु' कहलाता हूँ।"

नित्यत्वात् सर्वात्मत्वाद् देशकालपरिच्छेदाभावादनन्तः।

(विष्णुसहस्रनाम शां० भा० १०८)

"नित्य, सर्वगत और देशकालपरिच्छेदसे रहित होनेके कारण भगवान् 'अनन्त' हैं।"

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

(तै० उ० २। १)

'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है।'

गन्धर्वाप्सरसः सिद्धाः किंनरोरगचारणाः।
नान्तं गुणानां गच्छन्ति तेनानन्तोऽयमव्ययः॥

(वि० पु० २। ५। २४)

"[illegible] इनके गुणोंका अन्त गन्धर्व, अप्सरा, सिद्ध, किंनर, नाग और चारण आदि कोई भी नहीं पा सकते, इसलिये ये अविनाशी देव 'अनन्त' कहलाते हैं।"

सर्वत्र वर्तमानत्वात् त्रयाणां लोकानां प्रभुत्वाद् वा विभुः।

(विष्णुसहस्रनाम शां० भा० १०७)

"सर्वत्र वर्तमान होने तथा तीनों लोकोंके प्रभु होनेके कारण 'विभु' हैं।"

इस प्रकार भगवान् जैसे स्वरूपतः सर्वव्यापक हैं, उसी प्रकार उनकी कृपा भी सर्वव्यापक है। देश और कालका व्यवधान भगवत्कृपाकी व्यापकताका खण्डन नहीं कर सकता। कोई भी मर्यादा भगवत्कृपाको सीमित नहीं कर सकती। भगवत्कृपाके अधिकारी पापी-पुण्यात्मा, राक्षस, देवता सभी हैं—

सर्वाचारविवर्जिताः शठधियो व्रात्या जगद्वञ्चका
दम्भाहंकृतिमानपैशुनपराः पापान्त्यजा निष्ठुराः।
ये चान्ये धनदारपुत्रनिरता सर्वाधमास्तेऽपि हि
श्रीरामस्य पदारविन्दशरणाः शुद्धा भवन्ति द्विज॥

द्विजो वा राक्षसो वापि पापी वा धार्मिकोऽपि वा।
राम रामेति यो वक्ति स मुक्तो नात्र संशयः॥

'हे विप्र ! जो सम्पूर्ण आचार-विचारोंसे रहित, शठ-बुद्धिवाले, यज्ञोपवीत-संस्कार न होनेसे पतित, संसारके साथ द्वेष रखनेवाले, दम्भ, अहंकार, मान और दुष्टताके परायण, निष्ठुर, पापी अन्त्यज, दूसरोंके धन, स्त्री और पुत्रमें रत (आसक्त) और सभी दृष्टिसे अधम हैं, वे भी श्रीरामके चरणारविन्दकी शरण होते ही तुरंत शुद्ध हो जाते हैं।'

'ब्राह्मण हो या राक्षस, पापी हो या धर्मात्मा—कोई भी क्यों न हो, जो राम-रामका उच्चारण करता है, वह निःसंदेह मुक्त हो जाता है।'

भगवत्कृपा बड़ी शक्तिशालिनी है, उसके समक्ष कुछ भी असम्भव नहीं है—

चरन कमल बंदौं हरिराइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कछु दरसाइ॥
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बंदौं तिहिं पाइ॥
(सूरसागर १।१)

भगवत्कृपाकी व्यापकता इतनी विस्तृत है कि द्वेषभावसे स्मरण करनेवालोंपर भी वह अबाधरूपसे बरसती है—

खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी॥
उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥
देहिं परम गति सो जियँ जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥
(मानस ६।४४।२-३)

न्यायशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् श्रीउदयनाचार्यजी भगवत्कृपाकी इसी व्यापकताको लक्ष्य कर ईश्वरसे उनका खण्डन करनेवाले नास्तिकोंके उद्धारकी माँग करते हुए कहते हैं—'प्रभो ! आपके खण्डनमें निरत होनेके कारण ये नास्तिक लोग आपके बड़े चिन्तक हैं। अन्तर इतना ही है कि ये विपरीत विधिसे आपका चिन्तन करनेवाले हैं—

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोऽभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किंतु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः॥
(न्यायकु० ५।१८)

विद्वान् हो या मूर्ख, धनी हो या गरीब, पापी हो या धर्मात्मा, आस्तिक हो या नास्तिक, पुरुष हो या स्त्री, बालक हो [illegible] पवित्र हो या अपवित्र, ब्राह्मण हो या चाण्डाल, गुणवान् हो या गुणशून्य, कोई भी हो, कैसा भी हो, सभीपर भगवत्कृपा-सुधाका वर्षण होता है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९।३०-३२)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया कि परमेश्वरके भजनके बिना अन्य कुछ भी नहीं है। अतः वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। पार्थ ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, मेरी शरण होकर वे भी परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

कृपा-परवश भगवान् भक्तके एक भी अपराधको हृदयमें धारण नहीं करते—

मिलत कृपा तुम्ह पर प्रभु करिही। उर अपराध न एकउ धरिही॥
(मानस ५।५६।३)

कारुनीक दिनकर कुल केतू। दूत पठायउ तव हित हेतू॥
(मानस ६।३६।१)

भगवत्कृपाकी इयत्ता नहीं है। वह अनन्त और सर्वव्यापक है। पापी और अधमोंपर तो वह और भी अधिक बरसती है तथा उनके सुधारके निमित्त और कल्याण-पथको प्रशस्त करनेके लिये हृदयमें शुभ प्रेरणा करती है तथा उन्हें संतोंकी सङ्गति प्रदान किया करती है। इसी शुभ प्रेरणा और सत्सङ्गतिके कारण भयानक-से-भयानक पापियोंके जीवन-मार्गमें आकस्मिक परिवर्तन होता है। वाल्मीकि-जैसे भीषण डाकूपर जब भगवत्कृपाकी शीतल छाया पड़ी तो उसके परिणामस्वरूप उनकी नारदजीसे भेंट हुई। 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।' (मानस ५।६।२) 'लभ्यते तु तत्कृपयैव' (ना० भ० सू० ४०) फिर क्या था, वे भगवत्कृपाके आदर्श पात्र बन

गये। ऐसी गाथाओंसे हमारे प्राचीन वाङ्मय तो भरे पडे हैं, आज भी भगवत्कृपाके प्रसादरूप ऐसे अगणित आकस्मिक परिवर्तन देखे जा सकते हैं। ऐसा कोई भी देश या काल नहीं है, जहाँ भगवत्कृपाकी वृष्टि न होती हो। वर्तमानमें दुःखद प्रतीत होनेवाले कार्योंके गर्भमें भी भगवत्कृपा निहित रहती है, जिससे वे कालान्तरमे मधुर फलके रूपमें परिणत हो जाते हैं। अतएव अनुभवी संत और विचारक इसी निर्णय या निश्चयपर पहुँचते हैं कि भगवान् जो कुछ भी करते हैं, अच्छा ही करते हैं। भगवत्कृपाका क्षेत्र व्यापक ही नहीं, सर्वव्यापक है। जो प्रत्येक कार्यकी तहमें भगवत्कृपाका ही दर्शन और रसास्वादन करते हैं, वे ही भगवत्कृपाके वास्तविक पारखी हैं और उन्हें ही प्रत्येक कार्य सुखद मालूम पड़ता है। भगवत्कृपाके इस व्यापक रूपका दर्शन करनेवालोंका आत्मबल बहुत ऊँचा होता है और उनके आगे विष अमृत बन जाता है तथा आग भी हिमके समान शीतल हो जाती है।

भगवत्कृपाकी उपादेयता और महत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीविष्णुदेवजी उपाध्याय)

मुण्डकोपनिषद्की श्रुति कहती है—'परावर परमात्माका दर्शन कर लेनेपर जीवकी (अविद्यारूप) हृदयग्रन्थि टूट जाती है, उसके सभी संशय नष्ट हो जाते हैं और इस (द्रष्टा)के कर्म क्षीण हो जाते हैं।'[१] इसी प्रकार उस परमात्माको विना जाने आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक—इन त्रिविध दुःखोंका[२] विनाश वैसे ही असम्भव है, जैसे विभु और अमूर्त आकाशको परिच्छिन्न और मूर्तस्वरूप चर्मके समान लपेट लिया जाना।[३] किंतु मनुष्यका दुर्भाग्य है कि वह अपनी अज्ञानमूलक वासनाके कारण सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माकी सहज प्राप्तिके पथसे दूर चला (भटक) जाता है। इस प्रकार लक्ष्यभ्रष्ट होनेका मुख्य कारण भोगोंमें राग है। इसके कारण जीवका आकर्षण संसार और उसके विषयोंकी ओर विशेष होता है, परमात्माकी प्राप्तिकी ओर उसकी दृष्टि ही नहीं रहती। ऐसी स्थितिमें अपनी इच्छाशक्तिको, चिन्तनको थका देनेवाले प्रयत्नोंकी ओर अथवा तपश्चर्यापूर्ण अनुशासनकी ओर मोड़ना कम कष्टसाध्य नहीं होता। अतः मनुष्यके लिये परम प्रभुके प्रति अपने प्रेमकी बलि चढ़ाना ही अधिक संगत एवं कल्याणप्रद साधन प्रतीत होता है।[४] स्वयं भगवान्का ही कथन है—'मैं न तो स्वर्गमें रहता हूँ और न योगियोंके हृदयमें ही। मैं तो वहाँ निवास करता हूँ, जहाँ मेरे भक्त मेरे गुणोंका गान करते हैं।'[५] किंतु सर्वोच्च स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिये भक्ति की जानी चाहिये पूर्ण आत्मसमर्पणकी भावनाके साथ।[६] जब भक्ति प्रबल हो जाती है, तब भगवान् दयालु होकर भक्तको

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (२।२।८)

२. काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह—ये आध्यात्मिक दुःख हैं, भयंकर अग्निकाण्ड, तूफान और अनावृष्टिके कारण उत्पन्न हाहाकारसे परिपूर्ण अकाल-प्रभृति दुःख आधिदैविक हैं और सिंह, सर्प आदिद्वारा प्राप्त दुःख आधिभौतिक हैं।

३. यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

(श्वेताश्वतर० ६।२०)

४. भगवान् श्रीकृष्णका वचन है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

(गीता ८।२२)

'हे पार्थ! वह परमपुरुष, जिसमें सब भूत निवास करते हैं और जिससे यह सारा संसार व्याप्त है, अनन्य भक्तिके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।'

५. नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ९४।२३)

६. 'O love, I give myself to Thee, Thine ever, only Thine to be.'

ऐसा ज्ञान प्रदान करते हैं[७] कि भक्त अपने सब कर्मोंका सम्पादन वैराग्यपूर्वक (फलाकाङ्क्षाविरहित होकर) करता हुआ अपने-आपको भगवान्‌के साथ घनिष्ठ रूपसे संयुक्त अनुभव करने लगता है। परिणामस्वरूप उसे संसारके भौतिक युद्धोंसे छुटकारा मिल जाता है, पृथ्वीपर स्वर्ग उतर आता है और वह मुक्त हो जाता है। ऐसी अवस्थाको प्राप्त भक्त चाहे समाधिमें लीन रहे अथवा शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्ममें, उसके लिये दोनो एक-सी ही बातें हैं। भगवत्कृपाकी महिमा तब और बढ़ जाती है, जब हम देखते हैं कि भारतके सभी मूर्धन्य ऋषियों और आचार्योंने अपनी प्रार्थनाओं तथा रचनाओंमें स्थान देकर इसके महत्त्वका मुक्तकण्ठसे प्रतिपादन किया है। 'हे स्वतः देदीप्यमान प्रभो! आप हमारे साथ रहें और हमें अपना आशीर्वाद प्रदान करें।'[८] 'हे प्रभो! आप हमारे पिता हैं; आप पिताकी ही भाँति हमें शिक्षा दें।'[९] कठोपनिषद् हमें बतलाती है—'ये (परमपिता) जिसका वरण करते हैं, उसके द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं। तत्पश्चात् वे परमप्रभु उस जीवके प्रति अपने यथार्थ स्वरूपको अभिव्यक्त कर देते हैं।'[१०] श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में वर्णित है—'सृष्टिके आरम्भमें जो एक और निर्विशेष होकर भी अपनी शक्तिके द्वारा बिना किसी प्रयोजनके ही बहुविध वर्ण (रूप-रंग) धारण करते हैं तथा अन्तमें यह विश्व जिनमें विलीन हो जाता है, वे प्रकाशस्वरूप परमात्मा हमें ऐसा ज्ञान प्रदान करें, जो शुभ कर्मोंकी ओर ले जाता है।'[११] 'अवधूतगीता'में यह रहस्योद्घाटन इस प्रकार किया गया है—'केवल परमात्माकी दयासे ही बुद्धिमान् मनुष्योंके अन्तःकरणमें महान् संकटोंसे रक्षा करनेवाली अद्वैतवासनाका उदय होता है।'[१२] भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—'हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर दयावश अपनी दिव्य शक्तिके द्वारा तुझे अपना यह अदृष्टपूर्व, तेजोमय, अनन्त और आद्य परमरूप दिखाया है।'[१३] अन्तमें अर्जुन स्वयं भी यह स्वीकार करते हैं कि 'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा (अज्ञानजनित) मोह (भ्रम) नष्ट हो गया है और मेरी स्मृति लौट आयी है।'[१४] आचार्य शंकर केवल भगवान्‌को ही 'रक्षा करनेवाले ज्ञानका अनुग्रहयुक्त प्रदाता'—इन शब्दोंमें स्वीकार करते हैं—

---

७. तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। ११)

'दयालु होनेके कारण मैं भक्तोंके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ ज्ञानरूप चमकते हुए दीपकके द्वारा अज्ञानसे उत्पन्न अन्धकारको नष्ट कर देता हूँ।'

आगस्टीन कहते हैं—"I withdrew into my inner self with Thee as my guide And I was able to do that because Thou didst become my helper. So I entered, and saw with the eye of my soul—but above and beyond that eye, above and beyond my mind—a light in which was no variation, when first I knew Thee Thou didst lift me up that I might see that there was some thing for me to perceive to which I still was blind. And Thou didst beat through my feeble sight shining on me with such force that I trembled with love and awe, and I realized that in my unlikeness to Thee I was far removed from Thee And Thou didst answer from afar. 'Verily I am that I am.' And I heared as one hears in one's heart of hearts, and thenceforth there was naught could make me doubt" ('confessions' VII)

८. 'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये।' (यजु० ३। २४)

९. पिता नोऽसि पिता नो बोधि। (यजु० ३७। २०)

१०. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥ (१। २। २३)

११. य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ (४। १)

१२. ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना। महाभयपरित्राणा विप्राणां प्रजायते॥ (अवधूतगीता १)

१३. मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्। तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥

(गीता ११। ४७)

१४. नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत॥ (गीता १८। ७३)

'तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति ।'

(२ । ३ । ४१)

केवल भारतीय ऋषि और आचार्य ही नहीं, भूमण्डलपर प्रचलित अन्य सभी धर्मों तथा सम्प्रदायोंके विद्वान् आचार्य भगवत्कृपाके प्रति अपनी श्रद्धाके फूल समर्पित करते हैं। एकहार्टकी पुकार है—'परमेश्वर! हम आपसे विनय करते हैं कि इस खण्डित जीवनसे निकलने और उस संयुक्त जीवनको पानेके लिये आप हमारी सहायता करें।'[१५] सेंट अन्सेल्म (St. Ansalem) कहते हैं—'जबतक आप ही मुझे शिक्षा न देंगे, मैं आपकी चाह नहीं कर सकता और जबतक आप ही अपने-आपको प्रकट न करेंगे, मैं आपको पा नहीं सकता।'[१६] केनेडी (Kenedy) लिखित 'सेंट पाल ऐण्ड दि मिस्ट्री रिलीजन्स'में एक प्रार्थना है—'हे परमश्रेष्ठ! हम आपको धन्यवाद देते हैं; क्योंकि आपकी कृपासे ही हमने ज्ञानका यह प्रकाश पाया है। आपने हमारा उद्धार किया है। हम आनन्द मनाते हैं कि आपने पूर्णरूपसे हमें अपना दर्शन दिया है और हमारे नश्वर शरीरोंको दिव्यत्व प्रदान किया है।'[१७] 'ओल्ड टेस्टामेंट'मे वर्णित है—'जिस प्रकार पिता अपने बच्चोंपर दया करता है, उसी प्रकार परमात्मा उनपर दया करते हैं, जो उनसे डरते हैं।'[१८]

अपनी दयनीय दशा सुधारनेके लिये हमारे पास भगवद्भक्तिके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं, जिसका फल भगवत्कृपा है, जो मानवीय दुःख-कष्टोंकी परिसमाप्तिका अमोघ उपाय है। यह एक तथ्य है कि 'यदि हम उनपर भरोसा करें, स्वयंको उनके चरणोंमें समर्पित कर दें तो वे कृपासिन्धु होनेके कारण बुराइयोंपर विजय पानेमें हमारी सहायता करनेके लिये सदैव सब प्रकारसे संनद्ध रहते हैं। अतः इस संघर्षमय संसारमें यदि हम अपना जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत करनेके लिये हृदयसे इच्छुक हैं तो हमे परमप्रभुसे दयाकी भीख माँगनेके लिये शीघ्र तत्पर हो जाना चाहिये। सबका कल्याण केवल तभी सम्भव है, जब प्रत्येक प्राणी श्रद्धा और विश्वासके साथ उनके दरबारमें उपस्थित होकर यह प्रार्थना करे—

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥

(विष्णुषट्पदी १)

'हे विष्णो! आप मेरी अविनय दूर कर दें, मेरे मनको संयमी बना दें, विषयोपभोगकी मृगतृष्णा शान्त कर दें, जीवोंके प्रति करुणाका विस्तार कर दें और मुझे संसारसागरके उस पार उतार दें।'

भगवान्‌की अमोघ कृपा

'प्रभुकी कृपा हम सभीपर सदा-सर्वदा अनन्त है, इस बातपर दृढ़ विश्वास कर लेना चाहिये। हमारी अयोग्यता प्रभुकृपामें जरा भी बाधक नहीं हो सकती। व्यक्तिका प्रभुकृपापर तथा अपनी अयोग्यतापर पूरा विश्वास हो जाय अर्थात् अपनी अयोग्यता और प्रभुकी कृपा जहाँ एक साथ मिल जायँ, वहाँ प्रभुकी प्राप्तितक हो जाती है। प्रभु-कृपाकी प्राप्तिके लिये अपनी अयोग्यता ही योग्यता तथा अधिकार है। मनुष्य बेचारा किसपर क्या कृपा करे, वह तो स्वयं ही कृपाका भिखारी है। बस, भगवान्‌की अमोघ कृपापर ही हम सबको विश्वास करना चाहिये।'

—श्रीमाईजी,

१५. We beseech Thee, Lord God, to help us escape from the life that is divided into the life that is united,—'Evans,' Eng. translation I, p 207.

१६. I cannot seek Thee except Thou teach me, nor find Thee except Thou reveal Thyself.

१७. We give thanks to Thee, Most High, for by Thy grace we received this light of knowledge. Having been saved by Thee, we rejoice that Thou didst show Thyself to us wholly, that Thou didst deify us in our mortal bodies by the vision of Thyself.

१८. Like as a father pitieth his children, so the Lord pitieth them that fear Him.—Psalm ciii, 13.

भगवत्कृपाका तात्पर्य

(लेखिका—सुश्रीबनारसीदेवी)

तात्पर्य-विषयमें ही शब्दका प्रामाण्य होता है—'तात्पर्य-विषय एव शब्दप्रामाण्यमिति ।'

उद्देश्य ही तात्पर्य है—

तात्पर्यका अर्थ है उद्देश्यत्व अर्थात् अभिप्रायी विषयत्व। विषयमें ही शब्दका प्रामाण्य होता है। इसलिये अर्थवाद-वाक्योंमें प्रशंसापरक वाक्य प्रवृत्तिके उद्देश्यसे और निन्दापरक-वाक्य निवृत्तिके उद्देश्यसे प्रयुक्त होनेके कारण प्रवृत्ति और निवृत्तिको ही उनका तात्पर्य माना जाता है। तात्पर्यका अर्थ है-वक्ताका अभिप्राय। अभिप्रेत या विवक्षित अर्थको समझना ही तात्पर्य-ज्ञान कहलाता है। प्रकरणसे ही विवक्षित अर्थका निश्चय किया जाता है। प्रवृत्ति-निवृत्तिके विषयमें वक्ताका अभिप्राय ही अभिधेय होनेसे विधि है। प्राचीन नैयायिकोंके मतमें 'इष्टसाधनत्व' और नवीन नैयायिकोंके मतमें 'आप्ताभिप्राय' विध्यर्थ है। विधिमें स्वार्थ-बोधनद्वारा ही तात्पर्य है—'स्वार्थद्वारैव तात्पर्यम्'। (न्यायकुसुमाञ्जलि ५ । १६)

अतएव भगवत्कृपाका तात्पर्य प्रकरण अथवा स्वार्थ-बोधनद्वारा सहजमें विदित किया जा सकता है। 'भगवान्' शब्दका अर्थ है—"जो (सबका) भरण, पोषण, आधार, शरणके योग्य, सर्वत्र व्यापक और कृपालु—इन षड्गुणोंसे पूर्ण हो, उसे 'भगवान्' कहना चाहिये।"

रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः।
इति सामर्थ्यसंधानं कृपा सा पारमेश्वरी॥

(भगवद्गुणदर्पण २ । १)

"समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेमें मैं ही सर्वव्यापक परम समर्थ हूँ, इस प्रकार सामर्थ्यका जो अनुसंधान है, वह सामर्थ्यशालिनी 'कृपा' है।"

"अपने स्वार्थकी अपेक्षा न करके दूसरोंके दुःखविनाशकी जो इच्छा है, उसे ही 'करुणा' कहते हैं।"

अतएव भगवत्कृपाका तात्पर्य भगवत्कृपा-शब्दके अर्थसे ही विदित है।

सूरदासजीने भगवत्कृपा, भगवान् और भक्तका बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है—

भक्त बिरह कातर करुनामय डोलत पाछैं लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहि पीठि सो अभागे॥

तुलसीदासजीने भगवत्कृपाका तात्पर्य बतलाया है—

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥

(मानस ७ । ४३ । २-४)

भगवान् स्वभावतः परम दयालु हैं। दयालुताके आगे कुछ भी अकार्य नहीं है—

नाकार्यमस्ति किमपीह दयालुतायाः।

(रा० द्वि० ५ । ३३)

सज्जनलोग असज्जनोंपर भी दया करते हैं—

सतामेषोऽमलः पन्था दयन्ते ह्यसतामपि॥

(रा० द्वि० १५ । ३७)

दया-द्रवित चित्तवाले सत्पुरुषोंके लिये आपत्तिकालमें यह दया करने योग्य है या नहीं—इस प्रकारकी धारणा (भावना) शोभा नहीं देती—

अयं योग्योऽथवायोग्य इत्येवं सम्प्रधारणा।
आपत्काले न शोभेत दयार्द्रमनसां सताम्॥

(रा० द्वि० १७ । १६)

अतएव भगवत्कृपाका तात्पर्य योग्यायोग्यका विचार किये बिना दुर्जनोंपर भी अहैतुकी दया करनेमें है।

श्रीमद्भगवद्गीताके माध्यमसे भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(१८ । ५६)

'मेरे कृपाप्रसादसे जीव सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥
(१८ । ५८)

'मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त सकटोंको अनायास ही पार कर जायगा।'

अर्जुनका उत्तर भी देखिये—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ॥
(१८ । ७३)

'हे अच्युत ! आपके कृपा-प्रसादसे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली।' अतएव शाश्वत अव्यय परम-पदकी प्राप्ति ही भगवत्कृपाका तात्पर्य है।

लौकिक सुख तो वास्तवमे दुःख ही है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (यो० सू० २ । १५)

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःखोंके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब (कर्मफल) दुःखरूप ही हैं।'

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५ । २२)

'जो ये इन्द्रियों तथा विषयोंके सयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तथापि वे दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

अतएव भगवत्कृपाका तात्पर्य लौकिक सुखमें न होकर पारलौकिक शाश्वत सुखमे है, जो अमृतस्वरूप है। इस प्रकार दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और शाश्वत आनन्द प्रदान करना ही भगवत्कृपाका तात्पर्य है। संतोंकी उक्ति है—'ईश्वर-प्रेमियोंके लिये है उनका स्नेह और पापियोंके लिये है उनकी दया।'

भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीराजेन्द्रकुमारजी धवन)

प्रायः अधिकांश मानव ऐसा अनुभव करते हैं कि जीवनमें जब भीषण संकटमयी परिस्थिति आती है तो उपयुक्त समयपर कोई ऐसी आकस्मिक, अप्रत्याशित घटना घटित हो जाती है, जिसके कारण अद्भुत ढंगसे हमारी उस सकटसे रक्षा हो जाती है। ईश्वरकी सत्ताको अस्वीकार करनेवाले लोग ऐसी घटनाओंको 'संयोग' (Chance) मानते हैं।* परंतु ईश्वरकी सत्ताको अबाध-रूपसे स्वीकार करनेवाले भाग्यवान् मनुष्य इसे परमकृपालुकी मङ्गलमयी कृपा ही समझते हैं। सत्यरूपमें विश्वकी कोई भी घटना अकारण नहीं घटती। जो कुछ भी घटित हो रहा है, वह उन करुणावरुणालयकी परम रहस्यमयी अहेतुकी कृपाका परिणाम ही है। भगवान् कृपाके अनन्त, असीम, अथाह सिन्धु है। इस अवर्णनीय, अतुलनीय, अचिन्त्य, अगाध कृपा-सिन्धुकी थाह कौन पा सकता है ? उन परमकृपालु प्रभुका श्रीविग्रह कृपामय है, उसमे कृपा-ही-कृपा भरी है—

'प्रभु-मूरति कृपामई है ॥' (विनय-पत्रिका १७० । ७)

भगवान्की समस्त शक्तियोमे 'कृपा-शक्ति' प्रधान है। अन्य सभी शक्तियाँ इसीके अनुगत एव नियन्त्रणमें रहनेवाली हैं। इस 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्था' कृपा-शक्तिके कारण ही भगवान् अपने भक्तके अधीन हो जाते हैं—'अहं भक्तपराधीनः' (श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६३)। पापी-से-पापी व्यक्ति भी यदि आर्त होकर उनकी शरणमें आ जाय तो वे उसका भी उद्धार कर देते हैं। उनको विज्ञप्ति है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

'सब धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्यशरणको प्राप्त हो, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

---

* जड प्रकृतिजन्य बुद्धिके अभिमानसे अभिभूत होनेके कारण सत्य घटना (भगवत्कृपा)को सयोग (Chance) माननेवाले लोग आस्तिकताको समझ ही नहीं सकते। वे जड बुद्धिकी दासतामें आबद्ध होनेके कारण उसे आकस्मिक कहकर उससे पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि कोई भी घटना अकारण नहीं हुआ करती।—सम्पादक

भगवान्‌की परम कल्याणकारिणी कृपा सब समय और सब जगह अणु-अणुमें व्याप्त है। प्राणिमात्रपर भगवान्‌की समान अहैतुकी कृपा है—

'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९)

दिव्य भगवत्कृपा भक्त-अभक्त, आस्तिक-नास्तिक, भले-बुरे—सभी प्रकारके व्यक्तियोंपर समानरूपसे सदैव बरस रही है—

अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा।
श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे॥
(प्रबोध-सुधाकर २५२)

'किसीपर कृपा करते समय भगवान् ऐसा विचार नहीं करते कि यह जाति, रूप, धन और आयुसे उत्तम है या अधम ? अथवा स्तुत्य है या निन्द्य ?'

समस्त जीवोंपर अदभ्रकरुणामय प्रभुकी इतनी कृपा है कि पूर्णरूपसे उसे समझ पाना भी असम्भव है। मनुष्य अपने ऊपर उस अचिन्त्य चमत्कारिणी कृपाको जितना अधिक मानता है तथा उसपर जितना अधिक विश्वास करता है, उसे उतना ही अधिक लाभ होता है। भगवत्कृपाकी तुलना माँकी कृपासे भी नहीं की जा सकती; क्योंकि माँकी कृपा मोह-ममता-मिश्रित होती है, परंतु अचिन्त्यानन्तगुणसम्पन्न भगवान्‌की कृपा पूर्णतः विशुद्ध होती है। इतना ही नहीं, जगत्‌भरकी माताओंकी सम्मिलित कृपा उन अपरिमेय परमात्माके कृपा-सिन्धुकी एक बूँदके बराबर भी नहीं है। भगवान् परम कृपालु होनेके साथ ही पूर्णकाम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वलोकमहेश्वर भी हैं। वे सभीका अकारण हित करनेवाले हैं—

कोमलचित अति दीन दयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
(मानस ३। ३२। १)

उनकी परममङ्गलमयी अहैतुकी कृपा विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर सबका मङ्गल करती है।

भगवत्कृपाकी पहचान

भगवत्कृपाको मनुष्य यथार्थतः तभी पहचान सकता है, जब वह जड जगत्‌के समस्त आश्रयोंका परित्याग करके एकमात्र भगवत्कृपाका ही आश्रय ले लेता है। फिर भी शाखाचन्द्र-न्यायके अनुसार कुछ ऐसी बातें लिखी जाती हैं, जिनसे भगवत्कृपाकी पहचान होती है—

स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति आदि अनुकूल सांसारिक भोग-पदार्थोंकी प्राप्ति हो जाना ही भगवत्कृपा नहीं है। अनुकूलतामें परम हितैषी प्रभुकी जितनी कृपा रहती है, उससे भी विशेष कृपा प्रतिकूलतामें रहती है—

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः॥

'जिस प्रकार बच्चेको प्यार करने और ताड़ना देने—दोनोंमें माताकी दया ही है, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले भगवान्‌की सब प्रकारसे उनपर कृपा ही है।'

एक ही भगवत्कृपा हमारी साधारण दृष्टिके अनुसार दो रूपोंमें आया करती है—अनुकूल और प्रतिकूल। संसारमें जितनी भी प्रतिकूलताएँ आती हैं, वे सब भगवान्‌की विशुद्ध कृपाका ही परिणाम हैं। कृपामय भगवान्‌की कृपा चाहे जिस रूपमें भी आये, सदैव परम मङ्गल ही करती है। मान-अपमान, सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा और लाभ-हानि—सभी रूपोंमें भगवत्कृपा जीवोंका कल्याण करनेके लिये ही आती है। भगवत्कृपाके दिव्य साम्राज्यमें सुख-दुःखकी ये परिस्थितियाँ भी प्रातिभासिकमात्र हैं, वास्तवमें उनकी सत्ता नहीं है।

जब संसारसे 'वैराग्य' उत्पन्न होने लगे, तब मनुष्यको अपनेपर विशेष भगवत्कृपा समझनी चाहिये। जब भगवान्‌में प्रेमकी वृद्धि और संसारसे आसक्तिका ह्रास होने लगे, तब अपनेपर भगवान्‌की अपार कृपा समझनी चाहिये। अपने भीतर दैवी-सम्पत्तिके गुणोंका आना भगवत्कृपा-वृष्टिका चिह्न है। संतोंका सङ्ग प्राप्त होना भगवत्कृपाका असाधारण फल है।

भगवत्कृपाकी अनुभूति

सर्वप्रथम यह दृढ़ निश्चय कर लें कि मङ्गलमय भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें उनकी परम कल्याणकारिणी अहैतुकी कृपा रहती है, फिर चाहे जैसी भी स्थिति आये, यही मानते रहे कि अहो ! प्रभुकी हमपर अपार कृपा है। ऐसा माननेसे कुछ कालके अनन्तर ही भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा।

वर्षाके समय यदि हम किसी पात्रको खुले स्थानमें सीधे रखें तो वह जलसे पूर्ण हो जायगा और यदि उसे उलटकर रख दें तो जल उसपर गिरते ही इधर-उधर बिखर जायगा। इसी प्रकार भगवत्कृपा-प्राप्तिकी अनुभूतिके लिये भगवान्‌की सम्मुखता अपेक्षित है।

जैसे सूर्यकी किरणें सबपर समभावसे पड़ती हैं, परंतु सूर्यकान्तमणिपर पड़नेसे उसमें विशेष शक्ति आ जाती है, इसी प्रकार यद्यपि भगवत्कृपा सभीपर समभावसे होती है, तथापि 'सुयोग्य पात्र'* के संसर्गसे वह विशेषरूपसे प्रकाशित अथवा फलवती होती है।

भगवन्नाम-जपमें जिसकी लगन लग जाती है, उसे शीघ्र ही भगवत्कृपाका अनुभव होने लगता है।

हमारी दृष्टि जगत्के मिथ्या आश्वासनोंकी ओरसे हटकर जब एकमात्र भगवत्कृपाकी ओर ही लग जाती है, तब हमें भगवत्कृपाकी अनुभूति होने लगती है।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि भगवत्कृपाकी पहचान भी भगवत्कृपासे ही होती है।

भगवत्कृपा और अवतार

निखिलसौन्दर्यमाधुर्यरसामृतसारभूत करुणावरुणालय भगवान् जन्म-मरणसे सर्वथा अतीत होनेपर भी मनुष्योंपर करुणा करके उनका परम कल्याण करनेके लिये समय-समयपर अवतार-लीला किया करते हैं—

हितार्थं सुरमर्त्यानां लोकानां प्रभवाय च।
बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः॥
(हरिवंश० हरिवंशपर्व ४१। १४)

'सर्वभूतात्मा श्रीभगवान् देवता एवं मनुष्योंका कल्याण तथा लोकोंका अभ्युदय करनेके लिये कार्यवश बारंबार प्रादुर्भूत होते हैं।'

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३७)

'भगवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही अपनेको मनुष्यरूपमें प्रकट करते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिन्हें सुनकर जीव भगवत्परायण हो जाय।'

'कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।'
(मानस १। १२१। १)

गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनुधारी॥
(मानस ५। ३८। २)

निराकार-निर्गुण भगवान् अवतीर्ण होकर साधु पुरुषोंका परित्राण (अर्थात् साधु पुरुषोंके भाव और सिद्धान्तकी रक्षा ही वास्तविक रक्षा है।), पापियोंका विनाश (उद्धार) तथा धर्मकी संस्थापनाका कार्य करते हैं। इन तीनों ही कार्योंमें उनकी समान एवं हितभरी अहैतुकी कृपा निहित है।

भगवत्कृपा और साधक

साधक तीन प्रकारके होते हैं। पहले प्रकारका साधक भगवत्कृपाकी चाह तो करता है, परंतु अपनी ओरसे कोई भी साधन नहीं करता। ऐसे साधकको अत्यल्प लाभ होता है।

दूसरे प्रकारका साधक उत्साहपूर्वक साधन तो करता है, परंतु उसके करनेमें अपने बल (परिश्रम)को ही महत्त्व देता है, भगवत्कृपाको नहीं। ऐसे साधकको वास्तविक लाभकी प्राप्ति विलम्बसे होती है।

तीसरे प्रकारका साधक उपर्युक्त दोनों प्रकारके साधकोंसे उत्तम माना गया है। वह दूसरे प्रकारके साधककी भाँति उत्साहपूर्वक अपने पूर्ण सामर्थ्यानुसार साधन तो करता है, पर उसमें अपना बल न मानकर केवल भगवत्कृपाका ही बल मानता है। वह मानता है कि मुझपर भगवान्‌की अपार अहैतुकी कृपा है, इसीलिये मुझे साधन करनेका बल प्राप्त हुआ और मुझसे साधन बन पड़ता है, यदि अपने बलसे ही भगवत्प्राप्ति शक्य होती तो बहुत पहले ही हो गयी होती, मुझे इतने जन्म न लेने पड़ते। इस प्रकारका साधक भगवान्‌को विशेष प्रिय है। अतः इसे पूर्ण लाभ प्राप्त होता है।

साधकको यही मानना चाहिये कि मुझसे जो कुछ भी साधन हो रहा है, सब अदभ्रकरुणामय भगवान्‌की कृपाशक्तिसे ही हो रहा है। साधकको अपनी ओरसे पूर्ण उत्साहके साथ साधन तो करना चाहिये, परतु भरोसा अपने बलपर न रखकर अहैतुकी भगवत्कृपापर ही रखना चाहिये। इस प्रकार भगवत्कृपाका आश्रय लेकर साधन करनेसे उसकी आश्चर्यजनक उन्नति होने लगती है। ऐसे साधकको भगवत्कृपासे वह तत्त्व मिलता है, जिससे बढ़कर कोई लाभ नहीं है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
(गीता ६। २२)

---

* जिसे भगवान्‌की मङ्गलमयी अहैतुकी कृपापर पूर्ण एवं दृढ विश्वास है तथा जिसने एकमात्र भगवच्चरणोंका ही आश्रय ले लिया है, वही प्रभु-कृपाका 'सुयोग्य पात्र' है।

भगवत्कृपामें बाधा !

(लेखक—श्रीराधाकृष्णजी)

हे जगदाधार ! सर्वत्र और सदैव आपकी ही कृपा सूर्यकी किरणोंके समान चमक रही है। सूर्य और चन्द्रमा अपनी किरणें बरसा रहे हैं, नदियाँ न जाने कहाँ-कहाँसे जलको लिये चली आती हैं, सागर तरंगित हो रहा है, धरती शस्यश्यामला बनी हुई अन्न और जीवनका दान कर रही है। अन्न, जल, सूर्य, अग्नि—सब कुछ तो है, क्या नहीं है। भगवत्कृपासे ही प्राणिमात्र जीवन धारण करते हैं। जीवन एक घटना है। दुःख-कष्ट भी भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होते हैं। सर्वत्र उनकी कृपा ही है, सर्वदा वे ही नाना रूपोंमें दर्शन देते हैं; किंतु आजका विज्ञान भगवान्‌के अस्तित्वको अस्वीकार कर रहा है।

याद आता है, जब सन् १९३१ ई०में गोलमेज-सम्मेलन-के प्रसङ्गमें महात्मा गांधी लंदन गये थे तो उनसे मिलनेके लिये विश्वके महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन भी जर्मनीसे आये हुए थे। दोनों महापुरुषोंमें जो बातचीत हुई थी, उसमें ईश्वरका प्रसङ्ग भी आया था। आइन्स्टीनने ग्रह, नक्षत्र, तारे, नीहारिका, उल्का आदिके नियम और नियन्त्रणको लक्ष्यमें रखते हुए कहा था—'इस विशाल सृष्टिके नियम और क्रममें कोई ऐसा व्यापक सूत्र है, जिसके कारण भगवान्‌के अस्तित्वको स्वीकार करना ही पड़ता है।'

महात्मा गांधीने कहा—'मैं तो यह भी माननेको तैयार हूँ कि आप और मैं नहीं हैं, किंतु भगवान्‌का अस्तित्व अवश्य है।'

आजका मनुष्य अहंकारसे भरा हुआ है। वह भगवान्‌के अस्तित्व और उनकी कृपाओंको अस्वीकार करता हुआ चल रहा है। इसी कारण वह आज इतना दुःखी और संतप्त है, जितना पहले कभी नहीं था। वह स्वयं अपनी पीड़ाके उपक्रमका साधन जुटाता है—परमाणु बम और हाइड्रोजन बम-जैसे घातक अस्त्र-शस्त्र तैयार करता है। क्या परमाणु बम मानव-जातिको सुखी बना सकेंगे ? अर्थशास्त्रके नियम और सिद्धान्त इतनी तेजीसे और ऐसे क्रान्तिकारी ढंगसे परिवर्तित होते हैं कि उन परिवर्तनोंके द्वारा मानव-स्तरपर परमाणु बमसे भी अधिक घातक प्रभाव पड़ता है। प्रबुद्ध वर्गने स्वयं अपनेको नियन्ता समझ लिया है। इस अभिमानने उसकी प्रगतिके सभी मार्ग अवरुद्ध कर डाले। जिस भौतिक प्रगतिको वह विकासका नाम दे रहा है, वह विनाशकी एक पूर्वभूमिका-मात्र ही कही जा सकती है। आजका मानव जो ऊटपटांग कर रहा है, वह भी प्रभुकी कृपाके समक्ष स्वीकृत हो रहा है। हे प्रभो ! आपके सिवा इतनी बड़ी कृपा कौन कर सकता है ? सर्वत्र आपकी कृपा-ही-कृपा है।

× × ×

पर्वतपर शिवाजीका विशाल दुर्ग बन रहा था, दृढ़ और शक्तिशाली दुर्ग। मजदूर, कारीगर, बढ़ई, लुहार, थवई आदि लगे हुए थे। काम तीव्रगतिसे चल रहा था। शिवाजी अपने उस निर्माण-कार्यको देखकर मन-ही-मन प्रसन्न हो रहे थे। उनके अन्तःकरणमें एक प्रच्छन्न अहंकार भी बढ़ रहा था कि मेरेद्वारा एक विशाल निर्माणका कार्य सम्पन्न हो रहा है। मेरेद्वारा न जाने कितने विशेषज्ञ, कारीगर, मजदूर, थवई आदिका पालन-पोषण हो रहा है। इतने-इतने मनुष्योंको रोजी-रोटी देना अपने-आपमें एक बहुत बड़ी बात है। शिवाजीके इस अहंकारको या तो उनका अन्तर जान रहा था या अन्तर्यामी ही। इसी समय वहाँ समर्थ स्वामी रामदास आते हुए दिखलायी दिये। शिवाजीको उनके दर्शनसे बड़ी प्रसन्नता हुई। स्वयं गुरुदेव मेरे समीप पधारे हैं ! शिवाजी कृतार्थ थे।

'शिवबा !'

शिवाजीका मस्तक झुका हुआ था—'आज्ञा हो, भगवन् !'

समर्थ स्वामीने एक चट्टानकी ओर संकेत किया। विशाल चट्टान थी वह। समर्थ स्वामीने कहा—'देख, वह शिला है न ? उसके दो खण्ड करा दे।'

'जैसी आज्ञा, गुरुदेव !'

मजदूर जुट गये। घनकी चोटें पड़ने लगीं। शिलाखण्ड टूटने लगा। टूटकर वह दो भागोंमें विभक्त हो गया। परम आश्चर्यकी बात ! शिलाखण्डके बीचो-बीच

एक खाली जगह थी, जिसमे पानी भरा हुआ था। उस पानीमेंसे एक मेढ़क उछल आया। वह धरतीपर उछलता चला जा रहा था। समर्थ स्वामी रामदासने पूछा—'देखता है शिवबा! इस चट्टानके भीतर इस मेढकके लिये किसने पानी भरा? पत्थरसे आवृत इस चट्टानमें कौन भोजन दिया करता है? किसने अबतक इसका पालन किया है?'

शिवाजीका अहंकार चूर-चूर हो गया। उन्होंने समर्थ स्वामीके चरणोंमें अपना माथा रख दिया।

अहंकारका पल्ला छोड़ दीजिये, तभी आप उस प्रभुकी अनन्त कृपाओंको देख सकेंगे। यह कार्य इसने किया है, उसने किया है—ऐसा समझना सरासर भूल है; करता वही है, जिसे प्रभु प्रेरणा देते हैं। किसी भी माध्यमसे उसीकी इच्छा पूरी होती है।

लोग धन-सम्पत्तिकी प्राप्तिमें भी भगवान्‌का नाम जोड़ने लगे हैं और कहते हैं कि भगवान्‌की कृपासे ही मुझे सम्पत्ति मिली है, भगवान्‌की कृपासे ही मैं मुकदमा जीत गया। आप भगवान्‌के प्यारे थे तो क्या वह मुकदमा हारनेवाला व्यक्ति भगवान्‌को अप्रिय था! मानव-निर्मित बातोंमें भगवान्‌की कृपाकी जाँच मत कीजिये। वह उससे कहीं ऊँची वस्तु है।

सारी धरती भगवान्‌ने बनायी है। कुछ लोग ऐसे हैं, जो इस धरतीको बेचते हैं और कहते हैं कि यह धरती हमारी है। इस जमीनपर मैं ही खेती कर सकता हूँ। कोई कहता है कि यह मेरा घर है। इसे मैंने बनवाया है; किंतु उस घरमें बिल बनाकर जो चींटियाँ रहती हैं, उनसे पूछिये कि वह किसका घर है? उसकी दीवालपर जो छिपकली दिखलायी दे रही है, उससे पूछिये कि यह स्थान किसका है तो क्या वह आपका नाम बतलायेगी? ईश्वर और उनकी कृपाको समझनेमें भूल मत करो। उसे ठीक-ठीक समझनेकी चेष्टा कीजिये। रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि 'हे ईश्वर! आप हैं कैसे, यह मैं नहीं जानता। इसलिये यह मुझे आप ही समझा दें कि आप कैसे हैं।'

रोगमें, दुःखमें, भावमे, अभावमे, हर समय, हर जगह प्रभुकी कृपा बरस रही है। मानव-निर्मित मापदण्डसे उसे नापने बैठेंगे तो ठीक-ठीक नाप नहीं सकेंगे।

भगवान्‌की कृपा सब जगह है, किंतु सबसे बड़ी कृपा उसपर है, जिसका मस्तक स्वयं भगवान् ही अपने चरणोंकी ओर झुका देते हैं।

विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथकी 'गीताञ्जलि'मे सबसे पहली कविता है—

'आमार माथा नत करे दाओ'
'मेरे मस्तकको नीचे झुका दो।'

छोटा-सा मनुष्य, किंतु उसका अहंकार कितना बड़ा है! वह स्वयं अपना मस्तक उनके चरणोंपर नहीं झुकाता, इसके लिये भी वह भगवान्‌को पुकारता है। वह इतना लघु है कि उसका मस्तक भगवान्‌की चरण-धूलिसे भी अति तुच्छ है, किंतु वह विराट् अहंकार लिये बैठा है और कहता है कि मेरे मस्तकको आप ही अपने चरणोंकी धूलिके नीचे झुका दें।

सांसारिक पद-मर्यादाओंके द्वारा मनुष्य अपनेको गौरव-मण्डित समझता है। वह कहता है कि मैं बहुत बड़ा अधिकारी हूँ, मैं उद्भट विद्वान् हूँ, उद्योगपति—पूँजीपति हूँ; किंतु यह उपलब्धि नहीं। छोटी-छोटी उपलब्धियोंद्वारा अपने-आपको महान् गौरवशाली समझना केवल अपनी परिक्रमा है, अहंकारका खेल है। इसी अहंकारकी गठरीको सिरपर लिये हुए मनुष्य प्रतिपल मरणकी ओर अग्रसर हो रहा है। अहंकारके इस खेलमें हम अपने-आपको ही छलते रहेंगे। इसीलिये कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रने अन्तमें कहा है—

'सकल अहंकार हे आमार
डुबाव चोखेर जले!'

'हे प्रभो! मेरे समस्त अहंकारको नेत्रोंके अश्रु-जलमें डुबा दो।'

जबतक मनमें अहंकार है, तबतक हमें सच्ची भगवत्कृपाकी अनुभूति नहीं हो सकती। वे कृपालु प्रभु हमारे अहंकार और स्वार्थपरताको देख-देखकर मुस्कुराते रहते हैं।

अतः भगवत्कृपाकी प्राप्तिके लिये अहंकारका परित्याग कर भगवद्भक्तिमें लग जाना चाहिये।

भगवत्कृपाकी महिमा

(लेखक—डॉ० श्रीसनत्कुमारजी आचार्य, एम्० ए०, एम्० एड्०, डी० फिल्०, साहित्य-वेदान्ताचार्य, साहित्यरत्न)

भारतीय वाङ्मयके अनुशीलन और गहन चिन्तनके अनन्तर विचारक इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि सृष्टिसे लेकर संहार-पर्यन्त समस्त क्रियाकलाप भगवत्कृपा-प्रसूत है। समस्त कल्याण-गुणोंकी आश्रयभूता एवं हेय-गुणोंसे सर्वथा रहित भगवान्‌की कृपा समस्त प्राणियोंपर सदैव बरसती रहती है। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३३) आदि वचनोंद्वारा मनीषियोंने सृष्टिके प्रयोजनके रूपमें भगवान्‌की लीलाका प्रतिपादन अवश्य किया है, किंतु गम्भीरतासे विचार करनेपर हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि लीलासे कहीं अधिक उनकी कृपा ही सृष्टिका कारण है—

अचिद्‌विशिष्टान् प्रलये जन्तूनवलोक्य जातनिर्वेदा।
करणकलेवरयोगं वितरसि वृषशैलनाथकरुणे त्वम्॥
(दयाशतकम् १७)

उपर्युक्त श्लोकके माध्यमसे आचार्य वेदान्त-देशिकका तात्पर्य है कि सृष्टिमें भगवान्‌की कृपा ही हेतु है। प्रलयकालमें जडवत् पड़े हुए प्राणियोंको देखकर भगवत्कृपा उद्भूत होती है, तब भगवान् सृष्टिके लिये प्रवृत्त होते हैं तथा प्राणियोंको पूर्व-कर्मानुसार शरीर, इन्द्रिय आदि प्रदान करते हैं कि ये जीव पुनः संसारमें जायँ और सत्कर्मानुष्ठानद्वारा भव-बन्धनसे मुक्त होकर अपने अगाध आनन्दस्वरूपका अनुभव करें।

यद्यपि समग्र शास्त्र कर्मफलकी प्रधानताका उद्‌घोष करते हैं और प्रपञ्चकी बहुरूपताका कारण भी पूर्वकर्म ही सिद्ध होता है, किंतु इतना सब होनेके उपरान्त भी भगवत्कृपाकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण ही बनी रहती है। उनपर वैषम्य और नैर्घृण्य दोषका आरोपण न हो सके, केवल इसीलिये वे (परमात्मा) सृष्टिके आदिमें जीवोंके कर्मफलका आश्रय लेते हैं। सुकृत और दुष्कृतका अनुष्ठान प्राणियोंद्वारा निरन्तर होता रहता है, किंतु किन कर्मोंका फल अभी भोगना है, किनका बादमें, इसकी व्यवस्था पूर्णतया भगवदधीन ही है। उदाहरणार्थ—किसी प्राणीद्वारा अनेकों सत्कर्म हुए हैं, साथ ही कुछ दुष्कर्म भी। जन्म ग्रहण करनेके अवसरपर भगवान् चाहे तो पाप-कर्मानुसार उसे कूकर, सूकर आदि योनियोंमें डालकर पवित्र बना दें; (क्योंकि इन नीच योनियोंमें नये पाप तो बनते नहीं और पुराने पाप नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर भगवत्कृपासे पुनः मनुष्य-शरीर प्राप्त होनेपर ऐसी योग्यता प्राप्त हो जाती है, जिससे वह अपना कल्याण कर सकता है) या पुण्य-कर्मानुसार उसे किन्हीं योगियोंके कुलमें जन्म दे दें, जिससे तप-अनुष्ठान आदिद्वारा उसके पूर्वकृत पापादि कर्मोंका फल भस्मसात् हो जाय और वह आत्मबोध प्राप्त करके मुक्त हो जाय। कहनेका तात्पर्य यह कि कर्मफल-भोगके अवसरपर भी भगवत्कृपाकी स्वतन्त्रता बनी ही रहती है। अजामिल, पिंगला आदिके दृष्टान्त इतिहासमें विद्यमान हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि भगवत्कृपा संचित और क्रियमाण कर्मोंको तो समाप्त कर ही देती है, प्रारब्ध कर्ममें भी संशोधन करती है।

शास्त्रोंमें अपवर्ग प्राप्त करनेके लिये कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि जितने भी साधन बताये गये हैं, वे साध्यको प्राप्त करनेके स्वतन्त्र उपाय नहीं हैं। उनके अनुष्ठानसे प्रथमतः भगवान्‌का मुखोल्लास (आराधन) किया जाता है, जिससे भगवान्‌में कृपाका स्फुरण होता है, उसके प्रभावसे वे साधकको अपना लेते हैं। भगवत्सम्बन्ध हो जानेसे वह सरलतासे भगवत्स्वरूपका अनुभव करने लगता है।

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।' (कठ० १ । २ । २३) श्रुतिका तात्पर्य यह कि जबतक जीव भगवान्‌के सम्मुख होकर भगवत्कृपाका अनुभव नहीं करेगा, तबतक उसका उद्धार नहीं हो सकता। भगवत्-स्वरूपाधिकृत प्राणीद्वारा शेष जीवनमें केवल सुकृतोंका अनुष्ठान होता है, दुष्कृतकी ओर तो उसकी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। साथ ही किये जा रहे कर्मोंके प्रति कोई राग न होनेसे वह उनके फलका भागी भी नहीं होता। 'तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेष-विनाशौ, तद्व्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्र ४ । १ । १३) आदिसे ब्रह्मसूत्रकारने इसी तथ्यका प्रतिपादन किया है।

भगवत्कृपा-प्राप्तिकी आवश्यकता न मानते हुए दूसरे साधनोंको स्वतन्त्र उपाय मानकर अपवर्गके लिये जो प्रयत्नशील होते हैं, उन्हे यही कहा जा सकता है कि संनिकटमें बह रही भगवती भागीरथीका परित्याग करके वे मृगमरीचिकासे अपनी पिपासा शान्त करना चाहते हैं। जिस प्रकार मृग-मरीचिकासे प्यास नहीं बुझती, उसके लिये जलकी अपेक्षा होती है, भले ही वह कूप, तड़ाग, नदी आदि किसी आश्रयसे घड़ा, लोटा, चुल्लू आदि किसी साधनद्वारा प्राप्त किया जाय, उसी प्रकार अपवर्ग-प्राप्तिके लिये एकमात्र

भगवत्कृपा ही उपाय है, भले ही वह भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, सूर्य, गणेश एवं भगवती दुर्गा आदि किसी की आराधना अथवा कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति आदि किसी भी साधनसे प्राप्त की जाय। 'कर्मादि पृथक्-पृथक् साधन हैं या अङ्गाङ्गिभावसहित हैं' आदि विवादोंका प्रशमन भी उसी समय हो जाता है, जब हम यह समझ लेते हैं कि अपवर्ग-प्राप्तिके लिये एकमात्र साधन भगवत्कृपा या भगवत्परितोष है। भगवत्परितोषके लिये कर्मादि पृथक्-पृथक् तथा मिलकर भी साधन हो सकते हैं।

इसी प्रसङ्गमें यह भी विचारणीय है कि कर्मादि किस प्रकार भगवत्कृपा-प्राप्तिमें सहायक होते हैं। विद्वानोंने भगवत्कृपा या मोक्ष प्राप्त करनेके लिये प्रमुख रूपसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका प्रतिपादन किया है। भक्तिका ही एक भेद प्रपत्ति या शरणागति है, जिसमें साधक सर्वतोभावसे भगवच्चरणोंमें समर्पित हो जाता है और सम्पूर्ण भार उन्हींपर छोड़ देता है। इस प्रकार प्रपत्तिको चतुर्थ साधनके रूपमें भी स्वीकार किया गया है। इन चारों साधनोंका सम्यक् रूपसे अनुष्ठान करनेके लिये अनुभवी आचार्य (संत महापुरुषों) का मार्गदर्शन नितान्त आवश्यक है। उनके बिना उचित रीतिसे इनका आचरण सम्भव न होनेके कारण आचार्य (संत महापुरुषों) की महिमा बढ़ती गयी और उन्हें भी भगवत्तुल्य ही समझा जाने लगा। जिसके फलस्वरूप आचार्याभिमान नामक स्वतन्त्र साधनका प्रतिपादन भी विद्वानोंने किया। इस प्रकार कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति और आचार्याभिमान—ये पाँच साधन माने जाने लगे। इनमें भी सम्प्रदायनिष्ठ जन अपनी परम्पराके अनुसार न्यूनातिरेक करते देखे जाते हैं। कुछ लोग कर्मज्ञानोपकृत भक्ति, कुछ लोग कर्मभक्तिसहकृत ज्ञान और कुछ लोग ज्ञान-भक्तियुक्त निष्काम कर्मको भगवत्प्रीणनका साधन बतलाते हैं। कर्मके भी दो भेद माने गये हैं—सकाम कर्म और निष्काम कर्म। प्रथमतः कर्मका तात्पर्य शास्त्रप्रतिपादित यज्ञादिके अनुष्ठानरूप सकाम कर्मसे ही है, जो प्रायः त्रिवर्ग-प्राप्ति या स्वर्ग-प्राप्तिका साधन है। किंतु अपवर्ग-प्राप्तिके लिये समस्त शुभाशुभ कर्मों और उनके फलोंमें आसक्तिका पूर्णतया त्याग अपेक्षित होनेके कारण कर्मका तात्पर्य निष्काम कर्मयोगमें होना चाहिये। फलाभिसंधिरहित निष्कामकर्मद्वारा भगवत्कृपा और अपवर्गकी प्राप्ति होती है।

ये साधन जीवको भगवत्कृपाके सम्मुख करनेमें सर्वथा समर्थ हैं। जितने साधन प्राप्त हैं, उनकी रक्षा और जो अप्राप्त हैं, उनकी प्राप्ति करा देना भगवत्कृपाका कार्य है। तभी तो भगवान्‌की 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' प्रतिज्ञा चरितार्थ होती है।

'अनुचर भयौ रहौं'

जैसैं राखहु तैसैं रहौं।
जानत हौ दुख-सुख सब जन के, मुख करि कहा कहौं॥
कबहुँक भोजन लहौं कृपानिधि, कबहुँक भूख सहौं।
कबहुँक चढ़ौं तुरंग, महा गज, कबहुँक भार बहौं॥
कमल-नयन, घन-स्याम-मनोहर, अनुचर भयौ रहौं।
सूरदास-प्रभु भक्त-कृपानिधि, तुमरे चरन गहौं॥

(सूरसागर १६१)

भगवत्कृपाका स्वरूप

(लेखक—श्रीलालारामजी शुक्ल)

कतिपय सज्जनोंसे समागम, सम्भाषण एवं परस्पर परामर्शका अवसर प्राप्त होनेसे कुछ निष्कर्ष निकला। तदनुसार अधिकांश लोग संत-महात्माओं तथा प्रभु-परायण महापुरुषोंको शान्त, निरीह तथा परमानन्द-मग्न देख और सुनकर ऐसा निश्चय करते हैं कि इन भाग्यशाली महापुरुषोंको विना इन्द्रियसंयम किये, शरीरको विना कठिनाइयोंमें डाले तथा विना साधन और पुरुषार्थके केवल भगवत्कृपाके ही कारण यह शान्ति, संतोष और अखण्डानन्द प्राप्त हुआ है। साथ ही वे लोग अपने आपको भगवत्कृपासे वञ्चित तथा अयोग्य समझकर दुःखी होते हैं तथा उदासीन-से हो प्रमादका आश्रय लेते हैं। ऐसे भोले-भाले सज्जनोंको भगवत्कृपाके स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है। अस्तु,

भगवत्कृपापर ध्यान जाते ही स्वभावतः प्रश्न उठता है कि भगवान्‌की कृपा विश्वव्यापिनी है या एकदेशीया ? अर्थात् प्राणिमात्र भगवत्कृपाका पात्र है या केवल भगवान्‌के प्रिय भक्त ही ? प्रश्नके अनुसार स्वाभाविक उत्तर भी अविरोध भावसे सम्मुख आ खड़ा होता है कि जब भगवान् विश्वव्यापी और समदर्शी हैं तो उनकी कृपा एकदेशीया या व्यक्तिगत कैसे हो सकती है ! स्वयं भगवान्‌की ही परम आह्लादिनी सुधामयी वाणी है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

(गीता ९ । २९)

अखिल विस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥

(मानस ७ । ८६ । ४)

अर्थात् न तो कोई मेरा प्यारा है और न किसीसे मुझे द्वेष है। यह समस्त विशाल विश्व मेरा ही उत्पन्न किया हुआ है और प्राणिमात्रपर मेरी दया भी समान ही है।

वास्तवमें अहैतुकी दयाका नाम ही 'कृपा' है। भगवान् प्राणिमात्रके लिये परम मङ्गलमय और परम हितैषी हैं। इतना अवश्य है कि प्रभु अपने सेवककी रुचि रखते हैं और उसके योग-क्षेमका भार अपने ऊपर उठा लेते हैं। यहाँतक कि कभी-कभी तो अपने भक्तोंको प्रियतम समझते हुए वे कह देते हैं—'हम भगतनके भगत हमारे'। परंतु योग-क्षेमका भार उठा लेना तथा भक्तको प्रियतम समझना केवल भगवान्‌की अपनी कृपा ही है या इसमें और कुछ भी संमिलित है ? इसपर कुछ विचार करना है।

यह सम्पूर्ण भार तो भगवान् 'भक्त' बननेके पश्चात् ही अपने कंधोंपर उठाते हैं। यदि इसको ही भगवत्कृपा कह दें तो इसमें 'भक्त' बनना या सम्पूर्ण रूपसे प्रभुकी शरण प्राप्त कर लेना ही प्रभु-कृपा-प्राप्तिका कारण हुआ; अतः इस प्रकार तो प्रभु-कृपा केवल भक्तोंके लिये ही सुरक्षित हुई, अन्य जीव इससे वञ्चित रहे; परंतु ऐसा मान लेनेसे भगवान्‌के उपर्युक्त वाक्य—'सब पर मोहि बराबरि दाया'का खण्डन हो जाता है। अतएव कृपाको तो भगवान्‌का सहज स्वभाव या उनका पवित्र नियम ही कह सकते हैं; क्योंकि भगवान् तो कल्पवृक्षके समान हैं। जो उनकी छायामें जायगा, उसके पाप-ताप शान्त हो जायँगे अर्थात् जो अपनेको प्रभु-शरणमें डाल देता है, उसके त्रिविध तापोंका शमन हो जाता है। जबतक कोई अनन्यभावसे भगवान्‌का नहीं बन जाता, अनन्य धारणासे प्रभु-उपासनामें संलग्न नहीं होता और सब आश्रयोंको छोड़कर सर्वाश्रयदाता केवल भगवान्‌का ही आश्रय नहीं लेता, तबतक उसके लिये प्रभुका यह अटल विधान भी लागू नहीं होता। भगवान् तो कहते हैं —

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९ । २२)

'जो अनन्यभावसे मेरेमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए, निष्काम भावसे भजते हैं, उन नित्य एकीभावसे मेरेमें स्थितिवाले पुरुषोंका योग-क्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

भाव यह निकला कि यह सब फल भगवत्-परायण हो जानेपर ही प्राप्त होता है। प्रथम हमको प्रभुका बन जाना आवश्यक है, फिर तो हमारा सम्पूर्ण भार उठा लेनेको भगवान्‌की अटल प्रतिज्ञा है ही। अब रहा यह प्रश्न कि प्रभु-परायण कैसे हुआ जाय ?

वेद, शास्त्र और संत-मतसे यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र और फल भोगनेमें परतन्त्र है। भगवत्प्राप्त्यर्थ साधन करना, जन्म-मरणसे मुक्त होनेके प्रयत्नमें लगना और सुखस्वरूप परमात्मदेवका

वह परम धाम, जहाँ जानेपर लौटकर नहीं आना होता, प्राप्त कर लेना ही मनुष्यके कर्म और पुरुषार्थकी इति है। इसी कार्यके लिये यह मनुष्य-जन्म मिला है और इस ध्येयतक पहुँचनेके लिये प्रभुदत्त शक्ति और स्वतन्त्रता भी प्राप्त है। फिर भी यदि अपनी शक्तिको भूलकर तथा प्रमाद, आलस्य और विलासितामें पड़कर मनुष्य अपनेको सदुद्देश्य-प्राप्तिसे विरत रखता है तो यह उसीका अपना दोष है। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

(मानस ७। ४२। ४,४३)

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रायः लोग मूर्खतावश अपने कर्तव्य-कर्मोंको भगवत्कृपाके तथाकथित आश्रयपर छोड़कर आलसी बन बैठते हैं और इस पारसमणिरूप मानव-जीवनको नष्ट कर देते हैं। फिर वे समय, भाग्य और ईश्वरको अपनी दुर्गतिका कारण कहते हुए पश्चात्तापकी अग्निमें जलते रहते हैं।

अब हमें भगवत्कृपाके सत्-स्वरूपकी ओर भी दृष्टि डालना है, जो देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित तथा विश्वव्यापी है और प्राणिमात्र समान रूपसे उसका पात्र है।

कल्पना करें एक ऐसे पथभ्रष्ट पथिककी, जो स्वनिकेतका मार्ग छोड़कर कण्टकाकीर्ण पथमें पड़ गया हो, जहाँ उसे चारों ओर भीषण अन्धकार ही दृष्टिगोचर होता हो, भयंकर जीव-जन्तुओंके गर्जन-शब्द उसको भयभीत और व्याकुल बना रहे हों, ऐसी दशामें वह विलाप-कलाप करता हुआ भटकता-फिरता हो और उसे किसी प्रकार भी निर्दिष्ट मार्ग न सूझता हो—ऐसी दयनीय दशाको प्राप्त उस बटोहीको यदि कोई सहृदय महापुरुष कृपा कर सुझाव दे दें—'ऐ भोले बटोही! तू कहाँ मारा-मारा फिरता है। तेरा मार्ग तो इधर है, आ जा मेरे पास, मैं तुझे तेरे मनोनीत स्थानपर पहुँचा दूँगा।' तो इस प्रकार अकारण ही ठीक-ठीक निर्दिष्ट मार्ग बता देना कृपाका स्वरूप हुआ। ठीक इसी प्रकार इस भवसागरके पाप ताप-पीड़ित तथा मोह-शोकादिके थपेड़ोंसे संतप्त प्राणीके लिये भगवान् अपना पावन आदेश देकर इस दुःखद जंजालसे मुक्त होनेकी युक्ति तथा सुखस्वरूप स्वधाम पहुँचनेका मार्ग बतलाते हैं। उनकी घोषणा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

अहा! प्रभुकी यह कैसी अकारण करुणा है, कैसे दयापूर्ण शब्द हैं—'ऐ भोले-भाले भूले बटोही! तू क्यों तापसे संतप्त होकर क्लेश उठा रहा है, आ जा मेरी शीतल छायामें, छोड़ दे इस नादानीको, मत घबरा अपने किये पापोंसे, क्या तू मेरी अटल प्रतिज्ञाको भूल गया—'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'

(मानस ५। ४३। १)

आ जा, देर मत कर। बिना यहाँ आये तेरा क्लेशोंसे मुक्त हो पाना नितान्त असम्भव है। बस, जीवको इस प्रकार सचेत करना ही प्रभु-कृपा है, जिससे न कोई जीव वञ्चित है और न कोई स्थान खाली है। भगवान् तो कल्पतरु-सदृश हैं। यदि मानव उनके कृपारूप आदेशपर पूर्ण विश्वास करके उनकी शरणमें पड़ जाय तो उद्धार होना निश्चित ही है। अन्यथा वह शूकर-कूकर नीचातिनीच योनियोंमें कर्मफल भोगता हुआ भटकता ही रहेगा।

हमें सर्वकाल और सर्वस्थानोंमें अपने ऊपर भगवत्-कृपाका पूर्ण अनुभव करते हुए प्रमाद-आलस्यको छोड़, विषयोंसे चित्तको मोड़कर शीघ्र ही अपने मनकी डोरको भगवत्पदारविन्दमें जोड़ देना चाहिये।

सुगम साधन

भगवान् दयालु हैं, प्रेमी हैं। उनकी दया और प्रेम सब जगह परिपूर्ण हो रहे हैं। अणु-अणुमें उनकी दया और प्रेमको देखकर हमें मुग्ध होना चाहिये। हर समय प्रसन्न रहना चाहिये। इसको साधन बना लेना चाहिये। इसमें न कुछ परिश्रम है और न किसी अन्य वस्तुकी आवश्यकता ही है।

—श्रीजयदयालजी गोयन्दका

भगवत्कृपाका स्वरूप और कार्य

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, शास्त्री, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०)

भगवान् परात्पर ब्रह्म होते हुए भी सर्वथा निर्वैयक्तिक, लोकातीत, निरासक्त तथा जीवोंके परम सुहृद् हैं। वे इस सृष्टिरूप पुरीको रचकर इसमें अनुप्रविष्ट हुए हैं तथा इसीमें ओत-प्रोत होकर विश्वात्मा एवं अन्तर्यामीरूपसे चराचर जगत्का धारण, पोषण एवं नियन्त्रण कर रहे हैं। उन्हींकी अध्यक्षतामें यह सम्पूर्ण प्रकृति सतत गतिशील है। वेदान्तके शब्दोंमें सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वरकी लीला है तो वेदके शब्दोंमें अखिल ब्रह्माण्ड उस परमात्माकी महिमा है—'एतावानस्य महिमा' (ऋ० १० । ९० । ३)।

ईश्वरके मुख्यतः पाँच कृत्य हैं—सर्जन, गोपन, संहार, निग्रह एवं अनुग्रह। वस्तुतः ये सभी कृत्य अनुग्रहके ही रूप हैं। भगवान् जीवोंके पूर्वजन्मार्जित कर्मफलको सुख-दुःखके भोगद्वारा क्षीण करने एवं नानाविध अनुभवोंका संचय कर उन्हें अध्यात्म-मार्गपर आरूढ करनेके लिये सृष्टिकी रचना करते हैं। भगवन्महिमाकी अभिव्यक्ति, प्राणियोंके क्रमिक विकास, बहुविध ज्ञान- विज्ञानकी अवतारणा एवं ईश्वरीय प्रयोजनकी पूर्तिके लिये वे परम पिता एक नियत कालतक सृष्टिका रक्षण एवं पालन करते हैं। वे प्रकृति तथा जीवोंको विश्राम देनेके लिये संहारद्वारा प्रलयकालकी नियत अवधिको प्रस्तुत करते हैं। वे ही मुक्तिके योग्य पात्र होनेपर जीवात्माको पाशमुक्त कर मोक्ष प्रदान करते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानामात्ममुक्तिप्रदायकः ॥

(शिवसंहिता १ । २)

ईश्वर करुणा-रसके सागर हैं एवं उनका अनुग्रह अहैतुक होता है। इस अनुग्रहका मूल ईश्वर एवं जीवके नित्य सम्बन्धमें है। जीव ईश्वरका नित्य सनातन अंश है। वह सृष्टिमें ईश्वर-लीलाका अङ्ग बनने तथा ईश्वरकी महिमाको अभिव्यक्त करनेके लिये आता है। यद्यपि वह सृष्टिमें आकर जगत्के प्रपञ्च एवं अविद्यामें फँसकर अपने स्वरूपको तथा अंशी ईश्वरके साथ अपने नित्य सम्बन्धको भूल जाता है, पर भगवान् उसे कभी नहीं भूलते। जीवकी अज्ञान-दशामें भी वे परोक्षरूपसे उसका धारण, नियन्त्रण एवं मार्गदर्शन करते रहते हैं तथा नानाविध मार्गोंसे प्रेरितकर उसे पुनः आत्मा एवं परमात्माके मिलन-मार्गपर, अर्थात् मोक्षके मार्गपर ले आते हैं। इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता (९ । १८) में भगवान्को जीवमात्रका 'गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण एवं सुहृद्' बताया गया है। भगवदनुग्रह होनेपर ही सत्कर्ममें रुचि, हृदयमें भक्तिका उदय, विषयोंसे वैराग्य, महापुरुषोंका सङ्ग और मोक्षकी कामना उत्पन्न होती है तथा जीवको परमपदकी प्राप्ति होती है।

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥

(विवेकचूडामणि ३)

'मनुष्य-जन्म, मोक्षकी कामना एवं भगवद्रूप महात्माओंका सत्सङ्ग—ये तीनों वस्तुएँ दुर्लभ हैं, केवल करुणामय भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होती हैं।'

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना ।
महाभयपरित्राणा विप्राणामुपजायते ॥

(अवधूतगीता १ । १)

'ईश्वरके अनुग्रहसे ही विवेक-वैराग्यादि साधन सम्पत्तिसे युक्त मुमुक्षु पुरुषोंमें अद्वैतज्ञानकी वासना उत्पन्न होती है, जो संसाररूप महान् भयसे मुक्त कर देती है।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

(गीता १८ । ५६, ५८, ६२)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है। मुझमें चित्तवाला होकर तुम मेरी कृपासे समस्त सङ्कटोंको अनायास ही पार कर जाओगे। हे भारत! तुम सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें जाओ। उस परमात्माकी कृपासे ही तुम परम शान्ति तथा सनातन परमधामको प्राप्त होओगे।'

ईश्वरीय अनुग्रह ही ईश्वरके दर्शन एवं आत्मसाक्षात्कार-का एकमात्र साधन है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ॥ (कठोपनिषद् १ । २ । २३)

'भगवान् जिसे वरण कर लेते हैं, केवल उसीको वे प्राप्त होते हैं।' मनुष्य धर्म, सुकर्म, तप, ज्ञानार्जन, आत्म-साक्षात्कार आदिके लिये कितना भी पुरुषार्थ क्यों न करे, फिर भी ये सब प्रयत्न भगवद्दर्शन, आत्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्मानन्दकी तुलनामें तो अत्यन्त सीमित और क्षुद्र ही सिद्ध होंगे अर्थात् भगवत्प्राप्ति अथवा तत्त्व-साक्षात्कार प्रयत्नसाध्य—क्रियासाध्य न होकर भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका ही फल है। मनुष्य अपनी शारीरिक क्रियाओं, प्राण-जगत्‌की वासनाओं, हृदयके भावावेगों एवं मन तथा बुद्धिके व्यापारोंद्वारा निरन्तर अनेक कर्मोंकी जटिल जाल शृङ्खला बुन रहा है; जबकि केवल न्यायके बलपर, केवल अपने गुणों एवं कर्मोंके आधारपर किसीको भी मुक्ति या मोक्षकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। यह भगवान्‌की कृपा-शक्ति ही है, जो विश्वकी न्याय-व्यवस्थामें हस्तक्षेप करते हुए अनेक भूलोंको निरन्तर मिटा रही है, कष्टों एवं दुःखोंको सहन करनेकी शक्ति देती है, सफलताकी कठोर परीक्षाओंमेंसे गुजरनेका बल देती है, निराशामें आशाकी किरण बनकर चमकती है तथा विकासके मार्गपर बढ़ते हुए प्रत्येक प्राणीको सहायता देनेके लिये सदैव तत्पर रहती है।

भगवान्‌की करुणा जगत्‌में सदैव सहस्र-सहस्र धाराओंमें अमोघ वेगके साथ प्रवाहित हो रही है। वही सत्य-ज्ञानके रूपमें बुद्धिको प्रदीप्त एवं प्रेरित करती है, शक्तिके रूपमें कार्योंको सिद्ध करती है, शान्तिके रूपमें सभी सन्तापोंका शमन करती है एवं पावनकारिणीके रूपमें सभी विकारों एवं दोषोंको धोकर पवित्र कर देती है। अनुग्रह दोषों और अपूर्णताओंका विचार नहीं करता, ईश्वरका वात्सल्य तो प्रेममयी माँद्वारा दुर्बल और भटके हुए बच्चेको प्यार, आलम्बन एवं सहायता देनेकी भाँति ही है। जैसे गौ नवजात बछड़ेके शरीरपर लिपटे मल-आदिको चाटकर साफ कर देती है, वैसे ही परम करुणामयी वात्सल्य-मूर्ति कृपा-जगदम्बा भी हमारे दोषों और भूलोंको पोंछकर हमें निर्मल, पवित्र बना देती है।

ईश्वरीय अनुग्रहका रहस्य सदा अज्ञात ही रहेगा। कब, कहाँ, कैसे और किसपर ईश्वरका अनुग्रह हुआ—इसकी व्याख्या मानवीय बुद्धिकी तर्कणामें सम्भव नहीं है। ईश्वरीय कृपा अपनी रहस्यमयी दृष्टिसे कूड़ेमें छिपे रत्नकी भाँति अपात्र दीखनेवाले व्यक्तिमें भी पात्रता देख लेती है एवं उसके उद्धारके लिये अपने कार्यका समय तथा पद्धति भी निश्चित कर लेती है। छोटे-बड़े, पापी-पुण्यात्मा, पण्डित-मूर्ख सभी ईश्वर-कृपाके पात्र हो सकते हैं, हुए हैं। अहल्या, पिंगला, गुह, कुचेल, जगाई-मधाई आदि इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

अनुग्रहका एक और पक्ष है—दण्ड देने एवं सुधारनेका। ईश्वर धर्मके व्यवस्थापक हैं। अधर्मके नियन्त्रण एवं धर्मकी रक्षाके लिये वे अपनी दण्ड-रक्षाकी शक्तियोंका विनियोग करते हैं। वे जीवोंको उनके दुष्कर्मके अनुसार दण्ड देते हैं, जिससे वे सुधर सकें तथा पुनः पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति, स्वरूपोपलब्धिके लिये प्रयत्नशील हो सकें। दुर्गासप्तशतीके अनुसार देवी भगवती असुरोंका वध सदय हृदयसे करती हैं, जिससे वे अधम भी संग्राममें शस्त्रपूत मृत्युका वरणकर उच्च गतिको प्राप्त हो सकें। वे भी तो जगन्माताकी संतान ठहरे। उनके मङ्गल-विधानकी योजना भी तो उन्हें ही करनी है। दण्डात्मक हो या सुधारात्मक—इस अनुग्रहका मृदु या क्रूर रूप चिकित्सककी ओषधि या शल्य-चिकित्सककी शल्यक्रियाकी भाँति मङ्गलभावनामें ही युक्त होता है। माता-पिता अपने बच्चोंको जब मृदु या कठोर दण्ड देते हैं, तब उनके मनमें भी संतान-हितकी भावना ही होती है, क्रूरता या बदला लेनेकी नहीं।

पृथ्वीपर जब दुष्कर्मकर्ताओंकी संख्या अधिक हो जाती है एवं अधर्मकी वृद्धिके कारण सृष्टिका संतुलन बिगड़ने लगता है, तब पापियोंके संहार, धर्मात्माओंकी रक्षा एवं धर्मकी स्थापनाके लिये स्वयं भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं। यह अवतार-कार्य भगवान्‌का अनुग्रह ही होता है—

'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।'

(श्रीमद्भा० १० । २९ । १४)

वे मानव-रूपमें आकर पार्थिव-जगत्‌का बहुत-सा ताप-संताप अपने ऊपर ले लेते हैं। यह उनकी परम कारुणिकता है। पर वस्तुतः इस अवतार-लीलामें धर्म-संरक्षण, दुष्ट-उद्धार आदि तो गौण कार्य हैं, मुख्य प्रयोजन तो भक्तोंके बीच विचरते हुए उनके प्रेमका आस्वादन करना ही है। जो लोग उन्हें हृदयसे प्यार करते हैं, प्रभु उनके पास आये बिना नहीं रह सकते—

'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥'

(गीता ९ । २९)

भक्ति और अनुग्रहमें परस्पर आदान-प्रदानका सम्बन्ध सदा बना रहता है। यह सम्बन्ध भक्त और भगवान्‌के प्रेम-विनिमयपर आधारित है।

ईश्वरके कृपा-कार्योंका पता उनके परिणामोंसे लगता है। संतों एवं भक्तोंके चरित्र तथा शास्त्र इसके प्रमाण हैं। अम्बरीषकी दुर्वासाके शापसे रक्षा, भक्त प्रह्लादका त्राण, द्रौपदीकी शील-रक्षा, अजामिल एवं गजका उद्धार आदि इसके उदाहरण हैं। आधुनिक युगमें जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य, आचार्य श्रीरामानुज, संत ज्ञानदेव, संत तुकाराम, भक्तिमती मीराँबाई, चैतन्य महाप्रभु, गोस्वामी तुलसीदासजी आदिके जीवन भगवत्कृपाके चमत्कारपूर्ण उदाहरणोंसे भरे पड़े हैं। नाना कठिनाइयोंके होते हुए भी इन सिद्ध भक्त महात्माओंको अल्पकालमें जो असाधारण सफलता मिली, उसकी व्याख्या अन्य प्रकारसे सम्भव ही नहीं है। जैसे प्रकाशकी एक किरण क्षणभरमें ही कोठरीके सम्पूर्ण अन्धकारको नष्टकर उसे आलोकित कर देती है, वैसे ही भगवत्कृपा भी क्षणभरमें ही प्रारब्ध-कर्मोंको नष्टकर भक्तके जीवनको ईश्वरीय ज्योतिसे भरपूर कर देती है।

ईश्वरीय कृपाका सबसे बड़ा चमत्कार है—मानव-प्रकृतिमें परिवर्तन, असाधुको तत्क्षण साधु बना देना। भगवान्‌की यह अभय वाणी है—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
> (गीता ९। ३०-३१)

'हे कौन्तेय! यदि अत्यन्त दुराचरणवाला व्यक्ति भी अनन्यभावसे मेरी भक्ति करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने (भगवच्छरणापन्न होकर भक्ति करनेका) सम्यक् निश्चय कर लिया है। (इस अनन्य-भावयुक्त भक्तिके परिणामस्वरूप) वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है एवं शाश्वत परमशान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! यह निश्चयपूर्वक जान लो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।'

यद्यपि कृपा भगवान्‌में रहनेवाली शाश्वत स्वतः स्फूर्त अहैतुकी शक्ति है तथा वह शक्ति अपनेको अभिव्यक्त करने या क्रियाशील होनेके लिये किसी अन्य उत्तेजक या प्रेरक कारणकी अपेक्षा नहीं करती, तथापि भगवान्‌की सर्वभावसे सर्वात्मना शरणागति, अनन्यभावसे स्मरण एवं भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म भगवदनुग्रहरूप मन्दिरके कपाटको खोल देनेके अमोघ साधन हैं। भगवत्प्रेमकी यज्ञाग्निमें अपने 'स्व'की पूर्णाहुति देनेसे ही भगवदनुग्रहकी आप्यायिनी वृष्टि होती है। योगी श्रीकृष्णप्रेमने अनुग्रह (Grace)की परिभाषा करते हुए लिखा है—

'इस नश्वर संसारमें जब भी कोई व्यक्ति पूर्ण आत्माहुति देता है, अपनी आत्माको भगवत्प्रेमकी ज्वालामें मिला देता है, तब जो विस्फोट होता है, उसीका नाम 'अनुग्रह' है। इस धरतीपर होमी गयी कोई भी आत्माहुति कभी व्यर्थ नहीं जाती।'*

जीव संसारमें अपने कर्म-बन्धनोंसे बँधा हुआ है। इन कर्म-बन्धनोंका मूल अहंता, ममता एवं कामनामें है। ईश्वरको सर्वाङ्गरूपसे समर्पण करते ही साधक कर्मफलोंसे विमुख हो जाता है एवं उन कर्मफलोंके प्रेरक कारण कामना, ममता एवं अहंके मूल भी सूख जाते हैं। परिणाम यह होता है कि उसके कर्म-बन्धन समाप्त हो जाते हैं। जैसे घासके बहुत बड़े ढेरको एक छोटी-सी चिनगारी भस्मसात् कर देती है, वैसे ही भगवत्कृपाका लेशमात्र जन्म-जन्मान्तरके कर्मोंको नष्ट करनेमें समर्थ है। ईश्वरके प्रति पूर्ण समर्पित होनेमें ही जीवनकी परिपूर्णता है। जब जीव अपनी बुद्धि, हृदय, मन एवं प्राणको पूर्णतया भगवत्कृपाके प्रति उन्मुक्त कर देता है, तब भगवत्कृपा अवतरित होकर उसमें दिव्य ज्ञान, प्रेम, शान्ति, पवित्रता, ज्योति तथा शक्ति भरकर उसको दिव्य बना देती है एवं भगवद्‌यन्त्रके पुर्जेके रूपमें भगवत्कार्यकी सिद्धिके लिये उसका उपयोग करती है।

ईश्वर-कृपा तो सर्वत्र-सर्वदा बरस रही है एवं सबके मङ्गल तथा मुक्तिके लिये कार्य कर रही है। आवश्यकता इस बातकी है कि हम उसके कार्यमें बाधक न बनें। उसके प्रति संशय या अश्रद्धा करनेसे या उसकी ओरसे मुख फेर लेनेसे हम अपने तथा भगवत्कृपाके कार्यमें अवरोध पैदा कर देते हैं। ईश्वर मनुष्योंको पशुवत् हाँककर नहीं ले जाते। उन्होंने मनुष्यको स्वतन्त्र इच्छाशक्ति एवं अच्छा-बुरा पहचाननेकी बुद्धि—विवेक-बुद्धि दी है। जीवन कठपुतली नहीं

* 'In this world of dust and din whenever any body has given complete Atmahuti—merging his self in the flame of Love divine, there is an explosion which is grace. No true Atmahuti on earth can ever be in vain'

है और न वह यन्त्रकी भाँति जड ही है। अतः उसे ईश्वर-कृपाको अपने अंदर कार्य-साधन करने देनेके लिये सहर्ष सहमति देनी होगी। इस सहमतिका रूप है—ईश्वरानुग्रहमे श्रद्धा, विश्वास तथा अपने-आपको भगवत्कृपाके पूर्णतया अधीन मान लेना, इसके बाद भगवत्कृपाके कार्यमें बाधक असत्य, कपट, अज्ञान एवं अन्य आसुरी भावोंको अपने अंदरसे तथा आस-पासके वातावरणसे दूर करते रहना। जीवके सत्यसंकल्प, समर्पण, सचाई, विश्वास आदिसे ही भगवत्कृपाकी वह दृढ नींव पड़ेगी, जिसपर भागवत-जीवनके दिव्य भवनका सुदृढ निर्माण सम्भव है। साधकमे जिस अनुपातमें विश्वास, सचाई, भक्ति, अनासक्ति, समर्पण और अभीप्सा बढती जायगी, उसी अनुपातसे भगवत्कृपा भी उसमें अधिकाधिक मात्रामें अवतरित हो अपना कार्य करने लगेगी। समर्पणकी पूर्णताके साथ ही साधक भी पूर्णतया भगवत्कृपामय हो जायगा—भगवान्‌के हाथका यन्त्र बन जायगा।

ईश्वरानुग्रहका तत्काल प्रत्युत्तर तब मिलता है, जब व्यक्तिको अपना सब कुछ नष्ट हुआ दीखता है, सभी साधन एवं शक्तियाँ समाप्तप्राय हो जाती हैं अर्थात् साधनोका आश्रय मिट जाता है, अहंकार नष्ट हो जाता है, एकमात्र भगवान् ही उसे परमबन्धु एवं रक्षक दिखलायी पड़ते हैं; तब वह परम दीन हो अत्यन्त आर्तभावसे प्रभुको पुकारता है। करुणा एवं विह्वलतासे परिपूर्ण, रोम-रोमसे उठी उस आर्त पुकारका उत्तर भगवान् तुरंत देते हैं। निमिषमात्रमें भगवान्‌की रक्षाकारिणी अनुग्रह-शक्ति आर्तभक्तकी रक्षाके लिये आ उपस्थित होती है एवं उसका परित्राण करती है।*

कृषिकी सफलताके लिये जैसे किसानका पुरुषार्थ एवं दैव-कृपाके रूपमें समयपर आकाशसे वृष्टि—दोनों आवश्यक हैं, वैसे ही ईश्वरानुग्रहकी सिद्धिके लिये भी जीवका भक्ति, योग, तप, धर्माचरणादि पुरुषार्थ एवं भगवान्‌की दया—दोनोंका होना आवश्यक है। जीवको भगवत्कृपाका सुपात्र बननेके लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये एवं भगवत्कृपाका अवतरण होनेपर उसे सतत कार्यशील रखनेके लिये अपना अनुकूल प्रयत्न, तप आजीवन करते रहना चाहिये। पूर्ण श्रद्धा, विश्वास, शरणागति, दीनता, सचाई, समर्पण, प्रेम एवं गुरुनिष्ठा होनेपर जीवनमें पग-पगपर ईश्वरानुग्रहके चमत्कार दिखायी देते हैं। करुणामय भगवान्‌की करुणाका अनुभव कर मनुष्यमात्र सुखी हो जाय—यही मङ्गलमयी कामना है।

भक्ति और अनुग्रह

नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगं
नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।
बीजप्ररोहवदसावनयोर्न कस्य
भूत्यै परस्परनिमित्तनिमित्तिभावः॥

(स्तुतिकु० ९। ३३)

हे भगवन्! भक्तियोग विना (अर्थात् आपकी भक्तिके विना) आपका अनुग्रह नहीं प्राप्त होता और आपके अनुग्रहके विना भक्तियोग सिद्ध नहीं होता। प्रभो! इन आपके अनुग्रह और भक्तियोगका यह बीज और अंकुरके समान परस्पर निमित्त-निमित्ति (कार्य-कारण) भाव किसका कल्याण नहीं करता? अर्थात् सभीका कल्याण करता है।

* The Divine grace intervenes only when you are at the end of your tether, after all your mighty efforts. For then, feeling lost, as you call out Him with every fiber of your being to save you from your shipwreck. His love answers, and to your heart is flooded with love. His light knelling the doom of centuries of darkness.—Yogi Sri Krishna prema.

भगवत्कृपा—स्वरूप और संसिद्धि

(लेखक—श्रीदेवदत्तजी, श्रीअरविन्द आश्रम)

श्रीमाताजीके वचन हैं—'कालमें एक क्षण भी नहीं, देशमें एक रजःकण भी नहीं, जो भगवत्कृपाके अहर्निश कार्य और उसके निरन्तर प्रभावका प्रतीक न हो। यदि तुम कृपाके साथ सम्बद्ध हो तो तुम्हें वह सर्वत्र दिखायी देगी, तुम आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगोगे, पूर्ण शक्ति तथा अनन्त आह्लादसे परिपूर्ण हो उठोगे और भागवतकार्यमें यही सबसे बड़ा सहयोग होगा।'

भगवत्कृपा अपने मूल स्वरूप, स्वभाव और विधायिका शक्तिमें अचिन्त्य होते हुए भी मानव-चेतनाके स्तरपर उपलब्ध है। जब हम इसे अहैतुकी या 'अप्राप्य मनसा सह'-की संज्ञा देते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि इसका कोई उद्देश्य या हेतु नहीं है। हाँ, इसका हेतु बुद्धिके स्तरपर अधिगम्य नहीं होता। इसीलिये मानव अपनी सीमाको ही अन्त मानकर कृपाको अहैतुकी घोषित करता आ रहा है।

मानवकी वर्तमान चेतनाके स्तरसे अलभ्य होनेका अर्थ यह नहीं है कि भगवत्कृपाके स्वरूपको हम जान ही नहीं सकते। 'अज्ञात' एक स्थिति होनेपर भी अज्ञेय नहीं हो सकता, अतः प्राणिमात्रमें एक ऐसी स्थितिकी सम्भावना निहित है, जो कृपाके माध्यमसे भागवत जीवनमें प्रतिष्ठाका आधार बनकर कृपालुको कृपापात्रसे संयुक्त कर सकती है।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो अपनी चेतनाको आधार बनाकर परा चेतना (परमात्मा)के प्रति जिज्ञासु हुआ है। इस जिज्ञासाका आधार भी भगवत्प्रदत्त विशिष्ट मानव-रचना ही है। यह भगवत्कृपाके प्राकट्य (अभिव्यक्ति)-का ही परिणाम है कि मनुष्य श्रेय और प्रेयके चुनावमें आंशिकरूपसे ही सही, पर स्वतन्त्र हो सका।

इस जीवनमें भी हम शरीर और प्राणकी सारी शक्तियोंका उपयोग नहीं कर पाते। अधिकतर मन, प्राण और शरीरमेंसे किन्हीं एक या दोसे तादात्म्य स्थापित कर उनके नियम अन्यपर लादा करते हैं। फलस्वरूप हम जीवनकी वास्तविक रचनाके विषयमें न जानते हुए जीवनकी आचार-पद्धति, ज्ञान और आनन्दकी अवहेलना करते हुए अपने कर्म, संकल्प और चिन्तनको अज्ञानके हाथों सौंपकर इच्छाओं, भूलों, प्रयत्न और असफलताओंके साम्राज्यमें लुढ़कते रहते हैं। अपने शुद्ध स्वरूपको और ईश्वरको न जाननेके कारण जगत्‌के प्रति आश्चर्यचकित होते रहते हैं।

पर यह असमर्थताका बोध और सीमाओंका ज्ञान ही भागवत उपस्थितिका प्रथम प्रमाण है; क्योंकि असमर्थको समर्थकी और सीमितको असीमकी आवश्यकता है। महाभारतके यक्ष-प्रश्नकी कथामें परम आश्चर्य यही माना गया है कि नित्य मरणशील मानव अपनेको मर्त्य क्यों नहीं मानता। इसका दूसरा पक्ष है कि अमृत तत्त्वकी कोई ऐसी झलक हमें इतना मुग्ध किये है कि हम मृत्युको स्वीकार नहीं कर पाते। अनन्तताके साथ चेतनाके सम्पर्ककी यह अलक्ष्य प्रेरणा ही भगवत्कृपा है।

विकासकी कसौटी यही है कि प्रेरणासे हम सर्वोत्तम लाभ उठा सकते हैं और हमारी चेतनामें इसका अलौकिक सायुज्य स्थापित हो सकता है। श्रीमाँ कहती हैं—'अपनी पसंद और भगवत्कृपा—इन दोनोंमेंसे किसी एकको चुननेमें हम सदैव स्वाधीन हैं।' अपनी पसंदका चुनाव करते ही हमें ऊपर वर्णित सीमाओंकी दासता स्वीकार करनी पड़ती है। फिर भी अहंकारके वशीभूत होकर मनुष्य कृपापथको स्वीकार नहीं कर पाता। उसे अपनी सीमाओंकी दासताका आभास भी नहीं होता। इसी अवस्थामें वह कृपाके वास्तविक हेतुको समझनेमें असमर्थ रहता है। पर भगवत्कृपाकी मूल शक्ति तब भी उसे अधिष्ठान और विकासके आरोहणका मार्ग दिखाती रहती है।

प्रश्न उठता है कि भगवत्कृपाका स्रोत क्या है? सृष्टिके आदि कारणका सूत्र इस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है कि भगवान् अपने आनन्दके निजास्वादनके लिये अपनी चित्-शक्तिकी क्रीडाके माध्यमसे अपने ही स्वरूपमें प्रकट होकर सृष्टि करते हैं। यह अनन्तकी सान्त (ससीम) अभिव्यक्ति है। इस प्रक्रियामें आत्म-सत्, आत्म-चित् और आत्म-आनन्द सृष्टिके ऊर्ध्व भागका निर्माण करते हैं। इसका निम्न अर्द्धांश—जड प्राण और मनःकृपा ही इनके परस्पर आकर्षणकी शक्ति है। सृष्टिके निर्माणके लिये जहाँ परमेश्वर और आदि शक्तिके माध्यमसे लीलाका विस्तार होता है, वहींसे कृपाकी परम स्रोतस्विनी प्रवाहित होती है।

आदि सृष्टिके मूलमें स्थित होनेके कारण कृपाकी शक्ति कारणाश्रिता नहीं, अपितु कारणस्वरूपा है। यह अपनी लीलाके विस्तारके लिये किसी अन्य शक्तिपर निर्भर नहीं करती; क्योंकि शक्तिका मूलस्वरूप कृपाके माध्यमसे ही प्रकाशमान

हो उठता है। इसी कारण कृपा अर्थनिरपेक्ष होती है, निरर्थक नहीं। सर्वदा जीवोंपर बरसती रहने तथा उन्हें मुक्त करने और मूलस्वरूपको पहचाननेमें सहायिका होनेपर भी यह मूलतः पुरुषके पुरुषत्वको जगाकर उसके माध्यमसे ही कार्य करती है तथा दिव्यताकी ओर उन्मुख होने और उसका वरण करनेकी शक्ति प्रदान करती है।

कृपाको द्रवित करनेवाली प्रार्थनाकी शक्ति एव श्रद्धा-सचाई और समर्पणकी त्रिवेणीसे ही महाशक्ति (परमसत्ता) के चरण पखारे जा सकते हैं। तभी वासनाओंसे मुक्त होनेकी तथा पवित्रता, शान्ति और सत्यको पानेकी अभीप्सा भागवती कृपाके अवतरणका पथ प्रशस्त करती है। इस अवतरणके बाद ही प्राप्त होता है विशुद्ध भागवत प्रेम एवं निजस्वरूपा अचला भक्ति। इसी कारण औढरदानी भगवान् शिवकी शक्ति माहेश्वरीको 'कृपा' तथा भगवान् श्रीकृष्णकी शक्ति राधाको प्रेमस्वरूपा वर्णित किया गया है।

भागवती कृपाके इस रूपका साक्षात्कार हमारी आन्तरिक सुरक्षा तथा विभिन्न स्तरोंसे अभिव्यक्त प्रार्थनाओंसे भी आगे देखनेकी शक्ति और दृष्टि प्रदान करता है। कृपाके इन व्यष्टि-भावापन्न लक्षणोंके अतिरिक्त भी उसका एक महान् स्वरूप है। विश्वास और श्रद्धाका सम्बल साथ हो तो मानव अतिशीघ्र भगवदाश्रयका आकाङ्क्षी और अधिकारी हो सकता है। फिर यह आश्रयका भाव ही हमें समर्पणतक पहुँचा देता है। यहाँ कृपा-लाभके अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्वकी अनुभूति नहीं होती।

कृपा-लाभका आनन्द कृतज्ञतामें है। स्रष्टाकी सृष्टिको शुद्ध करनेके (अहं) भावसे मुक्ति पाकर हम यह मानें कि प्रत्येक स्थिति भगवदनुग्रहसे परिपूर्ण और भगवन्निर्दिष्ट है। शक्ति और श्रद्धा—दोनोंका चरम लक्ष्य समर्पणके माध्यमसे कृपा-लाभ ही है।

कृपा तर्क-बुद्धिके परेका तत्त्व है। भगवत्कृपा अमृत-स्वरूपिणी परम करुणामयी परमात्म-सत्ताकी सर्वव्यापिनी अनुग्रह-मूर्ति है।

भगवत्कृपासे सर्वार्थसिद्धि

(लेखक—श्रीऋषभचन्दजी)

प्रायः सभी पौरस्त्य और पाश्चात्य ईश्वरवादियोंने धर्मोंमें-कृपाके हस्तक्षेप एवं कार्यको ही आध्यात्मिक जीवनकी सफलता—सिद्धिका सर्वोच्च साधन माना है, किंतु लोगोंकी धारणा है कि यह हस्तक्षेप रहस्यपूर्ण तथा अपूर्व है। कृपा, जहाँ-कहीं अवतरित होना चाहती है, वायुकी तरह पहुँचती है। इसपर पुण्यात्माओंका अधिकार नहीं जम सकता, अतः निकृष्ट पापीको भी इससे निराश होनेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि यह गिरे और भटके लोगोंके भग्न हृदयोंको प्रेमके उपचारसे उन्हें स्वस्थ कर देती है। अहंकारी और मदमत्त लोगोंकी ओर यह विशेष दृष्टि डालती है, सतत उनके कल्याणका साधन जुटाती है—विभिन्न विपत्तिरूप थपेड़ोंद्वारा उनके अहंकारको चूर-चूर करती रहती है। यह शीतकालमें सुकोमल ओस-बिन्दुकी तरह और गर्मीमें शीतल दक्षिणी वायु अथवा श्मशान-अन्धकारके बीच प्रकाशकी चमककी तरह आती है। कभी-कभी तो यह आँधी या भूकम्पकी तरह मानवके अन्तरात्मामें उफान लाते हुए आ पहुँचती है। इसकी क्रोधपूर्ण मुखाकृतियाँ उतनी ही आशिषस्वरूप हैं, जितनी कि इसकी आनन्द फैलानेवाली मुसकानें। जब कभी यह जोरसे पीड़ा पहुँचाती है, तब वह पीड़ा केवल निद्रित एवं आलसी लोगोंको उठाने और जगानेके लिये आवश्यक होती है। वस्तुतः कृपाके कार्यके बिना जीवन विभिन्न योनिरूप झाड़ियोंमें फँसा पड़ा रहेगा और प्राणी अन्धकारमय तमसमें भटकते ही रह जायँगे।

कृपा भगवान्‌का प्रेम है, जो जड़-चेतन—सबपर बरस रहा है। इसीके माध्यमसे जीव परम सत्य एवं चेतना-के अनन्त प्रकाशकी ओर जानेमें सक्षम हो सकते हैं। इसके आविर्भावके पूर्व यहाँकी प्रत्येक वस्तु गहन अन्धकार और जडतामें निमग्न थी, कृपास्वरूप प्रेम अवतरित हुआ, सुषुप्त आत्मा जाग्रत् हुआ और क्रमशः अपनी अनन्त एवं सनातन चेतनाकी ओर अग्रसर होने लगा। प्रेमस्वरूपिणी कृपा सर्वव्यापिनी, सर्वाधारा और सर्वरूपान्तरकारिणी है। यह सर्वत्र है। यह स्पष्ट एवं गुह्य—समस्त विश्वशक्तियोंकी जटिल क्रीडाके पीछे विद्यमान उच्चतम क्रियाशक्ति है।

हमें अपने आपको पूर्णरूपसे भगवान्‌की कृपापर छोड़ देना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌ने कृपा और प्रेमका रूप धारण

करके ही जगत्‌को ऊपर उठानेका भार स्वीकार किया है। भगवान्‌का प्रेम ही जगत्‌के कल्याणके लिये परम शक्ति 'कृपा'के रूपमें प्रकट हुआ है। केवल मनुष्यके भीतर ही नहीं, अपितु अत्यन्त अंध—जड प्रकृतिके समस्त आवुओंमें इसने अपने आपको उड़ेल दिया है, जिससे यह संसारको मूल परम सत्यकी ओर फिरसे ला सके। इसी अवतरणको भारतीय धर्म-शास्त्रोंमें परम यज्ञ कहा गया है। कृपा ही प्रेम है, जो सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त होकर अधिकतम बलशालिनी परा शक्तिके रूपमें अहंके मोटे पर्देके पीछेसे कार्य कर रहा है। प्रचलित धारणा तो यह है कि कृपा कुछ ऐसी वस्तु है, जो अचानक ही आती है। वह कहाँसे आती है, यह मालूम नहीं होता और आश्चर्यमय परिणाम उत्पन्न करके पुनः वहाँ लौट जाती है। यह तो कृपाके कार्यका अचानक घटित होनेवाला बाहरी परिणाममात्र है, किंतु जगत्‌के सदसत्—प्राणिमात्रके अंदर इसकी सतत क्रियाशील उपस्थितिका दर्शन नहीं है। कृपा तो सभी प्राणियों, वस्तुओं और घटनाओंमें सर्वविद् एव सर्वसंचालक प्रेमके रूपसे विद्यमान है और इसकी सशक्त क्रियासे लाभान्वित होनेके लिये श्रद्धा एव विश्वासके साथ इसकी ओर झुकना ही पर्याप्त है। कृपा सबके लिये एक समान प्राप्य है, पर प्रत्येक व्यक्ति अपने भावके अनुसार इसे ग्रहण करता है। यह बाहरी परिस्थितियोंपर निर्भर न करके सच्ची अभीप्सा और उद्‌घाटनपर निर्भर करती है।

जो लोग किसी भौतिकवादी झुकावसे प्रभावित नहीं हुए हैं, जिनका अन्तःकरण कामनाओंकी कालिमासे नितान्त अछूता है और जिनका हृदय आध्यात्मिक रहस्योंके प्रति सूक्ष्मतया ग्रहणशील है, वे जीवनके घटना-चक्रोंमें कृपाकी रहस्यमयी क्रियाका कुछ बोध कर सकते हैं, किंतु जो लोग आध्यात्मिक जीवनका, प्रधानतया योग-जीवनका, अनुसरण करते हैं, वे तो इस ठोस तथ्यको जानते ही होंगे कि बाह्य रूपोंके पीछे विद्यमान यह अनन्त, आश्चर्यमयी सर्वशक्तिमयी कृपा प्रत्येक वस्तुको सुसंगठित और व्यवस्थित करती है और हमलोगोंके चाहने अथवा न चाहने, जानने अथवा न जाननेपर भी हमलोगोंको चरम लक्ष्यकी ओर ही ले जा रही है। यह संसारमें आसक्त हुए हमलोगोंको विकास-मार्गपर आरूढ रख रही है। जब हमलोग बहककर भटक जाते हैं, हमारी अन्तर्दृष्टि मलिन पड़ जाती है और हृदयकी अग्नि मन्द पड़ जाती है, तब भी कृपाशक्ति हमें सुदूर प्रकाशकी ओर संकेत करती रहती है और हमारे कानोंमें कहती रहती है—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥' (गीता १८। ६६)—मैं तुझे सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगी, तू शोक मत कर। जब हम किसी उत्तेजनापूर्ण इच्छासे उद्वेलित हो अथवा किसी वासना या भ्रान्तिसे अंधे होकर भागवत-संकल्पके विरुद्ध विद्रोह करते हैं, तब अनिष्ट एवं विपत्तिद्वारा कृपा हमारा मार्गदर्शन करती है और तीव्र वेदनाके द्वारा हमें सजग करती है, जिससे इच्छा या भ्रान्ति पीड़ाकी अग्निमें जलकर विलीन हो जाय और हमलोग पुनः भगवान्‌की प्रसारित भुजाओंकी ओर मुड़ सकें। यदि कृपाका चाप हमारी सत्ताके वक्र और निर्बल भागोंपर कभी-कभी बोझरूप और पीड़ामय हो जाता है तो यह केवल भगवान्‌के 'भार' (Divine's yoke) को सहन करनेके हेतु हमें पर्याप्त सबल एव सीधा बनानेके लिये ही होता है।

वस्तुओंके सम्बन्धमें हमारा मूल्याङ्कन अत्यन्त छिछला और अज्ञानमूलक होता है। जिसे हम भला-बुरा, शुभ-अशुभ, प्रसन्न-विपन्न अथवा सहायक-बाधक मानते हैं, वह सब दयालु विधाताके कामकी ही वस्तु है, जिसका वे प्रत्येक जीवके चरम कल्याणके लिये उपयोग करते हैं। भगवान् सौभाग्यकी ही तरह दुर्भाग्यका भी उपयोग उतनी ही स्पष्टदर्शिनी कृपाके साथ करते हैं। यदि आवश्यक हो तो जीवको अज्ञान-जालसे निकालनेके लिये वे विपत्ति एवं मृत्युका उपयोग करनेमें भी नहीं हिचकते। जब एक बार हमारी आँखें भगवत्कृपाकी सतत उपस्थिति एवं हस्तक्षेपके रहस्यकी ओर पूर्णरूपसे खुल जाती हैं, तब हम अपने जीवनकी परिस्थितियोंके सम्बन्धमें शिकायत नहीं करते, अपितु उन सबमें उन्हीं सर्वप्रेमीके हाथ पाकर कृतार्थ होते रहते हैं, जो हमें निर्भ्रान्त और अमोघरूपसे अपनी ओर, अपने शाश्वत सामञ्जस्य तथा आनन्दकी ओर ले जा रहे हैं। यही है हमारे लक्ष्यकी चरम परिपूर्णता।

यदि हम सचमुच ही तीव्र अभीप्साकी अवस्थामें हैं तो कोई भी ऐसी परिस्थिति नहीं है, जो हमारी अभीप्साकी सफलतामें सहायता न करे। सभी हमारी मदद करेंगे। अखण्ड और निरपेक्ष चेतन सत्ताने सभी वस्तुओंको हमारे चारों ओर व्यवस्थित किया है और हम अपनी अज्ञानावस्थामें इसे न पहचानकर सर्वप्रथम इनका विरोध भी कर सकते हैं, कष्टकी शिकायत भी कर सकते हैं और उन्हें बदल देनेके लिये जी-तोड़ प्रयत्न भी कर सकते हैं; किंतु जब हम अपने और घटनाके बीच थोड़ी दूरी रखकर अधिक विचार करते हैं, तब स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारी निर्धारित प्रगतिके लिये यह नितान्त आवश्यक था। शुभ संकल्प ही हमारे चारों ओर सब कुछ रचता है। वह विश्वात्मा ही हमारे जीवनकी व्यवस्था और संचालन कर रहा है, न कि अन्य संयोग अथवा आकस्मिक घटनाओंका अज्ञात चक्र।

अपने आध्यात्मिक जीवनमें सदा ही हम अधिकाधिक आश्चर्य और कृतज्ञताके साथ निरीक्षण करते हैं कि कैसे हमें अनुभूतियाँ मिलती हैं, कैसे हमारी चेतनापरसे एकके बाद दूसरा पर्दा हटता जाता है। हमारी दृष्टिके समक्ष सत्यका क्रमशः उच्चतर स्वरूप प्रकट होता जाता है, अन्धकारका जमा हुआ ढेर बात-की-बातमें ऐसे दूर हो जाता है, मानो ये सब जादूके खेल हों? जो हम व्यक्तिगत कठोर श्रम, अनुशासन और प्रार्थनासे नहीं प्राप्त कर सकते, वह अचानक ही केवल कृपासे हमें प्राप्त हो जाता है। हमें पता भी नहीं लगता कि यह प्रकाशमय संकेत कहाँसे आ मिला, यह निश्चित आवश्यक स्थिति कैसे स्थापित हो गयी, किसी हठी समस्याके लिये कैसे यह एक नया समाधान सूझ गया। हमें स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैसे अवरोधी कठिनाई हमारे रास्तेसे दूर फेंक दी गयी और हमारी दृष्टिके समक्ष एक महिमान्वित दीप्तिमान् क्षितिज प्रकट हो गया हो। जब हम अपनेको भ्रान्त और निराश्रित अनुभव करते हैं और आगे बढ़नेका रास्ता नहीं देख पाते, अचानक ही हमारे अंदर एक दिव्य प्रकाश-किरण उद्भूत हो जाती है और एक अनजानी शक्ति हमें भयावने जंगलसे बाहर निकाल ले जाती है। अतएव किसी भी काल, परिस्थिति या घटनामें हमें विषादयुक्त अथवा आशाहीन होनेकी आवश्यकता नहीं है। कृपाके आशीर्वादस्वरूप प्राप्त व्यथाका प्रत्येक आघात परमानन्दकी ओर पदारोहणमें सहायक सिद्ध होता है। एक नेत्र है, जो अपनी प्रेमभरी सावधानीसे निद्रारहित रहता है और भुजा है, जो सहायता और आराम देनेमें क्लान्तिरहित है, इसी प्रकार हमें निरन्तर सजग और उत्साहसे परिपूर्ण रहना चाहिये। नष्टप्राय अनुभव करना तो मानो ईश्वरको अस्वीकार करना तथा उनकी कृपाको दूर हटाना है।

भगवत्कृपाके सामने कौन अधिकारी है और कौन अनधिकारी! सब कोई उन एक ही कृपा-अम्बाकी संतानें हैं। उनका प्रेम सब किसीपर एक-सरीखा बरस रहा है; परंतु हर एकको वे उसकी प्रकृति और ग्रहण-सामर्थ्यके अनुसार परिस्थिति, संयोग आदि देती हैं।

किंतु कृपा-माँका पूर्ण वात्सल्य प्राप्त करनेके लिये हमें उसकी सर्वोच्च प्रज्ञामें ऐकान्तिक विश्वास करना होगा, आत्मसमर्पणका उच्चतम आदर्श स्थापित करना होगा; क्योंकि माँ हमारे कल्याणके विषयमें सर्वाधिक जानती है। यदि अभीप्सा उसको अर्पित की जाय और अर्पण सचमुच पर्याप्त श्रद्धा एवं उत्कण्ठाके साथ किया जाय तो परिणाम आश्चर्यजनक होगा।

भगवत्कृपाकी सहायता प्राप्त करनेके लिये पवित्रता, अकल्मषमें आत्मदान और सहज श्रद्धा-विश्वास—ये तीन मुख्य शर्तें हैं। श्रद्धा न रखना मानो कृपाके विरुद्ध अपनी सत्ताका दरवाजा बंद कर देना है। भगवत्कृपा सदैव कल्याण-कार्य करनेके लिये तैयार है, पर हमें इसे ऐसा करनेका मौका देना चाहिये। कम-से-कम इसके कार्यमें अवरोध नहीं पैदा करना चाहिये। आत्मदान न करनेसे हम अहंकाररूप अज्ञानमें असहायभावसे आबद्ध रह जाते हैं। आत्मदानसे पवित्रता आती है और पवित्रतासे कृपाका कार्य निश्चितरूपसे सरल हो जाता है। हम अपने-आपको पूर्णरूपसे भगवान्‌को सौंप दें, तभी हम भली प्रकारसे भगवत्कृपाको प्राप्त कर सकेंगे।

विश्व-प्रकृतिकी गतियोंपर कठोर तर्कसंगत नियन्तृत्व 'न्याय' कहलाता है। परिस्थितिका अज्ञात विधान, कारणकी रूढ़िगत विधि और परिणाम—इन तीनोंसे वैश्व शक्तियोंकी क्रियाएँ शासित होती हैं। बुद्धदेवके कथनानुसार इसमें न तो कोई अपवाद है, न कोई बचनेका छिद्र। जैसा कोई बोता है,

वैसा ही काटता भी है। अपने कर्मके स्वाभाविक एवं अनिवार्य परिणामोंसे छूटनेका कोई उपाय नहीं है। केवल भगवत्कृपामें ही यह शक्ति है कि वह इस विश्वव्यापी न्यायके कार्यमें हस्तक्षेप करके उसके क्रमको बदल सके। विश्व-प्रकृतिके नियन्तृत्वका अतिक्रमण करनेका अधिकारपूर्ण स्वातन्त्र्य कृपाको ही है; क्योंकि यह प्रकृतिकी परिधिके बाहरसे ही कार्य करती है—इसका एकाधिपत्य इसकी सर्वसमावेशकारिणी परात्परतामें ही निहित है। इसकी स्वतन्त्रताका तात्पर्य उच्छृङ्खल स्वेच्छाचारिता नहीं है, वरं यह प्रेमकी सर्ववेत्ता प्रज्ञाकी एकाधिपत्य स्वतन्त्रता है। विश्व-न्याय तो इस प्रेमका बहिर्गत अंग अर्थात् अस्थिर जगत् व्यापारमें यान्त्रिक क्रियामात्र है। एक बार श्रीमाँने कृपाकार्यको एक उदाहरणद्वारा यों समझाया था—'कोई मनुष्य सीढीसे नीचे उतर रहा है, एक स्थानच्युत खपड़ा ठीक उसके सिरपर गिरनेवाला ही है। आकर्षणके नियमानुसार वह खपड़ा गिरेगा और उसके सिरको क्षति पहुँचायेगा ही; किंतु आश्चर्य, अचानक ही उसके पीछेसे एक हाथ आगे बढ़ आता है और खपड़ेको पकड़ लेता है। अतः वह मनुष्य बच गया। उसके पीछेसे किसी व्यक्तिका यों हस्तक्षेप करना ही कृपाका-हस्तक्षेप है, जो प्रकृतिके कठोर नियन्तृत्वको उड़ा देता है।'

अनुग्रहमूर्ति माँ! तेरी कृपाके लगातार हस्तक्षेपके बिना ऐसा कौन था, जो इस विश्वव्यापी न्यायके छुरेकी निर्दय धारके नीचे न आया होता!

हमें एकमात्र भगवत्-कृपाके लिये ही प्रार्थना करनी चाहिये। एक बार जब हमने अपनेको कृपाके प्रति समर्पित कर दिया, तब जो कुछ वह निर्णय करे, उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिये और जो कुछ हमपर घटित हो, चाहे हमारी मानसिक धारणाके अनुसार शुभ या अशुभ, इष्ट या अनिष्ट कुछ भी क्यों न हो, उन सबमें कृपाके पवित्र सङ्कल्पको ही अनुभव करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। हर वस्तुको, हर परिस्थितिको भगवान्‌की देन, भगवत्कृपा और पूर्ण सामञ्जस्यका परिणाम मान लें तो यह हमें अधिक सचेतन, बलशाली और सुखी बनानेमें सहयोग करती है, यही युक्त-वृत्ति है। यदि इस युक्त-वृत्तिको धारण कर लें तो हम समस्त घटनाओंसे लाभ उठा सकेंगे; क्योंकि माँ कृपाके प्रति श्रद्धा और विश्वास उन्हें हमारे अंदर और ऊपर सरलतासे और स्वतन्त्रतासे कार्य करने देंगे। अपने रहस्यमय स्पर्शके द्वारा पदार्थोंको निखारमें तथा दुर्भाग्यको परम भाग्यमें बदल देंगे। यही सारे जगत्‌के आध्यात्मिक जिज्ञासुओंकी विद्यमान अनुभूति है। किंतु दूसरी ओर, यदि हम सभी वस्तुओं, सभी परिस्थितियोंको हमें हानि पहुँचानेवाली अशुभ शक्ति-स्वरूप भाग्यप्रदत्त विपत्ति मान लें तो यह हमें क्षीण, क्षुब्ध और भारी बना देगी; हमारी चेतना, बल और सामञ्जस्यको हर लेगी। यहाँपर प्रह्लादका शास्त्रीय उदाहरण सर्वथा उपयुक्त है; कृपापर उसकी ऐकान्तिक निर्भरता थी, कृपाने उसे सभी परीक्षाओंमेंसे सुरक्षित निकाल लिया। संदेह या शङ्का तो कृपाके कार्य-मार्गका बाधक है। सरल एवं प्रश्नातीत श्रद्धा विश्वास ही सभी कठिनाइयोंके विरुद्ध सर्वोत्तम रक्षक है। जो लोग अभीप्सा करते हैं, उनके लिये कृपा और सहायता सदा विद्यमान है और श्रद्धा विश्वासके साथ ग्रहण करनेपर उनकी शक्ति असीम हो जाती है। यदि कृपाका उत्तर शीघ्रतर नहीं आता हो तो हमें विश्वासपूर्ण अनन्त धैर्यके साथ प्रतीक्षा करनी चाहिये तथा मन या प्राणको विचलित नहीं होने देना चाहिये। धैर्य और अध्यवसाय होनेपर सभी प्रार्थनाएँ पूरी हो जाती हैं। भगवान्‌की कृपाशक्ति, संकल्पशक्ति और क्रियापर पूर्ण श्रद्धा बनाये रखनेसे सभी कुछ ठीक हो जाता है। इस युक्त-वृत्तिसे एक क्षणके लिये भी गिर जानेपर कृपा-कार्यमें रुकावट या देर हो सकती है। भगवत्कृपामें सम्पूर्ण और अडिग विश्वास ही सर्वाङ्गसिद्धिके लिये अचूक उपाय है।
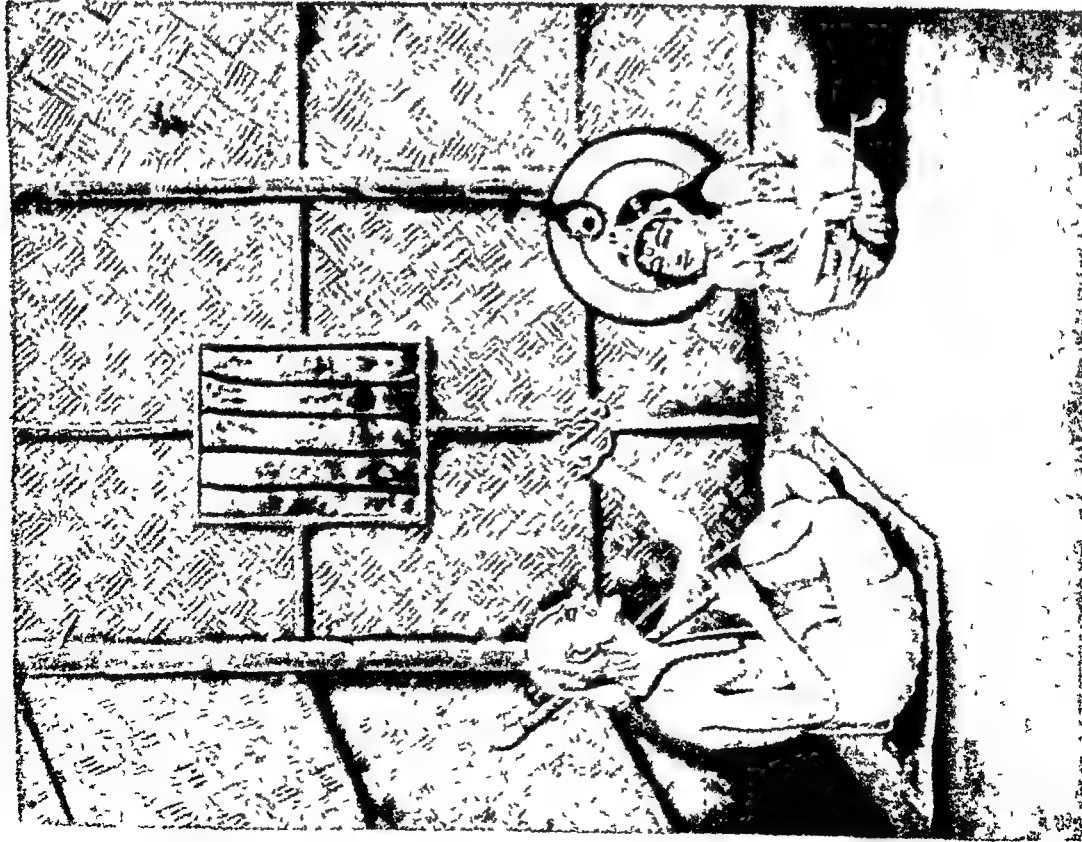
भक्त सूरदासपर कृपा
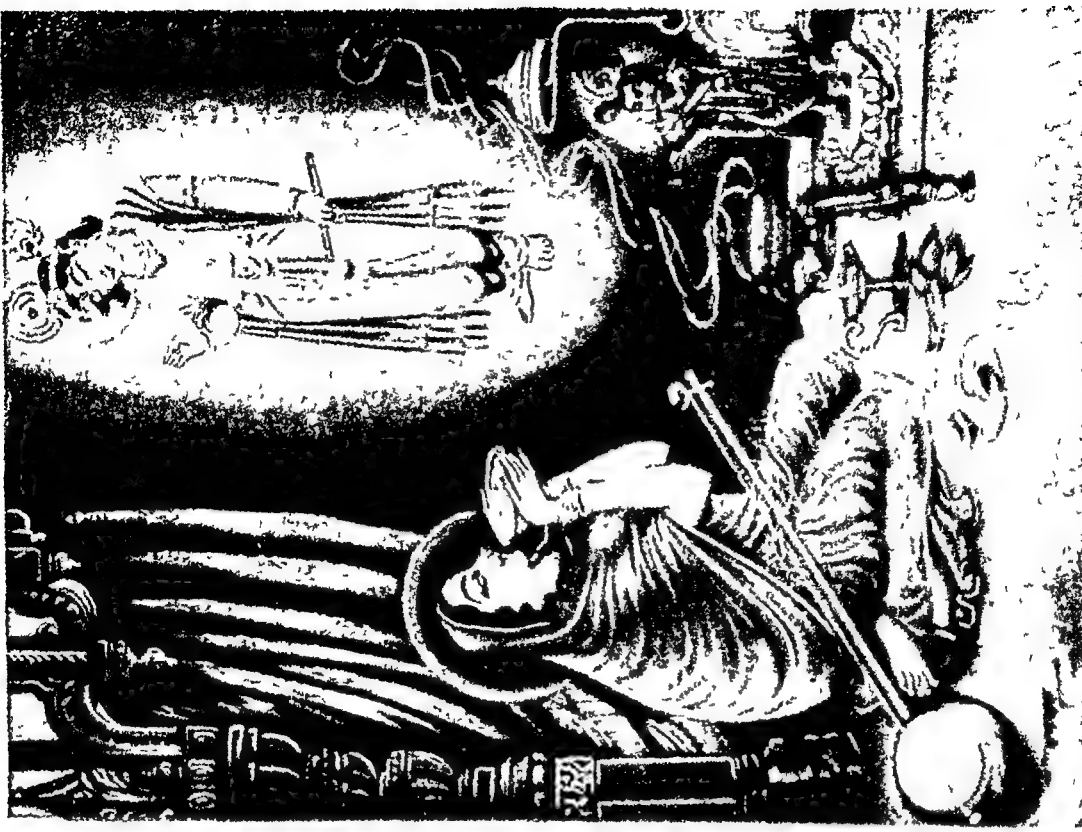
भक्तिमती मीरापर कृपा

भगवत्कृपाकी अनुभूति

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी)

‘भगवान्‌की कृपा’ कहनेसे सामान्यतः यही समझमें आता है कि भगवान् पृथक् हैं और उनकी कृपा कोई अन्य वस्तु या शक्ति है। पर बात वस्तुतः ऐसी नहीं है। जैसे शीतल चाँदनी और चन्द्र दो कहलानेपर भी एक ही हैं, इसी तरह भगवान् और भगवत्कृपा अभिन्न हैं, दोनों स्वरूपतः एक हैं।

जो लोग अद्वैतवादी हैं, उनके मतसे ‘ब्रह्म’ ही एकमेवाद्वितीय है। ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है, ‘नेह नानास्ति किंचन।’ (कठ० २ । १ । ११) वे जगत् और जागतिक व्यापारको ब्रह्मकी शक्तिविशेष—प्रकृति अथवा मायाका कार्य मानते हैं। इसी शक्तिविशेषके द्वारा वह ‘एकमेवाद्वितीयम्’ (छान्दो० ६ । २ । १) ब्रह्म एकसे अनेक होता है, चराचरात्मक अनन्त विश्व-व्यापारमें परिणत हो जाता है। किसलिये ? ‘लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।’ (ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३३)—आनन्दके लिये—केवल लीलाके लिये। जैसे लोकमें लीलाका आनन्द लेनेके लिये लोग अभिनय करते हैं—हैं कुछ और, बन जाते हैं कुछ और। गोस्वामीजी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
(मानस ७ । ११६ । १-२)

ब्रह्म एकसे अनेक होकर (लीला) अभिनय करता है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(७ । १४)

‘मेरी इस त्रिगुणमयी दैवी मायाका पार पाना बहुत कठिन है। जो मेरे शरणापन्न होते हैं, वे ही इस मायाको पार कर सकते हैं।’ प्रश्न है, क्या मायाके वशीभूत हुआ जीव भगवान्‌के शरणापन्न हो सकता है ? मायासे मुक्त हुए बिना भगवच्छरणागति कैसे प्राप्त होगी ? यह अन्योन्याश्रय जाल-जैसा लगता है; परंतु इसका भी उपाय है और वह है—भगवत्कृपा।

भगवत्कृपासे ही शरणागतिकी प्राप्ति होती है और जीव मायामुक्त भी हो जाता है। भगवत्कृपासे ही पावन भजनकी प्रवृत्ति सहज सुलभ होती है। गीतामें भजन करनेकी चार विधियाँ बतलायी गयी हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
(७ । १६)

पुण्यात्मा जीव चार प्रकारसे भगवान्‌का भजन करते हैं। एक तो वह जो आर्त होकर भगवान्‌के सामने अपना दुःख सुनाता है—मेरा उद्धार करो, प्रभो!—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
(विनय० ७९ । १)

दूसरा वह जो जिज्ञासु होकर भगवत्तत्त्व, भगवान्‌के रूप गुण-लीलाको जानना चाहता है। तीसरा अभावग्रस्त होकर भगवान्‌से अभाव दूर करनेकी याचना करता है, अर्थार्थी बनता है, अपनी अन्यान्य कामनाओंकी पूर्तिके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करता है। चौथा एकमेवाद्वितीयस्वरूप अपने इष्टदेवमें लीन हो तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकी साधना करता है, जो उसके भजनकी चरम सीमा है।

प्राप्त तो अप्राप्त वस्तुको किया जाता है—तो क्या भगवत्कृपा अप्राप्त है ? इसका उत्तर यह है कि भगवान् और उनकी कृपामें अविनाभाव-सम्बन्ध है। जहाँ भगवान् हैं, वहीं उनकी कृपा है। भगवान् कण-कणमें व्याप्त हैं, अखिल विश्व-ब्रह्माण्डके भीतर और बाहर सर्वत्र हैं, इस दृष्टिसे उनकी कृपा भी सर्वत्र व्याप्त है। भगवान् और भगवान्‌की शक्ति, प्रकृति या माया—सब भगवत्कृपामय हैं। अवतारका हेतु भी कृपा ही है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४ । ७-८)

‘भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ; क्योंकि साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म-स्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ।’

भगवान्‌की [illegible] अपना [illegible] अवतार धारण करती है और साधुओंका परित्राण करके धर्मकी स्थापना करती है। इतना ही नहीं, दुष्टोंका नाश करके उनके अपराधोंके बदलेमें भी कृपा [illegible] ही होती है। अतएव उत्पत्ति और विनाश—दोनों ही कृपाशक्तिकी लीला है। इसे [illegible]

विश्व-ब्रह्माण्डका संचालन कृपाशक्तिकी ही महिमाको प्रकट करता है। यह कृपाशक्ति अनन्त रूप धारण करके विश्वका कल्याण कर रही है। सूर्यमें यही दीप्तिरूप है तथा विश्वमें सबको समान रूपसे प्रकाश और ऊष्मा प्रदान करके जीवन-दान करते रहना भी इसीका सत्कार्य है।

भगवत्कृपाकी महिमा अपरम्पार है। ब्रह्मसूत्रमें कहा है—'जन्माद्यस्य यतः' (१ । १ । २) "इस विश्व-ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश जिससे होता है, वह 'ब्रह्म' है।" वस्तुतः उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकी शक्ति भागवती कृपाकी ही प्रतीक है। कृपा ही सर्जन करती है, वही पालन और संहार भी करती है।

तत्त्वकी दृष्टिसे कृपाशक्तिकी कृति समझमें आती है, परंतु अनेक प्राणियोंको इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति क्यों नहीं होती? घट-घटमें व्याप्त यह चेतन कृपाशक्ति सारे प्राकृतिक व्यापारोंका संचालन करती है, कठपुतलीके समान सबको नचाती रहती है। उसी चेतन शक्तिके सम्पर्कका सही मार्ग न जान पानेके कारण उसे प्राप्त करनेके लिये व्याकुल यह पाञ्चभौतिक पुतला उन्नति-अवनति, यश-अपयश आदि नाना भूमिकाओंमें नाचता रहता है, हर्ष-शोक, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंका भागी बनता है।

जीवको कृपाकी अनुभूति तो होती है, परंतु जबतक उसको कर्तृत्वका अभिमान रहता है, वह मायाके पाशमें आबद्ध रहता है। यद्यपि वह भगवत्कृपाके ही सहारे जीता है, तथापि माया—अहंकारगत विमूढता उसे कृपाकी प्रत्यक्ष शीतल अनुभूतिसे दूर रखती है। गीता भी कहती है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥
(३ । २७)

'सारे कर्म प्रकृतिके गुणोंके द्वारा किये हुए हैं, तो भी अहंकारसे विमूढ अन्तःकरणवाला पुरुष मैं कर्ता हूँ—ऐसे मान लेता है।'

जबतक जीव अपनेको कर्ता समझता है, तबतक वह भगवत्कृपाका रसास्वादन नहीं कर सकता। भगवत्कृपाकी अनुभूतिसे दूर रहनेके कारण ही उसे मायाकृत सुख-दुःख, मानापमानादिका भोग भोगना पड़ता है। यह भी भगवत्कृपा-का एक आश्चर्यमय स्वरूप है। जब वह भगवच्छरणापन्न हो जाता है तो उसकी जीवनधाराका स्रोत भगवान्-की ओर मुड़ जाता है और वह उनकी कृपाकी प्रत्यक्ष अनुभूति करने लगता है। साधनमें भय-प्रलोभनादि सामने आते रहते हैं, पर भगवान् स्वयं कहते हैं—'मेरे परायण हुआ भक्त तो मेरी कृपासे सनातन अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है। मेरी कृपासे मेरे आश्रित रहनेवाला पुरुष समस्त संकटों (चाहे व्यावहारिक संकट हो—अथवा पारमार्थिक)से अनायास ही पार हो जायगा, यदि तू (हे अर्जुन!) अहंकारके कारण मेरी (कृपाकी) बातको नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा।' विचित्र सुहृदताभरे वचन हैं—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥
(गीता १८ । ५६, ५८)

भगवान्के आवाहनभरे आश्वासनको नहीं माननेसे ही यह जीव त्रितापानलमें जल रहा है—देवदुर्लभ मानव-शरीर और भगवान्की अनुकूलता (अनुग्रहप्राप्ति)का स्वर्ण-अवसर भगवत्कृपासे ही मिला है। हमें सावधानीसे इसका सदुपयोग कर लेना चाहिये—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । १७)

'यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी मेरी कृपासे अनायास ही सुलभ हो गया है। इस संसार-सागरसे पार जानेके लिये यह एक सुदृढ़ नौका है। मेरी शरण ग्रहण करनेमात्रसे गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका संचालन करने लगते हैं। स्मरणमात्रसे ही मैं अनुकूल (कृपा-) वायुके रूपमें इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा संसार-सागरसे पार नहीं हो जाता, वह तो अपने हाथों अपने आत्माका हनन—अधःपतन कर रहा है।'

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केन० २ । ५)

'यदि इस जन्ममें ब्रह्मको जान लिया, तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममें न जाना, तब तो बड़ी भारी हानि है। बुद्धिमान् लोग उसे समस्त प्राणियोंमें उपलब्ध करके इस लोकसे जाकर (मरकर) अमर हो जाते हैं।'

भगवत्कृपाके पर्याय

(लेखक—डॉ० श्रीसियारामजी 'प्रवर' एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न)

समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यके समाहारस्वरूप भगवान्की कृपा 'भगवत्कृपा' है। अतः भगवत्कृपा भक्तको भी किसी अंशमें उपर्युक्त षाड्गुण्यसे समुपेत करती ही है। 'क्रप्' धातुका सम्प्रसारण 'कृप्' है, उसमें 'अङ्' और 'टाप्' का योग होनेपर 'कृपा' शब्द निष्पन्न होता है। इसे 'कृ' और 'पा' धातुओंका यौगिक रूप भी मान सकते हैं। उस दशामें कृपाके अर्थमें 'भगवान्का अपने विरदकी रक्षा करना' या 'भक्तका पालन करना'—ये भाव भी समाविष्ट हो जाते हैं। 'भगवद्गुणदर्पण'में 'कृपा'की जो व्याख्या की गयी है, उसमें भगवान्का अपने सामर्थ्यके अनुसंधानके साथ समस्त प्राणियोंकी रक्षाका भाव मुख्यतः परिगणित है। अब हम यहाँ भगवत्कृपाके पर्यायोंपर संक्षेपमें विचार करेंगे।

करुणा, दया, अनुकम्पा, अनुक्रोश, शूक, अनुग्रह, छोह, प्रसाद, अनुकूलता, शरण, अवलम्बन आदि शब्द 'कृपा'के पर्याय हैं। उर्दूका रहम शब्द भी इसी अर्थमें प्रयुक्त होता है। ये शब्द एकार्थी नहीं, समानार्थी हैं। इनके अर्थोंमें कुछ अंशोंमें समानता और कुछ अंशोंमें थोड़ी भिन्नता भी है। ये एक-दूसरेके स्थानपर भी प्रयुक्त हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—दया, अनुकम्पा और करुणा प्रायः एक ही भावमें ग्रहण कर लिये जाते हैं। दया और कृपाको भी अधिकतर एकार्थीके रूपमें प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। 'रहम' शब्द दया और अनुकम्पाका पर्याय है। भगवान् दया अर्थात् रहम करते हैं, अतः वे रहीम हैं। 'नेवाज' शब्दका अपभ्रंश 'निवाज' हो गया है। 'गरीबनिवाज' एक बहुप्रचलित विशेषण है, जो दीनदयालु या भगवान्के लिये भी प्रयुक्त होता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी इस शब्दको ग्रहण किया है—

नाथ गरीबनिवाज हैं।   (विनयप० १४८।५)

तथा—

सोऊ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजा रामु रे॥

(विनयप० ७१)

दया या करुणाके अर्थमें 'घृणा' शब्दका प्रयोग भी संस्कृतमें मिलता है;[1] किंतु हिंदीमें इसका इस अर्थमें व्यवहार कहीं दिखायी नहीं देता। 'घृ सेके' धातुसे बने 'घृणा' शब्दका अर्थ है—'घ्रियते सिच्यते हृदयमनया, दयारसेन हि हृदयं सिक्तमिवार्द्रं भवतीति घृणा।' 'घृ'का अर्थ सींचना है। जो हृदयको सींचे, वह 'घृणा' (करुणा) है।

करुणा—

'कृ' धातुमें 'उनन्' और 'टाप्'के योगसे 'करुणा' शब्द बना है। 'परदुःखहानेच्छा'—पर-दुःख-निवारण करनेकी इच्छा इसका अर्थ है। यही तो दया या अनुकम्पा है। करुणा एक शाश्वत मानवीय भावशक्ति है।[2] कालिदासने रघुवंशमें मृत्युको करुणा-विमुख कहा है;[3] और मेघदूतमें करुणावृत्ति वालोंके आत्माकी आर्द्रता प्रकट की गयी है।[4]

'भगवद्गुणदर्पण'के चौथे परिच्छेदमें करुणाकी व्याख्या इन शब्दोंमें हुई है—

आश्रितार्त्यंग्निमहिम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः।
अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद् द्रवत्॥
कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्तिनिवारणम्।
इतीच्छा दुःखदुःखित्वमार्त्तानां रक्षणत्वरा॥
परदुःखानुसंधानाद् विह्वलीभवनं विभोः।
कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः॥

'रक्षक भगवान्का हृदय अत्यन्त मृदुल है, इसी कारण वह आश्रित जनोंकी दुःखाग्निकी ज्वालासे द्रवित हो जाता है और अश्रुपात आदिके रूपमें बाहर फूट निकलता है। फिर तो वे अकुला उठते हैं कि इन आश्रितोंका कष्टनिवारण मैं

---

१. मन्दमस्यन्निपुलर्नां घृणया मुनिरेष वः। प्रणुदत्यागतावज्ञं जघनेषु पशूनिव॥

(किरातार्जुनीयम् १५। १३)

२ स्कन्दपुराणके काशीखण्डमें करुणाको कान्ता और दयास्वरूपा कहा है—'कूटस्था करुणा कान्ता कूर्मयाना कलावती।' इसकी टीकामें कहा है—'करुणा दयास्वरूपा।'

३ करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥   (रघुवंश ८। ६७)

४ प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा॥   (मेघदूत, उत्तर० १०)

कब और किस प्रकार करूँ ? उनकी यह इच्छा और आर्तोंके परित्राणकी त्वरा ही परदुःखदुःखित्व है । सर्वव्यापक प्रभुका परदुःखके अनुसंधानसे विह्वल हो जाना उनका करुणा-गुण है, जो आर्तोंके भयका निवारक है ।'

गोस्वामी तुलसीदासजीने करुणा-गुणकी इन विशेषताओंको अत्यन्त संक्षेपमे इस प्रकार कह दिया है—

करुनामय रघुनाथ गोसाँई । बेगि पाइअहिं पीर पराई ॥
(मानस २ । ८४ । १)

महर्षि शाण्डिल्यने भगवान्‌का मुख्य गुण करुणा ही माना है—

मुख्यं तस्य हि कारुण्यम् ॥ (शां० भक्तिसूत्र ४९)

यहाँतक कि परम करुणामय भगवान्‌ने शिवरूपमें विश्वहितार्थ विष-पानतक कर लिया—

पान कियो बिषु, भूषन भो,
करुनावरुनालय साइँ हियो है ॥
(कवितावली ७ । १५७)

दीनोंपर उनका स्नेह और कारुण्य इतना प्रबल है कि वे उनकी आर्त्ति क्षणभर भी नहीं देख सकते—

सकत न देखि दीन कर जोरें ॥ (विनयप० ६ । २)

इससे स्पष्ट है कि जब भगवान् जीवके दुःखको देखकर विह्वल हो जाते हैं और उसे शीघ्रातिशीघ्र दूर करनेके लिये तत्पर रहते हैं, तब भला, वे भक्तपर क्रोध कैसे कर सकते हैं ? गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

जेहि जन पर ममता अति छोहू । जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू ॥
(मानस १ । १२ । ३)

शास्त्र-वचन है कि शिशुके लालन-कर्मके क्रममे यदि माता उसका ताड़न भी कर देती है तो वह उसका अकारुण्य नहीं कहा जाता, उसी प्रकार गुण-दोषोंके नियन्ता भगवान्‌का दण्ड-विधान भी अकरुण नहीं है—

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके ।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः ॥

भगवान् श्रीराम करुणासुखसागर हैं । सेवक-हित-कारित उनका विरद है । वे अपने जनके गुणोंको ग्रहण करते हैं और दोषोंका दलन । उनकी जितनी तत्परता भक्तके गर्व-तरुके उन्मूलनमें है, उतनी ही उन्हें वर देनेमें भी होती है—

जन गुनगाहक राम दोषदलन करुनायतन ॥
(मानस १ । ३३६)

करुनानिधि मन दीख बिचारी । उर अंकुरेउ गरब तरु भारी ॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी । पन हमार सेवक हितकारी ॥
(मानस १ । १२८ । २-३)

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे ।
बिहसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन ॥
(मानस २ । १००)

बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ ॥
(मानस २ । १०२)

जहाँ उन्हें प्रीतिका अंशमात्र भी दिखायी पड़ा, वहीं वे भक्तकी अभिलाषा-पूर्तिके लिये 'एवमस्तु' कह देते हैं—

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले । एवमस्तु करुनानिधि बोले ॥
(मानस १ । १४९ । १)

एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ । (मानस १ । १५० । ४)

दया—

दय्+अङ्+टाप्—इति दया । 'दय्' धातुके अर्थ हैं—सहानुभूति प्रदर्शित करना, पसंद करना, प्यार करना, रक्षा करना, देना, बाँटना, जाना आदि । दयामें इन सब भावोंका समावेश रहता है । किसीको कष्टापन्न या दुःखदग्ध देखकर द्रवितचित्त होकर उसकी सहायताके लिये अपना सर्वस्व लगा देनेको तत्पर हो जाना 'दया-भाव' कहलाता है । इस भावमें स्वार्थका स्पर्शतक नहीं रहता—

दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न कारणम् ॥
(भ० गु० द० परि० १)

'दया' दूसरोंके दुःख, खेद, संशय आदिको देखकर उत्पन्न होती है । दयाका मुख्य आधार चित्तकी कोमलता है—

कोमलचित दीनन्ह पर दाया ॥ (मानस ७ । ३७ । २)

दयामें ऐसे दिव्य गुणोंकी अवस्थितिके कारण ही आध्यात्मिक गुणोंमे इसका इतना उच्च स्थान है । शाक्त-मतमें जो शक्तियोंके विभिन्न रूप बताये गये हैं, उनमें 'दया' अन्यतम है—

श्रद्धा मेधा स्वधा स्वाहा क्षुधा निद्रा दया गतिः ॥
संस्थिताः सर्वतः पार्श्वे महादेव्याः पृथक् पृथक् ।
(देवीभागवत १ । १५ । ६०-६१)

अर्थात् भगवती महादेवीके पार्श्वभागमें श्रद्धा, मेधा, स्वधा, स्वाहा, क्षुधा, निद्रा, दया और गति—ये सभी ओरसे पृथक्-पृथक् संस्थित रहती हैं।

'भगवद्गुणदर्पण'के प्रथम परिच्छेदमें भगवान्‌के दया-गुणका व्याख्यान इन शब्दोंमें हुआ है—

'प्रतिकूलानुकूलोदासीनसर्वचेतनाचेतनवस्तुविषयस्वरूप-सत्त्वोपलम्भनरूपपालनानुगुणव्यापारविशेषो हि भगवतो दया।'

अर्थात् प्रतिकूल और अनुकूलपर ध्यान न देकर चेतन और अचेतन सभीके अनुपालन करनेका भगवान्‌का स्व-व्यापारविशेष उनकी 'दया' है।

इस भावको गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं—

राम सुस्वामि कुसेवकु मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥
(मानस १। २७। २)

तथा—

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
(मानस १। २११)

बिनु कारन दीनदयाल हितं।
(मानस ६। ११०। छंद ६)

ऋषियोंके अस्थि-समूहको देखकर श्रीराम दयाद्रवित हो उठते हैं—

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥
(मानस ३। ८। ३)

इसीलिये भक्तगण श्रीसीताजीके स्वरमें प्रार्थना करते हैं—

दीन दयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥
(मानस ५। २६। २)

फिर भी भक्ति ऐसी अनुपम वस्तु है, जिससे भगवान् द्रवित हो जाते हैं और भक्तपर स्वयमेव दया करते हैं—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
(मानस ३। १५। १)

कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥ (मानस ३। १३। ४)

भगवान्‌की दया ही अतिशय प्रबल 'माया'से पिण्ड छुड़ा सकती है और मायाके परिवार—काम, क्रोध, लोभादि दूर कर सकती है। यही 'क्लेश', 'संकट' या 'भेददृष्टि'से जीव-का उद्धार होना है और यही 'कुशल' है—

अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥
(मानस ४। २०। १)

क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम कीं दाया॥
(मानस ३। ३८। २)

अब दीनदयाल दया करिए। मति मोरि बिभेदकरी हरिए॥
(मानस ६। ११०। छंद १०)

अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥
(मानस ५। ४५। ४)

जिसपर भगवान्‌की दया होती है, उसके योग-क्षेमका वहन भी वे ही करते हैं, जिससे वह विजयी, विनयी, गुणसागर और यशस्वी बन जाता है। अतः गोस्वामीजी-ने इसे 'शुभकुशल' माना है—

जामवंत कह सुनु रघुराया। जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया॥
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर॥
सोइ बिजई बिनई गुन सागर। तासु सुजसु त्रैलोक उजागर॥
(मानस ५। २९। १-२)

कृपा और दयाके अर्थोंमें सूक्ष्म अन्तर है। मार्दव भगवान्‌का सहज गुण है। उनका कोमल चित्त जब जनकी दीनताको लक्ष्य करके द्रवित होता है, तब उनका वह गुण 'दया' कहलाता है। 'दयालुता' भगवान्‌का स्वभाव है; उस स्वभावको क्रियामें ढालना उनकी 'कृपालुता' है। शिवभक्त शूद्रके गुरुजीकी शंकर-स्तुतिपर ध्यान देनेसे यह भेद स्पष्ट हो जायगा—

संकर दीनदयाल अब एहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होइ जेहिं नाथ थोरेहीं काल॥
(मानस ७। १०८ घ)

जेहिं उपाय पुनि पाय जनु देखै दीनदयाल।
सो सिख देइअ अवधि लगि कोसलपाल कृपाल॥
(मानस २। ३१३)

कृपामें स्नेहकी कोमलता लक्षित होती है और दयामें आर्द्रता। दयामें कोमलता अतिको पहुँच जाती है। कोमलतामें (मधुर) कृतित्व और (गर्व-) समत्व है, आर्द्रतामें (स्वचित्त-) अवशत्व और (जन-प्रति) निजत्व है।

दीनता देखकर द्रवित होनेका नाम 'दया' है, अतः दया विश्वात्माका जीव-सम्मुख है। किंतु अपने ही 'पन' अथवा 'बिरद'के संधानसे जब भगवान्‌के चित्तकी मृदुता भक्तको आत्मसात् करती है, तब वह 'कृपा' कही

जाती है। कृपालुताका यह भाव भगवान्का जीवस्वामित्व है, जो श्रीरामचरितमानसमें 'रघुराई' शब्दके द्वारा व्यक्त किया जाता है —

कोमलचित कृपाल रघुराई ॥ (मानस ५ । १३ । २)

सिव अज पूज्य चरन रघुराई । मो पर कृपा परम मृदुलाई ॥
(मानस ७ । १२३ । २)

अनुकम्पा —

अनु+कम्प+अ+टाप्—इति अनुकम्पा । 'गुरोश्च हलः' (पा० अ० ३ । ३ । १०३) इति 'अ'। उपर्युक्त प्रकारसे व्युत्पन्न अनुकम्पा शब्द पर-पीड़ा देखकर अत्यन्त विकल हो जानेका भाव प्रकट करता है। ऐसा व्यक्ति समवेदनाकी प्रबल प्रेरणासे दुःखीके दुःख-निवारणार्थ यथाशक्ति प्रयास करता है । अतः भगवद्गुणदर्पणके तीसरे परिच्छेदमें अनुकम्पाकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

रक्षिताश्रितभक्तानामनुरागसुखेच्छया ।
भूयोऽभीष्टप्रदानाय यच्च ताननुधावति ॥
अनुकम्पा गुणो ह्येष प्रपन्नप्रियगोचरः ॥

रक्षित एवं आश्रित भक्तोंपर अनुराग करने एवं उन्हें सुख पहुँचानेकी इच्छासे तथा उनकी अभीष्ट-पूर्तिके लिये जो उनपर द्रवित होना है, वह शरणागतोंका परम प्रिय गुण 'अनुकम्पा' कहलाता है। अनुकम्पाके विषयमें ध्यातव्य यह है कि यह पूर्वसे रक्षित और आश्रित भक्तपर ही होती है। शबरी और जटायुपर भगवदनुकम्पा प्रकट हुई थी ।

काव्यका 'कम्पसे नानुकम्पसे' वाक्य परपीड़ासे काँप जाना, अर्थात् अत्यन्त व्यथित हो जाना ध्वनित करता है।

गुरु या ऋषिके द्वारा शिष्योंको धर्मका उपदेश कर उन्हें उसका निश्चित ज्ञान करा देना भी 'अनुकम्पा' है—

ऋषेः शिष्यानुकम्पार्थं वदतो धर्मनिश्चयम् ॥
(मार्कण्डेयपुराण ३ । ५)

अनुक्रोश—

अनु+क्रुश+अ—इति अनुक्रोशः । 'हलश्च' (पा० अ० ३ । ३ ।१२१) इति घञ् । 'क्रुश' धातुके दो अर्थ हैं—रोना और बुलाना । किसी दुःखीकी पुकारपर व्यथित—व्याकुल हो जानेका भाव 'अनुक्रोश' कहलाता है। इसमें सौहार्द और संवेदना—दोनोंका संयोग रहता है । निम्नाङ्कित पङ्क्तिसे 'अनुक्रोश'के अर्थपर प्रकाश पड़ता है—

सौहार्दाद् वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या ॥
(मेघदूत, उ० ५२)

इस प्रकार अनुक्रोशका भाव अरबी शब्द 'रहम'के निकट है। रहममें इसके समान संवेदना तो है, किंतु ऐसा सौहार्द नहीं है। अनुक्रोश प्रधानतः चित्तकी मृदुलताको व्यक्त करता है। कोमलभावके साथ परहितवाञ्छा अनुक्रोश है। प्रतिमा-नाटकके पाँचवें अङ्कमें सीताजीके वचन—'तावदिमान् बालवृक्षान् उदकप्रदानेन अनुक्रोशयिष्यामि'—नवजात बाल-वृक्षोंको जलप्रदान मनोमार्दवकी ही व्यञ्जना करता है । अ० शा० तृ० अङ्कमें दुष्यन्तके वचन 'भगवन् कामदेव, न ते मय्यनुक्रोशः'में अनुक्रोश 'सहानुभूति'का और 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्'के तृतीय अङ्कमें दुष्यन्तके कथन 'न ते मां प्रत्यनुक्रोशः' में दयालुताका वाचक है।

शूक—

शूक शब्द 'शो तनूकरणे' धातुमें 'उलूकादयश्च' (उणा० ४ । ४०) सूत्रसे 'ऊक' प्रत्यय लगानेपर व्युत्पन्न होता है। 'शूक'का अर्थ है—'श्लक्ष्णतीक्ष्णाग्रभागः' । इससे अर्थ-विकास होकर अनुक्रोश, दया, करुणा, कृपाका भाव शूकमें समाहित हो गया है ।

अनुग्रह—

अनु+ग्रह+अ—इति अनुग्रहः । निग्रहका उलटा अनुग्रह है । निग्रहकी पकड़ 'पर-ड़' है, अनुग्रहकी पकड़ 'वेपकड़' है। अतः भगवान्की पकड़ रोधिका नहीं, बोधिका है—पोषिका है। वह भङ्गीकरण नहीं, अङ्गीकरण है। फलितार्थ यह कि भगवान्का कर-कमल-कृत निग्रह भी अनुग्रह ही है। भगवान् सभी दशाओंमें जीवपर अनुग्रह-भाव ही रखते हैं, उनका दण्ड-विधान भी अनुग्रहपूर्ण है। श्रीमद्भागवतकी यही प्रतिपत्ति है—

अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । १७)

जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेको चाटकर शुद्ध करती, दूध पिलाती और रक्षा करती है, उसी प्रकार भगवान् भी दीनजनोंकी सब प्रकारसे रक्षा करनेके लिये विकल रहते हैं। बरबस उनकी कामनाएँ पूर्ण करते तथा भवसागरसे उनका त्राण करते हैं। जीवमात्रका जो सतत सम्पोषण हो रहा है, वह सब भगवान्का अनुग्रह ही तो है । श्रीमद्भागवत(२ । १० । ४)में इसीलिये भगवदनुग्रहको पोषणरूप कहा है—'पोषणं तदनुग्रहः ।'

सामान्य लोक-व्यवहारमें भी देखा जाता है कि दरिद्रा-वस्थामें किसीका पोषण करना उसपर अनुग्रह समझा जाता है। प्रभुका अवतार-धारण भी भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही होता है—

स्वलीलाकीर्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया ॥

अतः भगवान्‌को भृत्यानुग्रहकातर समझकर 'तवास्मि प्रपन्नोऽहम्' कहते हुए उनके सम्मुख होना चाहिये।

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी भगवान्‌की अनुग्रह-प्रवणताका दिग्दर्शन कराया है। मानसमे भगवान् श्रीरामका नारदजीके प्रति कथन है—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
(३।४२।२-३)

भगवान् श्रीराम तो अनुग्रह करनेमें इतने बढ़े हुए हैं कि वे एक ही प्रकारसे नहीं, सब प्रकारसे भक्तपर अनुग्रह करते हैं। जितने भी प्रकारके सुख हो सकते हैं, उन सबकी मानो वे भक्तपर एक साथ वर्षा कर देते हैं और ऐसा करनेमें वे अपने 'नियम' अर्थात् न्याय-भाव आदिकी भी चिन्ता नहीं करते। वे तो भक्तके प्रेममे ही मग्न हो जाते हैं। उनका यह स्नेह असीम होता है और 'छोह'की स्थितितक चला जाता है। श्रीभरतजीकी यही अनुभूति है—

निज पन तजि राखेउ पनु मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा॥
कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब बिधि सीतानाथ।
(मानस २।२६५।४; २।२६६)

कभी-कभी भगवान्‌का अनुग्रह विचित्र रूपमे होता है। प्रतीत होता है कि हम किस अनिष्टमे फँस गये; किंतु वह अनिष्ट-आभासमयी स्थिति भगवान्‌के स्वरूपको अधिक स्पष्ट करनेका या भगवद्रूप किसी सतके मिलनका हेतु बन जाती है। उदाहरणार्थ, भगवान् श्रीरामको नाग-पाशसे बँधा देखकर गरुड़जीको जो संशय हुआ था, वह अन्ततोगत्वा श्रीभुशुण्डिसे उनके सत्सङ्गके रूपमे परिणत हो गया, जो शोक-मोह-निवारक और प्रभुपद-प्रीति-दृढकर सिद्ध हुआ। श्रीगरुड़जीका कथन है—

देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदयँ मम संसय भारी॥
सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना। कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना॥
जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई॥
जौं नहिं होत मोह अति मोही। मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही
राम कृपाँ तव दरसन भयऊ। तव प्रसाद सब संसय गयऊ॥
(मानस ७।६८।१-२, ४)

कृपा और अनुग्रहके अर्थोंमे सूक्ष्म भेद है। कृपाके साथ स्नेहकी प्रधानता रहती है और अनुग्रहके साथ रक्षा करनेके भावकी। मानसके निम्नाङ्कित वचनोंसे यह स्पष्ट हो जायगा—

मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
(२।२५९।३)
जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा॥
(५।६।३)
मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥
(१।१५०।२)

अनुग्रहका आधार भगवत्ता अर्थात् भगवान्‌का प्रभुत्व, ऐश्वर्य और सम्पन्नता है। अनुग्रहमे कृपा, दया, प्रणत-पालन, छोह आदिका भी अन्तर्निवेश है—

जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीन दयाला करउ अनुग्रह सोई॥
(मानस १।१८५। छं० १)

भगवान्‌के स्वकीय अनुग्रहद्वारा प्रदत्त प्रेमा-भक्ति भगवत्प्रसाद होनेसे निर्मोहा, अक्षय और अनन्त होती है। इसे 'अनपायिनी' भक्ति भी कहते हैं—

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥
(मानस ७।३४)

छोह—

'छोह' जन-भाषामे ममताके अर्थमे व्यवहृत होता है। अपने विशुद्ध रूपमे ममता 'मोह' नहीं, किंतु 'कृपा'की कोटिमें पहुँच जाती है। श्रीरामचरितमानसके निम्नाङ्कित कथनोंके अनुसार 'छोह'का अर्थ 'करुणामयी कृपा' अथवा 'ममता' है—

करब सदा लरिकन्ह पर छोहू। दरसनु देत रहब मुनि मोहू॥
(१।३५९।४)
बिप्र सहित परिवार गोसाईं। करहिं छोहु सब रौरिहि नाईं॥
(२।२।२)
जौं बिधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पुतोहू॥
(२।१४।४)

भगवान् श्रीरामकी भक्तोंपर ममता और भक्तवत्सलता 'छोह' बन गयी है। भक्तोंके प्रति भगवान्‌का स्नेहमय छोह इतना प्रबल है कि वे उनके प्रणकी रक्षाके लिये अपना प्रण छोड़ देते हैं। भीष्मके प्रणकी रक्षाके लिये भगवान् श्रीकृष्णका अपना प्रण तोड़ देना प्रायः विश्व-विश्रुत ही है। 'मानस'मे श्रीभरतजीकी भी यही अनुभूति है—

निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा॥
(२।२६५।४)

भगवान् श्रीराम और भगवती श्रीसीताका 'छोह' स्नेह और ममताका सुधासागर है, तभी तो वे जिसपर छोह करते हैं, वह अजर-अमर और गुणनिधि बन जाता है। माता सीता हनुमानजीको आशीर्वाद देती हैं और श्रीरामके छोहको इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बतलाती हैं—

आसिष दीन्हि राम प्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना॥
अजर अमर गुन निधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥
(मानस ५।१६।१-२)

भगवान् ही छोहपूर्वक जीवको माया-विमुक्त करते हैं। यह छोह अनुग्रह-जैसा ही कार्य करता है। श्रीहनुमानजी कहते हैं—

नाथ जीव तव मायाँ मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥
(मानस ४।२।१)

प्रसाद—

'प्रसाद' वह है, जो सदा साथ रखने या शिरोधार्य करने योग्य हो। जीवके लिये गुरु और भगवान्का परम प्रसाद यही है कि वह ज्ञानके द्वारा संशय-विनिर्मुक्त हो, क्लेश-क्षपण कर परासिद्धि प्राप्त कर ले। मार्कण्डेयपुराणमें एक स्थलपर कहा गया है—

ज्ञानदर्शितमार्गाश्च निर्धूतक्लेशकल्मषाः।
मत्प्रसादादसंदिग्धाः परां सिद्धिमवाप्स्यथ॥
(३।७८)

'मेरे प्रसाद (कृपा)से ज्ञानद्वारा दर्शित मार्गके पथिक, पाप-क्लेश-विनिर्मुक्त और संशयरहित होनेपर तुमलोगोंको परा सिद्धिकी प्राप्ति होगी।'

श्रीमद्भगवद्गीता (२।६४-६५)के अनुसार रागद्वेष-रहित आत्मसंयमी व्यक्तिको 'प्रसाद' की प्राप्ति होती है। 'प्रसाद' प्राप्त होने पर सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है। 'प्रसाद' चित्त-नैर्मल्यरूप होता है, जिससे स्थितप्रज्ञताकी सम्प्राप्ति होती है। योगियोंके लिये यह योगका फल है तो भक्तोंके लिये भगवान्का कृपा-प्रसाद। सुतरां, प्रसादकी विशेषता है—सर्वक्लेशप्रणाश-पुरःसर चित्तकी प्रसन्नता।

भगवान् श्रीराम भुशुण्डिजीको ऐसी ही दुर्लभ वस्तु प्रसादरूपमें प्रदान करते हैं—

अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
(७।८४ क)

रक्षणीयोंमें सबसे महार्घ निधि है भक्ति। वह तो भगवान्का प्रत्यक्ष प्रसाद है। भगवान् भक्तिको सर्वाङ्गसहित भुशुण्डिजीके हृदयासनपर आसीन कर देते हैं—

भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥
जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥
(मानस ७।८४।४)

नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
(मानस १।२५।२)

प्रसादका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ 'प्रसन्नता' भी है। प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता। भगवत्प्रसाद कालुष्य-नाश करता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर—ये जीवके महान् कालुष्य हैं। भगवत्प्रसाद (नाम-प्रसाद)से इनपर विजय प्राप्त होती है और चित्त निर्मल बनता है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥
(मानस १।२४।४)

सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी॥
(मानस १।२५।१)

भगवान् श्रीरामकी माधुर्य-लीलाका रहस्य जानना भी भगवत्प्रसादसे ही सम्भव है।

यह भगवत्प्रसाद ही था कि तुलसीदासजीने श्रीराम-रहस्य समझा और उसकी दिक्कालाद्यनवच्छिन्न अनुभूति कोटि-कोटि सुजनोंतक सम्प्रेषित करते हुए वे उसकी अत्यन्त मनोरम अभिव्यक्ति कर सके। वे कहते हैं—

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥
(मानस १।३५।१)

भगवत्प्रसादसे समस्त संशय, मोह, भ्रम आदि नष्ट हो जाते हैं, हृदयमें समस्त सद्गुणोंका वास हो जाता है और सकल क्लेशहारिणी परम श्रेयोमयी भक्ति चित्तमें दृढ़ हो जाती है—

मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥
(मानस ७।१२९)

यही कारण है कि भगवदीय 'प्रसाद' भगवत्स्वरूप ही है।

अनुकूलता—

प्रभुकी पञ्चमी शक्ति अर्थात् अनुग्रह-शक्ति सर्वशक्तियोंका समाहार है। ऐश्वर्य और माधुर्यकी अधिष्ठात्री सभी शक्तियाँ अनुग्रह-शक्तिके अधीन होकर काम करती हैं। अनुग्रह-शक्तिमें सभी शक्तियोंका समायोजन होता है। अतः यह अनुग्रह भक्तपर भगवान्की अनुकूलताका ही एक स्वरूप है। इस भावको श्रीहनुमानजीके मुखसे गोस्वामी तुलसीदासजी इन शब्दोंमें कहलाते हैं—

ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल ।
तव प्रभावँ बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल ॥
(मानस ५ । ३३)

अनुकूलता ही 'सम्मुखता' है । 'सन्मुख मरत अनुग्रह मेरो'के अनुसार भवसागर-तितीर्षुके लिये भगवान्का अनुग्रह ही जलयानको गति देनेवाला अनुकूल वायु है ।

क्योंकि 'भगतिहि सानुकूल रघुराया' (मानस ७ । ११५ । ३)—भगवान् भक्तिके प्रति अनुकूल रहते हैं और जब वे अनुकूल रहते हैं, तब भक्तपर अनुग्रहकी वर्षा निरन्तर होती ही रहती है । भक्तिरूपिणी सीताके अनुकूल होनेपर विशोकावस्था प्राप्त हो जाती है—

सब बिधि सानुकूल लखि सीता । भे निसोच उर अपडर बीता ॥
(मानस २ । २४१ । ३)

यह भक्ति श्रीरामके सुयश और चरितके श्रवणसे प्राप्त होती है और इससे प्रभुकी अनुकूलताकी अनुभूति होती है—

कलि मल समन दमन मन राम सुजस सुखमूल ।
सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल ॥
(मानस ३ । ६ क)

मार्कण्डेयपुराणका वचन है कि लोकमें देवकी अनुकूलता महाभाग्योदयकारिणी होती है—

दैवानुकूलता लोके महाभाग्यप्रदर्शिनी ॥
(७ । ५९)

जिसपर प्रभु अनुकूल होते हैं, उसे न तो त्रिताप दग्ध कर सकते हैं और न किसी प्रकारकी क्लान्ति ही रह सकती है । तात्पर्य यह कि उसके लिये कुछ भी अगम्य, अप्राप्य नहीं रह जाता—

सुनहु कृपाल जा पर अनुकूला । ताहि न व्याप त्रिबिध भव सूला ॥
(मानस ५ । ४६ । ३)

शरण—

जिससे दुःख-नाश हो, वह 'शरण' है । इसके चार अर्थ हैं—गृह, रक्षयिता, रक्षण और वध । 'वध'-अर्थमें इसका प्रयोग हिंदीमें नहीं हुआ है । आगार और रक्षण-अर्थोंमें ही यह हमें मिलता है ।

'शरण' भगवत्कृपाकी चरम परिणति है । 'शरण' शब्द जीव और ईश—दोनोंके संदर्भमें प्रयुक्त होता है । जीवके विषयमें इसका अर्थ है—भगवान्का आश्रय ग्रहण करना और भगवान्के संदर्भमें—जीवका परम आश्रय, जिसे '[illegible]'में 'स्थल' कहा गया है । शरणद और शरण-रूप होनेसे ही भगवान्को शरण्य वरेण्य कहा गया है । 'मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी' (मानस १ । ७१ । ३)में शरणका यही भाव है । शरणमें आये हुए जीवको प्रभु अवश्य अपनाते हैं । भगवान् श्रीरामका कथन है—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू । आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू ॥
(मानस ५ । ४३ । १)

इतना ही नहीं, वे उसकी स्वप्राणवत् रक्षा करते हैं—

जौं सभीत आवा सरनाईं । रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं ॥
(मानस ५ । ४३ । ४)

'शरण' अथवा 'प्रपन्नता'का अर्थ है जीवका यह सम्प्रधारण कि 'मैं तुम्हारा हूँ' । यही जीवका प्रभुके सम्मुख होना है । ऐसा होते ही भगवान् उसे अपना लेते हैं और सर्वथा अभय कर देते हैं ।

अवलम्बन—

'अवलम्बन'के आश्रय, सहारा, संरक्षण आदि अर्थ होते हैं । यह शरणागत भक्तका भाव है । भगवान् भक्तके भावोंके अनुसार अपने भाव प्रकट करते हैं । अतः अवलम्बन और आश्रय उनकी कृपाके द्योतक हो जाते हैं । 'राम नाम अवलंबन एकू' (मानस १ । २६ । ४)-जैसे वचनोंमें अवलम्बनका अर्थ सहारा तो है ही, कृपामयता भी है । 'देहि अवलंब कर कमल' (विनयपत्रिका ५८ । १)में तो कृपाका स्पष्ट प्रत्यक्षण है । भरतजीने श्रीरामसे ऐसी कृपाकी याचना की, जिसके सहारे वे श्रीराम-वनवासकी दीर्घ अवधिसे पार पा सकें । श्रीरामने उनका बहुत प्रबोधन किया, किंतु 'आधार'के बिना उनके चित्तको शान्ति नहीं मिल रही थी । तब प्रभुने उन्हें अपनी पादुकाएँ दीं, जो स्नेह और सेवाकी प्रत्यक्ष वरदान थीं । उन्हें पाकर श्रीभरत ऐसे मुदित हुए मानो श्रीसीताराम अवधमें ही रह गये हों—

सो अवलंब देव मोहि देई । अवधि पारु पावौं जेहि सेई ॥
(मानस २ । ३०६ । ४)

भगवत्कृपाके कतिपय पर्यायोंके अति संक्षेपमें दिये हुए इस विवेचनको स्थानाभाववश यहीं विश्राम दिया जाता है । इन सबपर पृथक्-पृथक् विस्तृत लेख लिखे जानेसे ही यह विषय अधिक स्पष्ट हो सकता है । फिर भी इस लेखकी सीमामें जो कहा जा सका है, वह यदि सुधीजनोंके लिये रुचिकारक हो सका तो यह श्रम सफल होगा ।

'प्रभु-मूरति कृपामई है'

(लेखक—श्रीरामलालजी)

प्रभु-मूर्तिका तात्पर्य है—अव्यक्त-निराकार, निर्विकार, सर्वशक्तिमान् निर्गुण परमात्माकी अभिव्यक्ति—मूर्तिमत्ता। इस मूर्तिमत्ताकी ही रूपाकृति है उनका कृपामय होना। भगवान्‌की कृपामयताका ज्ञान प्रेमपरक विश्वास-कल्पतरुका अमृतफल है। नानापुराणनिगमागम, अनेकानेक रामायण और शास्त्र-महासागरका मन्थन करनेवाले गोस्वामी तुलसीदासजीने प्रभुके कृपास्वरूपका साक्षात्कार प्रतीति-मूलक निरूपित किया है—

'है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामई है।'

(विनयपत्रिका १७० । ७)

प्रभु-कृपा-चिन्तनके आधार हैं—उनके स्वरूपका अङ्कन, उनकी कृपामूर्तिमत्ता, कृपा-शक्तिका साक्षात्कार तथा कृपारसका आस्वादन। परमात्माकी आदि अभिव्यक्ति विराट् पुरुष है—

'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य।'

(श्रीमद्भा० २ । ६ । ४१)

विराट् पुरुष ही महाविष्णु हैं, जिनके रूप तथा कार्यमें उनके भगवत्तत्त्वकी अभिव्यक्ति होती है। चिन्मय परमेश्वर निराकार होते हुए भी भक्त-हितार्थ सगुण रूप धारण कर लेते हैं—

भक्तार्थं सगुणो जातो निराकारोऽपि चिन्मयः॥

(श्रीमद्भागवतमाहात्म्य ३ । ५८)

वराहपुराणमें उल्लेख है कि अपनेद्वारा उत्पन्न सृष्टिके विषयमें आदि विष्णु विराट् पुरुषको चिन्ता हुई—'मैं अमूर्त हूँ, बिना स्वरूपके कर्म नहीं कर सकता, इसलिये अपने स्वरूपका निर्माण करूँ।' इस तरह वे विचार कर ही रहे थे कि सृष्टि उत्पन्न होनेसे पहले ही उनका स्वरूप प्रत्यक्ष हो गया। उन आदि-विष्णुने तीनों लोकोंको अपने शरीरमेंसे निकलकर इस स्वरूपमें प्रवेश करते देखा। तब अपने स्वरूपको वरदान देते हुए उन्होंने कहा—'तुम सर्वज्ञ और सर्वकर्ता हो तथा समस्त लोक तुम्हें नमस्कार करते हैं। तुम त्रिलोकीका पालन करनेमें समर्थ हो, इसलिये सनातन विष्णु हो जाओ'—

सर्वज्ञः सर्वकर्ता त्वं सर्वलोकनमस्कृतः॥
त्रैलोक्यप्रतिपालाय भव विष्णुः सनातनः।

(३१ । ७-८)

निराकार परमात्माका स्वरूप ही 'भगवत्'-शब्दका वाच्य है और 'भगवत्'-शब्द ही उस आदि एवं अक्षय स्वरूपका वाचक है—

तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः।
वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मनः॥

(श्रीविष्णुपुराण ६ । ५ । ६९)

परब्रह्म परमेश्वरके लिये ही 'भगवत्'-शब्दकी सत्यता चरितार्थ होती है। हे मैत्रेय! इस प्रकार यह महान् 'भगवान्'-शब्द परब्रह्मस्वरूप श्रीवासुदेवका ही वाचक है, किसी औरका नहीं—

एवमेष महाञ्छब्दो मैत्रेय भगवानिति।
परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः॥

(श्रीविष्णुपुराण ६ । ५ । ७६)

विराट् पुरुषका 'भगवत्'-रूप ही कृपामूर्ति है। भगवान्‌की कृपासे प्राकृतिक चक्षु आदि इन्द्रियोंसे भी उनके स्वरूपका ग्रहण सम्भव है—

रूपं सत्यं खलु भगवतः सच्चिदानन्दसान्द्रं
योग्यैर्ग्राह्यं भवति करणैः सच्चिदानन्दरूपम्।
मांसाक्षिभ्यां तदपि घटते तस्य कारुण्यशक्त्या
सद्यो लब्ध्या तदुचितगतेर्दर्शनं स्वेहया वा॥

(बृहद्भागवतामृत २ । ३ । १७५)

श्रुति परब्रह्म परमात्माके अमूर्त और मूर्त—दोनों रूपोंका वर्णन करती है—

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च।

(बृहदारण्यक० ३ । ३ । १)

दोनों रूप निर्विवादरूपसे कृपामूर्ति हैं। ब्रह्मको नेति-नेति कहनेवाले वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने परमात्माके अमूर्त और मूर्तरूपका दर्शन अथवा साक्षात्कार किया है। संतकवि गोस्वामी तुलसीदासजीके मानसमें दयामय मूर्त ब्रह्म—श्रीराम-का स्तवन किया गया है—

जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे।

(मानस ७ । १२ । छन्द १)

कृपासिन्धु श्रीरामकी करुणाके स्मरणमें महान्

भगवद्भक्त महाराजा रघुराजसिंहने उनकी वैदिक मूर्तिमत्ता-का संदर्भ प्रस्तुत किया है—

करुनासिंधु मुरारि, करुनाई को कहि सकै।
जाको वेद पुकारि, नेति नेति भाषत रहैं॥
(रामस्वयंवर, पृष्ठ ९२)

वैदिक ऋषिने परमात्मा सोमदेवका स्तवन किया है—

यः सोम सख्ये तव रारणद् देव मर्त्यः।
तं दक्षः सचते कविः।
(ऋग्वेद १।९१।१४)

ऋग्वेदके भाष्यकार महामति आचार्य सायणने उपर्युक्त ऋचामें 'सचते'का अर्थ अनुग्रह करना किया है।

'हे देव ! द्योतमानसोम तव सख्ये त्वदीये सखित्वे निमित्तभूते सति यो मर्त्यो मरणधर्मा यजमानो रारणद् रणत्येतत्सूक्तरूपेण स्तोत्रेण त्वां स्तौति तं यजमानं कविः क्रान्तदर्शी दक्षः सर्वकार्यसमर्थः त्वं सचते सेवसे अनुगृह्णासि।'

इसका स्पष्टीकरण है—'हे सोमदेव परमेश्वर ! जो मनुष्य बन्धुताके कारण इस सूक्तरूप स्तोत्रसे आपकी स्तुति करता है, उसपर अतीत-ज्ञाता और सर्वकार्यसमर्थ आप अनुग्रह करते हैं।'

वैदिक ऋषिने परमात्मासे लोककल्याणकारी अनुग्रहकी कामना की है—

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यामप्रयुतामेवयावो मतिं दाः।
(ऋग्वेद ७।१००।२)

इस ऋचामें प्रयुक्त 'सुमतिं मतिम्'को आचार्य सायणने अनुग्रह-बुद्धि कहा है। उनका भाष्य है—

'हे एवयाव एवाः प्राप्तव्याः कामाः तान् यावयति प्रापयति स्तोतृमित्येवयावः हे एवयावन् विष्णो त्वं विश्वजन्यां सर्वजनहितमप्रयुतां दोषैर्वियुक्तां सुमतिं मतिं अनुग्रह-बुद्धिं दाः अस्मभ्यं देहि।'

उपर्युक्त भाष्यका आशय यह है—'हे मनोरथ पूर्ण करनेवाले विष्णो ! आप हमें सबके लिये कल्याणकारी और दोषरहित पवित्र अनुग्रह-बुद्धि प्रदान करें।'

वैकुण्ठनायक भगवान् विष्णु सहज कृपालु हैं, दीनोंपर दया करनेवाले हैं। ब्रह्माने उनसे असुरोंद्वारा उत्पीड़ित पृथ्वीका संकट दूर कर अनुग्रह करनेकी प्रार्थना की है—

जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई।
(मानस १।१८५। छन्द)

भगवान्‌की कृपासे ही उनके कृपामय रूपका साक्षात्कार होता है। भगवान्‌के रूपका प्रत्यक्ष दर्शन कर ब्रह्माने निवेदन किया कि 'स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! आपका यह श्रीविग्रह भक्तजनोंकी लालसा पूर्ण करनेवाला है। मुझपर आपकी चिन्मयी इच्छाका मूर्तिमान् स्वरूप आपका साक्षात् कृपा-प्रसाद है। मुझे अनुगृहीत करनेके लिये ही आपने इसे प्रकट किया है। कौन कहता है कि यह पञ्चभूतोंकी रचना है ? यह तो अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय है। मैं या अन्य कोई समाधि लगाकर भी आपके इस सच्चिदानन्द-विग्रहकी महिमा नहीं जान सकता, आत्मानन्दानुभवस्वरूप साक्षात् आपकी महिमाको कैसे जान सकता है ?'—

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।२)

अभिप्राय यह है कि प्रभुकी कृपा ही उनके अनुग्रहमय श्रीविग्रहका दर्शन करानेमें निमित्त है। परमभागवत श्रीशुकदेवजीने कहा है कि ब्रह्मा, शंकर आदि बड़े-बड़े देवता भी अपने शुद्ध हृदयसे जिनके स्वरूपका चिन्तन करते रहते हैं, वे मुझपर अनुग्रह करें—

गतव्यलीकैरजशंकरादिभि-
र्वितर्क्यलिङ्गो भगवान् प्रसीदताम्।
(श्रीमद्भा० २।४।१९)

सच्चिदानन्दघनस्वरूप परम सुखपूर्ण दयामय—कृपामूर्तिका चिन्तन कर जिसका मन निर्मल हो जाता है, इस तरहके प्राणीको भगवान् अपना लेते हैं, सर्वस्वदान—आत्मस्वरूप प्रदान करते हैं।

पञ्चम नानक (पातशाह) गुरु अर्जुनदेवकी वाणी है—

माई री मनु मेरो मतवारो॥
पेखि दइआल अनन्द सुख पूरन हरि-रसि पिओ खुमारो।
निरमल भइउ उजल जसु गावत बहुरि न होवत कारो॥

संत ज्ञानेश्वर करुणाकर कृपासिन्धु रुक्मिणीवल्लभ पाण्डुरंग भगवान् विठ्ठलके कृपामय चिन्मय रूपकी

बड़ी विलक्षण झाँकी प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—संत-समागममें आत्माराम भगवान् पण्ढरीनाथ साक्षात् प्रकट हो गये। आज स्वर्णिम दिन है, अमृतकी वृष्टि हो रही है, भीतर-बाहर सर्वत्र व्यापक भगवान्का दर्शन हो गया—

आजी सोनियाचा दिनु। वर्षे अमृताचा घनु।
हरि पाहिला रे हरि पाहिला रे।
सबाह्याभ्यंतरी अवघा व्यापक मुरारी।
बरवा संतसमागमु। प्रगटला आत्मारामु।
कृपासिंधु करुणाकर। बाप रखुमा देवीवर॥
(मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, पृ० ६११)

भक्तके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये कृपामय प्रभु सदा उद्यत रहते हैं, भक्त-संरक्षण-पोषणके लिये ही वे सगुण रूप धारण करते हैं। यही उनकी भक्तवत्सलता है, कृपामयता है। महात्मा एकनाथका भगवान्की भक्तवत्सलताके सम्बन्धमें एक मार्मिक अभंग (पद्य) है—'भगवान् विठ्ठलदेव सुन्दर-ही-सुन्दर हैं, वे भीमरथी—भीमा नदीके तटस्थ पण्ढरपुरमें खड़े हैं, उनको देखनेसे विश्राम मिलता है, शरीरमें शान्ति प्रवाहित होती है, भगवान्की मूर्ति अनुपम है, वे भक्तोंके कार्यको पूरा करनेके लिये खड़े हैं, यह छोटी-सी (बाल) मूर्ति कैवल्यका सारतत्त्व है, आनन्दका कन्द है, परमानन्द है। इस विलक्षण अनुपम मूर्तिमें मेरा मन लग गया है—

नागरें गोमटें रूप तें गोजिरें। उभें ते साजिरें भीमातटीं॥
पाहता विश्रांती देहा होय शांती। अनुपम्य मूर्ती विठ्ठलदेव॥

भक्ताचिया काजा राहिलासे उभा।
कैवल्या चा गाभा बालमूर्ति॥
आनंदाचा कंद उभा परमानंद।
एका जनार्दनी छंद मज त्याचा॥
(मराठी वाङ्मयाचा इतिहास, पृ० ३४६)

परमात्मा सृष्टि, स्थिति और संहारके लिये अमूर्तसे मूर्त हो जाते हैं। इन तीनों कार्योंमें उनकी नित्य, अव्यय, सनातन कृपा तत्पर रहती है। विराट् पुरुषके महत् और असीम रूपका वर्णन नहीं हो सकता। पुरुषसूक्तके माध्यमसे वेद उन्हें सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपात् बतलाकर मौन हो जाते हैं, उनके तो अनन्त मस्तक हैं, अनन्त चक्षु, अनन्त हाथ और अनन्त चरण हैं। उनकी कृपा उन्हींकी तरह अनन्त और असीम है, तद्रूप है, अभिन्न है।

परमेश्वरने वराह, मत्स्य, कूर्म, नृसिंह आदि रूपोंमें अभिव्यक्त होकर चराचर सृष्टिमें अपनी कृपाका विस्तार किया—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३७)

गोस्वामी तुलसीदासजीने मानुषदेहधारी भगवान् श्रीरामकी मूर्ति—आकृतिको कृपामयी कहा है। बड़े-बड़े संत-महात्माओं और भक्त-कवियोंने भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णके कृपामय श्रीविग्रहका स्वानुभवानुसार वर्णन किया है। भगवान्के अङ्ग-प्रत्यङ्ग कृपामय हैं। वे कृपाके परमायतन हैं। गुण, शील और कृपाके परमधाम श्रीरमण भगवान् श्रीरामको श्रीशंकरजी प्रणाम करते हैं—

गुन सील कृपा परमायतनं। प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं॥
(मानस ७। १३ छन्द)

भगवान् करुणावरुणालय हैं। भक्त कवि महाराजा रघुराजसिंहने उनका स्तवन किया है—

जय करुणावरुणालय रूपा। जय जय केशव कौसल भूपा॥
(रामस्वयंवर, पृष्ठ ९५६)

भक्तकी आर्त पुकार सुनकर भक्तवत्सल कृपासिन्धुके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें करुणाकी तरंगें उठने लगती हैं। महाकवि रत्नाकरने द्रौपदीकी करुण-पुकारसे अधीर द्वारकानाथके अङ्ग-प्रत्यङ्ग—सर्वाङ्गमें करुणा-संचारका अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है, जिससे उनके अनुग्रहमय रूपपर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है—

✓दीन द्रौपदी की परतंत्रता पुकार ज्यों ही
तंत्र बिन आई मन-जंत्र बिजुरीनि पैं।
कहै रतनाकर त्यों कान्ह की कृपा की कानि
आनि लसी चातुरी-बिहीन आतुरीनि पैं॥
अङ्ग परयौ थहरि लहरि दृग-रंग परयौ
तंग परयौ बसन सुरंग पँसुरीनि पैं।
पांचजन्य चूमन हुमसि होंठ बक्र लाग्यो
चक्र लाग्यो घूमन उमगि अँगुरीनि पैं॥

भगवान्के अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही नहीं, उनके वसन (परिधान) एवं दिव्य आयुध शङ्ख-चक्र आदि सब-के-सब द्रौपदीकी रक्षाके लिये आतुर हो उठे, द्रवित हो उठे। ऐसे तो कृपामय प्रभुके समग्र अङ्ग, आयुध, आभूषण आदि उन्हींके स्वरूपभूत हैं और वे प्रभुके द्वारा सम्पन्न होनेवाले सृष्टि-पालन-संहार-कार्यमें अपनी सम्पूर्ण भूमिका निभाते हैं। पर कृपा

महाशक्ति विशेषरूपसे उनकी दृष्टि, हाथ और चरणमें सतत अभिव्यक्त है और प्रभुका हृदय तो मानो कृपाका आगार ही है। यद्यपि समस्त सृष्टिपर प्रभुकी कृपा निरन्तर बरसती रहती है, तथापि भक्तजन उसे अधिकाधिक पानेके लिये लालायित रहते हैं, कृपामय प्रभुसे वे यही कहते रहते हैं कि "नाथ! एक बार भी जो आपकी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर याचना करता है, वह अपनी प्रतिज्ञाको सदा स्मरण रखनेवाले आपका कृपापात्र बन जाता है; पर क्या आपकी यह प्रतिज्ञा एकमात्र मुझको ही छोड़कर प्रवृत्त होती है?"—

ननु प्रपन्नः सकृदेव नाथ
तवाहमस्मीति च याचमानः।
तवानुकम्प्यः स्मरतः प्रतिज्ञां
मदेकवर्ज्यं किमिदं व्रतं ते॥
(आलवन्दारस्तोत्र ६७)

कृपामयी प्रभु-मूर्तिमें उनकी मङ्गलमयी मुखाम्बुजश्रीकी महिमा ऐसे तो अचिन्त्य है, पर उसमें साधुओं—देवप्रकृतिके प्राणियोंके परित्राण, दुष्टता करनेवालों—राक्षसी प्रकृतिके असुरोंके विनाश और धर्मके संस्थापनका बीजमन्त्र संस्थित रहता है। संत-महात्माओंकी दृष्टिमें यह मुखाम्बुजश्री मञ्जुल-मङ्गलप्रदायिनी है। गोस्वामी तुलसीदासजीकी विज्ञप्ति है कि रघुकुलको आनन्द देनेवाली श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दकी जो श्री—अनुग्रह-ज्योति राज्याभिषेकके समाचारसे न तो प्रसन्नताको प्राप्त हुई और न वनवासके दुःखसे मलिन ही हुई, वह सदा मङ्गल प्रदान करती हुई मेरा कल्याण करे—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥
(मानस २। श्लोक २)

व्रजरमण भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्यके अनुपम मर्मज्ञ रसिकशेखर बिल्वमंगलको कृपानिधि प्रभुके मुख-सौन्दर्यकी कृपासे तृप्त होनेकी अभिलाषा है। वे कहते हैं—'जब मैं श्रीकृष्णके लीला-चिन्तन और स्वरूपके ध्यानमें एकाग्रचित्त हो सुधि-बुधि खोकर तल्लीन रहूँ, तब वे परम कृपानिधि मेरे सामने अत्यन्त प्रसन्न, निर्मल मुखचन्द्रके तेजसे ललित लीलाके लिये अपनी मुरलीके नादामृतसे मेरे चित्तकी एकाग्रता—समाधि भङ्ग कर दें। मुझे उनका प्रत्यक्ष दर्शन कब होगा, उनका मुखचन्द्र मुझपर कब अमृत-वृष्टि करेगा?'—

पुनः प्रसन्नेन मुखेन्दुतेजसा
पुरोऽवतीर्णस्य कृपामहाम्बुधेः।
तदेव लीलामुरलीरवामृतं
समाधिविघ्नाय कदा नु मे भवेत्॥
(श्रीकृष्णकर्णामृत १। ३४)

त्रेतायुगमें अवतरित नित्य सनातन भगवान् श्रीराम—वनवासी सीतापति जटाचीरधारीके रूपमें प्रसिद्ध हैं। प्रभुकी जटा पूर्ण कृपामयी है। उन्होंने अपनी जटासे जटायुकी अङ्गरजको झाड़कर उसे वेद-पुराणवर्णित परमगति प्रदान की। भक्तहृदय रघुराजसिंहने जटाकी कृपामयताका वर्णन इस प्रकार किया है—

कछुक दूर आगे चलि रघुपति विकल विहंग निहार्‌यो।
कृपानिधान जटायु-अंग रज निज जटानि सों झार्‌यो॥
प्रभुपद परसि गीध तनु त्यागो, निज हाथन करि करवो।
गीधराज कहँ दई रामगति वेदपुरानन बरनी॥
(रामस्वयंवर, पृष्ठ ७९२)

प्रभुके नेत्र कृपामृतके क्षीरसागर हैं। वे सर्जन, पालन, संहार और निग्रहके कार्यमें अपनी साकार अभिव्यक्तिके पाँचवें अङ्ग अनुग्रहको अपने नेत्रकमलमें प्रतिष्ठित कर लोक-लोकान्तर—समस्त ब्रह्माण्डका निरन्तर अबाध गतिसे कल्याण करते रहते हैं। प्रभु शरणागतकी सब प्रकारसे रक्षा करते हैं, वे कृपा-अमृतसे आर्द्र दृष्टिद्वारा चराचर जगत्‌का अवलोकन करते हैं। प्रभुकी कृपामयी—करुणामयी दृष्टिके शरणागत होनेपर प्राणिमात्र अभय हो जाते हैं। प्रभुका अवलोकन दयापूर्ण है।

प्रभु जिस प्राणीको कृपापूर्वक देखते हैं, उसके जीवन-पथके समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं। प्रभु तो सबको कृपापूर्वक देखते हैं—यह सामान्य कृपावलोकन समस्त सृष्टिका अमङ्गल नष्ट करता रहता है। प्रभुने श्रीरामरूपमें प्रकट होकर अपनी कृपा-दृष्टिसे रावणको योगिवृन्ददुर्लभ गति प्रदान कर देवताओंको अभय कर दिया, उनकी शक्ति-वृद्धि की, दिव्य सम्पत्तिका संरक्षण किया—

कृपादृष्टि करि वृष्टि प्रभु अभय किए सुर बृंद।
(मानस ६। १०३)

प्रभुके तरुण (प्रफुल्ल), अरुण (प्रेममय) नेत्रकमल कृपापरिपूर्ण हैं—

'.........कृपापरिपूरन तरुन अरुन राजीव बिलोचन ।'

(गीतावली ७ । १६ । ६)

प्रभु अपने 'करुणामय कटाक्षसे उनके नेत्र शीतल कर देते हैं, जो उनकी ओर निर्निमेष दृष्टिसे देखते रहते हैं। यही कारण है कि प्रभुका भक्त सदा यही सोचता रहता है कि किसी क्षण यशोदानन्दन परम कृपालु दयासिन्धु नित्य नवकिशोर श्रीकृष्ण मुझे अपने नेत्र-कमलोंसे देख लें। रसिकशेखर बिल्वमंगलके शब्दोंमें वह कहता रहता है—'श्यामसुन्दर अपने नयनकमलसे, जो लीलाविलाससे अत्यन्त प्रफुल्ल हैं तथा प्रेम, शृङ्गार-रस या अनुरागके प्रवाहसे शीतल और आनन्दित करनेवाले हैं, जो नीले और अपाङ्गभागमें थोड़े-थोड़े अरुण हैं, दया और प्रेमके रंगमें रँगे हैं, जो अलौकिक एवं मदिर हाव-भावसे अथवा विभ्रमसे युक्त हैं, मेरी ओर किस समय देखेंगे ? मैं चञ्चल कटाक्षयुक्त, नीले-कमल रसस्निग्ध नेत्रवाले श्रीकृष्णकी कृपा-दृष्टिसे कब कृतार्थ होऊँगा ?'—

लीलायताभ्यां रसशीतलाभ्यां
नीलारुणाभ्यां नयनाम्बुजाभ्याम् ।
आलोकयेदद्भुतविभ्रमाभ्यां
काले कदा कारुणिकः किशोरः ॥

(श्रीकृष्णकर्णामृत १ । ४५)

प्रभुके भ्रू-कटाक्षपर महाकालस्वरूपिणी, संहार-रूपिणी निग्रह-शक्तिके संकेतसे समस्त सृष्टि महा-प्रलयसमुद्रमें समा जाती है, पर भक्तों और संतोंकी दृष्टिमें वह कृपासे परिपूर्ण है तथा अत्यन्त सुन्दर है—

भ्रूसुंदर करुनारस-पूरन ।

(गीतावली १ । २६ । ४)

प्रभुके मुख और अधरस्मितकी करुणाकी महिमाका पार पाना अत्यन्त कठिन है। प्रभुने मुखसे पूतना-जैसी प्राणघातिनीका स्तन्य-पान कर उसे अपनी कृपाशक्तिसे परम गति प्रदान की। प्रभुका मुखमण्डल करुणाका सदन है—

करुणासदन बदन अवलोकन कोटि मदनमदहारी ।

(रामस्वयंवर, पृष्ठ ४१)

प्रभुका मुखकमल निस्संदेह आनन्दधाम है, वह नित्य प्रफुल्लित—कभी न कुम्हलानेवाला कमल है। उसका सौन्दर्य अपार है। उदय-स्मित (हास्य अथवा मुसकान) और चितवनसे वह शोभित रहता है—

सौक्रान्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम् ।
नित्यं प्रमुदितं श्रीमत् सदयस्मितवीक्षणम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४५ । १८)

कृपानिधान प्रभुकी श्रीमुखवाणी है—'मेरा एक-एक अङ्ग अत्यन्त सुन्दर और हृदयहारी है। सुन्दर मुख और प्यारभरी चितवन कृपाप्रसादकी वर्षा करती है। उद्धव ! मेरे इस सुकुमार स्वरूपका ध्यान करना चाहिये और अपने मनको मेरे एक-एक अङ्गमें लगाना चाहिये'—

सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । ४१)

निस्संदेह प्रभुके कृपामय मुखसे निःसृत वाणी कृपामृतसे सनी हुई है। मनु-शतरूपा तपस्यामें रत थे, तभी कृपासिन्धु आकाशवाणीके माध्यमसे बोल उठे—

मागु मागु बरु भै नभ बानी । परम गभीर कृपामृत सानी ॥

(मानस १ । १४४ । ३)

प्रभुके वक्षःस्थल, हृदय, मन, चित्त—सब-के-सब चिन्मय कृपाके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। उनका वक्षःस्थल मोतियोंकी माला, केसरके अनुलेपन और व्याघ्रनखसे अलंकृत है। प्रभु अपने कृपामय वक्षःस्थलपर पदप्रहार करनेवाले भृगु ऋषिके पदको श्रीलक्ष्मीके साथ धारण करते हैं। महर्षि भृगु भगवान्के निवासस्थान वैकुण्ठमें गये, प्रभु लक्ष्मीके अङ्कदेशमें सिर रखकर लेटे हुए थे। भृगुने वक्षः-स्थलपर पद-प्रहार किया, भक्तवत्सल भगवान्ने कहा कि आपके चरण बड़े कोमल हैं, आपके चरणोंसे चिह्नित मेरे वक्षःस्थलपर लक्ष्मीजी सदा निवास करेंगी—

अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम् ।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ८९ । १२)

प्रभुका हृदय तो मानो केवल कृपा ही है, वह अनुग्रहकी अक्षय, अव्यय और नित्यनिधि है। उनका हृदय अनुग्रहरूप चन्द्रमासे निरन्तर प्रकाशमान रहता है—

हृदयँ अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥
(मानस १। १९७। ४)

प्रभुके मुखकी मृदु मुसकानसे यह पता चलता है कि उनका हृदय अनुग्रहसे परिपूर्ण है।

प्रभुका चित्त परम कृपामय है। वह कोमलता, भक्तार्ति-द्रवता और करुणासे परिपूर्ण है। गृध्रराज जटायुके शब्दोंमें—'हे राम! मैं आपके हृदयको अच्छी प्रकार जानता हूँ। आप शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले एवं सरस-चित्तसे सेवकोंपर कृपा-वर्षा करनेवाले हैं। इसीलिये तो आपने मुझे पिताकी उपमा दी है'—

नीके कै जानत राम हियो हौं।
प्रनतपाल, सेवक-कृपालु-चित, पितु-पटतरहिं दियो हौं॥
(गीतावली ३। १४। १)

प्रभुके कर-कमलका अनुग्रह उनकी विशिष्टतम प्रतिपालन-शक्ति अथवा रक्षण-शक्तिका अन्यतम अक्षर अवयव है। प्रभुके हस्तकमल शरणागतपर कृपा करते हैं। उनके सम्मुख होकर जीवन-यापन करना ही शरणागति है। सदय-हृदय प्रभु ऐसे शरणागतोंके सिरपर अपने हस्तकमलकी मृदुल शीतल छत्रच्छाया रखते हैं। अपने चरण-चिह्नका स्मरण करनेवाले गृध्रपति जटायुके सिरका प्रभुने अपने करसे स्पर्श किया और उसकी समस्त पीड़ाका शमन हो गया। यह है उनके हस्तानुग्रहका निर्मल शीतल प्रताप—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
(मानस ३। ३०)

गोवर्धनको धारण कर उनके अनुग्रहमय हस्तकमलने भगवान्‌की भक्तवत्सलता तथा स्वजन-रक्षाका परिचय दिया। भगवान्‌ने मूसलाधार वृष्टि देखकर विचार किया कि यह सारा व्रज मेरे आश्रित है, मेरेद्वारा स्वीकृत है और एकमात्र मैं ही इसका रक्षक हूँ। ऐसा विचारकर उन्होंने खेल-खेलमें एक ही हाथसे गिरिराजको उखाड़कर अपनी कनिष्ठिका अँगुलीपर धारण कर लिया और व्रजवासियोंको शरण प्रदान की—

इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः॥
(श्रीमद्भा० १०। २५। १९)

महाकवि सेनापतिने हस्तकमलपर गोवर्धन धारण करनेवाले करुणालय श्रीकृष्णके सतत भजनमें रत रहनेकी सीख दी है—

करुनालय सेवौ सदा, गोबर्धन गिरिवर-धरन॥
(कवित्तरत्नाकर ५। ५)

प्रभुकी भुजाएँ अपने भक्तोंकी पीड़ा दूर करनेके लिये, उनका संरक्षण करनेके लिये फड़क उठती हैं। वे कृपामयी हैं। सुग्रीवने जब यह कहा कि वालीने मुझे शत्रुकी तरह बहुत मारा, मेरा सर्वस्व छीन लिया और स्त्रीका भी अपहरण कर लिया, तब सेवकके दुःखको दूर करनेके लिये दीनदयालुकी भुजाएँ फड़क उठीं—

सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला॥
(मानस ४। ५। ७)

प्रभुकी भुजाओंका स्मरण करते ही दुर्गम संसार-समुद्र सुगम हो जाता है। ये भुजाएँ भगवान्‌के दिव्य शरीरमें ऐसी शोभित हैं, मानो अति सुन्दर श्यामशरीररूप पर्वतसे दो यमुनाकी धाराएँ निकली हैं, जो बलरूप अथाह निर्मल जलसे भरी हैं तथा शृङ्गाररूप सूर्यसे उत्पन्न हुई हैं। इन भुजाओंकी वेद, पुराण, शेष, शारदा और शुकदेवजी भी स्नेहपूर्वक सराहना करते हैं। ये कल्पलताकी भी श्रेष्ठ कल्पलता और कामधेनुकी भी कामधेनु हैं तथा अपने शरणागत दीन एवं प्रणत पुरुषोंको अभयपद देकर अन्ततक उनका निर्वाह करती हैं। ये अपने दासोंपर सदासे छाया करती आयी हैं, अब भी करती हैं और आगे भी करती रहेंगी—

जे भुज बेद-पुरान, सेष-सुक-सारद सहित सनेह सराहैं।
कलपलताहु की कलपलता बर, कामदुहहु की कामदुहा हैं॥
सरनागत-आरत-प्रनतनिको दै दै अभय पद ओर निबाहैं।
करि आई, करिहैं, करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं॥
(गीतावली ७। १३। ८-९)

प्रभुने अपनी कृपामयी बाहुओंसे सुदामाका परिरम्भण कर उन्हें कृतार्थ कर दिया। सुदामाके वचन हैं कि कहाँ तो मैं दरिद्र और पापी और कहाँ श्रीके धाम प्रभु! उन्होंने मुझे अपनी बाँहोंमें भर लिया—

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः॥
(श्रीमद्भा० १०। ८१। १६)

यमलार्जुन-लीला-प्रसङ्गमें माँ यशोदाने प्रभुके कटिप्रदेशमें रस्सी डालकर उन्हें ऊखलसे बाँधना चाहा। वे उन्हें रस्सीसे बाँधने लगीं, रस्सी बार-बार दो अङ्गुल घटती रही। माँ घरकी सारी रस्सी जोड़ डालनेपर भी प्रभुको बाँध न सकी। भगवान्‌ने देखा कि माँका शरीर पसीनेसे लथपथ

हो गया है, वे क्लान्त हैं, तब कृपा करके वे स्वयं बन्धनमें आ गये। विराट् पुरुष चिन्मय परब्रह्म श्रीकृष्णका श्रीविग्रह किसके बन्धनमें आ सकता है, पर माँके श्रमको दूर करनेके लिये बन्धन स्वीकार कर सम्पूर्ण विग्रह अनुग्रहरूप हो उठा—

दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने।
(श्रीमद्भा० १०।९।१८)

ग्वालिनी यशोदाने मुक्तिदाता मुकुन्दसे जो अनिर्वचनीय कृपाप्रसाद प्राप्त किया, वह ब्रह्मा, शंकर, लक्ष्मीको भी न प्राप्त हो सका—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥
(श्रीमद्भा० १०।९।२०)

प्रभुने उलूखलसे बँधे हुए यमलार्जुनके रूपमें शापग्रस्त कुबेरपुत्र नलकूबर और मणिग्रीवका वृक्षयोनिसे उद्धार कर उनपर अपूर्व कृपा की। प्रभुके कटिप्रदेशकी कृपामयता स्तुत्य है।

प्रभुकी जाँघ भगवद्भक्तोंसे ईर्ष्या और द्वेष करनेवाले असुरों और दैत्योंके लिये सद्गति प्राप्त करानेवाली अनुग्रह-वेदी है। जाँघपर ही प्रभु (विष्णु) ने मधु-कैटभ और हिरण्यकशिपुको रखकर उनका वध किया और ब्रह्मा तथा प्रह्लादकी ही क्रमशः रक्षा नहीं की, अपितु उपर्युक्त दुरात्माओंको भी सद्गति प्रदान की। कल्पके अन्तमें सम्पूर्ण जगत्के एकार्णवमें निमग्न होनेपर भगवान् विष्णु शेषनागकी शय्यापर शयन कर रहे थे कि उनके कानोंके मैलसे भयंकर असुर मधु-कैटभ उत्पन्न हुए और भगवान्के नाभिकमलमें विराजमान ब्रह्माजीका वध करनेको उद्यत हो गये। प्राण-रक्षाके लिये ब्रह्माने योगनिद्राकी स्तुतिके द्वारा भगवान्को जगाया। प्रभुने दोनों असुरोंसे पाँच हजार वर्षतक युद्ध किया। भगवान्की वीरतासे प्रसन्न होकर दोनोंने उनसे वर माँगनेको कहा। प्रभुने कहा—'तुम दोनों मेरे हाथों मारे जाओ।' जब उन्होंने सम्पूर्ण जगत्में जल-ही-जल देखा तो बड़ी चतुराईसे स्वीकार किया कि 'जहाँ पृथ्वी जलमें डूबी न हो, सूखा स्थान हो, वहीं हमारा वध करो।' शङ्ख-चक्र-गदाधारी प्रभुने उन दोनोंके मस्तक अपनी जाँघपर रखकर चक्रसे काट डाले। इस तरह जाँघ ब्रह्माकी प्राणरक्षिका हुई, अनुग्रहकारिणी हुई और असुर मधु-कैटभके लिये सद्गतिप्रदायिनी सिद्ध हुई—

तथेत्युक्त्वा भगवता शङ्खचक्रगदाभृता।
कृत्वा चक्रेण वै छिन्ने जघने शिरसी तयोः॥
(दुर्गासप्तशती १।१०३)

इसी तरह प्रभुने जाँघपर ही हिरण्यकशिपुको रखकर उसे अपने नखोंसे फाड़ डाला और भक्त प्रह्लादपर अनुग्रह किया तथा हिरण्यकशिपुको सद्गति प्रदान की—

द्वार्यूर आपात्य ददार लीलया
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम्॥
(श्रीमद्भा० ७।८।२९)

प्रभुके चरण और चरणरज—दोनों अनुग्रह-निधि हैं, कृपाके महामहिम स्वरूप हैं। वेद, पुराण, संत-महात्माओं, ऋषियों, मुनियों, भक्तों, कवियों और समस्त सच्छास्त्रोंने प्रभुके चरण और चरणरजकी महिमाका विस्तृत वर्णन किया है, उनके आश्रय-ग्रहणको परम सौभाग्य स्वीकार किया है। प्रभुके चरण परम अद्भुत और अनुग्रह-पयस्विनी गङ्गाके एकमात्र आश्रय हैं। वे असहायों, दीनों, उपासकों, भक्तों, दैत्यों और देवताओंको शरणागति प्रदान कर अभय करते रहते हैं। इन चरणोंसे कृपाकी ज्योति—अमृतकी निर्मल प्रासादिक निर्झरी निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। ये मधुके—माधुर्य-रसके उत्स हैं।

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥
(ऋग्वेद १।१५४।५)

आचार्य सायणने उपर्युक्त ऋचाका भाष्य इस प्रकार किया है—

'विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य परम उत्कृष्टे निरतिशये केवलसुखात्मके पदे स्थाने (चरणे) मध्वो मधुरस्य उत्सो निस्यन्दो वर्तते।'

आशय यह है कि विष्णुके पदसे मधुका क्षरण होता रहता है, जरा, जन्म, मरण आदिका भय समाप्त हो जाता है और सकल्पमात्रसे ही समस्त सुखोंकी प्राप्ति हो जाती है।

आचार्य रामानुजने प्रभुके अनुग्रहमय चरणोंकी महिमा वर्णित करते हुए कहा है—

पितरं मातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून्।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च॥
सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥
(शरणागतिगद्य)

'विभो! पिता, माता, स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र, गुरु, रत्न, धन्य-धान्य, क्षेत्र, गृह, सम्पूर्ण धर्म, समस्त कामनाओं और अक्षरतत्त्वको भी छोड़कर मैं सम्पूर्ण जगत्को लाँघनेवाले आपके युगल चरणोंकी शरणमें आया हूँ।'

भगवान्‌के अनुग्रहमय चरण संसार-सागरसे पार जानेके लिये नौकास्वरूप हैं। प्रभुके निष्कपट भक्त भयंकर और दुस्तर संसार-सागरको चरण-नौकाके सहारे पार करते हैं—

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन्
भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते
निधाय याता: सदनुग्रहो भवान्॥

(श्रीमद्भा० १०।२।३१)

प्रभुके भक्तोंपर इस सदनुग्रहका मूलाधार है उनके अत्यन्त कृपामय चरणकमल और उनका आश्रय।

प्रभुकी चरण-रजकी महिमाका अङ्कन उन्हींकी चरणरज कृपासे सम्भव है। पतिशापग्रस्त अहल्या प्रभुकी चरणरज-कृपासे तपस्याकी मूर्तिमती आकृति हो गयीं अन्यथा उनका उद्धार होना कठिन था। उनकी स्वीकृति है—

अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते
पादाब्जसंलग्नरज:कणादहम्।
स्पृशामि यत्पद्मजशंकरादिभि-
र्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा॥

(अध्यात्मरा० १।५।४३)

'हे प्रभो! आपके जिन पदारविन्दोंकी रज ब्रह्मा-शंकर आदि एकाग्रचित्तसे सर्वदा खोजते रहते हैं, हे जगन्निवास! आपके उन्हीं चरण-कमलोंके रजःकणका स्पर्श पाकर मैं कृतार्थ हो गयी अर्थात् आपकी कृपामयी चरणद्वारा मेरा उद्धार हो गया।'

प्रभुकी चरण-रजको प्राप्त करनेके लिये शंकर, ब्रह्मा प्रभृति देवगण एवं भक्तजन तो लालायित रहते ही हैं, भक्तकवि रहीमकी दृष्टिमें उसी कणको पाने और विशाल पशु-योनिसे छूटनेके लिये गजराज भी अपने मस्तकपर सूँड़से धूलि फेंकते रहते हैं। कितनी अनुग्रहपरकता चित्रित है रहीमकी भगवत्पदरज-सम्बन्धी इस उक्तिमें।—

धूर धरत नित सीस पै, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि-पतनी तरी, सो ढूढ़त गजराज॥

(रहीमरत्नावली १०७)

प्रभुके चरण-कमलपराग (रज)के स्पर्शसे पृथ्वी अपनेको कृतार्थ मानती है—

परसि राम पद पदुम परागा। मानति भूमि भूरि निज भागा।

(मानस २।११२।४)

नित्य गङ्गा-तटपर रहनेवाला और नित्य पदपद्म-सम्भूता गङ्गाजीका जल पीनेवाला केवट प्रभुके पदपद्मकी रजको अपनी विशिष्ट सम्पत्ति मानता है। प्रभुके आगमनके सुनहले अवसरका सदुपयोग करना चाहता है वह, उनके चरणोंको धोनेमें। यद्यपि वह निवेदन करता है कि मेरी एकमात्र जीविकास्वरूपा नौका कहीं रजःस्पर्शसे अहल्याकी तरह नारीकी आकृति न प्राप्त कर ले, पर मूलमें बात तो यह है कि वह प्रभुकी चरणरजको अपने कठवताके गङ्गाजलमें मिलाकर परिवारसहित पी जाना चाहता है। वह सोचता है कि ऐसा स्वर्णिम संयोग फिर कहाँ मिलेगा! प्रभुकी चिन्मय, भगवत्स्वरूपिणी कृपामयी रज गङ्गा-जलमें मिलाकर पी लेनेपर वह प्रभु (श्रीराम)की लीलाका नित्य परिकर बन गया—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

(मानस २।१०१)

केवटने प्रभुकी चरण-रज-कृपाका पूर्ण रसास्वादन किया। उनके चरणोंको धोकर और समस्त परिवारसहित स्वयं चरणामृतको पीकर उस रजकृपाके द्वारा अपने पितरोंको भवसागरसे पार कर आनन्दपूर्वक प्रभुको गङ्गाके उस पार उतार दिया। उपर्युक्त प्रसङ्गमें भगवती गङ्गाजी अपने उत्पत्ति-स्थान—प्रभुके अनुग्रहमय नखका दर्शन कर हर्षित हो गयीं—

पद नख निरखि देवसरि हरषी।

(मानस २।१००।३)

प्रभुके अनुग्रहमय सौन्दर्यसारसर्वस्व चरण भक्तोंके अक्षय धन हैं। उनकी वन्दनामें महामति बिल्वमंगलकी विज्ञप्ति है—

मणिनूपुरवाचालं वन्दे तच्चरणं विभोः।
ललितानि यदीयानि लक्ष्माणि व्रजवीथिषु॥

(श्रीकृष्णकर्णामृत १।१६)

'मैं श्यामसुन्दर व्रजरसेश्वर आनन्दकन्द वृन्दावनचन्द्रके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ, जो मनोरम (शुभ स्वस्तिक, शङ्ख, चक्र, वज्र, कलश, कमल, अंकुश, मत्स्य आदि) चिह्नोंसे समलंकृत हैं तथा (पद्मराग आदि) मणियोंसे जटित नूपुर—मञ्जीरकी रुनझुन ध्वनिसे शिंजित, अतिशय मधुर और मनोहर हैं।'

प्रभुका श्रीविग्रह कृपामृतसे कोमल होकर सदा द्रवित होता रहता है। भगवत्प्रेमसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वही कृपामृत है। प्राणीके चित्तमें मूर्तिमान् भगवत्-प्रेमानन्दकी वृष्टि ही कृपा-सुधा कहलाती है। इस प्रेममयी आनन्दस्वरूपिणी कृपामें आकारित प्रभुकी प्राप्ति ही कृपामयी प्रभु-मूर्तिका साक्षात् दर्शन है। 'प्रभु-मूरति कृपामई है' की घोषणा करनेवाले भक्त प्रभुकी कृपामयी मूर्तिसे यही निवेदन करते हैं कि जिस तरह स्वाति-नक्षत्रके जलकी कामना चातक-शिशु करता है, उसी प्रकार मेरा चित्त कृपामृत-प्राप्तिकी लालसा करता है—

कृपा-सुधा-जलदान माँगिबो कहौं सो साँच निसोतो ।
स्वाति-सनेह-सलिल-सुख चाहत चित-चातक सो पोतो ॥
(विनयपत्रिका १६१ । २)

प्रभुका प्रेमामृत—अनुग्रह उन्हींकी स्वेच्छात्मक कृपाकी देन है । मानसकारने प्रेमको अमृत, विरहको मन्दराचल और भरतजीको गहरा समुद्र कहा है । देवता और साधुओंके हितके लिये कृपासिंधु श्रीरामने भरत-समुद्र (चरित)-का मन्थन कर प्रेमामृत—अनुग्रह प्रकट किया—

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर ।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर ॥
(मानस २ । २३८)

आशय यह है कि प्रेमामृत—प्रभु-अनुग्रह भक्तचरितसे उद्भूत होता है । भरतपर प्रभुकी कृपा-मूर्तिने पूर्ण अनुग्रह किया । उनकी स्वीकृति है कि कृपानिधानने मुझपर साङ्गोपाङ्ग अनुग्रह किया—

कृपा अनुग्रहु अंगु अघाई । कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई ॥
(मानस २ । २९९ । ३)

प्रभु 'रसो वै सः'के रूपमे वर्णित हैं । कृपा निस्संदेह 'रस' है, दिव्यतम रस है । रस आस्वादित होता है—'रस्यते आस्वाद्यते, इति रसः ।' रसका आस्वादन चमत्कारी सुख प्रदान करता है । महाकवि कर्णपूरका कथन है—

'..........'चमत्कारि सुखं रसः ।'
(अलंकारकौस्तुभ ५ । १२)

प्रभुकी कृपा चमत्कारपूर्ण दिव्य सुख अथवा आनन्द प्रदान करती है । प्रभु करुणारस-अयन हैं—

रघुपति राजीवनयन सोभातनु, कोटि मयन,
करुनारस-अयन चयन-रूप भूप, माई ।
(गीतावली ७ । ३ । १)

कमलनयन प्रभु (श्रीराम) करोड़ों कामदेवोंके समान सुन्दर शरीरवाले, करुणारसके आगार और आनन्दस्वरूप हैं।

प्रभुको भक्तानुग्रह-विग्रह कहा जाता है; क्योंकि वे भक्तोंके परित्राण और दुरात्माओंके उद्धारमे निरन्तर संलग्न रहते हैं । उन्हे सत्पुरुषोंके पालन तथा दुष्टोंके निग्रहका यथार्थ ज्ञान रहता है । वे अनुग्रह-निग्रह—दोनों स्थितियोंमे सबपर कृपा करते हैं, यही उनकी कृपामयता है ।

उनकी कृपाकी रीति श्रीरामप्रेम-मूर्ति भरत-जैसे दैन्यप्रिय भक्त ही समझते हैं । भरतजीकी उक्ति है—

मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही । हारेहुँ खेल जितावहिं मोही ॥
(मानस २ । २५९ । ४)

प्रभुकी सामान्य कृपा भक्त, भूमि, ब्राह्मण, गौ और देवताओंके संरक्षणमें तत्पर रहती है । प्रभुके आश्रित जीवोंको उनकी कृपा ही जगाती है—

जानकीसकी कृपा जगावती सुजान जीव ।
(विनयपत्रिका ७४ । १)

सामान्य कृपाके अतिरिक्त प्रभु स्वेच्छासे कृपा करते हैं । वे जीवको आज्ञा देकर कार्य (सेवा)पर नियुक्त करते हैं ।

विशाल वटवृक्षके एक पल्लवपर शयन करनेवाले बालमुकुन्द भगवान्ने मार्कण्डेय मुनिपर स्वेच्छासे कृपा की । भयंकर प्रलय-दृश्य उपस्थित था । प्रभुने कहा—'मैंने तुमपर कृपा की है, तुम मेरे शरीरमें प्रवेश कर विश्राम करो । तुम्हारे निवासकी व्यवस्था की गयी है'—

अभ्यन्तरं शरीरे मे प्रविश्य मुनिसत्तम ।
आस्स्व भो विहितो वासः प्रसादस्ते कृतो मया ॥
(महाभा० वन० १८८ । ९८)

प्रभुकी स्वेच्छा-कृपाका अवतरण मुचुकुन्दपर भी हुआ था। प्रभुने गुफामे प्रवेश कर कहा—'मैं तुमपर अनुग्रह करनेके लिये इस गुफामें प्रविष्ट हुआ हूँ । मेरा शरणागत जन—भक्त किसी भी प्रकारकी चिन्ता करने योग्य नहीं है'—

सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः ॥
मां प्रपन्नो जनः कश्चिन्न भूयोऽर्हति शोचितुम् ।
(श्रीमद्भा० १० । ५१ । ४३-४४)

प्रभु भक्तेच्छा-कृपा भी करते हैं । मनु-शतरूपाके तपस्याकालमे प्रभुने प्रकट होकर भक्तकी इच्छा पूरी की । मनुने प्रभुसे याचना की—'हे दानियोंके शिरोमणे ! हे कृपानिधान ! मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ ।' करुणानिधि प्रभुने कहा—'ऐसा ही हो । मैं अपने समान (दूसरा) कहाँ खोजूँ । स्वयं ही तुम्हारे पुत्ररूपमे प्रकट होऊँगा'—

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले । एवमस्तु करुनानिधि बोले ॥
आपु सरिस खोजौं कहँ जाई । नृप तव तनय होब मैं आई ॥
(मानस १ । १४९ । १)

शतरूपाने कहा—'राजाने जो वर माँगा है, वह मुझे प्रिय है, पर साथ-ही-साथ आपके निज-जन जो अखण्ड सुख और परम गति प्राप्त करते हैं, वही सुख, वही गति, आपके चरणोंमे वही प्रेम, वही ज्ञान और वही रहन-सहन कृपा करके हमें प्रदान कीजिये ।' शतरूपाकी कोमल, गूढ़, मनोहर वाक्य-रचना सुनकर कृपाके समुद्र भगवान्ने कहा—'तुम्हारे मनमें जो कुछ इच्छा है, वह सब मैंने तुम्हें दे दिया'—

सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बर रचना। कृपासिंधु बोले मृदु बचना॥
जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं॥

(मानस १। १५०। १)

एकनाथ महाराजने सहज कृपाके रूपपर प्रकाश डालते हुए कहा है कि भक्तका काम करनेमें भगवान्‌को लज्जा नहीं आती । यह अनुभव देखो। पण्ढरीके राजा (भगवान् पाण्डुरंग विट्ठल) उदार हैं, वे जाति, कुल (पवित्र अथवा चाण्डाल)—किसी भी बातका विचार नहीं करते। मैं आनन्दित होकर उनके शरणागत हूँ—

भक्ताचीये काजे। देव करितां न लाजे।
हा तों पहा अनुभव। उदार पण्ढरीचा राव॥
न विचारी याती कुल। शुचि अथवा चांडाळ।
एका जनार्दनीं शरण। एका भावें निबळोण॥

(एकनाथ-वाणी)

भक्त कवि रहीमने इसी सहज कृपासे प्रेरित होकर कहा है कि लता-वेलिका कोई महत्त्व नहीं है, फिर भी करुणामय प्रभु उनका प्रतिपालन करते हैं। ऐसे कृपामयको छोड़कर प्राणी किस अन्यकी शरणमें जाय—

अमरबेलि बिनु मूल की प्रतिपालत है ताहि।
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि खोजत फिरिए काहि॥

(रहीमरत्नावली ७)

प्रभुकी कृपा-मूर्तिकी वन्दना है—जो आत्माराम होनेपर भी व्रजरमणियोंके प्रति हृदयकी प्रेम-प्रवणतासे युक्त हो गये, भक्तोंपर कृपा करने तथा असुरोंको मारनेके बहाने और इस लोकमें विहारकी इच्छासे व्रजभूमिमें अवतरित हुए, उन्हीं नवजलधरश्याम आनन्दमय पुरुष (श्रीकृष्ण)की मैं वन्दना करता हूँ—

व्रजस्त्रीणां प्रेमप्रवणहृदयो वा किमथवा
कृपायुक्तो भक्तेष्वसुरनिधनव्याजनिपुणः।
अपि स्वात्मारामो य इह विजिहीर्षुर्व्रजमगात्
तमानन्दं वन्दे नवजलदजालोदरनिभम्॥

(हरिभक्तिकल्पलतिका १। २)

आचार्य शंकरकी उक्ति है—'हे प्रभो! मैं धन्य हूँ, आपकी कृपासे कृतकृत्य हूँ, संसार-बन्धनसे विमुक्त हूँ, नित्यानन्दस्वरूप और पूर्ण हूँ।' अद्वैत-वेदान्तके सूक्ष्म दार्शनिक धरातलपर विचरण करनेवाले पूर्ण तथा नित्यानन्दस्वरूप होनेका आधार शंकराचार्यने भगवदनुग्रहको स्वीकार किया है। आत्मवित्‌की प्रभु-मूर्तिके अनुग्रहकी नितान्त आवश्यकता है, आचार्यके कथनसे यह ध्वनित होता है—

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात्।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं त्वदनुग्रहात्॥

(विवेकचूडामणि ४८९)

इतना ही नहीं, उनका तो प्रभुके अनुग्रहका प्रतिपादन यहाँतक है कि जो करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर हैं, वाञ्छित फल देते हैं, उन दयासागर श्रीकृष्णको छोड़कर युगल नेत्र अन्य किस विषयका दर्शन करनेको उत्सुक हैं?—

कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णम्।
त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते॥

(प्रबोधसुधाकर १९१)

आचार्य निम्बार्कका निवेदन है—'हे हरे! शास्त्र तथा लोकमें यदि चेतन जीव ही आपके समान नहीं है तो आपसे अधिक गुणवाला समर्थ दूसरा हो ही कौन सकता है। अतः मैं सुधानिधि, कमलनयन, शरणद आपकी शरण ग्रहण करता हूँ'—

त्वत्समो यदि ह नास्ति चेतनः कस्त्वदाधिकगुणाकरः प्रभुः।
त्वां प्रयामि शरणं शरण्यकं पुण्डरीकनयनं सुधानिधिम्॥

(कृष्णस्तवराज १)

आचार्य निम्बार्ककी तरह मध्वाचार्यने भी कहा है—मैं दोनों हाथ उठाकर शपथपूर्वक कहता हूँ कि भगवान्‌के समान इस चराचर जगत्‌में कोई नहीं है। वे सर्वश्रेष्ठ हैं। इस कथनका तात्पर्य यह है कि मध्वाचार्यने भगवान्‌को परम शरण्य स्वीकार किया है। चैतन्य महाप्रभुका निवेदन है कि 'हे नन्दनन्दन! विषम संसार-सागरमें पड़े हुए मुझ दासको कृपापूर्वक अपने चरणकमलके एक धूलि-कणके समान समझ लीजिये'—

अयि नन्दतनूज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय॥

(पद्यावली ७१)

हमें अपने मनको यह कहकर सदा सावधान करते रहना चाहिये कि भक्तानुग्रह-विग्रह, प्रभुकी कृपामयी मूर्ति ही नयनोंके लिये दर्शनीय है—

'नयननि निरखि कृपासमुद्र हरि।'

(विनयपत्रिका २०५। ३)

कृपामय प्रभु—अनुग्रहपति प्रभु अनुग्रह-ही-अनुग्रह हैं, कृपा-ही-कृपा हैं। कृपामयी प्रभुमूर्ति वन्द्य है, आराध्य है, उपास्य है।

भगवत्कृपाके विविध रूप

(लेखक—डॉ० श्रीव्रजबिहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल०)

परिस्थिति और भगवत्कृपा—

'भगवान् कृपालु हैं, हम कैसे जानें। कृपालु होते तो क्या हमारी यही दशा होती ? जन्म-मृत्यु और आधि-व्याधिका चक्कर तो लगा ही रहता है—ऊपरसे यह मँहगाई, भ्रष्टाचार, अभाव, अराजकता और अशान्ति ! भगवान्‌ने कभी किसी द्रौपदीका चीर बढ़ाया होगा, कभी किसी हिरण्यकशिपुसे किसी प्रह्लादकी रक्षा की होगी, कभी किसी गजकी पुकारपर वे नंगे पाँव भागे चले आये होंगे उसे ग्राहसे छुड़ानेके लिये। पर आज जब एक नहीं अनेकों दुर्योधन और ग्राह उद्यत हैं हमें नंगा करके निगल जानेके लिये। हमारा संकट देखकर न तो उन (परमात्मा) का हृदय पसीजता है, न हमारी पुकार ही उनके कानमें गूँजती है।' भगवान्‌को कैसे लगते होंगे ये शब्द ! वे भक्तवत्सल हैं, भक्तोंपर कृपा करना उनका सहज-स्वभाव है। वे सदा वही करते हैं, जो उनके भक्त चाहते हैं। भक्तोंकी वाञ्छा पूर्ण करनेके अतिरिक्त उनका और कृत्य ही क्या है !—

कृष्ण सेइ सत्य करे, जेइ माँगे भृत्य।
भक्तवाञ्छा पूर्ति बिनु नाहि अन्य कृत्य ॥
(चै० च० २।१५।१६६)

भगवान्‌की कृपा भी उनके स्वरूपकी तरह व्यापक है। सामान्य पुरुष उन्हें निष्ठुर भले ही कहें, पर भगवद्विश्वासी पुरुषोंकी दृष्टि जिधर भी जाती है, उधर उन्हें केवल कृपाकी वृष्टि ही होती दीखती है। उनकी कृपासे ही सूर्य और चन्द्रमा नियमित समयपर उदित होकर प्रकाशका विस्तार करते हैं, पवन आन्दोलित होता है, बादल वृष्टि करते हैं, अग्नि उष्णता प्रदान करती है, पृथ्वी अन्न उपजाती है, वृक्षोंमें पुष्प खिलते हैं, फल लगते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभावके अनुसार कुछ निश्चित नियमोंका पालन करता है। यदि अग्नि, जो आज उष्णता प्रदान करती है, एक क्षणमें उष्णता प्रदान करे और दूसरेमें शीतलता; जल, जो आज शीतल है, एक क्षणमें शीतल हो, दूसरे क्षणमें उष्ण; ओषधियाँ, जो आज एक स्थितिमें हमारे प्राणोंकी रक्षा करती हैं, उसी स्थितिमें कभी प्राण घातक हो जातीं तो क्या जीवन सम्भव हो सकता था ! क्या प्रकृतिकी नियमबद्धता और एकरूपता (Uniformity of nature) भगवान्‌की कृपालुताका सबसे बड़ा प्रमाण नहीं है !

जो लोग भगवान्‌को संसारके दुःख-दर्द, अभाव-अशान्ति और जन्म-मृत्युका कारण मानकर निष्ठुर ठहराते हैं, वे यह नहीं जानते कि सुखकी अपेक्षा दुःखमें, भावकी अपेक्षा अभावमें और अमरत्वकी अपेक्षा मृत्युमें भगवान्‌की कृपा अधिक है। सुख जीवको मोहकी नींद सुलाता है, दुःख जगाकर रखता है; सुख उसे भगवान्‌से विमुख कर अशान्त बनाता है, दुःख भगवान्‌की ओर उन्मुख कर शाश्वत सुख और शान्तिका मार्ग प्रशस्त करता है।

यदि सांसारिक सुख जीवके लिये हितकर होता तो माँ कुन्ती भगवान् श्रीकृष्णसे दुःखका वरदान क्यों माँगतीं ! यदि अभाव अहितकर होता तो ईसामसीह क्यों कहते कि 'ऊँटका सूईके छेदमें प्रवेश पाना सम्भव है, पर सम्पन्न व्यक्तिका संसार-सागरसे पार होना कठिन है !' यदि ऐश्वर्य-भोग कल्याणकारी होता तो रावण और हिरण्यकशिपु दुराचारी क्यों कहलाते !

अवतार और भगवत्कृपा—

भगवान् केवल अप्रत्यक्ष रूपसे विश्वकी समुचित व्यवस्था करके ही जीवोंपर कृपा नहीं करते, प्रत्युत वे कृपापूर्वक प्रत्येक युगमें प्रत्यक्ष रूपसे प्रकट होकर भी भू-भार-हरण करते हैं। ऐसा कौन-सा विशेष कारण है, जिसके लिये उन्हें स्वयं अवतरित होना पड़ता है ?

चैतन्य-चरितामृतकार श्रीकविराज कृष्णदास गोस्वामीका कहना है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भू-भार-हरणके लिये अवतरित नहीं होते। यह कार्य तो आनुषङ्गिक रूपसे उनके अंश क्षीरोदशायी विष्णुद्वारा सम्पन्न हो जाता है (चै० च० १।४।१२)। क्षीरोदशायी विष्णु श्रीकृष्णके अभ्यन्तर रहकर उन्हींके अङ्ग-प्रत्यङ्गद्वारा असुर-संहारादि कार्य करते हैं। लगता है कि श्रीकृष्ण स्वयं यह

कार्य करते हैं, पर वास्तवमें असुर-संहारादिद्वारा युग-धर्म-प्रवर्तन उनका कार्य नहीं है और इस कार्यके लिये वे अवतीर्ण होते भी नहीं; उनके अवतीर्ण होनेका रहस्य कुछ और ही है। कुन्तीदेवीने कुरुक्षेत्र-युद्धके पश्चात् श्रीकृष्णके द्वारका जानेके पूर्व अपने स्तवनमें इस रहस्यका उद्घाटन करते हुए कहा है कि श्रीकृष्णका अवतरण भक्तियोगविधानार्थ होता है (श्रीमद्भा० १ । ८ । २०)। उनका तात्पर्य उस भक्तियोगसे नहीं, जिसका लक्ष्य सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त करना है; अपितु रागानुगा-भक्तिसे है, जिसका लक्ष्य प्रेम-रूप धनकी प्राप्ति है।

रागानुगा-भक्तिका प्रचार कर प्रेम-दान करनेके लिये श्रीकृष्ण इतने उत्कण्ठित क्यों रहते हैं ? इसीलिये कि वे परम-करुण हैं। करुणत्वके कारण जीवको रागानुगा-भक्तिद्वारा उस योग्यताको प्रदान करनेकी उनकी व्याकुलता स्वाभाविक है, जिसके द्वारा वह उनके असमोर्ध्व माधुर्यका आस्वादन कर परमानन्द प्राप्त कर सकता है—उस माधुर्यका जो स्थावर-जङ्गम सभीके चित्तको आकर्षित करनेकी सामर्थ्य रखता है, जिसके लिये आत्माराम मुनिगण भी लालायित रहते हैं, जिसके लिये लक्ष्मी भी तरसती हैं और जिसके आस्वादनका लोभ स्वयं श्रीकृष्णको भी हो आता है (चै० च० २ । २१ । ८६–८८)। उनकी व्याकुलता स्वाभाविक इसलिये भी है कि उनकी कृपाके विना जीवके लिये उस योग्यताको प्राप्त करनेका कोई अन्य उपाय ही नहीं है (चै० च० २ । २४ । १३५)।

श्रीजीवगोस्वामीजीने इस बातपर विशेष बल दिया है कि भक्ति श्रीकृष्णकी आह्लादिनी प्रधाना स्वरूप-शक्तिवृत्ति है और भगवान्‌के स्वरूपमें ही उस (भक्ति)की स्थिति है। भगवान् स्वयं ही जीवके हृदयमें भक्तिका सञ्चार करते हैं। जीवको ज्ञान-कर्म-योगादि—किसी साधनसे उस भक्तिको प्राप्त करनेमें कठिनता होती है, परंतु वह केवल श्रीकृष्ण-कृपासे उसे सरलतासे प्राप्त कर सकता है—

> ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव ।
> गुरु-कृष्ण प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥
>
> (चै० च० २ । १९ । १३३)

सचमुच भक्ति-प्राप्तिका कोई अन्य साधन है ही नहीं; भक्ति स्वयं ही साधन भी है और साध्य भी। जिस प्रकार साध्य-भक्ति भगवान्‌की कृपासे प्राप्त होती है, उसी प्रकार साधन-भक्ति भी उन्हींकी कृपासे उपलब्ध होती है। भक्तिके जितने भी साधन और उपकरण हैं, वे प्रपञ्चात्मक (जगत्‌के-से) दीखनेपर भी प्रपञ्चातीत और भगवान्‌की स्वरूप-शक्तिके कृपाप्रसाद हैं। श्रवण-कीर्तनादि साधनकी जितनी भी क्रियाएँ हैं, सब श्रीकृष्ण-कृपासे ही सम्भव हैं—

> 'कृष्णेरे भजय ।'
>
> (चै० च० २ । २४ । १४३)

कुन्तीदेवीके स्तवनसे श्रीकृष्ण-अवतरणके एक अन्य रहस्यका भी उद्घाटन होता है। उन्होंने कहा है—'हे भगवन्! जिसके नाम-स्मरणमात्रसे सारे अपराध दूर हो जाते हैं, वही तुम (गोपी यशोदाकी दहीकी हँड़ियाँ तोड़ देनेके कारण) अपनेको अपराधी मानते हो, भय भी जिससे भयभीत होता है, वही तुम (माया-बन्धनसे मुक्ति देनेवाले होनेपर भी) रज्जु-बन्धनसे भयभीत हो—नेत्रोंसे कज्जल-मिश्रित अश्रु-विसर्जन करते हुए नीचा मुँह किये खड़े हो जाते हो। तुम्हारी उस समयकी छविका स्मरण कर मैं विमुग्ध हुए विना नहीं रहती।' स्पष्ट है कि श्रीकृष्णको प्रेम-वश्यता स्वीकार कर भक्तके प्रेम-सुधा-आस्वादनमें जो सुख मिलता है, वह उन्हें अपनी भगवत्ता और अपने आनन्दस्वरूपसे भी नहीं मिलता। प्रेमका अगाध समुद्र भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्ता, विभुता और अचिन्त्य शक्तिमत्ताको अपने अतल-तलमें समेटकर उन्हें यशोदाके वात्सल्य-अमृतका आस्वादन करनेका सुयोग देता है। इस रसका आस्वादन करना भी रसिकशेखर श्रीकृष्णकी लीलाका एक उद्देश्य है।

ब्रह्माजीने भी देवकी-गर्भस्थ श्रीकृष्णकी स्तुति करते समय कहा—'हे भगवन्! विनोद अथवा लीलाके अतिरिक्त आपके अवतरणका कोई अन्य कारण मेरी समझमें नहीं आता (श्रीमद्भा० १० । २ । ३९)। लीला भगवान् और उनके लीला-परिकरोंको आनन्द-विभोर कर देती है। अप्रकट लीलामें श्रीकृष्ण अपने नित्य परिकरोंकी प्रेम-सुधाका आस्वादन करते हैं और विशेष कृपावश प्रकट लीलामें संसारके बद्ध जीवोंको भक्तिका दान कर प्रेम-रसका आस्वादन करते हैं। जीवोंको भक्तिका दान कर उनके प्रेमरसका आस्वादन करना भगवान्‌के अवतारका एक विशेष कारण है। भक्तके

हृदयमें निक्षिप्ता ह्लादिनी (शक्ति)के आनन्दकी चमत्कारिता भगवान्‌के स्वरूपमें स्थित अर्थात् स्वरूपगत ह्लादिनीके आनन्दकी अपेक्षा कहीं अधिक है; जिस प्रकार वंशीवादककी वंशीध्वनि उसकी अपनी ही फूत्कारके सिवा और कुछ नहीं है, पर वंशी-रन्ध्रोंमें प्रवेश करते ही वह इतनी मधुर हो जाती है कि वंशीवादक स्वयं भी विमुग्ध हो जाता है, उसी प्रकार भगवान्‌की ह्लादिनी-शक्ति भक्तके हृदयमें निक्षिप्त होनेपर एक अपूर्व आनन्द-चमत्कारिता धारण कर लेती है, जो भगवान्‌को भी विमुग्ध कर देती है ।

जिस प्रकार वात्सल्यमयी माँ अपने शिशुको स्तनपान कराकर उसे तृप्त करती है और स्वयं भी तृप्त होती है, उसी प्रकार करुणाकर भगवान् अपने भक्तोंको तो धन्य करते ही हैं, स्वयं भी धन्य होते हैं । भक्तके प्रति कृपा कर वे उसपर अनुग्रह करनेका भाव रखते हों, ऐसा नहीं, यदि भक्त उनके अनुग्रहको स्वीकार कर ले तो वे अपने-आपको ही अनुगृहीत अनुभव करते हैं। भिन्न-भिन्न रुचिके भक्तोंके लिये वे भिन्न-भिन्न रूपोंका विस्तार करनेकी कृपा करते हैं और उनके थोड़ा भी उन्मुख होनेपर उलटा अपने आपको उनका ऋणी मानते हैं ।

जीवोंकी बद्धावस्थामें भी उन्हें अपनी सेवा-पूजाका अवसर प्रदान करनेके लिये ही वे प्रपञ्चात्मक जगत्‌में मूर्तरूपसे प्रकट होते हैं, गोलोकके मणिमय निकुञ्जोंको छोड़कर भक्तकी टूटी-फूटी झोपड़ीमें रहते हैं, प्रपञ्चात्मक जगत्‌के सभी बन्धनोंको स्वीकार करते हैं, गर्मी, जाडा, वर्षा, भूख, प्यास और अनेक प्रकारकी यातनाओंमें रस लेते-से दीख पड़ते हैं और यदि किसी अनुरक्त भक्तके पाले पड़ जायँ तो उसके शासनमें रहकर उसकी डाँट-फटकार भी सहते हैं । फिर भी उसकी प्रेम-सेवा स्वीकार कर उसका अनुग्रह मानते हैं ।

श्रीमद्भागवतादि अपने वाङ्मयावतारों (मधुर लीला-कथाओं)के रूपमें तो वे प्रकट ही रहते हैं, जो जीवोंको संसार-सागरसे पार करनेके लिये सेतु-स्वरूप हैं । पर जो लोग उनकी इस कृपाको स्वीकार कर उनकी लीला-कथाओंका श्रवण-कीर्तन करनेकी इच्छामात्र करते हैं, उनके प्रति कृतज्ञतावश वे उनके हृदयमें स्वयं आबद्ध हो जाते हैं—

सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ।

(श्रीमद्भा० १ । १ । २)

धाम और भगवत्कृपा—

धामरूपमें प्रकटित होकर तो वे अपने कृपा-वसनको भूतलपर बिछाये रखते हैं, जिससे वे लोग जिनसे किसी प्रकारका भजन-साधन नहीं बनता, यदि केवल उनके धाममें आकर पड़ जायँ तो धाम अपने अचिन्त्य प्रभावसे उनके जन्म-जन्मान्तरके पापोंका मार्जन कर उन्हें अपनी अपार दैवी सम्पत्तिका अधिकारी बना देता है । पर जो लोग उनकी इस कृपासे आकृष्ट होकर श्रद्धापूर्वक धामकी शरण लेते हैं, भगवान् उनका भी आभार मानते हैं; क्योंकि वे भगवान्‌की ही जीवोद्धाररूप एक साध पूरी करते हैं । भगवान्‌की अपनी उक्ति है कि वे अपने भक्तोंके पीछे फिरते रहते हैं, जिससे उनके चरणोंकी रज उड़कर उनके ऊपर पड़े और वे धन्य हो जायँ—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ।

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १६)

धामरूपमें भक्तोंको अपने वक्षःस्थलपर धारण कर वे अपनी इस साधको सहज ही पूरी कर अपनेको धन्यातिधन्य मानते हैं ।

नाम और भगवत्कृपा—

नामरूपमें उनकी कृपाके विषयमें जितना भी कहा जाय, थोड़ा है । नाममें उन्होंने अपनी सारी कृपा-शक्ति कूट-कूटकर भर दी है । नाम-स्मरणका साधन भी कितना सरल कर दिया है; इसमें न देशका कोई नियम रखा है, न काल-का, न पात्रताका । नाम-स्मरणकी कोई लम्बी अवधि भी निर्धारित नहीं की है । केवल एक बार श्रद्धापूर्वक और निरपराधभावसे नाम लेनेसे जीवके सभी पापोंका नाश हो जाता है और उसमें भक्तिका उन्मेष हो जाता है—

एक कृष्णनाम करे सर्व पाप नाश ।
प्रेमेर कारण भक्ति करे न प्रकाश ॥

(चै० च० १ । ८ । २२)

इतनी कृपा करनेपर भी वे स्वयं कृतज्ञ होते हैं उस व्यक्तिके प्रति, जो केवल एक बार उनका नाम स्मरण कर लेता है—

सकृत् संकीर्तितो देवः स्मृतो वा मुक्तिदो नृणाम् ।
कृतज्ञोऽसौ घृणी शश्वत् स कथं वो न संस्मृतः ॥

(इतिहासोत्सव)

कैसी विलक्षण, कैसी मधुर, कैसी रसमयी कृपा है रसिक-शेखर श्रीकृष्णकी !

विपत्तिमें भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीहर्षदराय प्राणशंकर वधको)

सम्राट् फिलिपके जीवनका एक प्रसङ्ग है। एक दिन वह राजमहलकी छतपर खड़ा था। उसी समय उसने देखा कि एक कैदीको फाँसी दी जा रही है। वह बोल उठा—'हे भगवन्! मुझपर आपकी कैसी महती कृपा है! मैं आज राजगद्दीके महान् सुखको भोगता हूँ और उस मनुष्यको फाँसीके तख्तेपर लटकना पड़ रहा है!' पीछे ही खड़े फिलिपके गुरुने यह बात सुनी और वे बोले—'राजा! तू भूल रहा है, परमात्माकी जो कृपा तुम्हें राज्यकी यह सुख-सम्पत्ति देनेमें है, वही कृपा इस मनुष्यको फाँसीपर लटकानेमें भी है।'—कैसा महान् सत्य है! मनुष्यकी सीमित, संकीर्ण और संकुचित दृष्टि लौकिक सुखोंमें भगवान्‌की कृपाका अनुभव करती है और दुःखोंमें उनकी अकृपा देखती है। भगवत्कृपाकी तो अनवरत वर्षा हो रही है। हमारे सीमित विचारोंके कारण हमें उसकी अनुभूति और साक्षात्कार नहीं हो पाता।

हमें भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा नहीं करनी है, अपितु उसकी 'समीक्षा' करनी है। प्रतीक्षा तो उसकी की जाती है, जो प्राप्त नहीं है। भगवत्कृपा तो सदा-सर्वदा प्राप्त है और समीक्षा प्राप्त वस्तुकी ही होती है।

परमात्मा स्वयं मङ्गलस्वरूप हैं—

मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं गरुडध्वजः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनो हरिः॥
(गरुडपु० उ० ख० ३५। ४६)

मङ्गलस्वरूप भगवान् कभी अमङ्गल नहीं करते। विष्णुसहस्रनामस्तोत्रमें भगवान्‌के स्वस्तिद, स्वस्तिकृत्, स्वस्ति, स्वस्तिभुक्, स्वस्तिदक्षिण आदि मङ्गलप्रद नाम हैं। तदनुरूप परमात्माका प्रत्येक विधान भी कल्याणप्रद ही होता है। ये मङ्गलमय विष्णु सर्वव्यापक हैं। जीवन और मृत्युमें, मित्र और शत्रुमें, रोग और आरोग्यमें, धनकी प्राप्ति और हानिमें, मान और अपमानमें—हमें सर्वत्र मङ्गलस्वरूप परमात्माके ही स्पर्शका अनुभव होना चाहिये। इसीलिये 'गीताञ्जलि'के कवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरने भावविभोर हो गाया है—'हे परमात्मन्! मुझे वह शक्ति दो, जिसके द्वारा मैं जीवनके सारे स्वाँगोंको प्रेमद्वारा अपना सकूँ—चाहे कोई प्रसङ्ग आनन्दका हो या शोकका, लाभका हो या हानिका, उदयका हो या अस्तका।'

नरसी मेहताके पुत्र शामलशाहकी मृत्यु हो गयी है और वे गाते हैं—

भलुं थयुं भांगी जंजाल, सुखे भजीशुं श्रीगोपाल।

'अच्छा हुआ जंजाल छूट गया, अब सुखसे श्रीगोपालका भजन करूँगा।' वे कहते हैं—

'जे गम्युं जगत गुरुदेव जगदीशने ते तणे खरखरो फोक करवो।
आपणो चिंताओ अर्थ कई नवसरे, उगरे एक उद्वेग धरवो॥'

'जगत्‌में जिससे स्नेह था, उसे गुरुदेव जगदीशने ले लिया। अब मेरी चिन्ताका कोई विषय नहीं रह गया। एक उद्वेगसे छुटकारा मिला।'

तुकारामजीकी पत्नी बड़ी उग्र-स्वभाववाली और कर्कशा थी। इसके लिये तुकारामजी भगवान्‌का आभार मानते और कहते कि पत्नीके प्रतिकूल होनेसे उसके जालमें न फँसकर मैं सुगमतापूर्वक परमात्माको प्राप्त कर सका। एकनाथजीकी पत्नी अनुकूल स्वभावकी थी तो उन्होंने प्रभुका आभार इस रूपमें माना कि उनकी पत्नी उनके साधन-मार्गमें सहायक बनी। इस प्रकार नरसी मेहताने पुत्रकी मृत्युमें, तुकारामने प्रतिकूल पत्नीकी प्राप्तिमें और एकनाथजीने अनुकूल पत्नीकी प्राप्तिमें परमात्माके अनुग्रहका ही दर्शन किया।

किसा गौतमीका इकलौता पुत्र मर गया। वह शोकाकुल हो भगवान् बुद्धके पास आयी और दीक्षित हुई। 'त्रिपिटक' ग्रन्थमें भिक्षुणी पटाचाराकी बड़ी प्रशंसा है। उसके केवल एक प्रवचनसे पाँच सौ स्त्रियाँ भगवान् बुद्धसे दीक्षित होकर भिक्षुणी बन गयीं। पटाचाराका पूर्व-जीवन देखिये—उसने अपने माता-पिताकी आज्ञाके विरुद्ध अपनी पसंदसे विवाह किया। वह बहुत दूर देशमें रहने चली गयी। दो पुत्रोंका जन्म होनेके बाद एक दिन वह माता-पितासे मिलने चली। पति और बालक उसके साथ थे। मार्गमें जंगल पड़ा। उसके पतिको एक सर्पने डँस लिया और वह मर गया। एक जंगली जानवर

उसके एक पुत्रको उठा ले गया। उसका बड़ा पुत्र एक झाड़ीमें प्रवेश कर उसीके भीतर ही लुप्त हो गया। वह हताश होकर हृदय-द्रावक विलाप करती हुई श्रावस्तीमें अपने माता-पिताके घर पहुँची। वहाँ खबर मिली कि उसकी अनुपस्थितिमें उसके पिताका घर गिर गया और माता-पिता दोनों उसीमें दब गये। शोकातुर पटाचारा भगवान् बुद्धकी शरणमें गयी। तथागतने उसे सांसारिक सम्बन्धके मिथ्यात्व-का परिज्ञान कराया, शाश्वती शान्ति और सुख-दुःखसे परे जीवनकी अविनश्वर स्थितिसे उसे सम्यक् प्रवुद्ध किया। त्रितापकी उग्रतम ज्वालाओंसे दग्ध पटाचाराको भगवान् तथागतके शब्दोंसे परम शान्ति और समाधान प्राप्त हुआ।

बचपनसे ही संत रवियाने अनेक स्नेही जनोंके अवसान, भीषण दरिद्रता, रोग, गुलामी आदिको बिना घबराहट, सहज ही हँसते-हँसते सहन किया। भगवान्की करुणा, कृपा और न्यायप्रियताके विषयमें शङ्का करना भक्ति-मती रवियाके विचारसे मूर्खता और अश्रद्धाकी सीमा थी।

जो विपत्ति परमात्माका अखण्ड स्मरण कराती है, वह अभिशाप नहीं, वरदान है; अकृपा नहीं, अनुग्रह है।

नारदपञ्चरात्रमें स्वयं परमात्माके वचन हैं—

देशत्यागो महान् व्याधिर्विरोधो बन्धुभिः सह।
धनहानिरपमानं च मदनुग्रहलक्षणम्॥

'देशत्याग, महान् रोग, बन्धु-बान्धवोंसे विरोध, धन-हानि और अपमान—ये मेरी कृपाके लक्षण हैं।'

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें भगवान्की उक्ति है—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद्धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥
(१० । ८८ । ८-९)

'जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका धन धीरे-धीरे हर लेता हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है, तब उसके सगे-सम्बन्धी उस दुःखाकुलको छोड़ देते हैं। पुनः जब उसका धनप्राप्तिका सारा प्रयत्न निष्फल हो जाता है और उधरसे उसका मन विरक्त हो जाता है, तब वह मेरे प्रेमी भक्तोंका आश्रय लेकर उनसे सम्बन्ध स्थापित करता है। उस समय मैं उसपर कृपा करता हूँ।'

भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रकी मानहानि करते समय कहा—

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम्॥
मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति।
तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्॥
(श्रीमद्भा० १० । २७ । १५-१६)

'इन्द्र! तुम अपने ऐश्वर्य और धन-सम्पत्तिके मदसे उन्मत्त हो रहे थे, इसलिये तुमपर अनुग्रह करके ही मैंने तुम्हारा यज्ञ-भङ्ग किया है, जिससे तुम नित्य निरन्तर मुझे स्मरण रख सको। जो ऐश्वर्य और धन-सम्पत्तिके मदसे अंधा हो जाता है, वह मुझ दण्डपाणिको नहीं देखता। मैं जिसपर अनुग्रह करना चाहता हूँ, उसे ऐश्वर्य-भ्रष्ट कर देता हूँ।'

हमलोग परमात्माके कल्याणकारी संकेतोंको समझ नहीं पाते। मनुष्य परमात्माकी इच्छामें अपनी इच्छा मिला दे तो वह सदाके लिये सुखी हो सकता है। महात्मा खोट कहते हैं—'परमेश्वरकी इच्छासे बढ़कर कुछ नहीं है, उससे कम भी कुछ नहीं है, दूसरा कुछ है ही नहीं।'

यद्यपि प्रभु हमारी आवश्यकताओंको जानते हैं, फिर भी अज्ञतावश हम अपनी आवश्यकता उन्हें सूचित करें तो जो उत्तर हमारे लिये सबसे हितकर है, उसको प्राप्त करनेके लिये सर्वज्ञ ईश्वरपर भरोसा भी करना चाहिये।

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
(श्रीमद्भा० १ । ८ । २५)

'हे जगद्गुरो! हमारे ऊपर सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आवें; जिससे कि हमें फिर संसारकी प्राप्ति न करानेवाला आपका दुर्लभ दर्शन मिलता रहे।'

'भक्तोंकी करुण पुकार सुन—तुम विविध रूप धर आये'
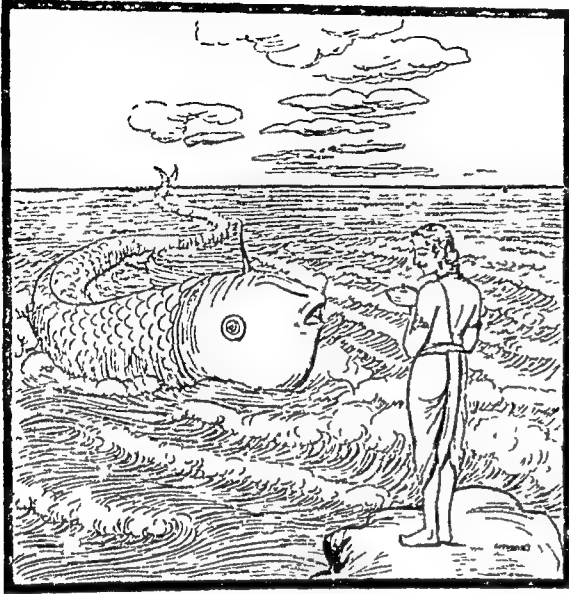
राजर्षि सत्यव्रतपर कृपा

[पृष्ठ ४०१

[illegible]भगवान्का प्राकट्य

[पृष्ठ ४१३

हिरण्याक्ष-उद्धार

[पृष्ठ ४१४

गर्भस्थ प्रह्लादपर देवर्षि नारदकी कृपा

[पृष्ठ ४१५

'भक्तोंकी करुण पुकार सुन—तुम विविध रूप धर आये'

विषधर सर्पोंके बीच भक्त प्रह्लाद

[पृष्ठ ४१६
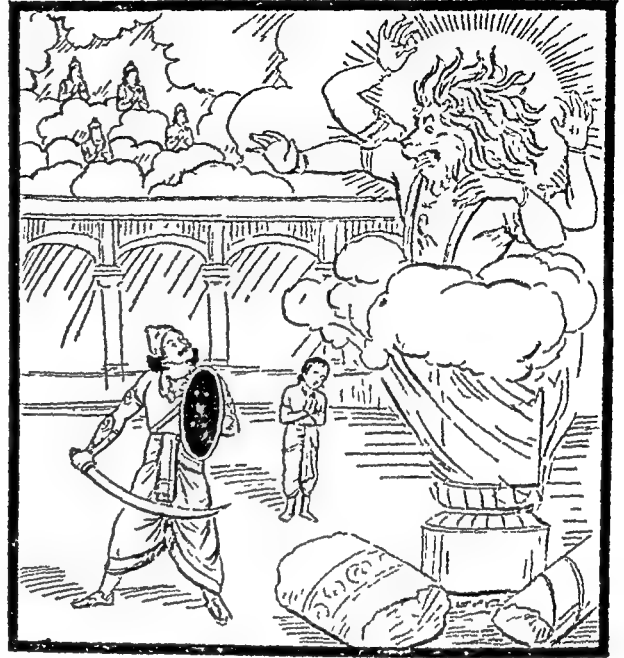
नृसिंहभगवान्‌का प्राकट्य

[पृष्ठ ४१६

द्विजवर कश्यप एवं देवी अदितिपर कृपा

[पृष्ठ ४१८
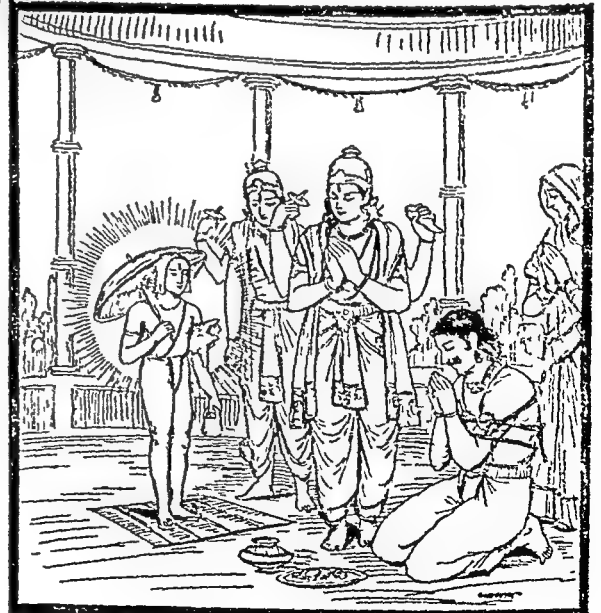
दैत्यराज बलिपर वामनभगवान्‌की कृपा

[पृष्ठ ४२०

दुःखमें छिपी भगवत्कृपा

प्राचीन कालकी बात है, एक महात्मा थे, जो भगवान्का दर्शन करनेके साथ-साथ उनसे वार्तालाप भी करते थे। एक दिन एक गरीब भक्त उन महात्माके पास उपस्थित होकर कातर स्वरमें कहने लगा—'महाराज! मैं अत्यन्त दरिद्र हूँ और प्रतिदिन और अधिक दरिद्र ही होता जाता हूँ; अब तो मेरे पास कुछ भी नहीं रहा। तीन-चार दिन हुए, मेरी फूसकी झोपड़ी भी जल गयी। अब तो मैं राहका भिखारी हो गया हूँ। प्रभु जिसे देते हैं, उसे भलीभाँति देते हैं और जिसका लेते हैं, उसका सर्वस्व छीन लेते हैं, इसका क्या कारण है? यह जाननेके लिये मैं आपके पास आया हूँ। मैं जानता हूँ कि आप प्रभुके प्रिय भक्त हैं और सदा उनसे वार्तालाप करते हैं, इसलिये आप मेरा संशय अवश्य दूर करनेकी कृपा करेंगे।'

महात्मा उस गरीब भक्तकी बात सुनकर मन-ही-मन विचार करने लगे कि इसकी बात तो सच है, संसारमें प्रायः ऐसा ही देखनेमें आता है। इसकी मीमांसा भी अवश्य होनी चाहिये। इस प्रकार मनमें सोचकर उन्होंने उस गरीब भक्तसे कहा—'अच्छा, अब तुम जाओ, मैं समयपर भगवान्से इस विषयमें प्रश्न करूँगा।' वह गरीब भक्त चला गया। अवसर पाकर महात्माने एक दिन प्रभुसे पूछा—'प्रभो! आप तो असीम दयालु, न्यायकारी, गरीबनिवाज, दीनदयालु, दीनबन्धु और भक्तोंका योग-क्षेम वहन करनेवाले हैं, तथापि भक्तोंको इतना दुःख क्यों देते हैं?'

प्रभुने कहा—'इसका उत्तर हम पीछे देंगे, पहले तुम मेरा एक काम करो। मुझे एक ईंटकी आवश्यकता है, उसे शीघ्र ले आओ।' महात्मा यह सुनकर ईंट खोजने चले गये। शहरमें जाकर देखा तो ईंटनिर्मित भव्य अट्टालिकाएँ, महल तथा सेठोंके नाना प्रकारके बँगले हैं, किंतु उनमेंसे ईंट निकालनेकी उनकी इच्छा नहीं हुई। तत्पश्चात् निर्धनोंकी बस्तीमें गये। वहाँ देखा कि एक गरीबका घर आधा गिरा हुआ है और शेष भी गिरनेवाला है। महात्मा उस टूटे हुए घरमेंसे एक ईंट लेकर भगवान्के पास उपस्थित हुए। भगवान्ने पूछा—'बताओ यह ईंट तुम कहाँसे लाये?'

महात्माने उत्तर दिया—'अमुक मुहल्लेके अमुक गरीब मनुष्यके आधे गिरे हुए मकानमेंसे यह ईंट लाया हूँ।' यह सुनकर भगवान् बोले—'यह तो तुमने अच्छा नहीं किया, जो उस शहरके धनी लोगोंकी सुन्दर-सुन्दर अट्टालिकाओंके रहते हुए भी एक गरीबके अर्ध-भग्न गृहमेंसे ईंट निकाल ली?' महात्माने कहा—'प्रभो! सुन्दर-सुन्दर मकानोंमेंसे यदि एक ईंट निकाल लेता तो उनका सौन्दर्य बिगड़ जाता। अतः मैं ऐसा न करके एक अर्ध-भग्न मकानमेंसे ईंट निकाल लाया हूँ। इतना ही नहीं, इस ईंटके निकालते ही शेष मकान भी गिर पड़ा, अब उस स्थानपर नवीन मकान तैयार होगा।'

यह सुनकर भगवान्ने कहा—'भक्तका सर्वस्व हरण करनेमें मेरा भी ऐसा ही अभिप्राय है। भक्तोंको अधिक देनेके लिये ही मैं उनका अल्प ले लेता हूँ, उनको अच्छा देनेके लिये ही उनसे बुरा लेता हूँ, उनको निवृत्ति देनेके लिये ही प्रवृत्तिसे दूर कर देता हूँ और उनको मुक्ति देनेके लिये ही उनके पाससे माया हटा लेता हूँ। यह भक्तकी परीक्षा है। इसमें जो उत्तीर्ण होता है, वही मेरा विशेष कृपापात्र होता है।'

महात्माने उस गरीब भक्तको भगवान्के इस उपदेशका अभिप्राय समझाकर उसका संशय दूर करते हुए कहा—'वत्स! याद रखो, प्रभु सुख देने और हमें अपनानेके लिये ही दुःखका दृश्य दिखाते हैं। इस दुःखमें ही भगवत्कृपा छिपी है। वर्तमानमें ही दुःखका फल सुख मिल जाय, यह निश्चित नहीं है, किंतु इससे पापोंका नाश होकर जीव भगवत्-सम्मुख हो सकता है, पवित्र तो वह निःसंदेह होगा ही। यही भगवत्कृपा है।'*

* स्वामी ज्योतिर्मयानन्दजी-द्वारा विरचित 'सद्गुरु-उपदेश या शान्ति-सोपान'से उद्धृत।

विपत्ति या भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीगोविन्दजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

भक्तोंके उपाख्यान मानो विपत्तियोंके निरङ्कुश नर्तनकी कथाएँ हैं, किंतु ऐसी प्रत्येक कथामें करुणामयकी उपस्थिति भी अनिवार्य हो जाती है। इस प्रकार देखें तो विपत्ति भगवान्के प्रकट होनेकी भूमिका है। मानव विपत्तिग्रस्त होकर दुःखी हो जाता है और कभी-कभी इस बातके रहस्य (कि यह विपत्ति पुराने पापोंको नष्ट करके भगवत्प्राप्तिमें सहायक है)को न समझनेके कारण अनात्मवादी भी बन जाया करता है; फिर विपत्तिमय होकर उसे दासवत् भोगता है। वह विपत्तिके सौन्दर्य और गुणोंको पहचान नहीं पाता। यदि विपत्तिमें पाप-प्रक्षालनकी शक्ति न होती तो भगवान् अपने भक्तोंके लिये उसका विधान कदापि न करते।

विपत्ति दुःखकर इसलिये प्रतीत होती है कि हम सुखके लिये अधिकार-बुद्धिसे लालायित रहते हैं और विपत्तिके सामने दासकी तरह असहाय भावसे समर्पित हो जाते हैं। उस समय हमारा विवेक कुण्ठित हो जाता है। दुःखद स्थितिको हम विपत्ति मानते हैं, परंतु वास्तविक विपत्ति तो वह सम्पत्ति ही है, जिसके वशीभूत हो हम भगवान्को भूलकर अनाचारमें लिप्त हो जाते हैं। वह सम्पत्ति किस कामकी, जिसमें व्यक्ति स्वार्थी, मोहान्ध और राक्षस बन जाय!

परमेश्वरकी सृष्टिमें कोई भी वस्तु नितान्त अनुपयोगी अतएव अमङ्गलकर नहीं है। विपत्तिके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। भगवान्की अकारण-करुणाका साक्षात्कार करनेके लिये विपत्तिसे बढ़कर अन्य कोई माध्यम नहीं। उस विपत्तिको हम अशुभ कैसे मानें, जो हमें निरभिमान बनाती है, कातरभावसे युक्त कर भगवान्की शरणमें ले जाती है और दुःखियोंके प्रति सहजरूपसे संवेदनशील बनाती है। विपत्ति व्यक्तिको निर्मल करती है, उसके दुष्कर्मोंको भोगरूप देकर नष्ट करती है और भविष्यमें पापोंसे बचनेका क्रियात्मक उपदेश देती है।

प्रायः देखा जाता है कि भगवान्के भक्त विपत्तियोंसे पीड़ित और दुःखग्रस्त रहते हैं। ऐसे घटनाक्रमोंको लेकर कुछ लोग भक्तोंका उपहास करते हैं और भगवान्के प्रति अविश्वास भी प्रकट करते हैं। इसे युगका प्रभाव कहें या लोगोंकी अल्पज्ञता। वस्तुतः विपत्तियाँ भगवान्की दी हुई वरदान हैं। भक्तपर विपत्ति आनेका रहस्य ही यह है कि भगवान् अपने आनेसे पहले भक्तको स्वच्छ एवं पवित्र कर देना चाहते हैं। जो विपत्तियोंको देखकर घबराते और रोते हैं, वे उनसे लाभ कैसे उठा सकते हैं?

यह प्रकृतिकी व्यवस्था है, जो व्यष्टि एवं समष्टि-स्तरपर उभयथा कार्यरत है। प्रत्येक युगमें विपत्तियोंका प्रसार होता है और जब विपद्ग्रस्त जन-समुदाय शरण होकर भगवान्को पुकारता है, तब परम पुरुष प्रकट होते हैं। भगवान्का स्वरूप विपत्तिमें आभासित होने लगता है। वे इतने करुण और भक्त-दुःख-कातर हैं कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके नियन्ता, सर्वसमर्थ और निरपेक्ष होकर भी भक्तकी आर्त पुकारपर वराह, नृसिंह-जैसे नानाविध रूप धारण कर लेते हैं। वे भक्तकी पीड़ासे कराह उठते हैं।

भगवान् सर्वसमर्थ हैं और कृपा उनकी शक्ति है। अशरणशरण और अकारण-करुणामय भगवान्के पास कृपा-ही-कृपा है, मङ्गल-ही-मङ्गल है, शुभ-ही-शुभ है। सामान्य स्थितिमें व्यक्ति भगवान्की शक्तियोंका साक्षात्कार और अनुभव नहीं कर सकता, इसलिये उसे निर्मल एवं भगवत्कृपाको धारण करनेमें समर्थ बनना आवश्यक है। यह सामर्थ्य ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग आदि विभिन्न मार्गोंसे प्राप्त हो सकता है। इन सभी मार्गोंमें विपरीत स्थितियाँ विपत्तिके रूपमें आती हैं, जिनसे मुक्त होकर अथवा जिनके आवरणको भेदकर आगे बढ़ना भगवान्की कृपासे ही सम्भव होता है। जिसने अहंकारके वश होकर अपने आपको कुछ समझना आरम्भ कर दिया, वही पतित हुआ और जिसने अनुकूलता या प्रतिकूलता, सम्पत्ति या विपत्तिको भगवान्की वस्तु समझकर सादर स्वीकार किया, उसपर भगवान्की कृपा हुई।

इस संसारकी वस्तुमात्र भगवान्का स्वरूप हैं या भगवान्की हैं—'ईशा वास्यमिदꣳ सर्वम्' (ईशोप० १), 'यस्येदं सेश्वरं वशे' (श्रीमद्भा० १० । ९ । १९)

आदि वाक्य इस तथ्यकी पुष्टि करते हैं। इस सत्यको व्यवहारमें उतार लेनेवाला कभी पछताता नहीं, सम्पत्ति और विपत्ति उसके लिये अर्थहीन हो जाती हैं। प्रत्येक वस्तुको भगवान्का अनुग्रह या भगवत्स्वरूप माननेवाला असङ्गता प्राप्त कर लेता है और असङ्गता तथा विश्वाससे भगवान्का सामीप्य प्रकट होने लगता है।

हम सभी जानते हैं, आजके व्यक्तिमे उन्नतिकी उद्दाम लालसा है, विकास करनेकी उत्कट कामना है और यह सब करके वह सुखी होना चाहता है, किंतु हो रहा है सब कुछ इसके विपरीत ही। सुख-प्राप्तिके लिये किये जा रहे विस्तारसे दुःख बढ़ रहा है। ऐसी दशा भारतमे रहनेवालोंकी ही नहीं, अपितु अमेरिका-जैसे सम्पन्न, सुविधा-युक्त और समुन्नत देशमें रहनेवाले भी दुःखी हैं, भयभीत हैं, बेचैन हैं। कोई जलवायु और धरतीके संदूषण (भूकम्प)-से भयभीत हैं तो कोई जनसंख्या-वृद्धिके भविष्यको सोचकर आशङ्कित हैं तथा कोई पानीकी सम्भावित कमीपर विचार करके ही अत्यन्त चिन्तित हैं।

सत्य यह है कि मनुष्य सम्पत्ति और ज्ञानके अहंकारसे गर्विष्ठ होकर पथभ्रष्ट हो गया है। इसलिये वह बाहुल्यसे भयभीत एवं वैभवसे त्रस्त है। इसके विपरीत यदि उसके क्षुद्र अहंका यह विस्तार न होता, वह सब कुछ भगवान्का मान लेता, जो हो रहा है, उसे भागवती कृपा समझ लेता तो निश्चय ही दुःखी न होता। उसकी यह धारणा कि तत्त्वों-की दूषितता मानवकृत है और इसपर नियन्त्रण कर पाना मनुष्यके हाथमे है अथवा जनसंख्यामे वृद्धि मनुष्यकी इच्छा और क्रियासे हो रही है तथा इसपर नियन्त्रण किया जा सकता है अथवा बढती जनसंख्याको भोजन देनेका दायित्व समाजधरोंपर है— अज्ञानमूलक एवं मिथ्या है। वस्तुतः इन क्रिया-कलापोंकी जड़ तो प्रकृति है। मानवको इस तरहके विकास और विस्तारकी प्रेरणा भी वही देती है और यह संदूषण तथा अभाव भी उसीकी अनिवार्य व्यवस्थाएँ हैं। मानवके पास तो इसका सरल उपाय 'संयम' है।

हम जानते हैं, कोई भी वस्तु व्यवहारमे आनेसे विकृत भी होती है और जीर्ण भी। समाजमे भी जब यह व्यवहारजनित जीर्णता एवं विकृति पनपती है तो उसका संशोधन प्राकृतिक आवश्यकता वन जाता है। इस स्थितिमे भगवान् शंकर रुद्र बन जाया करते हैं। वे संसारके स्वामी हैं। जीर्ण और विकृत वस्तु उन्हे पसंद नहीं, इसलिये वे उसे नष्ट कर देते हैं। यह विनाश निर्माणकी पूर्वपीठिका है। आजकी विषमतासे भी लोग इसीलिये पीड़ित हैं कि वे भगवान्से विमुख होते जा रहे हैं। वे अपने प्रति अहंकारकी सीमातक आश्वस्त हैं। इस समग्र विकासको भगवान्की लीला समझनेवाले न भयातुर होते हैं और न आशङ्काग्रस्त ही।

आजके वैज्ञानिक जिसे भविष्यकी विपत्ति समझते हैं, वह भी भगवान्की कृपा ही है। मनुष्य शास्त्रानुकूल जितना कुछ कर सकता है, उसे तटस्थ-भावसे करके भगवान्के अर्पित कर दे तो व्यर्थकी आशङ्का और चिन्तासे मुक्त हो सकता है। वस्तुतः जो होना है, वह तो होगा ही। आज चिन्ताकी संक्रामक व्याधि और भयकी बीमारी जितनी कल्पना-जनित गणितसे फैल रही है, उतनी किसी भी युगमे नहीं फैली थी और यह इसलिये कि व्यक्ति भगवान्को पहचाननेके लिये, उनकी शक्तिको समझनेके लिये तैयार ही नहीं है। वह अपने आपको ही कर्ता-भर्ता मान बैठा है। वह यह भूल गया है कि प्रकृतिके नियमोंमे कोई दोष या कमी नहीं हो सकती। भगवान् कभी भी निर्दय नहीं बन सकते। जो प्रकृति अण्डेको आकाशमें निक्षेप करनेसे पहले पंख उगा देती है और जो भागवती कृपा उनकी चोंचके लिये चुग्गेकी व्यवस्था करती है, वह समर्थ भी है और निर्दोष भी।

'कृपा करिकै जेहिकों अपनायो'

दीनदयाल कहाइकै धाइकै दीनन सों क्यों सनेह बढ़ायो।
त्यों 'हरिचंद' जू बेदनमें करुनानिधि नाम कहो क्यों गनायो॥
एती रुखाई न चाहिये तापै कृपा करिकै जेहि कों अपनायो।
ऐसो ही जो पै सुभाव रह्यो तो गरीब-नेवाज क्यों नाम धरायो॥

(प्रेम-माधुरी, ३९)

भगवत्कृपासे दुःख-निवृत्ति

(लेखक—पं० श्रीधुंडिराज रामचंद्र महाराज)

संसारके सभी जीव सदा आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिपूर्वक परमानन्द-प्राप्तिकी कामना करते हैं। 'सुखमेव मे स्यात्, दुःखं मनागपि मा भूत्'के अनुसार वे अहर्निश सुखार्थ ही प्रयत्नशील रहते हैं, पर उन्हें सफलता नहीं मिलती। दुःखकी निवृत्ति तो होती ही नहीं, उलटे दुःख-निवृत्त्यर्थ किये गये प्रयत्नोंसे कभी-कभी दुःखकी और वृद्धि हो जाती है। यद्यपि व्यावहारिक उपायोंद्वारा दुःख थोड़ा-बहुत कम होता-सा दीखता है, पर वह भी अन्तमें भ्रान्ति-मूलक ही सिद्ध होता है।

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च।
पश्येत् पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम्॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । १८)

राजा निमिसे योगेश्वर प्रबुद्ध कहते हैं—'राजन्! दुःखके नाश और सुखकी प्राप्तिके लिये स्त्री-पुरुष-सम्बन्धमें बँधकर कर्मानुष्ठान करनेवाले पुरुषोंको जो विपरीत फल मिलता है, उसे देखना चाहिये।'

व्यावहारिक उपायोंसे दुःखकी पूर्णतया निवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि 'कारणनाशात्कार्यनाशः'—यह शास्त्र-सिद्धान्त है। दुःख कार्य है, विचार किया जाय तो अविद्या, अज्ञान (अथवा पाप) ही दुःखके कारण दीखेंगे 'अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणम्' (अ० रा० ७ । ५ । ९)। शरीर-परिग्रहसे दुःखका उपभोग प्राप्त होता है। शुभाशुभ कर्मसे शरीर-परिग्रह प्राप्त होता है—'क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता' (अ० रा० ७ । ५ । ८)। राग-द्वेषसे शुभाशुभ कर्म होते हैं, देहाभिमानसे राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है, अविवेकसे देहाभिमान होता है और अविवेकके मूलमें भेदशून्य सच्चिदानन्द स्वात्मस्वरूपका अज्ञान स्थित रहता है। यह दुःखकी कारण-परम्परा है। अविवेकी पुरुष इस कारण-परम्पराको न जाननेके कारण दुःखनिवृत्त्यर्थ व्यावहारिक उपायोंको अपनाते हैं, किंतु जबतक कारणरूप अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती, तबतक कार्यरूप दुःखका भी नाश नहीं हो सकता। अज्ञानकी यह निवृत्ति ही शास्त्रकारोंके शब्दोंमें मोक्ष है—'अविद्यास्तमयो मोक्षः'। इस मोक्षावस्थामें आध्यात्मिकादि समस्त दुःखोंकी कारणसहित निवृत्ति होती है। इतना ही नहीं, यह अद्वैत अनिर्वचनीय आनन्दकी एक भूमिका तथा श्रेष्ठ पुरुषार्थ है—'ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः।' (ब्र० सू० शा० भा० १ । १ । १) ऐसे मोक्षकी इच्छाको धारण करनेवाला मुमुक्षु कहलाता है। आचार्य शंकरका कथन है—

संसारबन्धनिर्मुक्तिः कदा झटिति मे भवेत्।
इति या सुदृढा बुद्धिरीरिता सा मुमुक्षुता॥
(सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह १२७)

'कब मेरी शीघ्र-से-शीघ्र संसार-बन्धनसे मुक्ति होगी—ऐसी जो दृढनिश्चयात्मिका बुद्धि है, वह मुमुक्षुता कहलाती है।'

सम्पूर्ण संसार असत्—जड, दुःखमय और शान्तिशून्य है, आनन्दस्वरूप तो एकमात्र परमात्मा ही हैं—यही मुमुक्षुकी भावना है। परमात्मस्वरूपके यथार्थ ज्ञानके बिना मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। श्रुति साक्षी है कि परमात्माको ही जानकर पुरुष मृत्युके पार हो सकता है, इससे भिन्न मोक्ष-प्राप्तिका कोई अन्य मार्ग नहीं है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
(शुक्लयजु०, वाजसने० ३१ । १८)

अर्जुनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥
(गीता ४ । ४२)

'अर्जुन! तुम समत्वबुद्धिरूप योगमें स्थित हो जाओ और अज्ञानसे उत्पन्न हुए अपने हृदयस्थित संशयको ज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके युद्धके लिये खड़े हो जाओ।'

अविद्या (अज्ञान)-नाशक एवं मोक्षप्रद ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधक अनेक प्रकारके कष्टमय एवं दुष्कर साधनोंका आश्रय लेते हैं, परंतु वे जबतक परमेश्वरके कृपापात्र नहीं बनेंगे, तबतक उन्हें (सत्) ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ज्ञान-प्राप्ति भगवान्‌के अनुग्रहसे ही सम्भव है।

श्रुतिने परमात्माके मूर्त-अमूर्त—सगुण-निर्गुण रूप निरूपित किये हैं—

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च।
(बृहदारण्यक० २ । ३ । १)

इन दोनोंमें किंचिदपि भेद नहीं है। श्रीशंकराचार्यका कथन है—

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥
(प्रबोधसुधाकर १९५)

'जो भगवान् समस्त भूतोंमें व्याप्त, ज्ञानमय, सच्चिदानन्दस्वरूप, प्रकृतिसे परे और परात्मा हैं, वे ही ये यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण हैं।'

सगुण-निर्गुणैक्यकी अवस्थामें भी निर्गुणका संशय-विपर्ययरहित यथार्थ ज्ञान सगुण परमात्माकी कृपाके बिना नहीं हो सकता। निर्गुण स्वरूपके ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेवाले देहाभिमानी पुरुषोंकी अवस्थाका चित्रण भगवान् श्रीकृष्णके शब्दोंमे उपलब्ध होता है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
(गीता १२। ५)

'उन सच्चिदानन्दघन, निराकार, ब्रह्ममें आसक्त हुए चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियोंसे अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है अर्थात् जबतक शरीरमे अभिमान रहता है, तबतक शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूपमे स्थिति होनी कठिन है।'

समस्त जीव माया-नदीमे फँसकर अहर्निश दुःखका अनुभव करते है। माया-नदी अत्यन्त दुस्तर है। भगवदाश्रयके बिना अपनी सामर्थ्यसे उसे तैरकर पार करना सर्वथा असम्भव है। भवसंतरणरूप दुःसाध्य कर्म भगवान् और उनकी कृपाके आश्रयके बिना पूरा नहीं हो सकता। जिसको तैरनेका अच्छा अभ्यास है, उसे भी महानदीको तैरकर पार करनेके लिये तुंबी-फलका आश्रय लेना आवश्यक है, अन्यथा हाथ-पाँवके नितान्त थकनेके बाद वह डूब सकता है।

परमेश्वर मायातीत और मायाके नियन्ता हैं, इसलिये माया-निवृत्त्यर्थ भगवच्छरणागतिकी आवश्यकता है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(। १४)

भगवान् कहते हैं—'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परंतु जो पुरुष निरन्तर मेरेको ही भजते हैं, वे इस मायाका उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०। १०)

'मेरे ध्यानमें लगे हुए और निरन्तर प्रेमपूर्वक (मेरा) भजन करनेवाले भक्तोंको मैं तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।'

परमेश्वरकी शरणागति ही शान्ति-प्राप्तिका उपाय अथवा साधन है। भगवान्‌के वचन हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६१-६२)

'अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमे आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाते हुए सब प्राणियोंके हृदयमे स्थित हैं। इसलिये भारत! सब प्रकारसे उन परमात्माकी ही अनन्य-शरणको प्राप्त हो, उनकी कृपासे ही तुम परम शान्ति और सनातन परम धामको प्राप्त होओगे।'

अर्जुन, उद्धव आदि अनेक भक्तोंको भगवान्‌की ही कृपासे मोक्ष प्राप्त हुआ है। श्रीकृष्णके मुखसे श्रीमद्भगवद्गीता सुनकर अर्जुनने कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
(गीता १८। ७३)

'अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति (ज्ञान) प्राप्त हुई है।'

इसी तरह उद्धवकी भी एक परिहार-स्वीकृति है—'प्रभो! मैं मोहके अन्धकारमें भटक रहा था। आपके ज्ञान (सत्सङ्ग)से वह नष्ट हो गया'—

छिद्यावितो मोहमदान्धकारो
य आश्रितो मे तव संनिधानात् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २९ । ३७)

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि भगवान् ज्ञान प्रदान कर शरणागतको मुक्त करते हैं, परंतु यह शङ्का की जा सकती है कि भगवान् यदि भक्तको ही मोक्ष देते हैं तो उनपर राग-द्वेष, विषमता, निर्दयता आदि दोषोंका आरोपण हो सकता है। एकको मुक्त करेंगे और दूसरोंको संसार-दावानलमें ही छोड़ देंगे, इससे उन्हींके मुखसे निकले 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।' (गीता ९ । २९) वचनमें विपरीतता आयेगी । श्रीशंकराचार्यने गीताभाष्यमें इस शङ्काको प्रस्तुत किया है—

'रागद्वेषवांस्तर्हि भगवान् यतो भक्ताननुगृह्णाति, नेतरानिति'

'यदि भगवान् राग-द्वेषसे युक्त हैं तो वे भक्तोंपर ही अनुग्रह करेंगे, दूसरोंपर नहीं।' परंतु इस शङ्काका उत्तर गीताके उपर्युक्त श्लोकके उत्तरार्द्धमें ही है । भगवान् कहते हैं—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

'जो भक्त मुझे प्रेमसे भजते हैं, वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

परमेश्वरके स्वरूपमें विषमता नहीं है और न नैर्घृण्य—निर्दयता ही है। वे मूर्तिमान् कृपास्वरूप हैं—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥
(ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३४)

—इस श्रुतिके अनुसार वे जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंकी अपेक्षा रखकर सृष्टि करते हैं । परमेश्वर अग्निके सदृश हैं । शीतपीड़ित मनुष्य यदि अग्निके समीप जाता है तो अग्निद्वारा उसका शीत निवारण हो जाता है, किंतु जो उसके समीप जाना ही नहीं चाहता, उसके शीतका निवारण किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? जो जीव अनन्य-चित्तसे प्रेमपूर्वक भजनद्वारा भगवान्का सामीप्य प्राप्त कर लेते हैं; वे ही संसारके दुःखसे निवृत्त होकर मोक्षके अधिकारी होते हैं—

दूरस्थानां यथा अग्निः शीतं नापनयति समीपमुपसर्पतामपनयति तथा अहं भक्ताननुगृह्णामि नेतरान् ॥
(गीताभाष्य ९ । २९)

ईश्वर सूर्यके सदृश हैं । जिस तरह सूर्यका प्रकाश सर्वत्र विद्यमान है, किंतु अति स्वच्छ दर्पणमें अभिव्यक्त अर्थात् प्रतिबिम्बित होता है, अस्वच्छ घटादि पदार्थोंमें उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, इसका अर्थ यह नहीं कि सूर्य दर्पणसे प्रेम एवं घटादि अस्वच्छ पदार्थोंसे द्वेष करते हैं—

'यथा हि सर्वत्र विद्यमानोऽपि सावित्रः प्रकाशः स्वच्छे दर्पणादावेवाभिव्यज्यते न त्वस्वच्छे घटादौ, तावता न दर्पणे रज्यति न वा द्वेष्टि घटम् एवं सर्वत्र समोऽपि स्वच्छे भक्तचित्तेऽभिव्यज्यमानोऽस्वच्छे चाभक्तचित्तेऽनभिव्यज्यमानोऽहं न रज्यामि कुत्रचिद् न वा द्वेष्मि कंचित् ।'
(गीता-गूढार्थ-दीपिका ९ । २९)

जो परमात्म-सामीप्य प्राप्त कर लेनेका प्रयत्न नहीं करते, यदि उनके दुःखोंकी निवृत्ति नहीं हुई तो यह दोष परमात्माका नहीं है अथवा जिनका अन्तःकरण मल-विक्षेपादि दोषोंसे मलिन है, उनके हृदयमें यदि परमात्माकी अभिव्यक्ति नहीं होती तो इसमें परमात्माका क्या दोष है ? जिन्होंने परमात्म-सामीप्य (संनिधान) प्राप्त कर लिया है, उन शुद्ध अन्तःकरणवाले भक्तोंके हृदयमें ईश्वरकी अभिव्यक्ति होती है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥
(गीता ४ । ११)

परमेश्वरसे किसी-न-किसी भावनासे सम्बन्ध स्थापित होनेपर कृतार्थता प्राप्त होती है। भगवान्के साथ प्राणीका सम्बन्ध राग, द्वेष, भय, प्रेम—किसी भी भावनासे हो जाय तो वे उसे मोक्ष प्रदान कर देते हैं । उदाहरणार्थ—भयसे कंस, द्वेषसे शिशुपाल, दन्तवक्त्र आदि नरेश और कामसे गोपियोंको मोक्ष मिला है—

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १ । ३०)

परमात्मा पारस-सदृश हैं। लोहा यदि पारसको काटनेके लिये उसपर गिर पड़े तो भी पारसके संसर्गसे उसे सुवर्णत्व ही प्राप्त होता है, इसी तरह द्वेषके कारण भी परमेश्वरसे जिनका सम्बन्ध हो जाता है, उनको मोक्ष मिलता ही है। श्रीशंकराचार्यका कथन है—

लोहशलाकानिवहैः स्पर्शाश्मनि भिद्यमानेऽपि।
स्वर्णत्वमेति लौहं द्वेषादपि विद्विषां तथा प्राप्तिः॥
(प्रबोधसुधाकर २०५)

पूतनाका दृष्टान्त तो जगत्प्रसिद्ध है। अपने स्तनमें कालकूट विष लगाकर भगवान्का नाश करनेके लिये दूषित अभिप्रायसे उन्हे स्तन्यपान करानेवाली पूतनाको जिन्होंने माताकी गति प्रदान की, ऐसे कृपालु प्रभुको छोड़कर किस अन्यकी शरण वरणीय है—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥
(श्रीमद्भा० ३।२।२३)

परमात्मा मोक्ष प्रदान करनेके लिये सदैव तैयार हैं, इसके लिये केवल अपने अन्तःकरणमें तीव्र तथा उत्कट लालसाकी आवश्यकता है। भक्तके हृदयमें भगवद्दर्शनकी तीव्र इच्छा उत्पन्न होनेपर भगवान् उसके अन्तःकरणमें ही अभिव्यक्त होकर ज्ञान प्रदान कर देते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(गीता १०।११)

'अर्जुन! अपने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूँ।'

त्रिविध तापदग्ध जीवोंको यथार्थ शान्ति, आनन्द और अभय प्रदान करना भगवान्का व्रत है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० ६।१८।३३)

"जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षाकी याचना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।"

संसारमें सर्वाधिक भय मृत्युका है, जीव अज्ञानसे मृत्युको सत्य मानकर उससे भयभीत रहता है और उसके पाशसे छूटनेके लिये वह बहुत कुछ प्रयत्न भी करता है, पर उसमें बच नहीं सकता। भगवान् मृत्युरूप संसार-सागरसे अपने भक्तोंका उद्धार करते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२।६-७)

'पार्थ! जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, मुझमें चित्तको लगानेवाले उन प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।'

प्रतिज्ञापूर्वक भगवान् ऐसा आश्वासन देते हैं। गीतामें अनेक विषयोंका प्रतिपादन करनेके पश्चात् उपसंहारमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'अर्जुन! तुम शोक मत करो, मैं तुम्हें सर्वपातकोंसे मुक्त कर दूँगा, परंतु तुम समस्त धर्मोंके आश्रयका परित्याग कर केवल मेरी ही शरणमें आ जाओ'—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८।६६)

भगवत्कृपा-प्राप्तिका यह अमोघ मन्त्र है।

तात्पर्य यह कि केवल परमेश्वर ही मोक्षदाता हैं। जीवके दुःखकी निवृत्ति तथा सच्चे सुख, शान्ति और अभयकी प्राप्ति तबतक नहीं हो सकती, जबतक उसे भगवत्-कृपाकी अनुभूति नहीं हो जाती। वैसे तो भगवत्कृपा सतत सभीपर बरस रही है, परतु जो उस कृपाके सम्मुख होता है, उसे उस कृपा-प्रसादका प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। यह कृपा ही भगवच्छरणागति—प्रपत्तिकी प्रतिपादिका है।

'आप शत्रुओंपर शस्त्रोंका प्रहार क्यों करती हैं? समस्त असुरोंको दृष्टिपातमात्रसे ही भस्म क्यों नहीं कर देतीं? इसमे एक रहस्य है। ये शत्रु भी हमारे शस्त्रोंसे पवित्र होकर उत्तम लोकोंमे जायँ—इस प्रकार उनके प्रति भी आपका विचार अत्यन्त उत्तम (कल्याणकारी) रहता है।'

समुद्र-तटपर पहुँचकर भगवान् श्रीराम समुद्रसे विनय करते हैं, उससे मार्ग माँग रहे हैं। तीन दिन बीत गये, परंतु जड समुद्र टस-से-मस नहीं हुआ। तब भगवान श्रीराम क्रोध-मुद्रामे बोले—

विनय न मानत जलधि जड़ गए तीनि दिन बीति।
बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति॥
(मानस ५। ५७)

भगवान् श्रीराम क्रुद्ध हैं, उन्होंने अग्निवाणसे समुद्रको सोख लेनेकी बात सोची। जड जलधि व्याकुल हो उठा, उसने भयभीत होकर प्रभुकी शरण ली और प्रार्थना करने लगा—

प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही। मरजादा पुनि तुम्हरी कीन्ही॥
(मानस ५। ५८। ३)

'हे प्रभो! आपने बहुत अच्छा किया, यह मुझपर आपका क्रोध नहीं, शिक्षा है। मेरे लिये आपका यह क्रोध वरदान बन गया। हे प्रभो! आपने मेरे शोषणके लिये अग्निवाणका संधान तो कर ही लिया, अब कृपया इसका प्रयोग मुझपर न कर मेरे तटवासी पापी राक्षसोंपर करके मुझे कृतार्थ कीजिये—'

एहिं सर मम उत्तर तट बासी। हतहु नाथ खल नर अघ रासी॥
सुनि कृपाल सागर मन पीरा। तुरतहिं हरी राम रनधीरा॥
(मानस ५। ५९। ३)

समुद्रकी प्रार्थना सुनकर परम कृपालु प्रभु श्रीराम, जिन्हें क्रोध छू भी नहीं सकता, प्रसन्न हो गये। उन्होंने उस वाणद्वारा समुद्र-तटवासी उन पापी निशाचरोंका वध कर उन्हें अपने दिव्य धाममें भेज दिया। प्रभुके पवित्र क्रोधसे समुद्रके साथ-साथ पापी राक्षस भी कृतार्थ हो गये।

वस्तुतः भगवान् सहज कृपालु, सुशील और कोमल हैं। वे किसीपर क्रुद्ध नहीं होते, किसीका निग्रह नहीं करते, किसीको प्रतिकूल परिस्थितिमें नहीं डालते, किसीका पुत्र-धन-धान्य नहीं छीनते। वे तो मङ्गल-भवन अमङ्गलहारी हैं, उनमें अमङ्गल कहाँ, क्रोध कहाँ! वे तो प्राणिमात्रको मङ्गलमय बनाते हैं। अपने भक्तको मङ्गलमय बननेके लिये वे क्षणमात्रके लिये कोपभाजन भी बनते हैं, धन्य प्रभु! उनका उलाहना भी सहते हैं—'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।' (मानस १। १२६। १) फिर भी उसे विपरीत परिस्थितियोंमें डालकर उसका अहंकार दूर करते हैं। प्रभो! आपका कोप भी निस्संदेह वरदान है।

भगवत्कृपाका अनुभव

एक भक्त थे, उनके एक ही पुत्र था, जो सौन्दर्यसम्पन्न, सुशील एवं धर्मात्मा था। सांसारिक कष्टोंमें ही भक्तकी परीक्षा होती है। कालदेवको भक्तका पुत्र-सुख अच्छा न लगा, इसलिये वे उसे छीन ले गये; किंतु भक्त-प्रवरने इसे भी भगवत्कृपा मानकर मृत्युका उपकार ही समझा। भक्तको किञ्चित् भी शोक-दुःख नहीं हुआ। लोगोंने उनसे इस विचित्र व्यवहारपर आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा—'तुम्हारा इकलौता पुत्र संसारसे उठ गया और तुम प्रसन्न हो रहे हो, उन्माद हो गया है क्या?' भक्तजी मन्द हँसीके साथ बोले—'माली स्वामीके उपवनका प्रफुल्लित सुन्दर पुष्प अपने स्वामीको देकर प्रसन्न होता है या रोता है? कुछ समयके लिये प्रभुकी इस संसार-वाटिकाका पुष्प (पुत्ररूपमें) मेरी सँभालमें था, अतः यह मेरा कर्तव्य था कि मैं तन-मन-प्राणसे उसकी देख-भाल करूँ। अब समय पूरा होनेपर प्रभुने उसे स्वीकार कर लिया, इस कारण मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है। प्रभुका उपकार तो इसलिये मानता हूँ कि उनकी वस्तुके प्रति न जाने कितनी बार मेरे मनमें (ममता रूप) कुटिलता आयी, उसकी सुरक्षामें भी मुझसे अनेक त्रुटियाँ हुईं; परंतु प्रभुने मेरी इन भूलोंकी ओर कुछ ध्यान न दिया, मुझे कभी उलाहना नहीं दिया। भगवान्की इस कृपाका अनुभव कर यदि मैं प्रसन्न होता हूँ तो इसमें क्या आश्चर्य है?'

अहैतुकी भगवत्कृपा

(लेखक—डॉ० श्रीसुरेशचन्द्र [illegible] सेठ, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

जीवको अनन्त योनियोंमें कष्ट भोगते हुए देखकर अकारण कृपा करनेवाले करुणानिधान प्रभुका हृदय पसीज उठता है, तब वे उसे अपनी प्राप्ति करनेके लिये स्वर्ण अवसरके रूपमें मानव-देह प्रदान करते हैं। मनुष्य कितना अज्ञ है कि इस अनुपम शरीरको प्राप्त करके भी इसका दुरुपयोग कर डालता है! वर्तमान समयके अनेक साधक यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि यह मानव-शरीर तो विकासवादके अनुसार स्वाभाविक रूपसे विकसित हुआ है। कर्मवादके अनुयायी यह कहते हैं कि मानव-शरीरकी प्राप्ति सत्कर्मोंका परिणाम है। इसके अतिरिक्त अन्य भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण भी आजके युगमें प्रस्तुत किये जाते हैं, किंतु संतोंका कथन है कि मानव-शरीर तो प्रभुकी अहैतुकी कृपासे ही मिला करता है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(मानस ७। ४३। ३)

उसका स्पष्टीकरण संत-वाणी और अनुभूतिसे उपलब्ध होता है कि यदि हम आधुनिक विचारकोंके अनुसार यही मान लें कि मानव-शरीर विभिन्न प्राणि-शरीरोंके स्वाभाविक क्रमिक विकासका फल है तो भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि मनुष्य-शरीर प्राप्त करनेके पूर्व यह प्राणी किसी विकसित पशु-योनिमें रहा होगा। उस अवस्थामें जब उसे सत्-असत्का ज्ञान ही नहीं था, तब न तो कर्मकी शुद्धिका आधार ही इस मानव-शरीरकी प्राप्तिका कारण बन सकता है और न किसी व्यक्तिका निजी प्रयास ही। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्राणीको मनुष्य शरीरकी प्राप्ति होना केवल प्रभुकी अहैतुकी कृपाका ही परिणाम है।

मनुष्य-शरीर विधाताकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। आजतक विश्वमें भौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिसे जितनी भी खोजें हुई हैं, उनका श्रेय मानव-शरीर एवं उसकी बुद्धिको ही दिया जा सकता है। देनेवालेने मनुष्यको सब कुछ देकर भी अपनेको इतनी कुशलतासे छिपा लिया है कि मनुष्य यही समझने लगता है, मानो इस समस्त सृष्टिका मालिक वह स्वयं ही है। इस समझका ही दुष्परिणाम है कि व्यक्तिको जो करना चाहिये, वह कर नहीं पाता और जो नहीं करना चाहिये, [illegible] ही करते रहनेमें अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर देता है, इसलिये वह प्रभुकी अहैतुकी कृपाका अनुभव नहीं कर पाता।

यह बिल्कुल सच है कि [illegible] परिवर्तनशील [illegible] अनुभूतिके लिये व्यक्तिका [illegible] एक निश्छल व्यक्ति भी [illegible] आँखोंसे देख सकता है। किंतु [illegible] कारण वह अपने ही [illegible] जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने जीवनकी वास्तविक आवश्यकताओंको [illegible] नहीं कर पाता और दिनरात [illegible] मानसिक शान्ति और आनन्दसे वंचित रह जाता है। यह मनुष्यके जीवनका [illegible] दुर्भाग्य ही है! वह प्रभुकी जिस अहैतुकी कृपाका [illegible] करनेके लिये जगत्में भेजा गया था, उसे पूर्ण किये बिना ही [illegible] रह जाता है और समय चूक जाता है। संत कबीरदासजीका यह दोहा इसी [illegible] करता है—

रात गँवाई सोय कै, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय॥

आजका पढ़ा-लिखा मानव, इस प्रकारके सन्तोंको भाग्यहीन मानता है तथा इन बातोंपर विचार करना भी व्यर्थ समझता है। वह इसे समयके दुरुपयोगसे अधिक कुछ नहीं मानता। उसे सुख-सुविधाओंसे [illegible] जीवनको भौतिक बाह्याडम्बरोंसे युक्त करनेमें ही [illegible] उपयुक्त लगती है। सत्यकी प्राप्ति उसके लिये कल्पनामात्र [illegible] है।

संतोंसे सुना है—'कामना' ही [illegible] शक्ति है, जो जीवनसे 'आनन्द'का अन्त कर देता है। कामरहित [illegible] इच्छारहित हो जाता है। 'काम' और 'राम' एक दूसरेके विपरीत हैं। यह बिल्कुल ऐसा ही है जैसे कोई रोगी हानिकारक भोग्य पदार्थोंका सेवन करके नीरोग बनना चाहे। जिनको जगत्की वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियोंमें सुखका अनुभव होता है अथवा उनमें किञ्चित् भी आकर्षण है, ऐसे कामासक्त व्यक्तियोंको रामकी

अहैतुकी कृपाका पता चल पाना कठिन है। 'काम'को हृदयमें स्थान देनेवाले व्यक्तिसे 'राम' निकट रहते हुए भी सदा दूर रहते हैं और रहेंगे। प्रभुने अपने मङ्गलमय विधानद्वारा मनुष्यको प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोग एवं दुरुपयोगकी पूरी स्वतन्त्रता दे रखी है। यह व्यक्तिपर ही निर्भर करता है कि वह प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करे अथवा दुरुपयोग। इतना अवश्य है कि वर्तमान परिस्थितिके सदुपयोगसे ही बिगड़ा हुआ भूतकाल और भविष्यकाल स्वतः सुधर जाता है। अतः प्रत्येक भगवद्भक्तको वर्तमानके सदुपयोगपर गम्भीरतापूर्वक दृष्टि रखनी चाहिये।

संसारकी अनुकूलता एवं प्रतिकूलता सदा टिकनेवाली नहीं हैं। अनुकूलताओं एवं प्रतिकूलताओंमें जीवन-बुद्धि रखनेका दुष्परिणाम यह होता है कि व्यक्ति आशा और भयके चक्रमें पड़कर अहैतुकी भगवत्कृपाकी अनुभूतिसे वञ्चित रह जाता है। जिसे संसारका सीमित सौन्दर्य ही आकृष्ट कर लेता है, उसे असीम सौन्दर्यका दर्शन नहीं हो सकता। संसारके रस-विरस हो जानेपर अलौकिक रस मिला करता है। असत्यके त्यागसे ही सत्यकी वास्तविक अनुभूति हो सकती है।

प्रभुकी यह कैसी अनूठी कृपा है कि मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके भी जो प्राणी निज ज्ञानका आदर नहीं कर पाते, उन्हें प्रकृति एक दिन भोगोंसे असंतुष्ट कर जीवनके सत्यको स्वीकार करनेके लिये बाध्य कर देती है। वे व्यक्ति विशेष बुद्धिमान् हैं, जो अपने विवेकका आदर कर पहलेसे ही प्रभु-प्राप्तिको जीवनका लक्ष्य बना लेते हैं। जीवनका प्रत्येक क्षण, प्रत्येक श्वास कालरूपी अग्निमें निरन्तर स्वाहा हो रहा है,यह जानते हुए भी यदि व्यक्ति भौतिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही जीवन-बुद्धि करता है तो इसे मानव-जीवनके घोर दुरुपयोग-के सिवा और क्या कहा जा सकता है? इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि व्यक्ति जगत्के काम आना ही छोड़ दे। उसे जो वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मिली है, उसका सदुपयोग इसीमें है कि वह जगत्के काम आ जाय; किंतु ज्ञानका आदर और प्रयत्नकी सार्थकता प्रभुकी अखण्ड स्मृतिमें ही निहित है। साधकोंको यह अवश्य देखना चाहिये कि उन्हें हृदयके केन्द्रपर जगत् प्रिय लगता है अथवा प्रभु? जो साधक जगत्की सेवा करते हुए प्रभुकी अखण्ड स्मृतिको जाग्रत् रखते हैं, उन्हें मानना चाहिये कि हमपर प्रभुकी विशेष कृपा है।

उस कृपालुकी अहैतुकी कृपाका सही दर्शन उन्हीं साधकोंको होता है, जो भगवत्स्मरणके साथ-साथ जगत्के प्रत्येक कार्यको प्रभुकी प्रियताके लिये ही करते हैं। इससे पहले प्रभुकी वास्तविक कृपाका अनुभव प्रायः हो ही नहीं पाता। जो लोग शरीरके लिये संसारको अपना समझते हैं, वे प्रारम्भमें ही इतनी बड़ी भूल कर बैठते हैं कि फिर वासनाके जालसे निकलना उनके लिये अत्यन्त कठिन हो जाता है। सच्ची बात तो यह है कि शरीर संसारकी सेवाके लिये मिला है, न कि संसारके भोगके लिये। अतः जो शरीरके लिये संसारको मानते हैं, वे सुख-दुःखके चक्रमें पड़कर कष्ट उठाते हैं और जो शरीरको संसारके लिये मानते हैं, वे संसारके लिये भी उपयोगी सिद्ध होते हैं और संसारसे पार होकर उस प्रभुके लिये भी। अब यह हमपर निर्भर करता है कि हम किस मार्गको चुनें।

प्रभुने कृपा करके हमें क्रिया-शक्ति, विचार-शक्ति एवं भाव-शक्ति—सभी कुछ दे दिया है। क्रिया-शक्तिके बलपर एवं विचार-शक्तिके उपयोगद्वारा आज अनूठे-अनूठे आविष्कार हो रहे हैं। जीवनकी सुख-सुविधाके लिये अनेकों वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं और हो रही हैं, फिर भी विश्व विनाशकी ओर ही अग्रसर होता जा रहा है। जीवनमें अशान्ति, आक्रोश, निराशा आदिकी घुटन बढ़ती जा रही है। इसका मूल कारण है—प्रभुकी अहैतुकी कृपासे प्राप्त शक्तियोंका दुरुपयोग। जो क्रिया-शक्ति जगत्की सेवामें उपयुक्त थी, उसे व्यक्ति स्वार्थमें लगा रहा है, जो ज्ञान अपने काम आना चाहिये था, उसे वह केवल दूसरोंको उपदेश देनेमें ही लगा रहा है और जो प्रेम प्रभुके काम आना चाहिये था, उसे नश्वर वस्तुओंमें लगा रहा है। वस्तुतः प्रभुकी कृपाके दर्शनके लिये हमें भगवत्प्रदत्त शक्तियोंका सदुपयोग भगवत्प्रीत्यर्थ करना ही होगा, तभी हमें प्रभुकी अहैतुकी कृपा-शक्तिका पूर्ण रहस्य ज्ञात हो सकेगा।

अहैतुकी भगवत्कृपाकी नित्यता

(लेखक—श्रीभृगुनन्दनजी मिश्र)

वैसे तो समस्त प्राणी रात-दिन अपने-अपने कार्योंमें लगे हैं, परंतु मनुष्य सबसे अधिक व्यस्त प्राणी माना जा सकता है; क्योंकि अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा उसकी बुद्धि अधिक विकसित है। समस्त जड-चेतनवर्गकी सृष्टि यद्यपि एक ही परम तत्त्व भगवान्से हुई है, तथापि मनुष्योंमें गुणकर्मकी प्रधानताके कारण बुद्धि, ज्ञान एवं क्रियाशक्तिकी न्यूनाधिकता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। प्रश्न उठ सकता है कि जब मनुष्यमात्र एक ही परम पिताकी संतान हैं तो उनमें यह न्यूनाधिकता क्यों पायी जाती है? क्या परमात्मा भेद-भावका आश्रय लेकर मनुष्योंको न्यूनाधिकमात्रामें ये सब प्राकृतिक पदार्थ प्रदान करते हैं? यदि ऐसा है तो वे समदर्शी एवं न्यायप्रिय कहलानेके अधिकारी कदापि नहीं हो सकते। वास्तवमें बात ऐसी नहीं है। पिता तो अपने सभी पुत्रोंको समान दृष्टिसे प्यार करता है एवं उनकी सब प्रकारसे उन्नति चाहता है। पूर्वकर्मानुसार उनकी रुचि एवं योग्यता भिन्न स्तरकी होती है, इसी कारण विभिन्न प्रयत्न करते रहनेपर भी यदि वे अपने पिताके इच्छानुसार अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति एक समान स्तरपर नहीं कर पाते तो इसमें पिताकी कृपा तथा उसकी समदर्शिताको दोषी नहीं ठहराया जा सकता; फिर भी जो पुत्र अपने पिताकी इच्छाको निकटसे जानकर उसका श्रद्धापूर्वक आदर करता है और तदनुसार स्वयं आचरण भी करने लगता है, वह पिताकी कृपाका विशेष अधिकारी बन जाता है।

मानव-जीवन ही ऐसा स्वर्णिम अवसर है, जिसमें प्रत्येकको भगवत्कृपाकी अनुभूति हो सकती है; आवश्यकता है केवल श्रद्धा एवं विवेकशील बुद्धिका आश्रय लेकर अनासक्तभावसे कर्तव्य कर्ममें तत्पर रहनेकी। संसारमें जितने भी बड़े-बड़े कार्य हुए और हो रहे हैं, उनका कोई-न-कोई संचालक अवश्य था और है। जंगली वृक्ष एवं वनस्पतियोंको रोपनेवाले व्यक्तिकी हम कभी कल्पना भी नहीं करते, किंतु सार-सँभालके साथ लगाये गये किसी उद्यानके पंक्तिबद्ध वृक्ष एवं पौधोंको देखकर हमारे मनमें उस उद्यानके योग्य कर्त्ता, भर्त्ता, संरक्षक व्यक्तिके अस्तित्वका विश्वास अवश्य होता है। यद्यपि उद्यानमें हमें उसका स्वामी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता, किंतु हम सहजभावसे अपनी मान्यताको श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं। यही बात सृष्टिकर्ताके सम्बन्धमें भी पूर्णरूपसे मान्य हो सकती है। जब एक उद्योगपति कोई कारखाना स्थापित करता है, तब वह उसके लिये मशीनरी आदि उपकरण जुटानेके साथ-साथ कारखानेके कर्मचारियोंकी सुख-सुविधाओंकी समुचित व्यवस्था भी करता है, जिससे कारखाना नियमितरूपसे निर्विघ्न चलता रहे। उस कारखानेकी देख-भाल भी वह स्वयं करता है या अपने विश्वसनीय अधिकारियोंद्वारा किये जानेकी व्यवस्था करता है।

सांसारिक व्यक्तियोंका परस्पर स्वार्थ-सम्बन्ध रहता है, इसलिये उनमें किसीकी किसीके प्रति अहैतुकी कृपाका प्रश्न ही नहीं उठता, किंतु इस अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डकी व्यवस्थापर ध्यान देनेसे उन ब्रह्माण्डनायककी अहैतुकी कृपा स्पष्टरूपसे सर्वत्र विद्यमान दिखायी देती है। उनकी स्नेहवर्षा, पर्जन्यके तुल्य देव-दानव, पण्डित-मूर्ख, सज्जन-दुर्जन, राजा-रंक, भक्त-अभक्त—सभीपर समानरूपसे बरस रही है। सूर्यका प्रकाश, वायुकी शीतलता, जलकी सरसता तथा अन्नकी प्राणदायिनी शक्तिका लाभ समस्त प्राणियोंको समान रूपसे प्राप्त हो रहा है। पृथ्वी, चन्द्रमा एवं सौरमण्डलमें नियमितरूपसे होनेवाली विविध गतिविधियाँ संसारके प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति एवं उनके भरण-पोषण तथा संरक्षणमें रात-दिन सहायक हो रही हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प, कीट, पतंगादि विविध प्राणी अपने-अपने स्वभावोंके अनुसार जन्मते और मरते हैं। प्रश्न होता है कि यह सब किसकी अध्यक्षतामें और किसकी सत्तासे हो रहा है। कठोपनिषद्के अनुसार—

> भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
> भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
> (२।३।३)

'इस (परमेश्वर) के भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है तथा इसीके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है।'

उस अनन्त सामर्थ्यशाली भगवत्-सत्ताकी सार्वभौम व्यवस्थापर जरा सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करें तो हमें संसारके प्राणिमात्रके प्रति उसकी अनन्त अहैतुकी कृपाका विस्तार दिखायी देगा। बड़े-बड़े पर्वतों एवं वनोंके कारण संसारमें वर्षाकी नियमित व्यवस्था, वनस्पतियों, ओषधियों एवं खनिजवर्गकी उत्पत्ति, अनेक प्रकारके वृक्षोंसे भिन्न-भिन्न प्रकारके स्वादिष्ट फलोंकी उत्पत्ति, भिन्न-भिन्न देशोंकी जलवायुके अनुसार अन्न एवं वनस्पतियोंकी उत्पत्ति, गौ, भैंस, बकरी आदिसे दूधकी उत्पत्ति किसके लिये किस उद्देश्यसे की गयी है? परमात्मा इनके बदले हमसे क्या मूल्य ले रहे हैं? यदि वे महासागरोंके खारे जलको सूर्यकी गर्मीसे भाप

रूपमें परिवर्तित कर, बादलोंके माध्यमसे मीठा कर वर्षाद्वारा पृथ्वीपर गिराने तथा नदी एवं झरनोंमें प्रवाहित करनेकी व्यवस्था न करते तो सृष्टिकी क्या दशा होती ! क्या चन्द्रमा एवं सूर्यके समान शीतलता, प्रकाश एवं ऊर्जा संसार-भरको निःशुल्क देनेकी व्यवस्था कोई बड़े-से-बड़ा बिजलीघर कर सकता है ? यदि आधुनिक नगर-निकायोंके नियमानुसार संसारके निवासियोंपर उपर्युक्त सुख-सुविधापूर्ण व्यवस्थाके लिये टैक्स लगा दिया जाता तो क्या हमारी जीवनयात्रा सुलभ एवं सुखद हो सकती थी ! यह तो समष्टि-जगत्पर उनकी नित्य अहैतुकी कृपाका ही प्रसाद है, जिसका लाभ देश, काल, जाति, धर्म, ऊँच, नीचकी भेद-भावनासे रहित होकर समस्त संसार उठा रहा है। उन विश्वम्भरकी अनन्त अहैतुकी कृपाके माप-तौलका अनुमान करने योग्य पैमाना संसारमें किसीके पास नहीं है ।

अब अपने जीवनपर दृष्टिपात करके उस अदृष्ट भगवत्कृपाका दर्शन करें, जो हमारे जन्मकालसे लेकर जीवनपर्यन्त हमारे साथ छायाके समान लगी हुई है । जन्मसे पूर्व जब हम गर्भावस्थामें थे, तब माताके भोजनका सार—रसाहार नलीद्वारा सीधे हमारे उदरमें पहुँचा देनेकी सुन्दर व्यवस्था की गयी और हमारे शरीरके जन्मसे पूर्व ही बिना दाँतोंके चूसने योग्य दुग्ध पर्याप्त मात्रामें माताके स्तनोंमें उतार दिया गया; साथ ही अच्छी-बुरी सभी अवस्थाओंमें पालन-पोषण एवं संरक्षण करनेकी ममता भी माताके हृदयमें भर दी गयी । बाल्यावस्थामें उस अदृष्ट भगवत्सत्ताने ही अनेक प्रकारके अनिष्टों एवं बाधाओंसे जीवनको सुरक्षा प्रदान की । इसके पश्चात् उसने अपना ज्ञानरूप प्रकाश हमारे मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंमें चेतनाके रूपमें फैलाना प्रारम्भ कर दिया और अन्ततः वह हमारे अन्तःकरणरूप दर्पणमें स्वयं भी प्रकाशित हो उठी ।

इतनी महती एवं सर्वव्यापिका भगवत्सत्ता हमारे व्यष्टि-जीवनमें इस प्रकार ओतप्रोत है कि उसकी कृपाके बिना हम कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हो सकते । वह हमारे शरीरकी समस्त क्रियाओंकी संचालिका एवं नियामिका है । प्राणके स्पन्दन एवं मनकी स्फुरणाओंकी प्रेरकके रूपमें सदैव सर्वत्र विराजमान है, किंतु हमारी बुद्धिपर अज्ञानका परदा पड़ा रहनेके कारण हमें दिखायी नहीं देती; फिर भी वह तो माताके समान अहर्निश हमारे कल्याणके उद्देश्यसे ही सारी परिस्थितियाँ उत्पन्न करती रहती है। जो परिस्थिति हमारी स्थूल बुद्धिको अशुभ एवं प्रतिकूल प्रतीत होती है, वही समय आनेपर हमारे लिये परम हितकारी सिद्ध होती है । उस समय हमें विश्वास हो जाता है कि भगवत्सत्ता नित्य ही हमारे कल्याणकारी भविष्यका निर्माण करनेके प्रयोजनसे ही जीवनमें सारे परिवर्तन उपस्थित करती रहती है ।

यद्यपि वह अहैतुकी भगवत्कृपा त्रिकालसे सृष्टिके प्राणियोंके हितकी दृष्टिसे ही क्रियाशील हो रही है, फिर भी हम क्षुद्र अहंकारका आश्रय लेकर जीवनमें घटित होनेवाली परिस्थितियोंका निर्माणकर्ता अपने-आपको मान बैठते हैं । इसके विपरीत यदि हम स्वयं कर्ता न बनते अथवा उस प्रभुको ही कर्ता मानते तो हमें अपने मनके विपरीत एवं अरुचिकर परिस्थितियोंका कभी सामना न करना पड़ता ।

केवल आस्तिक बुद्धिके आश्रयसे ही हम उस नित्यप्राप्त भगवत्कृपाका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकते हैं, तर्कद्वारा कदापि नहीं; क्योंकि मानुषी बुद्धिकी गति भी निर्दिष्ट सीमासे आगे नहीं हो सकती । 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।' (गीता १८ । ६१)के अनुसार भगवान् सर्वव्यापक हैं, अतः उनकी कृपाकी वर्षा भी सर्वत्र हो रही है । हमलोगोंमेंसे अधिकांशने तो विषयासक्तिके कारण भगवत्कृपारूपा वर्षासे भयभीत होकर अपनेको देहरूप परिच्छिन्न कारागारमें बंद कर लिया है । कुछ लोगोंने धन, धाम, विद्या, पद, प्रतिष्ठाके मिथ्या-भिमानका लबादा ओढ़कर अपने-आपको सब ओरसे ढक लिया है, इस कारण वे भगवत्कृपारूपा वर्षाके पवित्र स्नानका लाभ प्राप्त करनेसे सर्वथा वञ्चित बने रहते हैं । केवल थोड़ेसे ही व्यक्ति, जो संसारमें धधकती हुई त्रितापोंकी भीषण अग्निसे बचनेके इच्छुक हैं, भगवत्कृपाकी शरण लेते हैं । ऐसे पुरुष भगवद्वाणीमें अटूट निष्ठा स्थापित करके भगवत्कृपासे इसी जीवनमें आत्मकल्याणके अधिकारी बन जाते हैं—

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

(गीता १८ । ६२)

संसारके सभी देशोंके पुण्यात्मा पुरुषों, संत-महात्माओं एवं भगवद्भक्तोंके जीवन-चरित्रोंमें भगवान्की अहैतुकी कृपाके असंख्य उदाहरण उपलब्ध हैं । यदि हम भी तीव्र जिज्ञासापूर्वक अपनी समस्त मलिन वासनाओंपर विजय प्राप्त करके अपनेको भगवत्कृपाके योग्य अधिकारी बना सकें तो आज भी हमारे कल्याणका द्वार खुला है । वह अहैतुकी भगवत्कृपाशक्ति माताके समान हमें अपनी करुणामयी गोदमें उठानेके लिये न जाने कबसे प्रतीक्षा कर रही है ।

अहैतुकी कृपा ही प्रभुका स्वभाव

(लेखक—पं० श्रीसुरेशचन्द्रजी तिवारी, एम्० ए०)

तुलसी उराउ होत रामको सुभाउ सुनि,
को न बलि जाइ, न बिकाइ बिनु मोल को।
(कवितावली ७ । १५)

मानव-जीवनके विभिन्न पहलुओंको भलीभाँति प्रभावित करनेवाले निरुपम ग्रन्थ 'रामचरितमानस'से मानवको कितना प्रकाश मिल सकता है, यह मानसका प्रायः प्रत्येक पाठक जानता है। साहित्यकी महत्ता यह नहीं है कि वह एक विशिष्टवर्गतक सीमित रह जाय, उसकी एक-एक पङ्क्ति, एक-एक शब्द और शब्दका एक-एक वर्ण मानवमात्रके हृदयको स्पन्दित करनेवाला होना चाहिये। लोकनायक तुलसीदासजीका सम्पूर्ण वाङ्मय उनकी लोकानुग्रह-कारिणी भावनाका परिणाम है, जो प्रयासजन्य नहीं, स्वभावजन्य है। उनकी अभिव्यक्तियोंमें पयस्विनीकी सहजता है।[1]

मायिक जगत्की द्वन्द्वात्मिका सरितामें डूबता-उतराता, हँसता-रोता और उसे ही श्रेय मानकर उसका अभिनन्दन करता हुआ आजका यान्त्रिक मानव अहंमन्यताकी अर्गलासे विजडित है। आज उसकी सारी दौड़-धूप मोहमूला प्रकृतितक ही सीमित है, परंतु मनुष्यका चरम प्राप्तव्य जड-प्रकृति नहीं, प्रत्युत प्रकृतिसे सर्वथा विलक्षण कोई अन्य वस्तु है, जो परम चैतन्य है और जिसके अनुग्रहसे जागतिक व्यापारमें चेतना विलसती है। अतएव कर्तव्य यही है कि इस जड[2] और मर्त्य[3] देहके द्वारा उस अक्षर अमृतत्व-को प्राप्त किया जाय, जो सर्वभूतोंके हृद्देशमें अवस्थित है और कृपालुता ही जिसका स्वरूप है। आदिमें व्यक्त हुई उस अक्षर ब्रह्मकी कल्पना 'एकोऽहं बहु स्याम्' ही अनुग्रह-भावनासे स्नात है, अर्थात् निर्गुण-निराकार ब्रह्मका सगुण-साकार होना कृपामूलक है[4]। यह कृपा भी किसी अन्यकी इच्छासे नहीं, स्वेच्छासे है और यह इच्छा उनका धर्म है, स्वभाव है।

गोस्वामी तुलसीदासजीकी पवित्र दैवी अनुभूतिमें श्री-राम रम गये हैं। वे उनके हृदय और तत्प्रेरित अप्रतिहत वाणीके अधिष्ठान हैं। उनके सात्त्विक भावोंकी साकार—सजीव मूर्ति हैं श्रीराम, जिनके अणु-अणुमें अनुग्रहका भाव प्रतिष्ठित है।[5] वह सतत प्रवाहशील कारुण्य-जल एक स्थानपर कैसे ठहर सकता है ! वे चाहें या न चाहें, वह तो प्रवाहित होगा ही, प्रवाह उसका धर्म जो है।

अगुण, अरूप, अलख परमात्माके विप्र-धेनु-सुर-संत-हित दाशरथि (श्रीराम) बननेके पश्चात् उनका मूलभूत गुण अनुग्रह कहाँ प्रतिष्ठित है[6] ? देखिये—

हृदयँ अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥
(मानस १ । १९७ । ४)

लीला-जगत्में श्रीराम-स्वभावके मूलमें यही कृपा-शक्ति कार्यशील रही है[7]। इसी शक्तिकी अजस्रताने 'राम'को प्रभुके अनेक नामोंसे श्रेष्ठ सिद्ध कराया। चन्द्रमा उल्लास, शान्ति और शीतलता-प्रदायक है। ऐसा चन्द्रमा अपने प्रतीकार्थमें भगवान् श्रीरामके हृदयमें बाल्यावस्थासे ही उदित हो गया था, जिसकी चन्द्रिका उनके मधुर स्मित एवं हास्यमें सुव्यक्त होती रहती थी।

श्रीरामकी क्षण-क्षण नूतन अनुग्रहपूर्ण राकाके समीप आनेवाली सृष्टिकी प्रत्येक वस्तु चाहे वह जड हो या चेतन—कृतकृत्य हुए बिना न रही। उनकी स्वभावजन्य कृपालुता-ने अद्वितीय भूमिकाका सफल निर्वाह किया है। श्रीरामने जहाँ

---

१. चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो॥ (मानस १ । ३८ । ६)

२. गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥ (मानस ५ । ५८ । १)

३. अंड कटाह अमित लय कारी। कालु सदा दुरतिक्रम भारी॥ (मानस ७ । ९३ । ४)

४. अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥ (मानस १ । ११५ । १)

५. है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामई है। (विनयप० १७० । ७)

६. अनुग्रहाल्यहृत्स्थेन्दुसूचकस्मितचन्द्रिकः। (अ० रा० १ । ३ । १८)

७. राम भलाई आपनी भल कियो न काको। जुग-जुग जानकिनाथको जग जागत साको॥ (विनयप० १५२ । १)

अपने सुहृदोंपर कृपा की, उनकी प्रशंसा की, वहीं लोकप्रपीड़क दुष्ट जीवोंको भी अपनाया। मित्रों और शुभचिन्तकोंके प्रति तो प्रत्येक व्यक्ति सद्भाव रख सकता है, परंतु शत्रुके प्रति सहृदयताका बर्ताव करनेवाले तो प्रभु श्रीराम ही हैं, जिनके स्वभावके प्रति अवधेश दशरथजीकी धारणा थी—

'जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला।' (मानस २। ३१। ४)

और भरतजीको भी विश्वास था—

'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।' (मानस २। १८२। ३)

मन्थराकी कुमन्त्रणाके परिणामस्वरूप कैकेयीके हृदयमें प्रतिशोधकी ज्वाला धधक रही थी, जिसकी आँचसे महाराज दशरथका कोमल वपु रातभर झुलसता रहा। प्रातःकाल श्रीरामने माता कैकेयीसे पूछा—

मोहि कहु मातु तात दुख कारन। करिअ जतन जेहिं होइ निवारन॥
(मानस २। ३९। ३)

'माता! मुझे पिताजीके दुःखका कारण बतलाओ, जिससे वह यत्न किया जाय, जिसके द्वारा उसका निवारण हो।'

और कैकेयीने भी उन सब कारणोंको बता डाला, जो साक्षात् कठोरताको भी व्याकुल कर देनेवाले कहे गये हैं; किंतु श्रीरामके हृदयकी तो बात ही निराली है।[8] निम्नलिखित पङ्क्तियाँ उनके विलक्षण स्वभावका यत्किंचित् दिग्दर्शन कराती हैं—

बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन॥
सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
(मानस २। ४०। ३-४)

'वे सब दूषणोंसे रहित ऐसे कोमल और सुन्दर वचन बोले, जो मानो वाणीके भूषण ही थे। हे माता! सुनो, वही पुत्र बड़भागी है, जो माता-पिताके वचनोंका अनुरागी (पालन करनेवाला) है। हे जननी! (आज्ञा-पालनके द्वारा) माता-पिताको संतुष्ट करनेवाला पुत्र सारे संसारमें दुर्लभ है।'

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
(मानस २। ४१)

'वनमें विशेषरूपसे मुनियोंसे मिलाप होगा, जिसमें मेरा सभी प्रकारसे कल्याण है। उसमें भी पिताजीकी आज्ञा और फिर हे जननी! तुम्हारी सम्मति है।'

और फिर—

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
(मानस २। ४१। १)

'प्राणप्रिय भरत राज्य पायेंगे। (इन सभी बातोंको देखकर यह प्रतीत होता है कि) आज विधाता सब प्रकारसे मेरे सम्मुख—अनुकूल है।'

किंतु—

एक दुखु मोहि बिसेषी। निपट बिकल नरनायकु देखी॥
थोरिहिं बात पितहि दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी॥
राउ धीर गुन उदधि अगाधू। भा मोहि तें कछु बड़ अपराधू॥
जातें मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ॥
(मानस २। ४१। ३-४)

'हे माता! मुझे एक दुःख विशेषरूपसे हो रहा है, वह महाराजको अत्यन्त व्याकुल देखकर। इस थोड़ी-सी बातके लिये ही पिताजीको इतना भारी दुःख हो, हे माता! मुझे इस बातपर विश्वास नहीं होता, क्योंकि महाराज तो बड़े ही धीर और गुणोंके अथाह समुद्र हैं। अवश्य मुझसे कोई बड़ा अपराध हो गया है, जिसके कारण महाराज मुझसे कुछ नहीं कहते। तुम्हें मेरी सौगन्ध है, माता! तुम सच-सच कहो।'

यह है श्रीरामका स्वभाव, जिसका चिन्तन करते-करते वियोग-व्यथासे पीड़ित महाराज दशरथने अपनी पार्थिव-लीला समाप्त की थी—

राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ॥
(मानस २। १४८। ३)

'श्रीरामचन्द्रजीके रूप, गुण, शील और स्वभावको याद करके राजा हृदयमें सोच करते हैं।'

वह अनुग्रहपूर्ण स्वभावका ही तो लालित्य था, जिसने परशुरामजी-जैसे क्रोधी और क्षात्रद्रोहीको संस्कारी साधु बना दिया।[9] उनके तीक्ष्ण कुठारको कुण्ठित कर डाला—

बहइ न हाथु दहइ रिस छाती। भा कुठारु कुंठित नृपघाती॥
भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदयँ कृपा कसि काऊ॥
(मानस १। २७९। १)

उन परम प्रभुका हृदय कितना कोमल, स्वभाव कितना मृदुल है! वे खर-दूषण, ताटका, कुम्भकर्ण और रावण

८. कह्यो राज, बन दियो नारि बस गरि गलानि गयो राउ। ता कुमातुको मन जोगवत ज्यों निज तन मरम कुघाउ॥
(विनयप० १००। ६)

९. परसुपानि जिन्ह किये महामुनि जे चितए कबहूँ न कृपा हैं।
(गीतावली ७। १३। ५)

आदि घोर अत्याचारी राक्षसोंको भी अपने दिव्य धाममें भेजते हैं। भगवान् श्रीरामने यह सिद्ध कर दिया कि उनकी कृपा केवल भक्तोंपर ही नहीं, अपितु अभक्तोंपर भी उतनी ही है।

प्रभुका यह स्वभाव[10] उनकी अकारण कृपालुता-का परिचायक है, जिसके कारण वे अपने शत्रुओंकी भी अधोगति नहीं देख सकते। यही कारण है कि सद्यः वैधव्यप्राप्ता, रुदनरता मन्दोदरीके मुखसे हठात् ये शब्द निकल पड़ते हैं—

अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।
जोगि बृंद दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान॥
(मानस ६। १०४)

युद्धमें काम आये छोटे-बड़े सभी राक्षसोंको वे स्वभाववश अपना रूप एवं धामतक दे डालते हैं—

रामाकार भए तिन्ह के मन। मुक्त भए छूटे भव बंधन॥
(मानस ६। ११३। ४)

रामकथाके परिसमापनकी वेलामें परम भक्त काकभुशुण्डि, जिनके लिये कोई देश अथवा ब्रह्माण्ड अगम्य नहीं रह गया है, प्रायः सभी महापुरुषों एवं देवताओंके सम्पर्कमें आनेके बाद निष्कर्षरूपमें कहते हैं—

अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥
(मानस ७। १२३। २)

'पक्षिराज गरुड़जी! मैं किसीका भी ऐसा स्वभाव न कहीं सुनता हूँ, न देखता हूँ; अतः श्रीरघुनाथजीके समान किसे गिनूँ (समझूँ)।'

इतिहास परम समर्थ प्रभु श्रीरामके दयालु स्वभावका युग-युग यशोगान करता रहेगा।

श्रीहरिका अनुग्रह

हरि! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन-धाम बिबुध दुरलभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों॥
कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभुके, एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और माँगिहौं, दीजै परम उदार॥
बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥
कृपा डोरि बनसी पद अंकुस, परम प्रेम-मृदु-चारो।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो॥
हैं श्रुति-बिदित उपाय सकल सुर, केहि केहि दीन निहोरै।
तुलसिदास येहि जीव मोह-रजु, जेहि बाँध्यो सोइ छोरै॥
(विनयपत्रिका १०२)

१०. बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥ (मानस २। १९९। ४)
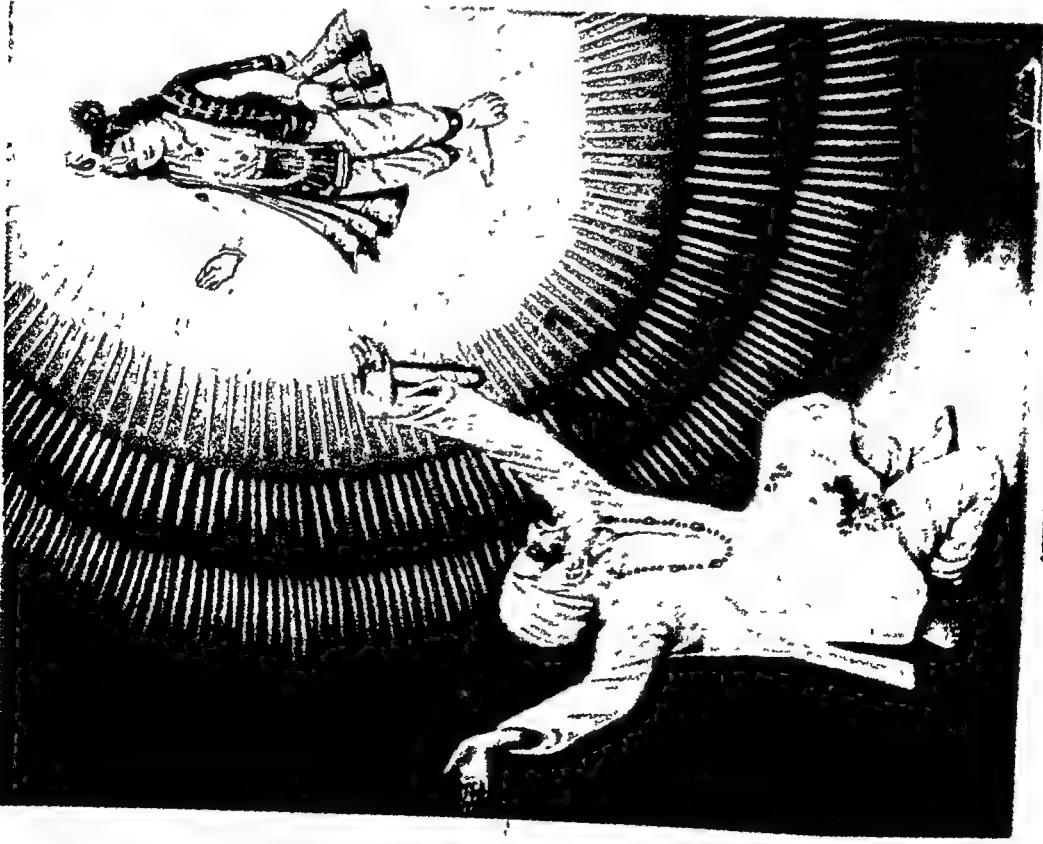
भक्त रसखानपर कृपा

भक्त बिल्वमंगलपर कृपा

भगवत्कृपाका अजस्र स्रोत

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

भगवान् कृपालु-शील-कोमल हैं, करुणासागर हैं, 'स्व'-'पर' भेदसे परे हैं, फिर भी अपने हैं, नितान्त अपने—हम जो कुछ हैं, उससे भी अधिक वे अपने हैं। जहाँ हम हैं, वहाँ भी हैं वे और जहाँ हम नहीं हैं, नहीं हो सकते हैं, वहाँ भी हैं। वे हमारे अंदर-बाहर, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दायें-बायें—सर्वत्र हैं। कुछ भी उनसे रिक्त नहीं है।

हम, हमारा यह जगत्, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और अन्तरिक्षमें तैरते अगणित ब्रह्माण्डोंके परे भी जो कुछ है, वह उन्हींके अंशका प्रक्षेप है। ये ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, आकाश और आकाशके परे जो अनन्त लोक हैं, उन्हींके अंदर उनकी अहैतुकी अचिन्त्य शक्तिसे उत्पन्न, स्थित और प्रतीयमान हैं। इस विराट् विश्वकी समस्त वस्तुएँ भिन्नधर्मा होकर भी उन्हींकी कृपा और करुणाद्वारा एक दूसरेसे संग्रथित हैं। उन्हींकी कृपा विविध रूपोंमें प्रकट है।

हम भजन-पूजन, वन्दना, आरती, अर्चना और भक्तिसे उन्हें पकड़नेकी चेष्टा करते हैं। सत्कर्मोंसे उन्हें बाँधना चाहते हैं; ज्ञान-विज्ञानसे उनके स्वरूपको समझने-पानेका यत्न करते हैं। मन्त्र-तन्त्रसे उन्हें सिद्ध करते हैं; अगणित देव-देवियोंमें उनकी छवि ढूँढ़ते हैं। यह जो कुछ हम करते हैं, करना चाहते हैं या करनेका प्रयास करते हैं, वह सब उन्हींकी दयाके अन्तर्गत उन्हींकी कृपा एवं उन्हींकी करुणा है।

हम एक गलित कुष्ठरोगीको छटपटाते देख क्षणभरके लिये खड़े हो जाते हैं, उसके प्रति सहानुभूतिसे द्रवित होते हैं, उसे जीवनका आश्वासन देते हैं। प्रेरणा और उच्चस्तरकी हुई तो उसकी सेवा-सहायता भी करते हैं, दवाका प्रबन्ध कर देते हैं या अपने ही हाथसे उसकी शुश्रूषा करनेमें जुट जाते हैं अर्थात् उसके लिये कुछ करते हैं। उसके लिये कह लीजिये या अपने लिये कह लीजिये—यह चेतना, यह स्फुरणा, यह प्रेरणा भी उन्हींकी है। यह उनकी कृपा है। अथवा समझें तो कोढ़ी और उसका दर्शक-सेवक—उनकी ही कृपाके मूर्त रूप हैं।

यह जगत् उन्हींकी काया है। उनकी आकृति इसमें दिखायी पड़ती है। काया कहिये या माया—एक ही बात है। जो कुछ है, उनका है और जो कुछ नहीं है, वह भी उनका है। कण-कण उनकी करुणासे ओतप्रोत है। भला-बुरा एक भी प्राणी नहीं, सत्-असत् एक भी काम नहीं, पशु-पक्षी, मानव, देव, देवोत्तर एक भी जीवन नहीं, जिसमें उनकी करुणा, उनकी कृपाका अमृत न हो। वे हैं वहाँ भी, जहाँ हम [illegible] नहीं देखते, नहीं जानते, नहीं पहिचानते, नहीं खोज पाते।

इसीसे उनकी कृपाको [illegible] कहा गया है। जब भगवान् चिन्तनीय होकर भी अचिन्त्य हैं तो उनकी कृपा वैसी क्यों न होगी? जहाँ हम सोच भी नहीं सकते, कल्पना भी नहीं कर सकते, वहाँ भी वे हैं। किसने इसका अनुभव न किया होगा?

मेरे पास अपना कुछ नहीं है। क्या दे सकता हूँ उनको? जो कुछ है, सब उनका है। मैं भी उनका हूँ, पर भूल जाता हूँ। पूजाके दम्भसे भर उठता हूँ। हम सब पामर प्राणी हैं। उनका नाम जपते हैं, कीर्तन करते हैं, पूजाकी घंटियाँ बजाते हैं, प्रसाद चढ़ाते हैं। हमें खुशी होती है और भक्तिका सूक्ष्म अहंकार इसमें जाग्रत् होता है। विचार करें, इससे भी हम अहंकारकी तुष्टि चाहते हैं। पूजामें हमारा इष्टदेव 'मैं' होता है या भगवान् होते हैं? आरतीमें घी-कर्पूर जलता है या हम जलते हैं? हम फूल चढ़ाते हैं या प्राण निवेदन करते हैं? प्राण, जो हमारा उतना नहीं, जितना उनका है। 'कभी सोचा है?' संत कहते हैं—**'तेरो तुझको सौंपते क्या लागे है मोर?'** परंतु यहाँ तो उनकी वस्तु है, फिर भी उन्हें देनेमें कठिनाई है और यदि देते भी हैं तो बड़े गाजे-बाजे, बड़े दिखावे और देनेके अभिनयके साथ। दाता हम बने होते हैं और भीख उनसे माँगते हैं।

भक्ति भी कभी-कभी प्रभुसे पृथक् करती है। उसमें भी एक नशा, एक अहंकार होता है। सम्भवतः सब अहंकारोंसे बड़ा, सघन और प्रबल। जबतक यह अनुभूति न हो कि 'हमारा' कुछ नहीं है, हम कुछ नहीं हैं, अनन्त रूपोंमें तुम्हीं हो, तुम्हीं करते हो यह पूजा, तुम्हीं देते हो, तुम्हीं लेते हो', तबतक कुछ नहीं। अपनापन लोप हुआ नहीं कि बस, वे-ही-वे रह जाते हैं। पर यह सब भी उन्हींकी ही करुणा, उन्हींकी कृपाके अधीन है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

(मानस २। १२६। २)

साधनाके विषयमें अपनी बात कहना भी नास्तिकता है, पर वे ही कहलाते हैं। मैं मौन रहना चाहता हूँ; परंतु वे मौन नहीं रहने देते—

'अनबोलत मोरी बिरथा जानी, अपनो नाम गँवायो।'

पामर हूँ। योग, जप, तप, पूजा कुछ नहीं; परंतु जहाँ कुछ नहीं है, वहाँ भी उनकी करुणा है, कृपा है। जगत्को छोड़ नहीं पाता हूँ, सुत-वित्त-दारामें लिप्त। परंतु जिनमें लिप्त हूँ, वे ही छोड़कर चले जाते हैं। बार-बार देखा है, कोई नहीं है अपना। सब हैं, पर अपने-अपने लिये हैं। घोर संकटमें वे सब हट गये हैं, अकेला रह गया हूँ। यह भी उन्हींकी कृपा है- यह जगत्से परित्यक्त, सर्वहारा होनेका महान् अनुभव; क्योंकि जहाँ कोई नहीं है, वहाँ भी हैं वे। जो निरालम्ब है, उसके अवलम्ब। सबसे हटाते हैं, सबको हटाते हैं अर्थात् अपने पास खींचते हैं। कैसी अद्भुत दया है यह! जहाँ सन्नाटा है, निर्जनता है, किसीकी पदचाप नहीं है, वहाँ वे हैं, केवल वे। जगत्का जब आत्यन्तिक लोप हो जाता है, तब उनकी करुणा निराश, निरवलम्ब, दीनजनको अपनी प्रलम्ब बाहोंमें भर लेती है। जहाँ दूसरा है, वहाँ वे नहीं हैं और जहाँ वे हैं, वहाँ दूसरा नहीं है। यह कृपाकी वर्षा, यह एकान्त मिलन—

प्रेम गली अति सॉकरी जामें दो न समायँ।

अधमाधम हूँ, परंतु न जाने कितनी बार उनकी कृपाके अमृतसे मर-मरकर जी गया हूँ। बीहड़ मार्ग, कुश-कण्टकोंसे आच्छादित—कण्टक जो पगतलोंको रक्तका अर्घ्य देनेको विवश करते हैं। चतुर्दिक् निविड़ अन्धकार, कुछ सूझता नहीं, राह खो गयी है। थका तन, हारा मन, विकृत और क्षत-विक्षत जीवन। अकस्मात् उसमें प्रकाशका एक बिन्दु उगता है। अरे, कोई हाथ पकड़कर अंधेको ले चला है। उस अमृत-स्पर्शको शब्दोंमें प्रकट नहीं किया जा सकता। यह अहैतुकी भगवत्कृपा!

पर वे निर्दय भी हैं। जब प्राण उत्तप्त होकर उन्हें पुकारते हैं, तब भी वे नहीं आते। बुलाता हूँ और वे दूर भाग जाते हैं। मिलनके लिये आतुर हृदयमें विरहकी व्यथा फूटती है। रोता हूँ। सिर पटकता हूँ। कहाँ हैं आप? कहाँ चले गये हैं? आपके विना एक-एक क्षण कठिन बीतता है। वे देखते-सुनते हैं, पर आते नहीं। मैं समझ नहीं पाता, उनका यह कैसा खेल है! परंतु यह भी उनकी करुणा है, कृपा है। मिलन है, पर है क्षणिक; किंतु जहाँ विरह है, वहाँ चिर-मिलन है; वहाँ प्रियतमका शरीर नहीं है, परंतु प्रियतम तो सदा ही हृदयमें बैठे मुस्कराते हैं। सदा उन्हें देख सकता हूँ। सदा वे वर्तमान हैं—

दिलके आईनेमें है तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।

तो फिर विरह विरह नहीं है। मेरी व्यथामें भी उन्हींकी कथा है। उसमें भी वे ही मूर्त हैं। अब समझ पाया हूँ कि यह सब उन्हींकी कृपा है।

यह जो जगत्-व्यापार पूजा है, उन्हींकी है। सूर्य-चन्द्र नित्य उन्हींकी आरती कर रहे हैं; नक्षत्र उन्हींकी थालीके अक्षत हैं। कोटि-कोटि पुष्प नित्य खिलते हैं, इनमें उनकी ही सुवास है; लाखों दीपक कालकी धारामें रोज बहा दिये जाते हैं, इनमें उनका ही प्रकाश है। चाँदनीमें उनकी मुस्कान है। काल निरन्तर उनकी पूजामें रत है। इसी विराट् पूजामें मेरा भी एक दीपक है। मेरा? मेरा नहीं, उनका ही। ये सारे दीप उन्हींके तेज-बिन्दुसे दीप्त हैं। सबमें उनकी कृपा है, उनके स्नेहकी बाती जल रही है।

तब साधनाके दम्भमें, उपासनाके गर्वमें वे कैसे मिलेंगे! अपनेको उन्हींमें उँड़ेल दो, रिक्त कर दो। अहंके उस आत्यन्तिक विसर्जनमें ही उन्हें पाया जा सकता है। हम उन्हींमें संचरित हैं, यह भान होनेपर कुछ करना शेष नहीं रहता; कोई पूजा वहाँ अपेक्षित नहीं। ऐसा प्राणी जो करता है, वही पूजा है; जहाँ भी चलता है, वही परिक्रमा है—

जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कछु करौं सो पूजा ॥

हर बिन्दुपर प्रियतम हैं, उनके चरण हैं। उनका कोई नियत पथ नहीं है; क्योंकि प्रत्येक पग उनकी मंजिल है, समग्र पथ ही मंजिल है। न तो कहींसे आना है, न कहीं जाना है। सर्वत्र उन्हें पाया जा सकता है, सर्वत्र उनके दर्शन सुलभ हैं; परंतु यह देखना और पाना साधनासे सम्भव नहीं, उनकी कृपासे ही सम्भव है। साधना कुछ है भी तो उन्हींकी कृपाका संकेत है, वह एक इशारा है कि प्रियतमकी दृष्टि उधर है, वे तुम्हें देख रहे हैं, बुला रहे हैं—मेरे पास आओ; सब कुछ छोड़कर मेरे पास आओ, सब धर्मोंका त्याग कर मेरे पास आओ। मेरी करुणा और कृपाकी धारामें अपनेको डुबा दो। हे नश्वर! अमृत तुम्हें पुकार रहा है—उनकी कृपाका सनातन अमृत। आज उससे प्राणोंको तृप्त कर दो। भगवत्कृपाका अजस्र स्रोत बह रहा है, उसमें नहाकर अमल-धवल बन जाओ।

वेदोंमें भगवत्कृपा

(लेखक—आचार्य श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, 'सोम')

क्लेशबहुल जगत्में कभी-कभी सुखकी स्वल्प झलकियाँ भी अविवेकीके सामने आती रहती हैं, पर दुःख तो आकर प्राणीको ऐसा दबोच लेता है, जैसे बिल्ली चूहेको। इसलिये महर्षि पतञ्जलि तथा कपिलकी उक्ति है—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (योगसूत्र २। १५)

'विवेकी पुरुष सुखोंके परिणाम-ताप-संस्कारादिका सूक्ष्म-रूपसे विचारकर इस जगत्के सभी दृश्योंको दुःखमय ही मानते हैं।' दृश्य भोगात्मक हैं। भोगमें सुख-दुःख दोनों ही प्राप्त होते हैं। सुख भी एकान्ततः सुख नहीं होता, वह दुःखसे मिश्रित रहता है। सुखभोगमे जो आयास और परिश्रम करने पड़ते हैं, वे स्वतः क्लेशप्रद हैं। एक सुखाभिलाषा पूरी हुई तो दूसरी उत्पन्न हो जाती है। अभिलाषाओंका अन्त नहीं, इसीलिये सुख-प्राप्तिके इस पथमें दुःखोंका अन्त नहीं। तो क्या दुःख अनन्त हैं—असीम हैं? क्या इनका अन्त नहीं हो सकता? ऋषि आश्वासन देते हुए कहते हैं—'दुःख सावधि हैं, अनन्त नहीं। जो भोगे जा चुके हैं अथवा भोगे जा रहे हैं, उन दुःखोंका त्याग नहीं किया जा सकता; किंतु भविष्यके दुःखोंका नाश किया जा सकता है—'हेयं दुःखमनागतम्' (योगसूत्र २। १६)।

योगदर्शनके अनुसार क्लेशके पाँच रूप हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन पाँचों प्रकारके क्लेशों-का क्षेत्र अविद्या ही है। क्लेश कभी प्रसुप्त हो जाते हैं, कभी कम हो जाते हैं, कभी उन्हें काट भी दिया जाता है और कभी वे अपने विशाल रूपको खुलकर प्रकट करने लगते हैं। अभिनिवेश मृत्युका क्लेश है और यह क्लेशोंमे सबसे बड़ा है। यह प्रायः सभीके सिरपर चढ़ा रहता है। विश्वका कोई भी जन्मधारी प्राणी या पदार्थ इसके प्रभावसे मुक्त नहीं हो सकता। इसे स्वरसवाही कहा जाता है—बिना किसीकी चिन्ता किये यह अपने रसमे ही बहता रहता है। पर है यह भी अविद्याके क्षेत्रमें ही पनपनेवाला। ज्ञानका प्रकाश होते ही इसका प्रभाव समाप्त हो जाता है। जबतक देह है, तबतक मृत्यु भी उसकी सङ्गिनी बनी है, पर ज्ञानका प्रकाश मृत्युके प्रभावको ही कम नहीं करता, उसके भयको तथा उसको भी समाप्त कर देता है। भगवती श्रुतिके शब्दोंमे—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(अथर्ववेदसंहिता १०। ८। ४४)

जगज्जालके कण-कणमे एक ही विभूति रमी हुई है। प्रत्येक प्राणीके अन्तःस्थलमे उसका निवास है। वह सबके हृदयदेशमें स्थित है; अन्तर्यामिरूपमें रमकर भी सबसे पृथक् है। यह सर्वव्यापक सूक्ष्मतम सत्ता अकाम और अमृत है। व्याप्य वस्तुओंके रूप परिवर्तित होते रहते हैं, पर इस व्यापकके रूपमे कहींसे कोई भी न्यूनता नहीं, परिवर्तन नहीं। यह नित्य रसतृप्त, धीर, अजर, सतत युवा और स्वयम्भू है। जो इसे जान लेता है, ज्ञानके प्रकाशमे देख लेता है, उसे मृत्यु कभी भयभीत नहीं कर सकती। 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति'—(शुक्लयजुर्वाजसनेयिसंहिता ३१। १८; श्वेताश्व० उ० ३। ८, ६। १५)—जिसने इस भगवती पराशक्तिका दर्शन कर लिया, वह मृत्युको अतिक्रान्त कर जाता है। मृत्युसे पार जानेके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है। इसका एकमात्र उपाय है—सबके भीतर छिपी इस महाशक्तिका दर्शन।

'यह दर्शन कैसे हो? मेरी आँखें तो बाहरकी ओर लगी हैं, बाहरी दृश्योंको ही देख रही हैं। यह परमानन्दमयी शक्ति तो भीतर है। मैं भीतर कैसे प्रवेश करूँ? कैसे इसके अन्तःसामीप्यको प्राप्त करूँ?' ऋषि कहते हैं 'कि इसके नामका जप कर। यह नाम प्रणव है, नित्य नूतन ओंकार है। ओंकारके अर्थकी भावना करते हुए जप कर। इससे तेरी चेतना बाहरसे हटकर प्रत्यक्ष भीतर चली जायगी और कृपा-भगवतीके परमानन्दमय दर्शनमें जो अन्तराय या विघ्न हैं, उनका अभाव हो जायगा। वे मिट जायँगे। पर जप कैसे हो? अर्थके भावमें कैसे डूबा जाय?—

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुर्वीदं
ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः
किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥
(ऋक्० ६। ९। ६)

'क्या बोलूँ! क्या मनन करूँ! जिह्वासे कैसे जप जपूँ! कैसे

तेरा ध्यान धरूँ ? ज्यों ही जप करने बैठता हूँ, त्यों ही कान बाहरके शब्दोंको सुननेमें लग जाते हैं। आँखें बंद हैं, पर वे भी अपने द्वारा पहले देखे रूपोंको देखने लगती हैं और हृदयमें प्रतिष्ठित यह ज्योति—मन नाना प्रकारकी आधियों, चिन्ताओंमें विचरण करने लगता है। नामका जप और अर्थका भावन—दोनों रुक जाते हैं।' ऋषि कहते हैं कि 'यदि ऐसा है तो भी तू धैर्य धारण कर, चिन्ता मत कर; क्योंकि तू जो कुछ कहेगा, उन प्रचेतस महादेवके लिये जैसे भी शब्दोंका प्रयोग करेगा, वे तेरा मङ्गल ही करेंगे। जैसे बने, वैसे तू जिह्वासे नाम रटता रह। मन भागता है, भागने दे। आँख और कान अपने-अपने विषयोंमें दौड़ लगाते हैं, लगाने दे। तू नामको मत छोड़।

'मा चिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत।'

(ऋक्० ८ । १ । १; अथर्व २० । ८५ । १)

प्रभुके अतिरिक्त तू अन्य किसीकी स्तुति मत कर। भगवद्विरुद्ध किसी प्राणी, पदार्थ तथा परिस्थितिको हृदयमें महत्त्व मत दे; क्योंकि ऐसा करनेसे तू परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा। तू एकमात्र अपने प्रभुको पकड़, उनके आश्रयका परित्याग मत कर। पुत्र जैसे अपने पिताका पल्ला पकड़ लेता है, उसी प्रकार तू भी अपने उस सच्चे माता-पिताके पल्लेको पकड़ ले। न पकड़ सके तो रो, तेरे हृदयका विलाप तेरे माता-पिताको हिला देगा और वे सब कुछ छोड़कर तुझे अपनाने, गोदमें लेनेके लिये दौड़ पड़ेंगे।

आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः।
वाजेभिरुप नो हवम्। (सामवेद ७४५)

प्रभुका बल अनन्त है, उनकी शक्ति असीम है, उनके रक्षण-उपाय अनेक हैं। तू रो-रोकर अपना रुदन-स्वर, हृदयसे निकली आर्त-पुकार उनके निकटतक पहुँचा, वे आयेंगे, अवश्य आयेंगे, हजारों रक्षाशक्तियोंके साथ प्रकट होंगे। उनका वरदहस्त तेरे सिरपर होगा, तू निहाल हो जायगा।

क्या तू अपनेको निर्बल अनुभव करता है? तब तो अवश्य ही उन सम्बलोंके भी सम्बल, आश्रयोंके भी आश्रय, आधारोंके भी परमाधार प्रभुको पकड़। तू दीन और वे दीनदयालु, तू निरवलम्ब और वे सर्वश्रेष्ठ आलम्बन, तू मझधारमें गोते खानेवाला और वे पार लगानेवाले हैं। उनकी कृपाका—अनुकम्पाका कोई ओर-छोर नहीं।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।

(कठोपनिषद् १ । २ । १७)

विद्म हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम्।
तुविमात्रमवोभिः॥ (ऋक्० ८ । ८१ । २)

नहि नु ते महिमनः समस्य न मघवन् मघवत्त्वस्य विद्म।
न राधसोराधसो नूतनस्येन्द्र नकिर्ददृश इन्द्रियं ते॥

(ऋक्० ६ । २७ । ३)

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।

(शुक्लयजु० ३३ । ७९)

प्रभुकी शक्ति अल्पज्ञ जीवके लिये अकल्पनीय है। हम सोच भी नहीं सकते कि प्रभु कहाँसे, किस प्रकार आकर हमें बचा लेते हैं, अपनी गोदमें उठा लेते हैं। उनकी भगवत्ता, उनकी महिमा, उनकी सफलतादायिनी, सिद्धिप्रदायिनी शक्ति अनिर्वचनीय है, अज्ञेय है। उनके कर्म, उनके दान, उनके विभव, उनके रक्षण, उनका ज्ञान—सब कुछ महान् है, अद्भुत है, विचित्र है। वे विचित्रतम वय, प्राण, जीवन, शक्तिके धारक हैं। वे अद्भुत रूपसे दर्शनीय हैं। उनकी प्रत्यक्ष एवं साक्षात् अभिव्यक्ति, सम्पत्ति, शक्ति सभी विचित्र हैं। उनकी समता करनेवाला यहाँ कोई भी नहीं है। मुक्तात्मा उनका सायुज्य प्राप्त करके उन-जैसे हो जाते हैं, पर सृष्टिके उद्भव, स्थिति एवं संहारकी क्षमता उनमें भी नहीं आ पाती। प्रभु भक्तोंके लिये उपास्य हैं। वे आनन्दघन हैं और सबसे बढ़कर वे कृपा-कोष हैं, दया-निधि हैं। हम अहंके शिखरपर चढ़ते हैं, गिर पड़ते हैं, पर प्रभुको पुकारते ही उनकी कृपासे उठ भी जाते हैं। कभी-कभी उनका कृपा-कोप भी अपनी तीव्र भ्रू-भङ्गिमाका निक्षेप करने लगता है, पर उसमें छिपी करुणा जीवके लिये अन्तमें कल्याणकारिणी ही सिद्ध होती है।

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृळा सुक्षत्र मृळय॥
अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय॥

(ऋक्० ७ । ८९ । ३-४)

'हे समह—पूजनीय! हे शुचे—पवित्र ज्योति! मैं दीनताके कारण कर्तव्यपथसे पृथक् होकर विपरीत पथपर चल पड़ा। इस विपरीत मार्गने मुझे झाड़-झंखाड़में डाल दिया है, निर्जन वनमें ला पटका है। हे सुक्षत्र—क्षत्रोंसे त्राण करनेकी शोभन शक्ति रखनेवाले! दया करो,

दया करो, इस विकट संकटसे मेरा उद्धार करो, मुझे पुनः सुपथसे ले चलो। देव! आप-जैसे आनन्द-सागरके रहते भी मैं प्यासा मरूँ, यह आपके विरदके विपरीत है। दयानिधे! द्रवित हो जाओ, रूठो मत, अपनी कृपा-दृष्टिसे मुझे भी आनन्दित कर दो।'

प्रभु ही जीवके सच्चे अपने हैं। अथवा यह कहना चाहिये कि वे ही एकमात्र अपने हैं, अन्य सब पराये हैं।

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वामागांसि कृणवत् सखा ते।
(ऋक्० ७।८८।६)

आ हि ष्मा सूनवे पिताऽऽपिर्यजत्यापये। सखा सख्ये वरेण्यः।
(ऋक्० १।२६।३)

—प्रभु अपने हैं, पिता हैं, भ्राता हैं, सखा हैं। अपना व्यक्ति अपने लिये क्या नहीं करता? पिता पुत्रके लिये, सखा सखाके लिये, भ्राता सहोदर भ्राताके लिये अपने प्राणतक होम देनेके लिये तैयार हो जाता है। यह लौकिक अनुभूति है। पारलौकिक अनुभूति तो पारमार्थिकी है, परम अर्थवाली है, विशुद्ध सत्यपर आधारित है। अपना सब कुछ प्रभु हैं। वे भी अपने भक्तके लिये सब कुछ करते हैं। इस लोकमें जो असम्भव-जैसा जान पड़ता है, उसे भी वे सम्भव कर देते हैं।

प्रभु नंगेको वस्त्रसे आच्छादित कर देते हैं, आतुर रोगीके रोगको भेषज देकर हटा देते हैं, अंधा उनकी कृपासे आँखें पा जाता है और पंगु चलनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है।

प्रभुकी इस अहैतुकी कृपाका अनुभव प्रायः सभी भक्तोंको हुआ है। व्यास, सूर, तुलसी आदि भक्तोंने तो उसका वर्णन भी किया है।

'मूकं करोति वाचालम्', 'बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै', 'पंगु चढ़ै गिरिवर गहन' आदि पङ्क्तियाँ कथनमात्र नहीं, अनुभूतिपरक हैं। वेद मुक्तस्वरमें इस अनुभूतिका उद्घोष करते हैं—

स ईं महीं धुनिमेतोररम्णात्। (ऋक्० २।१५।५)

'प्रभु गरजती हुई महती ध्वनिको एकदम शान्त कर देते हैं।'

प्रभुका अपना सगा-सम्बन्धी यह जीव जाने अनजाने न जाने कितने पाप करता रहता है, पर उनकी कृपा उसे बचाती है, प्रायश्चित्त कराती है तथा विकृतियोंसे निकालकर सुकृतियोंकी ओर प्रेरित करती रहती है। निरन्तर अपने अन्तस्से निकलती हुई आवाजका यदि हम श्रवण और अनुगमन करते रहें तो निःसंदेह पावन पथपर चलनेके अभ्यासी बन सकते हैं। वेद-मन्त्र है—

उत त्वं मघवञ्छृणु यस्ते वष्टि ववक्षि तत्।
यद् वीळयासि वीळु तत्॥ (ऋक्० ८।४५।६)

पिता! आप मघवा हैं, ऐश्वर्यकी राशि हैं। आपके कोशमें किसी प्रकारकी कमी नहीं है। भक्त जो कामना करता है, उसे आप पूर्ण कर देते हैं। आप उसकी सर्वाङ्ग निर्बलताका उन्मूलन करके उसे बलवान् बना देते हैं।

प्रभो! आप सोम हैं, संजीवनी शक्ति हैं। आप जिसे जीवित रखना चाहते हैं, उसे कोई मार नहीं सकता। आपको स्तोत्र बड़े प्यारे हैं, भक्तिभरे स्तुति-गान जब भक्तके कण्ठसे निकलते हैं, तब आप बड़े चावसे उन्हें सुनते हैं। आप ही पालक और रक्षक हैं।

पिता! आज मैं भी पूछ रहा हूँ कि मैं कब आपके भीतर प्रविष्ट होऊँगा (आपको प्राप्त करूँगा)? कब वह अवसर आयेगा, जब मैं आप-जैसे वरणीयका अपनत्व प्राप्त करूँगा? आप ही एकमात्र यहाँ वरण करने योग्य हैं। किसीको चुनना है तो वह एक आप ही हैं। आप ही पथके विघ्नोंको भी हटानेवाले हैं। पिता! क्या आप मेरे इस हव्यको ग्रहण करेंगे? मेरी पुकारको सुनेंगे? क्या वह स्वर्ण-घटिका इस जीवनमें उदित होगी, जब मैं प्रसन्न मनसे आपकी लावण्यमयी मुख-मुद्राको देख सकूँगा?

देव! आपकी खोजमें मैं इधर-उधर बहुत भटका; संतों, कवियों, साधकों और विद्वानोंके पास गया, पर सबने एक ही बात कही—'उन प्रभुकी कृपा प्राप्त करो। अनुनय-विनय करके उन्हें मना लो। उनकी कृपासे ही तुम्हारा पाप कटेगा। उन दयालु देवकी दया ही निखिल ताप-शमनी औषधि है।' (ऋक्० ७।८६।२)

क्व स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः॥
(ऋक्० २।३३।७)

'रुद्र आप! रोये हुए (प्राणियों)को रुलाते हैं, पापोंको पछाड़ते हैं। आपका दयाद्रवित वरद कर जिसके सिरपर पड़ गया, उसे ओषधियोंकी ओषधि मिल गयी। उसके संतापका शमन हो गया। कितनी शीतलता है आपके

हाथमें। दाहक अग्नि एकदम बुझ गयी, शान्त हो गयी।'

भक्त तड़प रहा था, पापका प्रचण्ड पावक धक्-धक् कर जल रहा था, आपके कृपा-करका स्पर्श होते ही न जाने वह कहाँ छू-मन्तर हो गया। एक नहीं, अनेक बार ऐसे अनुभव हुए। क्या दिव्य शक्तियोंके प्रति मैंने कोई अपराध किया था? पिता आप ही जानें। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि आप मेरे साथ रहते हैं और यदि कोई पाप इस मन या तनसे हो भी गया तो उससे आपने ही मुझे बचाया और समस्याओंका समाधान किया है। आपकी अमोघ क्षमा मुझे मिली है, मैं इतना तो अवश्य ही जानता हूँ।

पिता! अब एक ही आकाङ्क्षा है—यह जो कुछ है, आपका है, आपका ही दिया हुआ है। जब-जब इस शरीर-यन्त्रपर दृष्टि जाती है, तब-तब आपका संकेत प्राप्त होता है। मैं चाहता हूँ, जैसे इस शरीरने आपका आभास प्राप्त किया है, वैसे ही यह मन भी अब सर्वात्मना आपका ही होकर रहे। मेरी बुद्धिको ऐसा मोड़ दीजिये, जिससे यह आपका अदभ्र प्रकाश प्राप्त करती रहे—

त्वामिद्धित्वायवोऽनुनोनुवतश्चरान्। सखाय इन्द्र कारवः।
(ऋक्० ८। ९२। ३३)

मेरी शिल्पकारिता, काव्यकला और बुद्धिविशारदताकी सार्थकता इसीमें है कि वह आपका ही स्तवन करे, आपके ही सामने झुके। कोई ऐसी युक्ति बतलाइये, जिससे मेरी साधना आपके मनको प्रसन्न कर सके। कर्मकाण्डमें वह सामर्थ्य नहीं कि जिससे आपको मापा जा सके। मेरे भीतर समर्पणमयी भावना भर दीजिये। मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। मेरे तो एकमात्र आप हैं। मेरे सर्वस्व! मेरे प्राण! अन्तराराम! मेरे शाश्वत सम्बन्धी! आप मेरे हैं और मैं आपका हूँ—

त्वमस्माकं तव स्मसि। (ऋक्० ८। ९२। ३२)

आज मेरी समस्त मतियाँ आपकी सङ्गिनी, सहेली, अनुचरी बननेके लिये व्याकुल हो उठी हैं। ये उमड़ रही हैं, विस्तृत व्योममें फैल रही हैं, आपका अञ्चल छूने और पकड़नेके लिये—'आकाशस्तल्लिङ्गात्।' (वेदान्त दर्शन १। १। २२) इस आकाशमें आपके कुछ चिह्न पाये जाते हैं, इसीलिये ये मतियाँ आकाशमें संतनित हो रही हैं। हृदयाकाश तुम्हारे मिलनका क्षेत्र कहा गया है—

'हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्।'
(ब्रह्मसूत्र १। ३। २५)

इस आकाशमें ये मतियाँ आपकी खोज कर रही हैं, आपके ही स्पर्शकी आकाङ्क्षा रखती हैं। क्यों भटकाते हैं इन्हें? मेरी विनयको क्यों अनसुनी कर रहे हैं! प्यासे चातकको चोंसे गिरनेवाले उत्सकी—आकाशकी वर्षा-धाराकी आवश्यकता है। मेरी मतिको भी तुम्हारे स्पर्शकी आकाङ्क्षा है। छू दीजिये, देव! छू दीजिये। यह भी क्यों प्यासी रहे? इस तृषितको तृप्ति प्रदान कीजिये। इसकी पिपासाको शान्त कीजिये। कृपानिधान! कृपाकी कोर इधर भी कर दीजिये। जलकी एक बूँद इसके मुखमें भी डाल दीजिये—

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन॥
(अथर्ववेदसंहिता १०। ७। ३७)

देव! न जाने कितने दिन बीत गये, कितनी रातें निकल गयीं, कितने वर्ष और कितने जन्म एक-पर-एक बीतते गये; किंतु आपके दर्शनकी लालसा ज्यों-कि-त्यों बनी है। यह प्राण चलता ही रहता है, यह मन विश्रामका नामतक नहीं लेता। ये जीवन-कर्म निरन्तर प्रवहमान हैं। इनकी गतिमें, इनकी क्रियामें केवल आपके दर्शनकी लगन बसी हुई है। इस असत् नाम-रूपके प्रपञ्चमें आप ही एकमात्र सत्य हैं। आपकी प्राप्तिकी आकाङ्क्षामें ही ये प्राण और मन धावमान हैं—ये मतियाँ विस्तृत हैं। इनकी गतियोंकी गति, परम गति एवं परम लक्ष्य एकमात्र आप हैं।

नह्यन्यं बलाकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृळय।
यो नः शश्वत् पुराविथाऽमृध्रो वाजसातये।
स त्वं न इन्द्र मृळय॥ (ऋक्० ८। ८०। १-२)

मेरे एकमात्र इष्टदेव! आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी त्राता नहीं है। मैं क्या, यहाँ सबके-सब केवल आपकी ओर देख रहे हैं, आपकी ही शरण चाहते हैं। इन सबपर आक्रमण होते हैं, किंतु आपपर कोई आक्रमण कर ही नहीं सकता। आप ही सबको बचाते आये हैं। दयालु देव! दया कीजिये, मुझे भी बचाइये, अपना आश्रय दीजिये, अपनी कृपादृष्टिकी वर्षाद्वारा मेरे भी क्लेशजालकी ज्वाला शान्त कीजिये।

उपनिषद्-पुराणादिमें भगवत्कृपाका स्वरूप

(लेखक—डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (द्वय), डी० लिट्०)

'भग' शब्द ऐश्वर्यवाचक है। 'भग' शब्द 'भज सेवायाम्' धातुसे 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (पाणि० ३। ३। ११८) सूत्रद्वारा 'घ' प्रत्ययके योगसे निष्पन्न होता है अन्ततोगत्वा भगके आगे मतुप्—वत् प्रत्ययका योग करनेपर 'भगवत्' शब्द निष्पन्न होकर सर्वैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान्, पूर्णब्रह्म, परमात्मा, परमतत्त्व, परमचैतन्य आदि अर्थका द्योतक होता है। ये ही भगवान् अपनी शक्तिस्वरूपा कृपाका सर्वत्र निक्षेप करते हैं। भगवान् त्रिकाल कृपालु हैं। भगवत्तत्त्वसे कथमपि, कदापि अकृपा होनेकी सम्भावना ही नहीं है, भले ही दुर्बलहृदय मानव इस तथ्यको न समझ सके। कृपासिन्धु, दयासागर आदि प्रभुके असख्य नाम उनकी इसी कृपालुताके द्योतक हैं। थोड़ा धैर्य और गम्भीरताके साथ संसारका विचार तथा भगवद्विश्वास करनेपर इस सतत क्रियाशील भगवत्कृपाका अनुभव होने लगता है। इसके लिये वेद, उपनिषद्, गीता, पुराण आदि सच्छास्त्रोंका अध्ययन, परिशीलन, मनन और आचरण करना परमावश्यक तथा उपयोगी है। इसके साथ-साथ साधु-महात्माओंकी सङ्गति भी अनिवार्य है।

भारतीय संस्कृति जिन श्रुति-शास्त्रोंपर आधारित है, उनमें सच्चिदानन्दस्वरूप दो प्रकारका माना गया है। उसका एक रूप निर्गुण, निराकार है, जो मन तथा वाणीके लिये अगोचर है। योगी अपनी यौगिकी साधनामें निर्बीज समाधिमें उसका साक्षात्कार कर अमरत्वकी उपलब्धि करते हैं। ज्ञानी तत्त्व-चिन्तनद्वारा दृष्ट-श्रुत समस्त पदार्थोंसे मनको पृथक् कर द्रष्टारूपसे उसमें अवस्थित हो जाते हैं, पर सर्व-साधारण साधक उसके इस निर्गुण स्वरूपकी उपासनामें कठिनताका अनुभव करते हैं। जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयमें उन परम प्रभुकी अपार करुणा है। उनके इन सगुण, साकार, चिन्मय रूपोंके ध्यान-स्मरण, नाम-जप तथा लीला-चिन्तनसे मानव-हृदय परम शुद्ध हो जाता है। मनुष्य इन रूपोंमेंसे किसी एकको नैष्ठिक रूपसे अपने हृदयमें विराजमान कर कृपा-नौकाद्वारा अनन्त संसार-सागरसे पार हो जाता है। भगवान्के विविध अवतार उनकी कृपालुताके ही द्योतक हैं।

सत्त्वमूर्ति भगवान्के अवतारोंकी कोई संख्या नहीं है—वे अगणित हैं[1]। भारतके आस्तिक सम्प्रदायोंमें भगवान्के चौबीस अवतारोंकी विशेष प्रसिद्धि है[2]।

भगवान् केवल मानवके ऊपर उसके भक्तिभावसे प्रेरित होकर कृपा नहीं करते, अपितु वे विश्वमात्रके चर-अचर समस्त प्राणियोंपर अपनी अहैतुकी कृपाका निक्षेप करते हैं। विचारणीय है—दूर्वा (घास) निरन्तर विविध प्राणियोंके पादाघातसे पिसती रहती है, अग्निकी चिनगारीके समान सूर्य-किरणोंसे तपती रहती है, छाग (बकरी) आदि पशु-प्राणियोंद्वारा निरन्तर चर्वित तथा कुदालोंसे उन्मूलित होती रहती है, फिर भी वह सदा-सर्वदाके लिये अपना जीवन खो नहीं देती—समय-समयपर पनप उठती है और लहलहाने लगती है। इस तरहकी विपत्तियोंको निरन्तर झेलकर भी वह जीवित ही रहती है। यह सर्वव्यापी प्रभुकी कृपालुता ही है[3]।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्कृपाकी उपलब्धिके साधनभूत तीन यौगिक मार्गोंका प्रतिपादन हुआ है—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इन तीनोंमें जो भी अनुकूल प्रतीत हो, उसीका अवलम्बन कर साधक अपने साध्यको प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक साधकको एक ही साध्यकी प्राप्ति होगी, वह चाहे जिस मार्गसे प्रस्थान करे। चरम लक्ष्य सबका एक ही है—परम पिता परमात्मा अथवा तदनुकम्पाकी प्राप्ति या अनुभूति।

---

१. अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥
(श्रीमद्भा० १। ३। २६)

२ श्रीमद्भा० (१। ३। २५)।

३. निष्पिष्टापि परं पदाहतिशतैः शश्वद्बहुप्राणिनां संतप्तापि करैः सहस्रकिरणैरग्निस्फुलिङ्गोपमैः।
छागाद्यैश्च विचर्वितापि सततं मृष्टापि कुद्दालकैर्दूर्वा न म्रियते कृशापि सततं धातुर्दया दुर्बले॥

उपनिषद्वाङ्मयमें आत्मा, परमात्मा तथा ब्रह्म आदि अतीन्द्रिय तत्त्वोंका विवेचन हुआ है। इस वाङ्मयके अनुसार जीवात्माको मुक्ति या मोक्षके रूपमें भगवत्कृपाका दर्शन मिलता है। उपनिषद्-विद्याके लिये संसारके अशेष धर्मावलम्बी उदात्त भावना प्रकट करते हैं—यह सर्वश्रेष्ठ विद्याके रूपमें सर्वत्र अभिमत है। इसके अनुसार मनन, चिन्तन तथा अभ्यास करनेसे मनुष्य जीवन्मुक्त होकर अवर्णनीय भगवत्कृपाकी अनुभूति—उपलब्धि कर सकता है। वेदान्त-सिद्धान्तमुक्तावलीकारने स्कन्दपुराणके वचनसे इसकी महिमाके वर्णनमें यहाँतक घोषणा की है—'जिस पुरुषका मन उस अपार सच्चिदानन्द-सागर परब्रह्ममें लीन हो गया है, उसका कुल पवित्र हो जाता है, माता कृतकृत्य हो जाती है और उसके कारण सम्पूर्ण वसुन्धरा पुण्यवती हो उठती है[४]।'

ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें सारा विश्वब्रह्माण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है। उसे यह असत्, जड और दुःखरूप प्रतीत नहीं होता। उसकी दृष्टिमें तो द्रष्टा, दृश्य तथा दृष्टिका भेद भी नहीं रह जाता—सम्पूर्ण अनुभूयमान तत्त्व एकाकारमें परिणत हो जाता है। वह तो एक निश्चल, निर्बाध तथा निष्कल चिदानन्दघन सत्तामात्र रह जाता है। उसके द्वारा जो कुछ कार्य-व्यापार सम्पन्न होते हैं, वे दूसरेकी दृष्टिमें सम्पद्यमान प्रतीत होते हैं। वह स्वयं तो अनन्त भगवत्कृपा-सागरमें मग्न रहता है।

उपनिषद् मुख्यतया ज्ञान-विज्ञानका प्रतिपादक है। ज्ञान-विज्ञानका अभिप्राय यहाँ भगवत्कृपाकी अनुभूतिसे है। जो साधक संयतचित्त तथा पवित्र आचरणसे युक्त है, वह विष्णु—वासुदेव नामक सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्माके परम उत्कृष्ट पद—स्थान अर्थात् स्वरूपको प्राप्त कर लेता है[५]। जिस प्रकार स्वामीको अपने समक्ष हाथमें वज्र उठाये देखकर सेवकगण नियमानुसार उसकी आज्ञामें प्रवृत्त होते रहते हैं, इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदिरूप यह सारा जगत् अपने अधिष्ठाताओंके सहित निरन्तर उस(ब्रह्म)की आज्ञामें संलग्न रहता है। जो इस (ब्रह्म)को जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं[६]। यही भगवत्कृपामयी परमगति है। जिस समय अपने-अपने विषयोंसे निवृत्त हुई पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मनके सहित (आत्मामें) स्थित हो जाती हैं तथा बुद्धि भी अपनी चेष्टा छोड़ देती है, उसी अवस्थाविशेषको परमगति कहते हैं[७]।

उस परावर (कारण-कार्यरूप) ब्रह्म अर्थात् अक्षय तत्त्वका साक्षात्कार होनेपर इस जीवकी बुद्धिमें स्थित अविद्या वासनामय कामरूप हृदयग्रन्थि, लौकिक पुरुषोंके शेष [illegible] सम्पूर्ण संदेह, जो इसके मरणपर्यन्त गङ्गाकी धाराके समान प्रवहमान रहते हैं, छिन्नभिन्न हो जाते हैं। उसके संशय नष्ट हो जाते हैं तथा अविद्या निवृत्त हो चुकती है, ऐसे पुरुषके विज्ञानोत्पत्तिसे पूर्व जन्मान्तरमें किये हुए और ज्ञानोत्पत्तिके साथ-साथ किये जानेवाले सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। पूर्वकृत कर्मोंका कोई संस्कार शेष नहीं रह जाता। तात्पर्य यह कि उस सर्वज्ञ, नित्य, अलौकिक परावर (कारणरूपसे पर तथा कार्यरूपसे अवर) परम तत्त्वका साक्षात्कार हो जानेपर संसारके कारणका उच्छेद हो जानेसे यह पुरुष शाश्वतरूपसे मुक्त हो जाता है[८]। परमात्मा बन्धनके कारण (अविद्या)का हनन

---

४. कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन। अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥
(वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली ८७)

५. यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥
(कठोपनिषद् १।३।८-९)

६. यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
(कठोपनिषद् २।३।२)

७. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
(कठोपनिषद् २।३।१०)

८. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
(मु० उ० २।२।८)

करनेसे 'हंस'-संज्ञाधारी हैं। वे ही इस त्रिलोकीके मध्यमें स्थित हैं और कोई नहीं। अविद्या और उसके कार्यका दाह करनेवाले होनेसे वे अग्निके समान अग्नि भी हैं (ईश्वर आकाशातीत अग्नि हैं)। सलिलमें अर्थात् देहरूपमें परिणत हुए जलमें वे आत्मभावसे संनिविष्ट अर्थात् सम्यग्रूपसे स्थित हैं। अथवा यज्ञ-दानादिके द्वारा सलिल (जल)के समान स्वच्छ हुए अन्तःकरणमें स्थित वेदान्त-वाक्यार्थके सम्यग्ज्ञानके फलरूप अविद्या और उसके कार्यका दाह करनेवाले अग्नि-नामधारी परमात्माको जानकर भी पुरुष मृत्युके पार हो जाता है, इसके अतिरिक्त मोक्षोपलब्धिके लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है[9]।

कृपालु भगवान् मुमुक्षु चिन्तकोंको मोक्षरूप सर्वोत्कृष्ट कृपा प्रदान कर सदाके लिये कृतकृत्य कर देते हैं।

पुराणोंमें कृपालु परमात्माके साकार-निराकार—दोनों रूपोंमें दर्शन मिलते हैं। सम्पूर्ण पुराण-वाङ्मय भगवान्‌के विलाससे परिपूर्ण है। जब आततायियोंके अत्याचारसे पीड़ित होकर भक्त आर्तभावसे प्रभुका स्मरण करता है, तब वे अविलम्ब किसी भी साकाररूपमें अभिव्यक्त होकर उसका त्राण करते हैं। धर्मके ऊपर जब-जब संकट आता है, उसकी रक्षाके लिये वे तुरंत अवतीर्ण हो जाते हैं। मत्स्य आदि अवतार इसी रहस्यके द्योतक हैं। स्वायम्भुव मनुके द्वितीय पुत्र उत्तानपादकी सुनीति नामक पत्नीसे उत्पन्न पुत्र ध्रुवने नारदजीके परामर्शसे विष्णुकी आराधना की, तब कृपासागर भगवान्‌ने ध्रुवके न चाहनेपर भी छत्तीस हजार वर्षपर्यन्त राज्यभोगके साथ ही वह पद प्रदान किया, जिसकी परिक्रमा नक्षत्रगण करते हैं[10]।

दैत्यराज हिरण्यकशिपुके विविध अत्याचारों तथा यातनाओंसे पीड़ित होकर भी प्रह्लादने भगवान्‌का नाम जपना तथा उनकी स्तुति करना नहीं छोड़ा। तब साक्षात् भगवान्‌ने नृसिंहके रूपमें आविर्भूत हो अविलम्ब उस बालक भक्तका त्राण किया[11]। इसी प्रकार भगवान्‌ने मधु-कैटभ, ससैन्य महिषासुर, धूम्रलोचन, चण्ड-मुण्ड, रक्तबीज, निशुम्भ-शुम्भ आदि आततायी दैत्य-दानवोंका महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वती आदि शक्ति-रूपोंमें अवतीर्ण होकर उद्धार किया, इस प्रकार भयभीत देवताओं एवं मनुष्योंकी रक्षा की[12]।

धैर्य, विश्वास और दृढ़ताके साथ साधना-पथपर अग्रसर होनेसे मनुष्यको सर्वत्र और सर्वदा भगवत्कृपाकी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

विश्वके प्रायः समस्त धर्म, सम्प्रदाय और मत जगन्नियन्ता ईश्वर या परमात्माके अस्तित्वमें आस्था रखते हैं—निर्गुण-निराकार या सगुण-साकार परमेश्वरकी अनुकम्पा-पर विश्वास करते हैं। उन्हीं कृपालु परमेश्वरकी अहैतुकी अनुकम्पासे विश्व-व्यापार निर्बाधरूपसे संचालित हो रहा है। यह उसी भगवत्कृपापर अवलम्बित होकर चिर कालसे अपने अस्तित्वमें विद्यमान है। भगवान् हमारे लिये लौकिक या पारलौकिक अक्षय सुखका विधान करते हैं। अतः हमें प्रभुकी कृपालुतापर आस्था रखकर, शाश्वत चिरशान्तिकी उपलब्धिके लिये सतत सचेष्ट रहकर एकान्त मनसे उनका स्मरण करना चाहिये।

---

९. एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(श्वेताश्वतर० ६। १५)

१०. प्रस्थिते तु वनं पित्रा दत्त्वा गां धर्मसंश्रयः। षट्त्रिंशद्वर्षसाहस्रं रक्षिताव्याहतेन्द्रियः॥
धर्मोऽग्निः कश्यपः शुक्रो मुनयो ये वनौकसः। चरन्ति दक्षिणीकृत्य भ्रमन्तो यत्सतारकाः॥

(श्रीमद्भा० ४। ९। २२, २१)

'इस लोकमें भी जब तुम्हारे पिता तुम्हें राज्य देकर वनको चले जायँगे, तब तुम छत्तीस हजार वर्षतक बिना इन्द्रिय-शक्तिका ह्रास हुए धर्ममें स्थित रहकर पृथ्वीका शासन करोगे। फिर उस लोकमें निवास करना—जिसकी नक्षत्रगण एवं धर्म, अग्नि, कश्यप और शुक्र आदि वनवासी मुनिगण प्रदक्षिणा करते हुए घूमा करते हैं (वह ध्रुवलोक मैं तुम्हें देता हूँ)।'

११. विष्णुपुराण १। १७—२०।

१२. दुर्गासप्तशती, अध्याय १—१०।

पञ्चरात्र और भगवत्कृपा

पञ्चरात्र भगवच्छास्त्र है, वैष्णव-धर्म अथवा भागवत-धर्मका सरस आलय है, जो प्राणिमात्रके लिये करुणा-वरुणालय देवर्षि नारदकी अत्यन्त निर्मल प्रासादिक देन है। भागवत धर्म ही सात्वत, ऐकान्तिक तथा पञ्चरात्र नामसे व्यवहृत होता आ रहा है। पञ्चरात्र भ्रमरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाला (ज्ञान-) दीपक है—

पञ्चरात्रं परं शुद्धं भ्रमान्धध्वंसदीपकम्॥
(नारदपञ्चरात्र १। १। ४१)

पञ्चरात्र-शास्त्रके क्षेत्रमें 'रात्र'का अर्थ ज्ञान होता है। यह ज्ञान पाँच प्रकारका कहा गया है, इसलिये यह भगवच्छास्त्र पञ्चरात्र कहलाता है। यह मूर्तिमान् भगवदनुग्रह है, भगवत्कृपाका आलय है; क्योंकि अपने नैष्ठिक, ऐकान्तिक भक्तों-[illegible] भागवत-धर्मरूप अमृतसे तृप्ति प्रदान करनेके लिये भगवान् आदिनारायणने ब्रह्माके माध्यमसे देवर्षि नारदको इस (पञ्चरात्र)का व्याख्याता (उपदेष्टा) बनाया, जिन्होंने इसके सिद्धान्तका अपने जीवनमें आचरण करते हुए जगत्के प्राणिमात्रको इस श्रेष्ठ धर्म अथवा भागवत-ज्ञानका उपदेश दिया। पञ्चरात्र-शास्त्रके भक्तिमूलक सिद्धान्तोंके अनुसार आचरण करनेवाले प्राणी जन्म-मरण और जराके भयसे मुक्त हो जाते हैं; यह प्रथम ज्ञान है। दूसरा ज्ञान है मुमुक्षुओंकी भगवान्के स्वरूपोंमें तल्लीनता तथा शरणागतिविषयक। तीसरा ज्ञान मङ्गलमय श्रीकृष्णभक्तिप्रद दास्यभाव-वरणविषयक है। चौथा है—सर्वसिद्धिप्रद यौगिक ज्ञान; यह योगियोंका सर्वस्व और सिद्ध पुरुषोंके लिये महान् सुखप्रद है। पाँचवें ज्ञानका रूप है संसार (लोक)का स्वरूप-विवेचन तथा उसमें वैराग्य और त्यागद्वारा सात्त्विक भागवत-जीवनका अनुष्ठान। ऐसा मत नारद-पञ्चरात्रके (प्रथम रात्रके प्रथम अध्यायके ४८वेंसे ५२वें) श्लोकोंमें वर्णित है—

'ज्ञानं परमतत्त्वं च जन्ममृत्युजरापहम्', 'ज्ञानं द्वितीयं परमं मुक्तिप्रदं शुभम्', 'ज्ञानं शुद्धं तृतीयं च यतो दास्यं लभेद्धरेः', 'चतुर्थं यौगिकं ज्ञानं सर्वसिद्धिप्रदं परम्', 'सर्वस्वं योगिनां…सिद्धानां च सुखप्रदम्', 'ज्ञानं च तद्धै वैषयिकं नृणाम्'

पञ्चरात्र-वर्णित उपर्युक्त ज्ञान भगवच्छरणागति तथा भागवती कृपाकी प्राप्तिका एकमात्र आधार है।

पञ्चरात्र दो प्रकारका कहा गया है—दिव्य और मुनि-भाषित। जिस ज्ञानका उपदेश भगवान् वासुदेव स्वयं करते हैं, वह दिव्य और जिसका उपदेश परम्परासे ऋषि-मुनियों-द्वारा होता है, वह मुनिभाषित कहा जाता है—

'वासुदेवेन यत्प्रोक्तं तद्दिव्यम्', 'ऋषिभिश्च तपोधनैः स्वयं प्रणीतं यच्छास्त्रं तज्ज्ञेयं मुनिभाषितम्।'

—ऐसा मत ईश्वर-संहिताके प्रथम अध्यायके ५४वेंसे ५६वें श्लोकोंमें वर्णित है। पञ्चरात्र-शास्त्रके ज्ञानका सिद्धान्त-रूपमें विस्तारसे वर्णन जनमेजय और वैशम्पायन-के संवादरूपमें महाभारत-शान्तिपर्वके ३४८वें और ३४९वें अध्यायोंमें उपलब्ध होता है, जिसके द्वारा पञ्चरात्रकी सनातन तथा वैदिक परम्परापर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। देवर्षि नारदने पञ्चरात्रसिद्धान्त (ज्ञान-रहस्य और संग्रहसहित) भगवान् नारायणसे प्राप्त किया था। इस प्रकार यह आदि और महान् धर्म सनातन कालसे चला आ रहा है, भगवान्के भक्त ही इस धर्मको धारण करते हैं।

यह पञ्चरात्रगत भागवत-धर्म ऋग्वेदमें भी वर्णित है—

'ऋग्वेदपाठपठितम्'
(महा० शान्ति० ३४८। २२)

इस सात्वत धर्मके उपदेष्टा सूर्य और मनु भी कहे गये हैं। श्रीमद्भागवतपुराणमें भगवान्का स्मरण सात्वतपतिके रूपमें किया गया है और ऐकान्तिक भक्तोंको सात्वत कहा गया है।

पञ्चरात्रका सिद्धान्त भगवच्छरणागति, भगवान्की प्रसन्नता तथा कृपा-प्राप्तिपर विशेष बल देता है। आत्मा और अनात्माका विवेक करानेवाला सांख्य, चित्तवृत्तियोंके निरोधका उपदेश देनेवाला योग, जीव और ब्रह्मके अभेदका बोध करानेवाला वेदोंका आरण्यक भाग—उपनिषद् तथा भक्तिमार्गका प्रतिपादक पञ्चरात्र—ये शास्त्र एक दूसरेके अङ्ग कहे जाते हैं; क्योंकि इनका एकमात्र लक्ष्य है जीवात्माको परमात्मपदमें प्रपन्न करना। सारे कर्मोंको भगवान् नारायण-के चरणोंमें समर्पित कर देना ही एकान्त भक्तों (पञ्चरात्रमतावलम्बियों)का धर्म है—

एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च ॥
परस्पराङ्गान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते ।
एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः ॥
(महा० शान्ति ३४८ । ८१-८२)

मुख्य बात यह है कि जो पञ्चरात्र (धर्म)के ज्ञाता हैं और उसमे निर्दिष्ट कर्मके अनुसार सेवापरायण हो अनन्य-भावसे भगवान्के शरणागत हैं, वे ही उनमे प्रवेश करते हैं—

पाञ्चरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप ।
एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै ॥
(महा० शान्ति० ३४९ । ७२)

नारदप्रोक्त पञ्चरात्रमें भगवत्कृपा-स्वरूप-अनुशीलनके प्रमुख आधार हैं—भगवान् और उनका तात्त्विक (स्वरूप-) चिन्तन, प्रपन्नता—शरणागति, वैष्णवता—भगवान्को प्रसन्न करनेवाला और उनकी अनुकूलता—अभिमुखता प्राप्त करानेवाला वैष्णव आचार, भागवत धर्मावलम्बन और भगवदनुग्रहकी अनुभूति ।

पञ्चरात्रके प्रतिपाद्य नारायण अथवा वासुदेव (श्रीकृष्ण) परात्पर, विभु, स्वात्माराम, पूर्णकाम और भक्तानुग्रहकातर हैं, भक्तपर अनुग्रह करनेके लिये वे सदा विह्वल रहते हैं । भगवान् शंकरने उनकी वन्दना की है—

वन्दे वन्द्यं च महतां परात् परतरं विभुम् ।
स्वात्मारामं पूर्णकामं भक्तानुग्रहकातरम् ॥
(नारदपञ्च० १ । १२ । ३३)

नारदपञ्चरात्रमे भगवान् श्रीकृष्णकी आराधनाका प्रति-पादन किया गया है । वे वेदोंके लिये अनिर्वचनीय और अगम्य हैं, स्वेच्छामय सर्वेश्वर हैं, उनका कोई ईश्वर नहीं है । वे नित्य, सत्य, निर्गुण, ज्योतिरूप, सनातन और प्रकृतिसे परे हैं । वे सृष्टिमात्रपर कृपा करते है । वे जिसके रक्षक होते हैं, उसका सदा कल्याण होता रहता है । उनकी कृपा रक्षा अथवा पालन-पोषणकी शक्तिमे सम्पूर्ण रूपसे अन्तर्हित है—

रक्षिता यस्य भगवान् कल्याणं तस्य संततम् ।
(नारदपञ्च० १ । १४ । ४)

भगवान् भक्तानुग्रहकातर हैं तो भक्तानुग्रह-कारक भी हैं । वे भक्तोंपर अनुग्रह करते हैं, यह भक्तानुग्रह उनकी प्राणिमात्रपर समान कृपासे कहीं विशिष्ट स्वरूपवाला है । सुखनिधान, सौन्दर्यनिधि, भक्तानुग्रहकारक भगवान्का नारदपञ्चरात्रमें इस प्रकार निरूपण किया गया है—

सुखदृश्यं सुरूपं च भक्तानुग्रहकारकम् ।
(१ । ३ । ७४)

पञ्चरात्रका निश्चित सिद्धान्त है कि भगवत्कृपाकी अनुभूति-के मार्गमें प्रपन्नता अव्यय पाथेय है, जो भगवच्चरणमें निष्काम भक्तिकी प्रतीक है । महादेवजीने नारदजीको त्रिगुणातीत सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म श्रीराधापतिके भजनकी सीख दी—

भज सत्यं परं ब्रह्म राधेशं त्रिगुणात् परम् ।
(नारदपञ्च० २ । २ । १००)

प्रपत्ति ही जीवका स्वाभाविक धर्म है, इससे बढ़कर कोई दूसरी विद्या (ज्ञान) नहीं है, भगवान् विष्णु ही परम दैवत (परमात्मा) हैं; परमात्माके चरणमें दास्यभावकी प्राप्ति ही महान् सिद्धि है और वैष्णव ही सर्वोत्तम ज्ञानदाता—गुरु हैं—

न प्रपत्तेः परा विद्या न विष्णोर्दैवतं परम् ।
न तद्दास्यात्परासिद्धिर्न गुरुर्वैष्णवात्पर ॥
(भरद्वाजसंहिता, परिशिष्ट १ । ५३)

आत्मार्पणका ही नाम प्रपत्ति है । मुनिवर भरद्वाजकी उक्ति है कि परासिद्धि—महती कृपा-प्राप्तिके लिये प्राणी सर्वथा समर्थ है, इसके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि वह महती श्रद्धासे युक्त होकर भगवान्को ही अपना एकमात्र रक्षक स्वीकार कर ले, अपने-आपको उनकी कृपापर निर्भर कर दे—

प्राप्तुमिच्छन् परां सिद्धिं जनः सर्वोऽप्यकिंचन ।
श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत् ॥
(भरद्वाजसंहिता १ । १३)

भगवान्की शरणागति ही श्रेयसी है । परमात्मामें चित्तवृत्तिका लग जाना ही उनकी प्रासादिक कृपा-प्राप्तिके लिये अमोघ उपाय है । भगवान्के सदा अनुकूल बने रहना,

भगवत्सम्बन्धी प्रतिकूल भावनासे पराङ्मुख रहना, रक्षकरूप भगवान्में विश्वास होना, भगवान्को अपने दैन्यसे प्रसन्न करना, आत्मार्पणसहित अपने समस्त कार्यको भगवानके चरणोंमें समर्पित करना—पञ्चरात्रके अनुसार इन साधनोंसे भगवत्कृपाकी अनुभूति होती है।

पञ्चरात्रके मतसे परम रक्षक नारायणकी कृपा-प्राप्तिके लिये वैष्णव-आचरणसे सम्पन्न होना प्राणिमात्रके लिये आवश्यक है। वैष्णव-आचरणका तात्पर्य है—अपने समस्त कर्म भगवान्की प्रसन्नताके लिये निष्काम और पवित्र बुद्धिसे किये जायँ। जिस प्राणीने भगवान्की आराधना नहीं की, उनके अनुकूल आचरण नहीं किया, उसकी तपस्या व्यर्थ है, उसका परिश्रम निष्फल है। भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंके प्राण हैं और वैष्णव श्रीकृष्णके। वैष्णव श्रीकृष्णका ध्यान करते हैं और श्रीकृष्ण वैष्णवका स्मरण-चिन्तन करते हैं। कितनी असाधारण कृपा है प्रभुकी अपने शरणागतोंके प्रति—

नाराधितो यदि हरिर्येन पुंसाधमेन च।
किं तस्य तपसा व्यर्थं निष्फलं तत्परिश्रमम्॥
भक्तप्राणो हि कृष्णश्च कृष्णप्राणा हि वैष्णवाः।
ध्यायन्ते वैष्णवाः कृष्णं कृष्णश्च वैष्णवांस्तथा॥
(नारदपञ्च० १। २। २७, २६)

निस्सदेह प्रभु भक्तोंके ही वशमें रहते हैं, वे महान् भक्तवत्सल—कृपालु हैं। सदा एकमात्र उन्हीं कृपामयकी ओर दृष्टि रखनी चाहिये—

प्रभुं भक्तपराधीनं नित्यमालोकयेद्धरिम्।
(भरद्वाजसंहिता ३। ४६)

✓ महादेवजीने देवर्षि नारदसे कहा कि भगवान् श्रीकृष्णसे बढ़कर न तो कोई सत्यवादी है, न दयालु और भक्तवत्सल ही है—

न तत्परः सत्यवादी दयावान् भक्तवत्सलः।
(नारदपञ्च० २। ३। १०)

भगवान् दयासिन्धु और भक्तानुग्रहकातर हैं, संत उन्हें छोड़कर किसी अन्य देवताका भजन नहीं करते—

एवं स्तुतो दयासिन्धुर्भक्तानुग्रहकातरः।
अतः संतो हितं त्यक्त्वा न सेवन्ते सुरान्तरम्॥
(नारदपञ्च० २। २। ७४)

भगवान्को कुछ लोग भक्तानुग्रह-विग्रह कहते हैं, भक्तोंपर ही अनुग्रह करनेके लिये वे साकार होते हैं—

केचित् स्वेच्छामयं रूपं भक्तानुग्रहविग्रहम्।
(नारदपञ्च० १। ३। ४५)

पञ्चरात्र-उपासना सिद्धान्तके अनुसार भगवान् नारायणका आश्रित भक्त उनका चिन्तन करते हुए उन्हें प्राप्त कर लेता है। जिनकी तृष्णाओंका अन्त हो जाता है, उनके योगक्षेमका वहन कृपामय भगवान् स्वयं करते हैं—

मनीषिणो हि ये केचिद् यतयो मोक्षधर्मिणः।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः॥
(महा० शान्ति० ३४८। ७२)

भगवदनुग्रहसे ही मनुष्यका जन्म भारतवर्षमें होता है। उनके अनुग्रहसे भारतमें जन्म लेनेवाला यदि उनके पादपद्मका सेवन नहीं करता तो इससे बढ़कर विडम्बनाकी बात क्या होगी?—

कृष्णानुग्रहतो विद्वान् लब्ध्वा च जन्म भारते।
न भजेत् कृष्णपादाब्जं तदत्यन्तविडम्बनम्॥
(नारदपञ्च० २। २। ६५)

प्रभुकी अनुग्रह-प्राप्ति उनकी अहैतुकी भक्तवत्सलताकी प्रतीक है। उनकी शरणागतिका वरण कर जीवात्मा संसार-सागरके पार उतर जाता है। वह भगवान्से यही वरदान माँगता है कि 'हे देव! आप ऐसी कृपा कीजिये कि आपके चरणोंकी स्मृति सदा बनी रहे।' भगवच्चरणस्मृतिसे भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त होती है। भक्त प्रभुकी ओर निरन्तर दृष्टि रखकर कहता रहता है कि 'वे मुझपर अनुग्रह करें'—

प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः।
(श्रीमद्भा० ७। १५। ७७)

प्रभु समस्त प्राणियोंका कल्याण करते हैं, विषयार्णवमग्न जीवात्माका संसार-बन्धन नष्ट कर उसका उद्धार करते हैं। उनकी कृपा ही पञ्चरात्र-मतसे सर्वसिद्धिप्रदायिनी है।

—रा० ला०

अहिर्बुध्न्यसंहितामें भगवत्कृपा

(लेखक—डॉ० श्रीसियारामजी सक्सेना 'प्रवर', एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

वैष्णव आगमकी पाञ्चरात्र-शाखाके विशाल साहित्यमें दो सौसे अधिक संहिताएँ हैं। इन पाञ्चरात्र-संहिताओंमें 'अहिर्बुध्न्यसंहिता'को विशेष महत्त्व प्राप्त है। अहिर्बुध्न्य भगवान् शिवका नाम है। शिव-प्रदत्त होनेसे ही इस संहिताका नाम 'अहिर्बुध्न्य' पड़ा।

पाञ्चरात्रमतमें भक्तिकी प्रधानता है। योग उसका सहायक अङ्ग है। पाञ्चरात्र-ग्रन्थोंमें वैधी भक्तिका विस्तारसे वर्णन हुआ है। सात्वत-विधिसे इष्ट देवताकी अर्चना करनेसे अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। इससे चित्त-शुद्धि हो जाती है और पराभक्तिकी प्राप्ति होकर जीवका उद्धार हो जाता है। यह पाञ्चरात्र साधना-विधिका सार है।

सब प्रकारके जीव भगवान् विष्णुकी भूति-शक्तिके अंश हैं—

जीवभूता मुने सर्वे विष्णुभूत्यंशकल्पिताः॥

(अहि० सं० ७। ५९)

जीव अविद्या-विद्ध होकर क्लेशमयी पराधीनतासे विवश हो जाते हैं—

सर्वतोऽविद्यया विद्धाः क्लेशमय्या वशीकृताः॥

(अहि० सं० ६। ३६)

तब आत्माकी 'जीव' संज्ञा हो जाती है। 'जीव'-का बन्धन होता है और उससे मोक्ष भी होता है—

आत्मानो जीवसंज्ञास्ते बन्धमोक्षौ व्रजन्ति ते॥

(अहि० सं० ६। ३८)

जीवका कर्ममें अधिकार है और वह (स्वकर्मानुसार) चारों युगोंमें जन्म-मरणके चक्रमें घूमता रहता है।

उन किये हुए अपने सम्पूर्ण कर्मोंको, जो कोई भी जीव भगवान्‌के निमित्त कर देते हैं अर्थात् जो भगवत्कैंकर्यको अपना लेते हैं, उन्हें विवेक—ज्ञान प्राप्त हो जाता है और वे मुक्त हो जाते हैं—

चातुर्वर्ण्यमया एते भगवत्कर्मकारिणः।
तेषां ये कर्म कुर्वन्ति साधवः शतवार्षिकम्॥
विवेकज्ञानमासाद्य ते विशन्ति हरिं परम्।

(अहि० सं० ७। ५२-५३)

जीवका यह भव-बन्ध उसके सकाम कर्मके कारण है; किंतु भगवान् विष्णुके संकल्पसे प्रेरित विद्या अपने संकल्पसे (देव-दैत्यादि) नाना प्रकारकी योनियोंकी सृष्टि करती है और वे भी परम्परासे अन्यान्य प्राणियोंको उत्पन्न करती रहती हैं।

इति नानाविधा योनीर्विष्णोः संकल्पचोदिता।
स्वसंकल्पेन सृजति ते चान्यांस्तेऽपि चापरान्॥

(अहि० सं० ७। ५६)

भगवत्संकल्प यद्यपि अनन्तरूप है, तथापि उसके मुख्य पाँच विभाग हैं—सृष्टि, स्थिति, संहृति, निग्रह (तिरोधान) और अनुग्रह—

संकल्पो नाम यस्तस्य सुदर्शनसमाह्वयः।
सत्यप्यनन्तरूपत्वे पञ्चधा स विजृम्भते॥
सृष्टिस्थित्यन्तकारेण निग्रहानुग्रहात्मना।
तिरोधानकरी शक्तिः सा निग्रहसमाह्वया॥

(अहि० सं० १४। १४-१५)

तिरोधानके अन्य अभिधान हैं—माया, अविद्या, महामोह, महातामिस्र, तम, बन्ध और हृद्ग्रन्थि—

मायाविद्या महामोहो महातामिस्रमित्यपि।
तमो बन्धोऽथ हृद्ग्रन्थिरिति पर्यायवाचकाः॥

(अहि० सं० १४। १७)

जीव तिरोधान-शक्तिरूप—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पञ्चक्लेशों या मलोंसे युक्त हो जाता है, तब उसे इष्टार्थकी प्राप्ति और अनिष्टके विघातकी लालसा होती है और वह सकामभावसे तदनुरूप कर्म करता है, जिनका शुभाशुभ फल मिलना अवश्यम्भावी है। कर्मके अनुसार जीवको ईश-प्रेरणासे जाति, आयु और भोगकी प्राप्ति होती है और वह शनैः-शनैः सुखादि वासनाओंमें निमग्न हो जाता है—

तिरोभावनशक्त्यैवं वैष्णव्या बन्धमेयुषः।
अविद्यास्मित्वरागाद्या मलं समुपचिन्वते॥
इष्टार्थप्राप्तयेऽनिष्टविघाताय च लालसः।
कर्म तत् कुरुते कामी शुभाशुभफलोदयम्॥
ततः कर्मविपाकस्थः शुभाशुभविमिश्रितान्।
जात्यायुरनुबन्धान् स प्राप्नोति विधिचोदितः॥
सुखादिवासनास्तास्ताः संचिनोति शनैः शनैः।
एषा निग्रहशक्तेस्तु तिरोधानपरम्परा॥

(अहि० सं० १४। २१, २३-२५)

परमात्माकी इस तिरोधान-शक्तिके आधारपर ही उनकी सृष्टि-स्थिति-संहृति नामकी शक्तियाँ भी कार्य-रत होती हैं। इस प्रकार समस्त सृष्टिका मूल 'संचित कर्म-श्रृङ्खला' है—

अजस्य त्वनया शक्त्या तिस्रः सृष्ट्यादिशक्तयः।
संचितैः सम्प्रवर्तन्ते तैस्तैः कर्मभिरूर्जितैः॥
(अहि० सं० १४। २७)

उधर तिरोधान-शक्तिका कार्य आरम्भ होते ही भगवदिच्छासे शास्त्र-प्रवृत्ति होने लगती है। शास्त्रादिष्ट मार्गका अनुगमन करनेसे जीव परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं—

ततः प्रवर्त्यते शास्त्रं मनुभिः पूर्वजैस्तदा॥
(अहि० सं० ७। ६२)

शास्त्रविधिका अनुपालन करनेसे शुद्ध हुआ मन भगवत्कर्ममे प्रवृत्त हो सकता है। वह कैंकर्य ग्रहण कर सकता है। इसका उत्कृष्ट रूप 'न्यास' है। इसीका नाम 'शरण' है—

उपाये गृहरक्षित्रोः शब्दः शरणमित्ययम्॥
(अहि० स० ३७। २९)

इस शरणागतिका लक्षण यह है कि जीव यह सोचने लगे—'मैं अपराधोंका आलय हूँ, अकिंचन, अगति हूँ। हे भगवन्! आप मेरे एकमात्र उपाय हैं।' हृदयसे ऐसी प्रार्थना निकलना ही 'शरणागति' है—

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिंचनोऽगतिः॥
त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्॥
(अहि० सं० ३७। ३०-३१)

प्रपत्तिके छः अङ्ग हैं—भगवान्‌के अनुकूल होनेका संकल्प, कभी उनके प्रतिकूल न होना, वे रक्षा करेंगे—यह विश्वास, भगवान्‌को रक्षक मानना, आत्मसमर्पण और नितान्त दीनता—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।
(अहि० स० ३७। २८-२९)

भगवान् दीनबन्धु हैं, अतः कार्पण्यभावापन्न जीवपर वे करुणार्णव प्रभु शीघ्र ही अनुग्रह करते हैं। शरणागत होते ही जीवपर उनकी असीम कृपा-दृष्टि हो जाती है, इसका अनुभव उसे भी होने लगता है। रक्षकत्वका वरण करते ही रक्षाका विश्वास हो जाता है। अतः पाञ्चरात्र-मत जीवकी मुक्तिका प्रधान हेतु भगवत्संकल्पको ही मानता है। जीवको अपने कर्मोंके फलस्वरूप संसार-चक्रमें भ्रमित और दुःखाकुल देखकर तथा उसे मुक्तियोग्य मानकर भगवान् स्वयं अपनी कृपाकी वर्षा करते हैं। यह परम विष्णुकी अनुग्रहाख्या पाँचवी शक्ति है। इस शक्तिका जीवपर प्रकट होना 'शक्तिपात' कहलाता है। कहा गया है—

एवं संसृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभिः॥
जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते।
या ह्युक्ता पञ्चमी शक्तिः सा कृपा वैष्णवी परा॥
शक्तिपातः सा वै विष्णोरागमस्थैर्निगद्यते।
(अहि० सं० १४। २८-३०)

यह अनुग्रह-शक्ति सुदर्शनमयी है। इस करुणा-वर्षासे जीवको कर्म-साम्य प्राप्त होता है, जो उसे संसारसे पार कर देता है।

कर्म-समता हो जानेपर जीवका वैराग्य और विवेकमे परिनिवेश हो जाता है और वह आगमानुकूल जीवन बनाकर तथा क्लेशोका नाश कर पराबुद्धिकी संलब्धि करता है। सत्कर्म करता हुआ वह वेदान्त-ज्ञानमे निश्चल हो जाता है (अहि० सं० १४। ३६-३९)।

पूर्णज्ञान तथा चित्तकी निर्मलताकी प्राप्ति हो जानेपर जीव अनाविल-अक्लेश वैष्णवपदमें प्रवेश करता है—

सम्प्राप्य ज्ञानभूयस्त्वं निर्मलीकृतचेतनः।
अनाविलमसंक्लेशं वैष्णवं तद् विशेत् पदम्॥
(अहि० सं०१४। ४१)

मुक्त अवस्थामे कल्मषरहित जीव त्रसरेणु-प्रमाण तथा कोटिशः रश्मि-विभूषित होता है। उसका आविर्भाव-तिरोभाव नहीं होता और न उसे काल-कल्लोल-संकुल भव-पन्थमे ही पड़ना पड़ता है—

तत्पदं प्राप्य तत्त्वज्ञा मुच्यन्ते वीतकल्मषाः।
त्रसरेणुप्रमाणास्ते रश्मिकोटिविभूषिताः॥
आविर्भावतिरोभावधर्मभेदविवर्जिताः।
परमं तेऽध्वनः पारं वैष्णवं पदमाश्रिताः॥
विशन्ति नेममध्वानं कामकल्लोलसंकुलम्॥
(अहि० सं० ६। २७-२९)

भगवान्‌की यही अहैतुकी कृपा अहिर्बुध्न्यसंहिताका विशेष प्रतिपाद्य है। इससे भव-सागरसे पार होनेकी आशा सफलीभूत हो उठती है।

दर्शनशास्त्र और भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीव्रजकिशोरप्रसादजी साही)

भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें षड्दर्शन—वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्तदर्शनकी विशेष प्रसिद्धि है।

वैसे साधारणतया तो यही समझा जाता है कि इन दर्शनोंमें भगवत्कृपाकी चर्चा नहीं है; क्योंकि वैशेषिक-दर्शन या नव्य-न्याय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्यद्वारा धर्म-विशेषसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति मानता है—

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥
(वै० सू० १ । १ । ४)

इसी प्रकार गौतमीय न्यायदर्शन भी प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह-स्थानोंके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति मानता है—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णय-वादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञा-नान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ (न्यायसू० १ । १ । १)

सांख्यदर्शन भी व्यक्त (महदादि कार्य), अव्यक्त (प्रकृति) तथा तत्त्वज्ञाता पुरुष—इन तीनके तत्त्वज्ञानसे ही मोक्षकी प्राप्ति मानता है—

तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तविज्ञानात् ।
(सांख्यकारिका २)

योगदर्शन भी पुरुष और प्रकृतिके संयोगको बन्धन मानता है, जो अविद्याके कारण है और उस अविद्याके अभावसे उक्त संयोगका अभाव अर्थात् चेतन पुरुषका मोक्ष मानता है—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः । (योगदर्शन २ । १७)
तस्य हेतुरविद्या । (योगदर्शन २ । २४)

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।
(योगदर्शन २ । २५)

वेदान्तदर्शन भी केवल ज्ञानके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति मानता है—

विद्यैव तु निर्धारणात् । (ब्रह्मसू० ३ । ३ । ४७)

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।
(श्वे० उ० ३ । ८)

'उसे (परमेश्वरको) ही जानकर पुरुष मृत्युको पार कर जाता है, इसके सिवा परमपद-प्राप्तिका कोई अन्य मार्ग नहीं है।'

आपाततः इन सूत्रोंको देखनेपर यही लगता है कि ये भगवत्कृपाकी आवश्यकता नहीं मानते, परंतु गम्भीर विचार एवं सूक्ष्मान्वेषण करनेपर उक्त मान्यता असमीचीन एवं अयथार्थ सिद्ध होती है। वस्तुतः इन सभी दर्शनोंमें ईश्वरकृपाकी महत्ता द्योतित है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

वैशेषिकदर्शन—

इसमें जो उक्त धर्मविशेषसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानद्वारा मोक्ष-की प्राप्ति कही गयी है और कहा गया है कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति हो, उसे धर्म कहते हैं—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।'*
(वै० सू० १ । १ । २)

उसको आगे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि दृष्ट प्रयोजन (जिन कार्मोंका प्रयोजन प्रत्यक्ष होता है) और अदृष्ट प्रयोजन (जिनका प्रयोजन अप्रत्यक्ष होता है)

* यद्यपि लोकमें पाप, छल प्रपञ्च या आचारहीन पाश्चात्य धर्मानुकरणमें कहीं-कहीं उन्नति होनी देखी जाती है; किंतु यह वास्तविक उन्नति नहीं है, यह तो प्रलोभनमात्र है। फिर भी कुछ लोग [illegible] परीत अर्थ करके ऐसे दुष्कर्मोंको भी धर्म सिद्ध करते हैं; किंतु आचार्यपाद उदयनादि वैशेषिकोंकी सम्प्रदाय-परम्परा [illegible] रत्वाद्धर्मादेव' आदिके आधारपर [illegible] नुकूल वेद-शास्त्रोक्त धर्मको ही अभ्युदय तथा निःश्रेयसका साधक [illegible] —अनेक भाष्य एवं [illegible] वैशेषिक दर्शन-संस्करण, पृष्ठ २]

के मध्यमें दृष्टका अभाव हो जानेपर (अदृष्ट) तत्त्वज्ञान— मोक्षका कारण होता है। अभिषेचन, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान, प्रोक्षण आदि वेदनिर्दिष्ट कर्म, दिशा, नक्षत्र, मन्त्र और काल-नियम अदृष्टके अर्थ हैं—

दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥
अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय ॥ (वै० सू० ६।२।१-२)

अतएव जिस प्रकार योगदर्शन मोक्षके लिये शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—इन पाँच नियमोंकी आवश्यकता मानता है—

'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।'
(योग० २ । ३२)

वैशेषिकदर्शनको भी उसी प्रकार ईश्वर-प्रणिधान और भगवद्भक्ति पूर्ण अपेक्षित है। वैशेषिकदर्शन ईश्वरवादी है। महर्षि कणादने भी ईश्वरका संकेत किया है—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । (वै० सू० १ । १ । ३)
संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् । (वै० सू० २।१।१८)

वैशेषिकदर्शन ईश्वरको सर्वज्ञ मानता है—

तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव ।
(तर्कसंग्रह प्रत्यक्षखण्ड)

इसके अनुसार शब्दशक्ति भी ईश्वरप्रदत्त ही है—

अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंकेतःशक्तिः ।
(तर्कसंग्रह, शब्दखण्ड)

शब्दद्वारा जो अर्थज्ञान होता है, उसके होनेमें हेतु ईश्वरप्रदत्ता शक्ति ही है तथा गुरुजनोंद्वारा शिष्यको जो ज्ञान होता है, वह भी उस अनुग्रहशक्तिसे ही होता है; अतः कोई भी व्यवहार उसके बिना नहीं हो सकता।

वैशेषिक ईश्वरको ही वेदोंका वक्ता भी मानते हैं—

वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्सर्वमेव प्रमाणम् ।
(तर्कसंग्रह, शब्दखण्ड)

वैशेषिकदर्शन ईश्वरकी बुद्धि, इच्छा और प्रयत्नको नित्य मानता है—

बुद्धीच्छाप्रयत्ना नित्या अनित्याश्च । नित्या ईश्वरस्य अनित्या जीवस्य ॥ (तर्कसंग्रह, गुणनिरूपण)

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि वैशेषिकदर्शनको भी मोक्षप्राप्तिके लिये भगवत्कृपा मान्य है।

न्यायदर्शन—

न्यायदर्शनमें भी ईश्वरको फल-प्रदाता माना गया है—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।
(न्यायसू० ४ । १ । १९)

प्रसिद्ध न्यायाचार्य श्रीउदयनाचार्यजी भी भगवत्कृपाके लिये ही प्रार्थना करते हुए देखे जाते हैं—

'हे निसर्गसुन्दर ! आनन्दनिधे !! यद्यपि बहुत दिनोंसे हमारा चञ्चल चित्त आपमें निमग्न है, यह नितान्त-सत्य है; तथापि वह आज भी संतृप्त नहीं हो रहा है। अतः हे नाथ ! आप शीघ्र ही करुणा कीजिये, जिससे हमारे चित्तके आपमें (लय होकर) एकात्मभावको प्राप्त हो जानेपर हमें पुनः सैकड़ों यम-यातनाओंकी प्राप्ति न हो'—

अस्माकं तु निसर्गसुन्दर चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धाऽऽनन्दनिधे तथापि तरलं नाद्यापि संतृप्यते ।
तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥
(न्यायकुसुमाञ्जलि ५ । १९)

अतएव न्यायदर्शनमें भी मोक्षप्राप्तिके लिये भगवत्कृपाकी आवश्यकता अनुभव की जाती है।

सांख्यदर्शन—

सांख्यदर्शन भी मुक्ति और सिद्धिके लिये उपासना आवश्यक समझता है—

मुक्तात्मनः प्रशंसा, उपासासिद्धस्य वा । (१ । ९५)

सांख्यदर्शनके अनुयायी प्रथमतः स्वभावतः चेतन सृष्टिके आदिमें (भी रहनेवाले) चिद्रूप और सिद्ध अर्थात् अष्टविध ऐश्वर्ययुक्त आदिविद्वान्को ईश्वर मानते हैं—

'आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः' (न्यायकुसुमाञ्जलि १ । २)

सांख्यदर्शनके जिस पुरुषके अधीन होकर तथा जिसके प्रभावसे प्रभावित होकर प्रकृति सृष्टि-कार्य करती है, वह पुरुष सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् अर्थात् ईश्वर ही हो सकता है—

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता । (सां० सू० ३ । ५६)
ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा । (सां० सू० ३ । ५७)

बहुतसे सांख्याचार्य प्रकृति और पुरुषके संयोगके लिये ईश्वरकी आवश्यकता मानते हैं; क्योंकि पुरुष निरीह है और

प्रकृति जड है। इन दोनोंका मिलन स्वयं नहीं हो सकता। ईश्वरके संनिधानमात्रसे प्रकृति पुरुषके संयोगसे जगत्‌की रचनामें प्रवृत्त होती है।

सांख्यदर्शन भी मोक्षके लिये आध्यात्मिक अभ्यासका उपदेश करता है, जो योगशास्त्रमें वर्णित है। अतएव सांख्य और योगको एक ही कहा गया है—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'
(गीता ५। ४)

योगमें भगवत्कृपाकी आकाङ्क्षा है। अतएव सांख्यदर्शन भी मोक्षके लिये भगवत्कृपा-आकाङ्क्षी है।

योगदर्शन—

योगदर्शन भी कैवल्य या मोक्षप्राप्तिके लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—इस अष्टाङ्गयोगकी आवश्यकता समझता है—

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।' (२। २९)

इसमें नियमके अन्तर्गत ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् सभी कर्मोंके फलको ईश्वरमें समर्पण करना और ध्यानद्वारा चित्तको स्थिर करना ईश्वर-प्रणिधान है। ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है। ईश्वर-प्रणिधान क्रियायोग है।

इस प्रकार योगदर्शनको भी कैवल्य-प्राप्तिके लिये भगवत्कृपा अपेक्षित है।

मीमांसादर्शन—

मीमांसाशास्त्र मोक्षके लिये जिस यज्ञका प्रतिपादन करता है, उसकी पूर्तिके लिये भी भगवत्कृपा अत्यन्त आवश्यक है और मीमांसकगण यज्ञसमाप्तिके अवसरपर यज्ञपूर्तिके हेतु भगवान्‌की वन्दना किया करते हैं।

मीमांसादर्शनका यह कथन है कि सर्वशक्तिमान् (भगवान्)की प्राप्तिके लिये ही कर्मोंमें प्रवृत्ति होनी चाहिये; क्योंकि ऐसा ही उपदेश शास्त्रोंमें है। परमात्माकी ओरसे उदासीन रहना दोषकी बात है। इसलिये मनुष्यको उनसे सम्बन्ध जोड़ना चाहिये—

सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथाभूतोपदेशात्।
(६। ३। १)

तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषः स्यात्प्रधानेनाभिसम्बन्धात्। (६। ३। ३)

अतएव मीमांसक भगवत्कृपाकी कामना करते हैं—

यत्कृपालेशमात्रेण पुरुषार्थचतुष्टयम्।
प्राप्यते तमहं वन्दे गोविन्दं भक्तवत्सलम्॥
(मीमांसा-न्यायप्रकाश, मङ्गलाचरण)

'जिनकी लेशमात्र कृपासे चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है, मैं उन भक्तवत्सल गोविन्दकी वन्दना करता हूँ।'

अतएव मोक्षप्राप्तिके लिये मीमांसादर्शनको भी भगवत्कृपाकी आकाङ्क्षा है।

वेदान्तदर्शन—

वेदान्तदर्शन भी कहता है कि भगवान्‌के भक्ति-सम्बन्धी धर्मोंका पालन करनेसे उनका विशेष अनुग्रह प्राप्त होता है। सभी धर्मोंसे भगवद्भक्ति श्रेष्ठ है—

विशेषानुग्रहश्च॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च॥ (ब्रह्मसू० ३। ४। ३८-३९)

'अहं ब्रह्मास्मि' कहनेवाले अद्वैत-वेदान्तके प्रतिपादक श्रीशंकराचार्यजी भी भगवत्कृपाको अत्यावश्यक मानते हैं और कहते हैं कि 'हे नाथ! भेदके नष्ट हो जानेपर भी मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं; क्योंकि तरंग ही समुद्रकी होती है, तरंगका समुद्र कहीं नहीं होता'—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥
(षट्पदी ३)

आचार्यका निवेदन है कि 'हे करुणामय नारायण! मैं सब प्रकारसे आपके चरणोंकी शरण हूँ'—

नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ।
(षट्पदी ७)

इसके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, अचिन्त्यभेदाभेदवाद, स्वाभाविक, निरुपाधिक आदि सभी वैष्णव-सम्प्रदाय तो पूर्णतया भगवत्कृपा-अवलम्बी हैं ही।

प्रमाणित है कि सभी दर्शनशास्त्रोंको भगवत्कृपाकी अपेक्षा है।

आयुर्वेदमें भगवत्कृपा

(लेखक—मानसवटोही पं० श्रीरामावल्लभजी पाण्डेय 'वल्लभ', एम्० ए०, आयुर्वेदरत्न)

जीवात्मा और शरीरके संयोगका काल ही 'आयु' शब्दसे निर्देश्य है, इसका आयुर्वेदके साथ समवायी सम्बन्ध है। भगवत्कृपा-तत्त्वदर्शी मुनिजनोंने इसको प्रत्यक्ष किया, इसीका वाङ्मयस्वरूप आयुर्वेद है, जिसका मूल 'अथर्वसर्वस्व' माना जाता है, जिसके आदिप्रणेता प्रजापति ब्रह्मदेव हैं—

विधाताथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्।
स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्॥
(भावप्रकाश, पू० १। ५)

"ब्रह्माजीने 'अथर्वसर्वस्व' रूप आयुर्वेदका प्रकाश करते हुए अपने नामसे एक लाख श्लोकोंवाली सरल ब्रह्म-संहिताकी रचना की।"

वेद, पुराण एवं आध्यात्मिक विवेचनोंके अनुसार यह जगत् प्रकृति-पुरुषका विलसित स्वरूप है, यही मान्यता आयुर्वेदकी भी है। अव्यक्त, महदहंकार, पञ्चभूत एवं तन्मात्राओंकी समष्टिरूपा यह प्रकृति अष्टधा विभाजित हो सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्वके साथ मिलकर 'एकोऽहं बहु स्याम्'के अनुसार 'जीव' संज्ञा धारण करती है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
(मानस ७। ११६। १-२)

इसीकी पुष्टि आयुर्वेद-ग्रन्थोंके सृष्टिप्रकरणमें देखिये—'आत्मा ज्योतिःस्वरूप, चिदानन्दरूप, नित्य, निःस्पृह और निर्गुण होता हुआ भी प्रकृतिके संयोगसे सगुण होकर जगत्‌को उत्पन्न करता है'—

आत्मा ज्योतिश्चिदानन्दरूपो नित्यश्च निःस्पृहः।
निर्गुणः प्रकृतेर्योगात्सगुणः कुरुते जगत्॥
(भावप्रकाश, पू० २। ३)

गर्भमें जीव-प्रवेश परम-पिता परमात्माका कृपा-विलास है, जिसे सकारण-सोदाहरण आयुर्वेदने स्पष्ट किया है। जैसे सूर्यकान्तमणि और सूर्य-रश्मियोंका स्पर्शमात्र अग्नितत्त्वका उत्पादक है, उसी प्रकार शुक्रार्तव-सम्पर्कजनित तत्त्व जीव-शरीर धारण करता है और क्रमशः वृद्धिगत होता हुआ परमात्माकी अहैतुकी कृपाका प्रदर्शक बनता है—

सूर्यांशोः सूर्यमणित उभयस्मात्तथा यथा।
वह्निः संजायते जीवस्तथा शुक्रार्तवायुतात्॥
(भावप्र० पू० ३। ३४)

गर्भस्थ भ्रूणरक्षाके प्रति भी आयुर्वेद भगवत्कृपाका ऋणी है—अग्नि, सोम, पृथ्वी, वायु, आकाश तथा सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण, पाँच इन्द्रियाँ और भूतात्मा—ये सब गर्भका संजीवन करते हैं, अर्थात् इन्हींसे गर्भ उत्पन्न, रक्षित तथा वर्धित होता है—

अग्नीषोमौ मही वायुर्नभः सत्त्वं रजस्तमः।
पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मा गर्भं संजीवयन्ति हि॥
(भावप्रकाश, पूर्व० ३। १२०)

भगवत्कृपाका एक और वैचित्र्य देखिये। गर्भके तृतीय मासमें पुंसवन-संस्कार होता है, जिसका तात्पर्य गर्भको पुरुषरूपमें परिवर्तन करनेसे है। पुष्य नक्षत्रमें स्वर्णादि धातुकी संतप्त विष्णुप्रतिमा गोदुग्धमें शीतल की जाती है। फिर वही दुग्ध गर्भवतीको पिलाया जाता है एवं गणेशादिका पूजन और स्वस्त्ययन कराया जाता है। उसके फलस्वरूप प्रायः बालकका ही जन्म होता है—

पुष्ये पुरुषकं हैमं राजतं वाथवाऽऽयसम्।
कृत्वाग्निवर्णं निर्वाप्य क्षीरे तस्याञ्जलिं पिबेत्॥
(अष्टाङ्गहृदय, शरीरस्थान, १। ३८-३९)

जन्म-समय गर्भस्थ प्राणीका बहिर्गमन गर्भस्थ वायुकी प्रेरणासे ही होता है एवं गर्भसे बाहर आनेके साथ-साथ माताके स्तनोंमें स्तन्य प्रादुर्भूत हो जाता है—ये सभी भगवत्कृपाके अनुपम उदाहरण हैं।

आयुर्वेद-प्रवर्तकोंने सांघातिक ज्वरादि रोगोंपर चिकित्साके अतिरिक्त भगवत्कृपाद्वारा रोगमुक्तिका निदर्शन किया है—ओषधि, मणि, सुमन्त्र, साधु-गुरु-द्विज-देवताओंकी पूजा, मनको प्रिय लगनेवाले विषय—ये सब विष्णुकृत उग्र ज्वरका हनन करते हैं—

ओषधयो मणयश्च सुमन्त्राः साधुगुरुद्विजदैवतपूजा।
प्रीतिकरा मनसो विषयाश्च घ्नन्त्यपि विष्णुकृतं ज्वरमुग्रम्॥
(अष्टाङ्गहृदय चि० स्थान १। १७७)

यक्ष्मा, हृद्रोगादि कष्टसाध्य किंवा असाध्य रोगोंमें कुङ्कुम, केसर, कस्तूरी, चन्दनचर्चित शालग्रामशिलाका पञ्चामृतकृत स्नानोदकपान महौषधिके रूपमें बड़े-बड़े वैद्यराज प्रयुक्त करते हैं, जो भगवत्कृपाश्रयद्वारा सिद्ध प्रयोग होता है। इसी भाँतिके विभिन्न प्रयोग भैषज्यरत्नावलीके यक्ष्माधिकारमें निरूपित हैं—

शर्करामधुसंयुक्तं नवनीतं लिहन् क्षयी।
क्षीराशी लभते पुष्टिमतुल्ये चाज्यमाक्षिके॥
(१४।१०)

आयुर्वेदिक ग्रन्थोंमें भगवत्कृपाद्वारा रोगोपशमनका एक तारतम्य ही उपलब्ध होता है।

कुष्ठरोग-चिकित्सा-स्थानमें महर्षि वाग्भट्टने व्रत, पूजन एवं आराधनादिद्वारा रोगशान्तिकी बात कही है—व्रत, दम, यम, सेवा, त्यागादिका अभ्यास; द्विज, देवता और गुरुजनोंकी पूजा; सर्वभूतोंमें मैत्री; शिव, गणेश, तारा-देवी और सूर्यकी आराधना—ये सब कुष्ठरोगरूपसे प्रकट हुए पापोंका नाश करते हैं—

व्रतदमयमसेवा त्यागशीलाभियोगो
द्विजसुरगुरुपूजा सर्वसत्त्वेषु मैत्री।
शिवशिवसुततताराभास्कराराधनानि
प्रकटितमलपापं कुष्ठमुन्मूलयन्ति॥
(अष्टाङ्गहृदय चि० स्थान अ० १९।९८)

संस्कृत-भाषाके प्रसिद्ध कविवर मयूर इस प्रक्रियाद्वारा रोगमुक्तिके प्रसिद्ध उदाहरण रहे हैं। उन्होंने सूर्यकी उपासना एवं स्तुतिके द्वारा अपने रोगका शमन किया था।

भगवत्कृपा-समन्वित दैवी-साधनोंसे भी ज्वरका शमन होता है—

ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम्।
गङ्गां मरुद्गणांश्चेष्टान् पूजयन् जयति ज्वरान्॥
भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च।
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च॥
जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च।
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च॥
(चरकसंहिता चि० स्था० ३।१९८-२००)

'ब्रह्मा, अश्विनीकुमार, इन्द्र, अग्नि, हिमाचल, गङ्गाजी तथा उनचास मरुद्गणोंका यज्ञद्वारा पूजन करनेवाला ज्वरोंपर विजय पा लेता है। माता-पिताकी भक्ति, बड़ोंका आदर-सम्मान, ब्रह्मचर्य, तपश्चर्या, सत्यभाषण, शौच-संतोष आदि नियमोंके पालन तथा मन्त्र-जप, हवन, दान, वेद-पाठके श्रवण एवं संतोंके दर्शनसे मनुष्य ज्वरसे अविलम्ब सर्वथा मुक्त हो जाता है।'

महर्षियोंने असाध्य रोगोंपर भी देवाराधना तथा भगवत्कृपाद्वारा चिकित्साकार्यमें प्रायः पूर्ण सफलता प्राप्त की है। चण्डी-पाठ, यज्ञ-यागादिसे असाध्य-से-असाध्य रोग-निवृत्तिकी दिशामें जनसाधारणको प्रत्यक्षतः अपूर्व सफलता प्राप्त होती देखी गयी है।

आयुर्वेदमें दीर्घानुबन्धी, संक्रामक महारोगोंपर विविध यन्त्र-मन्त्र-तन्त्रादिकोंका भी प्रभाव पाया जाता है। अर्श, कामला, पाण्डु, गलगण्ड, विद्रधि, व्रण, कर्णशूल, शोथ, दन्तपीड़ा, नेत्र-पीड़ा, शिरःपीड़ा, बालग्रह-शान्ति, विषमज्वर तथा सर्प, बिच्छी और बर्रैके विष उतारनेमें अनेकानेक यन्त्र, तन्त्र एवं मन्त्रद्वारा श्रीभगवत्कृपासे शीघ्रातिशीघ्र आरोग्यता प्राप्त होती है। सभी प्रकारके ज्वरोंकी शान्ति-हेतु कुछ प्रयोग निम्नलिखित हैं—

'ॐ नमो भगवते छिन्धि छिन्धि अमुकस्य शिरः प्रज्वलित परशुपाणये पुरुषाय फट् स्वाहा॥'
(भैषज्यरत्नावली ५।४०८)

इस मन्त्रको आठ बार पढ़ते हुए नीमकी टहनीसे झाड़ना चाहिये तथा इसे भूर्जपत्रपर लिखकर गन्धाक्षतादिसे पूजन करके सिरपर धारण करने अथवा तावीजमें भरकर बाहुमें बाँधनेसे सब तरहके ज्वर नष्ट होते हैं।

विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति॥
(भैषज्यरत्नावली ५।४१६)

जङ्गम और स्थावर (सम्पूर्ण) जगत्के स्वामी एवं सर्वत्र व्याप्त भगवान् विष्णुके सहस्रनाम आदि स्तोत्रोंको पढ़कर स्तुति करनेसे सब प्रकारके ज्वर उतर जाते हैं।

इस प्रकार आयुर्वेद भी अन्य शास्त्रोंके समान ही परम आस्तिक है एवं भगवत्कृपाद्वारा पुरुषार्थचतुष्टयके साधनका निर्देश करता है।

ज्योतिषशास्त्रमें भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीनन्दलालजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न, ज्योतिषाचार्य)

'ज्योतिषामयनं चक्षुः' (पाणिनीय-शिक्षा ४१) ज्योतिःशास्त्र ही सनातन वेदका नेत्र है। अतः ज्योतिष और भगवत्कृपापर कुछ लिखनेके पूर्व मनमें सहसा यह तर्क उत्पन्न हुआ कि ग्रहयोगके कारण भगवत्कृपाकी प्राप्ति होती है अथवा भगवत्कृपासे ग्रहयोग ही अनुकूल हो जाते हैं?

भगवान्‌की कृपासे ग्रहयोगोंका अनुकूल होना आश्चर्यजनक नहीं। भगवान् श्रीरामके प्रकट होनेके पूर्व—

जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल।
चर अरु अचर हर्षजुत राम जनम सुखमूल॥
(मानस १। १९०)

योग, लग्न एवं ग्रह आदिकी अनुकूलता या तदनुरूपता हो गयी। भगवान् जिनपर कृपा करते हैं, उनके लिये भी ग्रह-नक्षत्रकी अनुकूलता आश्चर्यकी बात नहीं। इस प्रसङ्गमें ग्रहोंके परस्पर सम्बन्ध, उनकी दृष्टि, दशा, अन्तर्दशा आदिके आधारपर कुछ लिखा जाना आवश्यक है। भगवत्कृपासे अर्थ, धर्म, मोक्षादिकी प्राप्ति तो साधारण बात है। इसीके सहारे संत तुलसीदासजी-जैसे परम भागवत महाकविने महान् संकट झेलकर अगणित पातकियोंका भवसागरसे उद्धार करनेके निमित्त रामचरितमानसरूप पावन सेतुका निर्माण किया।

ग्रहयोग और भगवत्कृपाके प्रसङ्गमें जन्माङ्कके आधारपर विषयका प्रस्तुतीकरण इस प्रकार है—

जन्माङ्कमें द्वादश भाव होते हैं। इन द्वादश भावोंसे संक्षेपमें तन, धन, सहज, सुख, सुत, रोग, स्त्री, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यय आदिका विचार किया जाता है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर भगवत्कृपाका प्रभाव द्वादश भावोंपर भी पड़ता प्रतीत होता है। शारीरिक स्वस्थता, सात्त्विक धनकी प्राप्ति, प्रेमका आचरण करनेवाले भाई, सुखी जीवन, आज्ञापालक पुत्र, नीरोगता, सती-साध्वी पत्नी, तीर्थस्थानमें शरीरत्याग, धार्मिक अनुकूलता, पुण्यकर्म, पवित्र आय और उत्तम कार्योंमें धनका व्यय—ये सभी मानव-जीवनकी सर्वसम्पन्नताके परिचायक हैं।

जन्मके समय जो ग्रह पड़ जाते हैं, उन्हें दृष्टिमें रखकर ही उपर्युक्त वर्णित द्वादश भावोंका विचार किया जाता है। जन्मके समय जो लग्न होता है, जन्माङ्गमें उसका उल्लेख कर अग्रिम भावोंमें राशियोंकी स्थापना करके भावोंका विचार होता है। प्रत्येक भावके राशिका स्वामी ही फिर तत्तद्भावोंका स्वामी माना जाता है और फिर तदनुकूल ही फल निर्दिष्ट होता है।

भगवत्कृपा और भावेश—

दशमेश यदि बुध हो और उसपर शुभ ग्रहोंकी दृष्टि पड़ती हो तो जातकके ऊपर भी श्रीभगवान्‌की कृपा-दृष्टि होती है। नवमेश यदि उच्चस्थ हो, उसपर शुभ ग्रह (चन्द्र, बुध, गुरु, शुक्र आदि)की दृष्टि हो तो ऐसे जातकपर प्रभुकी कृपा होती है। (चन्द्रमा शुभ ग्रहोंके साथ शुभ फलदायक है। पूर्ण चन्द्रमा भी शुभद माना जाता है।) यदि नवमेश पूर्ण बली हो और उसपर गुरुकी दृष्टि हो तो ऐसे जातकके ऊपर परमपिता परमात्माकी कृपादृष्टि सम्भव है। लग्नके स्वामी अथवा लग्नपर ही नवमेशकी दृष्टि होनेसे जातक प्रभु-कृपाका पात्र बन जाता है। यदि नवमेश बृहस्पतिके साथ हो और षड्वर्गोंमें बली हो अथवा लग्नेशपर बृहस्पतिकी पूर्ण दृष्टि हो तो जातक प्रभुकी कृपासे महायशस्वी होता है। नवमेश सिंहके अंशका हो और उसपर लग्नेशकी अथवा दशमेशकी दृष्टि हो तो जातकके ऊपर प्रभुकी कृपा अवश्य होती है। ऐसा जातक विश्वमें यशका अर्जन करता है। दशमेश केन्द्रस्थ (लग्न चतुर्थ, सप्तम या दशम भावमें) हो, नवमेश भी चतुर्थभावमें हो तो ऐसा जातक प्रभुकी कृपासे अपने व्यक्तिगत क्रिया-कलापोंद्वारा यशका भागी बनता है।

यह सर्वविदित है कि जिसपर प्रभुकी कृपा हो जाती है, वह असम्भवको भी सम्भवमें परिवर्तित कर सकता है। प्रभुकी कृपासे पङ्गु भी हिमालयकी चोटीपर चढ़ सकता है, अंधा भी सब कुछ देख सकता है, बधिरको श्रवण-शक्ति मिल जाती है—यह रहस्य ग्रह भी स्पष्ट करते हैं।

किसीके जन्माङ्गमें लग्नेश उच्च हो, उसपर शुभ ग्रहोंकी दृष्टि पड़ती हो तो ऐसे जातकपर भगवान्‌की कृपादृष्टि सम्भव समझी जाती है। द्वितीयाधिपति उच्चका हो और उच्चका ही गुरु हो तथा द्वितीयेशपर गुरुकी पूर्ण दृष्टि भी हो तो ऐसा जातक भगवत्कृपाका पात्र बनता है। द्वितीयेश उच्च हो अथवा पञ्चम, नवम या एकादश स्थानमे विराजमान हो, बली लग्नेशका साथ हो और द्वितीयेश जिस स्थानमे विराजमान हो, उस स्थानका स्वामी केन्द्रवर्ती हो त जातकके ऊपर प्रभुकी कृपा सम्भव है।

ग्रहयोग और ईश्वर-प्रेम—

जन्माङ्गके पञ्चम स्थानसे ईश्वरके प्रति प्रेम, श्रद्धा, भक्ति आदिका विचार किया जाता है। नवम भावसे धर्मका विचार होता है। नवम भाव और पञ्चम भाव—दोनों भावोंको मिलाकर मानवकी ईश्वरीय भक्तिका पूर्ण विचार होता है और इस प्रकार भगवान्‌की कृपाका भी।

पञ्चम स्थानमे यदि कोई पुरुष ग्रह (सूर्य, मङ्गल एवं गुरु) बैठा हो या उसकी दृष्टि पड़ती हो तो जातकपर प्रभुकी कृपादृष्टि होती है। यदि पञ्चमभाव समराशिका हो, उसपर चन्द्रमा या शुक्रकी दृष्टि पड़ती हो अथवा उसमें चन्द्रमा या शुक्र विराजमान हो तो मानवके ऊपर लक्ष्मीकी कृपा होती है।

ईश्वरीय प्रेमकी प्राप्ति निम्न योगोंमे होती है—मानवके जन्माङ्गमे यदि किसी भावमे चार या पाँच ग्रह एकत्र हों तो ऐसा जातक प्रभुकी कृपाका सहारा लेकर संसारसे विरक्त होता देखा जाता है। यहाँ कुछ मतभेद भी है, ऐसे योगमे बली ग्रहके ऊपर ही विचार स्थिर किया जाता है। निम्न स्थितियोंका विचार करनेपर प्रभुकी कृपा-प्राप्तिका निश्चय किया जा सकता है—

१—चार या पॉच ग्रह (किसी भावमे) एकत्र हों।
२—उपर्युक्त ग्रहोंमे कोई एक बली हो।
३—बली ग्रह युद्धमे पराजित न हो।
४—बली ग्रह अस्त न हो।
५—इन ग्रहोंमे कोई दशम भावका स्वामी भी हो।

उपर्युक्त स्थितिमे मानव प्रभुकी कृपासे सांसारिक आसक्तिका त्याग कर प्रभुकी शरणमे चला जाता है।

ग्रहयोग और आध्यात्मिक जीवन—

वर्तमान समयमे मानव विलासिताकी ओर अग्रसर हो रहा है। विलास-सामग्रीको प्राप्त करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य बन रहा है, पर अब अमेरिकाके धनपति विलासितासे ऊबकर अध्यात्म-जीवनकी ओर ललचायी आँखोंसे देखने लगे हैं, वेषभूषाकी नवीनता और तामसी-राजसी भोजन भी अब उन्हे उतना रुचिकर नहीं प्रतीत होता। अमेरिका आदि देशोंके बहुत-से लोग भारतीय आश्रमोंमें आध्यात्मिक जीवन बितानेके लिये आने लगे हैं। ज्योतिषशास्त्रमे आध्यात्मिक जीवनमें सफलताके योग भी बताये गये हैं।

✓ यदि दशम भावमे मीन राशि हो और उसमें बुध या मङ्गल बैठा हों तो ऐसा जातक प्रभुकी कृपासे पवित्र जीवन व्यतीत करता है। दशमाधिपति नवममें हो और बली नवमेश बृहस्पति और शुक्र ग्रहसे दृष्ट या युत हो तो जातक प्रभुकी कृपा प्राप्त करनेके लिये अग्रसर होता है। यदि नवमाधिपति बली शुभ ग्रह हो, उसपर गुरु या शुक्र-की दृष्टि अथवा गुरु या शुक्रका साथ हो तो ऐसा जातक प्रभुकी कृपाका पात्र बन जाता है। यदि लग्नेश दशम स्थानमे और दशमेश नवम स्थानमे हो, पुनश्च दशमेश पापग्रहकी दृष्टिसे वञ्चित हो तो जातक शुभग्रहोंकी शुभ दृष्टिके प्रभावसे भगवत्कृपाका अधिकारी बन जाता है। जन्माङ्गमें चन्द्रमा और बृहस्पतिके अन्तर्गत अन्य समस्त ग्रह स्थित हों तो ऐसा मानव निर्विघ्न भगवान्‌की शरणमें पहुँच पाता है। जन्माङ्गमे शनि और मङ्गलके अन्तर्गत सभी ग्रह हों तो ऐसा मानव भगवान्‌की कृपाका पात्र बनकर विश्वमें ख्याति भी अर्जित करता है।

मीमांसकोंका मत है कि जिस मन्त्रमें जिस देवताका वर्णन है, उस मन्त्रमे उसी देवताकी दिव्य शक्ति सदासे निहित है। अतएव दैवत्व-शक्ति मन्त्रमें ही प्रतिष्ठित है।

निरुक्तकारके अनुसार देवताका अर्थ है—अभीष्ट पदार्थ देनेवाला और प्रकाशित करनेवाला—

'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा ।'
(निरुक्त, दैवत ७ । ४ । १५)

वेदमे कहा गया है कि सभी देवताओंमे एक ही परमेश्वरकी शक्ति है—

'महद् देवानामसुरत्वमेकम्' (ऋक्० ३ । ५५ । १)

सायणाचार्य भी यही कहते हैं कि 'उन सभी नामोंसे एक ही परमेश्वर पुकारा जाता है।'

निरुक्तकारका भी यही कथन है—

महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥
(निरुक्त, दै० ७ । १ । ४)

'देवताके महान् ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके कारण वह देवात्मा एक होते हुए भी विभिन्न प्रकारसे स्तुत होता है। (सूर्य, इन्द्र आदि) अन्य देवगण उसी एक आत्माके प्रत्यङ्ग (अवयव) हैं।'

वेद भगवान् पुनः यही बात कहते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋक्० १ । १६४ । ४६)

'मेधावीलोग इन आदित्यको इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि कहा करते हैं। ये स्वर्गीय पक्षवाले (गरुड) और सुन्दर गमनवाले हैं। एक हैं तो भी इन्हे अनेक कहा गया है। इन्हे अग्नि, यम और मातरिश्वा कहा जाता है।'

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥
(शु० यजु० ३२ । १)

'वे ही अग्नि हैं, वे ही आदित्य हैं, वे ही वायु हैं, वे ही चन्द्रमा हैं, वे ही शुक्र हैं, वे ही ब्रह्म हैं, वे ही जल हैं और वे ही प्रजापति हैं।'

अतएव सभी देवताओंसे अधिष्ठित मन्त्रोंमें वास्तवमें एक भगवत्कृपा-शक्ति ही व्याप्त है। इसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट कहा है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ॥
(७ । २०—२२)

'उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभावसे प्रेरित होकर उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं। जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी देवताके प्रति स्थिर करता हूँ। वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसदेह प्राप्त करता है।'

परंतु—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
(गीता ७ । २३)

'उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

अतएव सभी मन्त्रोंमें एक ही भगवान्‌की कृपाशक्ति निहित है—ऐसा मानकर केवल भगवन्मन्त्रोंका ही प्रयोग करना श्रेयस्कर है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥
(मानस ३ । ३५ । १)

मन्त्रस्वरूप होने अथवा मन्त्रद्वारा जानने योग्य होनेके कारण ही विष्णुसहस्रनाममे भगवान्‌का एक नाम 'मन्त्र' भी कहा गया है—

ऋद्धः स्पष्टाक्षरो मन्त्रः । (श्लोक ४३)

शंकराचार्यजीने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

'ऋग्यजुःसामलक्षणो मन्त्रः, मन्त्रबोध्यत्वाद् वा मन्त्रः ।'

'(भगवान् साक्षात्) ऋक्, साम और यजुरूप मन्त्र हैं, अथवा मन्त्रोंसे जानने योग्य होनेके कारण मन्त्र हैं।'

श्रीभगवान् ही मन्त्र हैं या मन्त्र भगवान् हैं एवं भगवत्कृपाशक्ति ही मन्त्र-शक्ति है या मन्त्र-शक्ति भगवत्कृपा-शक्ति है—यह सिद्ध हो गया।

भगवान् सर्वश्रेष्ठ और महान् शक्तिमान् हैं—

'महाशक्तिर्महाद्युतिः' (विष्णुस० श्लोक ३२)

'वीरः शक्तिमतां श्रेष्ठः' (विष्णुस० श्लोक ५६)

अतएव सर्वश्रेष्ठ शक्तिमान् भगवान्‌के ही मन्त्रोंका भगवत्कृपाकी प्राप्तिके लिये जप करना श्रेयस्कर है।

भगवती कृपाशक्ति

(लेखक—डॉ० श्रीशिवशंकरजी अवस्थी)

विद्यां परां कतिचिदम्बरमम्ब केचि-
दानन्दमेव कतिचित्कतिचिच्च मायाम् ।
त्वां विश्वमाहुरपरे वयमामनाम-
स्साक्षादपारकरुणां गुरुमूर्तिमेव ॥
(अम्बास्तुति २७)

'माँ ! कुछ लोग आपको परा विद्या कहते हैं; कुछ लोग चिदाकाश, कुछ आनन्दशक्ति तथा कोई आपको माया कहते हैं। अन्य लोग आपको विश्वरूपिणी जानते हैं; किंतु हम तो यही रट लगाये हुए हैं कि आप गुरुका रूप धारण किये हुए प्रत्यक्ष अपार करुणा ही हैं।'

भगवान् निखिल श्रेष्ठ गुणगणोंके धाम हैं। उनके ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, तेज, सौन्दर्य, औदार्य, कारुण्य आदि असंख्य अनवद्य गुण धर्म और शक्तिके नामसे भी कहे जाते हैं। वस्तुतः भगवान्‌की एक अन्तरङ्ग चिद्रूपा शक्ति ही कार्यवश नाना शक्तियों या धर्मोंका रूप ग्रहण करती है। भगवान् और उनकी महाशक्तिमें कोई भेद नहीं है। भगवान् धर्मी हैं और महाशक्ति उनका धर्म। इस प्रकार धर्मी और धर्म-की दृष्टिसे उनमे भेदकी प्रतीति होती है, किंतु वह अवास्तविक है। जैसे दाहिका-शक्ति अग्निरूप धर्मीका धर्म है, इस दृष्टिसे इनमे भेदका भान होता है, किंतु दाहिका-शक्तिसे रहित अग्निका क्या कोई स्वरूप है ? नहीं। अतः दोनों अभिन्न हैं, एक हैं। ठीक वैसे ही भागवती शक्ति और भगवान् अभिन्न हैं। योगिवर भास्कररायने श्रीदुर्गासप्तशतीकी 'गुप्तवती टीका'के उपोद्‌घातमें 'रत्नत्रय-परीक्षा'से एक उद्धरण प्रस्तुत किया है—

नित्यं निर्दोषगन्धं निरतिशयसुखं ब्रह्मचैतन्यमेकं
धर्मो धर्मीतिभेदद्वितयमिति पृथग्भूय मायावशेन ।
धर्मस्तत्रानुभूतिः सकलविषयिणी सर्वकार्यानुकूला
शक्तिश्चेच्छादिरूपा भवति गुणगणस्याश्रयस्त्वेक एव ॥
कर्तृत्वं तत्र धर्मी कलयति जगतां पञ्चसृष्ट्यादिकृत्ये
धर्मः पुंरूपमाप्त्वा सकलजगदुपादानभावं बिभर्ति ।
स्त्रीरूपं प्राप्य दिव्या भवति च महिषी स्वाश्रयस्यादिकर्तुः
प्रोक्ते धर्मप्रभेदावपि निगमविदां धर्मिवद्ब्रह्मकोटी ॥

'नित्य, दोषके लेशसे शून्य, निरतिशय सुखरूप, एकमात्र ब्रह्मचैतन्य मायाके वशीभूत होकर धर्म और धर्मी—इन दो भेदोंको प्राप्त करता है। सम्पूर्ण विषयोंकी अनुभूतिस्वरूपा एवं समस्त कार्योंके अनुकूल, इच्छा, ज्ञान तथा क्रियाकी समष्टिरूपा महाशक्तिको तथा श्रेष्ठ गुण-गणोंको 'धर्म' कहते हैं; इनका आश्रय एक ही है। यह धर्म भी द्विविध है—एक पुरुषरूप महाविष्णु या महेश्वर तथा दूसरा स्त्रीरूपा महालक्ष्मी या भवानी—ये दोनों सम्पूर्ण जगत्‌का उपादान बनते हैं। ये ही जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रहात्मक पञ्चकृत्य करते हैं। धर्मका स्त्रीरूप दिव्य महिषीके नामसे भी जाना जाता है। इस प्रकार ये दोनों भेद निगमवेत्ताओं-द्वारा धर्मीके सदृश ब्रह्मकोटिमें ही परिगणित हैं अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं हैं।'

भक्तगण अपनी भावनाके अनुरूप भिन्न नामों एवं रूपोंद्वारा महाशक्तिकी उपर्युक्त उपासना करते हैं। महाशक्ति ही वात्सल्यमयी महामाता है; बिना इसका सहारा लिये शिवकी उपलब्धि सम्भव नहीं। समस्त प्राणियोंमें यह शक्ति अकारण-करुणाके रूपमें विद्यमान रहती है—

या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥
(दुर्गासप्त० ५ । ६५–६७)

बिना किसी कारणके दूसरोंके दुःखको दूर करनेकी इच्छा ही दया कहलाती है—

'दया निरुपाधिकपरदुःखप्रहाणेच्छा ।'
(गुप्तवती टीका)

जगत्‌में परम वात्सल्यमयी माँकी निर्हेतुक कृपाका अनवरत वर्षण होता रहता है। नाना वासनाओंके कञ्चुकसे ढके रहनेवाले लोग उस कृपासे वञ्चित रह जाते हैं। माँ परमपिताके साथ जगत्‌की रक्षाके लिये सदैव विचरण करती रहती हैं। परमपिता महेश्वर तो जगत्‌से उदासीन और निरपेक्ष रहते हैं; किंतु माँने जहाँ भी किसी जीवका रोदन सुना कि वे उसे प्रभुतक घसीट ले जाती हैं और इस प्रकार उसका उद्धार करती हैं। माँकी कृपादृष्टि परमपिताकी प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है। वे गुरुमूर्ति धारण करके जगत्‌के जीवोंका त्राण करती हैं। शास्त्र कहते हैं—

'गुरुरुपाय.' ॥ (शिवसूत्रविमर्शिनी, द्वितीयोन्मेष ६)

गुरु ही उपाय है अर्थात् पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति ही गुरु है। मन्त्रवीर्यका प्रकाशन करनेके कारण वे उपाय कहलाती हैं—

'गुरुर्वा पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्तिः…।'
(क्षेमराज शिवसूत्रविमर्शिनी २। ६)

प्राग्रावत्र गुरुः शक्तिरुपायः परमः स्मृतः।
यतः सा शाम्भवी शक्तिरनुग्रहकरी सदा॥
(शिवसूत्रवार्तिक–भट्ट भास्कर २। ६। २३)

परमसुख (औन्मनसधाम या शाम्भव पद)की प्राप्तिमे गुरुशक्ति ही परमोपाय मानी गयी है। यह शाम्भवी शक्ति सदैव अनुग्रहपरायण रहती है।

दयामयी माँ ही विश्वका कल्याण करनेके लिये गुरुरूप लीला-विग्रह धारण करती हैं—

तामिच्छाविग्रहां देवीं गुरुरूपां विभावयेत्॥
(योगिनीहृदय, पूजासंकेत १९८)

शिवशक्तिद्वयं चैव शिवतत्त्वं प्रकीर्तितम्।
प्रमातृमेयप्रमितिरूपमेतत्त्रयात्मकम्॥
(स्वच्छन्दसंग्रह)

'शिव और शक्ति—इन दोनोंका संयुक्तरूप ही शिवतत्त्व है और इसीमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—ये तीनों समाविष्ट हैं।'

शिव और देवीमें कोई भेद नहीं है—यह इस कथनसे प्रमाणित हो जाता है।

माँकी कृपाके लिये किसी कारणकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि वे तो अकारण-करुण हैं—

'अव्याजकरुणामूर्तिः' (ललितासहस्रनामस्तोत्र, ९८१)

'अव्याजा अनौपाधिकी या करुणा सैव मूर्तिः स्वरूपं यस्याः'
(सौभाग्यभास्कर-भाष्य)

'अव्याज अर्थात् उपाधिविहीन करुणा जिनकी मूर्ति (स्वरूप) है, वे ही श्रीशिवाशिवशक्त्यैक्यरूपिणी ललिताम्बिका हैं।'

देवीमाहात्म्यके एक ध्यान-सम्बन्धी श्लोकमे भी कहा गया है—

अरुणां करुणातरङ्गिताक्षीं धृतपाशाङ्कुशबाणचापहस्ताम्।
अणिमादिभिरावृतां मयूखैरहमित्येव विभावये भवानीम्॥

'जिनकी आँखोंमे करुणा लहरा रही है, जिनके हाथोंमे पाश, अङ्कुश, बाण और धनुष विद्यमान हैं, जो अणिमादिरूप किरणोंसे आवृत हैं, उन अरुणा नाम्नी भवानीका मैं आत्मभावसे ध्यान करता हूँ।'

एक भक्तने लिखा है—

'माँ! आप सदैव चिदाकाशरूपा हैं। आपकी तुलना भगवान् दयासागरकी वेला (तटी)से की गयी है। अगणित संवित् (ज्ञान)रूपा नदियाँ आपके अंदर प्रविष्ट होकर अपने संकुचित रूपका त्याग करके पूर्णता लाभ करती हैं'—

त्वं निरन्तरचिदम्बरात्मिका वेलयाम्ब तुलिता दयाम्बुधेः।
त्वय्यमूर्झटिति संविदापगाः पूर्णतां दधति निर्णिकेतनाः॥
(चिद्गगनचन्द्रिका १४५)

शैवागमोंमें शक्तिपातकी विशेष चर्चा मिलती है। यह शक्ति कृपाशक्ति ही है, जो भक्तके हृदयमें सहसा अवतरित होकर उसे परतत्त्वका लाभ कराती है। कुछ द्वैतवादियोंका कथन है कि आणवादि मलोंके परिपक्व हो जानेपर शक्ति पतित होती है तथा उसी कोटिके अन्य लोग कहते हैं कि पुण्यापुण्य कर्मोंके साम्य होनेपर कृपाशक्तिका सम्पात सम्भव होता है; किंतु अद्वैतवादी मानते हैं कि कृपाशक्तिका आविर्भाव बिना किसी हेतुके ही भाग्यशाली व्यक्तिके जीवनमे देखा जाता है। परमेश्वरकी स्वरूपोन्मीलनात्मिका कृपाशक्ति निरपेक्षभावसे स्थावरान्तमें भी पतित होती है—

स्थावरान्तेऽपि देवस्य स्वरूपोन्मीलनात्मिका।
शक्तिः पतन्ती सापेक्षा न क्वापि…॥
(मतङ्गागमकी टीका)

उपनिषद् कहती है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।'
(कठ० उप० १। २। २३)

परमात्मा अन्तर्यामीरूपसे अथवा आचार्यरूपसे जिस मुमुक्षुपर अनुग्रह करते हैं, उसी अभेदानुसंधानसम्पन्न व्यक्तिके द्वारा वे प्राप्त किये जाते हैं।

'सो जानइ जेहि देहु जनाई'। (मानस २। १२६। २)

महर्षि शाण्डिल्यने लिखा है कि आप्तकाम परमेश्वरका अवतार जगत्में या जीवोंपर दया करनेके लिये होता है। उनकी अहैतुकी करुणा ही इसका मुख्य प्रयोजन है—

मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्॥ (शां० भक्तिसूत्र ४९)

करुणा दो प्रकारकी देखी जाती है—गौण और मुख्य। जो लोग पुण्यादिके उद्देश्यसे दूसरेके दुःखको दूर करनेकी इच्छा करते हैं, उनकी करुणा गौण है। निरुपाधिक कृपा ही मुख्य कृपा है। धनादिके उद्देश्यसे

जो परदुःखप्रहाणेच्छा है, वह करुणा नहीं कही जा सकती—

'यस्य धनादिकमुद्दिश्य परदुःखनिवृत्तीच्छा तस्य तु नैव कारुण्यम् । यस्य तु पुण्यादिकमुद्दिश्य तस्य गौणम् । यस्य न किमप्युद्दिश्य किंतु स्वभावादेव तस्य मुख्यं निरुपाधि परदुःखनिवृत्तीच्छारूपम् ।'

(नारायणतीर्थ—भक्तिचन्द्रिका)

शाक्ततन्त्रोंमें भगवती कृपाशक्तिकी विशेष विवेचना की गयी है । 'मालिनीविजयतन्त्र'में द्वैतवादियोंके अनुसार कृपाशक्तिके सम्पातके सम्बन्धमें अनेक कारणोंका उल्लेख किया गया है, परंतु इस सम्बन्धमें चरम सिद्धान्त यही है कि भगवान्‌की कृपाके लिये किसी भी कारणकी आवश्यकता नहीं है । इसीको दृष्टिमें रखते हुए श्रीउत्पलाचार्य भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं —

शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तमीश न करोपि कर्हिचित् ।
अद्य मां प्रति किमागतं यतः स्वप्रकाशनविधौ विलम्ब्यसे ॥

(शिवस्तोत्रावली १३ । ११)

'हे ईश्वर ! कृपाशक्तिपातके अवसरपर आप कभी भी प्रसङ्गतः प्राप्त पात्रापात्रका विचार नहीं करते; फिर मेरे विषयमें आज ऐसी कौन-सी बात आ गयी, जो अपने प्रकाशनमें विलम्ब कर रहे हैं ।'

यहाँ एक शङ्का होना स्वाभाविक है कि यदि भगवान् बिना किसी कारणके ही कृपा करके किसीको मोक्ष प्रदान कर देते हैं (चाहे वह पात्र हो या न हो) और किसीको नहीं तो इस प्रकार उनमें विषमताका दोष अपरिहार्य हो जायगा ।

किंतु बात ऐसी नहीं है । जब एक ही तत्त्व स्वेच्छासे अपनेद्वारा अपनेमें स्वात्मरूप अनन्त जगदण्डोंका निर्माण करके उनमें विद्यमान अगणित वैचित्र्यमय प्रमेयों (पदार्थों) एवं प्रमाताओंके रूपमें प्रकाशित होता है तो ऐसी स्थितिमें विषमताको कोई अवसर नहीं हो सकते । महामाहेश्वर अभिनवगुप्त अपने एक स्तोत्रमें कहते हैं—

संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया ।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किंचित्त्यज मा गृहाण विहर स्वस्थो यथावस्थितः ॥

(अनुत्तराष्टिका २)

'यदि वस्तुतः यह संसार है ही नहीं तो शरीरधारियोंके बन्धनकी बात ही कैसी ? और जिसका कभी बन्धन ही नहीं हुआ, उस मुक्त पुरुषका मोक्ष भी व्यर्थ ही है । यह जो प्रतीत हो रहा है, वह मिथ्या मोहको उत्पन्न करनेवाला रज्जु और सर्प तथा छाया और पिशाचके समान भ्रममात्र है; अतः न कुछ ग्रहण करो और न छोड़ो, किंतु स्वस्थ होकर यथावस्थित विचरण करो ।'

संसाररूप महानाटकके सूत्रधार परमेश्वर तथा उनकी शक्तिरूपा अपार करुणामूर्ति महानटीके लीलाकलाप, विलास-वैभव एवं स्वरूपको इदमित्थं रूपमें समझानेके लिये हम सर्वथा असमर्थ हैं । अबतक इतना ही जान सके हैं कि—

शंभोर्ज्ञानक्रियेच्छाबलकरणमनःशान्तितेजःशरीर-
स्वर्लोकागारदिव्यासनवरमहिषीभोग्यवर्गादिरूपा ।
सर्वैरेतैरुपेता स्वयमपि च परब्रह्मणस्तस्य शक्तिः
सर्वाश्चर्यैकभूमिर्मुनिभिरभिनुता वेदतन्त्राभियुक्तैः ॥

(आनन्दलहरी—अप्पय्यदीक्षित ७)

'जिन्हें परब्रह्म शिवकी शक्ति कहा जाता है, वे ही शम्भुका ज्ञान, क्रिया, इच्छा, बल, करण, मन, शान्ति, तेज, शरीर, स्वर्गलोक, आवास, दिव्यासन, महारानी तथा समस्त भोग्यवर्गरूपा हैं, वे स्वयं भी इन्हीं सब गुणोंसे सम्पन्न होकर विद्यमान रहती हैं । सम्पूर्ण आश्चर्योंकी वे एकमात्र भूमि हैं । मुनिगण, वेद, तन्त्र और कविलोग उनकी वन्दना करते रहते हैं ।'

प्रभातप्रोन्मीलत्कमलवनसंचारसमये
शिखाः किञ्जल्कानां विदधति रुजं यत्र मृदुलाः ।
तदेतन्मातस्ते चरणमरुणश्लाघ्यकरुणं
कठोरा मद्वाणी कथमियमिदानीं प्रविशतु ॥

(लक्ष्मीलहरी —पण्डितराज जगन्नाथ)

'माँ ! प्रातः खिलते हुए कमलवनमें विचरण करते समय पद्मपुष्पोंके मृदुल किञ्जल्क (केसर) जिन्हें पीड़ा पहुँचाते हैं, श्लाघ्य करुणासे पूर्ण आपके उन्हीं अरुण चरणोंमें मेरी इस कठोर वाणीका व्यापार उचित नहीं, अतः अब मौनावलम्बन ही कल्याणकर है ।'

श्रीवाल्मीकि-रामायणमें भगवत्कृपा

(लेखक—डॉ० श्रीप्रभाकरजी त्रिवेदी, एम्० ए०, डी० लिट्०)

आदिकवि महर्षि वाल्मीकिका जीवन भगवत्कृपाकी विलक्षणताका एक विलक्षण उदाहरण है। अपने पूर्वजीवनका खूँखार डाकू, जिसने अनेकों हत्याएँ कीं, जीवनके उत्तरकालमें तरण-तारण बन गया। उनके जीवनमे भगवत्कृपा एक संतके माध्यमसे उतर पड़ी।

कृपानिर्मित संतका काव्य भगवत्कृपाका मूर्तिमान् स्वरूप होगा, भगवत्स्वरूप ही होगा, इसमें संशयको कोई स्थान नहीं।

आइये, अब श्रीवाल्मीकि-रामायणमें भगवत्कृपाके प्रमुख प्रसङ्गोंका सिंहावलोकन करें—

महर्षि विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षाके प्रसङ्गमे ताटका तथा सुवाहुका वध करनेके उपरान्त भगवान् श्रीरामचन्द्र श्रीलक्ष्मणजी, विश्वामित्रजी तथा कुछ अन्य ऋषियोंके साथ महाराज जनकका धनुष्यज्ञ देखने मिथिलाकी ओर चले। जनकपुरके समीप पहुँचकर एक निर्जन आश्रमके सम्बन्धमे श्रीरामचन्द्रजीद्वारा जिज्ञासा किये जानेपर महर्षि विश्वामित्रने महर्षि गौतम, अहल्या तथा इन्द्र आदिका प्रसङ्ग सुनाया—"गौतम ऋषिने इन्द्रको उसकी दुष्टताके लिये शाप देनेके पश्चात् अहल्याको भी शाप दिया कि 'तुम अनेक सहस्र वर्षोंतक वातभक्षा, निराहारा, भस्मशायिनी तथा समस्त प्राणियोंके लिये अदृश्य होकर तपस्या करती रहोगी। जब इस घोर वनमें दुर्धर्ष श्रीरामचन्द्रजीका आगमन होगा, तब उनका आतिथ्य करके तुम पवित्र होओगी।'"

सारा प्रसङ्ग सुनाकर महर्षि विश्वामित्रने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे प्रार्थना की—'हे महातेजस्वी रामचन्द्र! पुण्यात्मा महर्षि गौतमके आश्रममें पधारिये तथा देवरूपिणी महाभागा अहल्याका उद्धार कीजिये।' श्रीरामचन्द्रजीके चरण-स्पर्श करते ही अहल्याका उद्धार हो गया। वह प्रसन्नचित्त हो महर्षि गौतमके पास चली गयी।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि अनेक वर्षोंकी उग्र तपस्यामात्रसे अहल्याका उद्धार अवश्यम्भावी था तो वह कार्य श्रीरामचन्द्रजीद्वारा चरण-स्पर्शके पूर्व ही स्वतः हो जाना चाहिये था, फिर महर्षि विश्वामित्रको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे अहल्याके उद्धारके लिये **'तारयैनां महाभागाम्'**—इन शब्दोंमे प्रार्थना करनेकी आवश्यकता क्यों पड़ती? अतः यह सिद्ध हुआ कि इतनी उग्र तपस्याके उपरान्त भी अहल्याके उद्धारके लिये भगवत्कृपाकी आवश्यकता थी। अहल्याके उद्धारमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग थी, जो उसके तपस्यारूप कर्मका फल नहीं था।

× × ×

जनकपुरसे लौटनेके कुछ ही समय पश्चात् महाराज दशरथकी आज्ञासे भगवान् श्रीरामचन्द्रको भगवती सीता तथा श्रीलक्ष्मणके साथ चौदह वर्षोंके लिये दण्डकारण्यका रास्ता पकड़ना पड़ा। चित्रकूट होते हुए श्रीरामचन्द्रजी अनेक ऋषियोंके आश्रमोंपर थोड़े-थोड़े समय निवास करते हुए लगभग बारह वर्षोंके उपरान्त महर्षि अगस्त्यकी आज्ञासे गोदावरीके तटपर पञ्चवटी पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपना स्वतन्त्र आश्रम बनाया तथा सीता एवं लक्ष्मणके साथ सुखपूर्वक रहने लगे।

पञ्चवटीमे प्रवेश करते ही उनकी महाबली वृद्ध गृध्रराज जटायुसे भेंट हुई। जटायुने अपनेको महाराज दशरथका मित्र बताया तथा श्रीरामचन्द्रजीसे यह कहा कि जब कभी आप दोनों भाई आखेटके लिये आश्रमसे बाहर जायँगे, तब मैं सीताकी रक्षा करता रहूँगा।

प्रभु श्रीरामचन्द्रजी तथा श्रीलक्ष्मणने कभी ऐसा अवसर नहीं आने दिया कि एक ही साथ दोनों भाई आश्रमसे अनुपस्थित हों, किंतु एक दिन रावण तथा मारीचके षड्यन्त्रसे ऐसा समय भी आ ही गया। दोनो भाइयोंको बाध्य होकर आश्रमसे बाहर जाना पड़ा। इस अवसरका लाभ उठाकर कामरूपधारी रावण भगवती सीताको अपने आकाशगामी रथपर बलपूर्वक बैठाकर लंकाकी ओर उड़ चला। श्रीसीताजीका करुण-क्रन्दन सुनकर गृध्रराज जटायुकी तन्द्रा भङ्ग हुई। उन्होंने रावणको समझाने-बुझानेका बहुत प्रयत्न किया, किंतु उसपर उपदेशका कोई प्रभाव न देखकर उन्होंने युद्ध करनेका निश्चय किया। उन्होने रावणके सारथि तथा आकाशचारी रथके खच्चरोंको मार गिराया, उसका रथ छिन्न-भिन्न कर दिया तथा रावणको भी क्षत-विक्षत कर दिया। अन्ततः वे रावणके तीक्ष्ण खड्गसे विच्छिन्नपक्ष हो रक्तसे लथपथ पृथ्वीपर गिर पड़े।

भगवान् श्रीरामचन्द्र तथा श्रीलक्ष्मण मारीचको मारकर लौटे, आश्रमको सूना पाकर वे अनेक प्रकारसे विलाप करते हुए श्रीसीताको ढूँढ़ने लगे। सभी सम्भावित स्थानोंपर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब वे जटायुके पास पहुँचे, तब उससे उन्हें इतना ही पता चल पाया कि रावण सीताको लेकर दक्षिण दिशाकी ओर गया है। श्रीरामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी जटायुकी मृत्युसे अत्यन्त दुःखी हुए। इन्होंने

उसका पिताके समान दाह-संस्कार किया, पिण्डोदक दिया तथा कहा—"हे महाबलशाली गृध्रराज ! मेरेद्वारा संस्कृत होकर तथा मेरी आज्ञासे जो गति यज्ञशील लोगोंको प्राप्त होती है, आजीवन अग्निमें हवन करनेवालोंको जो गति मिलती है, जो गति भूमि-दान करनेवालोंकी होती है तथा समर-भूमिमें पीठ न दिखलानेवालेको जिन अत्युत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है, तुम उन सभी गतियों तथा लोकोंको प्राप्त करो।"*

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि जटायु एक परायी स्त्रीके सतीत्व तथा प्राणोंकी रक्षाके लिये धर्मयुद्धमें अपने प्राणोंकी आहुति देनेके कारण उस गतिके लिये स्वतः अधिकारी था, जो समर-भूमिमें पीठ न दिखलानेवालोंको मिलती है। इसमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी कृपाकी कोई आवश्यकता नहीं दीखती, किंतु न तो उसने कभी भूमिका दान किया था, न गृध्र होनेके कारण शास्त्रतः उसे 'आहिताग्नि' या 'यज्ञशील' होनेका अधिकार था। अतः इन तीन अतिरिक्त सद्गतियोंकी प्राप्तिके लिये वरदानोंकी वर्षा करना भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी विशुद्ध एवं अद्भुत अहैतुकी कृपाका ज्वलन्त उदाहरण है।

× × ×

सीताजीको ढूँढ़ते हुए, दुर्गम वनोंसे ढँके हुए पहाड़ोंको पार करते हुए प्रभु श्रीरामचन्द्र तथा श्रीलक्ष्मण चार-पाँच महीने बाद ऋष्यमूक पर्वतके पास पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही पवनकुमार श्रीहनुमानजीसे उनकी भेंट हुई तथा उनके ही प्रयाससे श्रीरामचन्द्रजी तथा सुग्रीवमें (अग्निको साक्षी देकर) प्रगाढ़ मित्रताकी स्थापना हुई। श्रीरामचन्द्रजीने उसी दिन सूर्यास्तके पहले वाली-वधकी प्रतिज्ञा की तथा सुग्रीवने राज्यारोहणके पश्चात् समस्त वानरी सेनाको भेजकर सीताके अन्वेषणका वचन दिया।

भगवान् श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, सुग्रीव तथा सुग्रीवके हनुमदादि सचिव किष्किन्धाकी ओर बढ़े। उसी दिन सूर्यास्तके पूर्व श्रीरामचन्द्रजीने वालीका वध करके अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। शेष कार्य सुग्रीव तथा उसके सचिवोंपर छोड़कर श्रीरामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजीको सीधे प्रस्रवणगिरिपर लौट आना चाहिये था, किंतु उन्होंने ऐसा न किया। उन्हें मृत्युके समय तड़फड़ाते हुए खूनसे लथपथ वालीके पास पहुँचकर उसके अत्यन्त आक्रोशपूर्ण आक्षेपोंको शान्तचित्तसे सहन करते रहनेकी क्या आवश्यकता थी ? यह अहैतुकी भगवत्कृपाका उदाहरण नहीं तो और क्या है ? उस समय वालीके मनमें श्रीराम तथा सुग्रीवके प्रति भीषण द्वेषाग्निकी ज्वाला जल रही थी। ऐसी मानसिक अवस्थामें मरनेवालोंको शान्ति नहीं मिलती। प्रभु श्रीरामचन्द्रने बड़े शान्त चित्तसे उसे बताया कि छोटे भाईकी पत्नीके साथ दुर्व्यवहार करनेका दण्ड शास्त्रतः प्राण-दण्ड ही होता है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने समस्त भूमण्डलका राजा होनेके नाते उसे प्राणदण्ड दिया था। इस प्रकार इस दण्डसे वह पापमुक्त तो हुआ ही, साथ-ही-साथ प्रभुके हाथोंसे मरकर परमपदका अधिकारी भी बन गया। मरते समय उसकी बुद्धि परम पवित्र हो गयी। सुग्रीव तथा भगवान् श्रीराम—दोनोंके प्रति उसका द्वेष-भाव सर्वथा लुप्त हो गया। मृत्युके पूर्व उसने सुग्रीवको बुलाकर अपनी इन्द्रप्रदत्त काञ्चनमाला अर्पित की तथा अङ्गदको श्रीरामचन्द्रजीको सौंपकर वह इस लोकसे प्रस्थान कर गया। वालीके कल्याणके लिये तथा सुग्रीवके प्रति आत्मीयताके कारण कठोर वचन सहना भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी अहैतुकी कृपाका ज्वलन्त उदाहरण है।

× × ×

श्रीरामचन्द्रजी तथा लक्ष्मणजी अपनी अपार वानरी सेनाके साथ समुद्रके उत्तरी तटपर पहुँचे। 'समुद्र कैसे पार किया जाय ?'—सभी चिन्तामग्न थे। उसी समय विभीषणने अपने चार सचिवों-सहित आकाशमें स्थित रहते हुए ही रावणके छोटे भाईके रूपमें अपना परिचय दिया तथा श्रीरामचन्द्रजीसे शरणकी याचना की। विभीषणके प्रस्तावपर मन्त्रणा प्रारम्भ हुई। औरोंकी बात ही क्या, एक श्रीहनुमानको छोड़कर वृद्ध एवं परम बुद्धिमान् जाम्बवान्तकने विभीषणपर लेशमात्र भी विश्वास न करते हुए उसके वध या बन्धनकी सम्मति प्रदान की। सबकी बात सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा—"नीतिके अनुसार आपलोगोंकी सलाह उचित है, परंतु 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर जब भी कोई मेरी शरणमें आता है तो मैं उसे अभयदान दे देता हूँ। यह मेरा व्रत है।"† ऐसा कहकर उन्होंने विभीषणको शरण ही नहीं दी, उन्हें लंकेश कहकर भी पुकारा तथा अपने सचिवोंमें प्रमुख स्थान प्रदान किया। जिस रावणके एक छोटे-से सेनानी मारीचके षड्यन्त्रसे सीताका हरण हुआ तथा श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजीके कष्टोंकी कोई सीमा नहीं रही, उसीके छोटे भाई शरणागत पर इतना विश्वास करना भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका उदाहरण नहीं तो और क्या है ?

भगवत्कृपाको अहैतुकी माना जाना सर्वथा उचित है। भगवान् इसी कृपाके द्वारा जीवको सहज कृतार्थ करते रहते हैं।

---

* या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः। अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम्॥
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्। गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज॥ (वा० रा० ३।६८।२९-३०)

† सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥ (वा० रा० ६। १८। ३३)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्कृपाका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीकुबेरनाथजी शुक्ल)

श्रीमद्भगवद्गीता विश्वका सर्वोत्तम एवं सर्वमान्य ग्रन्थ है। भगवत्कृपाका स्वरूप जैसा गीतामें अङ्कित है, अन्यत्र दुर्लभ है। कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रिय मित्र और भक्त अर्जुन मोहान्धकारमें मग्न होकर किंकर्तव्यविमूढ-से हो गये। भक्तवत्सल भगवान्को उनपर दया आ गयी और उन्होंने भक्तके शोक और मोहकी निवृत्तिके लिये गीताज्ञानका उपदेश किया।

वेद, उपनिषद्, सांख्य-योग, कर्मयोग एवं विविध दर्शन-शास्त्रोंके गम्भीर और विशद विवेचनको गीतामें सरल और सहज सुबोध भाषामें अङ्कित किया गया है। ज्ञान, कर्म और भक्तिका निरूपण प्रायः सभी शास्त्रोंमें हुआ है। भगवद्गीतामें भी स्पष्टरूपसे ज्ञान, कर्म और भक्तिका समुच्चय लक्षित होता है। ज्ञानका महत्त्व सर्वमान्य है, वह मुक्तिका साधन माना गया है। '(अर्जुन!) ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है। इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह (कुछ भी) नहीं है। ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण (भगवत्प्राप्तिरूप) परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(गीता ४ । ३७-३९)

—आदि वचनोंद्वारा ज्ञानकी महिमाका विशदरूपसे वर्णन किया गया है और उसे 'परा शान्ति'का माध्यम बतलाया गया है। इसी प्रकार इसमें कर्म और भक्तिका महत्त्व वर्णित है। कुछ लोग गीताको कर्मयोगशास्त्र मानते हैं और वह सर्वथा उचित भी है। जिस स्थितिमें और जिस भूमिमें गीताज्ञानका उपदेश किया गया है, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण कर्मयोगका अवसर और क्या हो सकता है ? संस्कृत एवं कतिपय अन्य वाङ्मयमें योगका महत्त्व विस्तारसे वर्णित है। भगवद्गीतामें भी योगीको तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे बढ़कर माना गया है। जो संसारसे विमुख होकर केवल परमात्माको ही चाहता है, उसके लिये भगवान् कहते हैं कि सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गीता ६ । ४६-४७)

गीताके अनुसार वेद, यज्ञ, तप और दानके अनुष्ठानादि-से जो पुण्यराशि संचित होती है, उसका अतिक्रमण कर योगी सर्वश्रेष्ठ स्थान अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त करता है—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥
(८ । २८)

यह सब सत्य है; परंतु भगवद्गीतामें भक्तिका स्थान सर्वोच्च है। भगवत्कृपाकी अभिव्यक्ति जैसी सुगमतासे भक्ति-द्वारा होती है, वैसी तप, योग, ज्ञान और कर्म आदि किसी भी साधनद्वारा नहीं हो सकती। उनका मार्ग अत्यन्त जटिल प्रतीत होता है। सकाम-भाव होनेसे स्वल्प प्रमादसे भी वहाँ अनिष्ट हो सकता है और सहस्रों वर्षोंकी साधना एवं तपस्या अपना फल देकर नष्ट हो जाती है।

इसके विपरीत भगवद्भक्तोंकी स्थिति निराली होती है। वे राजमार्गके पथिक हैं, वहाँ किसी प्रकारका भय नहीं है। उनके ऊपर मङ्गलमय भगवान्के वरद हस्तकी छाया सदा बनी रहती है। भक्तोंको शुद्ध मनसे प्रभुके गुणोंका गान करना है। उनके पवित्र चरित्र एवं गाथाओंका श्रवण करना और कराना है। भगवत्सम्बन्धी विविध प्रसङ्गोंको सुनना और सुनाना है। प्रभुके नामका कीर्तन और गान करना है। अहंभावको दूर कर अपनेको प्रभुके चरणोंमें न्योछावर कर देना है। जो कुछ करना है, प्रभुके लिये ही करना है। प्रभुके लिये ही जीना और मरना है। अपना कुछ नहीं, सब कुछ प्रभुका है—

इस भावनासे भक्तजन प्रभुके आश्रित हो निर्भय गतिसे विचरते हैं। वे शीघ्र ही उस शाश्वत परम पदको प्राप्त करते हैं, जहाँसे पुनः लौटना नहीं पड़ता। जहाँ जन्म और मृत्युका भय नहीं है, किसी प्रकारका राग, द्वेष, पाखण्ड, ईर्ष्या, कलह और संघर्ष नहीं है। वह दिव्य स्थान सूर्य, चन्द्र और अग्निकी परिधिसे बाहर है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
(गीता १५। ६)

भगवद्भक्तोंको जीवन-निर्वाहके लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती। परम पिता परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक हैं। वे अन्तर्यामी और लोकरक्षक हैं। वे भक्तोंकी विशेषरूपसे रक्षा करते हैं। भगवद्गीताका यह उद्घोष भक्तोंका जीवन और प्राण है—'जो भक्त अनन्य भावसे मेरा चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं, मैं सदा उनके योगक्षेमका भार वहन करता हूँ।'

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९। २२)

कर्मोंमे आसक्ति ही बन्धन है। कर्मपाश जन्म और मरणका कारण है, संसारका बीज है। विविध कर्मोंके कारण मानव मायाजालमे फस जाते हैं, जिसमे उनका उद्धार होना बड़ा कठिन है। प्रभुके अतिरिक्त मायाजालके भेदनमें कौन समर्थ है? भक्तजन अपनी जीविका आदिके भी सम्पूर्ण कर्मोंको प्रभुके समर्पित कर देते हैं और प्रभु उन्हें कर्मपाशके बन्धनसे मुक्त कर देते हैं—'भक्तजन! तुमलोग जो कुछ शास्त्रविहित कर्तव्य करते हो, उन्हे मुझे समर्पित कर दो। मैं तुमलोगोंको शुभाशुभ कर्मबन्धनोंसे मुक्त कर दूँगा।' यही तो भगवत्कृपा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(गीता ९। २७-२८)

भगवान् अपने भक्तोंपर किस प्रकार अनुकम्पा करते हैं, इसका सुन्दर वर्णन दशम अध्यायमें मिलता है। भक्त मानते हैं कि प्रभु विश्वके आदिकारण हैं और यह समस्त दृश्य-जगत् प्रभुकी कृपासे ही फूल-फल रहा है। ऐसा समझकर वे श्रद्धा-भक्तिसे प्रभुका पूजन और भजन करते हैं। वे भक्तोंकी मण्डलीमें प्रभुका गुणगान करते हैं और परस्पर एक-दूसरेको भगवत्सम्बन्धी बातें समझाते-बुझाते हैं। प्रभुका नाम-कीर्तन, गुणगान आदि करते हुए वे प्रेमपूर्वक सदा भगवान्‌की चर्चा करते रहते हैं और इसीमें आनन्दका अनुभव करते हैं। भक्तवत्सल भगवान् ऐसे भक्तोंपर कृपा करके उन्हें बुद्धियोग प्रदान कर अपने दिव्य ज्ञानके आलोकसे उनके अज्ञानान्धकारका नाश करते हैं, जिससे वे प्रभुको प्राप्त करते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
(गीता १०। ८—११)

कुरुक्षेत्रके युद्धस्थलमें अर्जुन गीताका उपदेश हृदयंगम करके नम्रतापूर्वक भगवान् श्रीकृष्णसे निवेदन करते हैं—'प्रभो! मैं आपके दिव्य रूपको देखना चाहता हूँ।' कृपालु भगवान्ने अर्जुनको दिव्य-दृष्टि प्रदान की और अपना विश्वरूप दिखाया। अर्जुन उस दिव्य और अत्यन्त विशाल रूपको देखकर अत्यन्त भयभीत हो गये और हाथ जोड़कर बोले—'प्रभो! मैं शरणागत हूँ। मैं आपके इस दिव्य रूपको देखकर अत्यन्त भयविह्वल हो गया हूँ। कृपया मुझे शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी रूपमें दर्शन दीजिये।' घबराये हुए अर्जुनपर कृपादृष्टि करते हुए भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे यह अपना परम तेजोमय सबका आदि और सीमारहित विराट् रूप तुम्हें दिखाया है, जो तुम्हारे सिवा दूसरे किसीसे पहले नहीं देखा गया (११। ४७)।' भक्तवत्सल भगवान् आश्वासन देते हुए पुनः सौम्यरूप धारणकर धैर्य बँधाते हैं और कहते हैं—'अर्जुन! मेरे दिव्य

चतुर्भुजरूपको देखनेके लिये देवगण भी लालायित रहते हैं। मैंने दया करके ही तुम्हे यह दिव्य रूप दिखाया है, जिसका दर्शन दुर्लभ है। मेरे इस रूपको न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे देखा जा सकता है। केवल मेरी अनन्य भक्तिसे ही भक्तजन इस रूपका दर्शन और ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११। ५३-५४)

भगवान्ने प्रसन्न होकर अर्जुनको गूढ़से गूढतम रहस्यकी बातें गीता-ज्ञानके अन्तर्गत कह दीं। भगवान्ने कहा—'अर्जुन! तुम विवेक-बुद्धिसे समस्त कार्योंके फलको मुझे समर्पित करो और शरणागत हो जाओ। मेरे प्रसादसे तुम समस्त संकटोंको पार कर जाओगे। यदि अहंकारके वशमें होकर मेरी बात न मानोगे तो नष्ट हो जाओगे।' (१८। ५७-५८) उन्होंने कृपापूर्वक पुनः कहा—'तुम मनसा, वाचा, कर्मणा मेरे शरणागत हो जाओ। तुम मेरी कृपासे शाश्वत पदको प्राप्त करोगे। मैं तुम्हे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा।'

भगवान्के इस दिव्य उपदेशका अर्जुनपर गम्भीर प्रभाव पड़ा। वे शरणागत हो गये। उनके संशय और मोहका उच्छेद हो गया। उन्होंने गाण्डीवको धारण कर लिया और कहा—'अच्युत! आपके कृपा-प्रसादसे मेरे मोह और संदेहका नाश हो गया। मुझे अपने कर्तव्यका ज्ञान हो गया। अब मैं आपके आदेशानुसार कार्य करनेको प्रस्तुत हूँ।'—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥
(गीता १८। ७३)

भगवद्गीतामे प्रभुकी कृपाका समुद्र निरन्तर उद्वेलित हो रहा है। अर्जुनको जिज्ञासु भक्तोंका प्रतीक मानना चाहिये। उनकी शङ्काओंमे वस्तुतः मानवजातिकी शङ्काएँ अन्तर्हित हैं। भगवान्ने कृपापूर्वक जो उपदेश अपने सखा और भक्त अर्जुनको दिये हैं, वे मानवजातिके लिये शाश्वत उपयोगी हैं। अनन्य-शरणागति-के भावसे अपनेको प्रभुके समक्ष दीन-भावसे समर्पण करना गीता-शास्त्रका सिद्धान्त है और मानव-जातिके उद्धारके लिये सर्वोत्तम विधान है।

द्वापरयुगके अन्त और कलियुगके आरम्भमें भगवान्ने अनादिकालका यह अविनाशी उपदेश, जो इस पृथ्वीलोकमे लुप्त-प्राय हो गया था—केवल कृपा करके दिया है। भगवान् कहते हैं—'अविनाशी और गुप्त रखनेयोग्य पुरातन योग आज मैंने तुमसे कहा है; क्योंकि तुम मेरे भक्त और प्रिय सखा हो'—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥
(गीता ४। ३)

गीताका दिव्य उपदेश अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त जीवोंके लिये दिया गया है। इस छोटे-से ग्रन्थमे सभी विषयोंका जैसा साङ्गोपाङ्ग वर्णन है, वैसा किसी अन्य ग्रन्थमे देखनेको नहीं मिलता। इसलिये भगवत्कृपाका आश्रय लेकर इस उपदेशके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये। यही इस ग्रन्थका मुख्य सार है। स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीता-शास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें संदेह नहीं है'—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
(गीता १८। ६८)

भगवद्गीताका प्रचार करनेवालोंपर भगवान्की यह रहस्यमयी कृपा है।

भक्त और भगवान्के संवादका अध्ययन करनेमात्रसे भगवान् पूजित हो जाते हैं और श्रद्धासे श्रवण करनेवाले मुक्त हो जाते हैं। यह कैसी विलक्षणता है (गीता १८। ७०-७१)।

गीताका यह कृपापूर्ण दिव्य संदेश अनन्तकालतक मानव-जातिको संजीवनौषधके समान जीवन और अमृतत्व प्रदान करता रहेगा।

श्रीमद्भागवतमें भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीव्योमकेश भट्टाचार्य)

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥
(श्रीमद्भा० १।२।११)

तत्त्ववेत्ता अद्वितीय ज्ञानको ही तत्त्व कहते हैं, उसीको वेदान्त ब्रह्म, योगशास्त्र परमात्मा और भक्ति-शास्त्र भगवान् कहते हैं। पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य जिनमे रहते हों, उन्हे 'भगवान्' कहा जाता है। अष्टादश पुराणोंमिसे जिस पुराणमे श्रीवेदव्यासजीने भगवान्की लीलाका कीर्तन किया है—

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मतम्।
(पद्मपु० श्रीमद्भा०-मा० २।७१)

'वह यही ब्रह्मसम्मत श्रीमद्भागवतपुराण है।'

उसी श्रीमद्भागवतमें उल्लेख है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥
(१।१।३)

'अहो भावुक रसिकगण ! यह श्रीमद्भागवत वेदरूप कल्पवृक्षका पका हुआ फल है, श्रीशुकदेवरूप तोतेके मुखका सम्बन्ध हो जानेसे अमृत-रससे परिपूर्ण हो गया है और रसका भण्डार है; यह पृथ्वीपर ही सुलभ है, अतः आपलोग जीवनपर्यन्त इसका बारंबार पान करते रहें।'

सन् १९४६ ई०की बात है। इंग्लैंडमे पैदा हुए भारतीय सनातनधर्ममे दीक्षित एक पङ्गु भक्तके सम्पर्कमे आना हुआ। वे केदार-बद्रीका दर्शन करके काशीधाममे लौटे थे। वे हाथ-पैरसे विकल थे, बड़े कष्टसे रास्ता चलते थे। ऐसी अवस्थामे किस प्रकार उन्होंने इन सारे दुर्गम तीर्थोंका दर्शन किया, यह पूछनेपर उन्होंने उत्तर दिया—

'पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।'

मैं स्तम्भित हो गया—एक विदेशीके मुखसे भगवत्कृपाकी वाणी सुनकर। क्या भगवत्कृपाका अनुभव एक आकस्मिक संयोग है ? नहीं, कृपाका अनुभव होता है शरणागतिसे। शरणागति समस्त साधनाओंकी परिणति है। श्रीभगवान्की वाणी है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
(गीता १८।६६)

'सारे धर्मोंका परित्याग करके तुम केवल मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।' दूसरे रास्ते मत जाना। नहीं तो विडम्बनामें पड़ना पड़ेगा।

श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवने श्रीसनातन गोस्वामीको शिक्षा देते समय कहा था—

शरणागत अकिंचनेर एकइ लक्षण।
तार मध्ये प्रवेशये आत्मसमर्पण ॥
(चै० च० मध्य० २२।५३)

आत्मसमर्पण ही सच्ची शरणागति है। शरणागतके तीन भेद हैं—शरण्य, ज्ञानी और सेवानिष्ठ। कोई भयभीत होकर सर्वतोभावेन रक्षक जानकर श्रीभगवान्से कृपाकी प्रार्थना करता है। कोई भगवत्कृपाके प्रभावसे अवगत हो मोक्ष-वासनाका परित्याग करके उनका आश्रय लेता है और कोई साधुके मुखसे श्रीभगवान्की नव-नव रस-माधुरी श्रवण करके उनकी कृपाका आश्रय लेता है।

भगवत्कृपाशक्ति हमारे चित्तको परिशुद्ध करती है। कृपाका यह खेल विस्मयकारी है। भगवान्के प्रति आत्म-समर्पण होते ही अन्तःकरणमें कृपाकी अनुभूति होने लगती है। कृपाशक्ति ही भक्तको प्रभुके चरणकमलोंके समीप अग्रसर करती है। भगवान् जिसपर कृपा करते हैं, वह आनन्द-विभोर हो जाता है। मुण्डकोपनिषद्में कहा गया है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥
(३।२।३)

वे कृपा करके जिस भक्तके समीप उपस्थित होते हैं, वही उनको प्राप्त करके धन्यातिधन्य हो उठता है। भगवान् सर्वत्र पूर्णरूपसे विराजमान हैं, फिर भी भक्तोंको श्रीकृष्ण द्वारकामें पूर्ण, मथुरामें पूर्णतर और वृन्दावनमें पूर्णतम दीखते हैं। वृन्दावन प्रेमभूमि है और अन्यान्य स्थल ऐश्वर्यक्षेत्र हैं। व्रजमण्डलमें भगवत्कृपा गुह्य है। प्रेमाधिक्यमे, वात्सल्यरसमें परिपूर्ण व्रजवासियोंके सामने वह कृपा अप्रकट है। व्रजवासियोंकी साधना मदीया रतिमे है। व्रजमे श्रीकृष्ण व्रजवासीके आश्रित हैं।

महाराज परीक्षित्ने आनन्द-विभोर होकर कहा था—

नन्दः किमकरोद् ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्।
यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥
(श्रीमद्भा० १०।८।४६)

'ब्रह्मन् ! गोपराज नन्दने ऐसा कौन-सा मङ्गलमय एवं पुण्य कार्य किया था, जिसके परिणामस्वरूप श्रीकृष्णको पुत्ररूपमे प्राप्त किया । महाभागा यशोदाने ही कौन-सा पुण्य-कर्म किया, जिसके फलस्वरूप श्रीहरिने पुत्ररूपमे उनका स्तन पान किया ?'

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ९ । १३)

'जिनका अन्तर नहीं, बाह्य नहीं और पूर्वापर नहीं है, जो जगत्के अन्तर, बाह्य और पूर्वापर सब कुछ हैं तथा जो स्वयं जगत्-स्वरूप हैं, उन्हीं भगवान्को रज्जुद्वारा बाँधते समय माता यशोदाको रज्जुमे दो अङ्गुलकी कमी दीख पड़ी । तब —

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः ।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने ॥
(श्रीमद्भा० १० । ९ । १८)

श्रीकृष्णने जननीको परिश्रान्त देखा, तब वे कृपापरवश हो स्वयं बन्धनमें बँध गये । कुबेरके पुत्र नलकूबर और मणिग्रीवपर, जो शापवश वृक्षके रूपमे खड़े थे, कृपा करके उन्हें वृक्षयोनिसे मुक्त किया । अघासुरका उद्धार करते समय एक सत्त्वमय अनिर्वचनीय ज्योति अघासुरके शरीरसे निकलकर श्रीकृष्णमें विलीन हो गयी—

पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं मह-
ज्ज्योतिः स्वधाम्ना ज्वलयद् दिशो दश ।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीशनिर्गमं
विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३३)

विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीने जब अपनी मायासे व्रज-बालक और धेनु-वत्सका अपहरण कर लिया तो श्रीकृष्णने उसी रूपके बालक और वत्सोंकी सृष्टि कर दी । यह दृश्य देखकर ब्रह्माजी श्रीकृष्णकी पूर्वदृष्ट महिमाका पुनः-पुनः स्मरण करते हुए उठकर श्रीकृष्णके चरणोंमें बारंबार प्रणिपात करने लगे—

उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन् ।
आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ६३)

विश्वस्रष्टा ब्रह्माजीके प्रति श्रीकृष्णकी पूर्ण कृपा थी । जगदीश्वर श्रीकृष्णने कालिय और कालिय-पत्नियोंके प्रति कृपा-प्रदर्शनके पश्चात् दावानलको स्वयं पान करके व्रजवासियोंकी प्राण-रक्षा की—

इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः ।
तमग्निमपिबत्तीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १७ । २५)

मथुराके याज्ञिक ब्राह्मण श्रीकृष्णकी कृपासे वञ्चित हो गये, किंतु ब्राह्मण-पत्नियोंको भगवान्ने आश्वासन देते हुए कहा—

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह ।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥
(श्रीमद्भा० १० । २३ । ३२)

'(आप सब) मुझमे अपने इच्छानुसार मनोनिवेश करके शीघ्र मुझको प्राप्त होंगी ।'

गोवर्धन-पर्वतपर इन्द्रयागका आयोजन हुआ । श्रीकृष्णने यज्ञको भङ्ग करके कृपापूर्वक इन्द्रको आश्वासन देते हुए कहा था—

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता ।
मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २७ । १५)

'इन्द्र ! तुम्हें नित्य-निरन्तर मेरी स्मृति होती रहे, इसी हेतु मैंने तुम्हारे यज्ञको भङ्ग किया है ।'

परमकारुणिक श्रीकृष्ण व्रजवासियोंके आत्मा एवं परम आत्मीय हैं, इसी कारण उन्होंने वरुणलोकसे अपने पिता नन्दजीको लाकर व्रजवासियोंको ब्रह्मसुख और वैकुण्ठवासके आनन्दका अनुभव कराया—

इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको हरिः ।
दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २८ । १४)

नित्यधाम श्रीवृन्दावन सर्वोत्कृष्ट है, यह दिखलानेके लिये ही व्रजवासियोंको वैकुण्ठलोकका दर्शन कराया गया था ।

रासलीलामें व्रजगोपियोंके प्रति भगवत्कृपा परिपूर्ण है । इस कृपाका रहस्य अवर्णनीय है, वाणीके परे है, साधन-साध्य नहीं, कृपासाध्य है । लक्ष्मीजीने जैसे नारायणके वक्षःस्थलपर स्थान प्राप्त किया, वैसे ही व्रजगोपियाँ भगवान्की चरणरजकी शरणापन्न हुई हैं—

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद् वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । ३७)

कृष्णान्वेषणतत्परा व्रजाङ्गनाएँ कालिन्दीके परम रमणीय पुलिन-प्रान्तमें बैठकर सुस्वर विरह-क्रन्दन कर रही थीं, उनके उस करुण-क्रन्दनको सुनकर दयाद्रवित प्रभु, जिन्होंने कटिप्रान्तमें पीताम्बर धारण कर रखा है, गलेमें माल पहन रखी है, जिनका मुखारविन्द मन्द-मन्द मुसकान-युक्त है, जो साक्षात् कामदेवका मन्थन करनेवाले हैं, उनके बीचमें प्रकट हो गये—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥
(श्रीमद्भा० १०।३२।२)

मथुरा-लीलामें भगवान् श्रीकृष्णने कृपापूर्वक रजकके शिरश्छेदके अन्तमें एक भक्त (दरजी) वायकको अपना सारूप्य प्रदान किया—

तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात् सारूप्यमात्मन.।
(श्रीमद्भा० १०।४१।४२)

✓ उसके बाद भक्ति-अभिलाषी सुदामा मालीको अनुगृहीत किया।

देवकीकी अष्टम संतान कंसका वध करेगी—यह आकाश-वाणी हुई थी। इस कारण—

आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम्।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत्॥
(श्रीमद्भा० १०।२।२४)

वैरानुबन्धजनित भयसे कंस उठते-बैठते, सोते-जागते, भोजन-भ्रमण आदि सब अवस्थाओंमें श्रीभगवान्‌का चिन्तन करते-करते समस्त जगत्‌को विष्णुमय देखने लगा। वही कंस कृपानिधान श्रीभगवान्‌के हाथसे सारूप्य-मुक्तिको प्राप्त हुआ—

ददर्श चक्रायुधमग्रतो यत-
स्तदेव रूपं दुरवापमाप॥
(श्रीमद्भा० १०।४४।३९)

परम वैरीके प्रति भी श्रीभगवान्‌की यह कैसी अद्भुत कृपा है!

शिशुपाल बाल्यावस्थासे ही श्रीकृष्णको परम शत्रुके रूपमें देखता था। पृथ्वीको असुरोंसे मुक्त करनेके लिये भगवान्‌ने तीक्ष्ण धारवाले चक्रका प्रयोग करके शिशुपालके शिरको काट डाला—

चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्।
पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता॥
(श्रीमद्भा० १०।७४।४५)

'जैसे आकाशसे गिरी हुई उल्का पृथ्वीमें समा जाती है, वैसे ही सब प्राणियोंके देखते-देखते शिशुपालके शरीरसे एक ज्योति निकलकर भगवान् श्रीकृष्णमें प्रवेश कर गयी।'

द्वारका-लीलामें भगवान् श्रीकृष्णने अपने बाल-सखा सुदामाके प्रति सख्यभाव प्रदर्शित करके उनपर कृपा की थी। माता देवकीने अपने छः मृत पुत्रोंको पुनः प्राप्त करनेकी अभिलाषा की, तत्काल मातृ-शोकद्रवित करुणासिन्धु श्रीकृष्ण-ने अपने भाइयोंको माँ देवकीके समीप उपस्थित कर दिया और वे आनन्दपूर्वक माताका स्तन पान करके पुनः आकाशमार्गसे देवलोक चले गये। इसी प्रकार प्रभुने गुरु सांदीपनि मुनिके मरे हुए पुत्रको पुनः लाकर गुरुपत्नीको गुरुदक्षिणाके रूपमें प्रदान किया था।

विश्वात्म-रूपमें श्रीभगवान्‌ने मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, श्रीराम आदि दिव्य अवतार-शरीर धारण करके वेदोंका उद्धार किया तथा प्रह्लाद, विभीषण आदि प्रमुख भक्तोंके प्रति अपनी अमोघ कृपाका प्रदर्शन किया है। क्षत्रियतनय ध्रुवने कठोर तपस्या-द्वारा भगवान्‌की कृपा प्राप्त कर पृथ्वीका अखण्ड राज्य एवं ध्रुवलोक प्राप्त किया। विराट् जलाशयमें ग्राहके द्वारा आक्रान्त गजराजने भगवान्‌के शरणापन्न होकर प्रार्थना की थी—

उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥

× × ×

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
(श्रीमद्भा० ८।३।३२–३३)

हे जगन्नाथ! हे श्रवणमङ्गल! मुझपर कृपा करके मेरा उद्धार कीजिये। शरणापन्न भक्तकी प्रार्थना सुनते ही परम कारुणिक भगवान्‌ने सुदर्शनचक्रसे ग्राहका संहार करके कृपा-पूर्वक गजेन्द्रकी रक्षा की।

जीवोंके प्रति श्रीभगवान्‌की असीम कृपा है। श्रीमद्भागवत-में इस अशेष कृपाका निदर्शन अनेक स्थलोंपर प्राप्त होता है। हम साधारण जीवोंके लिये तो इसका वर्णन करना भी सम्भव नहीं है। मनुष्यकी दृष्टि और क्षमता सीमाबद्ध है। इसी कारण असीमकी कृपाका वर्णन क्षुद्रातिक्षुद्र मानवके लिये सर्वथा असम्भव है। श्रीभगवान् नित्य, शाश्वत और अनन्त हैं। उनकी कृपाके बिना जीवका कोई अस्तित्व ही नहीं है। हम सभी उनकी कृपाके आश्रित हैं।

अद्वैत वेदान्तमें भगवत्कृपाका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीवैद्यनाथजी अग्निहोत्री)

अद्वैत वेदान्त-सिद्धान्तमें ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, इनका पारस्परिक भेद और सम्बन्ध—ये छः अनादि माने गये हैं। इनमे ईश्वर तो निर्गुण, निराकार, अखण्ड, अनन्त, परिपूर्ण, सर्वोपाधिविवर्जित, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, त्रिकालाबाधित सत्-तत्त्व है तथा शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप समस्त प्राणियोंका आत्मा है, वह सबका नियामक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तियुक्त है और जीव है नियम्य, अल्पज्ञ तथा अल्पशक्तियुक्त। ईश्वर-कृपासे ही जीवका कल्याण होता है।

वेदान्तदर्शन—(परात्तु तच्छ्रुतेः २ । ३ । ४१) में ईश्वर-कृपा कही गयी है। इसके भाष्यमें भगवान् श्रीशंकराचार्यने कहा है—

'तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति'

—उस ईश्वरके अनुग्रहरूप कारणसे ही विज्ञानद्वारा मोक्ष-सिद्धि सम्भव है। जीवद्वारा जैसे कर्म होते हैं, उनके अनुसार ही ईश्वर शुभाशुभ फल देते हैं और कर्मफल देना ही उनकी कृपा है।

इसपर कुछ लोग आक्षेप करते हैं—'यदि ईश्वर कर्मफल-प्रदाता हैं तो इसमे उनकी क्या कृपा हुई। यह तो उनका कर्तव्य ही है। वे कर्मफल न दें, यह सम्भव नहीं; क्योंकि फिर ईश्वरका नियामकत्व तथा ईश्वरत्व ही समाप्त हो जायगा। अतः कर्मफल देना कर्तव्य है, कृपा नहीं।' इसका उत्तर है कि ईश्वरपर किसीका शासन नहीं है—न जीवका और न किसी अन्य शक्तिका। वे परतन्त्र नहीं हैं; प्रत्युत अपनी स्वतन्त्रशक्ति-द्वारा स्वयं शासन करते हैं, कर्मानुसार न्याय प्रदान करते हैं। उन ईश्वरके न्यायमे कृपा ओत-प्रोत है; क्योंकि ईश्वरमें न किसी प्रकारका पक्षपात है, न स्वार्थ है न विषमता। जीवोंकी स्वाभाविक हितैषितासे पाप-कर्मका फल देकर उनको शुद्ध करना और आगेसे पुनः पापमें प्रवृत्त न हों, ऐसी चेतावनी देना उनकी परम कृपालुता है। इसी प्रकार शुभकर्मोंका फल सुख देकर पुण्य-कर्म-बन्धनसे छुड़ाना तथा निष्कामभावसे शुभकर्म करनेकी प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान करना भी उनकी कृपाका एक उदाहरण है। उनकी महती कृपाका द्योतक है।

भोग तथा मोक्ष प्रदान करनेके लिये जगद्रचना करना भी ईश्वर-कृपा है। इससे भी अधिक कृपा है ज्ञान-प्रदाता वेदकी अभिव्यक्तिमें। वेदरूपसे स्वयं ईश्वर ही व्यक्त हैं। यह किसी जीवके कर्मफलका परिणाम नहीं है। यदि ज्ञानप्रदाता वेद न होते तो सम्भवतः जीवोंको परमानन्दस्वरूप मोक्षकी कल्पना भी न होती। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्'में कहा गया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(६ । १८)

'जिन्होंने सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माजीको उत्पन्न किया और जो उनके लिये (जिनके द्वारा परमेश्वरविषयिणी बुद्धि उत्पन्न होती है) वेदोंका ज्ञान प्रदान करते हैं। अपनी बुद्धिको प्रकाशित करनेवाले उन देवकी मैं मुमुक्षु शरण लेता हूँ।'

भगवत्कृपाके दो हेतु होते हैं—साधन-सापेक्ष और साधन-निरपेक्ष। भगवत्कृपाका स्वरूप है—भगवान्‌की प्रसन्नता और फल है—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षकी सिद्धि। जैसे सद्गुरुसेवा तथा परिप्रश्न आदि साधनोंद्वारा गुरुकी प्रसन्नता प्राप्त करना साधन-सापेक्ष गुरुकृपा है और बिना साधनके गुरु-प्रसन्नता साधन-निरपेक्ष गुरुकृपा होती है; वैसे ही कर्म, तप, ध्यान, भक्ति आदिद्वारा जो भगवत्कृपा होती है, वह साधन-सापेक्ष कहलाती है और जब स्वयं भगवान् अकारण ही प्रसन्न होते हैं, तब वह साधन-निरपेक्ष कही जाती है।

निरपेक्ष भगवत्कृपामें 'केनोपनिषद्'की आख्यायिका प्रमाण है। देवासुर-संग्राममे देवोंकी विजय ईश्वरकृपामूलक ही थी, किंतु देवताओंने ऐसा न समझकर स्वयंको ही विजयका हेतु समझ लिया। मिथ्याभिमानसे छुटकारा दिलानेके लिये परम कृपालु प्रभुने विचित्र रूप धारण किया। देवोंके समीप ही आकाश-मण्डलमें परम तेजस्वी यक्षके रूपमें उनका आविर्भाव हुआ। उन्हें देखकर कुछ देवगण चकित और कुछ भयभीत हो गये। परिचय प्राप्त करनेके लिये अग्निदेव उनके समीप गये। बलाभिमान-भङ्ग करनेके लिये ईश्वरने उनके समक्ष एक लघु तृण रखा और कहा—'इसे जलाओ'। किंतु पूर्ण शक्ति लगा देनेपर भी अग्निदेव तृण न जला सके। फिर वायुदेव गये, उनके सम्मुख भी तृणको रखकर कहा—'इसे

श्रीरामानुज-दर्शनमें भगवत्कृपा

(लेखक—प्रो० न० वी० राजगोपालन, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, उभयवेदान्त-आचार्य)

भगवान् अनन्त दिव्य गुणोंके आगार हैं। श्रुतियोंमें परब्रह्मके रूपमें प्रतिपादित चिन्मय सत्ता 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कही गयी है अर्थात् उसे सत्यत्व-ज्ञानत्व-अनन्तत्व-गुणोंसे परिपूर्ण बताया गया है, साथ ही अज, अनादि, अव्यय, ध्रुव, अचल, कूटस्थ, नित्य, शाश्वत, शान्त आदि अनेक विशेषणोंद्वारा परब्रह्मके स्वरूपगत असंख्य कल्याण-गुणोंका संकेत किया गया है। इन गुणोंको दो वर्गोंमें रखा जा सकता है—एक वे गुण हैं, जो भगवान्के स्वरूपनिरूपक धर्म कहे जाते हैं। ये गुण केवल भगवान्में होते हैं, ये उनके असाधारण लक्षण हैं। दूसरे प्रकारके गुण वे हैं, जो निरूपित-स्वरूप-विशेषण कहलाते हैं, ये गुण भगवान्के स्वरूपकी विशेषताओंका संकेत करते हैं, किंतु असाधारण नहीं हैं। वेदोक्त गुणोंका विस्तृत विवेचन स्मृति-पुराण तथा इतिहासमें मिलता है। 'भगवत्' शब्दगत 'भग'की व्याख्या करते हुए विष्णुपुराणमें कहा गया है कि अनन्त ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—ये 'भग'के वाचक हैं।

भगवान्में उपर्युक्त छः गुण सदा विद्यमान रहते हैं, इनसे ही समस्त सृष्टिका सर्जन, रक्षण तथा प्रलय-कार्यका संचालन होता है। भगवान्की भगवत्ता इन षड्गुणोंकी निरवधिक तथा निरतिशायी स्थितिसे अभिव्यक्त है। श्री या लक्ष्मी सृष्टि-स्थिति-लयकी इस लीलामें सहचारिणी तथा नित्यानपायिनी होकर भगवान्के साथ नित्य-निरन्तर तादात्म्य प्राप्त किये रहती हैं; अतएव भगवान्का सर्वातिशायी असाधारण धर्म 'श्रियः पतिस्त्वम्' कहा गया है। श्रीके नित्ययोगसे ही भगवान्की लीलामें कृपाका संस्पर्श उत्पन्न होता है।

भगवान्की अनन्त शक्ति जीवके निग्रह और अनुग्रह—दोनोंमें समान रूपसे कार्यरत रहती है। जीवोंके पापोंके लिये उन्हें दण्ड देना, पुण्योंके लिये सुख देना—दोनों क्रमशः निग्रह और अनुग्रहके कार्य हैं।

अनादि कर्मबन्धनमें आबद्ध जीव अपने कर्मफलको भोगता हुआ कालचक्रमें फँसा पुनःपुनः जन्म-मरणको प्राप्त होता रहता है। ऐसी स्थितिमें जीवकी मुक्तिका क्या उपाय है? श्रीरामानुज-दर्शनके अनुसार अनादि कर्म-प्रवाहमें निमग्न जीवके निस्तारके उपाय हैं—भक्ति और प्रपत्ति। ये दोनों मोक्षके साक्षात् उपाय हैं।

वस्तुतः भक्ति और प्रपत्ति भी जीवको भगवान्के प्रति अभिमुख करनेके साधनमात्र हैं। भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे ही जीवको मुक्त कर देते हैं। अतएव जीवकी दृष्टिसे भगवान्के अनन्त कल्याण-गुणोंमें इस अहैतुकी कृपाका परमोत्कृष्ट स्थान है।

भगवान् सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी होनेके साथ-साथ अनन्त कृपाके सागर हैं, वे सहज-करुणापूर्ण हैं। जगन्माता लक्ष्मीदेवीके निरन्तर सांनिध्यके प्रभावसे जीवके प्रति भगवान्का निग्रह-संकल्प शान्त होकर अनुग्रह-संकल्प जाग्रत् रहता है। इसीलिये जीवकी प्रथम शरणागति लक्ष्मीके प्रति होती है। माता लक्ष्मी केवल वात्सल्यमयी हैं। शरणागत जीवके प्रति वात्सल्यसे परिपूर्ण श्रीदेवी जीवके उद्धारके लिये भगवान्को प्रेरित करती हैं और अनन्त करुणामय, सहज सुहृद् भगवान्की सतत कृपासे जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

श्रीरामानुज-दर्शनमें शरणागतिको अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। शरणागतिको ही प्रपत्ति, भरन्यास, भरसमर्पण, न्यास आदि नामोंसे अभिहित करते हैं। इस शरणागतिके लिये प्रत्येक जीव अधिकारी है।

श्रीरामानुजदर्शनके अनुसार भगवान्को सिद्धोपाय कहा जाता है; क्योंकि वे स्वयं मोक्षका उपाय बने रहते हैं और स्वयं उपेय (मोक्षकी स्थितिमें प्राप्य) भी। भक्ति और प्रपत्ति साध्योपाय कहलाते हैं। सिद्धोपायभूत भगवान्में जीवके उद्धारकी दृष्टिसे जो सर्वोत्कृष्ट गुण कार्यकर होता है, वह है उनकी कृपा। इस कृपाकी महिमाका वर्णन श्रीरामानुज-दर्शनके अनुयायी आचार्यों तथा भक्तों एवं श्रीरामानुजके पूर्व तमिल प्रदेशमें अवतीर्ण आल्वार संतोंने बहुधा किया है। आजसे सात सौ वर्ष पूर्व श्रीवेदान्तदेशिकने अपने एक प्रसिद्ध स्तोत्रमें श्रीवेंकटाचलकी महिमाका अत्यन्त मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है।

श्रीवेदान्तदेशिकने कहा है कि मैं स्वयं ही सर्वेश्वर बनी हुई दया देवीको अपनी शरण्य प्रमाणित कर रहा हूँ, भगवान्के शक्ति आदि गुण जिनके अनुचर बनकर रहते हैं, जिनके सकाशसे ज्ञानरूप भगवद्गुणप्रकाश फैलाता है और भगवान् श्रीनिवास जिनके अधीन हैं—

> अनुचरशक्त्यादिगुणामग्रेसरबोधविरचितालोकाम्।
> स्वाधीनवृषगिरीशां स्वयं प्रभूतां प्रमाणयामि दयाम्॥
> (दयाशतक ११)

विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय अथवा श्रीरामानुजदर्शनमे भगवत्-कृपा-पिपासु शेष (जीवात्मा) की शेषी (भगवान् श्रीपति लक्ष्मीनारायण)के प्रति पूर्ण प्रपत्ति है।

श्रीविष्णुस्वामि-मतमें भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीवैष्णवपीठाधीश्वर श्रीविठ्ठलेशजी महाराज)

पूर्वकालमें भारतवर्ष विद्या, बुद्धि एवं भक्तिसे सम्पन्न तथा सर्वगुणोंका आकर था। यह सर्वदा भव्य-भावनाओंका प्रेरक रहा है। मानवीय मानसिक चेष्टाओंका संतुलन बनाये रखना, शारीरिक क्रियाओंको परहितार्थ गतिशील करते रहना और सामाजिक गतिविधिका शुद्ध संचार करना भारतकी अपनी विशिष्ट परम्परा रही है। यहाँ अहित, स्वार्थ और विनाशकी अपेक्षा हित, परमार्थ और कल्याण-कामनासे ओत-प्रोत होकर जीवन-उत्सर्ग करना ही मानव-जीवनका प्रधान उद्देश्य माना गया है। भारतके धार्मिक इतिहासमें वैष्णव-धर्मका उदय और संवर्धन महत्त्वपूर्ण घटना है। इस धर्मके सर्वोपरि उपास्यदेव भगवान् विष्णुका महत्त्व अत्यन्त प्राचीन-कालमें ही स्थापित हो गया था। पुरातनकालसे आधुनिक कालतक वासुदेव, नारायण, राम, कृष्णादि विभिन्न नाम-रूपोंसे श्रीमहाविष्णुकी उपासना होती रही है।

महर्षि वेदव्यास, शुकमुनिप्रभृति ऋषियोंकी तपोभूमि उत्तराखण्डमें थी, वहींसे आद्य वैष्णवाचार्य-प्रवर विष्णुस्वामीने वैष्णवधर्म-प्रचारार्थ दक्षिणखण्डकी ओर प्रस्थान किया था। शास्त्रोंके अध्ययनसे श्रीविष्णुस्वामीका चित्त शान्त और बुद्धि पवित्र हो गयी थी। उन्हें परमात्माके सत्य स्वरूपका ज्ञान हो गया था। उनकी इच्छा थी कि सर्वमान्य वैष्णव-धर्मका प्रचार हो। उन्होंने घोषणा की कि विष्णुपूजा और भक्तिसे ही मुक्ति मिल सकती है। गर्गसंहिता, अश्वमेधखण्ड, ६१वें अध्यायके २४वें श्लोकमें श्रीविष्णुस्वामीको वामनांश बतलाया गया है—'विष्णुस्वामी वामनांशः।' उनका समय विक्रम संवत्सरके प्रारम्भमें ही निश्चित किया गया है। नाभादासजीके भक्तमालसे पता चलता है कि श्रीविष्णुस्वामीके सम्प्रदायमें ही ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन आदि संत थे। वे इतने प्राचीन हैं कि उनकी परम्परा अब अति क्षीण दशामें उपलब्ध होती है। उन्होंने ब्रह्मसूत्रोंपर 'सर्वज्ञसूत्र' नामक भाष्यकी रचना की थी। श्रीविष्णुस्वामीजीको विकृत परिणामवाद या शुद्धाद्वैत सिद्धान्त मान्य है।

'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' (गीता १६।५)—इस भगवद्वाक्य-के अनुसार जब भागवती दैवी-सृष्टि कलियुगमे युगधर्मके वातावरणसे दूषित हो मोक्षके अयोग्य हो जाती है, तब भगवान् विष्णु अंशरूपसे या अंशयुक्त स्वयमेव अपने स्वरूपको प्रकट करते हैं। उस प्रकटित स्वरूपका आश्रय लेकर उनसे उपदेशादि पाकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं स्त्री—सभी भक्तिपथपर आरूढ होते हैं—

> यदा भागवती सृष्टिः कलौ भवति वै तदा।
> अंशेन भगवान् विष्णुः स्वात्मानं सृजति स्वयम्॥
> तमाश्रित्य जनाः सर्वे भक्तिभाजो भवन्ति हि॥

अतएव कलिकालसे आक्रान्त भूमण्डलको पवित्र करनेवाले चार सम्प्रदायोंके वैष्णवाचार्योंका उल्लेख भी पद्मपुराणमें मिलता है। उनमेंसे एक रुद्र-सम्प्रदाय-प्रवर्तक वैष्णवाचार्यप्रवर श्रीविष्णुस्वामी हुए थे। श्रीविष्णुस्वामीका सिद्धान्त पुराणमूर्धन्य श्रीमद्भागवत महापुराण (१।७।५-६)-की व्याख्याके प्रसङ्गमें उद्धृत तीन श्लोकोंसे ज्ञात होता है—'तदुक्तं विष्णुस्वामिना'। इस गद्यांशसे उसमें ईश्वर, जीव, माया और भक्ति—ये पदार्थचतुष्टय स्पष्टतया प्रतिपादित हैं। उसका सारांश इस प्रकार है—

> ह्लादिन्या संविदाऽऽश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः।
> स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः॥
> स ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयार्दितः।
> स्वाविर्भूतपरानन्दः स्वाविर्भूतसुदुःखभूः।
> स्वादृगुत्थविपर्यासभवभेदजभीशुचः।
> यन्मायया जुषन्नास्ते तमिमं नृहरिं नुमः॥
> (विष्णुस्वामिकारिका)

अर्थात् जो ह्लादिनी, संविनी, संवित्—इन भेदोंसे भगवान्‌की कान्तिमती चिच्छक्ति श्रीराधाजीसे सदा आलिङ्गित रहते हैं, वे ही परमात्मा श्रीकृष्ण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् आदि रूपोंमें श्रुतियोंद्वारा निरूपित हैं। वे ही परमकारुणिक भगवान् भक्तवात्सल्यवश राधा-माधव—दो प्रकारके रूपधारी हुए हैं। रसके सागर राधा-कृष्ण दोनों एक ही स्वरूपसे दो रूप हुए हैं। उनके चरित्र पढने-सुननेसे प्राणी उनके शुद्ध धामको प्राप्त होता है। (ऐसा राधातापन्युपनिषद् १२में उल्लेख है।) 'सामरहस्य'के लक्ष्मीनारायण-संवादमे कहा गया है कि वे अनादि पुरुष एक ही हैं, लीलार्थ अपने

रूपको दो प्रकारसे प्रकाशित करके सभी रसोंको ग्रहण करते हैं। स्वयं ही नायिकारूपसे आराधनामें तत्पर होते हैं; इसी कारण श्रीराधाको वेदवित्—रसिकोंको आनन्द देनेवाली कहा गया है तथा वे 'ह्लादिनी'-संज्ञाको प्राप्त हुई हैं। वे अभिन्नरूपा हैं। उनके स्वामी सच्चिदानन्दमय हैं। उनके सदंशसे जगत् (जड), चिदंशसे जीव (चेतन) और आनन्दांशसे कूटस्थ (अन्तर्यामी) कार्यवश भेदाश्रित हैं। उनमेंसे जगत् आनन्दरहित है, जीव गुप्तानन्द है तथा कूटस्थ पूर्णानन्द है। इस रहस्यका अनुभव भगवत्कृपासे ही हो सकता है।

पूर्णानन्दघनीभूतो गोपवेषधरो हरिः।

(गोपालसहस्रनाम ३५)

अज्ञान स्वरूपा क्लेश-समूहोंकी खान है, वह माया जिसके अधीन रहती है, वे ईश्वर हैं। ईश्वरमें परानन्दका आविर्भाव है, जीवोंमें आत्यन्तिक दुःखोंका उद्भव है। अपने स्वरूपका साक्षात्कार न होनेसे उत्पन्न हुए विपर्यास देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि अनात्म-वस्तुओंमें आत्मबुद्धि होनेके कारण उत्पन्न भेदबुद्धिद्वारा भय, शोक आदिको जन्म देते हैं। 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' (बृह० उप १।४।२) 'अनीशया शोचति मुह्यमानः' (मुण्डक० ३।१।२) आदि श्रुतियोंके अनुसार भेदभाव होनेसे भय-शोकग्रस्त होना सिद्ध है। उस भेदभावरूप अनर्थको समूल नष्ट करनेवाली परमौषधि भक्ति-रसायन है, जो जन्म-मरणकी कारण सांसारिक वासनाको बेरोक-टोक उड़ा देती है। उस भक्तिको प्राप्त करनेका पहला साधन वर्णाश्रम-धर्मका अनुष्ठान है, जिसके फलस्वरूप भगवत्कृपोदय होकर महापुरुषोंका सङ्ग प्राप्त होता है, पुनः उनकी सेवा करनेसे भगवद्धर्मोंमें श्रद्धा होती है, तदनन्तर भगवत्कथा सुननेकी इच्छा होती है। कथा-श्रवणसे उसमें रुचिरूपा भक्ति प्रस्फुरित होती है। रुचिपूर्वक कथा-श्रवण करनेसे भगवान्का परोक्ष ज्ञान और विषयोंसे वैराग्य होता है। तब मनन एवं निदिध्यासन-द्वारा प्रेमप्रवाहरूपा भक्तिका उदय होता है, यह भगवत्कृपाका ही फल है। श्रीविष्णुस्वामीका यही सिद्धान्त है। श्रीवेदव्यासजीने भी समाधिद्वारा चार पदार्थ देखे हैं—ईश्वर, जीव, माया एवं भक्ति। इसकी सम्पुष्टि श्रीमद्भागवत-में स्पष्ट है। प्रयस तत्त्व करने, न करने तथा अन्यथा करनेमें समर्थ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वप्रकाशक, सर्वनियन्ता तथा सर्वालौकिकगुणसम्पन्न परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। उनका अंश ही जीव है—

'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति।'

(श्रीमद्भा० ३।२९।३४)

भगवान् एक हैं, जब उन्हें क्रीड़ाकी इच्छा हुई, तब वे ही बहुरूप हो गये। यही हैं इनका जीवरूप; परंतु जीव और ईश्वरका व्यवहार-दशामें भेद तथा परमार्थ-दशामें अभेद है। वही जीव कर्मवश तीन श्रेणियोंमें विभक्त होता है—उत्तम, मध्यम, अधम। उत्तम जीव वे कहलाते हैं, जिनकी अविद्या भगवत्कृपासे तत्त्वज्ञानद्वारा निवृत्त हो गयी है, जिन्हें अहंता-ममता नहीं सताती अर्थात् देह-गेहादिमें जिनकी अहमात्मिका बुद्धि नहीं तथा स्थावर-जङ्गम सब कुछ भगवान् ही हैं, ऐसी बुद्धि होती है। मध्यम श्रेणीका जीव वह है, जो शास्त्रीय संस्कारवान् होकर भी तथा देहसे पृथक् आत्म-तत्त्वका ज्ञान रहते हुए भी 'ममायम्'—ऐसी बुद्धि करता है। तीसरे निकृष्ट श्रेणीके जीव वे हैं, जिनकी देहमें अहंबुद्धि है तथा जिन्हें आत्मतत्त्वका थोड़ा भी ज्ञान नहीं है।

यद्यपि श्रुतियोंमें ज्ञानिजनोंकी ही मुक्ति प्रतिपादित है, तथापि अन्तर्ज्ञान न रहनेपर भी भगवत्कृपासे मुक्ति हो सकती है, क्योंकि भगवान् देश, काल, वस्तुकी परिच्छिन्नतासे रहित हैं। 'ये जीव मेरे निकट आयें, मायाको पारकर मेरे तत्त्वको पहचानें'—भगवान्के द्वारा इस प्रकारका चिन्तन ही भगवत्कृपा कहलाती है। जो निष्कपटभावसे फलेच्छारहित होकर अर्थात् निष्कामभावसे परमदयालु भगवान्के चरणकमलोंका एकाग्र मनसे आश्रय ग्रहण करते हैं तथा जिनकी श्रृगाल-भक्ष्य देहमें अहं-ममरूपा बुद्धि नहीं होती, वे भगवत्कृपासे अनायास ही मायाके पार हो जाते हैं। भाव यह है कि जो निष्कपटभावसे अपना सर्वस्व और अपने-आपको भी उनके चरणकमलोंमें न्योछावर कर देते हैं, उनपर भगवान् स्वयं अपनी ओरसे दया करते हैं और वे दुस्तर संसार-सागरसे तर जाते हैं। भगवदाश्रित जीव ही निर्मम, निरहंकारी एवं निश्चल मनवाले हो पाते हैं। अतः सर्वभावसे भगवत्प्राप्तिका साधन करना चाहिये। श्रीविष्णुस्वामीके मतानुसार दैन्य बिना भगवत्कृपा दुर्लभ है।

श्रीवल्लभसम्प्रदाय (पुष्टिमार्ग)में भगवत्कृपा

(लेखक—डॉ० श्रीधर्मनारायणजी ओझा)

भगवत्कृपा वैष्णव-भक्ति-भावनाका मेरुदण्ड है। श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य एवं महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने अपने-अपने सिद्धान्तनिरूपण-क्रममें एकमात्र भगवत्कृपापर ही सर्वाधिक बल दिया है।

श्रीवल्लभाचार्यद्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्गमें तो एकमात्र भगवत्कृपा ही साधन एवं साध्य रूपमें गृहीत है। वल्लभीय-भक्तिमें 'पुष्टि' अथवा 'अनुग्रह'की प्रधानता होनेके कारण ही श्रीवल्लभाचार्यद्वारा प्रवर्तित मार्ग 'पुष्टिमार्ग', 'अनुग्रहमार्ग' अथवा 'शरणमार्ग' कहलाता है। श्रीमद्भागवतपुराणमें 'पोषणं तदनुग्रहः' (२ । १० । ४) यह सूत्र-वाक्य उपलब्ध होता है। यही सूत्र पुष्टिमार्गका केन्द्र-विन्दु है। 'तत्त्वार्थ-दीप-निबन्ध'के भागवतार्थ-प्रकरण (६ । २)में श्रीवल्लभाचार्य प्रभुने इस सूत्रका स्पष्टीकरण करते हुए परम कारुणिक रसस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके अनुग्रहको ही 'पुष्टि' कहा है[1]।

'अनुग्रह'का सामान्य अर्थ 'कृपा' समझा जाता है, परंतु सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर अनुग्रह एवं कृपाके भावमें एक विशेष अन्तर लक्षित होता है—भगवान् स्वयं प्रमेय बलसे निस्साधन भक्तपर अयाचित स्थितिमें भी 'अनुग्रह' करते हैं[2]। अनुग्रह भगवान् स्वयं करते हैं अर्थात् अनुग्रहका हेतु भक्तका साधन न होकर एकमेव भगवदिच्छा ही होती है। इस प्रकार 'अनुग्रह' अयाचित अहैतुकी भगवत्कृपा है, जब कि कृपा-प्राप्तिहेतु भक्तके मनमें साधनकी अपेक्षा रहती है तथा अपने आराध्यदेवकी अर्चनाके उपरान्त भक्त पुनः पुनः कृपाकी याचना करता है।

श्रीवल्लभाचार्यके मतानुसार भगवदनुग्रह ही एकमात्र प्रार्थनीय वस्तु है। प्रभुके अहैतुक अनुग्रहसे ही भक्तके हृदयमें भगवत्स्फुरण होकर भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। भक्त स्वयंको भगवान्‌का तुच्छ सेवक समझकर भगवदनुग्रहसे ही अपना सर्वस्व सर्वतोभावेन प्रभु-चरणोंमें समर्पित कर पाता है। इस सर्वस्वसमर्पणका अभिप्राय भी भगवदनुग्रहकी प्राप्ति करना ही है। यह सर्वतोभावेन आत्मनिवेदन ही पुष्टिमार्गका आधार-स्तम्भ है। प्रथम तो भगवत्कृपा-दृष्टि होनेपर ही जीव इस मार्गमें प्रवेश पाते हैं अर्थात् इस मार्गके अनुयायी बन सकते हैं। मध्यमें विशेष भगवत्कृपासे ही सेवा-स्मरणादि साधनोंद्वारा इस मार्गमें सुदृढ़ स्थिति कर सकते हैं और अन्तमें भी उन महान् करुणावरुणालय भगवान्‌के कृपा-उत्कर्षसे ही उनके स्वरूपानन्दका अनुभव कर कृतकृत्य होते हैं। इस प्रकार अथसे इतितक निरन्तर भगवत्कृपाका व्यवहार-व्यापार चलता रहता है।

पुष्टिमार्गमें भगवत्कृपा, अनुग्रह, पोषण एवं पुष्टि समानार्थक शब्दोंके रूपमें प्रयुक्त होते हैं। श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार मार्ग दो प्रकारके हैं—मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग। मर्यादामार्ग वैदिक मार्ग है, जिसमें लोक-मर्यादाकी रक्षा प्रधान लक्ष्य है। मर्यादामार्गका मूल मन्त्र है—'कर्मानुरूपं फलम्'। जीव जैसा कर्म करता है, भगवान् उसे वैसा ही फल देते हैं। मर्यादामार्गका स्पष्टीकरण करते हुए श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं—

'फलदाने कर्मापेक्षः। कर्मकारणे प्रयत्नापेक्षः। प्रयत्ने कामापेक्षः। कामे प्रवाहापेक्ष इति मर्यादारक्षार्थं वेदं चकार। ततो न ब्रह्मणि दोषगन्धोऽपि। न चानीश्वरत्वम्। मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्[3]।

अर्थात् मर्यादामार्गका चरम पुरुषार्थ मोक्ष-प्राप्ति है, परंतु यह फल शास्त्रविहित कर्म और ज्ञानके आचरणसे ही मिलता है। मर्यादामार्गीय शास्त्रविहित स्वकीय आश्रम-धर्म-कर्मादिका विधिवत् निष्पादन कर ज्ञानके द्वारा दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति पानेमें समर्थ होता है। पुष्टिमार्ग इससे नितान्त विलक्षण है; क्योंकि वैदिकधर्म विधि-निषेधात्मक है और पुष्टिमार्ग स्नेहात्मक है। श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्‌ने कहा है—'मैं स्नेहसे ही साध्य हूँ, कृतिसे नहीं[4]।'

---

1. 'कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः ।'—(तत्त्वार्थदीप निबन्ध भागवतार्थ प्र० ६ । २)
2. '[illegible] प्रमेयबलेनैव [illegible] न प्रमाणबलम्'। (सुबोधिनी १० । ८४ । २३)
3. ([illegible] ११ । ४६)
4. '[illegible] कृतिभिः'। (सुबोधिनी १० । [illegible] । [illegible])

विधि और स्नेहमें स्नेह बलिष्ठ है । इसीसे श्रीवल्लभाचार्यने पुष्टिमार्गको सर्वोत्कृष्ट बताया है। इस मार्गके अनुसार भगवत्प्राप्ति-किसी साधनका फल, नहीं, प्रत्युत प्रभुके अहैतुक स्नेहका परिणाम है इस मार्गका प्रधान साधन है—प्रपत्ति । बिना भगवान्के शरणागत हुए चरम फलप्राप्ति नहीं होती और शरणागतिकी पूर्णता भी आनन्दकन्द रसेश श्रीकृष्णचन्द्रकी कृपासे ही साध्य है । व्यावहारिक दृष्टिसे भी यह तथ्य सत्य प्रतीत होता है । जब जागतिक प्रपञ्चात्मक कार्य भी भगवत्कृपाके बिना पूर्ण नहीं होते, तब भक्ति-जैसे परम पुरुषार्थकी सिद्धि भगवत्कृपा बिना सुतरां अति दुष्कर ही नहीं, असम्भव भी है। श्रीवल्लभाचार्यने इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए अणुभाष्य (४ । ४ । ९)में कहा है—

'पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद्विलक्षणः ।'

'पुष्टि-भक्ति एकमेव अनुग्रह या कृपाके द्वारा ही साध्य है। इसकी सिद्धिका अन्य मार्ग है ही नहीं । इसलिये यह प्रमाणमार्ग (मर्यादामार्ग)से विलक्षण है ।'

तथा—

समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि ।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥

(प्रमेयरत्नार्णव ४ । १९)

'जिस मार्गमे भक्त समग्र विषयोंको सर्वथा त्यागकर अपनी देह, वासना, कामना आदि सब कुछ भगवान्मे समर्पित कर देता है, वही पुष्टिमार्ग है ।'

केवल साधनकी दृष्टिसे ही नहीं, अपितु साध्यदृष्टिसे भी श्रीवल्लभाचार्यने भगवत्कृपाको ही महत्ता प्रदान की है । मर्यादामार्गमे सायुज्यादि मोक्ष साध्य हैं, जबकि पुष्टिमार्गमे सर्वात्मना आत्मसमर्पण तथा विप्रयोग रसात्मिका प्रीतिकी सहायतासे आनन्दधाम साक्षात् भगवान्के प्रेमामृतका पान ही मुख्य फल माना गया है । गोस्वामी श्रीहरिरायजीने पुष्टिमार्गकी विशिष्टता बताते हुए कहा है—

अनुग्रहेणैव सिद्धिर्लौकिकी यत्र वैदिकी ।
न यत्नादन्यथा विघ्नः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥

(प्रमेयरत्नार्णव ४ । २)

'जिस मार्गमे भगवदनुग्रहसे ही लौकिकी और वैदिकी सिद्धि प्राप्त होती है, किसी यत्नसे नहीं, उसे पुष्टिमार्ग कहते हैं ।'

श्रेयःसमधिगतिका तृतीय मुख्य साधन भक्ति है । यह प्रेम-प्रधान भक्ति साधनरूपा भी है और साध्य अर्थात् फलरूपा भी । साधन और साध्यरूपमें स्वरूपात्मक भिन्नता नहीं है, अपितु एक ही क्रियाकी दो परिणतियाँ हैं—प्रथम कक्षामे वह साधन है और द्वितीय कक्षामें फल । श्रीमद्भागवत (११ । ३ । ३१)मे इसका उल्लेख इस प्रकार आया है—'भक्त्या संजातया भक्त्या ।' श्रीवल्लभाचार्यने स्वकीय ग्रन्थोंमे स्थान-स्थानपर प्रमाणसे यह प्रतिपादित किया है कि इदमित्थंतया अप्रतिपाद्य, साधनोंके द्वारा अप्राप्य परंतु स्वयं प्रमेयबल अर्थात् अनुग्रहसे उपलब्ध हो जानेवाले प्रभु ही सर्वस्व हैं, उनकी अनुग्रहात्मिका पुष्टि-भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। एकमात्र सच्चिदानन्दघन रसरूप रसेश श्रीकृष्णचन्द्र ही पूर्ण-फलदानमे समर्थ हैं ।

साध्यरूपा स्वतन्त्र भक्ति, जिसे साध्य भक्ति अथवा अनुग्रह भी कहते हैं, विरहतापरूपा है । इस भावकी प्राप्ति अतिशय दुर्लभ है । यह पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रके वदनारविन्दकी शोभासे प्राप्त होती है । यह भगवत्कृपैकसाध्य है, इसे केवल श्रीगोपिकाजनोंने ही प्राप्त किया था । इस भक्तिमे शब्द-विचारसे मूल 'भज्' धातु (प्रकृति)का अर्थ सेवा और 'क्तिन्' प्रत्ययका अर्थ प्रेम है । इसमे माहात्म्य-ज्ञान होनेपर भी अभेद-बोध होता है । **'मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम्'**[5] और **'गतिस्मितप्रेक्षण-भाषणादिषु'**[6] आदि गोपीजनोंके कथा-प्रसङ्गमे इसका स्पष्ट निर्देश मिलता है। इसमे अहंभावकी स्थिति नहीं रहती । उसी प्रकृति-प्रत्ययार्थके रहनेपर भी इस साध्य भक्तिमे मानसी सेवा-भावनाका वैलक्षण्य रहता है । पतिके प्रति पत्नीके सर्वात्मभाव-समर्पणकी स्थिति इसका मुख्य रूप है । सायुज्य-प्राप्तिके पश्चात् भी 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।' (तैत्ति० २ । १ । १)—इस श्रुतिके अनुसार इसमे सर्वकामाशनरूप रसास्वाद होता है, जिसमे भक्तके देह, प्राण, इन्द्रिय आदि सभीकी ब्रह्मभावस्फूर्ति मुख्य कारण होती है । इसमे किसी प्रकारकी कामभावना न होनेसे यह किसी प्रयोजनको सिद्ध नहीं करती, अतः साधनरूप न होकर साध्यरूपा और फलरूपा गिनी जाती है । इसकी उद्भूतिके लिये ही साधन-भक्तिमें तनुजा, वित्तजा सेवाका उल्लेख कर 'मानसी

५. श्रीमद्भागवत (१० । २९ । ३१)
६. श्रीमद्भागवत (१० । ३० । २)

सा परा मता' (सिद्धान्तमुक्तावली १) कहकर आचार्य श्रीवल्लभने इसकी विलक्षणताका दर्शन कराया है। गूढ प्रेमपूर्ण रतिभाव ही पुष्टि-अनुग्रहकी मुख्य वस्तु है, जिसके लिये कहा गया है—

'भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते ।'

(संन्यासनिर्णय ८)

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय—ये परब्रह्म पुरुषोत्तमकी दशविध लीलाएँ हैं। श्रीमद्भागवतमें इनका अलौकिक रीतिसे निरूपण किया गया है। लोकमें पुष्टि या पोषण शब्दकी प्रसिद्धि नहीं है, पर अनुग्रह शब्द प्रसिद्ध है। इन तीनोंका तात्पर्य एक है—भगवत्कृपा। भगवत्कृपा देश, काल, कर्म, स्वाभावादिसे अतीत है—

'कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका ।'

(त० दी० नि० भागवतार्थप्रकरण ६ । २)

इस कारिकामें आचार्य श्रीवल्लभने भागवतोक्त पुष्टि-लक्षणको 'कालादिबाधिका' विशेषणसे अभिहित किया है। इस विशेषणने अनुग्रहको एक वैशिष्ट्य प्रदान कर दिया है। इसके अनुसार अनुग्रह अथवा भगवत्कृपा कालादिकी बाधक है। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इस श्लोकानुसार वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् पूर्णब्रह्म हैं, कालादिसे परे हैं; अतः स्वाभाविक ही उनके द्वारा की जानेवाली कृपा भी कालादिसे परे है। अतः इस कलिकालमें जीवके बन्धनमुक्त होनेका एकमात्र हेतु यह अलौकिकी भगवत्कृपा ही है; क्योंकि अन्य साधन तभी सफल होते हैं, जब देश, काल, मन्त्र, द्रव्य आदि पूर्ण शुद्ध हों। इस घोर कलिकालमें ऐसा होना सर्वथा असम्भव-सा ही है। लोकमें चाण्डालीके पास राजरानी होनेके मर्यादा-प्रवाह-मार्गीय साधन नहीं हैं, परंतु राजा चाहे तो कृपा करके चाण्डालीको पट्टमहिषी भी बना सकता है। मर्यादानुसार अपराधीको दण्डित होना पड़ता है, परंतु सर्वोच्च न्यायकर्ता कृपा करके उसके दण्डको कम कर सकता है अथवा पूर्णतया क्षमा भी कर सकता है। साहूकार असहाय कर्जदारको कृपा करके उऋण कर सकता है। जब सामान्य (भौतिक) संसारमें भी यह सम्भव है, तब सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र प्रभुके लिये कोई बाधा कैसे उपस्थित रह सकती है।

अनुग्रह अथवा कृपा भगवान्‌का ही पराक्रम है। अतएव यह उनका धर्म है। अनुग्रह भगवद्धर्म होनेसे ही नित्य है। किसी हेतुसे अथवा साधनसे इसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह भगवान्‌की इच्छाके अधीन है। भगवान् चाहे जिस-पर, चाहे जिस समय, चाहे जिस देश एवं कालमें कृपा कर सकते हैं। प्रभुकी इस लीलाका सदृष्टान्त विवेचन श्रीमद्भागवत-पुराणके षष्ठ स्कन्धान्तर्गत विस्तारसे हुआ है। निन्दित कर्मोंमें निरत अजामिल भगवान्‌के नामस्मरणसे ही उनका कृपापात्र बनकर बन्धनमुक्त हो गया। विश्वरूप, दधीचि एवं वृत्रासुरका हन्ता इन्द्र भगवत्कृपासे अनिष्ट फल-भोगसे बचा लिया गया। दिति-गर्भ वज्रसे मारनेपर भी मरा नहीं, प्रत्युत बढ़ गया। यह कृपाका ही फल है। अजामिल (मानव), वृत्रासुर (दानव) एवं इन्द्र (देवता)—तीनोंपर हुई भगवत्कृपा यह प्रमाणित करती है कि कृपा काल, कर्म एवं स्वभावसे बाधित नहीं होती।

अखिल ब्रह्माण्डकी स्थिति भगवत्कृपासे ही है। श्रीमद्भागवतपुराणमें स्पष्ट कहा गया है—

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च ।
यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया ॥

(२ । १० । १२)

द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीवादि भगवद-नुग्रहके बलसे ही स्थित हैं, यदि भगवान् थोड़ी भी उपेक्षा कर दें तो कुछ भी शेष न रहे। जब भगवत्कृपा होती है, तब कुसमय सुसमयमें परिवर्तित हो जाता है, दुष्टकर्मा सत्कर्मा तथा दुःस्वभावी सत्स्वभावी हो जाता है, असुर सुर हो जाते हैं और नरक स्वर्गमें बदल जाता है। यह सब कृपा-मार्गकी सहज सुलभ उपलब्धियाँ हैं, परंतु मर्यादामार्गमें ऐसा सम्भव नहीं। कृपा-मार्गमें जीव पूर्णतया निस्साधन होता है, परंतु भगवान् दिखावेके लिये अथवा लोक-संग्रह-हेतु किसी साधनकी आड़ लेकर कार्य करते हैं। लोकमें समझा जाता है कि भगवन्नाम लेनेसे अजामिलकी मुक्ति हुई, परंतु वस्तुतः केवल अनुग्रह अथवा कृपासे ही उसका उद्धार हुआ था। लोकमें मर्यादाका पूर्ण लोप न हो जाय, इसलिये भगवान् मर्यादामार्गीय साधनों (नवधा भक्ति आदि)की स्थिति रखे हुए हैं। इसीसे अनुग्रहको देवगुह्य—गूढ़भाव बताया है[८]।

७. श्रीमद्भागवतपुराण १ । ३ । २८

८. अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावान्निरूपितः । देवगुह्यत्वमेतस्य ज्ञानध्यानार्चनादिकम् ॥
पुष्टिस्तु हरेर्दीनं नामादिषु निरूप्यते ।

(त० दी० नि० भागवतार्थप्रकरण ४ । २-३)

यदि भगवान्‌के हृदयमें कृपा न होती तो वेदोक्त विविध मार्गोंके रहते वे सरल अनुग्रह-मार्ग अथवा कृपामार्ग (प्रेमलक्षणा भक्तिमार्ग)का उपदेश क्यों करते ? उन्होंने देखा कि कलिकालमें वेदोक्त साधन सर्वसुलभ नहीं रहेंगे। देह, इन्द्रिय, अन्तःकरणादि आन्तरिक सामग्री एवं मन्त्र, द्रव्य, देश, कालादि बाह्य सामग्री हैं। ज्ञानमार्ग किंवा कर्ममार्गमें इन समस्त सामग्रियोंका शुद्ध होना आवश्यक है, जो क्रूर कलिकालमें सर्वथा कठिन है। अतः कृपा करके सब जीवोंके उद्धारार्थ प्रभुने सरल भक्तिमार्गका प्रवर्तन किया।

अनन्यप्रपत्ति भगवान्‌को अपनी ओर खींचनेका एकमात्र अमोघ अस्त्र है। प्रेमकी डोरीमें खिंचे हुए भगवान् परवशकी भाँति भक्तके हृदयकमलमें आ विराजते हैं। अष्टछापके महान् गायक भक्त कवि श्रीगोविन्दस्वामी अनन्य शरणागतिके विषयमें कहते हैं—

हमैं ब्रजराज लाड़िले सौं काज।

जस अपजस कौ हमैं कहा डर कहनौ होय सो कहि लेउ आज॥
कैधौं काहू कृपा करौ धौं न करौ जो सनमुख ब्रजनृप जुबराज।
गोविंद प्रभुकी कृपा चाहियै जो है सकल घोष सिरताज॥

'हमें तो केवल ब्रजराजदुलारे कन्हैयासे काम है। आज कोई जो चाहे सो कह ले, हमें यश-अपयशका डर ही क्या है ! ब्रजयुवराज श्रीकृष्ण हमारे अनुकूल हों फिर कोई दूसरा कृपा करे या न करे, हमें कोई परवा नहीं। बस, केवल ग्वालप्रमुख प्रभु नन्दनन्दनकी कृपा चाहिये।'

पूर्ण ब्रह्मके विविध अवतार, यथा—राम, कृष्ण, वामन, नृसिंहादि भी भगवत्कृपाके ही प्रतिपादक हैं। समस्त श्रीकृष्ण-चरित्र इसी तथ्यको परिपुष्ट करता है। रामावतारमें अहल्योद्धार, नृसिंहावतारमें प्रह्लादकी रक्षा और वामनावतारमें बलिसे याचना आदि प्रभुकी कृपा-सूचक लीलाएँ हैं। पुष्टिमार्गके आचार्योंके अनुसार श्रीवल्लभका प्राकट्य एवं पुष्टिमार्गका निर्वचन भी भगवत्कृपा ही है। गोस्वामी हरिरायजीने स्पष्ट कहा है—

'कृपां विना सर्वसाधनानां न चोद्गमः[१]।'

अर्थात् कृपाके बिना किसी भी साधनकी उत्पत्ति नहीं होती।

भक्तिमार्गे कृपामात्रं कारणं परमुच्यते।
तेनैव मार्गो सफलं सिद्धिमेति न संशयः॥

(शिक्षापत्र २४। १)

'भक्तिमार्गमें कृपामात्र उत्तम कारण है, इस कृपासे ही सकल सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसमें संशय नहीं है।'

'कृष्ण कृपा सुख जीजै'

माई, हौं आनँद गुन गाऊँ।
गोकुलकी चिंतामनि माधौ, जो माँगौं सो पाऊँ॥
जब तैं कमलनैन ब्रज आए, सकल संपदा बाढ़ी।
नंदरायके द्वारे देखौ, अष्ट महासिधी ठाढ़ी॥
फूल्यौ फल्यौ सकल बृंदावन, कामधेनु दुहि लीजै।
माँगैं मेह इंद्र बरसावै, कृष्ण कृपा सुख जीजै॥
कहति जसोदा सखियन आगैं, हरि उतकर्ष जनावै।
'परमानंददास', कौ ठाकुर, मुरलि मनोहर गावै॥

१. बड़े शिक्षापत्र गो० हरिराय कृत २५। १६

माध्वसम्प्रदायमें भगवत्कृपा

भागवती सृष्टिमें प्राणामृतपयोधिके रूपमें परिगणित वैष्णवाचार्य मध्वने द्वैतनिष्ठाका प्रतिपादन कर वैष्णवताकी जो समृद्धि-वृद्धि की, वह शीर्षस्थानीय और विशिष्ट है। उन्होंने वेद, पञ्चरात्र, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता आदि दिव्य ग्रन्थोंका सार निकालकर अपने पावन उपदेशोंमें भर दिया। ईश्वर, जीव और जगत्का तात्त्विक स्वरूप बतलाते हुए वे कहते हैं कि जीवका एकमात्र धर्म भगवान्की भक्ति है। भगवान् परमात्मा हैं, स्वतन्त्र हैं, विभु हैं और जीव अस्वतन्त्र है। चेतन, निर्मल और भगवत्स्वरूप होकर भी मायाग्रस्त होनेके कारण उसपर भगवद्भक्तिद्वारा प्रभुको प्राप्त करनेका दायित्व आ गया है। आचार्य मध्वने स्पष्ट कहा कि जीव परमात्मासे उद्भूत चेतन अंश और उनसे सर्वथा भिन्न-स्थानीय है। सारूप्य-मुक्तिकी उपलब्धिके बाद भी वह उनसे भिन्न रहकर सदा रक्षा और अनुग्रह करनेकी प्रार्थना करता रहेगा।

आचार्य मध्वने दक्षिण भारतके उडुपी क्षेत्रसे तीन-चार किलोमीटर दूर वेललि ग्राममें विष्णुभक्त भार्गवगोत्रीय ब्राह्मण-कुलमें संवत् १२९५ वि०में जन्म लिया था। वे द्वैतसिद्धान्तके महान् पण्डित, भगवान्के परम भक्त और परमात्मनिष्ठ आचार्य थे। सेव्य-सेवक-निष्ठाके माध्यमसे परम निगूढ़, चिन्मय और आनन्दमय भगवत्तत्त्वका रहस्य समझाते हुए उन्होंने कहा कि दुःखकी निवृत्ति और आनन्दकी प्राप्ति ही जीवका प्रयोजन है। वैकुण्ठमें जाकर नारायणकी सेवाका रसास्वादन करना ही मुक्ति और आनन्द है।

आचार्य मध्वके द्वैतवादपरक सिद्धान्तकी समीक्षामें एक बहुचर्चित परम्पराप्राप्त श्लोक है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावंगताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

'माध्व-मतमें श्रीहरि सर्वश्रेष्ठ हैं, जगत् सत्य है, इनमें तत्त्वतः भेद है, ब्रह्मासे लेकर साधारण जीवपर्यन्त समस्त प्राणी श्रीहरिके अनुचर हैं, जीवकी स्वसुखानुभूति मुक्ति है, श्रीहरिकी निर्मल भक्ति उस मुक्तिकी साधिका है, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—ये तीन प्रमाण हैं और एकमात्र श्रीहरि ही समस्त वेदादि शास्त्रोंद्वारा वेद्य हैं।'

माध्व-द्वैतवादमें भगवत्तत्त्व, जीव और जगत्पर मौलिक ढंगसे विचार किया गया है। आचार्य मध्वने भगवद्भजन-द्वारा भगवदनुग्रहकी अनुभूतिको ही संसार-सागरसे पार उतर जानेका सहज-सुगम उपाय निर्दिष्ट किया। उन्होंने शांकर अद्वैतवादगर्भित मायावादका अनौचित्य सिद्ध कर शुद्ध द्वैत-भावका प्रतिपादन किया। आचार्यका मत है कि जीवको ब्रह्मसे अपनी समता न करके दास्य-भावद्वारा ही उसके प्रेमको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

ब्रह्मा माध्वमतके आदि उपदेष्टा कहे जाते हैं। ब्रह्माके बाद आचार्यपदपर श्रीमध्व ही प्रतिष्ठित हुए। आचार्य मध्वको द्वैतसिद्धान्तप्रतिष्ठापनाचार्य भी कहा जाता है। आचार्य मध्वके वचन हैं कि ब्रह्म सगुण-सविशेष है और जीव अणुपरिमाण है। वेद नित्य और अपौरुषेय हैं। सद्गुणसम्पन्न भगवान् स्वतन्त्र हैं, जीव और जड-जगत् अस्वतन्त्र हैं। माध्वदर्शनके अनुसार द्वैतरूप प्रपञ्च है ही नहीं—ऐसा कहना अज्ञान है। श्रीविष्णुद्वारा ज्ञात और रक्षित होनेसे द्वैत सत्य है। सर्वोत्कृष्ट तो भगवान् विष्णु ही हैं, उनका सर्वोत्कर्ष-बोध (ज्ञान) ही सम्पूर्ण आगमोंका तात्पर्य है—

'द्वैतं न विद्यत इति तस्मादज्ञानिनां मतम्। मतं हि ज्ञानिनामेतन्मितं त्रातं हि विष्णुना। तस्मान्मात्रमिति प्रोक्तं परमो हरिरेव तु। तस्माद् विष्णोः सर्वोत्कर्ष एव तात्पर्यं सर्वागमानाम्।' (सर्वदर्शनसंग्रह ५। २३)

सम्पूर्ण वेदोंका निश्चित प्रतिपादन है कि विष्णुतत्त्व (भगवत्तत्त्व) ही सर्वोत्कृष्ट है। सम्पूर्ण शास्त्र इस विषयमें एकमत हैं—

'तस्मात् सर्वस्य शास्त्रस्य विष्णुतत्त्वं सर्वोत्तममित्यत्र तात्पर्यमिति सर्वं निरवद्यम्।' (सर्वदर्शनसंग्रह ५। ४५)

माध्वमतमें विष्णु—ब्रह्म ही सर्वशक्तिमान् हैं। वे भाव-अभावसे परे हैं। भावके अन्तर्गत चेतन जीव और अचेतन जगत्की गणना की जाती है; ये दोनों भगवान्के अधीन हैं, उनकी कृपाके पात्र और विभुतासे सर्वथा रक्षित हैं। भगवान् इन दोनोंसे सर्वथा पृथक्, परे अथवा अतीत हैं। उत्कृष्टतम होनेसे ही वे दोनोंपर कृपा और दोनोंकी रक्षा करते हैं।

मध्वाचार्यने कहा कि 'मेरी वाणी सुनो। मैं दोनों हाथ उठाकर शपथपूर्वक कहता हूँ कि भगवान्‌की बराबरी करनेवाला इस चराचर जगत्‌मे कोई भी नहीं है; उनसे श्रेष्ठ तो कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि वे सर्वश्रेष्ठ हैं। श्रीनारायण स्वरूपावस्थामें गुणातीत हैं, पर जब वे मायासे संयुक्त होते हैं, तब सत्त्व, रज, तम—ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें अभिव्यक्त होकर जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं।'

माध्व-सिद्धान्तके अनुसार सर्वशक्तिमान् भगवान् जगत्‌के प्राणियोंपर कृपा करते हैं। आचार्य मध्वका कथन है कि देवताओंमें स्थित रहते हुए अथवा उनको अपने अन्तर्गत (अधीन) रखते हुए उनकी (कार्य-) शक्तियोंको जाग्रत् कर शक्तिपुञ्ज भगवान् विष्णु समस्त कार्य सम्पन्न करते हैं—

तत्र तत्र स्थितो विष्णुस्तत्तच्छक्तीः प्रबोधयन्।
एक एव महाशक्तिः कुरुते सर्वमञ्जसा॥
(श्रीमध्वाचार्यकृत तन्त्रसार)

माध्व-दर्शनके अनुसार परमात्माके मूल और अवतरित रूपमें कोई भिन्नता नहीं है। जीव और ईश्वर परस्पर विलक्षण स्वरूप-स्वभावके कारण सदा भिन्न हैं—

जीवेश्वरौ भिन्नौ सर्वदैव विलक्षणौ॥
(सर्वदर्शनसंग्रह ५। ३१)

यद्यपि जीव चेतन है, पर उसका ज्ञान ससीम है। आचार्यके मतानुसार भगवान्‌के प्रेम तथा अनुग्रहसे जीव दुःखरूप संसारसे मुक्त होकर परमात्माके धाममें प्रवेश करता है।

इस सम्प्रदायमें भगवदनुग्रह और भगवत्प्रसन्नता-प्राप्तिकी सम्प्रतिष्ठा अमल—निर्दोष भक्ति और उसकी उपलब्धि मुक्तिमें की गयी है। बिना भक्तिके मुक्तिकी प्राप्ति नितान्त दुर्लभ है और मुक्तिके अभावमें सच्चिदानन्द-स्वरूप विष्णुकी कृपा-अनुभूति हो ही नहीं सकती। भगवान्‌की प्रसन्नता—कृपा भगवद्गुणोत्कर्षके ज्ञानसे होती है—

प्रसादश्च गुणोत्कर्षज्ञानादेव नाभेदज्ञानात्॥
(सर्वदर्शनसंग्रह ५। २८)

आचार्य मध्वने भक्तिको भगवदनुग्रह-प्राप्तिकी विशिष्ट प्रक्रिया बतलाया। भगवान्‌के प्रति अखण्ड प्रेम ही भक्ति है। उपासकद्वारा अपने अङ्गको भगवान्‌के विशिष्ट आयुध शङ्ख, चक्र, कमल और गदाके चिह्नसे अङ्कित करना, पुत्रादिका नाम भगवन्नामके अनुरूप नारायण, केशव, गोविन्द आदि रखना (जिससे उनके नाम-व्यवहारसे भगवान्‌का स्मरण हो), सत्य और प्रिय वचन बोलना, वेदाध्ययन करना, भगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति करना—माध्वमतमें भक्तिके विशिष्ट अङ्ग माने गये हैं। इनमेंसे एकके भी द्वारा श्रीनारायणके चरणोंमें समर्पण भजन है, जो मुक्ति-प्राप्ति और भगवदनुग्रहकी अनुभूतिमें प्रधानरूपसे सहायक है—

अत्रैकैकं निष्पाद्य नारायणे समर्पणं भजनम्।
(सर्वदर्शनसंग्रह ५। १६)

माध्वदर्शनानुसार दुःखकी निवृत्ति और आनन्दकी प्राप्ति ही जीवका मुख्य लक्ष्य है। वैकुण्ठकी प्राप्ति ही मुक्ति—दुःखोंकी निवृत्ति है और भगवान् नारायणकी सेवा ही आनन्दकी प्राप्ति है। आचार्य मध्वकी उक्ति है कि अन्य सभी कर्म भक्तिकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं, पर मोक्षका साधन भक्ति ही है, जो मुक्त जीवोंके लिये भी आनन्दस्वरूप है—

भक्त्यर्थान्यखिलान्येव भक्तिर्मोक्षाय केवलम्।
मुक्तानामपि भक्तिर्हि नित्यानन्दस्वरूपिणी॥
(गीतातात्पर्य)

माध्व-सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार जो अपनेमें हीनत्व (दैन्य)का वरण कर स्वामीके गुणका स्तवन करता है, उसका मनोरथ वे प्रसन्न होकर (अनुग्रहपूर्वक) सफल कर देते हैं—

'यः स्वस्यात्मनो हीनत्वं परस्य गुणोत्कर्षं च कथयति स स्तुत्य प्रीत—अभीष्टं प्रयच्छति।' (सर्वदर्शनसंग्रह ५। १०)

आचार्य मध्वने संकेत किया है कि हरि ही सर्वोत्तम हैं, परम गुरु हैं, वे ही सारी सृष्टिके माता-पिता तथा गति हैं—

हरिरेव परो हरिरेव गुरु-
हरिरेव जगत्पितृमातृगतिः॥
(द्वादशस्तोत्र ३। १)

कर्णाटक प्रदेशमें माध्व-मतके आचार्य तथा अनुयायी प्रचुर संख्यामें पाये जाते हैं। मध्यकालमें आचार्य मध्वके पद-चिह्नोंका अनुगमन करनेवालोंमें आचार्य राजेन्द्रतीर्थ, ब्रह्मण्यतीर्थ तथा मध्वदर्शनके महान् मर्मज्ञ व्यासरायके नाम विशेषरूपसे इतिहास-प्रसिद्ध हैं। परमात्माके प्रति सेव्य-भावकी निष्ठा रखकर आचार्य व्यासरायके शिष्य संत पुरन्दरदास और कनकदास तथा वेंकटदास, विजयदास, विठ्ठलदास आदिने भगवत्कृपासे परिपूर्ण दास-साहित्यका निर्माण किया। भारतीय अध्यात्म-जगत्‌में आचार्य मध्वने परमात्माका स्वामित्व और जीवका सहज दासत्व सिद्ध कर भगवदनुग्रह-प्राप्तिका पुण्यपथ प्रशस्त कर दिया है। —रा० ला०

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें भगवत्कृपाका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीगोविन्ददासजी 'संत' धर्मशास्त्री, पुराणतीर्थ)

भारतीय संस्कृति-सम्पोषक समस्त शास्त्र एवं वाणी-ग्रन्थोंने भगवत्प्राप्तिके अन्य साधनोंकी अपेक्षा भगवत्कृपाको ही मुख्य (सर्वश्रेष्ठ) माना है। भगवत्प्राप्ति साधन-साध्य नहीं, अपितु कृपा-साध्य है। यह आत्म-परमात्म-तत्त्व प्रवचन, बुद्धि और बहुत श्रवण आदि साधनोंसे नहीं जाना जा सकता, किंतु जिसपर उन (परमेश्वर)की कृपा होती है, वही भाग्यशाली आर्त व्यक्ति उस परम तत्त्वको जान सकता है।

भगवत्कृपाका अधिकारी कौन है ? अर्थात् परमात्माकी कृपा किनपर होती है ? इस सम्बन्धमें अनन्त श्रीविभूषित चक्रसुदर्शनावतार आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्रने स्वनिर्मित वेदान्तदशश्लोकी (वेदान्तकामधेनु)के नवम श्लोकमें जागतिक जीवोंको सदुपदेश करते हुए बताया है—

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा॥

'सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, सर्वाधिष्ठान, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, श्रीसर्वेश्वर प्रभुकी कृपा उन व्यक्तियोंपर ही होती है, जिनमें दीनता, नम्रता, सरलता, भावुकता आदि गुण विद्यमान हों। उनकी कृपासे ही प्रेमविशेषलक्षणा भक्ति सम्प्राप्त हो सकती है, उसीको उत्तमा (परा) भक्ति कहते हैं।' श्रवण-कीर्तनादि साधनरूपा भक्ति 'अपरा' भक्ति कहलाती है।

गागरमें सागररूप इसी ग्रन्थरत्न (वेदान्तदशश्लोकी)के दशम श्लोकमें 'अर्थ-पञ्चक'का दिग्दर्शन कराते हुए श्रीआचार्यचरणने बताया है कि (१) अपने उपास्य (आराध्य), (२) भगवदुपासक (जीव), (३) कृपाफल, (४) भक्तिरस और (५) विरोधि-तत्त्व अर्थात् भगवद्भक्तिमें विघ्न डालनेवाले काम-क्रोधादि शत्रुओंका स्वरूप सभी भक्तोंके लिये जान लेना परमावश्यक है।

उपर्युक्त अर्थपञ्चकमें कृपाफलका भी नामोल्लेख है। जीव भगवान्‌से दूर तबतक ही रहता है, जबतक उसे भगवान्‌के कृपाफलका परिज्ञान नहीं होता। उसका ज्ञान होनेपर तो वह सब कुछ परित्याग कर सब प्रकारसे भगवान्‌का ही बन जाता है।

'श्रीनिम्बार्काचार्य-प्रस्थानत्रयी'के भाष्यकार दिग्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यजी महाराजद्वारा रचित 'श्रीकृष्ण-शरणापत्तिस्तोत्र' तथा 'श्रीगोविन्दशरणागतिस्तोत्र'—दोनोंमें भगवत्कृपाका भाव इस प्रकार दर्शाया गया है—

महाचमत्कारिसर्वनिजशक्तिप्रवर्तकः।
कृपाकृदौदार्यनिधिः श्रीकृष्णः शरणं मम॥
(१७)

'अपनी महाचमत्कारिणी सम्पूर्ण शक्तियोंके प्रवर्तक, उदारताके भण्डार, कृपा करनेवाले श्रीकृष्ण मेरे शरण (आश्रय) हैं।'

सर्वज्ञ सर्वद शरण्य कृपासमुद्र
गोवर्द्धनोद्धरण धीर मुकुन्द शौरे।
दारिद्र्यदुःखविनिवारण विश्वबन्धो
त्रायस्व केशव हरे शरणागतं माम्॥
(७)

'हे शूरवंशी कृपासागर मुकुन्द ! आप सर्वज्ञ, सब कुछ देनेवाले, शरणदाता, धैर्यशाली और गोवर्धनको नखपर धारण करनेवाले हैं। हरे ! आप दरिद्रता और दुःखको दूर करनेवाले तथा विश्वके बन्धु हैं। केशव ! मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिये।'

निम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराजने भी स्वरचित ग्रन्थरत्न 'श्रीमहावाणीजी' में बतलाया है—

साधन करि नाकादि फल, नश्वर पावत जोय।
एक कृपा ही करि कछु, सिद्धि होय सो होय॥
एक कृपा करि होय सो होई। साधन सिद्ध रह्यो नहिं कोई॥
नाकादिक नश्वर फल पावै। जाय आयमें आयु बितावै॥
जितने साधन उरमें धरहीं। तितने या बिच अन्तर करहीं॥
सब तजि सदा मनावे याहीं। और न ते मन धरि अवगाहीं॥
'श्रीहरिप्रिया' परम पद चाहै। तौ या बिना न आन उमाहैं॥
(सिद्धान्त सुखपद ३०)

श्रीनिम्बार्कपीठाधिपति श्रीवृन्दावनसेवाचार्यजी महाराजके परम कृपापात्र किशनगढ़नरेश महाराजा श्रीसावंतसिंहजी (महात्मा श्रीनागरीदासजी)ने तो अपने वाणीग्रन्थके 'कृष्ण कृपा आये दिन भले।' 'अब तो कृपा करौ गोपाल।' 'अब तो कृपा करो गिरधारी।' आदि। कई एक पदोंमें केवल भगवत्कृपाका ही अवलम्ब लिया है।

दैन्यभावयुक्त व्यक्तिपर ही भगवत्कृपा होती है। वस्तुतः दैन्यका प्रादुर्भाव भी भगवान्‌की शरणागति स्वीकार करनेपर ही होता है। उदाहरणार्थ, गजेन्द्रको जबतक अपना अथवा अपने साथियोंका बल रहा, तबतक उसपर प्रत्यक्षरूपमे भगवत्कृपा नहीं हुई। इन सबसे निराश होकर जब उसने भगवान्‌को पुकारा तो क्या देर लगी ?

—'निर्बल ह्वै बलराम पुकारयो, आये आधे नाम।'

यहाँ 'निर्बल' शब्द दीनताका ही वाचक है। दीन बनकर गजेन्द्रने प्रार्थना की, तब भगवान्‌ने कैसे कृपा की, यह भगवान् वेदव्यासके शब्दोंमें पठनीय है—

श्रुत्वा हरिस्तमरणार्थिनमप्रमेय-
श्चक्रायुधः पतगराजभुजाधिरूढः।
चक्रेणनक्रवदनं विनिपाट्य तस्मा-
द्धस्ते प्रगृह्य भगवान् कृपयोज्जहार॥

(श्रीमद्भा० २।७।१६)

'गजेन्द्रकी पुकार सुन अनन्त शक्तिशाली भगवान् चक्रपाणि गरुड़की पीठपर चढ़कर वहाँ आये और अपने चक्रसे उन्होंने ग्राहका मुख फाड़ डाला। इस प्रकार कृपापरवश भगवान्‌ने अपने शरणागत गजेन्द्रकी सूँड पकड़कर उस संकटसे उसका उद्धार किया।'

द्रौपदीको अपने पाँचों पतियोंपर तथा अपने बलपर जबतक भरोसा रहा, तबतक भगवान् नहीं आये। 'द्रुपद सुता निर्बल भई ता दिन तजि आये निज धाम' द्रौपदीने कहा—

'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।'

(महा० सभा० ६८।४१)

'हे गोविन्द ! हे द्वारकावासिन् ! हे कृष्ण ! हे गोपीजनवल्लभ ! कृपाकर मेरी लाज बचाओ।' इतना कहते ही वस्त्ररूपमे प्रकट होकर भगवान्‌ने उसकी लाज बचायी। यह है भगवत्कृपा। पर कृपावृष्टि हुई कब ? भक्त सब कुछ छोड़कर दीन बना गया तब। गोपीजनोंके तो एकमात्र सर्वस्व ही भगवान् थे, फिर उनपर कृपा होनेकी तो बात ही क्या।

इसी प्रकार गणिका, गीध, शबरी, अजामिल आदि निम्न श्रेणीके जीवोंपर भी भगवत्कृपा-वृष्टि हुई। हम तो मानव हैं—सब योनियोंमे मानव-योनि भगवान्‌को विशेष प्रिय है। यदि सच्चे हृदयसे सब ओरकी आसक्ति हटाकर उनके बन जायँ तो उनकी कृपाकी अनुभूति होनेमे देर ही क्या है ? उनका बननेमें देर लग सकती है, उनकी कृपा होनेमे नहीं—यह ध्रुव सत्य है, इसमे किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है।

कृपा-कौशल

(रचयिता—पं० श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए०, साहित्य-शास्त्री)

कृपानाथ ! तेरी कृपा-शक्ति जगमें,
अनोखी सुधा, नित्य बरसा रही है।
तुम्हारी कृपामे छिपा भाव अनुपम,
उसीकी छटा विश्वमें छा रही है।

पिता-रूपसे हो तुम्ही जीव-पालक,
सुहृद्-रूपसे हो तुम्ही जन-सहायक।
तुम्ही मातृ-वात्सल्य देते प्रजाको,
उसीसे सकल सृष्टि सुख पा रही है।

तुम्हीं भोगसे रोकते रोग देकर,
तुम्हीं योग देते सभी भोग लेकर।
विविध रूपमें एक तेरी झलक है।
प्रकृति नित नये पाठ सिखला रही है।

पतित, दीन भी दुर्लभा भक्ति पाते
कलाहीन, निर्गुण गुणीको रिझाते।
न जाने तुम्हारी कृपा नित्य क्या-क्या,
अनूठे चमत्कार दिखला रही है।

वैखानस भगवच्छास्त्रमें भगवत्कृपा तथा उसकी प्राप्तिके साधन

(लेखक—श्रीवल्लपल्लि भास्कर रामकृष्णमाचार्युलु, बी०ए०, बी०एड्०)

वैखानस आगम या भगवच्छास्त्र भगवान् श्रीविष्णुको ही परदेवता मानता है। उक्त परदेवता भगवान् श्रीविष्णुने संसारपङ्कनिमग्न जीवोंका उद्धार करने-करानेके लिये इस पृथ्वीपर अर्चारूपसे अवतार लिया तथा उक्त अभिरूपसे विभिन्न क्षेत्रोंमें अवतरित भगवान्के श्रीविग्रहोंकी अर्चा-विधिके निर्देशके लिये एक दिव्य पुरुषको उत्पन्न किया, जो 'विखनस्' मुनिके नामसे प्रसिद्ध हुए। उनके द्वारा प्रवर्तित विष्णु-उपासना-पद्धति वैखानस भगवच्छास्त्र या वैखानस आगमशास्त्र कहलाता है। श्रीभगवान्का उक्त अवतार भी, जो अर्चावताररूपसे प्रसिद्ध है, उनकी कृपाकी भाँति ही विलक्षण है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि साक्षात् श्रीभगवान्की ही तरह उनकी अहैतुकी कृपा भी नित्या तथा सर्वव्यापिनी है। इसी प्रकार अर्चारूपमें भगवान् भी नित्य सर्वव्यापी हैं। उक्त अर्चारूपमें अवतरित भगवान् श्रीविष्णुकी उपासनाके दो प्रकार हैं—वैखानस-आगम एवं भागवतमत। यहाँ वैखानस भगवच्छास्त्रमें उपासनाके प्रकारोंका, जिन्हें अपनाकर कृपा-प्राप्ति की जा सकती है, दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

विराट् भगवत्स्वरूपकी उपासनाके दो प्रधान भेद हैं—अमूर्त और समूर्त। इनमें समूर्त रूपकी उपासनाको ही श्रेष्ठ बतलाया गया है—

अग्नौ हुतममूर्तं प्रतिमादि समूर्तं तच्छ्रेष्ठं च।
(विमानार्चनकल्प)

इस (समूर्त) उपासनाके चार प्रधान अङ्ग हैं—जप, हुत, अर्चन और ध्यान। उक्त चार प्रकारके साधनोंको अपनाकर भगवान्की कृपा-प्राप्तिके लिये यत्न करना ही साधककी परम बुद्धिमत्ता एवं सौभाग्य है।

अब उक्त भगवच्छास्त्रके अनुसार उक्त चार साधनोंका विवरण देखें—

जप—सावित्री पूर्वं वैष्णवीमृचमष्टाक्षरं द्वादशाक्षरं च भगवन्तं ध्यात्वाभ्यसेत् स जपः।'

"पहले सावित्री (गायत्री)को जपकर वैष्णवी ऋचाओं एवं अष्टाक्षर और द्वादशाक्षर महामन्त्रोंका भगवद्ध्यानके साथ अभ्यास करना 'जप' है।"

हुत—अग्निहोत्रादिषु यद्धूयते तद्धुतं होमः।

'अग्निहोत्रमें जो हवन किया जाता है, उसे 'हुत' अर्थात् होम कहते हैं।'

'यज्ञो वै विष्णुः', 'वासुदेवपरा मखा' आदि पदसमूह यज्ञका परमार्थ विष्णुको ही निरूपित करते हैं। इनके अतिरिक्त—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
(गीता ४। २४)

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥
(गीता ९। १६)

—आदि श्लोकोंमें यह सब कुछ भगवन्मय है—इसी तथ्यका प्रतिपादन किया गया है।

अर्चन—गृहे देवायतने वा वैदिकेन मार्गेण प्रतिमादिषु पूजयेत्तदर्चनं च॥

"अपने घरमें या देवालयमें वैदिक मार्गके अनुसार प्रतिमा आदिके रूपमें भगवान्की पूजा करना 'अर्चन' है।" यहाँ 'आदि' शब्दसे शालग्राम, कलश आदिका ग्रहण किया जा सकता है। यह अर्चन दो प्रकारका होता है—नित्य अर्चन तथा नैमित्तिक अर्चन। इनमें नित्य अर्चन कर्ताके आत्मकल्याण और लोककल्याणके लिये किया जाता है। नैमित्तिक अर्चनके दो भेद हैं—शान्तिक एवं पौष्टिक। शान्तिक अर्चन दिव्य, आन्तरिक्ष और भौम नामके तीनों अद्भुतोंकी शान्तिके लिये किया जाता है तथा कर्ताकी विशेष पुष्टिके लिये किया जानेवाला अर्चन 'पौष्टिक' कहलाता है। भगवत्कृपा-प्राप्तिके चारों साधनोंमें 'अर्चन' सर्वश्रेष्ठ है, उससे सभी मनोरथ पूरे हो सकते हैं—

तेष्वर्चनं सर्वार्थसाधनं स्यात्।

ध्यान—जीवात्मना परमात्मचिन्तनं ध्यानं च।

'जीवद्वारा परमात्म-चिन्तन ही ध्यान कहा जाता है।' इस ध्यानके दो भेद हैं—'निष्कल' और 'सकल'। 'निष्कल' ध्यानमें इस ब्रह्माण्डान्तर्बहिर्व्याप्त परमात्माका दूधमें घी अथवा काष्ठमें अग्निकी तरह चिन्तन किया जाता है। 'सकल' ध्यानमें परमात्माके पञ्चमूर्ति प्रकार-भेद जानकर चिन्तन किया जाता है।

उक्त प्रकारसे भगवानकी अर्चना करके चारों प्रकारके मोक्ष (सालोक्यादि) प्राप्त करना मानव-जीवनका साफल्य तथा भगवत्कृपाका चरम फल है।

श्रीरामानन्द-सम्प्रदायमें भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीवैदेहीकान्तशरणजी)

श्रीरामानन्द-सम्प्रदायमे प्रपत्ति—शरणागति और भगवत्कृपाके आश्रयपर ही विशेष बल दिया गया है। चरम लक्ष्य प्रभु-प्राप्तिका उपाय भी उनकी कृपामे संनिहित है, इस कृपावलम्बित्वसे भगवान्‌में सहज प्रपत्ति सिद्ध होती है।

भगवत्कृपाका आश्रय ही इस सम्प्रदायका चरम मन्त्र है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० ६। १८। ३३)

"जो एक बार भी शरणमे आकर 'मैं तुम्हारा हूँ'— ऐसा कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोसे अभय कर देता हूँ। यह मेरा सदाके लिये व्रत है।"

इस मन्त्रके 'प्रपन्नाय' पदसे प्रपत्ति, शरणागति या भगवत्कृपावलम्बित्वको ही परम साधन या उपाय कहा गया है—

प्रपन्नायेति पदतस्तूपायस्थानमुच्यते।
उपायत्वं भगवतस्तवेति पदतस्तथा॥
(श्रीवै० म० भा० ४५)

पुनः प्रभु-कृपापर अवलम्बित रहना ही इस मन्त्रका अनुसंधानार्थ कहा गया है—

निर्भरत्वानुसंधानमनुसंध्यर्थ उच्यते॥
(श्रीवै० म० भा० ५२)

इसी प्रकार इस सम्प्रदायके मन्त्रद्वय भी प्रभु-कृपा-वलम्बित्वका ही प्रतिपादन और उपदेश करते हैं—

'श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये।'
'श्रीमते रामचन्द्राय नमः॥'

प्रथम मन्त्रमे 'शरणम्' पदसे भगवत्कृपावलम्बित्वको उपाय तथा 'प्रपद्ये' पदसे उस उपायका अध्यवसाय कहा गया है—

शरणेति पदेनैवोपायस्तद्विग्रहो बुधैः।
उपायाध्यवसायस्तु प्रपद्य इति वर्ण्यते॥
(श्रीवै० म० भा० ३७)

इस सम्प्रदायमे दैनिक त्रिकाल-प्रार्थनामें भी भगवत्कृपाको ही स्मरण करने-करानेका विधान है—

जगत्पते श्रीश जगन्निवास
प्रभो जगत्कारण रामचन्द्र।
नमो नमः कारुणिकाय ते सदा
पदाब्जयुग्मे तव भक्तिरस्तु मे॥
(श्रीवै० म० भा० ११९)

'लक्ष्मीपते! आप जगत्‌के स्वामी हैं, सम्पूर्ण जगत् आपमे ही निवास करता है। स्वामी रामचन्द्र! आप ही जगत्‌के कारण हैं। आप करुणानिधानको बारंबार नमस्कार है। आपके युगल चरण-कमलोंमे मेरी भक्ति सदा बनी रहे।'

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजीने जीवोंको परम दयालु प्रभुकी शरणमें जानेका ही उपदेश दिया है—

प्राप्तुं परां सिद्धिमकिंचनो जनो
द्विजादिरिच्छञ्शरणं हरिं व्रजेत्।
परं दयालुं स्वगुणानपेक्षित-
क्रियाकलापादिकजातिभेदम्॥
(श्रीवै० म० भा० १२४)

'परा सिद्धिको प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखनेवाले किसी भी द्विजादि (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि) अकिंचन मनुष्यको उन श्रीहरिकी शरण ग्रहण करनी चाहिये, जो परम दयालु हैं और अपने गुणोंद्वारा (अपनी प्राप्तिके लिये) क्रियाकलाप और जातिभेद आदिकी अपेक्षा नहीं रखते।'

शरणागत भक्त याचना करता है—

'हे जगदीश! जगत्‌मे मेरे उद्धारके लिये सुलभ अथवा असुलभ कोई भी गति नहीं है। केवल आपके चरणकमल ही मेरी गति हैं। हे शरणदाता! मैं करोड़ों अपराधोंका पात्र हूँ। दरिद्रता ही मेरा मित्र है। अतः इस संसारके बन्धनको काटनेके लिये तीर्थराज हो जाइये। हे सर्वशरण! मेरे उद्धारके लिये मुझमें शक्ति नहीं है। अतएव आपके चरणोंमे मैंने अपना अर्पणरूप भार न्यास किया है। हे विभो! आप ही अगतिके गति हैं। हे शरण्य! आपके चरणकमलोंको मैं अपना आश्रय बनाता हूँ।'

गुणवानोंका यह स्वभाव है कि वे उपकारका बदला न चाहते हुए भी परोपकार किया करते हैं, इस बातको सांख्यदर्शन भी मानता है—

'स्वभाव एवायं गुणवतां यदनुपकारिष्वप्युपकारकरणम्'
(सांख्यकारिका, सांख्यचन्द्रिका टीका ६०)

आचार्यचरणके अनुसार दुष्टोंपर भी दया करना सत्पुरुषोंका निर्मल मार्ग है, दयालुताके लिये कुछ भी कार्य अकार्य नहीं है।

अनन्त कर्मप्रवाहके द्वारा इस संसार-सागरमें चिरकालसे डूबते-उतराते, जन्मने-मरते हुए अस्वतन्त्र जीवोंके ऊपर प्रभुकी वह निर्हेतुकी कृपा निरन्तर बरसती है और (अनन्य-भक्तिसे) भगवत्कृपाद्वारा ही उन्हें भगवत्प्राप्ति या मोक्षप्राप्ति होती है—

कर्मप्रवाहेण तु चेतनस्य
मग्नस्य संसारमहार्णवे चिरम् ।
उपर्यहो संसरतोऽवशस्य
कृपोद्भवत्येव हरेरहेतुका ॥
(श्रीवै० म० भा० ९१)

सत आश्वासन देते हैं—

"ये दयासागर, दीनबन्धु भगवान् अपने भक्तोंका भजन करनेके लिये उत्सुक रहते हैं तथा स्वजनोंपर अल्पमात्र भी दुःख देखकर दुःखित हो जाते हैं। 'हे प्रणतजनोंके दुःख दूर करनेवाले नाथ! मैं आपका दास हूँ और इस समय भवसागरमें पड़ा हुआ हूँ।'—ऐसा सुनते ही भगवान्का हृदय पिघल जाता है; क्योंकि उनकी दयालुताकी सीमा नहीं है। 'हे जगन्नाथ! अपने दीनजनकी रक्षा कीजिये। विभो! आप ही मेरे रक्षक बनिये।'—इस प्रकार अन्तर्हृदयसे निकली हुई वाणीका अनुपालन भगवान् सतत करते रहते हैं। दयापरवश भगवान् अभिमानशून्य तुम्हारे ऊपर अवश्य दया करेंगे। वे शबरी, सुग्रीव और गजके स्वामी हैं, अतः तुम्हारी उपेक्षा नहीं करेंगे"—

भगवान् स्वभक्तभजनोत्सुकतां
बिभृते दयारससरिज्जलधिः ।
व्यथते व्यथालवमपि स्वजने
परिवीक्ष्य दीनजनबन्धुरयम् ॥

पतितोऽस्म्यहं भवसागरनिधौ
प्रणतार्तिविनाशन दासोऽस्मि नाथ ।
इति शृण्वतो द्रवति यस्य मनो
नहि सीमितास्ति तदनुग्रहिता ॥
जगदीश पाहि निजदीनजनं
शरणं त्वमेव भव मेऽद्य विभो ।
इति साधुभिर्हृदयाद् गलिता-
मनुपालयत्यपि हरिः सततम् ॥
सुतरां दयापरवशो भगवान्
दयितैव वो गलिताभिमानभृताम् ।
शबरीकपीशगजराजपतिः
स उपेक्षणं नहि करिष्यति वः ॥

इस प्रकार इस सम्प्रदायका तात्पर्य एकमात्र भगवत्कृपामें ही प्रतिष्ठित है—

विहाय चान्यान् परमं कृपालुं
प्राप्यं स्वतो निरुपायमीश्वरम् ।
उपायमेनेऽप्यपवर्गदाय मुमुक्षया
श्रेयाः प्रपन्नाः सततं हरिप्रियाः ॥
(श्रीवै० म० भा० १३८)

'जो भक्त अन्य उपायका परित्याग करके प्राप्त करने योग्य, सर्वसमर्थ, अन्तर्यामी, परम दयालु परमेश्वरकी शरण ग्रहण करके सदाके लिये निश्चिन्त हो जाते हैं, वे ही श्रीहरिके प्यारे भक्त हैं और उन्हींको शरणागत समझना चाहिये।'

करुणासिन्धु, उदारकीर्ति, अचिन्त्य एवं अखिलवैभव-सम्पन्न भगवान् श्रीविष्णुका दूसरोंके दुःखको सहन न करना अप्राकृत मनीषियोंद्वारा श्रेष्ठ दया कही गयी है—

दयान्यदुःखस्य निगद्यते बुधै-
रप्राकृतैस्तैरसहिष्णुता स्तुता ।
कृपामहाब्धेः समुदारकीर्ते-
र्विष्णोरचिन्त्याखिलवैभवस्य ॥
(श्रीवै० म० भा० ९७)

श्रीरामानन्द-सम्प्रदाय केवल उसी दया—कृपाकी आकाङ्क्षा रखता है।

शाक्त-मतमें भगवतीकी कृपा और उसकी प्राप्तिके साधन

(लेखक—डॉ० श्रीरासमोहन चक्रवर्ती, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

ऋग्वेदके दशममण्डलका १२५वाँ सूक्त 'देवीसूक्त'के नामसे अभिहित किया जाता है। आद्या शक्ति जगज्जननी देवी भगवतीके स्वरूप और महिमाका कीर्तन इस सूक्तकी आठ ऋचाओंमें हुआ है। दुर्गासप्तशतीमें निर्दिष्ट है कि राजा सुरथ तथा वैश्य समाधिने 'देवीसूक्त'का जप करके जगदम्बिकाके दर्शनकी अभिलाषासे तपस्या की थी—

'स च वैश्यस्तपस्तेपे देवीसूक्तं परं जपन्।'

(१३। १०)

यह देवीसूक्त चण्डीतत्त्वमें प्रवेशके लिये द्वारस्वरूप है। देवीसूक्तमें जो मन्त्रस्वरूपा हैं, वे ही सप्तशती विग्रहवती हैं। देवीसूक्तका यह विग्रह ही श्रीमहादेवी भगवती चण्डिका हैं।

देवीसूक्तके पाँचवें ऋक्में आद्या शक्ति भगवतीके वचन हैं—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

(ऋक्० १०। १२५। ५)

'देवताओं और मनुष्योंके द्वारा सेवित इस ब्रह्मतत्त्वका उपदेश मैं स्वयं करती हूँ। मैं आराधित होनेपर जिसे चाहती हूँ, श्रेष्ठ बना देती हूँ; उसे ब्रह्मा, ऋषि अथवा उत्तम प्रज्ञाशाली बना देती हूँ।'

इससे ज्ञात होता है कि आद्या शक्ति भगवतीकी इच्छा या कृपासे ही जीव अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कर सकता है।

'सदाभ्युदयदा भवती प्रसन्ना' (दुर्गासप्तशती ४। १५)

'आप प्रसन्न होनेपर अर्थात् कृपा करनेपर सर्वदा अभ्युदय प्रदान करती हैं।'

सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये।

(वही १। ५७)

'वे ही प्रसन्न होनेपर अर्थात् कृपा करनेपर मनुष्योंकी मुक्तिके लिये वरदात्री होती हैं।'

तन्त्रशास्त्रके अनुसार शक्तिकी कृपाके बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। सुप्रसिद्ध शाक्त-दार्शनिक तन्त्राचार्य भास्करराय कहते हैं—

'न च मोचनस्य शिवकार्यत्वात् कथं तत्र देव्याः कर्तृत्वम्? इति वाच्यम्। मोचकत्वशक्तिमन्तरेण शिवस्य तद्योगेन मोचनकर्तृताया अन्वयव्यतिरेकाभ्यां शक्तावेव स्वीकर्तुं युक्तत्वात्।'

अर्थात् मुक्ति प्रदान करना शिवजीका कार्य है, अतएव इस विषयमें देवीका कर्तृत्व कैसे होगा?—यह कहना ठीक नहीं है। मोचकत्वरूपा शक्ति न रहनेपर शिवजी उसे नहीं कर सकते। अतएव अन्वय-व्यतिरेक-न्यायके अनुसार शक्तिका मोचन-कर्तृत्व स्वीकार करना ही युक्तिसङ्गत है। इसी कारण दुर्गासप्तशतीमें कहा गया है—

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।

(१। ५७)

'वे संसारसे मुक्तिकी कारणस्वरूपा परम ब्रह्मविद्या-स्वरूपिणी और सनातनी हैं।'

दुर्गासप्तशतीके प्रथम अध्यायमें उल्लिखित है कि महर्षि मेधाने महाराज सुरथको महामायाके तत्त्वका उपदेश देते समय कहा है—'महामाया ही सर्वेश्वरेश्वरी हैं। केवल उनकी कृपासे ही जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अन्य कोई उपाय नहीं है।'

देवीभागवतमें इसी बातको विस्तारपूर्वक कहा गया है—

तया निमित्तभूतास्ते ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
कल्पिताः स्वस्वकार्येषु प्रेरिता लीलया स्वमी।
ते तां ध्यायन्ति देवेशां पूजयन्ति परां मुदा॥
ज्ञात्वा सर्वेश्वरीं शक्तिं सृष्टिस्थितिविनाशिनीम्।

(५। ३३। ६२—६५)

'महामायाने ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरको सृष्टि, स्थिति और संहारके कार्यमें नियुक्त किया है। वस्तुतः वे ही स्वयं सब कुछ कर रही हैं, केवल लीलाके लिये ही उन्होंने इन्हें सृष्टि आदि कार्योंमें नियुक्त कर रखा है। वे प्रधान देवता शक्तिरूपिणी महामायाको सृष्टि-स्थिति-लयकारिणी और सर्व-प्रधानरूपमें जानकर ध्यान करते हैं तथा परमानन्दमें मग्न हो पूजा करते हैं।'

तस्या देव्याः प्रसादश्च यस्योपरि भवेन्नृप।
स एव मोहमत्येति नान्यथा धरणीपते॥

(देवीभागवत १०। १०। २५)

'हे राजन् ! जिसके ऊपर उन देवीकी कृपा होती है, वही व्यक्ति मोहका अतिक्रमण कर सकता है, अन्यथा कोई उपाय नहीं है ।'

साधककी तपस्या और भगवतीकी कृपा—

शाक्तमतके अनुसार भगवतीकी कृपा या प्रसादके विना केवल तपःशक्तिके द्वारा सिद्धि प्राप्त करना सम्भव नहीं है अर्थात् साधककी तपस्या और भगवतीकी कृपा—इन दोनोंके एकत्र होनेसे ही सिद्धि प्राप्त होती है। उपनिषद्के अनुसार तपःप्रभाव या देवप्रसाद, अर्थात् साधककी तपःशक्ति और परमात्माकी कृपा—इन दोनोंके संयोगसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति या मुक्ति होती है—

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ । २१)

'श्वेताश्वतर ऋषिने अपने तपःप्रभाव और देवप्रसादसे ब्रह्मको जान लिया था।'

इस सम्बन्धमें योगी श्रीअरविन्दने 'The Mother' मे जो लिखा है, वह विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है—

'There are two powers that alone can effect in their conjunction the great and difficult thing which is the aim of our endevour, a fixed and unfailing aspiration that calls from below and a supreme Grace from above that answers.'

(The Mother p. I)

अर्थात् जो महान् और दुरूह कार्य हमारी साधनाके लक्ष्य हैं, वे दो शक्तियोंके संयोगसे ही सम्पन्न हो सकते हैं, एक नीचेसे आवाहन करनेवाली स्थिर और सतत स्पृहा है और दूसरी भगवत्कृपा है, जो ऊपरसे उस आवाहनका उत्तर देती है।

दुर्गासप्तशतीमे महर्षि मेधाद्वारा महाराज सुरथको चरम उपदेश दिये जानेका उल्लेख मिलता है—

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम् ।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ॥
(१३ । ४-५)

'हे महाराज सुरथ ! उन्हीं परमेश्वरीकी शरण प्राप्त करो। आराधिता होनेपर वे ही मनुष्योंको इहलोकमे अभ्युदय और परलोकमे स्वर्गसुख तथा मुक्ति प्रदान करती हैं।'

साधकके लिये भगवतीकी शरणागति ही श्रेष्ठ साधन है। शिशु जिस प्रकार सरलभावसे सब विषयोंमे सम्पूर्ण रूपसे जननीपर निर्भर करता है, उसी प्रकार सर्वतोभावेन शरणापन्न होकर जगदम्बाकी उपासना करनेपर वे भक्तको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह चतुर्वर्ग प्रदान करती हैं।

इस सम्बन्धमे श्रीरामकृष्ण परमहंसका निम्नलिखित उपदेश विशेषरूपसे याद रखने योग्य है—'बच्चा बहुत दौड़-धूप कर रहा है, यह देखकर माँको दया आती है, अतः छिपी हुई माँ आकर प्रकट हो जाती है। उसकी इच्छा होती है कि बच्चा थोड़ी देर दौड़-धूप करे, फिर मैं उसे गोदीमे उठा लूँ। वह लीलामें इस संसारकी रचना करती है। उसकी शरण ग्रहण करना ही हमारा चरम लक्ष्य है।'

केवल साधनाके द्वारा ईश्वरका दर्शन नहीं होता। इसके लिये ईश्वरकी कृपा चाहिये। इसे परमहंस श्रीरामकृष्णदेव एक भव्य दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं—'किंतु हजार चेष्टा करो, उनकी कृपा न होनेसे कुछ नहीं हो सकेगा। वे ज्ञानसूर्य हैं। उनकी एक किरणसे इस जगत्मे ज्ञानका प्रकाश होता है, तभी हम एक दूसरेको जान पाते हैं, जगत्मे अनेक प्रकारकी विद्या उपार्जित करते हैं। सार्जेंट (सैनिक अधिकारी) रातके अँधेरेमे लालटेन लेकर घूमता है तो उसका मुख कोई नहीं देख पाता, किंतु उस प्रकाशसे वह सबका मुख देख लेता है और दूसरे लोग भी एक दूसरेका मुख देख पाते हैं। यदि कोई सार्जेंटको देखना चाहेगा तो इसके लिये उसे उससे प्रार्थना करनी पड़ेगी, 'कृपा करके एक बार प्रकाश अपने मुखकी ओर फिराइये।' इसी प्रकार हमें ईश्वरसे प्रार्थना करना पड़ती है कि 'प्रभो ! कृपा करके दिव्य ज्ञानका प्रकाश अपने ऊपर एक बार धारण कीजिये, जिसमे मैं आपका दर्शन कर सकूँ।'

भगवतीकी कृपा-प्राप्तिके लिये साधनाएँ—

पराशक्ति भगवती महामायाकी कृपा-प्राप्तिके लिये आराधनाकी एकान्त कर्त्तव्यताके विषयमे पुराण तथा तन्त्र-शास्त्रमे बहुत-सी उक्तियाँ और विस्तृत विधि-विधान वर्णित हैं। शैव नीलकण्ठ देवीभागवतकी टीकाकी उपक्रमणिकामें कहते हैं—

आराध्या परमा शक्तिः सर्वैरपि सुरासुरैः ।
मातुः परतरं किंचिदधिकं भुवनत्रये ॥
धिग् धिग् धिग् धिक् च तज्जन्म यो न पूजयते शिवाम् ।
जननीं सर्वजगतः करुणारससागराम् ॥

'वह परमा शक्ति भगवती देव-दानव आदि सभीके द्वारा आराधनीया हैं; त्रिभुवनमें मातासे बढ़कर पूजनीया और कौन है ? जो मनुष्य सर्वजगत्की जननी दयामयी मङ्गलरूपिणी भगवतीकी पूजा नहीं करता, उसके जन्मको वारंवार धिक्कार है ।'

विधिपूर्वक आराधनाकी कर्तव्यताके विषयमें शास्त्र कहता है कि जब वायुकी उपलब्धि नहीं होती, तब भी वायु रहती है, किंतु वह पंखा झलनेसे उपलब्ध होती है । इसी प्रकार जगन्माता भगवती चण्डी सर्वत्र सर्वदा विद्यमान होनेपर भी साधनाके विना उपलब्ध नहीं होतीं ।

भगवतीकी कृपा-प्राप्तिके लिये तन्त्रशास्त्रमें दो साधन बताये गये हैं—(१) ध्यान और (२) जप—

आदौ ध्यानं ततो मन्त्रं ध्यानस्यान्ते मनुं जपेत् ।
ध्यानमन्त्रसमायुक्तः शीघ्रं सिध्यति साधकः ॥

'पहले ध्यान, उसके बाद मन्त्र-जप करे । ध्यानके अन्त-में भी मन्त्र-जप करे । साधक ध्यान और मन्त्रसे युक्त होनेपर शीघ्र सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।'

मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः ।
जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः ॥

'जो मनन करनेपर त्राण करता है, वह मन्त्र है । उस मन्त्रका पुनः-पुनः जप करनेसे ही सिद्धि प्राप्त होती है । इसमें संदेह नहीं है ।' मन्त्र-जपके साथ मन्त्रार्थकी भावना अत्यन्त आवश्यक है । जपसे सिद्धि प्राप्त करनेके लिये कौन-सी पद्धतिका अवलम्बन आवश्यक है, इसके सम्बन्धमें तन्त्रशास्त्र-में लिखा है—

मनःसंहरणं शौचं मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम् ।
अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसम्पत्तिहेतवः ॥

'मनोनिग्रह, पवित्रता, मौन, मन्त्रार्थका चिन्तन, अविकलता और अनिर्वेद—ये जप-सिद्धिके कारण हैं ।'

प्रतिमा-पूजा-तत्त्व—

दुर्गासप्तशतीमें लिखा है कि महर्षि मेधाके उपदेशके अनुसार राजा सुरथ और समाधि वैश्यने नदी-तटपर देवीकी मृण्मयी मूर्त्तिका निर्माण करके पुष्प, धूप, दीप, हवन और तर्पणके द्वारा देवीकी पूजा की थी (१३।१०)।

प्रतिमा आदि प्रतीकका अवलम्बन करके उपासना करना ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धिका प्रकृष्ट मार्ग है । इस सम्बन्धमें कुलार्णव-तन्त्रकी उक्ति है—

गवां सर्वाङ्गजं क्षीरं स्रवेत् स्तनमुखाद् यतः ।
तथा सर्वत्रगो देवः प्रतिमादिषु विराजते ॥

'गायके सर्वाङ्ग-संचारी रक्तसे दुग्धकी उत्पत्ति होनेपर भी जैसे वह केवल उसके स्तनके अग्रभागसे निकलता है, उसी प्रकार विश्वव्यापी देवताके सर्वत्र अधिष्ठित होनेपर भी प्रतिमारूपमें ही उसके स्वरूपकी उपलब्धि होती है ।'

रसना-जय—

दुर्गासप्तशतीके तत्त्वप्रकाशिका-टीकाकार श्रीगोपाल चक्रवर्ती-के मतसे (१३ । ११में) आये हुए 'निराहारौ यताहारौ' पदद्वयके द्वारा रसना-जय सूचित हुआ है । साधनाके मार्गमें रसना-जयकी अत्यन्त आवश्यकता है । इसके दुष्करत्वके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ८ । २१)

'साधक अन्यान्य इन्द्रियोंको जीतनेपर भी जबतक रसना-को नहीं जीत लेता, तबतक जितेन्द्रिय नहीं होता । रसनापर विजय प्राप्त कर लेनेपर सारी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त होती है ।'

मनोनिग्रह—

दुर्गासप्तशती (१३ । ११)में आये हुए 'तन्मनस्कौ' पदके द्वारा मनोनिग्रह जान पड़ता है और 'समाहितौ'के द्वारा मन और रसनाके सिवा अन्य सारी इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना सूचित होता है । मन और रसना-जय अत्यन्त दुःसाध्य होनेके कारण इनका पृथक् उल्लेख किया गया है ।

भगवतीकी कृपासे सर्वपुरुषार्थकी सिद्धि—

भगवती चण्डिकाने सुरथ और समाधिकी साधनासे परितुष्ट होकर उनको अपने दर्शनसे कृतार्थ कर वर माँगनेके लिये कहा—

मत्तस्तत् प्राप्यतां सर्वं परितुष्टा ददामि तत् ।
(दुर्गासप्तशती १३ । १५)

'तुम दोनों मुझसे जो माँगोगे, वह सब पाओगे । मैं संतुष्ट होकर वह तुमलोगोंको प्रदान करूँगी ।'

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चतुर्विध पुरुषार्थोंमें साधक अपनी रुचि और अधिकारके अनुसार जो-जो माँगता है, भगवती उसको वही प्रदान करके कृतार्थ करती हैं । सूत-संहितामें लिखा है—

उपासते ये परमां सर्वलोकैकमातरम् ।
तेऽभीष्टं सकलं यान्ति विद्यां मुक्तिप्रदामपि ॥
(४ । १३ । ३३)

'जो सब लोगोंकी एक मात्र परमवात्सल्यमयी माताकी उपासना करते हैं, उनके समस्त मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं, यहाँतक कि उन्हें मुक्ति-प्रदायिनी ब्रह्मविद्या भी प्राप्त हो जाती है ।'

कृपा-प्राप्तिका श्रेष्ठ उपाय शरणागति—

दुर्गासप्तशतीके नारायणी-स्तवमें देवगण शक्ति-स्तुति करते हैं—

शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥
(११ । १२)

'हे देवि ! आप शरणागत, दीन और आर्तजनोंकी रक्षा करनेवाली तथा सबके क्लेशोंका नाश करनेवाली हैं । हे नारायणि ! आपको प्रणाम है ।'

अहिर्बुध्न्यसंहितामें शरणागतिके लक्षण इस प्रकार वर्णित है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥
(३७-२८-२९)

"(१) प्रीतिजनक कार्यमें प्रवृत्ति, (२) प्रतिकूल कार्यसे निवृत्ति, (३) वे रक्षा करेंगे, यह दृढ़ विश्वास, (४) रक्षकके रूपमें उनको वरण करना,(५) उनको आत्मसमर्पण करना और (६) 'रक्षा करो, रक्षा करो'— कहकर दैन्य और आर्तिप्रकाश—ये छः प्रकारकी शरणागति-के लक्षण हैं ।"

शरणागत, दीन और आर्त्त संतानकी रक्षा करना ही जगदम्बाका स्वभाव और व्रत है । अतएव मातृभक्त शंकराचार्यने 'दुर्गापराधक्षमापनस्तोत्र'में भगवती दुर्गाके श्रीचरणोंमें प्रार्थना की है—

आपत्सु मग्नः स्मरणं त्वदीयं
करोमि दुर्गे करुणार्णवेशि ।
नैतच्छठत्वं मम भावयेथाः
क्षुधातृषार्त्ता जननीं स्मरन्ति ॥

'हे कृपासागरेश्वरि ! दुर्गे ! मैं आपत्तिमें निमग्न होकर आपका स्मरण करता हूँ । माँ ! इसे मेरी शठता मत समझियेगा; क्योंकि जब संतान क्षुधा-तृषासे कातर हो उठती है तो माँको ही याद करती है ।'

जगदम्ब विचित्रमत्र किं
परिपूर्णा करुणास्ति चेन्मयि ।
अपराधपरम्परावृतं
नहि माता समुपेक्षते सुतम् ॥
(अपराधक्षमापन स्तो० ११)

'हे जगन्मातः ! आपकी जो मेरे ऊपर सम्पूर्ण करुणा है, इसमें आश्चर्य क्या है ! संतान सैकड़ों अपराध करे तो भी सामने उपस्थित होनेपर माता उस पुत्रकी उपेक्षा नहीं करती ।'

'त्रिपुरा-रहस्य' (माहात्म्यखण्डके दुर्गास्तोत्र)में शरणागत भक्तकी प्रार्थना सुव्यक्त हुई है—

दुर्गेषु नित्यं भवसंकटेषु
दुरन्तचिन्ताहिनिगीर्यमाणान् ।
शरण्यहीनाञ्छरणागतार्त्ति-
निवारिणी त्वं परिपाहि दुर्गे ॥
(४६ । ८३)

'दुर्गम भवसंकटमें पतित हम नित्य दुरन्त दुश्चिन्तारूप अजगरके द्वारा ग्रसित हो रहे हैं, हमारा आपके अतिरिक्त कोई दूसरा आश्रय नहीं है । हे शरणागतकी आर्तिको निवारण करनेवाली माँ दुर्गे ! आप हमारा परिपालन करें ।'

माँ भगवतीके श्रीचरणोंमें आत्मसमर्पण करनेपर संकट सुयोगमें, विपत्ति सम्पत्तिमें परिणत हो जाती है । बंगदेशके दश महाविद्या-सिद्ध श्रीसर्वानन्दनाथ (१५वीं सदी)ने जगज्जननीका दर्शन प्राप्तकर कृतार्थ हो, जो अपूर्व स्तवन किया है, उसमें इस प्रकारकी एक उक्ति दृष्ट होती है—

बाधन्ते खलु तावदेव रिपवः पापानि दुष्टग्रहा
यावन्न व्रजति क्षणं च हृदयं मातस्त्वदीये पदे ।
याते तत्र हृदि प्रयान्ति सखितामेते समस्ताः पुन-
स्तस्मात्तेऽपि न दुःखदा न सुखदा माहात्म्यमेतत्तव ॥
(सर्वानन्दतरङ्गिणी ७९)

'हे जगन्मातः ! जबतक जीवका चित्त आपके श्रीचरणोंमें क्षणकालके लिये भी विचरण नहीं करता, तबतक रिपुगण, पापसमूह तथा दुष्टग्रह नाना प्रकारके विघ्न पैदा करते रहते हैं, किंतु एक बार आपके पादपद्ममें मन लग जानेपर वे सब पुनः बन्धु बन जाते हैं, अतएव वे वस्तुतः सुखदायक या दुःखदायक नहीं होते । यह आपकी महिमा ही तो है ।'

श्रीचैतन्यमहाप्रभु और भगवत्कृपा

(लेखक—काव्य-वेदान्ततीर्थ महाकवि पं० श्रीवनमालिदासजी शास्त्री)

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥
(चैतन्य-शिक्षाष्टक २)

श्रीचैतन्यमहाप्रभु कहते हैं—हे प्राणनाथ ! आपने तो जीवोंकी भिन्न-भिन्न रुचिको रखनेके लिये श्रीकृष्ण, गोविन्द, मुकुन्द, माधव, नन्दनन्दन, व्रजचन्द्र, मुरलीमनोहर आदि कितने सुन्दर भावयुक्त मनोहर नाम प्रकट किये हैं, फिर वे नाम रीते ही हों, ऐसी बात भी नहीं, आपने अपनी सम्पूर्ण शक्ति भी उन सभी नामोंमें समानरूपसे भर दी है। जीव किसी भी नामका आश्रय ले, उसे उसी नाममे आपकी पूर्ण शक्ति मिल सकती है और वैदिक क्रियाओंकी भाँति आपने उन नामोंके उच्चारणके विषयमें देश-काल, पात्र-अपात्र, शुद्धि-अशुद्धि आदिका नियमित बन्धन भी नहीं रखा है; पर हन्त ! आपकी तो मुझपर इतनी अहैतुकी कृपा होते हुए भी दुर्भाग्यवश आपके इन नामोंमेंसे किसी भी नाममें अबतक मेरा सच्चा अनुराग उत्पन्न न हो पाया ।

फिर कहते हैं—

अयि नन्दतनूज किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।
कृपया तव पादपङ्कजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय ॥
(चैतन्य-शिक्षाष्टक ५)

हे नन्दनन्दन ! वस्तुतः मैं आपका नित्य किंकर हूँ, किंतु अब अपने कर्मोंके दोषसे विषम संसार-सागरमें पड़ा हूँ, काम, क्रोध, लोभ आदि ग्राह मुझे निगलनेको दौड़ रहे हैं, दुराशा एवं दुश्चिन्ताकी तरंगोंमे इधर-उधर बह रहा हूँ, कुसङ्गरूप प्रबल वायु और भी व्याकुल कर रही है, ऐसी दशामें आपके सिवा मेरा कोई भी आश्रय नहीं है। कर्म, ज्ञान, योग, तप आदि भी तृणके गुच्छेके समान तैर रहे हैं, पर क्या उनका आश्रय लेकर कोई संसार-सागरके पार जा सकता है ? हाँ, कभी-कभी ऐसा तो होता है कि संसार-सागरमे डूबता हुआ जन उनको भी पकड़कर अपने साथ ही डुबा लेता है । आपकी कृपाके बिना कोई भी आश्रय नहीं है । केवल आपकी कृपा ही ऐसी दृढ़ नौका है, जिसका आश्रय लेकर जीव संसार-सागरसे अनायास पार हो सकता है । आप शरणागतवत्सल हैं, अतः मुझ अनाश्रितको आप अपने चरणकमलोंमे संलग्न रजःकणके समान स्वीकार कर लें । कारण, आपकी कृपाके बिना संसार-सागरसे मुझ साधन-शून्यके उद्धारका कोई भी उपाय नहीं है ।

सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्कृपाके महत्त्व एवं स्वरूपका निदर्शन मन-वाणीका विषय नहीं है, फिर भी उसका यत्किंचित् दिग्दर्शन निम्नाङ्कित स्वरचित श्लोकमें कराया गया है—

समस्तपुरुषार्थतः पृथुतता सतां सम्मता
समस्तजनतारिणी प्रतिसमीक्ष्यमाणैव या ।
हरिं निजवशे यया शुभयशोदयाकारिणी
हरेर्हृदि विहारिणी भगवतः कृपा तां नुमः ॥

'जो भगवत्कृपा शास्त्रोंके मर्मज्ञ संतोंकी दृष्टिमे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप समस्त पुरुषार्थोंकी अपेक्षा अतिशय श्रेष्ठ मानी गयी है, प्रतीक्षा करने मात्रसे ही समस्त जनोंका उद्धार करनेवाली है, अपनी स्वतन्त्र शक्तिकी प्रेरणासे मङ्गलमयी यशोदा मैयाद्वारा श्रीहरिको भी अपने वशमें करनेवाली है, सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा है और श्रीहरिके हृदय-प्राङ्गणमें सदा विहार करनेवाली है, उस कृपादेवीको हम लोग (बारंबार) प्रणाम करते हैं ।'

भगवत्कृपाकी स्वतन्त्रताके विषयमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुने ही सार्वभौमभट्टाचार्यके प्रति इस प्रकार कहा है—

हरेः स्वतन्त्रस्य कृपापि तद्वद्
धत्ते न सा जातिकुलाद्यपेक्षाम् ।
सुयोधनस्यान्नमपोह्य हर्षा-
ज्जग्राह देवो विदुरान्नमेव ॥
(चैतन्यचन्द्रोदय नाटक अङ्क ८)

'जिस प्रकार भगवान् स्वतन्त्र हैं, उसी प्रकार उनकी कृपा भी परम स्वतन्त्र है। वह जाति, कुल आदिकी अपेक्षा नहीं रखती। उसी कृपादेवीके वशीभूत हो देवाधिदेव श्रीकृष्णने दुर्योधनके सभी प्रकारके उत्तम खाद्य पदार्थोंको ठुकराकर श्रीविदुरजीके साधारण अन्न (शाकादि)को सहर्ष अङ्गीकार किया था।'

भगवत्कृपाकी स्वतन्त्रता दिखाते हुए 'श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू'मे कहा गया है कि 'चैतन्यवस्तु' किसीके द्वारा किसी भी स्थितिमें बाँधी नहीं जा सकती एवं आनन्द भी नहीं बाँधा जा सकता। ज्ञान तथा तेज भी नहीं बाँधे जा सकते। अतएव चिन्मय, आनन्दमय, ज्ञानमय एवं तेजोमय श्रीविग्रहवाले श्रीकृष्णको भला, यशोदा मैया किस प्रकार बाँध सकती हैं? इस बातकी पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि अपनेको बाँधनेके आग्रहसे अत्यन्त परिश्रमके फलस्वरूप खिन्न शरीरवाली माताको देखकर श्रीकृष्णके मनमे कृपाशक्तिका प्रादुर्भाव हो गया—

भजजनपरिश्रमो निजकृपा चेति द्वाभ्यामेवायं बद्धो भवति, नान्यथेति यावत् तदुद्वयानुत्पत्तिरासीत् तावदेव दाम्नां द्वयङ्गुलन्यूनताऽऽसीत् सम्प्रत्युभयमेव जातमिति पुवरुद्यममात्रे तथा क्रियमाण एव बन्धनमुररीचकार।
(६। १५)

अर्थात् भगवान् केवल दो ही गुणोंसे बँध सकते हैं—एक तो भजन करनेवाले भक्तजनका परिश्रम, दूसरा भगवान्की कृपा, अन्यथा दूसरे गुणोंसे नहीं बँधते। (इन गुणोंमें भी भजनका गुण तो केवल अपना अभिमान मिटानेके लिये है।) ज्यों ही अभिमान मिटा कि सतत क्रियाशीला कृपा-मैयाका दर्शन हो जाता है। जबतक उन दोनों गुणोंकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, तभीतक रस्सियोंकी दो अङ्गुलकी न्यूनता बनी रही। अतः जब दोनो गुण उत्पन्न हो गये, अर्थात् श्रीयशोदा मैयाका परिश्रम पराकाष्ठापर पहुँच गया एवं श्रीकृष्णके मनमे कृपादेवीका प्रादुर्भाव भी हो गया, तब श्रीकृष्णने बन्धनको अङ्गीकार कर लिया—

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्ण कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने॥
(श्रीमद्भा० १०। ९। १८)

श्रीमहाप्रभुने भगवत्कृपाकी प्राप्तिका अतिशय सरल उपाय भी 'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः' (श्रीमद्भा० १०। १४। ८)—इस उक्तिके अनुसार उसकी प्रतीक्षा करना ही बताया है। तात्पर्य यह कि स्वतन्त्र वस्तु किसी साधनविशेषके वशीभूत नहीं होती, उसी प्रकार परम स्वतन्त्रा भगवत्कृपा भक्तकी प्रतीक्षामात्रसे ही स्वतः अनुभवमे आ जाती है। इस प्रकारकी प्रतीक्षाकी परिपाटी भी श्रीमन्महाप्रभुने स्वयं ही चलायी है—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥
(चैत० शिक्षा० ६)

'हे प्रभो! आपकी परम स्वतन्त्रा उस कृपादेवीकी ऐसी कृपा मुझपर कब होगी कि आपका नाम ग्रहण करते समय मेरे नेत्र अश्रुधारसे, मेरा मुख गद्गद वाणीसे और मेरा शरीर पुलकावलियोंसे व्याप्त हो जायगा?'

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥
(चैत० शिक्षा० ४)

'हे जगदीश! देखिये, मैं न धन चाहता हूँ, न जन चाहता हूँ, न सुन्दर कविता ही चाहता हूँ, चाहता हूँ केवल आप परमेश्वरमें मेरी प्रत्येक जन्ममें अहैतुकी भक्ति हो जाय।'

श्रीमहाप्रभुके मतानुसार 'जीवमात्रपर भगवत्कृपा सदैव है।' इस विषयमे तो उनका अवतार ही प्रबलतम प्रमाण है; क्योंकि उन्होने अपने प्रेममय अवतारके द्वारा जीवमात्रपर भगवत्कृपा-वृष्टिकी सृष्टि करवाकर दिखा दी। अतः हम भी उन्हीं श्रीचैतन्यमहाप्रभुसे कृपास्नातकी भिक्षा माँगते हैं।

भगवान् श्रीरामकी कृपामयी लीलाएँ

महर्षि विश्वामित्रपर कृपा

[पृष्ठ ४२३

निषादराज गुहपर कृपा

[पृष्ठ ४२६

भरतजीको आलिङ्गन-दान

[पृष्ठ ४२९

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं।
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ॥

[पृष्ठ ४२९

भगवान् श्रीरामकी कृपामयी लीलाएँ

मुनिवर सुतीक्ष्णपर कृपा

[पृष्ठ ४३१

वानरराज सुग्रीवपर कृपा

[पृष्ठ ४३५

राक्षसराज विभीषणपर कृपा

[पृष्ठ ४३७

स्वजनोंपर कृपा

[पृष्ठ ४३९

रामस्नेहि-सम्प्रदायमें भगवत्कृपा और गुरु-कृपा

(लेखक—श्रीपुरुषोत्तमदासजी महाराज शास्त्री, श्रीखेड़ापा रामस्नेहिसम्प्रदायाचार्य)

जैसे सूर सनमुख वार नी फिरत छाँय,
रामगुरु सनमुख भरम विलात हैं।
तैसे हि जिज्ञासी धार पाँव एक चाले सार,
करतार कोस शत आय के मिलात हैं।
धार के विश्वास उर राम ही सँभार एक,
आनन के पाया सुख उदर समात हैं।
छेद से प्रकार कर बकता अरथ सिद्ध,
भावना अंकूर जिव भ्यावना विख्यात है॥

आदरणीय आचार्यश्री(रामदासजी महाराज) का कथन है कि इस जगत्मे मानवका स्वार्थरहित परम कल्याण करनेवाले मुख्य दो ही दयाद्रवित स्रोत हैं—श्रीरामकृपा तथा श्रीगुरुकृपा। श्रीराम हमे मानव-शरीर देकर हमारा उपकार करते हैं तो 'गुरु महाराज' हमे विकारमुक्त तथा निर्मल बनाकर हमारे हित—कल्याणका सम्पादन करते हैं—

हरि हैं दाता देह का, तातें भया सकाम।
गुरु हैं दाता ज्ञानका, मनका मेट विराम॥

इन दोनोंकी कृपासे ही संसारी जीवोंकी सद्गति सम्भव है। जब हम इनके सम्मुख होते हैं, तभी हमारे सब प्रकारके भ्रम-संशय, विकार आदि नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार हम आत्म-कल्याणका साधन सुगमतासे प्राप्त कर लेते हैं।

रामस्नेहि-सम्प्रदायमे श्रीराम चेतन-सत्ताधारक, परात्पर परब्रह्मके रूपमें स्वीकृत तथा ध्येय हैं।

इन परात्पर श्रीरामको सत महापुरुष अनेकानेक नामोंसे पुकारते हैं। वेद जिनको नेति-नेति बताते हुए महिमाका बखान करते हैं, वे गोविन्द-नामवाले श्रीराम दीनोंके बन्धु तथा कृपाके सागर हैं। वे भक्तोंके संकट तथा विपत्ति दूर कर अभय (निर्भय) करनेवाले हैं। वे सत्यसंकल्प तथा सत्य-स्वरूप हैं। इतना ही नहीं, वे असम्भवको भी सम्भव करनेवाले एवं सर्वशक्तिमान् हैं—

आरत्ति हरणू अभय करणू नमों शरणू सत्त ए।
ऐसा अकरणू अतिरतिरणू वेद वरणू नित्त ए।
हम व्याधि जरणू धरा धरणू वचन फुरणू काम ए।
ऐसा गोविंदू कृपासिंधू दीनबंधू राम ए जी
दीनबन्धू राम ए॥

(श्रीदयालु-करुणासागर २०)

भगवद्विश्वासी संत अपनी कोई चिन्ता स्वयं नहीं करते। उनका कहना है कि 'जिन कृपालु श्रीरामने असहाय शिशुकी माताके उदरकी भयंकर जठराग्निसे रक्षा की, नाभिकी नालसे रसधार प्रदान कर उदर-पूर्ति की तथा भविष्यकी अर्थात् जन्म लेनेके पहले ही (इसका भरण-पोषण कैसे होगा ?) चिन्ता करके माताके स्तनोंमे सर्वगुणसम्पन्न मधुर स्वास्थ्यवर्धक दूध पैदा कर दिया, क्या वे इस समय हमारी सँभाल नहीं करेंगे ?—

दयाल कृपाल संभाल करै, जिव झाल कराल विचाल रखै।
जठराल उध्याल खुध्याल भरै, नभ नाभि नभाल रसाल भखै।
जनमाल धुराल दुधाल सिरज्जत कालमें क्यों न गुवाल करै।
मन तें सिध सार अधार रमा-रम आप बिना कुण ताप हरै॥
हरि आप बिना कुण ताप हरै॥

अभी भी हमे भगवत्कृपाका तत्काल अनुभव हो सकता है, यदि हम सत्पुरुषोंके निम्नाङ्कित वचन के अनुसार भगवान्से सच्ची पुकार एवं प्रार्थना करें।

अपने अवगुण आप मुख, कहत वीनती मांहि।
साची उनकी जांणिये, परसुख सीझै नांहि॥

(श्रीदयालु०)

कृपानाथ तो सदा ही कृपा करते हैं। यदि हम एक कदम उधर बढ़ाते हैं तो वे हमे अपनाने-हेतु सौ कोससे चलकर समीप आ जाते हैं—

तैसे हि जिज्ञासी धार पाँव एक चालै सार।
करतार कोस शत आय के मिलात हैं॥

वे दीनबन्धु कभी यह नहीं सोचते कि पुकारनेवाला योग्य है या अयोग्य, वृद्ध है या बालक, स्वार्थी है या परमार्थी। उन्हें तो जिस किसीने भी दीन एवं असहाय अवस्थामें जहाँ-कहीं दुःखी (आर्त) होकर याद किया कि वे तत्काल उसके मनोरथ और आवश्यकताको पूर्ण करनेके लिये दौड़े आते हैं—

राम गरीबनिवाजको मोहि बड़ो विश्वास।
जग जामी पालण जगत, सबकी पूरै आस॥
निर्बल दुखित अराधियो, प्रगट्यो तहँ परमेश।
वृद्धा तरुणा भेद नहिं, कहा ध्रुव बालक वेश॥

(करुणासागर दो० १)

भक्तहृदयकी करुण-पुकारके सामने करुणावरुणालय कृपासागर 'श्रीराम' कहाँतक दूर रह सकते हैं ? प्रसिद्ध ही है कि गजकी पुकारपर उन्हें तत्काल प्रकट होना पड़ा । कितनी शक्तिमती है उन सर्वशक्तिमान् घट-घट-व्यापी श्रीरामकी कृपादृष्टि !—

क्रीड़ा समंदू गज्ज अंदू ग्राह फंदू रच ए ।
कष्प्यो गयन्दू डूब जिंदू शूंड मंदू सच ए ।
ररो कहंदू हरि हरंदू मेटि द्वंदू द्राम ए ।
ऐसा गोविन्दू कृपासिन्धू दीनबन्धू राम ए ॥
जी दीनबन्धु राम ए ॥
(करुणासागर ११)

परिवारन वारण द्वार संभारण
तारण कारण आय लियो ।
आरोह खगारण धाय धरारण
चक्र चलारण काज कियो ।
धिन आप अपारण सोह्न विचारण
टेर उचारण एक ररो ।
भवके दुख टार उधार अपंपर पार गजेंदर जेम करो ॥
हरि पार गजेंदर जेम करो ॥
(करुणासागर)

इधर दुःख पड़नेपर आर्त पुकारके समय भक्तकी सहायताके रूपमे भगवत्कृपाका दर्शन होता है तो उधर इससे विपरीत आनन्दके क्षणोंमें कष्टके आविर्भावको भी संत-महात्मा भगवत्कृपाका प्रसाद मानते हैं ।

नाम-साधन-रत सत्पुरुष समय आनेपर जब भगवत्साक्षात्कार करते हैं, तब भगवान् इन्हे वरदान माँगनेके लिये प्रेरित करते हैं—

बठे सिंहासण प्रभू, गोदीमें ले दास ।
इच्छा सोई लीजिये, स्वयं प्रकास प्रकास ॥

तब परोपकाररत महापुरुष निज हित-पूर्तिकी अपेक्षा सर्वजनहितको श्रेष्ठ मानते हुए इस प्रकारका कृपामयसे वरदान माँगते हैं—

श्रीगुरु कह्यो प्रणाम कर, यह जन इच्छा तोय ।
भक्ति करे कोऊ रामकी, तासों परसण होय ॥
भक्ती सेवा साध की, प्रगटो तत छिन्न जाय ।
सतगुरु सुमरण एक मुख, ता के सदा सहाय ॥
भक्ति करे कोऊ रामकी, राम गरीब निवाज ।
एतो कष्ट न दीजिये, एह वर मांगू आज ॥
शरणे की प्रतिपाल निन, कीजे दीन दयालु ।
अब मेरे मांगन कहा, कारण भया कृपालु ॥
(श्रीदयाल० शब्दहरण, परची)

ऐसे परोपकारयुक्त वचनोंको सुनकर कृपानाथ कृपाकी वर्षा कर अपने भक्तको कृतार्थ कर देते हैं—

राम राम गुरुमुख हुय गामी, निजपुर निर्भय भो यहाँ आमी ।
केवल भक्ति जहाँ मम धामा, यह निज सदन रमूं उर रामा ॥
(श्रीदयाल० परची)

इस प्रकार मानवके लिये उन करुणासिन्धुकी अहैतुकी कृपाका हम अनेक रूपोंमें अनुभव करते हैं ।

रामस्नेहिधर्म जहाँ भगवत्कृपाको इतना उत्कृष्ट मानता है, वहीं 'गुरुकृपा' और 'संतकृपा'को भी विशिष्टता प्रदान करता है—

परब्रह्म सद्गुरु प्रणम्य, पुनि सब संत नमोय ।
(श्रीहरिरामदासजी महाराज)
सद्गुरु और संत जन राम निरञ्जन देव ।
(श्रीनारायणदासजी महाराज)
सद्गुरु सेति वीनति, परब्रह्मसूं परनाम ।
अनन्त कोटि संत रामदास । (श्रीरामदासजी महाराज)
वन्दन हरि गुरु जन प्रथम, कर्मन कायक बैन ।
(श्रीहरिदेवदासजी महाराज)
नमो राम गुरु देवजी जन त्रिकालके वन्द ।
(श्रीदयालदासजी महाराज)
परब्रह्म सस्तुति करि, गुरु चरणा चित दीन ।
सब संतसूँ वन्दना । (श्रीचैनरामजी महाराज)
प्रणम्य राम गुरु देवजी सब संत सीस निवाय ।
(श्रीसेवगरामजी महाराज)

इन संतोंकी दोहावली देखनेसे विदित होता है कि प्रायः सतोंने मुख्यतासे प्रथम वन्दना सच्चिदानन्द परब्रह्मकी; द्वितीय सद्गुरु महाराजकी तथा तृतीय वन्दना संतोंकी की है । कहीं-कहीं श्रीगुरुदेवकी प्रथम वन्दना करके आचार्योंने गुरुजीकी कृपाको भगवत्कृपासे भी ऊँचा स्थान दिया है ।

परात्पर अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड-नायक परमेश्वरने दया-द्रवित हो चौरासी लाख योनियोंमें भटकते हुए जीवको अपनी प्राप्तिके लिये ही यह सुर-नर-मुनि-दुर्लभ मानव-शरीर

प्रदान किया, अतः वे करुणावरुणालय प्रभु ही जीवोंके परम उपास्य तथा परम प्राप्ति-स्थान हैं, परंतु जब जीव उन दया-सिन्धुको भूल इस दुःखालय-भवसागरमें मनमाना भटकता है, तब वे करुणासागर प्रभु अपनी प्यारी संतानको (संसार-दुःख-दुःखित देखकर) कृपाविष्ट हो सद्गुरुसे मिला देते हैं। वे अज्ञान-अन्धकार-विध्वंसी सदुपदेश (तुम प्रभुके हो और प्रभु तुम्हारे हैं।)द्वारा उसे भगवत्सम्मुख करा देते हैं।

रामस्नेही संतोंका कथन है कि श्रीराम इस जीवके स्वामी हैं, किंतु उनकी प्राप्ति गुरु-कृपासे होती है। इतना ही नहीं, भगवान्के बनाये हुए प्राणी तो कर्मोंके चक्करमें पड़कर चौरासी लाख योनियोंमें जाते हैं, जबकि गुरु उन्हीं जीवोंको नाम-जपका उपदेश देकर परमपद प्रदान करते हैं—

गोविन्द तैं गुरु अधिक है, रामैं कह्या विचार।
गुरू मिलावै रामकूँ, राम अमर भरतार॥
(गुरुदेवका अंग ३४)

श्रीरामसे गुरु महाराज तभी श्रेष्ठ हैं, जब श्रीरामसे मिला दें। गुरु महाराजमें भी श्रीरामसे मिलानेकी युक्ति भगवत्कृपासे ही प्राप्त होती है—

अकल दई है रामजी, किरपाकर करतार।
रामदास संता लई, और चले जग हार॥
(अकलको अंग १)

अन्तमें आचार्यश्री अपनी दीनता दिखाते हुए प्रभुसे कृपाकी याचना करते हैं—

प्रभुजी हमसा बुरा न कोई, अब राखो सरणै मोई।

क्योंकि—

दास रामियो बालक तेरो, किरपा करो रघुराई।
(पद १६)

राम राय ऐसी किरपा कीजैं, उलट आपमें लीजे॥
मैं पतित करमांका भारा, करमां थाह न कोई।
तुम हो राम पतितके पावन, अबकै तारो मोई॥
मैं हूँ कुचाल करमां हीणो, ओछी बुध हमारी।
तुम हो राम सुखांके सागर, तारो मोहि मुरारी॥
तुम हो दयाल दयाके सागर, विड़द तुम्हारो भारी।
आगे पतित अनेक उधारे, अबकी बेर हमारी॥
और मांह मैं सबही सोधी, हमसा बुरा न कोई।
ताते सरण तुमारी आयो, सुण तारण की सोई॥
तीन लोक मैं सबही फिरियो, हमकूं कोई न राखै।
तुमरी सरण अनेक उधरिया, साधु सास्तर आखै॥
करम कलण मैं सबही कलिया, काढ़ पकड़ मेरी बांही।
चरण गह्यांकी लाज वहीजै, उलट मिलावो मांही॥
रामदासका किया न देखो, तुम हो जैसी कीजै।
अंतर मांही प्रगटो जामी, सनमुख दरसन दीजै॥

आशय है—मैं तो पतित हूँ, आप पतितपावन हैं। मैं तुच्छ बुद्धि, किंतु आप दयासागर हैं। अपने विरुदकी ओर देखिये। आपने अनेक पतितोंका उद्धार किया है। त्रिलोकीमें आपके सिवा मुझे रखनेवाला कोई नहीं है। मेरे दोषोंको न देखकर आप अपनी कृपालुताकी ओर देखकर दर्शन दीजिये—

इस प्रकार साधक गुरु-कृपा और भगवत्कृपाके आश्रित रहकर निर्भय हो जाता है—

चिन्ता दीनदयालको, मो मन सदा आनन्द।
जायो सो प्रति पालसी, रामदास गोविन्द॥

गुरु-कृपाका फल

गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दसा को गहै,
गुरु के प्रसाद भवदुःख बिसराइये।
गुरु के प्रसाद प्रेम, प्रीतिहु अधिक बाढ़े,
गुरु के प्रसाद, राम नाम गुण गाइये॥
गुरु के प्रसाद, सब जोग की जुगति जानै,
गुरु के प्रसाद, सून्य में समाधि लाइये।
'सुंदर' कहत, गुरुदेव जो कृपालु होइ,
तिन के प्रसाद, तत्वग्यान पुनि पाइये॥

—दादूपन्थी संत श्रीसुन्दरदासजी

रामस्नेहिसाधनामें कृपाका अङ्कन

(लेखक—साधु श्रीबलरामदासजी महाराज, शास्त्री)

रामस्नेहिसाधनामें आदि, अनादि, अविनाशी परमपुरुष श्रीरामको ही इष्टरूपसे स्वीकार किया गया है।* संतोंने संत-कृपा, गुरु-कृपा और नाम-कृपाको भी विशेष आदर दिया है, परंतु इन कृपाओंका मूल आधार श्रीराम-कृपाको ही माना है। श्रीराम-कृपा ही भगवत्कृपा है।

जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें केवल श्रीराम-कृपाका ही आश्रय और बल माननेवाले संत कहते हैं—

राम किरपाको आसरो, राम किरपाको जोर।
राम बिना दीसे नहीं, तीन लोकमें ठौर॥

संत भजन-साधनमें भी अपने बल, पुरुषार्थ, योग्यता आदिको आदर न देकर श्रीराम-कृपाकी ही प्रधानता मानते हैं—

राम किरपा जब होत है तब कह्या जात है राम।
राम किरपा बिन 'सन्तदास' होत नहीं यह काम॥
(संतवाणी)

श्रीराम-भजनके लिये विरह (तड़पन—व्याकुलता) भी हरिकृपासे ही प्रकट होता है, जो मोह-निद्रामें सोये हुए साधकको जगा देता है—

'दरिया', हरिकिरपा करी, बिरहा दिया पठाय।
यह बिरहा मेरे साधको, सोता लिया जगाय॥
(रामस्नेहिधर्माचार्य, विरहका अङ्ग)

संत-कृपा—

संत श्रीपूरणदासजीका कथन है कि मोह-ममतारूप विषय-विकारोंका नाश अनन्त युगोंमें संत-कृपासे होता आया है; परंतु इस संत-कृपाके साथ श्रीराम-कृपा (प्रताप—प्रभाव) ही मुख्य है—

संत शिरोमणि अनन्त जुगो-जुग भक्ति हेतु अवतारा।
'जन पूरण' परताप रामके मिट गया विषय विकारा॥
(भक्तमाल-वाणी)

रामस्नेहिधर्माचार्य श्रीदरियाव महाराज भी कहते हैं— संत-कृपासे संसारका उद्धार हो सकता है; परंतु वह तो केवल निमित्तमात्र है, उद्धार करनेवाले तो श्रीराम (भगवत्कृपा) ही हैं—

दरिया साधु किरपा करे, तो तारे संसार।
तारणहारा राम है, जामें फेर न सार॥

यह 'श्रीराम-कृपा' संतोंकी माँ है, जो राग-द्वेषादि मलको दूर कर पवित्र बनाती है—

'किशनदास' बालक धरे, मल मूत्तर पर हात।
नाय धोय उजला करे, ऐसी मेरी मात॥
(संतवाणी)

गुरु-कृपा—

श्रीराम-कृपासे प्रेरित होकर गुरु महाराजने भी कृपा की और संशय-मोहरूपा भवनदीकी बाढ़से हाथ पकड़कर निकाल लिया—

जन 'दरिया' ऐसी करी गुरु किरपा मोहि आय।
× × ×
भवजल बहता जाय था संसय मोह की बाढ़।
'दरिया' गुरु किरपाकर, पकड़ बाँह लिया काढ़॥

रामस्नेही संत श्रीकिशनदासजी गुरु-कृपाके विषयमें कहते हैं कि गुरुदेवने कृपाकर मुझ निर्धनको (सार-तत्त्व) श्रीरामनामके धनसे धनवान् बना दिया। यह धन गुरु-कृपा बिना मिलना कठिन है—

किशनदास सतगुरु किया, निर्धन सूँ धनवन्त।
किरपा कर मुझ ऊपरे, दियो रामनाम निजतन्त॥
(संतवाणी)

नाम-कृपा—

श्रीराम, संत और गुरु-कृपाकी तरह 'नाम-महाराज'की कृपा भी प्राणिमात्रपर समानरूपसे बरस रही है। नाम-महाराजके यहाँ धनी, गरीब सबका समान अधिकार है, केवल नाम-जहाजमें बैठनेकी देरी है। नाम-कृपासे सभी पार हो जाते हैं—

'राव रंक दोनों तरैं, जो बैठे नाम जहाज।'
(रामस्नेही-धर्माचार्य दरियाव म०)

ये नाम-महाराज ही सबका योग-क्षेम वहन करनेवाले तथा त्रितापसे संतप्त प्राणियोंकी जलन मिटानेवाले हैं। नाम-महाराजके समान कृपा करनेवाला कोई अन्य देखने

* राम इष्ट आधार और को पूठ दई है। (संतवाणी)

एवं सुननेमे नहीं आया। श्रीरान-नामके रसिक संत श्री-बुधसागरजी महाराज कहते हैं—श्रीराम-नाम अमृत-जैसा मीठा है—

राम-नाम सबका रिछपाला। मेटे नाम अगनीकी जाला॥
नाम सरीसा सुण्या न दीठा। रामनाम अमृत सम मीठा॥

(संत-वाणी)

श्रीराम-कृपा—

सबपर समानरूपसे कृपा करनेके कारण ही संतोंने सृष्टिके सिरजनहार, गरीबनिवाज, अनेक पतितोंको पावन करनेवाले प्रभुको अपने मस्तकका मुकुट बनाया है—

सिरजनहारा सिष्टीका, सो मेरा सिरताज।
किता पतित पावन किया, राम गरीब निवाज॥

(संतवाणी, श्रीसुखरामदासजी महाराज)

जिसने भी श्रीरामजीकी दयापर विश्वास किया, उसके सभी मनोरथ पूर्ण हुए, ऐसा संत अभावाईका कहना है—

दयाकरी दयाल मेहर मुझ ऊपरे।
'जन अभा' भज राम, मनोरथ सब सरे॥

दयाके भण्डार, सदैव साथ रहनेवाले और सामर्थ्यवान् श्रीरामका भजन करना चाहिये; भूलकर भी अन्यकी ओर नहीं ताकना चाहिये। (श्रीराम-कृपारूप) हीरेको छोड़कर (संसारकी कृपारूप) काँचको कौन ग्रहण करेगा ?—

समरथ राम दयाल भजो मन
सो तेरे संग सदाई रहेरे।
काहि कूँ भूल लगे मत और सूँ
हीर कूँ छाड क्यों काच गहेरे॥

(संतवाणी, श्रीप्रेमदयालजी महाराज)

वे श्रीराम दयावान्, रक्षक और जीवोंके गुण-अवगुण न देखकर अहैतुकी कृपा करनेवाले हैं—

दयावन्त हैं रामजी, जीवोंका रिछपाल।
गुण-अवगुण देखे नहीं 'रामकरण' किरपाल॥

श्रीरामजीकी कृपाके विषयमें संत सावंतरामजी अपने 'चेतावनी'ग्रन्थमें लिखते हैं—'हे नर ! जिन्होंने गर्भवासके महान् कष्ट (जठराग्निकी दहकती ज्वाला)से बचाया और उलटे मुँह लटकते हुएका पोषण किया, वे श्रीराम कितने कृपालु हैं !—

महा संकट गर्भवासमें जठर अगनकी जाल।
ऊँधे मुख नर पोखियो ऐसा राम किरपाल॥

जो कृपाशक्ति सब संतोंकी सहायता करती है, उसी श्रीराम-कृपासे महान् कष्टके समय जीवनदानके लिये याचना करते हुए कहा गया है—

सब संतनके सहाय हो, तुम बिन और न कोय।
कह हरको किरपा करो, तब हम जीवण होय॥

(भरोसा रो अङ्ग, श्रीहरकारामजी महाराज)

दूसरी ओर संत दयारामजी कहते हैं—हमारे स्वामी जो भी करें, वही मुझे स्वीकार है। मैं निःसंदेह मन-वचनसे उसे ही अच्छा मानूँगा, भूलकर भी संशय नहीं करूँगा; क्योंकि ऐसा करके मेरे स्वामी श्रीरामजी कृपापूर्वक दासकी महिमा बढ़ाते हैं। अतः श्रीराम-कृपासे जो हो रहा है, उत्तम है। मैं कृपास्वरूप सुख-सागरमें तैरता रहूँ, यही चाहना है—

धणी हमारो जो करे सो ही हमें कबूल।
जा में तिल सांसो नहीं, मनसा, वाचा सूल॥
मनसा वाचा सूल भूल नहीं धोखो आवे।
राम धणी कर महर दासकी परत बधावे॥
दयाराम आछी सदा हर सुख सागर भूल।
धणी हमारो जो करे सो ही हमें कबूल॥

(संतवाणी)

जीवमात्रको आनन्दित करनेवाली श्रीराम-कृपाकी अजस्र वृष्टि हो रही है, परंतु सांडियाँ[1]-स्वभाववाले प्राणी इस कृपाका अनुभव तो क्या करें, उलटे आड़ लगा लेते हैं (कि हमारे-जैसोंके भाग्यमें कृपा कहाँ लिखी है); फिर भी कृपाशक्तिसे तो लाभ होता ही है—

दरिया इन्द्र[2] पधारिया, कर धरती सूँ हेत।
सब जीवाँ आनन्दभया, सांडे दर मुख रेत॥

(आचार्य श्रीदरियाव महाराज)

आचार्यश्री तो उस महाकृपा-रसका पान करना ही श्रेयस्कर मानते हैं—

'जन दरिया' रामनके दासा, महा किरपा रस पीवैं।'

---

१. राजस्थानी रेतीले टिब्बोंमें रहनेवाला एक क्षुद्र जन्तु, जो वर्षा होनेकी सम्भावना होते ही अपने बिलको बंद कर लेता है। यद्यपि वर्षा होनेपर उसके बिलमें भी जल पहुँच ही जाता है।

२. बादल।

सिख-मतमें भगवत्कृपा

[नदरि करे ता सिमरिआ जाइ !]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

किउ सिमरी सिवरिआ नहीं जाइ।
तपै हिआउ जीअड़ा बिललाइ॥
सिरजि सवारे साचा सोइ।
तिसु विसरिऐ चंगा किउ होइ॥
हिकमति हुकमि न पाइआ जाइ।
किउ करि साचि मिलउ मेरी माइ॥

हृदय जल रहा है। चित्त वेदनासे विकल हो रहा है। जिन प्रभुने सारी सृष्टिकी रचना की है, वे ही एकमात्र सत् हैं। उन्हें भुला देनेसे कैसे काम चलेगा ? हिकमतसे, धूर्तत्तासे, चालाकीसे सत्यकी प्राप्ति होनेवाली है नहीं। प्रश्न यही है कि उस 'सतनाम'को पाया कैसे जाय ? उसके मिलनके लिये दिलमें जो बेचैनी है, उससे छुटकारा कैसे मिले ?

इससे छुटकारेका एक ही उपाय है—भगवत्कृपा, दया, मेहर, नदरि—

जैसी नदरि करे तैसा होइ।
विनु नदरी नानक नहीं कोइ[१]॥

× × ×

सब कुछ निर्भर है प्रभुकी कृपापर। जैसी उनकी कृपा, वैसा उसका परिणाम।

शब्द-साधनाके लिये भी तो उनकी नदरि—कृपा चाहिये—

नदरि करे ता सिमरिआ जाइ।
आतमा द्रवै रहै लिव लाइ॥
आतमा परात्मा एको करै।
अंतरकी दुविधा अंतरि मरै॥
गुर परसादी पाइआ जाइ।
हरि सिउ चितु लागै फिरि कालु न खाइ[२]॥

प्रभुकी कृपा होनेपर ही, उनकी नदरि होनेपर ही नाममें रस आता है। नाम-स्मरणसे हृदयकी कठोरता मिटती है, उसमें कोमलता आती है, प्रभुके चरणोंमें लौ लगती है, आत्मा-परमात्माका मिलन होता है और मनकी सारी दुविधाएँ मिट जाती हैं। गुरुप्रसाद (कृपा)से यह सब बनता है। प्रभुसे चित्त जुड़ते ही कालका डर जाता रहता है।

प्रभुकी कृपाका, उनकी दयालुताका, उनकी नदरिका साधनामें बड़ा महत्त्व है। नदरि हुई कि बेड़ा पार। फिर बनवारीसे मिलनेमें देर कहाँ—

जगजीवनु दाता पुरुख विधाता।
सहजि मिले बनवारी॥
नदरि करहि तू तारहि तरीऐ।
सचु देवहु दीन दइआला॥
प्रणवति नानक दासनिदासा।
तू सरब जीआ प्रतिपाला[३]॥

× × ×

नदरि हो तो नाम-स्मरण होता है। उसमें रस आता है। उसमें मन लगता है। नदरि (भगवत्कृपा) हो तो भगवच्चरणोंकी प्राप्ति होती है। नदरि हो तो जीवनमें सत्यकी प्रतिष्ठा होती है—

बड़े मेरे साहिबा अलख अपारा।
किउ करि करउ बेनंती॥
हउ आखि न जाणा,
नदरि करहि ता साचु पछाणा[४]॥

नदरि हो तो मोह-मायासे भी छुटकारा मिलता है—

मोहु कुटंबु मोहु सभ कार।
मोहु तुम तजहु सगल वेकार॥
मोहु अरु भरमु तजहु तुम वीर।
साचु नामु रिदै रवै सरीर॥

बड़ा उलझानेवाला होता है मोहजाल। इससे छुटकारा पाये बिना सत्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सारा संसार इसीमें डूबा है। विरले ही गुरु-कृपासे मोहसे पार जा पाते हैं—

एतु मोहि डूबा संसारु।
गुरमुखि कोई उतरै पारु॥
गुरु दीखिआ ले जपु तपु कमाहि।
ना मोहु तूटै ना थाइ पाहि॥

---

१. गुरुग्रन्थसाहिब, पृष्ठ ६६१। २. वही, पृष्ठ ६६१। ३. वही, पृष्ठ १११२। ४. वही, पृष्ठ ५६७।

गुरु-दीक्षा लेकर, जप-तप करके लोग मोहसे मुक्त होना चाहते हैं, पर कोई सरल बात है मोहसे छुटकारा पाना !

गुरु नानक कहते हैं—

नदरि करे ता एहु मोहु जाइ।
नानक हरि सिउ रहै समाइ[५]॥

अभिप्राय यह कि नदरिके बिना साधकका काम चलनेवाला नहीं।

× × ×

गुरु नानकने 'जपुजी'में बड़ा सुन्दर वर्णन किया है प्रभुकी नदरिका। कैसा सुन्दर रूपक बाँधा है—

जतु पाहारा धीरजु सुनि आरु।
अहरणि मति वेदु हथीआरु॥
भउ खला अगनि तपताउ।
भांडा भाउ अंम्रितु तितु ढालि॥
घडीऐ सबदु सची टकसाल[६]।

भगवन्नामरूप अमृत ढालनेके लिये चलिये, हम चलें सुनारकी दूकानपर। सुनार वहाँ बैठकर गहने ढाल रहा है। जरा देखिये, क्या-क्या है उसकी दूकानमें, उसकी टकसालमें—

'पाहारा'—सुनारकी दूकान है। 'जतु' अर्थात् संयम—भट्ठी है 'धीरजु', अर्थात् धैर्य गढनेवाला सुनार है। जिस अहरण (निहाई) पर ठोक-ठोककर सुनार गहना गढता है—वह है 'मति', बुद्धि।

जिस 'हथिआरु' अर्थात् हथौड़ेसे वह गहने गढता है, उन्हें ठोकता है, वह है—'वेदु', आत्मज्ञान। धौंकनी है—निरभउका 'भउ' अर्थात् परमेश्वरका भय। 'अगनि'—भट्ठीकी अग्नि है—तपस्या, तप। जिस पात्रमें, ढाँचेमें, 'भाँडा'में नामका अमृत ढालना है—वह है 'भाउ' अर्थात् प्रेम, प्रभु-प्रेम। गढ़नेकी चीज है—'सबदु'—शब्द।

कैसी बढ़िया है यह टकसाल !

× × ×

गुरु नानक साधकसे कहते हैं कि तू संयमको अपनी भट्ठी बना, धैर्यको अपना सुनार। बुद्धिको बना अहरन, आत्मज्ञानको अपना हथौड़ा। प्रभुके भयको बना अपनी धौंकनी और तपकी अग्नि प्रज्वलित कर। प्रेमको बना ले साँचा और उस साँचेमें ढाल नामका अमृत। तब तुझे 'सबदु' अर्थात् शब्दकी प्राप्ति हो सकेगी। ऐसी सच्ची टकसालसे ही तेरा काम बनेगा।

अर्थात् साधकके अष्टविध साधन हैं—इन्द्रिय-संयम, धैर्य, सद्बुद्धि, आत्मज्ञान, प्रभुका भय, तपस्या, ईश्वर-प्रेम और प्रभु-नाम। पर इस साधनामें सफलता किसे मिलेगी ? उसीको, जिसपर अकाल पुरुषकी, वाहि गुरुकी कृपा होगी, नदरि होगी—

जिन कउ नदरि करमु तिन कार।
नानक नदरी नदरि निहाल॥

प्रभुकी कृपासे अनेक भक्त निहाल हो गये हैं। साधनाकी बेलमें सिद्धिके सुमन तभी खिलते हैं, जब प्रभुकी कृपा होती है।

× × ×

गुरु नानक समझते थे इस तथ्यको, इसीलिये वे अत्यन्त विनयावनत होकर प्रार्थना करते थे—

दइआ करहु दइआला।
बगुले ते कुनि हंसुला होवै
जो तू करहि दइआला॥
प्रणवति नानकु दासनिदासा,
दइआ करहु दइआला[७]॥

अपनी स्थितिपर विचार करते ही हृदय भर आता है। पता नहीं, क्या गति होगी मेरी !—

ना जाणा हरे मेरी कवन गते।
हम मूरख अगिआन सरन प्रभु तेरी।
करि किरपा राखहु मेरी लाज पते[८]॥

नानकको तो केवल आपके नामरूप स्वातिजल अर्थात् कृपा-जलकी ही पिपासा है। उसीसे उसे आपके चरणोंमें निवास मिल सकेगा। करिये कृपा, हे प्रभो !—

हरि चरन कवल मकरंद लोभित मनो
अनदिनो मोहि आही पिआसा।
कृपाजलु देहि नानक सारिंग कउ
होइ जाते तेरै नामि वासा[९]॥

---

५. वही, पृष्ठ ३५६। ६. जपुजी, पौड़ी ३८। ७. गुरुग्रन्थसाहिब, पृष्ठ ११७१। ८. वही, पृष्ठ ८७६। ९. वही, पृष्ठ ६६३।

जैन-धर्ममें भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

जैन तीर्थंकरोंका विशेषण है—'वीतराग' अर्थात् जिनके राग और द्वेष सर्वथा नष्ट हो चुके हों। ऐसा व्यक्ति न तो अपनी पूजा-भक्तिसे प्रसन्न होता है और न निन्दासे अप्रसन्न ही। वह पूर्ण समत्वकी स्थितिको प्राप्त कर लेता है। वहाँ किसीसे तुष्ट-रुष्ट होनेका कोई प्रश्न ही नहीं रहता। जैन-सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थद्वारा ही महान् बनता है। अतः सिद्ध बनना दूसरेकी कृपा या प्रसन्नताके आश्रित नहीं है।

अब यह प्रश्न उठता है कि तब जैन-मन्दिर क्यों बनाये जाते हैं? उनमें मूर्तिकी पूजा क्यों की जाती है? भक्त जैन कवियोंने भगवान्‌की महिमाके हजारों गीत क्यों बनाये? उनसे विनती-प्रार्थना क्यों की? जैन परमात्मा जब किसीको कुछ देते ही नहीं तो उनसे कुछ भी माँगना व्यर्थ है। जब वे प्रसन्न होकर भक्तका उद्धार नहीं करते तो भक्तद्वारा उनके प्रति की गयी पूजा-भक्ति भी कोई अर्थ नहीं रखती। पर वास्तवमें जैन-दृष्टिकोण इस विषयमें बहुत ही मौलिक एवं स्पष्ट है। जैन-धर्म कहता है कि उन (भगवान्)से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करना भक्तके लिये बहुत ही आवश्यक है। संसारके माया-जालमें फँसकर मनुष्य अपने स्वरूपको भूल चुका है। इसलिये भगवान्‌को देखकर वह अपने स्वरूपका ज्ञान करता है कि मैं भी वैसा ही हूँ, मुझे भी वही बनना है। इस बातकी निरन्तर स्मृति उसे भगवान् बननेके लिये प्रेरित करती रहती है। यद्यपि अपने उद्धार, मुक्ति या परमपद प्राप्त करनेका मूल अथवा उपर्युक्त कारण तो वह स्वयं ही है, पर निमित्त कारण वे पुरुष हैं, जो भगवान् बन चुके। उनके अवलम्बनसे परमात्मपद-प्राप्तिका इच्छुक व्यक्ति अपनी शक्तियोंको, दबे और छिपे हुए, गुणोंको प्रकट करता है। उस आवरणको हटानेमें जिस पुरुषार्थकी आवश्यकता है, उसकी प्रेरणा तीर्थंकर आदि महापुरुषोंसे मिलती है, जो भगवान् बन चुके हैं, इसीलिये मानव उनकी पूजा-भक्ति करता है। यद्यपि तत्त्वतः जैन-परमात्मा उपकार-भावनासे किसीका कुछ भी नहीं करते, पर दूसरोंके लिये वे अपने-आप उपकारी बन जाते हैं; क्योंकि उनकी प्रेरणासे दूसरे व्यक्ति अपने उत्थानमें प्रवृत्त होते हैं। जब भी उनके मनमें या कार्यमें शिथिलता आती है, तब वे तीर्थंकर महापुरुषोंके जीवनसे यह प्रबोध पाते रहते हैं कि वे भी मेरे-जैसे ही व्यक्ति थे, जब उन्होंने प्रबल पुरुषार्थ करके 'केवली ज्ञान' प्राप्त कर लिया तो मैं क्यों नहीं उस पदको प्राप्त कर सकता? उन्होंने विघ्न-बाधाओंको समतासे सहन करके पूर्ण सफल विजय प्राप्त की तो मुझे भी साहस होना चाहिये। मुझे उनके-जैसा ही पुरुषार्थ करके उसे अवश्य प्राप्त करना चाहिये।

जब (जीव) अपना आत्मस्वरूप भूल चुका है, तब परमात्माके दर्शन, पूजन, भक्ति, स्मरण, उपासना और आराधनाद्वारा अपने परमात्मस्वरूपकी स्मृतिको जगाने और बनाये रखनेमें सहायता होती है, अतः परमात्माका स्मरण और गुणगान इसलिये किया जाता है। भगवान्‌की प्रशान्त मुद्राको देखकर वह (भक्त) भी वीतराग बनना चाहता है।

सच्चे भक्त या उपासक इस पदकी कामना नहीं होते, इसीसे बहुतसे भक्तोंने अन्य धर्मानुयायियोंकी भी तरह जैनतीर्थंकरोंसे भी उनकी कृपाकी याचना की है। पर वस्तुतः यह उनकी ही कृपा है कि वे आदर्शरूप स्थितिसे क्रमशः आगे बढ़ते हुए उस परमात्मपदको प्राप्त करना चाहते हैं, जिसे जैनतीर्थंकरोंने प्राप्त कर लिया है।

यों जैन सिद्धान्तकी दृष्टिसे अर्हन्त या सिद्ध परमात्मा यद्यपि अपने ही स्वरूपमें लीन हैं और किसीपर प्रसन्न या अप्रसन्न होकर कुछ लेते-देते नहीं हैं, फिर भी उन परमात्माओंके महान् गुणस्मरणसे जनताके जीवोंको परम शान्ति मिलती है। जो भी उनका आश्रय लेता है, उनकी भक्ति या उपासना करता है, उसपर तो उनकी मानो कृपा हो जाती है, जिससे वह अपने (भक्तके) कर्मोंकी गुत्थी तोड़कर सत्प्रवृत्तियोंमें लग जाता है। अतः परमात्माके शुद्ध और पूर्ण आलम्बनसे वह स्वयं अपने समस्त कर्मोंको नष्ट करके परमात्मा बन जाता है। इस दृष्टिसे भगवत्कृपा भक्तको सहज और निरन्तर मिलती रहती है, भगवान् तो उसके लिये निमित्त कारण बनते हैं, जिनके आश्रयसे वह अपने शुद्ध-बुद्ध और परमात्म-स्वरूपको प्रकट करनेका पुरुषार्थ करता है और अन्तमें उन्हीं अनन्त परमात्माओंकी तरह स्वयं भी वही बन जाता है। भक्त भगवान् बन जाता है। संसारी जीव मुक्त हो जाता है, समस्त राग-द्वेषसे ऊपर उठ जाता है, संसारके किसी भी छल-प्रपञ्चसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। फिर उसके लिये जन्म-जरा-मरण नहीं रह जाते, संसारमें आनेकी आवश्यकता नहीं रहती। वह अपने अन्तिम ध्येय मुक्तिको प्राप्त कर लेता है। सदाके लिये पूर्ण हो जाता है।

महायान बौद्ध-धर्ममें भगवत्कृपा एवं गुरुकृपा

(लेखक—डॉ० श्रीनिखिलेशजी शास्त्री, एम्० ए०, एम्० लिट्०, पी-एच्०डी०)

ईसासे पूर्व छठी शताब्दीमें कृपावतार भगवान् बुद्धका आविर्भाव हुआ। बुद्धत्व-प्राप्तिके पश्चात् शक्र एवं ब्रह्माके अनुरोधपर बुद्धने बहुजनहिताय-बहुजनसुखाय धर्मोपदेश किये और बौद्ध-धर्मके रूपमे एक नयी धारा प्रवाहित की। भगवान् बुद्धका व्यक्तित्व अत्यन्त दिव्य था। उनके उपदेश इतने प्रभावशाली थे कि अल्पकालमे ही बहुत-सा जन-समुदाय उनका अनुयायी बन गया। बुद्धके जीवन-कालमे ही बौद्धधर्मावलम्बियोंकी भारी संख्या बन चुकी थी और सभी एक सूत्रसे बुद्धके द्वारा बतलाये गये मार्गका अनुसरण कर रहे थे।

किंतु भगवान् बुद्धके महापरिनिर्वाणके पश्चात् इन बौद्धोंमे धर्म-सम्बन्धी कुछ मतभेद होने लगे, जिनके फलस्वरूप ईसाकी पहली शताब्दीमें बौद्ध-धर्म दो प्रमुख सम्प्रदायोंमे विभक्त हो गया—एक हीनयान एवं दूसरा महायान। हीनयानके बौद्ध भिक्षुओंने बुद्धको 'शास्ता'के रूपमे माना तथा महायानी बौद्धोंने बुद्धको 'लोकोत्तर' तथा 'भगवान्'की मान्यता प्रदान की।

महायान बौद्धधर्मका मुख्य उद्देश्य 'बुद्धत्व' प्राप्त करना है। अतः इन महायानी बौद्धोंने बुद्धत्व-प्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ मुमुक्षुको 'बोधिसत्त्व'की संज्ञा दी। यह बोधिसत्त्व अनेक जन्म-जन्मान्तरोंमें अनेक कष्ट एवं यातनाएँ सहन करता हुआ अपने चरम लक्ष्य बुद्धत्वकी ओर अग्रसर होता है; किंतु बीच-बीचमे ऐसी कई सम्भावनाएँ उपस्थित हो जाती हैं, जिनके कारण वह मार्ग-भ्रष्ट भी होने लगता है—ऐसी स्थितिमे उसे समय-समयपर भगवत्कृपा एवं गुरुकृपा प्राप्त होती है, जिससे वह (बोधिसत्त्व) अपने मार्गसे भ्रष्ट न होकर बड़े धैर्यसे अपने गन्तव्यकी ओर बढ़ता रहता है।

महायान बौद्धसाहित्यमे ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध हैं, जहाँ भगवत्कृपाद्वारा संसारके क्षणिक सुखोंमें लीन जीवका उद्धार किया गया है। आचार्य अश्वघोषने अपने 'सौन्दरानन्द'-काव्यमे ऐसी भगवत्कृपाका उल्लेख किया है। भगवान् बुद्धके चचेरे भाई नन्द अपनी पत्नी सुन्दरीमें विशेष आसक्त रहते थे। बुद्धने अनुभव किया कि नन्द इन क्षणिक सुखोंमे ही अपने सम्पूर्ण जीवनको नष्ट कर देगा और कभी स्थायी आनन्द प्रदान करनेवाले मेरे धर्मको स्वीकार न करेगा। परमार्थ-पथका पथिक बननेके उद्देश्यसे वे अपनी दिव्य शक्तियोंद्वारा नन्दको स्वर्गमे ले गये और उसे अतुलित सौन्दर्यसे युक्त अनेक अप्सराएँ दिखलायीं। इन अप्सराओं-को देखकर नन्द अपनी पत्नीको तो भूल गया और इन अप्सराओंकी प्राप्तिकी कामना-लालसा करने लगा। भगवान् बुद्धने नन्दसे कहा कि ये सुन्दरियाँ केवल कठोर तपद्वारा ही प्राप्त की जा सकती हैं। अप्सराओंकी प्राप्तिके लालचसे नन्द कठोर तप करने लगा; किंतु इस तपस्याके मध्य ही उसे आध्यात्मिक आनन्दकी अनुभूति होने लगी। तभी नन्दको यह अनुभव हुआ कि अप्सराओंकी प्राप्तिके आनन्दकी अपेक्षा यह आध्यात्मिक आनन्द उच्चकोटिका है। अतः उसने इस दृष्टिसे बुद्धके द्वारा बतलाये गये मार्गको अङ्गीकार किया और उद्धारको प्राप्त हुआ। इस प्रकार भगवान् बुद्धकी विशिष्ट कृपाद्वारा ही नन्द सांसारिक भोगोंका सर्वथा त्याग कर परमार्थको प्राप्त कर सका।

वैशालीकी नगरवधू आम्रपाली भगवत्कृपाद्वारा ही अपने हीन जीवनसे मुक्त होकर बौद्ध-भिक्षुणी बनी और कल्याणको प्राप्त हुई।

इसी प्रकार तत्कालीन कुख्यात डाकू अनाथपिण्ड जनता-के त्रासका कारण बना हुआ था। वह अत्यन्त हिंसक एवं खूँखार प्रवृत्तिका था; किंतु उसका भी उद्धार भगवत्कृपाद्वारा ही हुआ।

घटना इस प्रकार बतलायी जाती है कि एक बार भगवान् बुद्ध अनाथपिण्डके वनमे प्रवेश करने लगे। मार्ग-मे खड़े हुए कुछ व्यक्तियोंने बुद्धको आगाह किया कि वे भयानक डाकूके क्षेत्रमें न जायँ; क्योंकि वहाँसे जीवित लौटना असम्भव है। बुद्ध ऐसी बातोंपर ध्यान न देते हुए आगे बढते गये; क्योंकि उनका उद्देश्य दुष्टोंको सन्मार्गपर लाना था। आगे चलते हुए उन्हें वही भयावह डाकू मिला, जो अस्त्र-शस्त्रसे युक्त था। भगवान् बुद्ध अनाथपिण्डको देखकर तनिक भी विचलित नहीं हुए और आगे बढ़ते गये।

अनाथपिण्ड अपने वनमे एक अनजान व्यक्तिको देखकर क्रोधसे तमतमा उठा और गरजकर बोला—'ठहरो' ! बुद्धने बड़ी सरलतासे कहा—'मैं तो ठहरा हूँ । तुम यहाँ चले आओ ।' बुद्ध पैदल चल रहे थे और अनाथपिण्ड बड़ी तेजीसे दौड़कर उनका पीछा कर रहा था, तब भी वह उन्हें पकड़ न पाया। यह दृश्य देखकर अनाथपिण्डकी मनोवृत्तिमे सहसा परिवर्तन हुआ । उसने विचार किया कि यह पैदल चलता हुआ व्यक्ति मेरे तीव्र गतिसे दौड़नेपर भी नहीं रोका जा सका, अतः निश्चय ही यह अलौकिक शक्तियोंसे सम्पन्न महामानव है । डाकू अनाथपिण्डके मनमे आये हुए इस सद्विचारको बुद्ध समझ गये और उसके निकट जाकर खड़े हो गये। भगवान् बुद्धके दिव्य व्यक्तित्वको निकटतासे देखकर वह डाकू अपनी समस्त हिंसक प्रवृत्तियोंका त्याग कर भगवान् बुद्धके चरणोंमे गिर पड़ा और उस समय भगवत्कृपाद्वारा परम श्रेयको प्राप्त हुआ ।

इन कतिपय दृष्टान्तोंसे ज्ञात होता है कि भगवत्कृपाद्वारा अनेक दीन-हीन, पतित, कामुक एवं हिंसक जनोंका कल्याण हुआ है ।

भगवत्कृपाके अनुरूप ही महायान बौद्धधर्ममे गुरुकृपाका भी विशिष्ट महत्त्व है। महायान-सम्प्रदायमे गुरुको 'कल्याणमित्र' कहा गया है । वस्तुतः यह 'कल्याणमित्र' एक वरिष्ठ बोधिसत्त्व है, जो अपने अधीनस्थ बोधिसत्त्वोंको बुद्धत्व-प्राप्तिके मार्गका निर्देश करता है । कल्याणमित्र अत्यन्त निर्भय एवं साहसी होनेके साथ-साथ अनेक अलौकिक सिद्धियोंसे युक्त होता है । अतः धर्म-चर्यामे सहायक यह कल्याणमित्ररूप गुरु उन्हीं भाग्यशाली बोधिसत्त्वोंको प्राप्त होते हैं, जिन्होंने पूर्व जन्ममे सुकर्म किये हों । अनेक ऋद्धि-सिद्धिसे सम्पन्न कल्याणमित्र चमत्कारी होते हैं । ये अपने चमत्कारसे आकाशमे उड़कर एक स्थानसे दूसरे स्थानपर क्षणोंमे पहुँच जाते हैं। ये अपनी ऋद्धियोंके प्रभावसे रोगियोंको असाध्य रोगोंसे मुक्त करने, अंधेको दृष्टि एवं बहरेको श्रवणशक्ति प्रदान करनेकी क्षमता रखते हैं ।

महायान बौद्धधर्ममे ऐसे कल्याणमित्रकी एक सुदीर्घ परम्परा है, किंतु कुछ कल्याणमित्र ही यहाँ उल्लेखनीय हैं । इसके अन्तर्गत मञ्जुश्री, अवलोकितेश्वर एवं मैत्रेय प्रमुख हैं ।

महायानमे 'मञ्जुश्री' ज्ञानके प्रतीक माने गये हैं । हिंदू-धर्ममे जो मान्यता सरस्वती एवं बृहस्पतिकी है, वही मान्यता मञ्जुश्रीके विषयमे यहाँ है । मञ्जुश्री कल्याणमित्रकेरूपमे अपने शिष्योंके अज्ञानको नष्ट कर ज्ञान प्रदान करते हैं । महायान-सम्प्रदायमे 'प्रज्ञापारमिता' ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है, जो प्रत्येक बोधिसत्त्वके लिये अनिवार्यरूपसे मननीय है । मञ्जुश्री अपने शिष्योंको इसी ग्रन्थका ज्ञान प्रदान कर बुद्धत्वके मार्गकी ओर अग्रसर करते हैं।

'अवलोकितेश्वर' महायानमे करुणाके प्रतीक माने गये हैं। ये संसारके दुःखोंसे त्रस्त जीवोंपर कल्याण एवं करुणाकी वर्षा कर उनका उद्धार करते हैं। अवलोकितेश्वर कल्याणमित्रके रूपमे अपने शिष्योंको प्रत्येक जीवपर करुणाभाव रखनेकी शिक्षा देते हैं ।

'मैत्रेय' बौद्धसाहित्यमे बहुत ही मान्य हैं। 'पालिसाहित्य' तथा बौद्ध संस्कृतसाहित्यमे इन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है । हीनयान एवं महायानके बौद्धोंकी यह मान्यता है कि गौतम बुद्धके महापरिनिर्वाणके चार सहस्र वर्ष पश्चात् मैत्रेय 'भविष्य बुद्ध'के रूपमे अवतार लेकर इस भूमिपर उपस्थित होंगे और जीवोंका कल्याण करेंगे। इस आस्थासे बौद्ध मैत्रेयको देवताके रूपमे मानने लगे । अतः 'भविष्य बुद्ध' मैत्रेय देवताके साथ-साथ कल्याणमित्र भी हैं । ये जीवोंमे परस्पर 'मैत्री'की भावना उत्पन्न करते हैं, जिससे किसी भी समाजमे हिंसा, द्वेष तथा अन्य पापकर्म न हों और सभी प्राणी मित्र-रूपमे रहें । इस प्रकारकी भावनासे जगत्मे कलह-क्लेश, हिंसा एवं अन्य असामाजिक तत्त्वोंका सर्वथा अभाव होकर एक आदर्श समाजकी स्थापना हो सकती है ।

कल्याणमित्र मञ्जुश्री, अवलोकितेश्वर एवं मैत्रेय ऐसे सद्गुरु हैं, जो अपनी विशिष्ट कृपासे जनहित करते रहते हैं। इन कल्याणमित्रोंका ध्येय है कि जीवोंमे धर्मका पूर्ण ज्ञान हो, परस्पर दान-दया-करुणा-मैत्रीकी भावना हो, वे सच्चरित्र हों, उनमे साहस एवं वीर्य हो, जिससे वे गुरुकृपासे जगत्के त्रिविध दुःखोंसे मुक्त होकर पारलौकिक आनन्द प्राप्त कर सकें। यही पारलौकिक आनन्द मोक्ष है, निर्वाण है एवं बुद्धत्व है, जो भगवत्कृपा एवं गुरुकृपासे ही सम्भव है ।

विभिन्न धर्मोंमें भगवत्कृपा

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

चार यात्री थे—एक अरब, एक तुर्क, एक पारसी, एक रूमी ।

चारों थके-भूले-प्यासे । एक जगह मिल गये चारों ।
सभी एक दूसरेकी भाषासे अनभिज्ञ ।
पर भूख मिटानेके लिये सब व्याकुल । सब आतुर ।
अरब अपने लिये चाहता था—एनब ।
तुर्क चाहता था—उजम ।
पारसी चाहता था—अगूर ।
रूमी चाहता था—अस्ताफील ।
तभी वहाँ आ निकला एक अगूरवाला ।
सबकी बाँछे खिल गयीं—'यही तो मैं माँग रहा था ।'
सभी अपनी अपनी भाषामें अगूरकी ही माँग कर रहे थे ।

* * *

यही हाल हमारा है ।
जिज्ञासा हम सबको एक ही भगवान्‌की है ।

हम सब उसी भगवत्कृपाके लिये आकुल हैं, जिससे विश्वके सारे काम चलते हैं ।

भगवान् एक ही हैं,
पर हमारी पुकारके शब्द भिन्न-भिन्न हैं ।
विनोबाने भगवान्‌की एक नाम-माला बनायी है—

'ॐ तत् सत् श्रीनारायण तू पुरुषोत्तम गुरु तू ।
सिद्ध बुद्ध तू स्कंद विनायक सविता पावक तू ॥
ब्रह्म मज्द तू यह्व शक्ति तू ईशुपिता प्रभु तू ।
रुद्र विष्णु तू रामकृष्ण तू रहीमताओ तू ॥
वासुदेव गो विश्वरूप तू चिदानन्द हरि तू ।
अद्वितीय तू अकाल निर्भय आत्मलिंग शिव तू ॥'

छत्तीस मनके हैं इस मालामें । विश्वके विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, पंथों और मतोंमें पुकारे जानेवाले प्रभुके विभिन्न नामोंके । घरमें बच्चेको हम बेटा, मुन्ना, बच्चा, बचवा, बबुआ, लल्ला, लाला आदि अनेक नामोंसे नहीं पुकारते ? फिर भगवान्‌के अनेक देशोंमें, अनेक भाषाओंमें अनेक नाम हैं तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या ?

* * *

'रस्ते जुदे जुदे हैं मकसूद एक है'

वृक्ष एक है—शाखाएँ अनेक हैं ।
भगवान् एक हैं—उनके नाम और गुण अनेक हैं; पर
'जो जेहि भाव नीक तेहि सोई ।'
(मानस १ । ४ । ५)

भगवान्‌की कृपा, उनकी करुणा, उनकी दया, उनकी मेहर, उनकी तौफीक, उनकी नदरि, उनकी ग्रेस (Grace), उनकी मर्सी (Mercy) अपार है, अनन्त है ।

जिलाये तो वही । खिलाये-पिलाये तो वही ।
रखे तो वही । न रखे तो वही ।
हम सब उसीकी कृपाके आश्रित हैं ।

और इसीलिये हम भिन्न-भिन्न शब्दोंमें एक ही पुकार कर रहे हैं—

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती । जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती ॥
(मानस १ । २७ । २)

(१)

पारसी-धर्ममें भगवत्कृपा

[मज्दा अहुरा हमपर अपनी कृपा बरसा]

'मज्दा' 'अहुरा' या 'होरमज्द' है पारसी-धर्ममें परमेश्वरका परम प्रिय नाम । लगभग ढाई हजार वर्ष पहलेकी बात है । प्रभु जरथुस्त्रको द्रोणपर्वतपर साधना करते समय ध्यानावस्थामें परमेश्वरका दर्शन हुआ । कहा जाता है कि सबसे पहले उनके मुखसे परमेश्वरके लिये यही सम्बोधन निकला—'मज्दा अहुरा ।'

वे बोल पड़े—

य वो मज्दा अहुरा । पइरी जसाइ वोहू मनङ्हा ।
मइब्यो दावोइ अहो । अस्त्वतस्च ह्यत चा मनङ्हो ।
आयसा अपात् हचा । याइश् रपें तो दइदीत् ख्वाथ्रे ॥
(अवेस्ता, यस्न, हा २८ । २)

'हे होरमज्द ! वहमन्‌के द्वारा, प्रेम या ज्ञानके द्वारा आप मेरे तनपर, मेरे मनपर अपनी कृपाकी, अपने आशीर्वादकी वर्षा करें, जिससे मैं पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकूँ । आपके दैवी न्यायका पालन कर सकूँ । जो लोग उसपर चलते हैं, उन्हें आप प्रकाशकी ओर ले जाते हैं ।'

* * *

'मज़्द' कहते हैं महान्‌को। 'अहुर' या 'होर' कहते हैं असुरको। अवेस्तामें असुरका अर्थ है—भगवान् या देव, सुर। 'होरमज़्द'का अर्थ है—महान् देव।

पारसी-धर्ममें ऐसी मान्यता है कि होरमज़्द सर्वोपरि हैं। सारी सृष्टि उन्हींकी रचना है। वे जीवन और प्रकाशके दाता हैं। वे एक हैं, अनन्त हैं, अनादि हैं, पूर्ण हैं, पवित्र हैं, शिव हैं, ऋत हैं, प्रकाश हैं। सबके स्वामी हैं। अर्थात् सत्‌के प्रतीक हैं होरमज़्द।

होरमज़्दके सात अङ्ग माने गये हैं—

(१) परम प्रभु होरमज़्द।
(२) वहमन्—अच्छा मन, प्रेम या ज्ञान।
(३) अषवहिश्त—पवित्रता, सत्य, ऋत।
(४) शहरॅवर्—शक्ति, बल, सामर्थ्य।
(५) स्पँदारमत्—नम्रता, विश्वास।
(६) ख्वरदात्—पूर्णता।
(७) अमर्‌दात्—अमरता—अमृतत्व।

* * *

सत् और असत्‌का विरोध अनन्तकालीन है। मानव-हृदय अखाड़ा है इन दोनों वृत्तियोंका। प्रतिक्षण दोनोंमें द्वन्द्व चलता रहता है। कभी एककी विजय होती है, कभी दूसरेकी।

पारसी-धर्ममें सत्‌के ग्रहण और असत्‌के त्यागपर बड़ा जोर दिया जाता है। 'स्पेंतामैन्यू' है—शुद्ध आत्मा। 'अग्रामैन्यू' है—दुष्ट आत्मा। इस अग्रामैन्यू, अहिरामन, द्रुज, दुर्जन, दएवा अर्थात् राक्षसका विरोध करना परम आवश्यक माना गया है।

कहा गया है कि मनुष्यका जन्म इसीलिये हुआ है कि वह सत्‌को ग्रहण करे—

'हुमतनॉम् हुख्तनॉम् ह्वरस्तनॉम्।'

हम पवित्र विचार करें। हम पवित्र वचन बोलें। हम पवित्र कर्म करें। हमारे विचार, हमारे वचन, हमारे कर्म—सभी पवित्र हों।

ऐसा जीवन बितानेसे ही पृथ्वीपर सत्‌का और प्रेमका राज्य स्थापित किया जा सकेगा।

* * *

मानवके कर्तव्योंका विवेचन करते हुए पारसी-धर्ममें बार-बार इन्हीं बातोंपर जोर दिया गया है कि मनुष्य सबसे प्रेम करे, सबपर दया करे, कृपा करे, दान दे, श्रम करे, स्वावलम्बी बने। वह मनुष्योंकी ही नहीं, अपितु पशु-पक्षियोंकी भी सेवा करे।

कहा गया है कि सत्‌के उपासक होरमज़्दकी ओर जाते हैं और असत्‌के उपासक अहिरामनकी ओर। सद्विचार, सद्वचन और सत्कर्मसे ही भगवत्कृपाकी उपलब्धि होगी—

वोहू क्षथ्रॅम् तोइ मज़्दा अहुरा
अषएमा वीस्पाइ यवे।
हुक्षथ्रस्तू नॅ ना वा नाइरी
वा क्षएता उवोयो अहूहो हातॉम् हुदास्तॅमा॥
(यस्न, हा ४१। २)

'हे होरमज़्द! आप हमपर ऐसी कृपा करें कि हम आपके कल्याणमय राज्यमें सदा निवास करें। हे परम दयालु परमेश्वर! आप हमपर और प्रत्येक स्त्री-पुरुषपर अपनी कृपा बरसाइये। हम सबपर आपका कल्याणदायी शासन चले।'

* * *

मानवको बार-बार सावधान किया गया है कि वह असत्‌से अपने-आपको सदा बचाये। कहा है—

अत् चा यदा अएषॉम्। कएना जमइती अएनङ्हॉम्॥
अत् मज़्दा तइब्योक्षथ्रम्। वोहू मनङ्हा वोइवीदाइते॥
अएइब्यो सस्ते अहुरा। योइ अषाइ दर्दॅन् ज़स्तयो द्रुजॅम्॥
(यस्न, हा ३०। ८)

'जब पाप करनेवालोंको उसका बुरा फल भोगना पड़ेगा, तब हे होरमज़्द! वे समझ पायेंगे कि क्या है आपकी शक्ति और क्या है आपकी सत्ता। उनपर अषा, आपका सत्य प्रकट होगा, जिससे वे द्रुजको, गलत रास्तेको छोड़कर सही रास्तेपर आना सीखेंगे।'

* * *

कू अषवा अहुरो।
यॅ इज्यातॅङ्हश हॅमिथ्यात्, वस इतोइश्वा।
तत् मज़्दा तवा क्षथ्रॅम्।
या ॲरॅज़्ज्योइ दाही द्रिगओवे वह्यो॥
(यस्न, हा ५३। ९)

'हे मज़्दा! अषाका देवता कहाँ है? हे मज़्दा! यह आपकी ही सत्ता है कि आप सदाचारी लोगोंको अधिक महत्त्व देते हैं। जो लोग हृदयके दीन हैं, नम्र हैं, विनीत हैं, उन्हें आप ऊपर उठाते हैं।'

* * *

पारसियोंका परम पवित्र मन्त्र है—'अहू वइर्यो ।'

हिंदुओंके गायत्रीमन्त्र-जैसा, मुसल्मानोंके कलमाकी तरह पवित्र मन्त्र है यह। इसमें भी भगवत्कृपा पानेका साधन बतलाया गया है। कहा है—

यथा अहू वइर्यो अथा रतुश् अषात् चीत् हचा ।
वङ्हॅउश् दज़्दा मनङ्होइयओथननॉम् अङ्हॅउश मज़्दाइ।
क्षथ्रम्चा अहुराइ आइम् द्रिगुब्यो ददत् वास्तारॅम् ॥
(यस्न ० । १५)

'राजा जिस प्रकार शक्तिशाली होता है, उसी प्रकार अषा, ऋत और सत्यके भण्डार हैं होरमज्द । परम शक्तिशाली हैं वे । उन प्रभुके निमित्त जो निष्काम भावसे सत्कर्म करता है, दीन-दुःखियोंकी सेवा-सहायता करता है, उसपर वहमन्की, ईश्वरीय प्रेमकी वर्षा होगी । परम प्रभु होरमज़्द उसपर अवश्य ही कृपा करेंगे ।'

(२)

यहूदी-धर्ममें भगवत्कृपा

[डर मत, यहोवा तेरे साथ है !]

परमेश्वर एक हैं। उन्होंने जीव और जगत्की रचना की है। वे सर्वव्यापी हैं, प्रेममय हैं, करुणामय हैं। वे सूर्यकी भाँति स्पष्ट और अन्धकारकी भाँति रहस्यमय हैं। वे प्रसन्न होते हैं सत्कर्मसे, प्रेमसे, करुणासे, स्नेहिल व्यवहारसे। सच्चे, भले, उदार और चरित्रवान् लोगोंपर वे अपनी कृपा बिखेरते हैं। उनका सर्वोत्तम नाम है—यहोवा, यह्व (Yahweh)। यह है यहूदी-धर्मकी मान्यता।

* * *

पुरानी बाइबिल (Old Testament) है यहूदियोंका मूल धर्मग्रन्थ। उसके तीन भाग हैं—तोरा, नबी और नविश्ते (कुतूबीम)। इसके अतिरिक्त 'तालमुद'में भी यहूदी-धर्मकी व्यवस्था-सम्बन्धी बातें हैं।

इन सभी धर्मग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर भगवत्कृपाका उल्लेख है।

* * *

यहोवा कहते हैं—'मुझसे प्रेम करना है, मेरा कृपा-पात्र बनना है तो अपने भाइयोंसे—मनुष्यमात्रसे, प्राणिमात्रसे प्रेम कर। पूरे मनसे, वचनसे, कर्मसे प्रेम कर। सबकी सेवा कर। सदाचारका पालन कर। श्रम कर। लालच न कर। न मुनाफा ले, न व्याज। न किसीका शोषण कर और न किसीको सता।'

* * *

हजरत मूसा जब सौ वर्षकी आयुमें प्राण-त्याग करने लगे तो बोले—

'मैं यहोवाके नामका प्रकाश करता हूँ। वे परमेश्वर महान् हैं, पूर्ण हैं, न्यायी हैं, सत्य हैं। वे ही हैं तुम्हारे पिता। उन्होंने तुम्हें बनाया है। वे न्याय करेंगे। दासोंपर दया करेंगे। उनका सानी कोई नहीं। वे ही मारते हैं, वे ही जिलाते हैं। वे अनन्त हैं। उन्हींकी पूजा करो। आमीन !'

* * *

यहोवाको कुछ बातें नापसंद हैं। छः क्या सात बातोंसे यहोवाको घृणा है—

घमंडसे चढ़ी हुई आँखें।
झूठ बोलनेवाली जीभ।
निर्दोषका खून बहानेवाले हाथ।
अनर्थ कल्पनाएँ करनेवाला मन।
बुराईकी ओर दौड़नेवाले पैर।
झूठ बोलनेवाला गवाह और
भाई-भाईके बीच फूट डालनेवाला मनुष्य।
(नीतिवचन ६ । १६—१९)

* * *

कैसे कृपालु हैं यहोवा !

कहा गया है उनके लिये कि आपकी आँखें ऐसी शुद्ध हैं कि आप बुराईको देख ही नहीं सकते।
(हबक्कूक १ । १२-१३)

आप कहते हैं—'मैं उसीकी ओर देखूँगा, जो दीन है, जिसके मनमें खेद रहता है और जो मेरा वचन सुनकर दहशत मानता है।'
(यशायाह ६६ । १-३)

* * *

परमेश्वर हमपर कृपा क्यों नहीं करते, हमसे दूर क्यों रहते हैं ? इसका विवेचन करते हुए यशायाह (५९ । १-१५)में कहा गया है—

'यहोवाके हाथ ऐसे छोटे नहीं हो गये कि उद्धार न कर सकें। उनके कान ऐसे भारी नहीं

हो गये कि सुन न सकें। परंतु तुम्हारे अधर्मके कामोंने ही तुम्हें तुम्हारे प्रभुसे दूर कर रखा है। तुम्हारे पापोंके कारण ही उनका मुख तुमसे ऐसा छिपा है कि तुम्हें ऐसा लगता है जैसे वे तुम्हारी बात ही नहीं सुनते।

कारण यह है कि तुम्हारी अँगुलियाँ हत्या और अधर्मके कामोंसे अपवित्र हो गयी हैं। तुम्हारे मुखसे झूठी बातें निकलती हैं। तुम्हारी जीभ गंदी बातें उगलती है।

कोई मनुष्य धर्मपूर्वक नालिश नहीं करता। कोई सचाईसे मुकदमा नहीं लडता। लोग झूठपर भरोसा रखते हैं और फालतू बातें बकते रहते हैं। उत्पात करते रहते हैं। अनर्थ करते रहते हैं। वे साँपिनके अंडे सेते हैं। मकड़ीके जाले बुनते हैं। ये जाले कपड़ेका काम नहीं देंगे।

ऐसे लोग उपद्रवके काम करते हैं। बुराईकी ओर दौड़ते हैं। वे विनाशके रास्तेपर हैं। शान्तिका मार्ग वे नहीं जानते।

हमारे पाप हमारे साथ हैं। हमने यहोवाका अपराध किया है। हमने परमेश्वरके पीछे चलना छोड़ दिया है। हम अंधेर करने लगे। हम झूठी बातें करने लगे। इसके कारण न्याय हट गया, धर्म दूर खड़ा रहा और सचाई बाजार (संसार)से खो गयी।'

* * *

मनुष्य गलत रास्ता छोड़कर जब सही रास्तेपर आयगा, तभी वह यहोवाका कृपापात्र बन सकेगा। तभी उसे सच्चे अर्थमें 'धर्मात्मा' कहा जा सकेगा। ऐसा व्यक्ति कहता है—

'यदि मैंने कंगालोंकी इच्छा पूरी न की हो।
या मैंने विधवाके आँसू न पोंछे हों,
या मैंने अपनी रोटीका टुकडा अकेले खाया हो
और उसमेंसे अनाथ न खाने पाये हों,
यदि मैंने किसीको नंगा मरते देखा हो,
या किसी दरिद्रको जिसके पास ओढनेको न था,
उसे अपनी भेड़ोंकी ऊनके कपडे न दिये हों,
यदि मैंने फाटकमें अपने सहायक देखकर अनाथोंको
मारनेके लिये अपना हाथ उठाया हो,
तो मेरी बाँह पखौरेसे उखड़कर गिर पड़े और
मेरी भुजाकी हड्डी टूट जाय।'

(अय्यूब ३१। १६-२२)

धर्मात्मा कौन है, इसकी विवेचना करते हुए कहा गया है—

'धर्मात्मा वह है, जो न्याय और धर्मके काम करे। धर्मात्मा वह है, जो परायी स्त्रीपर कुदृष्टि न डाले, जो किसीपर अंधेर न करे, ऋणीको उसका बंधक फेर दे, किसीको लूटे नहीं, अपितु भूखेको रोटी और नंगेको कपड़ा दे, न तो ब्याजपर रुपया दे और न रुपयेका मुनाफा ले। धर्मात्मा वह है, जो दुष्कर्मोंसे दूर रहता है। सचाई-से न्याय करता है। धर्मात्मा वह है, जो यहोवाके बताये सही रास्तेपर चलता है। सच्चा वह है, जो सच्चे काम करता है।'

(यहेजकेल १८। ५-९)

* * *

यहोवा कहते हैं—

'जो आदमी दूसरेकी खेती सींचता है, उसकी खेती सींची जायगी। जो यत्नपूर्वक दूसरोंका भला करता है, उसे प्रसन्नता दी जायगी। जो कंगालपर कृपा करता है, वह यहोवाको उधार देता है। उसे इसका सुफल मिलेगा।'

(नीतिवचन ११। २५-२७, १९। १७)

'यदि तेरा वैरी भूखा हो तो उसे रोटी खिला।
यदि तेरा वैरी प्यासा हो तो उसे पानी पिला।
यहोवा तुझे इसका फल देगें।'

(नीतिवचन ३। २७-३२)

* * *

यहोवा परम प्रेममय हैं। परम दयालु और कृपालु हैं। वे परम क्षमाशील हैं। (तालमुद भजन १३०। ७)

यहोवाका आश्वासन है—'तू डर मत। साहस रख। किसीसे भयभीत न हो; क्योंकि तेरे साथ चलनेवाले तेरे परमेश्वर यहोवा हैं। वे न तो कभी तुझे धोखा देंगे और न कभी तेरा साथ छोड़ेंगे।'

(व्यवस्थाविवरण ३१। ६)

वही बात—

रन बन व्याधि बिपत्तिमें 'रहिमन' मरै न रोय।
जो रच्छक जननी जठर सो हरि गये कि सोय॥

(रहीमरत्नावली १५९

(३)

ईसाई-धर्ममें भगवत्कृपा

[करुणामय करुणा दो बिखेर]

'एली एली लमा सबक्तनी'—'Eli Eli lama Sabachthani !' (हे ईश्वर ! मेरे ईश्वर !! क्यों भुला दिया आपने मुझे ?)

ये हैं प्रभु ईसामसीहके अन्तिम शब्द, जो उन्होंने क्रूसपर लटकते हुए कहे।

भगवत्कृपामें रत्तीभरकी भी कमी भक्तको सहन नहीं होती। उसका जी बुरी तरह कचोटने लगता है।

परमेश्वर तो ठहरे करुणावरुणालय। कृपाके सागर। मुक्त हस्तसे कृपा बिखेरनेवाले !

तब भक्त क्यों वञ्चित रहे उनकी कृपासे ?

ईसाका जी भी कचोटने लगा—'ऐ मेरे मालिक ! क्यों छोड़ दिया आपने मुझे ?'

और इसके तत्काल बाद ईसा शरीर छोड़कर भगवान्‌को प्यारे हो गये।

* * *

ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिल—(New Testament)-में पग-पगपर भगवत्कृपाका उल्लेख है। उसके लिये दो शब्द आते हैं—Grace (ग्रेस) और Mercy (मर्सी)।

कितने कृपालु हैं हमारे परमेश्वर—

'God who is rich in mercy for his great love where with he loved us.'—दयासागर परमेश्वरने अगाध प्रेमके कारण हमसे प्रेम किया। (इफिस. २ । ४)

'For by grace are you saved through faith and that not of yourselves. It is the gift of God.'—श्रद्धाके द्वारा भगवत्कृपासे ही तुम्हारा उद्धार हुआ और यह तुम्हारी ओरसे नहीं हुआ, वरन् यह है—परमेश्वरकी देन। (इफिस. २ । ८)

'Grace, mercy and peace from God the Father.'—परम प्रभुने हमपर कृपा, करुणा और शान्ति बिखेरी है।

'For God hath not given us the spirit of fear, but of power, and of love, and of a sound mind.'—ईश्वरने हमें भयकी भावना न देकर शक्ति-सामर्थ्य, प्रेम और दृढ़चित्तताकी भावना दी है। (२ तिमोथी १ । १२)

'Your Father knoweth what things ye have need of, before ye ask him.'—तुम्हारा पिता तुम्हारे माँगनेसे पहले ही जानता है कि तुम्हें किन-किनकी जरूरत है। (मत्ती ६ । ८; ६ । ३१, ३२)

'Ask and it shall be given you, seek and you shall find, knock and it shall be opened unto you.'—माँगो तो तुम्हें मिलेगा। ढूँढ़ो तो पाओगे। खटखटाओ तो तुम्हारे लिये (द्वार) खोला जायगा। (मत्ती ७ । ७, ८)

कैसा अद्भुत आश्वासन ! केवल पुकारनेभरकी देर है—

करुणामय करुणा दो बिखेर।
खोलो फाटक मत करो देर॥
मैं कबसे हूँ यों खड़ा हुआ।
कुछ सिकुड़ा-सा कुछ सटा हुआ॥
आशाका एक सहारा ले।
तेरे द्वारेपर अड़ा हुआ॥
पड़ता चरणोंमें बेर बेर।
खोलो फाटक मत करो देर॥
करुणामय०॥

* * *

संत पाल हो या आगस्टीन—सभी ईसाई संत भगवत्कृपापर आश्रित रहते आये हैं। संत आगस्टीन अपने 'कन्फेशस'में लिखते हैं—

'And all my hope is nowhere but in Thy great mercy. Give what Thou enjoinest and enjoin what Thou wilt... Thou enjoinest us continency...for no man can be continent, unless God give it......'

—मेरी सारी आशा आपकी महती कृपापर, आपकी करुणापर निर्भर है। जो आपकी मर्जी हो सो मुझे दीजिये। जैसी आपकी इच्छा। आप हमें पावित्र्य देते हैं—कारण कोई भी मनुष्य तबतक पवित्र और संयमी नहीं हो सकता, जबतक उसपर भगवत्कृपा न हो।'

* * *

आत्मशुद्धिका सर्वोत्तम साधन माना गया है—प्रार्थना और प्रार्थनामें याचना की जाती है—भगवत्कृपाकी। संत बासिल कहते हैं—

'When the day is finished let us give thanks for what has been given us during the day and for what we have done rightly and let us confess what we have left undone, every sin whether voluntary or involuntary, or perhaps, unknown to us, either in word, or deed or in the heart itself ...be seeching God's mercy for all in our prayers. ..'

—दिनकी समाप्तिपर हम परमेश्वरको उन सब बातोंके लिये धन्यवाद दें, जो उन्होंने हमें दिनभरमें दी हैं। हमने जो सही कार्य किये, उनके लिये भी हम प्रभुको धन्यवाद दें। उस समय हम यह भी स्वीकार करें कि हमसे अमुक-अमुक कार्य अधूरे छूट गये। हम मन-वचन-कर्मद्वारा जाने-अनजानेमें हुए सभी पापोंके लिये उनसे क्षमा माँगें और अपनी प्रार्थनाओंमें सच्चे हृदयसे भगवत्कृपाकी याचना करें।

* * *

प्रार्थनाओंमें सर्वत्र भगवत्कृपाकी याचना की जाती है—

'His mercy now implore,
And now show forth his praise,
In shouts, or silent awe, adore
His miracles of grace.'

—चार्ल्स वेसले

—अब हम उनकी दयाकी हृदयसे याचना करें। उनकी हम प्रशंसा करें। चाहे जोरसे चाहे मौनसे, हम उनकी कृपाके चमत्कारोंपर श्रद्धा अभिव्यक्त करें।'

साधक अपनी प्रार्थनामें इसी तथ्यपर जोर देता है कि आपकी कृपाका कोई पार नहीं है। प्रभो! मेरे-जैसे महान् पापीपर अपनी कृपा और अनुग्रहकी वर्षा करें। आप परम कृपालु हैं। अत्यन्त क्षमाशील हैं। फिर क्यों नहीं मुझे क्षमा करेंगे? कहाँ हमारे पाप, कहाँ आपकी महती कृपा!

'Show pity Lord, O Lord, forgive,
Let a repenting rebel live,
Are not Thy mercies large and free?
May not a sinner trust to Thee?
My crimes are great, but don't surpass
The power and glory of Thy grace,
Great God, Thy nature hath no bound
So, let Thy pardoning love be found.'

—इसाक वाट्स

वही भरतकी-सी याचना—

कृपा अनुग्रहु अंगु अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई॥

(मानस २ । २९९ । ३)

पापियोंका एक ही दावा है—

करोड़ों पापी उबारे तुमने,
हमें भी तारो तो हम जानें!

(४)

तसव्वुफमें भगवत्कृपा

[तौबा और तौफ़ीके इलाही]

'खुदाकी राहमें आपको कौन-सी बात सबसे मुश्किल लगी?'

सूफी फकीर बायजीद बस्तामीसे एक दफा यह सवाल किया दूसरे सूफी फकीर अबू मूसाने।

बोले—'खुदाकी मददके बिना खुदाकी तरफ दिलको ले जाना मुझे सबसे मुश्किल मालूम हुआ। लेकिन जब खुदाकी रहमत हुई तो मेरी किसी कोशिशके बिना भी मेरा दिल खुदाकी तरफ रुजू हुआ और मुझे उधर खींचने लगा।'

कैसा बढ़िया सवाल, कैसा बढ़िया जवाब!

* * *

सूफी संत सहल तस्तरी कहते हैं—

'सबसे पहले इंसानको तौबा (पश्चात्ताप) लाजिम है। जबतक खामोशी (मौन) इख्तियार न की जाय, तौबा हासिल नहीं होती। बगैर खामोशी इख्तियार किये इंसान खिल्वत-नशीनी (एकान्त)का लुत्फ़ नहीं पाता। खिल्वत-नशीनीका लुत्फ़ बगैर हलाल रोजी (ईमानदारीकी कमाई)के नहीं मिलता। हलाल रोजी अल्लाहका हक़ अदा किये बिना मिलनी दुश्वार है और जबतक सभी अङ्गोंपर निगाह न रखे, हक़ूक़ हासिल नहीं होता।'

अर्थात्?

मनुष्यको सबसे पहले तौबा करनी चाहिये।

पर इस तौबाकी राह क्या है?

इसके लिये चाहिये खामोशी—मौन।

बिना मौनके एकान्तका आनन्द नहीं मिलेगा।

पर एकान्तका आनन्द भी तो तब मिलेगा, जब कमाई ईमानदारीकी होगी। हलाल रोजी होगी।

हलाल रोजी कब होगी?

जब अल्लाहका हक़ अदा किया जायगा।

अल्लाहका हक़ कैसे अदा होगा?

सब अङ्गोपर निगाह रखनेसे, सर्वेन्द्रियसंयमसे अल्लाहका हक अदा होगा।

कहनेका मतलब यह कि सर्वेन्द्रियसयम, ईमानदारीकी कमाई, एकान्त और मौनद्वारा तौबा—पश्चात्तापकी पात्रता प्राप्त होती है।

पर यहाँपर एक रोक है, प्रतिबन्ध है।

सहल तस्तरी फरमाते हैं—

'ये सब चीजे हासिल होती हैं—तौफीके इलाहीसे !'

इन सब चीजोको पानेके लिये चाहिये तौफीके इलाही, अल्लाहकी तौफीक, प्रभुकी कृपा, भगवत्कृपा।

सीधी बात—साधनाके मार्गपर आगे बढनेके लिये प्रभुकी कृपाकी सबसे बड़ी जरूरत है।

* * *

कुरान शरीफमे लिखा है—

' ' व लौ ला फ़द्‌लु (अ) ल्लाहि अलैकुम व रहमतुहू, मा ज़का (य) मिनकु (म्) म्मिन अहदिन् अबदन् (अ), व्व लाकिन्न (अ्) ल्लाह युज़क्की म (न्) यश्शाउ व (अ्) ल्लाहु समीउन अलीमुन ० (२४।२१)

—अगर तुमपर अल्लाहका फजल व करम न होता, उनकी रहमत न होती तो तुममेसे कोई भी तौबा करके पाक साफ न होता। लेकिन अल्लाह ही पवित्र करते हैं जिसको चाहें। अल्लाह ही जिसको चाहे तौबाकी तौफ़ीक देकर पाक साफ कर देते हैं। अल्लाह सब कुछ सुनते हैं। सब कुछ जानते हैं अर्थात् वे सर्वश्रुत हैं, सर्वज्ञ हैं।'

* * *

राबिआसे पूछा किसीने—'गुनहगारकी तौबा कबूल होती है, कि नहीं ?'

बोली—जब वह तौबाकी ताकत देता है तो तौबा कबूल भी करता है।'

* * *

यह तौबा है क्या ?

तसव्वुफमे, सूफी साधनामे मारिफ़त—परम ज्ञान पानेके लिये जो सात मुकाम बनाये गये हैं, उनमे सबसे पहला मुकाम है—तौबा।

तौबा माने क्या ?

तौबा माने पश्चात्ताप, अनुताप।

तौबा माने क्षमायाचना।

तौबा माने लौटना, परावृत्त होना। कहाँ लौटना ? अल्लाहकी तरफ, प्रभुकी ओर।

तौबा माने पापोंसे, बुराईसे, गलत कामोंसे पीछे लौटना। तौबा माने भविष्यमें पाप न करनेका संकल्प करना।

तौबा माने अल्लाहकी, खुदाकी, ईश्वरकी अवज्ञाके कामोसे बाज आना, विरत होना।

तौबा माने दुष्कर्मोंको छोड सत्कर्मोंकी ओर लौट पड़ना।

तौबा माने अपने किये हुए पापोपर पछताना। अपनी गलतियोंपर दुःखी होना और उनके लिये अल्लाहसे, ईश्वरसे माफी माँगना, क्षमायाचना करना।

* * *

अबू बकर केतानीने तौबाकी व्याख्या करते हुए कहा है—

'तौबा' है तो एक ही शब्द, फिर भी उसमे छः भाव रहते हैं—

१. पहले किये गये पापोके लिये खेद,

२. फिरसे पापकी तरफ झुकाव न हो, इसकी सावधानी,

३. अल्लाहके लिये किये जानेवाले कामोकी कमियाँ दूर करना,

४. दूसरोंके प्रति जो गलत व्यवहार हो गया हो, उसका बदला चुका देना,

५. शरीरका खून-मास, जो गलत भोगोंसे बढ़ा हो, उसे सुखा देना और

६. जिस मनसे पापका मज़ा चखा है, उसे साधनाकी कड़वाहटका भी मज़ा चखाना।

* * *

रामकृष्ण परमहस कहते थे कि साधना है धानके पौधेको एक तरफ उखाड़ना और दूसरी तरफ रोपना।

तौबा भी तो यही है—असत्-कर्मोंको उखाड़ना, सत्-कर्मोंको रोपना।

जिस मनुष्यने तौबा कर ली, गलत रास्ता छोड़कर सही रास्तेपर चलनेका फैसला कर लिया, बुराई छोड़कर नेकी

ग्रहण करनेका अकीदा कर लिया, उसकी धन्यताका कहना ही क्या !

* * *

कुरानशरीफमें कहा गया है—

इन (अ्) ल्लाह कान तव्व (अ) बन र् रहीमन् ।

(४ । १६)

'निस्संदेह, अल्लाह तौबा कबूल करनेवाले हैं, रहमतवाले हैं, दयालु हैं, कृपालु हैं ।'

लेकिन एक बात है—'अल्लाहपर तौबाकी कबूलियत सिर्फ उन लोगोंके लिये है, जो नादानीसे, हिमाकतसे कोई गुनाह कर बैठते हैं और फिर जल्दीसे तौबा कर लेते हैं। बस, ऐसे ही लोगोंको अल्लाह मुआफ करते हैं'—

इन्न म (अ् ल्) त्तौबतु अल (य् अ्) ल्लाहि लिल्लज़ीन य अमलून (अ् ल्) स्सूअ् बिजहाल तिन सुम्म यतूबून मिन् क़रीबिन् फ़ ड (व) लाइक यतूबु (अ्) ल्लाहु अलैहिम् ।'', (कुरानशरीफ ४ । १७)

'और तौबाकी कबूलियत उन लोगोंके लिये नहीं है, जो गुनाह करते रहते हैं, यहाँतक कि मौतके हाजिर होनेपर कहते हैं—मैंने अब तौबा कर ली !'—

व लैसति (अल्) त्तौबतु लिल्लज़ीन यअमलून (अल्) स्सय्यिआति, हत्ता इज़ा हदर अहदहुमु (अ्) ल् मौतु क़ाल इन्नि तुबतु (अ्) ल् आन वला (अ् अ्) ल्लज़ीन यमूतून व हुम कुफ्फारुन्०

(कुरानशरीफ ४ । १८)

तौबाकी कबूलियत न तो ऐसे लोगोंके लिये है और न अश्रद्धावान् लोगोंके लिये है । तौबा उन लोगोंकी कबूल नहीं होती, जो गुनाहोंसे किनाराकशी नहीं करते—

रातको खूब सी पी, सुबह्को तौबा कर ली,
रिंदके रिंद रहे, हाथसे जन्नत न गयी !

* * *

सूफी संत अबुअली शफीकने ठीक कहा है—

'इन तीन बातोंसे इंसान मारा जाता है—

१—तौबाकी उम्मीदपर गुनाह करना, २—जिंदगीकी उम्मीदपर तौबा न करना और ३—रहमत (भगवत्कृपा)की उम्मीदपर तौबा न करना ।'

कुरानशरीफमें कहा गया है—

व इन्नी (ल्) ग़फ्फ़ारुन लिमन ताब व आमन व अमिल सालिहन सुम्म (अ्) हतदा०

(२० । ८२)

'वस्तुतः मैं ऐसे लोगोंके लिये क्षमाशील हूँ जो तौबा कर लें, ईमान लायें और नेक अमल करें; फिर राहपर कायम भी रहें ।'

वही बात जो भगवान् श्रीकृष्णने कही है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

(गीता ९ । ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझे निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है ।'

प्रभु-चरणोंको पकड़ते ही तो पाप छूमन्तर हो जाता है ।

* * *

'तजकिरत-अल-औलिया'में उल्लेख है—

उमरू नामक एक अधिकारी बीमार पड़ा । बीमारी असाध्य थी । हकीमने जवाब दे दिया । उसने सूफी संत सहल तस्तरीसे याचना की दुआके लिये । वे बोले—

'दुआ तो तब कबूल होती है, जब पहले इंसान तौबा करे ।'

उसने तौबा की और कैदियोंको रिहा कर दिया ।

तब सहलने दुआ की—'या अल्लाह ! जिस तरह तूने अपनी नाफरमानी (अवज्ञा)की ज़िल्लत इसे दिखायी, उसी तरह मेरी इबादतकी इज्जत दिखा दे ।'

कहते हैं कि दुआ पूरी भी न हो पायी थी कि बीमार एकदम चंगा होकर उठ बैठा !

* * *

सच्चे हृदयसे, सच्चे दिलसे तौबा करनेपर मनुष्य पाप-तापसे मुक्त होकर प्रभु-चरणोंकी ओर बढ़ता है । इसके लिये जी-तोड़ प्रयत्न तो आवश्यक है ही, पर प्रभु-कृपा भी आवश्यक है । तभी तो गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

लोभ-मोह-मद-काम-क्रोध रिपु फिरत रैनि दिन घेरें ।
तिनहिं मिले मन भयो कुपथ-रत, फिरै तिहारेहि फेरें ॥

(विनयप० १८७ । २)

और—

कबहुँ देव ! जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै ।
संसृति-संनिपात दारुन दुख बिनु हरिकृपा न नासै ॥
(विनयपत्रिका ८१ । ४)

* * *

पापोंसे छुटकारेका, चित्त-शुद्धिका एक ही उपाय है—तौबा, सच्चे दिलसे तौबा ।

अल्लाहने वादा किया है कि सची तौबा करो तो तुम्हारा रब, परवर्दगार तुम्हारे गुनाह बख्श देगा—

या अय्युह (अ्) ल्लज़ीन आमनू तौबू (अ्) इली (अ्) ल्लाहि तौबतन् नसूहन्, असाइ रब्बुकुम अनय्युकफ्फरि अनकुम सिय्यातिकुम ''

(कुरानशरीफ ६६ । ८)

* * *

हम तौबा करें, सच्चे दिलसे तौबा करें तो हमपर अल्लाह-की कृपा, तौफीके इलाही होगी ही । इसी भरोसेपर तो दास कबीरने प्रार्थना की थी—

अवगुन मेरे बकसिये, अहो गरीब निवाज ।
जो हौं पूत कपूत हौं तऊ पिताको लाज ॥

(५)

इस्लाम-धर्ममें भगवत्कृपा

[अर्-रहमानिर्-रहीमिकी रहमत]

'दरवाजा खोलिये !'

दस्तक देते ही भीतरसे आवाज आयी—'अगर ज़ेरवा (एक पकवान) और हलवा हो तो दरवाजा खोलूँ !'

'खोलिये भी तो !'

और दरअसल दरवाजेपर एक मजदूर खड़ा था, जिसके सिरपर एक थालमें था ज़ेरवा और हलवा ।

हुआ था यह कि एक प्रभु-विश्वासी बुजुर्गके बच्चे कुछ दिनोंसे ज़ेरवा और हलवाकी माँग कर रहे थे, लेकिन बुजुर्ग सोचते थे कि अल्लाह तो खुद हमारी जरूरतको जानता है । उससे माँगनेकी क्या जरूरत है ? वह खुद ही भेज देगा ।

और उसने भेज ही तो दिया !

उस दिन प्रसिद्ध सूफी संत अबू हफस हदादने जुनैदसे कहा—'ज़ेरवा और हलवा तैयार कराओ ।'

तैयार हो जानेपर हदादने कहा—'अब एक मजदूरको बुलाओ । उसके सिरपर इस थालको रखकर कह दो कि वह थालको लेकर चल पड़े और चलते-चलते जहाँ थक जाय, वहींके बगलके मकानपर आवाज दे और ज़ेरवा और हलवा दे आवे ।'

हदादका एक शागिर्द (चेला) भी उस मजदूरके पीछे-पीछे चल पड़ा । वह यह तमाशा देखकर हैरान रह गया ।

बुजुर्गसे राज पूछा तो उन्होंने बताया कि बात क्या थी ।

इसमें हैरानीकी तो कोई बात ही नहीं थी । अल्लाहकी, अर्-रहमानिर्-रहीमिकी रहमतका कोई पार तो है नहीं । जो माँगता है, उसे तो वह देता ही है । जो नहीं माँगता, उसपर भी वह अपनी रहमत बरसाता है । उसकी जरूरत पूरी करता है ।

* * *

राबिआके घर दो सूफी संत पहुँचे मिलने और उपदेश लेने । भूखे भी थे । सोचा, राबिआके यहाँ जो मिलेगा, वह तो पाक ही होगा, पवित्र ही होगा ।

राबिआके पास थीं केवल दो रोटियाँ ।
उसने वे दोनों रोटियाँ परोस दीं संतोंको ।

और तभी एक फकीरकी सदा (आवाज) आयी—'दे खुदाकी राहपर !'

राबिआने परोसी हुई दोनों रोटियाँ उठाकर फकीरको दे दीं ।

थोड़ी देर बाद एक दासी तश्तरीमें खाना लायी । राबिआने गिनीं तो अठारह रोटियाँ थीं । उन्हें लौटाते हुए बोली—'ये मेरे लिये नहीं हैं ।'

कुछ देर बाद वही दासी फिर खाना लायी । अबकी दफा राबिआने रोटियाँ गिनीं तो बीस निकलीं । उसने उन्हें लेकर संतोंको परोस दिया ।

संत हैरान ।

खाना खाकर उन्होंने राबिआसे पूछा—'यह क्या माजरा है ?'

बोली—'आपलोग जब आये तो मैं जानती थी कि

आप भूखे हैं और मेरी दो रोटियाँ आपके लिये कम पड़ेंगी। उधर कुरानशरीफमें खुदाने कहा है कि मैं एकके बदले दस देता हूँ। इसीलिये फकीरके माँगते ही मैंने दोनों रोटियाँ उठाकर उसे दे दीं; बादमें जब अठारह रोटियाँ आयीं तो मैंने लौटा दीं; क्योंकि वे बे-हिसाब थीं। दूसरी दफा जब बीस रोटियाँ आयीं तो मैंने लेकर आपको परोस दीं; क्योंकि वे वादेके मुताबिक थीं!'

* * *

अल्लाहने कहा है—

मन् जा अ बि (अ) ल् हसनति फलहू अशरु अमसालिहा, व मन् जा अ बि (अल्) सय्यिअतिफ़ला युज्ज़ा (य) इल्ला मिस्लहा व हुम् ला युज़्लमून०

(कुरानशरीफ ६। १६०)

'जो आदमी नेकी लेकर आये, उसके लिये उसका बदला दसगुना है और जो बदी लेकर आये, उसको उसके बराबर ही बदला दिया जायगा और उसपर जुल्म नहीं किया जायगा।'

कितनी दयालुता है प्रभुकी!

वही बात जो भरतने कही थी—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

(मानस ७। ०। ३)

* * *

प्रभु ठहरे कृपासागर, कृपानिधान—

'कृपालुशीलकोमलम्।'

(मानस ३। ३। छं० १)

उसीको अरबीमें कहते हैं—'अर्-रह्मानि (अल्) र्रहीमि!'

अल्लाह रहमान भी हैं, रहीम भी।
कृपाशील भी है, दयावान् भी।
परम कृपालु हैं, अतीव करुणावान् हैं—
बहुत ही मेहरबाँ है वह, बड़ा ही मेहरबाँ है वह!
सदा रहमतफिशां, रहमतफिशां, रहमतफिशां है वह!!

(कैफ भोपाली)

कुरानशरीफकी शुरुआत, उसका श्रीगणेश, उसके हर सूरःका श्रीगणेश इसी गुणके साथ होता है—

बिस्मि (अ) ल्लाहि (अल्) र् रह्मानि (अल्) र् रहीमि०

'शुरू करता हूँ अल्लाहके नामके साथ जो रहमान भी हैं, रहीम भी। जो बख्शीश करनेवाले भी हैं, मेहरबान भी।

(कुरानशरीफ ६। ५४)

और ये दयालु ऐसे हैं। जिन्होंने दयालुताका, कृपाका, करुणाका ठेका ले रखा है। कहा गया है कुरानशरीफमें—

कतब रब्बुकुम अला (य) नफ़्सिहि (अल्) र् रहमत।

'लिखी है रब्ब तुम्हारेने ऊपर जात अपनीके रहमत। अर्थात् तुम्हारे परवर्दगारने मेहरबानी फरमाना अपने जिम्मे मुकर्रर कर लिया है।'

कहते हैं अल्लाह कुरानशरीफमें—

व रहमति इ व सिअत कुल्ल शइयन।

(७। १५६)

'और मेरी रहमतने समा लिया है हर चीजको।'

शेख अबुल अब्बास कस्साब फरमाते हैं—

'दिन और रातमें कोई घड़ी ऐसी नहीं, जिसमें बन्देपर अल्लाहकी मेहरकी बरसात न होती हो।'

शेख सादीने भी कहा है—

अय ग़र्रा बा रहमते खुदावन्द,
दर रहमते वू कसेचे गोयद।
हर चंद मुअस्सर अस्त बारां
त दाना नाफगानी न रोयद॥

'प्रभुकी कृपापर, खुदावन्दकी रहमतपर तेरा भरोसा करना, उनका विश्वास और गर्व करना ठीक ही है। यह सही है कि उनकी रहमत, उनकी कृपा वर्षाकी तरह बरसती है। उसके लिये जुता हुआ खेत चाहिये। तूने अगर अपने खेतको जोता-बोया नहीं तो उस बरसातसे भी क्या फायदा? उसका अर्थ ही क्या है?'

जरूरत है खेत जोतनेकी, उसमें प्रभु-प्रेमका बीज बोनेकी। फिर खुदावन्दकी रहमत बरसनेमें क्या देर है!

वे रहमान, वे रहीम तो रहम करेंगे ही।

ईश्वरका अस्तित्व और उसकी कृपा

(लेखक—वैद्य श्रीगुरुदत्तजी, एम्० एस्-सी०, वैद्यभास्कर, आयुर्वेद-वाचस्पति)

ईश्वरकी सत्तामें आस्था न रखनेवाले तथा वेदादि शास्त्रोंको स्वीकार न करनेवाले नास्तिकोंकी वृद्धि संसारमे पर्याप्त द्रुतगतिसे हो रही है।

अतः ऐसे व्यक्तियोंको सर्वप्रथम यह बताना और विश्वास कराना आवश्यक है कि—

१—परमात्मा हैं।

२—वे वेदानुसार सृष्टिरचना एवं कर्मसिद्धान्तानुसार उसका पालन और संहार भी करते हैं।

३—उन्होंने यह सब अनुग्रहपूर्वक जीवात्माको अज्ञानसे मुक्त करनेके लिये किया है।

४—ऐसा करनेके लिये उन्होंने वेदका ज्ञानोपदेश मानवमात्रके लिये किया है।

५—संसारमे तीन प्रकारके दुःख मनुष्यको घेरे रहते हैं।

६—इन दुःखोंकी निवृत्ति ज्ञानसे होती है और ज्ञानका अभिप्राय प्रकृति-पुरुषके सम्बन्धको समझना है। इसे शास्त्रमे 'विवेक' कहा गया है।

इतना उनके मनपर अङ्कित कर देनेके उपरान्त ही सामान्य मानवमात्रके लिये परमात्माकी कृपाका दिग्दर्शन कराया जा सकता है।

इन बातोंके स्पष्टीकरणके लिये मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने दर्शनशास्त्रका प्रवचन किया है। दर्शनशास्त्र तर्क तथा युक्तिके सहारे यह बतलाते हैं कि शरीर, मन और इन्द्रियाँ प्रकृतिके रूपान्तर हैं। जीवात्मा ही सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष आदिका भोक्ता बनता है। तत्त्वज्ञान-द्वारा उसके अहंभावकी निवृत्ति होती है, अतः उसे विवेककी नितान्त आवश्यकता है।

अनेक दर्शनप्रवर्तक तर्कको विशेष महत्त्व नहीं देते। उनका कहना है कि जब एक तार्किक तर्कसे एक बात सिद्ध करता है तो दूसरा विरोधी तर्कके द्वारा उसका खण्डन कर देता है, परतु एक तीसरे ऋषिका कहना है—

युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते। अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः॥

(साख्यदर्शन १। ५९-६०)

इन सूत्रोंका अभिप्राय है कि युक्तिसे भी अविवेकके उच्छेदमे बाधा नही होती। दिग्भ्रान्त व्यक्ति बिना अपरोक्ष (अर्थात् प्रत्यक्ष)की सहायताके भी (मार्ग) पा जाता है।

जब कोई व्यक्ति मार्ग भूल जाता है तो वह प्रत्यक्ष चिह्नोंसे दिशा पा जाता है। उदाहरणार्थ पथिक ध्रुव-ताराको देखकर दिशाका ज्ञान कर लेता है और गन्तव्य स्थानतक पहुँच जाता है।

यह भी कहा है कि जो दिखायी नहीं देता (अप्रत्यक्ष है), उसका अनुमानसे ज्ञान हो जाता है—जैसे धूमादिसे अग्निका। मनुष्य सासारिक सुख-सुविधाओका भोग करता हुआ भी परमात्माके अस्तित्वको नही मानता; क्योंकि सुख-सुविधाके पीछे उसे परमात्माका हाथ प्रत्यक्ष नही दीखता। भोगान्ध मनुष्य भला, परमात्माके विषयमे क्या जानेगा? तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन उसे दिव्य-दृष्टि प्रदान करते हैं।

बिना किसी शिक्षकके मनुष्य सामान्य ज्ञान भी नहीं प्राप्त कर सकता। अतः आदि मानवीय सृष्टिके समय मानवको अवश्य किसीने ज्ञान दिया होगा। इस प्रकार आदि कालमे ज्ञान-प्रदाता परमात्मा हैं और उस ज्ञानको वेदका नाम दिया गया है; अतः वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

संसारमे सभी पदार्थ परस्पर समन्वयसे ही स्थिर हैं। ऐसा किसी नियन्ता (प्रबन्धकर्ता)के बिना नही हो सकता। उस नियन्ताको परमात्मा कहा जाता है।

संसारके जड पदार्थ गतिशील प्रतीत होते हैं और यह गति ईक्षणाधीन है तथा चेतनसे ही सम्भव है। इसका निरीक्षकपरमात्मा कहा जाता है।

ईक्षणके तीन लक्षण माने गये हैं—देश, काल और अवस्था। जगत्-रचना कब हो, कहाँ हो और किस प्रकार हो—इस प्रकार विचारपूर्वक कार्य कोई चेतन ही कर सकता है। वह चेतन सत्ता परमात्मा है।

यह देखा जाता है कि जड पदार्थमे स्वतः बुद्धिपूर्वक क्रिया नही हो सकती।। प्रत्येक क्रियाके पीछे किसी चेतनका हाथ समझमे आता है। इसीसे कहा गया है कि जड जगत्मे—सूर्य, चन्द्र, तारागण आदिमे गति लानेवाला कोई एक महान् शक्तिशाली है।

शक्ति तो विद्युतादिमे भी है। यह जडको गति भी दे सकती है; परंतु क्रियामे बुद्धिपूर्वक दिशा, काल तथा अवस्था तो चेतन ही उत्पन्न कर सकता है।

चेतनके गुण हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥
(न्यायदर्शन १।१।१०)

'इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान (चेतना)—ये आत्माके लिङ्ग (लक्षण) हैं।'

ये युक्तियाँ न केवल आधारयुक्त (प्रतिष्ठित) हैं, प्रत्युत अकाट्य भी हैं। मनुष्य जितना अधिक युक्तिपूर्वक विचार करता है, उतना ही अधिक तथ्यमे अवगत होता चला जाता है कि परमात्मा हैं, वे महान् शक्तिमान्, बुद्धिमान् और चेतन हैं, वे आदि-ज्ञानके दाता हैं तथा जगत्की रचना, पालन और संहार करनेवाले हैं।

एक बार यह विश्वास हो जानेपर कि परमात्मा हैं, वेद उनकी वाणी है, फिर उनकी कृपाका दर्शन स्वतः सहज होने लग जाता है।

नास्तिकोंका कहना है कि घड़ीके दोलककी भाँति प्रकृति स्वतः ही रचना और संहार करती रहती है। दार्शनिक कहता है कि घड़ीका दोलक भी तो स्वतः नहीं हिलता, यदि इसके पीछे इसकी गतिको चालू रखनेवाली कोई शक्ति न हो। घड़ीमे चाभी लगानेवालेकी शक्ति ही दोलक और घड़ीको चलाती है। चाभी समाप्त हो जाय तो घड़ी और दोलक—दोनों रुक जाते हैं।

जड पदार्थोंमें स्वतः विचारपूर्वक गति आ नही सकती और न वे गतिमे आकर पुनः दिशा और गति बदल सकते हैं, जबतक कि परिवर्तन उत्पन्न करनेवाला कोई चेतन तत्त्व न हो।

अतः जड प्रकृतिद्वारा जगत्-रचना नही हो सकती और न इसका संचालन तथा संहार ही हो सकता है। इसलिये किसी चेतनके अस्तित्वको स्वीकार करना ही पडेगा। निःसंदेह वह चेतन परमात्मा है। वेदान्तदर्शनका उद्घोष है—

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्। प्रवृत्तेश्च। पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि। व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्।
(वेदान्तदर्शन २।२।१—४)

अर्थात् रचना (स्वतः) नही होती। प्रत्यक्ष तो यह होती देखी ही नही जाती; परंतु अनुमानसे भी यह होती है, ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता।

जगत्की रचनाके लिये जड प्रकृतिका प्रवृत्त होना सिद्ध नही होता। प्रकृतिका स्वभाव जड है और जड स्वतः कार्य नही करता। इसलिये प्रकृति जगत्की रचनाका कारण नहीं है।

दूध और जल—ये स्वतः विना चेतनके गतिमे नहीं आते। दूधसे अभिप्राय माँके स्तनमे दूधसे द्रवित होनेवाले हैं। जलका नदीमे बहना इसी प्रकार स्वतः नहीं होता।

विना (किसी चेतनकी) अपेक्षाके (जड पदार्थ) उलटे धर्मको स्वीकार नहीं करते।

सांख्यदर्शनमे सृष्टि-रचनाकी पूर्ण प्रक्रियाको युक्तिसे एवं अनुमान-प्रमाणसे निर्दिष्ट किया गया है—

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः। अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम्। भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः। (सांख्यदर्शन १।७८—८०)

अर्थात् अवस्तुसे वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि अभावसे भाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।

यह जगत् वस्तु (अस्तित्ववान्) है। यह निर्दोष कारणों (उपायों)से जाना जा सकता है।

यह अस्तित्ववाला जगत् अभावसे कैसे हो सकता है?

इन कथनोंका अभिप्राय यह है कि हम अपनी इन्द्रियोंसे इस जगत्को प्रत्यक्ष देख सकते हैं। आँखोंसे, त्वचासे, नाक और कानसे यह देखा, छुआ, सूँघा और सुना जाकर अनुभव किया जाता है। यदि संसार प्रतीत होता है तो इसका मूल भी होना चाहिये। कारण यह है कि अवस्तुसे वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

यह सिद्ध है कि जगत्के कर्ता परमात्मा हैं और जगत्का भोग जीवात्मा करता है। जब जीवात्माको विवेक होता है कि संसार और शरीरसे उसका सम्बन्ध नहीं है, तब वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

ईश्वरकृत जगत्-रचनाद्वारा जीवात्माको विवेक प्राप्त कर मोक्षमार्गपर अग्रसर होनेका अवसर मिलता है। इस अवसरकी इस रूपसे अनुभूति ही भगवत्कृपा है।

भगवत्कृपा और विश्वास

(स्व० पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)

भगवान्‌का सभी लोग विश्वास कर लें, या करेंगे, यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। नचिकेतासे यमराजने कहा था—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
(कठोपनिषद् १। १। २१)

'पूर्वमे देवताओंको भी आत्मा (ईश्वर)के अस्तित्वमे संदेह हो गया था। कारण, यह विषय 'न सुविज्ञेयम्' है—सहज ही जाननेमे नहीं आता; क्योंकि जगत्‌को धारण करनेवाला यह आत्मा 'अणुः' होनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म चिन्तनसे भी अगम्य है।'

इसीसे कहा जाता है कि सब लोग भगवान्‌के अस्तित्वमें विश्वास नहीं करते, बहुतोंको तो उनका पता ही नहीं चलता। भगवान्‌मे विश्वास करनेके लिये कोई सहज, सरल मार्ग भी समझमें नहीं आता। हमलोगोंका जो उनपर यत्किंचित् विश्वास है, वह केवल उनकी दयासे ही है।

पुत्र अपनी मातापर सहज विश्वास करता है, वह किसीसे कुछ सुनकर या युक्तियोंका संग्रह करके ऐसा करता हो, यह बात नहीं है। जननीका अनिर्वचनीय स्नेह शिशुके हृदयको न जाने क्या समझा देता है, जिसको वह बतला नही सकता; परंतु अपने प्राणोंके अंदर वह किसी अव्यक्त आकर्षणका अनुभव करता है। उसीकी प्रेरणासे वह माताको 'माँ, माँ' कहकर पुकारता है और असीम विश्वासके साथ उछलकर माँकी गोदमे जा बैठता है। इसी प्रकार युक्तियोंके सहारे कोई भगवान्‌पर न तो विश्वास कर सकता है और न प्रेम ही।

भगवान्‌की विश्वविमोहिनी कृपा-शक्तिरूपा बाँसुरी भक्तके प्राणोंमे न मालूम कौन-सा संगीत उडेल देती है, जिससे वह सदाके लिये उनकी चरण-रजका भिखारी बन जाता है, फिर उसको किसी भी युक्तिद्वारा उस मार्गसे हटाया नहीं जा सकता; प्रभुके आकर्षणमे ऐसा ही अपार बल है। यदि यह कहा जाय कि भगवान् तो सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी और सबके आत्मा हैं, फिर वे चुन-चुनकर केवल अपने भक्तोंको ही कृपा-बाँसुरीका मधुर स्वर क्यों सुनाते हैं? दूसरे उसे क्यों नहीं सुन पाते? भक्तको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अभक्तको नहीं; इससे क्या भगवान्‌में वैषम्य-दोष नहीं आता है? इसके उत्तरमे भगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९। २९)

'मैं सब भूतोंमे समान हूँ, मेरा कोई शत्रु-मित्र नहीं है; किंतु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे मुझमे रहते हैं और मैं उनमें रहता हूँ।'

यह तो उन भक्तजनोंकी प्रियता है, जो समदर्शी भगवान्‌मे 'मयि ते तेषु चाप्यहम्' कहला लेती है। अतः भगवान्‌मे विषमताका आरोप करना उचित नहीं।

जैसे अग्निके समीप रहनेवाले पुरुषका अन्धकार और जाड़ा अग्निकी स्वाभाविक शक्तिसे ही दूर हो जाता है, उसी प्रकार पापी-पुण्यात्मा जो कोई भी भगवान्‌को भजता है, वही उनकी महिमाको जानकर शान्ति प्राप्त कर लेता है।

पुत्र जैसे जननीपर सहज ही विश्वास करता है, पत्नी जैसे अपने प्रियतम पतिसे स्वाभाविक प्रेम करती है, इससे कहीं अधिक भक्त कृपाम्बापर प्रेम और विश्वास करता है।

जो निराकार, निर्विकार और न मालूम क्या-क्या हैं; जिनको खोजते-खोजते बुद्धि थक जाती है, युग-युगान्तरोंसे कितने लोगोंके मनोंमे उनका कितना अनुसंधान किया गया, किंतु कोई उनकी थाह न पा सका—ऐसी वह अचिन्त्य वस्तु भी मिल सकती है, उस तत्त्वका भी पता लग सकता है। किंतु कहाँ?—

'हरिके कोमल पद-कमल हरि-जन हियमें पेखि।'

भक्तको देखकर ही अभक्त एवं अज्ञानीका भगवान्‌में विश्वास होता है, उसे कुछ प्रत्यक्ष अनुभव-सा होने लगता है, मानो कोई अचिन्त्य वस्तु उसकी दृष्टिके सामने

आ जाती है। भगवत्प्रेममें मतवाले श्रीनित्यानन्द प्रभुको देखकर जन्मके पाप-कलुषित चित्तवाले महापातकी जगाईकी पापवृत्ति शान्त हो गयी। सदाके अभ्यस्त विषयोंसे वह मानो सर्वथा दूर हट गया। फिर उसने जब प्रेमावतार श्रीचैतन्यचन्द्रके प्रेमपूरित नेत्रोंकी ओर देखा, जब श्रीचैतन्यदेवके शरीरसे स्पर्श होकर आयी हुई वायुके झकोरे जगाई-मधाईके शरीरमें लगे, तब तुरंत ही एक वैद्युतिक क्रिया-सी हो गयी, दोनों भाई अनास्वादित अपूर्व भगवत्प्रेममें सर्वथा निमग्न हो गये। उनकी कुप्रवृत्ति सदाके लिये शान्त हो गयी। जो भूलकर भी कभी भगवान्‌का स्मरण नहीं करते थे, वे ही भगवान्‌की प्राप्तिके लिये आकुल हो उठे। भगवद्भक्तोंके सङ्गकी यही तो महिमा है—

सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥
(श्रीमद्भा० १०।५१।५४)

'जिस क्षण सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी क्षण संतोंके आश्रय, कार्य-कारणरूप जगत्‌के एकमात्र स्वामी भगवान्‌में जीवकी बुद्धि दृढ़तासे लग जाती है।'

भक्त भी अपने बलपर भगवान्‌को नहीं पकड़ सकता, इस बलको त्यागनेके लिये तो भगवान्‌ने आज्ञा दी है। भगवान् स्वयं भक्तके समीप आकर उसकी भुजाओंमें बँध जाते हैं। भगवान्‌की शरण ग्रहण करने और उनको भजनेकी यही महिमा है। जो भगवान्‌में विश्वास नहीं करता, वह उनके भजनमें भी कैसे लग सकता है? भजन बिना केवल बुद्धिवादसे कोई भी भगवत्कृपाकी अपार महिमाका पता नहीं पा सकता। भगवत्कृपाका महत्त्व समझे बिना, भगवान्‌के चरणोंमें अपनेको सब प्रकारसे समर्पित किये बिना, मनुष्य-जन्म ही विफल हो जाता है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केनोप० २।५)

इसी जन्ममें यदि उन सत्यस्वरूप परमात्माका पता लगा सके अथवा उनको जाना जा सके, तभी जीवनकी सफलता होती है। इस जन्ममें यदि उन्हें न जाना जा सका तो महान् अनिष्ट हो गया—महाविनाश हो गया; क्योंकि जिस आनन्दकी खोजमें समस्त जीव-समुदाय व्याकुल हो रहा है, जिस आनन्दकी प्राप्तिके लिये लोग सैकड़ों-हजारों अनर्थ करनेमें आनाकानी नहीं करते, तथापि किसी प्रकार भी उस परमानन्दस्वरूपका संधान नहीं कर पाते। यदि मनुष्यको किसी उपायसे उसका पता लग जाय, यदि वह उस परमानन्दके अन्तहीन, अनादि निर्झरके निकट पहुँच जाय तो फिर उसके आनन्दकी क्या सीमा! वह जन्म-मरण, शोक-रोग, शीत-उष्ण और अभावके नित्य-निरन्तरके संतापोंसे, समस्त दुःखोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। श्रुति कहती है—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केनोप० २।५)

'फिर वे परम भक्त धीर ज्ञानीजन सब भूतोंमें उन परमात्माकी उपलब्धि कर सकते हैं। इस प्रकार अनुभव करनेवाले धीर पुरुष ही इस लोकसे गमन करके अमृतत्वको प्राप्त करते हैं।'

भक्त जैसे भगवान्‌के लिये पागल हो जाते हैं, भगवान् भी उसी प्रकार अपनी स्वाभाविक भक्तवत्सलतासे नहीं चूकते। माता यशोदा बड़ी चेष्टा करके भी जब अपने गोपाल श्रीकृष्णको न पकड़ सकीं, तब जननीको परिश्रमसे श्रान्त और क्लान्त देखकर श्यामसुन्दर स्वयं ही आकर उनकी डोरीमें बँध गये। धन्य प्रभु!—

जिन बाँधे सुर-असुर, नाग-नर प्रबल करमकी डोरी।
सोइ अविच्छिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥
(विनयप० ९८।२)

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिनके चरण-कमलोंमें धूलि-कणके सदृश नाचते रहते हैं, वे यदि अपनी इच्छासे न पकड़ावें तो उन्हें कौन पकड़ सकता है? कातर भक्तके समीप भगवान् स्वयं ही आकर अपनेको पकड़ा देते हैं। भक्ति-प्रिय माधवको भगवत्कृपोपलब्ध भक्ति और विश्वासके बलसे ही पकड़ा जा सकता है।

भगवत्कृपा और प्रपत्ति

(लेखक—स्वामी श्रीकृपाल्वानन्दजी उदासीन)

भगवत्कृपाके विना प्रपत्ति सम्भव ही नहीं है । भगवती श्रुति भी यही कहती है—'यह आत्मा विविध व्याख्यानोंद्वारा, बुद्धिद्वारा अथवा अत्यधिक शास्त्रश्रवणद्वारा प्राप्त नहीं होता, वह कृपापूर्वक जिसका वरण करता है, वही उसे प्राप्त कर सकता है, वह उसीके सम्मुख अपना स्वरूप प्रकट करता है'—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥
(कठोप० १ । २ । २३)

प्रपत्तिके दो प्रकार हैं—प्रथम 'भगवत्कृत जीव-स्वीकार' अथवा 'अनुग्रह' और द्वितीय 'जीवकृत भगवत्स्वीकार' अथवा 'परिग्रह' ।

साध्य-भक्ति अथवा प्रपत्ति समाजधर्म नहीं, व्यक्तिधर्म है, महापुरुषोंका धर्म है । इसमे सर्वधर्मोंका स्वाभाविक परित्याग और प्रेम-धर्मकी स्वाभाविक स्वीकृति (ग्रहण) अभिव्यक्त है । देवर्षि नारद, महर्षि व्यास, सनकादि कुमार, शुकदेव मुनि, महर्षि कपिल, श्रीहनुमान्जी आदि आचार्य प्रपत्ति पथके प्रवासी हैं ।

'अनिमित्ता भगवद्भक्ति सिद्धिसे भी श्रेष्ठ है'—

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
(श्रीमद्भा० ३ । २५ । ३३)

यह यथार्थ ही है कि निमित्ता भगवद्भक्ति सकाम होती है, उसमें सकामता ही प्रधान है । निष्काम भक्तोंके लिये तो भगवान् जीवन-सर्वस्व होते हैं । वे उन्हींको परम सिद्धि मानते हैं । जिस सिद्धिसे चित्तको शान्ति, आनन्द और शाश्वत सुखकी अनुभूति न हो, उसकी प्राप्ति अशान्ति, शोक और दुःखकी जड़ है ।

अयोग्य-से-अयोग्य व्यक्ति भी भगवत्प्रपत्तिका अधिकारी होता है । वह तो केवल शरणागत होकर निश्चिन्त हो जाता है । उसके पाप, ताप, दोषादिको दूर करनेमे भगवान्की कृपाशक्ति कार्य करती है । श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किंकरो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥
स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्
धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ४१-४२)

'हे राजन् ! जो समस्त कर्माश्रयका उन्मूलन कर सम्पूर्ण रूपसे शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी शरणमें जाता है, वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बीजन अथवा पितृगण—किसीका भी दास या ऋणी नहीं रहता । अनन्यभावसे अपने चरणकमलोंका ही भजन करनेवाले अपने अनुरक्त भक्तसे यदि अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाता है तो उसके हृदयमें विराजमान परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उसका मार्जन कर देते हैं ।'

प्रपत्तिके बाद पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि वह सद्योमुक्ति दिला देती है । साधन-भक्तिसे परमात्म-साक्षात्कार होता है, तदनन्तर साध्य-भक्तिका आविर्भाव होता है । यह परम प्रेम ही भक्तको प्रपत्तिकी ओर ले जाता है । प्रेमधर्म ही सनातन भागवत धर्म है । समर्पण और सेवा उसके अङ्ग हैं ।

भक्त परम प्रेम है, भगवान् परम प्रेम हैं और उपासना भी परम प्रेम है । प्रेमसे ही प्रेम मिलता है । प्रेम ही योग है । यही अद्वैतमे द्वैत और द्वैतमे अद्वैतका रहस्य है ।

रुचि एवं स्वभाव-भेदके कारण ही योग-भेदकी उत्पत्ति हुई है । तर्कप्रिय साधक ब्रह्म-प्रपत्तिके उपायको 'ज्ञानयोग' कहता है । भगवान् ही ब्रह्म हैं । उनकी प्राप्तिमे भी परम प्रेमकी अनिवार्य आवश्यकता होती है । इसी प्रकार कर्मप्रिय साधक परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये निष्काम-भावसे कर्म करता है । यह 'तत्त्व-प्राप्ति' कर्मयोग कहलाती है । भगवद्भक्त भगवत्प्राप्तिके उपायको 'अहैतुकी भक्ति' अथवा 'भक्तियोग' कहता है । यह भावयोग 'भगवत्प्रपत्ति' है । इन समस्त प्रपत्तियोंका प्रादुर्भाव प्रभु-कृपासे ही होता है ।

प्रेम ही परमेश्वर है। वही परब्रह्म, परम तत्त्व, परम सत्य और परम ज्ञान है। जैसे जलचरोंके लिये जलमार्ग, भूचरोंके लिये भूमार्ग और खेचरोंके लिये व्योममार्ग अधिक उपयुक्त होता है, वैसे ही ज्ञानियोंके लिये ज्ञानमार्ग, योगियोंके लिये योगमार्ग और भक्तोंके लिये भक्तिमार्ग अधिक उपयुक्त होता है।

'हे प्रभो! मैं शरणापन्न हूँ'—यह कहकर शब्दमात्रसे प्रार्थना करना एक बात है और भावसे शरणागतिको स्वीकार करना दूसरी बात है।

तर्कद्वारा प्रपत्तिका प्रबोध शक्य नहीं है, वह तो अनुभूतिका विषय है। प्रपन्न प्रत्येक परिस्थितिको प्रभुकी प्रसादी ही समझता है, अतः न तो अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर उसके मनमे हर्ष होता है और न प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर शोक। संकट विकराल रूप धारण करके चारों ओरसे आक्रमण करनेके लिये उद्यत हो तो भी भगवद्भक्त अपने संरक्षणके विषयमे निश्चिन्त रहता है। उसके मनमे किंचित् भी भय नही होता। उसकी शरणागतवत्सल श्रीभगवान्‌के श्रीचरणोंमें अविचल श्रद्धा होती है। उसके मनमे सुदृढ धारणा होती है कि प्रियतम प्रभु मेरी रक्षा करेंगे ही और भगवान् मेरे सदैव संरक्षक हैं ही।

श्रीमद्भगवद्गीतामे श्रीभगवान्‌ने प्रपत्तिकी भूमिकाको लक्ष्यमे रखकर ही कहा है—'योगी जिस परम लाभको प्राप्त करके उससे अधिक अन्य कुछ लाभ नहीं मानता और उसमें सुस्थित होकर भयंकर दुःखसे भी विचलित नहीं होता'—

> यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
> यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
>
> (गीता ६। २२)

यह है सर्वभावसे प्रभुकी शरणमें जाना। सर्वभावमे आत्मसमर्पणद्वारा ही शरणागति सम्प्राप्त हो सकती है। प्रपत्तिका साधक कर्मको कर्म नहीं, 'भगवत्सेवा' मानता है। वह निरन्तर कर्तव्य-कर्म करता रहता है, तथापि अपनेको कर्ता नहीं मानता। वह मानता है कि मैंने तो तन-मन-प्राण और जीवन-सर्वस्व भगवान्‌को ही समर्पित कर दिया है। अब वे जो कराते हैं, वही मैं करता हूँ। उसका मन परम प्रेमसे परिपूर्ण रहता है, जिससे उसमें अन्यके प्रवेशके लिये कोई स्थान नही रहता। दैन्य तो मानो उसका स्वभाव ही होता है।

शरणागति गोपनीयसे भी अति गोपनीय विषय है, इस सत्यको कोई अनुभवी महापुरुष ही जानता है। प्रभुने अर्जुनके माध्यमसे जीवात्माका आह्वान किया है।

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
>
> (गीता १८। ६६)

'(प्रिय अर्जुन!) सब धर्मों अर्थात् समस्त कर्मोंके आश्रय-का परित्याग करके केवल एक (हृदयस्थ) मुझ परमेश्वरकी शरणमे ही आ जाओ। मैं तुम्हे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो।'

प्रपन्नकी पुकार

देव दया-सिंधु, 'सेनापति' दीन-बंधु सुनौ,
आपने बिरद तुम्हें कैसे बिसरत हैं।
तुम ही हमारे धन, तोसौं बाँध्यौ पेम-पन,
और सौं न मानै मन, तोही सुमिरत हैं॥
तोही सौं बसाइ, और सूझै न सहाइ, हम
यातैं अकुलाइ, पाइ तेरेई परत हैं।
मानौं कै न मानौं, करौ सोई जोई जिय जानौं,
हम तौ पुकार एक तोही सौं करत हैं॥

—महाकवि सेनापति (कवित्तरत्नाकर ५। ५)

भगवत्कृपा और भगवद्भक्ति

(लेखक—परमहंस श्रीसीयरामजी 'कृपाभिलाषी')

ब्रह्मस्वरूप, विभु, व्यापक, सच्चिदानन्दघन, सर्वान्तर्यामी, सर्वसमर्थ परमात्माने सम्पूर्ण जीवोंको अपनी ओर आकर्षित करने तथा मोह-मायाके दुःखदायी दुर्धर्ष प्रभाव—जन्म, मरण, जरा, व्याधि, दुःख, दोष, द्वन्द्व एवं त्रितापोंसे मुक्ति दिलानेके लिये इस अचिन्तनीया, अज्ञानान्धकारनाशिनी, भय-बन्धनविमोचनी, सुखकारिणी, अहैतुकी कृपा-महाशक्तिको नियुक्त कर रखा है। कृपालु परमात्माने इस मायिक संसार-सागर और मायातीत प्रेमानन्दघन चित्स्वरूप सिन्धुके बीच अत्यन्त सुन्दर, सुखद और सुगम कृपा-शक्तिमय सेतुका निर्माण कर दिया है।

असंख्य जीवोंकी सृष्टिके बीच मनुष्य भी एक देहेन्द्रियविशिष्ट जीव है, जिसे अन्यान्य प्राणियोंके समान सुख-दुःख, भूख-प्यास, राग-द्वेष, भय-विषाद, शीत-उष्ण एवं अपने-परायेकी अनुभूति होती है। वह अन्य जीवोंके समान जन्म, व्याधि, जरा और मृत्युके प्राकृतिक पाशमें आबद्ध है। परंतु कृपानिधान प्रभुद्वारा प्रदत्त वृत्ति और बुद्धिवैशिष्ट्यसे युक्त मनुष्यको भगवान्‌के स्वरूप-भूत ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, माधुर्य, अमृत और आनन्दके अनुभवका अधिकार और उत्तरदायित्व सहज-सुलभ है। इस प्रकार परमात्मा सहज-सुलभरूपसे मनुष्यके सम्मुख कृपारूपमें विद्यमान हैं। वैसे तो भगवत्कृपा चर-अचर समस्त प्राणियोंपर समभावसे परिपूर्ण है; फिर भी मानवपर उनकी इस विशिष्ट कृपाको नकारा नहीं जा सकता।

सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् ही हैं—आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, सागर, चराचर सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। उन्हींकी अनन्त शक्ति, अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त गुण और अनन्त कृपा सबमें परिपूर्ण हैं।

ऐसा कोई भी प्राणी नहीं, जिसपर भगवान्‌की कृपा नहीं है। समस्त सृष्टि कृपा-सूत्रमें पिरोयी हुई है। प्राणी इसी कृपाके माध्यमसे एक-दूसरेसे सम्बद्ध है।

जीवके मनमें विषय-भोग-सुखकी इच्छाएँ होती हैं, इन इच्छाओंका परिणाम ही सुख-दुःखरूप है। भगवान् जीवके भले-बुरे कर्मोंपर तुष्ट-रुष्ट नहीं होते एवं न सुख-दुःख ही देते हैं। ईश्वर कृपा-सिन्धु, समदर्शी, दीन-बन्धु, गरीब-निवाज, पतित-पावन, करुणाकर, दयानिधि, भक्तवत्सल एवं शरणागत-हितकारी हैं।

भगवान्‌की घोषणा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९। २९)

'यद्यपि मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है, न प्रिय; परंतु जो भक्त मुझे प्रेम-से भजते हैं, वे मुझमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

भगवान् जीवोंके इष्ट और भावको देखते हैं। जीवात्मा-की प्रपत्ति, शरणागति और स्वरूपकी प्राप्ति-हेतु मुमुक्षुता—प्रेमोत्कण्ठापर ही भगवान्‌का ध्यान रहता है। वस्तुतः भगवान् कहीं अलग नहीं हैं। वे स्वयं जीवके स्वरूपभूत ही हैं। जीव उनके उत्सङ्ग (गोद), प्रेम, वात्सल्य और कृपासे कभी वञ्चित नहीं है।

भगवान् अकारण कृपालु, परम सुहृद्, परम दाता और परमेश्वर हैं। उनकी सम्पूर्ण क्रियाएँ सब जीवोंके हितमें ही होती रहती हैं। उनकी कृपाकी अजस्र वर्षा समस्त जीवोंपर होती रहती है।

अनादि कालसे कर्म, गुण, स्वभाव और मोह-मायासे प्रेरित जीवात्मा अण्डज, स्वेदज, जरायुज और उद्भिज्जरूपमें चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकता रहता है। उसे अनन्त कालतक निरन्तर भटकते देखकर भगवान्‌को दया आ जाती है और वे अहैतुकी कृपा करके उसे देवदुर्लभ शरीर प्रदान करते हैं।

भगवत्कृपाके दो भेद हैं—छोह-कृपा और कोह-कृपा। छोह-कृपाका प्रथमतः स्वरूप प्रस्तुत है—

गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥

(मानस ३। ४२। ३)

भगवान् कहते हैं कि 'जैसे माता बालककी रक्षा करती है, वैसे ही मैं अपने शरणागत भक्तोंकी रक्षा करता हूँ।' जब छोटा बच्चा गायके बछड़े, साँप और अग्निको पकड़ने दौड़ता है, तब माता शीघ्रतापूर्वक वहाँ पहुँचकर

बालकको अपनी गोदमे उठा लेती है । इसी प्रकार मैं भी भक्तको काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरजनित दुःख-दोषोंसे बचा लेता हूँ । मैं अपने भक्तके सम्मुख अपना सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रस्तुत करते हुए अनेक प्रकारसे उसका प्रतिपालन करता हूँ । यह मेरी छोह-कृपा है ।

कोह-कृपाका स्वरूप भी देखिये—

भगवान् कहते हैं कि मेरे द्वारा दिये गये ऐश्वर्यको पाकर यदि भक्तके मनमे अभिमानरूप विकार उत्पन्न हो जाता है तो उसे निकालनेके लिये मैं कोह-कृपाका प्रयोग करता हूँ । जैसे छोटे बच्चेके शरीरमे कोई व्रण हो जाता है और माता जब बाह्य उपचारोद्वारा उसका नष्ट होना असम्भव समझती है, तब शल्य-चिकित्सकके पास जाकर उसका आपरेशन करवानेके लिये वह कठोरहृदय बन जाती है—

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं । मातु चिराव कठिन की नाईं ॥

(मानस ७ । ७३ । ४)

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर ।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर ॥

(मानस ७ । ७४ क)

'यद्यपि पीड़ासे व्याकुल होकर बालक करुण-चीत्कार करता है, परंतु उसकी दयाशीला माँ व्याधि दूर करानेके उद्देश्यसे बालककी पीड़ाकी ओर कुछ भी ध्यान नही देती ।'

भगवान्ने अपने अनुग्रहके रूपपर प्रकाश डालते हुए अन्यत्र भी कहा है—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥
स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया ।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥

(श्रीमद्भा० १० । ८८ । ८-९)

'मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसका सारा धन धीरे-धीरे हर लेता हूँ । जब वह निर्धन हो जाता है, तब उसके सम्बन्धी भी उसके दुःखाकुल चित्तकी परवाह न करते हुए उसे त्याग देते हैं; फिर वह धनके लिये उद्योग करने लगता है, मैं उसका वह प्रयत्न भी विफल कर देता हूँ । बारंबार असफल होनेके कारण वह उससे उपराम हो जाता है और मेरे प्रेमी भक्तो-संतोंका आश्रय लेता है, तब उसपर मेरी कृपा होती है ।'

भगवान्को अपना भक्त अतिशय प्यारा होता है, उसके जो-जो बाधक, दुःखदायक, हानिकारक जगद्वैभव हैं, वे उन सबका हरण कर लेते हैं । साथ ही मान, अहंकार आदि विकारोंको दूर करनेके लिये उसे रोग, दारिद्र्य, दीनता, अपमान, वंशोच्छेद, विरहवेदना और विरक्ति प्रदान करनेका महान् अनुग्रह भी करते हैं ।

भगवान्की कृपाका साधारण लाभ तो समानभावसे सबको मिलता ही है, परंतु उससे विशेषरूपमें लाभान्वित होना अपनी योग्यता (जिज्ञासा)—पात्रतापर निर्भर है । जैसे सूर्यकी किरणें सर्वत्र समानभावसे सबपर पड़ती हैं, किंतु सूर्यकान्तमणिमें सूर्यका विशेष प्रभाव अभिव्यक्त होता है, वैसे ही जिस मनुष्यका अन्तःकरण विशुद्ध एवं प्रोज्ज्वल है, उसीके अन्तःकरणमे भगवान्के स्वरूपभूत प्रेम, ज्ञान, गुण, सौन्दर्य, माधुर्य, रस, आनन्द आदि प्रकट होते हैं । यह भगवत्कृपाका अनुबन्ध है ।

सूर्यकान्तमणिकी भाँति शुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य भगवत्-तत्त्वकी अनुभूति करनेसे माया-मोहरूप आवरणको हटाकर चिदानन्दको प्राप्त हो जाता है । यह भगवत्कृपा शरणागत भक्तपर होती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(गीता १० । १०-११)

'(हे अर्जुन !) उन निरन्तर मेरे ध्यानमे लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं । उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमे एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट कर देता हूँ ।'

भगवत्कृपा होनेपर भगवद्भक्तिकी प्राप्ति होती है—

प्रसादाद् देवताभक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भवः ।
यथेहाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः ॥

(शि० पु० वि० सं० ३ । १४)

'जिस प्रकार बीजसे अङ्कुर और अङ्कुरसे बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार भगवत्कृपासे हरिभक्ति और हरिभक्तिसे भगवत्कृपाकी प्राप्ति होती है । भगवत्कृपाका माध्यम भक्तिमे संनिहित है ।'

कृपासिन्धु भगवान् श्रीविष्णु

भगवन्नाम-जप और भगवत्कृपा

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारमें जितने मत-मतान्तर हैं, प्रायः सभी ईश्वरके नामकी महिमाको स्वीकार करते और गाते हैं। अवश्य ही रुचि और भावके अनुसार नामोंमें भिन्नता रहती है; परंतु परमात्माका नाम कोई-सा भी क्यों न हो, सभी एक-सा ही लाभ पहुँचानेवाले हैं। अतएव जिसको जो नाम रुचिकर प्रतीत हो, वह उसीके जपका ध्यानसहित अभ्यास करे।

मेरा अनुभव—कुछ मित्रोंने मुझे इस विषयमें अपना अनुभव लिखनेके लिये अनुरोध किया है; परंतु जब मैंने भगवन्नामका विशेष संख्यामें जप ही नहीं किया, तब अपना अनुभव क्या लिखूँ? भगवत्कृपासे जो कुछ नाम-स्मरण मुझसे हो सका है, उसका माहात्म्य भी पूर्णतया लिखा जाना कठिन है।

नामका अभ्यास मैं बचपनसे ही करने लगा था, जिससे शनैः-शनैः मेरे मनकी विषय-वासना कम होती गयी और पापोंसे हटनेमें मुझे बड़ी सहायता मिली। काम-क्रोधादि अवगुण कम होते गये, अन्तःकरणमें शान्तिका विकास हुआ। कभी-कभी नेत्र बंद करनेसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अच्छा ध्यान भी होने लगा। सांसारिक स्फुरणा बहुत कम हो गयी। भोगोंमें वैराग्य हो गया। उस समय मुझे वनवास या एकान्त स्थानका रहन-सहन अनुकूल प्रतीत होता था।

इस प्रकार अभ्यास होते-होते एक दिन स्वप्नमें श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजीसहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन हुए और उनसे बातचीत भी हुई। श्रीरामचन्द्रजीने वर माँगनेके लिये मुझसे बहुत कुछ कहा, पर मेरी इच्छा माँगनेकी नहीं हुई। अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर भी मैंने इसके सिवा और कुछ नहीं माँगा कि 'आपसे मेरा वियोग कभी न हो।' यह सब नामकी कृपाका ही फल था।

इसके बाद नाम-जपसे मुझे और भी अधिकतर लाभ हुआ, जिसकी महिमा वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूँ। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि नाम-जपसे मुझे जितना लाभ हुआ है, उतना श्रीमद्भगवद्गीताके अभ्यासको छोड़कर अन्य किसी भी साधनसे नहीं हुआ।

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि साधन-पथके विघ्नों और मनमें होनेवाली सांसारिक स्फुरणाओंका नाश करनेके लिये स्वरूपचिन्तनसहित प्रेमपूर्वक भगवन्नाम-जप करनेके समान दूसरा कोई साधन नहीं है। जब साधारण संख्यामें भगवन्नामका जप करनेसे ही मुझे इतनी परम शान्ति, इतना अपार आनन्द और इतना अनुपम लाभ हुआ है कि जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता, तब जो पुरुष भगवन्नामका निष्काम-भावसे ध्यानसहित नित्य-निरन्तर जप करते हैं, उनके आनन्दकी महिमा तो कौन कह सकता है?

नाम-जप किसलिये करना चाहिये?—

श्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(कठोप० १।२।१६)

'यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इसी ओंकाररूप अक्षरको जानकर जो मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है, उसको वही मिलती है।'

श्रुतिके इस कथनके अनुसार कल्पवृक्षरूप भगवद्भजनके प्रतापसे मनुष्य जिस वस्तुको चाहता है, उसे वही मिल सकती है; परंतु आत्माका कल्याण चाहनेवाले सच्चे प्रेमी भक्तोंको तो निष्काम-भावसे ही भजन करना चाहिये। शास्त्रोंमें निष्काम प्रेमी भक्तकी ही अधिक प्रशंसा की गयी है। भगवान्‌ने भी कहा है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(गीता ७।१६-१७)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्मवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझे भजते हैं। उनमें भी नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

इस प्रकार निष्काम प्रेमपूर्वक होनेवाले भगवद्भजनके प्रभावको जो मनुष्य जानता है, वह एक क्षणके लिये भी

भगवान‍्को नहीं भूलता और भगवान् भी उसको नहीं भूलते। भगवान‍्ने स्वयं कहा भी है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है; क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

भला, सच्चा प्रेमी क्या अपने प्रेमास्पदको छोड़कर कभी दूसरेको मनमें स्थान दे सकता है ? जो भाग्यवान् पुरुष परम सुखमय परमात्माके प्रभावको जानकर उन्हें ही अपना एकमात्र प्रेमास्पद बना लेते हैं, वे तो अहर्निश उन्हींके प्रिय नामकी स्मृतिमें तल्लीन रहते हैं, वे दूसरी वस्तु न कभी चाहते हैं और न उन्हें सुहाती ही है।

अतएव जबतक ऐसी अवस्था प्राप्त न हो जाय, तबतक अभ्यास करते रहना चाहिये। नामोच्चारण करते समय मन प्रेममें इतना मग्न हो जाना चाहिये कि उसे अपने शरीरका भी ज्ञान न रहे। भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेमभक्ति और भगवत्-साक्षात्कारिताके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।

निष्काम-भावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक बहुत शीघ्र अच्छा लाभ उठा सकता है।

यदि कोई शङ्का करे कि बहुत लोग भगवन्नामका जप किया करते हैं; परंतु उनको कोई विशेष लाभ होता हुआ नहीं देखा जाता तो इसका उत्तर यह हो सकता है कि उन लोगोंने या तो विधिसहित जपका अभ्यास ही नहीं किया होगा या अपने जपरूप परम धनके बदलेमें तुच्छ सांसारिक भोगोंको खरीद लिया होगा, नहीं तो उन्हें अवश्य ही विशेष लाभ होता, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसीलिये नाम-जप किसी प्रकारकी भी छोटी-बड़ी कामनाके लिये न करके केवल भगवान‍्में विशुद्ध प्रेमके लिये ही करना चाहिये।

नाम-जप कैसे करना चाहिये ?—

महर्षि पतञ्जलिजी कहते हैं—

'तस्य वाचकः प्रणवः।' (योग-सूत्र १। २७)

'उन परमात्माका वाचक प्रणव अर्थात् ओंकार है।'

'तज्जपस्तदर्थभावनम्।' (योग-सूत्र १। २८)

'उन परमात्माके नाम-जप और उनके अर्थकी भावना अर्थात् स्वरूपका चिन्तन करना।'

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।'

(योग-सूत्र १। २९)

'उपर्युक्त साधनसे सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति भी होती है।'

इससे यह सिद्ध होता है कि नाम-जप नामीके स्वरूपचिन्तनसहित करना चाहिये। स्वरूपचिन्तनयुक्त नाम-जपसे अन्तरायोंका नाश और भगवत्प्राप्ति होती है।

नामी नामके ही अधीन है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

(मानस १। २०। २-३)

इसीलिये यद्यपि स्वरूपचिन्तनकी चेष्टा किये बिना केवल नाम-जपके प्रतापसे ही साधकको समयपर भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार स्वतः हो सकता है, परंतु उसमें विलम्ब हो जाता है। भगवान‍्के मनमोहन स्वरूपका चिन्तन करते हुए जपका अभ्यास करनेसे बहुत शीघ्र ही लाभ होता है; क्योंकि निरन्तर चिन्तन होनेसे भगवान‍्की स्मृतिमें अन्तर नहीं पड़ता। इसीलिये भगवान‍्ने कहा है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

(गीता ८। ७)

'अतएव (हे अर्जुन !) तुम सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो, इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त हुए तुम निःसंदेह मुझको ही प्राप्त होगे।'

भगवान‍्की इस आज्ञाके अनुसार उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते और प्रत्येक सांसारिक कार्य करते समय साधकको नाम-जपके साथ-ही-साथ मन-बुद्धिसे भगवान‍्के स्वरूपका चिन्तन और निश्चय करते रहना चाहिये, जिससे क्षणभरके लिये भी उनकी स्मृतिका वियोग न हो।

इसपर यदि कोई पूछे कि किस नामका जप अधिक लाभदायक है ? और नामके साथ भगवान‍्के कैसे स्वरूपका ध्यान करना चाहिये ? तो इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि परमात्माके अनेक नाम हैं, उनमेंसे जिस

साधकको जिस नाममें अधिक रुचि और श्रद्धा हो, उसे उसी नामके जपसे विशेष लाभ होता है। अतएव साधकको अपनी रुचिके अनुकूल ही भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। एक बात अवश्य है कि जिस नामका जप किया जाय, स्वरूपका चिन्तन भी उसीके अनुसार होना चाहिये। उदाहरणार्थ—

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इस मन्त्रका जप करनेवालेको सर्वव्यापी वासुदेवका ध्यान करना चाहिये। 'ॐ नमो नारायणाय'—इस मन्त्रका जप करनेवालेको चतुर्भुज श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान करना चाहिये। 'ॐ नमः शिवाय'—इस मन्त्रका जप करनेवालेको त्रिनेत्र भगवान् शंकरका ध्यान करना उचित है। केवल ॐकारका जप करनेवालेको सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन शुद्धब्रह्मका चिन्तन करना उचित है। श्रीरामनामका जप करनेवालेको दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपका चिन्तन करना लाभप्रद है।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
(कलिसं० १)

—इस मन्त्रका जप करनेवालेके द्वारा श्रीराम, श्रीकृष्ण, विष्णु या सर्वव्यापी ब्रह्म आदि सभी रूपोंका अपनी इच्छा और रुचिके अनुसार ध्यान किया जा सकता है; क्योंकि ये सब नाम सभी रूपोंके वाचक हो सकते हैं।

इन उदाहरणोंसे यही समझना चाहिये कि साधकको गुरुसे जिस नाम-रूपका उपदेश मिला हो, जिस नाम और जिस रूपपर श्रद्धा, प्रेम और विश्वासकी अधिकता हो तथा जो अपने आत्माके अनुकूल प्रतीत होता हो, उसे उसी नाम-रूपके जप-ध्यानसे अधिक लाभ हो सकता है।

अतएव साधकको भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर निष्काम-भावसे नित्य-निरन्तर दिन-रात कर्तव्य-कर्मोंको करते हुए भी ध्यानसहित श्रीभगवन्नाम-जपकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

नामकी इतनी महिमा होते हुए भी प्रेम और ध्यानयुक्त भगवन्नाम-जपमें लोग क्यों नहीं प्रवृत्त होते? इसका उत्तर यह है कि भगवद्भजनके असली मर्मको वही मनुष्य जान सकता है, जिसपर भगवान्‌की पूर्ण कृपा होती है।

यद्यपि भगवान्‌की कृपा प्रायः सबपर समानभावसे है, परंतु जबतक मनुष्य उनकी अपार कृपाका अनुभव नहीं कर लेता, तबतक उसे उस कृपासे विशेष लाभ नहीं होता। जैसे किसीके घरमें गड़ा हुआ धन है, किंतु जबतक वह उसे जानता नहीं, तबतक उसे कोई लाभ नहीं होता; परंतु वही जब किसी जानकार पुरुषसे जान लेता है और यदि परिश्रम करके उस धनको निकाल लेता है तो उसे लाभ होता है। इसी प्रकार भगवान्‌की कृपाके प्रभावको जाननेवाले पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यको भगवान्‌की नित्य कृपाका पता लगता है, कृपाके ज्ञानसे भजनका मर्म समझमें आता है, फिर उसकी भजनमें प्रवृत्ति होती है, भजनके नित्य-निरन्तर अभ्याससे उसके समस्त संचित पाप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसे परमात्माकी प्राप्तिरूप पूर्ण लाभ मिलता है। महात्मा कबीरजी कहते हैं—

रामनाम रटते रहो, जबलगि घटमें प्रान।
कबहूँ दीनदयालके, भनक परेगी कान॥

इसलिये संसारके समस्त विषयोंको विषके लड्डू समझते हुए उनसे मन हटाकर परमात्माके पावन नामके जपमें लग जाना ही परम कर्तव्य है। जो परमात्माके नामका जप करता है, दयालु परमात्मा उसे शीघ्र ही भव-बन्धनसे मुक्त कर देते हैं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर न्यायकारी हैं, भजनेवालेके ही पापोंका नाश करके उसे परमगति प्रदान करते हैं तो फिर उन्हें दयालु क्यों कहना चाहिये? ऐसा कथन युक्तियुक्त नहीं है। संसारके बड़े-बड़े राजा-महाराजा अपने उपासकोंको धनादि सांसारिक पदार्थ देकर संतुष्ट करते हैं; परंतु भगवान् ऐसा नहीं करते, उनका तो यह नियम है कि उनको जो जिस भावसे भजता है, उसको वे भी उसी भावसे भजते हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४। ११)

परमात्मा छोटे-बड़ेका कोई विचार नहीं करते। एक छोटे-से-छोटा व्यक्ति परमात्माको जिस भावसे भजता है, उनके साथ जैसा बर्ताव करता है, वे भी उसको वैसे ही भजते हैं और वैसा ही उसके साथ बर्ताव करते हैं। यदि कोई उनके लिये रोकर व्याकुल होता है तो वे भी उससे मिलनेके लिये उसी प्रकार अकुला उठते हैं। यह उनकी कैसी विलक्षण कृपा है!

अतएव इस अनित्य, क्षणभङ्गुर, नाशवान् संसारके समस्त मिथ्या भोगोंको छोड़कर उन सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, शुद्ध, परम दयालु, सच्चे प्रेमी परमात्माके पावन नामका निष्काम प्रेमभावसे ध्यानसहित सदा-सर्वदा जप करते रहना चाहिये।

अन्तकाल और भगवत्कृपा

(लेखक—पं० श्रीनरसीजी 'नागौरी')

ईश्वर, वेद-पुराण, ऋषि-मुनि और संतोंकी जीवमात्रपर असीम कृपा है। सभीने कृपा कर जीवके लिये ऐसे साधन बता दिये हैं कि वह जन्मसे मृत्युपर्यन्त किसी भी समय अपना उद्धार कर सकता है। विलक्षणता तो यह है कि यदि आजीवन कोई अपने कल्याणका साधन नहीं कर सका तो उसके प्रति भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८। ५)

'अन्तकालमें जो मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

अर्जुनने भगवान्से प्रश्न किया—

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥

(गीता ८। २)

'युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाने जाते हैं?'

मरणासन्न प्राणीकी शोचनीय स्थितिका विचार कर श्रीकृष्णभगवान् कृपापूर्वक अन्तकालको सुधारनेका सरल उपाय बतलाते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥

(गीता ८। १३)

'जो पुरुष मेरे अक्षर ब्रह्मरूपका ध्यान कर 'ॐ'का उच्चारण करता हुआ शरीर छोड़ता है, वह परमगतिको प्राप्त हो जाता है।'

भगवान् आश्वासन देते हैं कि अन्त समयतक भी जो प्राणी अहंता-ममताको छोड़कर मेरी ब्राह्मी स्थितिको धारण कर लेता है, उसे निर्वाण—ब्रह्मपद प्राप्त हो जाता है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता २। ७२)

जन्म-जन्मान्तरोंकी पाप-वासनाओंसे ग्रस्त प्राणीका किसी प्रकार उद्धार हो, इसी भावनासे परम कृपालु भगवान्ने अनेक स्थलोंपर मरणकालमें ही किंचित् उपाय करनेसे परमपदकी प्राप्तिका विधान निश्चित किया है—

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(गीता ८। १०)

'वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्यरूप परमपुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है।'

मनुष्य यदि मृत्युमें साक्षात् भगवान्की भावना कर ले तो भी वह भगवान्की कृपासे मुक्त हो जाता है। वस्तुतः भगवान्के सिवा कुछ है भी नहीं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।

(गीता ७। ७)

'हे धनंजय! मेरे सिवा किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है।'

तथा—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥

(गीता ९। १९)

'अर्जुन! अमृत और मृत्यु एवं सत् और असत्—सब कुछ मैं ही हूँ।'

'अहमेवाक्षयः कालः' (गीता १०। ३३)
'मैं अक्षय काल अर्थात् कालका भी महाकाल (हूँ)।'
'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' (गीता १०। ३४)
'मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु (हूँ)।'
'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्' (गीता ११। ३२)
'(मैं) लोकोंका नाश करनेवाला महाकाल हूँ।'

श्रीमद्भागवतमें तो जीवनभरके समस्त साधन-कर्मोंका सार अन्त समयमें नारायणका स्मरण होना ही कहा गया है—

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥
(२ । १ । ६)

'सांख्य, योग तथा स्वधर्मपरायणता आदि समस्त साधनोंके फलस्वरूप अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण रहे—यही मनुष्य-जन्मका परम लाभ है ।'

अन्तकाले तु पुरुष आगते गतसाध्वसः ।
छिन्द्यादसङ्गशस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये च तम् ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । १५)

'मृत्युका समय आनेपर मनुष्य घबराये नहीं । उसे चाहिये कि वह वैराग्यरूप-शस्त्रसे शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवालोंके प्रति ममताको काट डाले ।'

बृहदारण्यक-उपनिषद्‌के अनुसार प्रत्येक मनुष्यको रोग और मृत्युमें परम तपकी भावना करके परमपदकी प्राप्तिके लिये अन्ततक पूरा प्रयत्न करना चाहिये । भक्त भगवान्‌का कृपाश्रित होकर अन्त समयतक नामोच्चारण मात्र ही करता रहे तो उनकी सहज कृपासे उसका उद्धार हो जाता है । पुराणों तथा 'मानस'में अन्त समयतक नामोच्चारणसे उद्धार बताया गया है—

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम् ।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति ॥
(प० पु० उ० ८० । १६१, ग० पु० उ० २८ । ५)

''जिसने 'हरि'—इन दो अक्षरोंका एक बार भी उच्चारण कर लिया, उसने मोक्ष-प्राप्तिके लिये फेंट कस ली ।''

गीध और वालीके प्रसङ्गमें तो स्वयं भगवान्‌ने अन्त समयमें दर्शन देकर उनको कृतार्थ कर दिया—

गीध—
तनु तजि तात जाहु मम धामा ।
(मानस ३ । ३० । ५)

वाली—
राम बालि निज धाम पठावा ।
(मानस ४ । १० । १)

मृत्युकालमें मनुष्यको भगवान् और उनकी कृपाका स्मरण दिलाना उसके उद्धारका निश्चित साधन है । किसी प्राणीको अन्त समयमें यदि भगवान्‌के दिव्य गुण, नाम और रूपका प्रभाव सुनाया जाय तो भी उसका उद्धार हो जाता है और यह अपने हाथमें है । परिवारके सदस्य भी अपने आत्मीयका अन्त संनिकट जानकर उसे भगवत्कृपाका आश्रय दिला सकते हैं ।

मरणासन्न व्यक्तिके निकटका सारा स्थान स्वच्छ एवं पवित्र रखना चाहिये । उसे गोबरसे लीप देना चाहिये । मृत्यु निकट जानकर मनुष्यको बालू-बिछी धरतीपर भूमि-शय्या दे देनी चाहिये, जिससे प्राण निकलनेमें कष्ट न हो । उसके शरीरको स्वच्छ रखना चाहिये । मुखमें तुलसीदल और गङ्गाजल डालते रहना चाहिये । रोगीके पास बैठकर रोना नहीं चाहिये, प्रत्युत गीताका पाठ अथवा नाम-संकीर्तन करना उचित है, जिससे रोगीकी वृत्ति प्रभु-परायण हो । रोगी जिस इष्ट स्वरूपकी पूजा करता रहा हो, उसका चित्र उसके नेत्रोंके सामने हो । इस प्रकार अन्तकालमें सात्त्विक वातावरणमें सात्त्विक वृत्ति बन गयी और प्रभुका स्मरण हो आया तो निश्चय ही भगवत्कृपासे परमगति प्राप्त हो सकती है; किंतु यह नहीं भूलना चाहिये कि मरणकालमें इस प्रकारका साधन बन जाना भी भगवत्कृपासे ही होता है ।*

इस प्रकार भगवत्कृपासे अन्तिम समयमें भी शास्त्रोक्त उपायोंसे जीवका उद्धार हो जाता है । पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हम वर्तमानमें साधन, भजन, नियम छोड़कर अन्त समयमें ही उपाय कर लेनेका प्रमाद कर बैठें । यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि जो जीवनभर भजन-साधनमें लगे रहते हैं, प्रायः उनके लिये ही अन्तकालमें ऐसे सुयोग बैठा करते हैं ।

अन्त समयमें थोड़े उपायसे कल्याण हो सकता है । यह जानकर हमलोगोंको शीघ्र ही अपना और प्राणिमात्रका कल्याण हो सके—ऐसा उपाय करना चाहिये । कल यह शरीर रहे, न रहे—क्या पता ? मृत्युका कोई समय निर्धारित नहीं, पर मृत्यु अवश्य ही होनेवाली है, इसलिये जो भगवत्कृपा चाहता है, उसे हर समय भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये ।

जो यह मानता है कि हर क्षण ही अन्तिम क्षण है, वह कभी कृपालु प्रभुको विस्मृत नहीं कर सकता, उसे अन्त समयमें निश्चय ही भगवत्कृपाके फलस्वरूप परमगति प्राप्त हो जायगी—

जाकर नाम मरत मुख आवा । अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥
(मानस ३ । ३० । ३)

* मरणासन्नके आत्मीय जनोंको यह सोचकर कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये कि यदि इस व्यक्तिपर भगवत्कृपा होगी तो अवश्य ही इसके उद्धारके साधन स्वयमेव जुट जायँगे । उन्हें तो तत्परतापूर्वक समस्त उपयुक्त कार्य करनेमें संलग्न हो ही जाना चाहिये ।

कलियुग और भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीकृपाशंकरजी शुक्ल)

वस्तुतः देवदुर्लभ दिव्य मानव-जीवन ही भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष प्रमाण है। चिरपिपासाकुल, त्रितापसंतप्त, परिश्रान्त, क्लान्त जीवके दैन्यको देखकर वे करुणावरुणालय अकारण द्रवित हो जाते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(मानस ७। ४३। ३)

………………। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।………………॥
(मानस ७। ४२। ४)

वे अपने इस परम प्यारे-दुलारे जीवको देव-वृन्द-अभिलषित परम सुन्दर मानव-शरीर प्रदान करते हैं। करुणाविष्टप्रभु-प्रदत्त इस अमूल्य मानव-जीवनको पाकर हमे शीत-उष्ण, जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें सम रहते हुए तथा परम मङ्गलमयी भगवत्कृपाकी अनुभूति करते हुए सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

परमवात्सल्यमयी माता अपने प्रिय पुत्रको धूलि-धूसरित अथवा पंकसे आलिप्त देखकर उसे स्नानद्वारा निर्मल तथा शुद्ध बनाना चाहती है; परंतु बालक अपने मल-लिप्त शरीरको शुद्ध नहीं बनाना चाहता, उसे तो माताका वह व्यवहार कठोर एवं दुःखद प्रतीत होता है, किंतु माता बलपूर्वक पकड़कर, एक-दो चपत जमाकर उसे स्नान करा ही देती है। क्या स्नेहसे ओत-प्रोत माताका वह व्यवहार कठोरतापूर्ण है? ठीक इसी प्रकार परमदयालु प्रभु परमात्म-प्राप्तिरूपा परम एवं चरम आवश्यकताको भूले एवं 'मैं सुखी हो जाऊँ, मैं धनसम्पन्न हो जाऊँ, मैं खूब भोग भोगूँ' आदि कामनाओंसे आविष्ट तथा काम-क्रोध, मान-प्रतिष्ठारूप पंकद्वारा परिलिप्त जीवको उसकी सम्मतिके बिना ही दुःखद परिस्थितियोंके दानद्वारा परम पवित्र बनाकर अपनी ओर आकृष्ट करते हैं; परंतु हम इस विशिष्ट भगवत्कृपाको दुःखद मान बैठते हैं और कहते हैं कि प्रभु इतने दयालु होते हुए भी ऐसा व्यवहार क्यों करते हैं? यह हमारी मूर्खता है।

अत्यन्त दुर्लभ मानव-जीवनको पाकर हमे पद-पदपर भगवत्कृपाकी अनुभूति करते हुए आह्लादित होना चाहिये। प्राप्त भगवत्कृपाका अनुभव कर लेना ही स्वर्णिम मानव-जीवन-का उद्देश्य है। एतदर्थ प्रत्येक सावधान मानवको अपनी सम्पूर्ण निष्ठासे भगवन्नाम-संकीर्तन अनवरत करते रहना चाहिये, जिससे समस्त संचित पापकर्मोंका नाश होकर उसे भगवत्कृपानुभूति हो सके।

हम कलियुगी जीवोंके हितार्थ नाम-भगवान्‌ने भी कितनी कृपा की है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(बृ० ना० पु० १। ४१। ११५)

'कलियुगमे केवल श्रीहरिका नाम ही उद्धारक है, दूसरी कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

प्रेमावतार गौरसुन्दर श्रीचैतन्य महाप्रभुकी यह अमृत-वाणी कितनी स्पृहणीय है, कितनी काम्य है!—

धन्य धन्य कलियुग सर्वयुग सार।
हरिनाम संकीर्तन जाहाते प्रचार॥

कलिपावनावतार हिंदी-काव्य-मालाके सुमेरु सतप्रवर श्रीतुलसीदासजीने तो श्रीरामनामको ही अपार-असार संसार-सागरसे पार पानेका एकमात्र सुन्दरतम साधन बतलाया है—

राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे।
घोर भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे॥
एक ही साधन सब रिद्धि-सिद्धि साधि रे।
ग्रसे कलिरोग जोग-संजम-समाधि रे॥
(विनयप० ६६। १-२)

'ओ बावले! राम जप, राम जप, राम जप। इस भयानक संसाररूप समुद्रसे पार उतरनेके लिये श्रीरामनाम ही अपनी नाव है। अर्थात् इस श्रीरामनामरूपा नावमे बैठकर मनुष्य जब चाहे तभी पार उतर सकता है; क्योंकि यह मनुष्यके अधिकारमे है। इसी एक साधनके बलसे सब ऋद्धि-सिद्धियोंको साध ले; क्योंकि योग, संयम और समाधि आदि साधनोंको कलि-कालरूप रोगने ग्रस लिया है।'

नाहिन आवत आन भरोसो ।
यहि कलिकाल सकल साधनतरु है स्रम-फलनि फरो सो ॥
(विनयप० १७३ । १)

'(श्रीरामनामके सिवा) मुझे दूसरे किसी (साधन)-पर भरोसा नहीं होता । इस कलियुगमें सभी साधनरूप वृक्षोंमें केवल परिश्रमरूप फल ही फलने से दिखायी देते हैं अर्थात् उन साधनोंमें लगे रहनेसे केवल श्रम ही हाथ लगता है, फल कुछ नहीं होता ।'

संतशिरोमणिकी कितनी सुन्दर अनुभूति उभरकर इन पदोंमें मुखरित हुई है—

राम-नामके जपे जाइ जियकी जरनि ।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये,
जैसे तम नासिबेको चित्रके तरनि ॥
(विनयप० १८४ । १)

'श्रीरामनाम जपनेसे ही मनकी जलन मिट जाती है । इस कलियुगमें (योग-यज्ञादि) दूसरे साधन तो सब वैसे ही व्यर्थ हो जाते हैं, जैसे अँधेरा दूर करनेके लिये चित्रलिखित सूर्य व्यर्थ है ।'

इसी प्रकार नानापुराणनिगमागमसम्मत श्रीरामचरितमानस भी 'पाप पयोनिधि जन मन मीना'के हेतु सादर हरिस्मरण करनेकी बड़ी ही स्पष्ट प्रेरणात्मक आज्ञा प्रदान करता है—

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग ॥
(मानस ७ । १०२ ख)

कलिजुग केवल हरि गुन गाहा । गावत नर पावहिं भव थाहा ॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना । एक अधार राम गुन गाना ॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि । प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि ॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं । नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं ॥
(मानस ७ । १०२ । २–४)

श्रीविष्णुपुराणमें हरिस्मरणद्वारा महान् धर्मकी प्राप्तिके हेतुभूत कलियुगका महत्त्व बतलाया गया है । भगवान्ने कृपापूर्वक जो श्रेष्ठता कलियुगको प्रदान की है, वह किसी अन्य युगको प्राप्त नहीं । श्रीव्यासजीने स्पष्ट उद्‌घोष किया है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः ।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम् ॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
धर्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ ।
अल्पायासेन धर्मज्ञास्तेन तुष्टोऽस्म्यहं कलेः ॥
(६ । २ । १५–१८)

'जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य, जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्षमें, द्वापरमें एक मासमें और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है । इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है । सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ और द्वापरमें देवार्चनसे जो फल प्राप्त होता है, वही कलियुगमें भगवान् केशवके संकीर्तनसे प्राप्त हो जाता है । हे धर्मज्ञगण ! कलियुगमें थोड़े परिश्रमसे ही मनुष्यको महान् धर्मकी प्राप्ति हो जाती है, इसीलिये मैं कलियुगसे अत्यन्त संतुष्ट हूँ ।'

कुछ इसी प्रकारकी बात महाभाग व्यासभगवान्‌द्वारा रचित श्रीमद्भागवतके इस सुन्दर श्लोकके माध्यमसे कही गयी है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(१२ । ३ । ५२)

भगवान्ने कृपा करके ही अपने स्मरणकी शक्ति मनुष्यको दी है । जपमात्रसे उन्हें प्राप्त कर लेना भी केवल कलियुगमें ही सुगम है । अतः यह भगवत्कृपा कलियुगमें मनुष्यमात्रको विशेषतासे मिली है ।

किंबहुना हमारा सम्पूर्ण वाङ्मय कलियुगमें भगवत्कृपा और हरिनामके अद्भुत प्रतापसे देदीप्यमान हो रहा है ।

कलियुगमें कायिक, वाचिक अथवा मानसिक ऐसा कोई भी पाप नहीं है, जिसे अघहारी भगवान्का परम पवित्र नाम निर्मूल न कर सके—

तन्नास्ति कर्मजं लोके वाग्जं मानसमेव वा ।
यत्तु न क्षीयते पापं कलौ केशवकीर्तनात् ॥

जन्म-जन्मान्तर, कल्प-कल्पान्तर और युग-युगान्तरमें भयावह भवाटवीमें भटकनेवाले 'ईश्वर-अंश' प्यारे जीवके लिये कलियुगमें मानव-देह पा जाना, कृपामूर्ति करुणासिन्धुकी कोमलकलित अपूर्व अनुकम्पा ही है। अतः हमें निरन्तर अपने अन्तरमें हरिसरणकी दिव्य ज्योति जगा लेनी चाहिये, फिर तो इस स्थितिको पहुँचनेमें विलम्ब लगेगा ही नहीं—

> सब रंग तंत रबाव तन, बिरह बजावै नित्त।
> और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त॥
>
> (संत कबीरदास)

प्रबल प्रतापी कलिकाल नाम-परायण मानवका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। अनित्य संसारके मधुर इन्द्रजाल उसे नहीं बाँध पाते। रामरसरसिक तो कलिकालके कराल मुखपर चरण रखकर अभय विचरण करता है। आजतक न जाने कितने कपट 'कालनेमि' (पाप) केसरीनन्दन श्रीहनुमान्‌जी (भगवन्नाम)के अचूक अव्यर्थ आघात और प्रभावसे अस्तित्वविहीन हो गये हैं।

वङ्गीय भक्तोंके परम-प्रेमास्पद प्रेममूर्ति श्रीगौराङ्ग महाप्रभु कहते हैं—

> नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
> स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
> एतादृशी तव कृपा·················॥
>
> (चैतन्य-शिक्षाष्टक २)

'करुणासिन्धु प्रभुने सोचा कि कलियुगमें जीवोंसे कृत-त्रेता आदि युगोंके समान ध्यान-यज्ञादि नहीं हो सकते, अतः उन्होंने उनके उद्धारके लिये कृपा करके ही अपनी समस्त शक्तियाँ अपने नामोंमें स्थापित कर दीं और इन नामोंके स्मरणमें किसी देश या कालका प्रतिबन्ध भी नहीं रखा।'

परम भागवत उद्धवजी कलियुगी जीवोंका कल्याण करनेके लिये भगवान्‌के अन्तर्धान होनेके पूर्व ही उनसे पूछते हैं—'हे गोविन्द! आप भक्त-कार्य करके अपने धाममें चले जायँगे, इस बातको सुनकर मुझे बड़ी चिन्ता हो रही है। यह भयंकर कलियुग आ रहा है, उसके सङ्गसे सम्पूर्ण पृथ्वीपर दुष्ट उत्पन्न होंगे, उनके भारसे परिपीड़िता पृथ्वी किसका आश्रय लेगी और आपके वियोगमें आपके भक्त इस भूमण्डलपर कैसे स्थित रहेंगे! यदि वे निर्गुण-उपासना करें तो अत्यन्त कष्ट है, अतः आप सोचिये।' इस प्रकार उद्धवके वचनको सुनकर, भक्ताव-लम्बनार्थ दयाद्रवित होकर कृपासिन्धु प्रभुने अपना स्वकीय तेज श्रीमद्भागवतमें स्थापित कर दिया। अतः हमलोगोंको भगवान्‌का नाम-गुणगान एवं भगवत्कथामृत-पान करते ही रहना चाहिये। उनका सहारा होते हुए कभी हताश नहीं होना चाहिये, उनसे सब कुछ सिद्ध हो जाता है। इस कलियुगमें केवल कथा-श्रवण और नाम-संकीर्तनका आश्रय लेनेमात्रसे ही मन सुगमतापूर्वक भगवान्‌की ओर लग जाता है और मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र भगवत्कृपाका अनुभव प्राप्त कर लेता है।

सर्वथा साधनविहीन शरणागत साधक दीनरक्षक भगवान्‌की कृपाको देखकर गद्गद हो जाता है—

> नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥
>
> (मानस ३। ७। २)

भक्तिमती मीरापर कृपा

(रचयिता—पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

> प्रेमयोगिनीको प्रेम-पथसे हटाने हेतु
> रंच भी न रानाकी समर्थ हुई रिस भी।
> हिय-अरविंदमें विराजते गुविंद रहे
> विफल हुआ था जहाँ इन्द्रका कुलिश भी॥
> लगन लगाये प्रानधनमें मगन रही
> ध्यान भूलती थी नहीं एक हू निमिष भी।
> प्रेमवश मीराके भुजंग भगवान् हुआ
> चारु चरणामृत समान हुआ विष भी॥

शास्त्रकृपा और भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीव्रजकिशोरप्रसादजी साही)

स्वार्थकी अपेक्षा न कर पर-दुःख-निराकरणकी इच्छासे परदुःखदुःखिताको 'कृपा' कहते हैं—

'स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखनिराकरणचिकीर्षया परदुःखदुःखित्वं कृपा ।'

जीवपर कृपा तो अनेकोंकी होती है, परंतु इनमें संतकृपा, आचार्यकृपा, शास्त्रकृपा और भगवत्कृपा मुख्य हैं । अतएव इन्हें कृपाचतुष्टयी कहते हैं । इन चारोंमें भगवत्कृपा प्रधान है, शेष तीन इसकी सहायिका हैं ।

ये चारों कृपाएँ अतिपातरूपसे चक्राकार अवलम्बित हैं । अतएव यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इनमेंसे पहले कौन-सी कृपा होती है । संतकृपासे आचार्यकृपा, शास्त्रकृपा और भगवत्कृपा होती है । इसी प्रकार आचार्यकृपासे शास्त्रकृपा, भगवत्कृपा और संतकृपा होती है । शास्त्रकृपासे भगवत्कृपा, संतकृपा और आचार्यकृपा होती है तथा भगवत्कृपासे संतकृपा, आचार्यकृपा और शास्त्रकृपा होती है । चाहे कोई भी कृपा पहले हो, शेष तीन कृपाएँ स्वतः हो जाती हैं[1] ।

'शास्त्र' शब्दके दो अर्थ हैं—आदेश और ग्रन्थ—

निदेशग्रन्थयोः शास्त्रम् । (अमरकोष ३ । ३ । १७९)

आचार्यकृपा भी शास्त्रकृपाका हेतु है; क्योंकि आचार्यका लक्षण है—'जो समस्त शास्त्रोंके अर्थका चयन करते हैं और स्वयं उनको आचरणमें लाते हैं, फिर स्वयं आचरित आचारमें दूसरोंको लगाते हैं—इसलिये उन्हें 'आचार्य' कहा जाता है'—

स्वयमाचरते यस्तु आचारे स्थापयत्यपि ।
आचिनोति च शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन चोच्यते ॥
(लिङ्गपुराण, उत्तर० २० । २०)

हमारे कार्य और अकार्यकी व्यवस्था करनेवाला तथा सिद्धि-प्राप्ति करानेवाला शास्त्र ही है । स्वयं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कहा है—'जो मनुष्य शास्त्रकी विधिको त्यागकर अपने इच्छानुसार कार्य करता है, उसे न तो सिद्धिकी प्राप्ति होती है, न सुखकी और न परमगतिकी । इसलिये कार्याकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, अतः शास्त्रका विधान जानकर ही कोई कर्म अनुष्ठेय हो सकता है'—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(गीता १६ । २३-२४)

आचार्य श्रीरामानन्दजीने कहा है—'मानवको सदा वह कार्य करते रहना चाहिये, जो परम पवित्र, बहुशास्त्र-सम्मत, कल्याणप्रदायक और प्रभुको संतुष्ट करनेवाला हो'—

सदा विधेयं हरितोषणं परं
शुभप्रदं तद्बहुशास्त्रसम्मतम् ॥
(वै० म० भा० ९०)

नारदजी भी कहते हैं—'लौकिक और वैदिक प्रणालीमें जो कर्म भगवद्भक्तिके अनुकूल हैं, उन्हें ही करना और जो प्रतिकूल हैं, उनमें उदासीन रहना । (अलौकिक भगवत्प्रेमप्राप्तिके लिये मनमें) दृढ निश्चय होनेके पश्चात् भी शास्त्र-मर्यादाका संरक्षण (करते रहना चाहिये), अन्यथा पतित होनेकी सम्भावना है'—

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता । भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ॥ अन्यथा पातित्याशङ्कया ॥
(ना० भ० सू० ११—१३)

'(प्रेमाभिलाषी भक्तको प्रेम-भक्ति-प्राप्तिमें सहायक) भक्ति-शास्त्रोंका ही मनन-चिन्तन एवं प्रेमभक्ति-वर्धक कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये'—

---

१. सब कृपाओंमें भगवत्कृपा ही प्रधान है । संत, शास्त्र और गुरुजनोंद्वारा होनेवाली कृपा भी परमात्मरूप मूल कृपा स्रोतसे ही आती है, जब कि परमात्मामें कृपा कहींसे आयी नहीं, वे स्वयं कृपानिधि हैं, कृपापुञ्ज हैं, कृपास्वरूप हैं, कृपामूर्ति हैं ठीक वैसे ही, जैसे बतासा, हलवा, लड्डू आदि समस्त मिष्टान्नोंके मिठासका उद्गम-स्रोत गुड़ है, परंतु गुड़में मिठास कहींसे आयी नहीं, मिठास उसका स्वरूप ही है ।

साधक तो उस कृपाको ही प्रधान मानता है (चाहे वह संत-कृपा हो, शास्त्र-कृपा हो अथवा गुरुकृपा हो), जिससे उसे परमशान्तिकी प्राप्ति हुई है और उसे ऐसा ही मानना भी चाहिये, परंतु तत्त्वतः कृपाके मूल-स्रोत तो परमात्मा ही हैं, उनकी कृपासे ही अन्य कृपाएँ उज्जीवित हैं । भगवत्कृपा समस्त कृपाओंकी आधार है, प्राण है ।

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि ॥
(ना० भ० सू० ७६)

'जो देवर्षि नारदद्वारा कथित और भगवान् शिवद्वारा अनुशासित इस उपदेशमें विश्वास करता है, श्रद्धा रखता है, वह निश्चय ही प्रियतम प्रभुको पा लेता है, पा लेता है'—

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति ॥ (ना० भ० सू० ८४)

महाकवि माघने शास्त्र-अनियन्त्रित और शास्त्रनियन्त्रित-की तुलना की है—'एक व्यक्तिका स्वभाव उच्छृङ्खल है और दूसरेका शास्त्रनियन्त्रित, तो दोनोंके स्वभावका सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता । प्रकाश और अन्धकारकी समता कैसी ?'—

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ॥
(शिशुपालवध २ । ६२)

श्रीरामानुजाचार्यका कहना है—'शास्त्रोंद्वारा प्राप्त तत्त्वज्ञानके साथ अपने कर्मोंसे युक्त, भक्तिनिष्ठासे साध्य, अवधिरहित, अत्यन्त प्रिय, अत्यन्त शुद्ध, प्रत्यक्ष होनेवाली अनुसंधानरूपा परा-भक्ति ही ब्रह्म-प्राप्तिका उपाय है । 'भक्ति' शब्द प्रीतिविशेषमें प्रयुक्त होता है और प्रीति एक प्रकारका ज्ञान ही है'—

'ब्रह्मप्राप्त्युपायश्च शास्त्राधिगततत्त्वानुगृहीतभक्तिनिष्ठा-साध्यानवधिकातिशयप्रियविशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूप-परभक्तिरेवेत्युक्तम् । भक्तिशब्दश्च प्रीतिविशेषे वर्तते । प्रीतिश्च ज्ञानविशेष एव ॥' (श्रीभाष्य)

वेदान्तदर्शनके अनुसार शास्त्र ब्रह्मका प्रतिपादन करने-वाले हैं और शास्त्रका तात्पर्य विधि-निषेधके निरूपणमें भी है—

'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १ । १ । ३)
'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (ब्र० सू० २ । ३ । ३३)

मनुजीने कहा है—'वेदों और स्मृतियोंमें कहे गये धर्मका अनुष्ठान (पालन) करता हुआ मनुष्य इस संसारमें यश पाता है और धर्मानुष्ठानजन्य स्वकर्मादिके अनुत्तम सुखको पाता है । वेदको श्रुति तथा (मनु आदिके द्वारा कथित) धर्मशास्त्रको स्मृति जानना चाहिये, वे सभी विषयोंमें प्रतिकूल तर्कके योग्य नहीं हैं । उनके किसी विषयमें प्रतिकूल तर्क नहीं करना चाहिये; क्योंकि उन दोनोंसे ही धर्म प्रादुर्भूत हुआ है'—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥
(मनुस्मृति २ । ९-१०)

और भी कहा गया है—'अर्थ और काममें अनासक्त मनुष्योंके लिये धर्मका उपदेश किया जाता है, धर्मके जिज्ञासुओंके लिये वेद ही मुख्य प्रमाण हैं'—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥
(मनुस्मृति २ । १३)

श्रीरामचरितमानसमें भी शास्त्र-कृपाका निरूपण है—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥
(मानस ७ । १२२ । ७)

आगम निगम पुरान अनेका । पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर यह फल सुंदर॥
(मानस ७ । ४८ । २)

शास्त्रकृपाके फलोंका उपर्युक्त निरूपण मननीय है ।

'शास्त्र सभी संशयोंका निराकरण करनेवाला एवं परोक्ष विषयोंको साक्षात् दिखलानेवाला सभीका नेत्र है । जिसे शास्त्ररूप नेत्र (प्राप्त) नहीं है, वह अंधा ही है'—

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥
(हितोपदेश-प्रस्तावना १०)

जीव अपने आत्मा, ईश्वर और उनकी प्राप्तिके उपायके निश्चयके विषयमें अस्ति और नास्ति रूप दो शिकंजोंके बीच संशय-जालमें फँसा हुआ है । संशया-वस्थामें किसी निश्चयका अवधारण नहीं होता—

अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः ॥

निश्चयका अभाव या संशयकी अवस्थामें भगवद्भक्तिमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, फिर भगवत्कृपाकी प्राप्ति हो ही कैसे सकती है ? भगवान्‌ने कहा है—

'संशयात्मा विनश्यति ।' (गीता ४ । ४०)

शास्त्र सभी संशयोंका विच्छेद कर भगवान्‌में उच्च श्रद्धा और दृढ़ विश्वास उत्पन्न कराता है, जिससे भगवत्कृपाका अनुभव होता है । इस प्रकार शास्त्र-कृपासे भगवत्प्रेम और भगवत्कृपाकी प्राप्ति होती है ।

भगवत्कृपा और संतकृपा

(लेखक—श्रीमूलचन्दजी गौतम, एम्० ए०, बी०एड्०)

संतजन संसारमें ईश्वरके प्रतिनिधि हैं । संतोंके कार्योंमें अनेकानेक ईश्वरीय गुणोंका समावेश स्वाभाविक होता है । जैसे ईश्वर बिना किसी लोभ और स्वार्थके व्यापक स्तरपर संसारके प्राणियोंका कल्याण करते रहते हैं, ठीक वैसे ही संत भी जीवोंके वास्तविक हितमें ही लगे रहते हैं । ईश्वरने सभी प्रकारकी विभिन्नताओंको लेकर संसारका निर्माण किया है और अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृतिके माध्यमसे वे उसका संचालन करते हैं । अहंकारी जीव मायाके वशीभूत हो अपनेको कर्ता मानकर भटकता रहता है ।

संत सभी कार्योंको प्रभुद्वारा किया हुआ मानकर अनुकूलता तथा प्रतिकूलता—दोनोंमें भगवत्कृपाका ही अनुभव करते हैं । उनका दृढ़ विश्वास है—

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई । करै अन्यथा अस नहिं कोई ॥

(मानस १ । १२७ । १)

गोस्वामी तुलसीदासजीने संतकी तुलना हंससे की है, जो अपने विवेकद्वारा इस संसाररूप सरोवरसे विकारोंको अलग करके गुणरूप क्षीरको ग्रहण कर लेते हैं । यह सब भगवत्कृपाका ही माहात्म्य है, जिससे वे विषयरूप गंदगीमें भी कमलपत्रवत् निर्लिप्त रहते हैं ।

सभी ग्रन्थोंमें मानव-शरीरकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है और इसे देवदुर्लभ माना गया है । अतः जीवपर ईश्वरकी प्रथम कृपा इसी रूपमें होती है कि उसे मानवका श्रेष्ठ शरीर मिलता है । गोस्वामीजी लिखते हैं—

हरि ! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।

साधन-धाम बिबुध दुरलभ तनु, मोहि कृपा करि दीन्हों ॥

(विनयप० १०२ । १)

'हे प्रभो ! आपने मुझे विभिन्न साधनोंका कारणस्वरूप यह मानव-शरीर कृपा करके दिया, यह आपका मुझपर सबसे बड़ा अनुग्रह है ।'

इस देवदुर्लभ शरीरका लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति है । इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिये शास्त्रोंमें विभिन्न साधनों—ज्ञान, वैराग्य, योग, तप, ध्यान आदिका विधान किया गया है । इनका परिणाम है—जीवमात्रके प्रति परमात्मभावकी प्राप्ति, सभीमें अपने प्रभुका ही प्रत्यक्ष दर्शन करना तथा व्यवहारमें भी वैसे ही बरतना ।

संसारमें प्रत्येक प्राणी अपने प्रारब्ध और वर्तमान कर्मोंके आधारपर ही सुख और दुःखको प्राप्त होता है । यदि उसे सत्सङ्ग तथा संत-समागमके द्वारा विवेक प्राप्त हो जाता है तो वह जीवनकी सत्यताको जानकर पुकार उठता है—

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं ।

राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ॥

(विनयप० १०५ । १),

सत्सङ्ग तीर्थराज प्रयागसे भी अधिक प्रभावशाली है, इसमें श्रीराम-भक्तिकी गङ्गा बहती है, इस विमल धारामें अवगाहन करनेवाले शीघ्र ही जीवनके परम लक्ष्यको प्राप्त कर लेते हैं । सत्सङ्गकी महिमा बड़ी ही विचित्र है, इसके द्वारा (काक होइ पिक बकउ मराला) कौए, कोयल और बगुले हंस बन जाते हैं । सत्सङ्ग सुलभ करानेवालेको इन संतोंके गुण सरस्वती तथा वेद भी नहीं गा सकते—

मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते । कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥

(मानस ३ । ४५ । ४)

किंतु यह सत्सङ्ग भी भगवान्‌की प्रेरणा तथा कृपासे ही सुलभ होता है—

बिनु सतसंग बिबेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥

(मानस १ । २ । ४)

अतः यह निश्चित है कि सत्सङ्ग बिना भगवत्कृपाके प्राप्त नहीं होता । सत्सङ्ग शब्दकी व्याख्या करें तो हम यह कह सकते हैं कि सत्सङ्ग दो पदोंसे मिलकर बना है । सत्‌का तात्पर्य है, जिसका त्रिकालमें भी विनाश न हो—यह विशेषता ईश्वरकी है; क्योंकि वह अजर, अमर तथा कालकी सीमाओंसे मुक्त है । अतः उसी सत्-स्वरूप ईश्वरका निरन्तर चिन्तन या स्मृति ही उसके प्रति सङ्ग या प्रेम है । यही संत पुरुषका लक्षण भी है । सांसारिक लोग भौतिक, असत् एवं नश्वर वस्तुओंकी कामनाओं और इच्छाओंके वशीभूत होकर अर्थात् असत्सङ्गके फलस्वरूप दुःख पाते रहते हैं ।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
(गीता २ । ६२)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है; आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होता है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है।'

इसी प्रकार विषयोंका चिन्तन पतनकी ओर ले जानेवाला तथा ईश्वरसे विमुख करनेवाला है। विषयोंमें आसक्ति होनेसे मानवकी विवेक-शक्ति नष्ट हो जाती है तथा वह बुरे कार्योंमें ही लिप्त रहता है; अतः उसके लिये नरकके मार्ग खुल जाते हैं। जीवका संकल्प दृढ़ होनेपर ये सब विकार भगवत्कृपासे अवश्य ही दूर हो सकते हैं—

क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम कीं दाया ॥
(मानस ३ । ३८ । २)

इस भगवत्कृपाका आभास संतकृपामें ही होता है, अतः हमें प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी संतोंका साथ तथा उनका अनुग्रह प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि सत्सङ्गके लिये अनुभवी संतोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। वे ही ईश्वरके वास्तविक अनुभवसे हमें परिचित करा सकते हैं; क्योंकि उनका प्रभुके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस प्रकार हम संतकृपा प्राप्त करके ही भगवत्कृपाके योग्य अधिकारी बन सकते हैं।

संतजन सबपर दया करते हैं, चाहे कोई दुष्ट उनका कितना ही अपकार करनेवाला क्यों न हो। जैसे स्वयं भगवान् श्रीरामने ब्राह्मणों तथा मुनियोंको उत्पीड़ित करनेवाले अपने विरोधी—खर-दूषण, रावण-कुम्भकर्ण-जैसे राक्षसोंको भी परमधाम प्रदान किया, यही उनका ईश्वरत्व है। इसी प्रकार संत पुरुष भी बिना किसी स्वार्थके संसारकी भलाईमें लगे रहते हैं। उनका यह स्वतःसिद्ध स्वभाव होता है। उनका ईश्वरके प्रति अडिग विश्वास तथा पूर्ण आस्था होती है। मानसमें भरत तथा हनुमान्‌के मिलन-प्रसङ्ग; हनुमान् तथा विभीषणकी भेंट, भरद्वाज-याज्ञवल्क्यकी ज्ञान-चर्चा और काकभुशुण्डि-गरुड-वार्तालाप संतजनोचित व्यवहारके परिचायक हैं। ये सब कितनी विषम परिस्थितियोंमें एक-दूसरेसे मिले, परंतु भगवत्प्रेरणासे संत-कृपा हुई और उससे सबको भगवत्कृपाकी प्राप्ति हुई। श्रीराम-कथाके सभी श्रोता तथा वक्ता संत-समागमकी महत्ताका एक स्वरसे गान करते हैं। भगवान् श्रीरामका अनुग्रह होनेपर संत पुरुष स्वयं ही मिलनेको उत्कण्ठित हो उठते हैं—

जौं रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरसु हठि दीन्हा ॥
(मानस ५ । ६ । ३)

अतः पहले परमप्रभु दयालु भगवान्‌की कृपा होनी आवश्यक है, उसके बाद तो सब काम अपने-आप ठीक हो जाते हैं; क्योंकि भगवत्कृपा होनेपर ही संत-समागम सुलभ होता है और संत-कृपा होनेपर ही ईश्वरके गुणोंका साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार ईश्वरके अपरिमित गुणोंका वर्णन नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार संतके गुण भी अवर्णनीय ही हैं।

उपर्युक्त विवेचन सिद्ध करता है कि भगवत्कृपाके लिये संतकृपा और संतकृपाके लिये भगवत्कृपा अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार संतकृपा और भगवत्कृपा अन्योन्याश्रित हैं। इन दोनोंके द्वारा मानवका परम कल्याण होता है।

सत्पुरुषोंकी कृपा

न च प्रसादः सत्पुरुषेषु मोघो न चाप्यर्थो नश्यति नापि मानः ।
यस्मादेतन्नियतं सत्सु नित्यं तस्मात् सन्तो रक्षितारो भवन्ति ॥
(महा० भा० वन० २९७ । ५०)

सत्पुरुषोंमें जो प्रसाद (कृपा एवं अनुग्रहका भाव) होता है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। सत्पुरुषोंसे न तो किसीका कोई प्रयोजन नष्ट होता है और न सम्मानको ही धक्का पहुँचता है। ये तीनों बातें (प्रसाद, अर्थसिद्धि एवं मान) साधु पुरुषोंमें सदा निश्चितरूपसे रहती हैं, इसीलिये संत सबके रक्षक होते हैं।

'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता'

(लेखक—श्रीरामाश्रयप्रसादसिंहजी)

मानव-जीवनमें संत-समागम हरि-कृपाका ही सुपरिणाम है। जब बहुत बड़े पुण्य और सुकर्मका संचय होता है, तब प्रभुकी अहैतुकी कृपासे संत-जनके दर्शन सुलभ होते हैं। उस पुण्यमय क्षणमें व्यक्तिविशेषका जीवन खिल उठता है, जगमगा उठता है। जिस प्रकार सूर्यके प्रथम रश्मि-समूहके सम्पर्कमें ही तम मिट जाता है और सारे संसारमें प्रकाश छा जाता है, उसी प्रकार संत-मिलनसे मानवका आन्तरिक तम मिट जाता है और उसे विवेककी प्राप्ति हो जाती है। विवेकके आलोकमें उसका जीवन मुसकरा उठता है।

सत्सङ्ग विवेकका जनक और हरि-कृपा सत्सङ्गकी जननी है। सत् और असत्का ज्ञान ही विवेक कहलाता है। मानवको विवेक-प्राप्तिके लिये सत्सङ्गति आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; किंतु यह भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे ही सुलभ है। श्रीरामचरितमानसके संत-वन्दना-प्रकरणमें गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
(१। २। ६)

महर्षि व्यासजी भी कहते हैं—'जब अनेक जन्मोंके संचित पुण्य-पुञ्जका उदय होता है, तब मनुष्यको सत्सङ्गकी प्राप्ति होती है, उसमें उसके अज्ञान-जनित मोह और मदरूप अन्धकारका नाश हो जाता है और विवेक प्रकट होता है'—

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन
सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥
(पाद्मोक्त श्रीमद्भा० माहा० २। ७६)

हरि-कृपा और संत-समागम एक दूसरेके पूरक हैं। जब किसी महात्मा, संत या भक्तके दर्शन हों तो समझना चाहिये कि अहैतुकी भगवत्कृपाकी वर्षा हुई है। हरि-कृपाके बिना संत-समागम असम्भव है। गरुडजी भी इसी विचारको व्यक्त करते हुए कहते हैं—वेद, शास्त्र और पुराणोंके मतों तथा सिद्धों और मुनियोंके विचारोंका सार यही है कि शुद्ध संत उसीको मिलते हैं, जिसे भगवान् श्रीराम कृपा करके देखते हैं—

निगमागम पुरान मत एहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा॥
संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥
(मानस ७। ६८। ३-४)

यह भगवान्‌की कृपाका ही तो परिणाम था कि गरुडजीको महासंत काकभुशुण्डिजीके दर्शन हुए तथा उनके सारे भ्रम और संशय मिट गये—

राम कृपाँ तव दरसन भयऊ। तव प्रसाद सब संसय गयऊ॥
(मानस ७। ६८। ४)

पावन श्रीराम-कथाके आदि गायक, भूतभावन, आशुतोष भगवान् शंकर भी अपनी अर्धाङ्गिनी भगवती पार्वतीको समझाते हुए इसी बातको कहते हैं—'हे गिरिजे! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है, परंतु वह बिना भगवत्कृपाके नहीं होता, ऐसा वेद और पुराण कहते हैं'—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥
(मानस ७। १२५ ख)

'विनयपत्रिका'में भी पूज्य गोस्वामीजीने श्रीराम-भक्तिकी महिमाका गान करते हुए कहा है—'श्रीरामकी भक्ति अत्यन्त सुलभ और सुखकारी है। वह संसारके तीनों ताप (दैहिक, दैविक और भौतिक), शोक और भयको हरनेवाली है; परंतु वह भक्ति तभी मिलती है, जब सत्सङ्ग प्राप्त हो और संत तभी प्राप्त होते हैं, जब भगवान्‌की कृपा होती है। सचमुच जब दीनदयालु श्रीरघुनाथजी दयार्द्रचित्त होते हैं, तभी संत-समागम होता है, उन संतोंके दर्शन, स्पर्श और सत्सङ्गसे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं, दुःख-सुखमें समबुद्धि हो जाती है, अमानिता आदि अनेक सद्गुण प्रकट हो जाते हैं तथा भलीभाँति परमात्माका बोध हो जानेके कारण मद, मोह, लोभ, शोक, क्रोध आदि सहज ही नष्ट हो जाते हैं'—

रघुपति-भगति सुलभ, सुखकारी। सो त्रयताप-सोक-भय-हारी॥
बिनु सतसंग भगति नहिं होई। ते तब मिलैं द्रवै जब सोई॥

जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु संगति पाइये।
जेहि दरस-परस-समागमादिक पापरासि नसाइये॥
जिनके मिले दुख-सुख-समान, अमानतादिक गुन भये।
मद-मोह लोभ-बिषाद-क्रोध सुबोधतें सहजहिं गये॥
(१३६। १०)

निस्संदेह संत-समागम बड़े सौभाग्यका फल है। सत्सङ्गतिसे बिना प्रयास और बिना श्रमके ही भवरोगका नाश हो जाता है। स्वयं भगवान् श्रीराघवेन्द्र भी सनकादि ऋषियोंको देखकर अपना प्रणाम निवेदित करते हुए श्रीमुखसे कहते हैं—

आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा॥
बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा॥
(मानस ७। ३२। ४)

धन्य है जीवन उनका, जिन्हें संतजन मिलते हैं! बड़भागी हैं वे, जिन्हें भगवत्कृपासे विशुद्ध संतसे भेंट होती है। विभीषणजी ऐसे बड़भागियोंमेंसे एक थे, जिनपर प्रभु श्रीरामकी अपार कृपा हुई, जिससे हनुमान्‌जी-जैसे महाभागवत संत मिले। हनुमान्‌जीसे भेंट होते ही विभीषणजीका विवेक जाग उठा और उन्हें प्रतीत हुआ कि अवश्य ही ये कोई 'हरिदास' अथवा 'राम-अनुरागी' भक्त हैं; जो मुझ-जैसे अधम राक्षसको बड़भागी बनाने आये हैं—

की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई॥
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़भागी॥
(मानस ५। ५। ४)

इसपर हनुमान्‌जीने अबतककी सारी श्रीराम-कथा कह सुनायी और अपना नाम-पता बताया। भगवान् श्रीरामके गुणोंका स्मरण कर दोनोंके मन आनन्दमग्न हो गये। इसी क्रममें विभीषणजीने हनुमान्‌जीसे अपनी दयनीय स्थिति और दीन दशाका वर्णन करते हुए कहा—

तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥
(मानस ५। ६। १-२)

'हे तात! मुझे अनाथ जानकर सूर्यकुलके नाथ श्रीरामचन्द्रजी क्या कभी मुझपर कृपा करेंगे? मेरा तामसी (राक्षस) शरीर होनेसे साधन तो कुछ बनता नहीं और न मनमें श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रेम ही है; परंतु हे हनुमन्! अब मुझे विश्वास हो गया कि मुझपर श्रीरामजीकी कृपा है; क्योंकि श्रीहरिकी कृपाके बिना संत नहीं मिलते।'

अब हम यह देखनेका प्रयास करें कि श्रीहनुमान्‌जीसे विभीषणजीको क्या उपलब्धि हुई? पूज्य गोस्वामी तुलसीदासजीकी मान्यता है कि जलचर, थलचर, नभचर, जड़ और चेतन इनमेंसे जब कभी, जिस किसी यत्नसे, जहाँ कहीं भी, जिसने बुद्धि, कीर्ति, सद्गति, ऐश्वर्य और बड़प्पन पाया है, वह सब सत्सङ्गका ही प्रभाव है। लोक और वेदमें भी इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥
(मानस १। ३। ७-३)

इस दृष्टिसे देखनेपर हम पाते हैं कि विभीषणजीको ये सारी वस्तुएँ अनायास एक साथ मिल गयीं। विभीषण-जीद्वारा रावणको दिया गया उपदेश उनकी उसी श्रेष्ठ 'बुद्धि'का परिचायक है। भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी शरणागति उनकी अक्षय 'कीर्ति'का कारण है। विभीषणजी-जैसी 'सद्गति' बहुत कम व्यक्तियोंको मिलती है। 'वैभव' तो इतना मिला कि वे लंकेश ही बन गये। स्वयं भगवान् श्रीराघवेन्द्रने उनके ललाटपर तिलक लगाया, इससे अधिक 'बड़प्पन' किसीको क्या मिलेगा?

श्रीमद्भागवतमें भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीसे कहते हैं—'जिसने संत पुरुषोंकी शरण ग्रहण कर ली, उसकी कर्म-जड़ता, संसार-भय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। भला, जिसने अग्निका आश्रय ले लिया, उसे शीत, भय अथवा अन्धकारका दुःख हो सकता है? जो इस घोर संसार-सागरमें डूब-उतरा रहे हैं, उनके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्त संत वैसे ही एकमात्र आश्रय हैं, जैसे जलमें डूब रहे लोगोंके लिये दृढ़ नौका'—

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
(११। २६। ३१-३२)

प्रभु-प्रेम-प्राप्तिके लिये सत्सङ्ग आवश्यक होता है; क्योंकि प्रेम या भक्ति सत्सङ्गसे ही प्राप्त होती है और सत्सङ्ग हरि-कृपासे मिलता है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
(मानस ७। ४४। ३)

जब प्रभु-कृपासे संत-कृपा होती है, तब जीव सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है—

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥
(मानस ७। ४४। ३)

गुरुकृपा और भगवत्कृपा

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

(गर्गसं० ४ । १ । १३)

भारतीय साधनामें गुरु-शरणागति सर्वप्रथम है । सद्गुरुकी कृपा विना साधनाका यथार्थ रहस्य समझमे नहीं आ सकता। केवल शास्त्रों और तर्कोंसे लक्ष्यतक नहीं पहुँचा जा सकता। अनुभवी सद्गुरु साधन-पथके अन्तराय, उनसे बचनेके उपाय और साधनमार्गका उपादेय पाथेय बतलाकर शिष्यको अनायास ही लक्ष्यतक पहुँचा देते हैं । इसीलिये श्रुतियोंसे लेकर वर्तमान समयके संतोंकी वाणीतक सभीमे एक स्वरसे सद्गुरुकी शरणमें उपस्थित होकर अपने अधिकारके अनुसार उनसे उपदेश प्राप्त कर तदनुकूल आचरण करनेका आदेश दिया गया है। सभी संतोंने मुक्तकण्ठसे गुरु-महिमाका गान किया है। यहाँतक कि गुरु और गोविन्द—दोनोंके एक साथ मिलनेपर पहले गुरुको ही प्रणाम करनेकी विधि बतलायी गयी है; क्योंकि गुरुकी कृपासे ही गोविन्दके दर्शन प्राप्त करनेका सौभाग्य मिलता है। गुरुकी महिमा अवर्णनीय है। वे पुरुष धन्य हैं—बड़े ही सौभाग्यशाली हैं, जिन्हें सद्गुरु मिले हैं और जिन्होंने अपना जीवन उनके आज्ञापालनके लिये सहर्ष उत्सर्ग कर दिया है ।

वास्तवमे यथार्थ पारमार्थिक साधन सद्गुरुकी सन्निधिमें ही सम्भव है । कृपालु गुरुके कर्णधार हुए विना साधन-तरणीका विषय-समुद्रकी नभोव्यापिनी उत्ताल तरगोंसे बचकर उस पारतक पहुँच पाना नितान्त असम्भव है । इसीलिये प्रत्येक साधकको सद्गुरुकी खोज करनी चाहिये और ईश्वरसे आर्तभावसे प्रार्थना करनी चाहिये, जिससे ईश्वरानुग्रहद्वारा सद्गुरुकी प्राप्ति हो जाय; क्योंकि वास्तविक संत-महात्मा भगवत्कृपासे ही प्राप्त होते हैं । इसमे संदेह नहीं कि यदि सद्गुरु-प्राप्तिकी तीव्र इच्छा हो तो स्वयं परमात्मा सद्गुरु-रूपसे प्रकट होकर मुमुक्षु साधकको साधनपथ प्रदर्शित कर कृतार्थ कर सकते हैं । खोज मनसे होनी चाहिये और होनी चाहिये केवल तत्त्वज्ञ पुरुषको प्राप्तकर स्वयं तत्त्व समझनेके पवित्र उद्देश्यसे, परीक्षा या कौतूहलके लिये नहीं; क्योंकि सच्चे संत न तो परीक्षा दिया करते हैं, न परीक्षामें उत्तीर्ण होकर जगत्मे मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने या प्रतिभाशाली व्यक्तियोंपर प्रभाव डालकर उन्हें शिष्य बनानेकी ही इच्छा रखते हैं। जो श्रद्धासे उनकी शरण होता है, उसीके सामने वे उसके अधिकारानुसार रहस्य प्रकट किया करते हैं। अतपस्क, अश्रद्धालु, तार्किक, दोषान्वेषणकारी, नास्तिक और कौतूहलप्रिय मनुष्योंके सम्मुख गोपनीय रहस्य प्रकट करनेमे कोई लाभ नहीं है । भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे अधिकारकी मीमासा कर दी है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

(गीता १८ । ६७)

'यह जो परम गुप्त रहस्य तुम अत्यन्त प्रिय मित्रको मैंने बतलाया है। इसे तपोहीन, भक्तिरहित, सुनना न चाहनेवाले और मेरी (भगवान्‌की) निन्दा करनेवाले लोगोंको भूलकर भी न बतलाना।' इससे यह सिद्ध होता है कि यथार्थ संत-महात्मा पुरुष अधिकारीकी परीक्षा किये विना गुह्य रहस्य प्रकट नहीं करते। अपनेको साधारण मनुष्य बतलाकर ही पिण्ड छुड़ा लिया करते हैं। लोग उन्हे असाधारण मानें, यह तो उनकी चाह होती नही और असली बात बतलानेका वे अधिकारी पाते नहीं, इसलिये स्वयं अनजान-से बने रहते हैं।

तीव्र मुमुक्षा और श्रद्धाको साथ रखकर सद्गुरुका अन्वेषण करनेसे उनकी प्राप्ति अवश्य हो सकती है, इसमे कोई संदेह नही । संन्यासियों और गृहस्थोंमे आज भी अनेक सच्चे साधक और महात्मा हैं । सच्चे ऋषियोंका आज भी अभाव नहीं है, परंतु वे प्रायः अप्रकट रहते हैं। प्रकट रहनेवालोंको पहचानना भी बड़ा कठिन होता है; क्योंकि उनका बाहरी वेष तो कोई विलक्षण होता नहीं, जिससे लोग कुछ अनुमान कर सकें।

यह सब होते हुए भी आजकलके समयमे बहुत ही सावधानीकी आवश्यकता है । आज देशमे अवतारों, जगद्गुरुओं, विश्वोपदेशकों, सद्गुरुओं, ज्ञानियों, योगिराजों और भक्तोंकी हाट-सी लग रही है। ये सब दुर्लभ पद मोहवश आज बहुत ही सस्ते हो रहे हैं । ऐसे कई व्यक्तियोंके नाम तो यह लेखक भी जानता है, जिनकी खुल्लमखुल्ला अवतार कहकर पूजा की जाती है और वे

उसे स्वीकार करते हैं। पता नहीं, ईश्वरके इतने अवतार एक ही साथ इसी देशमें कैसे हो गये? आश्चर्य तो यह कि इनमेंसे एक अवतार दूसरे अवतारको माननेके लिये तैयार भी नहीं है! ऐसी स्थितिमें ये अवतार वास्तवमें क्या वस्तु हैं? इस बातको प्रत्येक विचारशील पुरुष सोच सकते हैं।

आजकल गुरु तो गाँव गाँव और गली-गलीमें मिल सकते हैं, सब कुछ गुरु-चरणोंमें अर्पण करनेमात्रसे ही ईश्वर-प्राप्तिका विश्वास देनेवाले गुरुओंकी कमी नहीं है; ऐसे हजारों नहीं, लाखों गुरु होंगे? परंतु दुःख है कि इन गुरुओंकी जमातसे उद्धार सम्भवतः ही किसीका होता है। सद्गुरु तो वह है, जो शिष्यके मनका अनन्तकोटि जन्म-संचित अज्ञान हरण करता है और उसको सन्मार्गपर लगाता है, उसके हृदयमें परमात्माके प्रति सच्चे प्रेमके भावोंका विकास करा देता है। जो अपनी नहीं, परंतु सर्वव्यापी सर्वभूतस्थित परमात्माकी पूजाका पाठ पढ़ाता है, जो शिष्यको यथार्थतः दैवी-सम्पत्तिके गुणोंसे विभूषित देखना चाहता है, जो निरन्तर इस प्रयत्नमें लगा रहता है कि शिष्य किसी प्रकारसे भी कुमार्गपर न जाने पाये, जो पद-पदपर उसे सावधान करता है और कुपथसे बचाता है, जो त्याग और सदाचार सिखाता है, जो निर्भय होकर भगवान्की सेवा करना बतलाता है, जो स्वयं अमानी होकर शिष्यको मानरहित होना और स्वयं काम, क्रोध, लोभसे छूटकर शिष्यको उनसे बचना सिखाता है एवं जो अपने बाहर और भीतरके सभी आचरणोंको ऐसा स्वाभाविक पवित्र रखता है, जिसका अनुकरण कर शिष्यका हृदय पवित्रतम बन जाता है। वास्तवमें ऐसा ही पुरुष परमात्माको पा सकता है और दूसरोंको भी परमात्माकी प्राप्तिके पथपर आरूढ़ करा सकता है। भगवान्ने कहा है—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
(गीता १५। ५)

'जिनके हृदयमें मान-मोह नहीं है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषपर विजय प्राप्त कर ली है, जो नित्य परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहते हैं, जिनकी लौकिक-पारलौकिक कामनाएं भलीभाँति नष्ट हो गयी हैं, जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे सर्वथा छूट गये हैं, ऐसे बुद्धिमान् पुरुष ही उस अव्यय परमपदको प्राप्त होते हैं।'

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥
(गीता ५। १७)

'जिनकी बुद्धि परमात्मरूप हो गयी है, जिनका मन परमात्मरूप है, जिनकी निष्ठा केवल परमात्मामें ही है, जो केवल परमात्माके ही परायण हैं, ऐसे ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए पुरुष ही अपुनरावृत्तिरूपा परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

भगवान्ने इसी प्रकारके तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंकी शरणमें जाकर प्रणिपात, सेवा और निष्कपट प्रश्नोंद्वारा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उपदेश दिया है।

हर किसीको गुरु कभी नहीं बनाना चाहिये। गुरुको तो एक प्रकारसे अपना जीवन अर्पण कर दिया जाता है। बहुत ही सोच-समझकर जीवन अर्पण करना कर्तव्य है। नाममात्रके गुरु-चेलोंसे कोई लाभ नहीं, हानि तो प्रत्यक्ष ही है।

इस बातसे निराश कभी नहीं होना चाहिये कि इस युगमें सद्गुरु हैं ही नहीं, सद्गुरुकी वास्तविक खोज ही कहाँ होती है? हमारे हृदयमें तीव्रतम पिपासा ही कहाँ है? तीव्र पिपासा हो तो लेखकका विश्वास है कि भगवत्कृपासे ज्ञान-पिपासाको शान्त करनेवाले, दुस्तर संसार-सागरसे पार करनेवाले सद्गुरुकी प्राप्ति अवश्य ही हो सकती है।

सद्गुरुकी कृपा-दृष्टि

हे सद्गुरुकी कृपा-दृष्टे! तू शुद्ध, सुप्रसिद्ध, उदार और अखण्ड आनन्दकी वर्षा करनेवाली है…। विषयरूप सर्पके दंशनसे अवयव अकड़ने न लगें और विषका वेग (शीघ्र) उतर जाय—यह प्रताप तेरा ही है। हे गुरुकी कृपा-दृष्टे! तू अत्यन्त प्रेमपूर्ण होनेके कारण अपने सेवकोंकी ब्रह्मानन्द-प्राप्तिकी कामना पूरी करती है और उनके आत्मसाक्षात्कारके हौसले भी पूरे करती है। हे सद्गुरुकी कृपा-दृष्टे! तेरा दयामृत जिसे प्राप्त होता है, वह समस्त विद्याओंकी निष्पत्ति करनेमें ब्रह्मा-सदृश ही होता है।

(गीता 'ज्ञानेश्वरी' १२वाँ अध्याय)

भगवत्कृपा और उसकी प्राप्तिके साधन

(डॉ० महम्मद हाफिज सैयद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

लोगोंको हम भगवत्कृपाके विषयमें अनर्गलरूपसे बातें करते हुए सुनते हैं । वे यह समझनेकी चेष्टा नहीं करते कि वस्तुतः इसका तात्पर्य क्या है और यह कैसे प्राप्त हो सकती है । यथार्थमें भगवत्कृपा क्या वस्तु है, यह समझनेके पहले हमें भगवत्स्वरूप और भगवत्कृपा प्राप्त करानेवाले अनिवार्य नियमोंको समझना है ।

संसारमें जब-जब लोग पापमें रत होने लगते हैं, तब-तब भगवान् श्रीकृष्ण धर्मकी रक्षा और दुष्कृतियोंके उद्धारके लिये अवतार लेते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'सब प्राणियोंके लिये मैं एक-सा हूँ । मेरे लिये न तो कोई द्वेष्य है, न प्रिय । जो भक्तिभावसे मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ[1] ।' इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि भगवान् सबके प्रति एक-सा भाव रखते हैं, तथापि उनका ध्यान उसी मनुष्यकी ओर आकर्षित होता है, वे उसीको अपनी विशेष कृपा प्रदान करते हैं, जो कठिन अभ्यास तथा परम श्रद्धा, आत्मसंयम और आत्मशुद्धिद्वारा अथवा व्याकुलतासे अपनेको कृपाका अधिकारी बना लेता है । हाँ, भगवत्कृपाका पात्र हमें स्वयं बनना पड़ेगा ।

भगवत्कृपा-प्राप्तिका यह अधिकार पानेके लिये हमें क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि हमको निरन्तर उनका चिन्तन करना होगा, उनके दिव्य गुणोंका ध्यान करना होगा, उनके पदपर आत्मसमर्पण कर देना होगा और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निरन्तर प्रार्थना करनी होगी कि 'हे प्रभो ! हमारे जीवनको पलट दो, हमको अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलो ।'

छान्दोग्य-उपनिषद्का कथन है कि मनुष्य भावनासे बना है, वह जैसी भावना करता है, वैसा ही बनता है ।

मनःप्रेरित परिवर्तनका यह सर्वमान्य सिद्धान्त कहीं भी विपर्ययको नहीं प्राप्त होता । निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करनेसे उनका ध्यान हमारी ओर आकर्षित होगा और हम इस प्रकार उनके अनुग्रहके सुपात्र बन सकेंगे ।

सांसारिक चिन्तन और अभिलाषाओंसे अपने मनको हटानेका एक उपाय यह है कि हम बारंबार अपने-आपसे पूछें कि हम कहाँ हैं और किसके विषयमें सोच रहे हैं । शान्तचित्त होते ही हम बरबस इस परिणामपर पहुँचेंगे कि हम प्रायः क्षणिक सांसारिक वस्तुओंकी अभिलाषा और उनके चिन्तनमें ही पड़े रहते हैं तथा उस निर्विकार, आनन्दके आदिकारण परम प्रिय प्रभुकी ओर ध्यान ही नहीं देते ।

अतएव करना यह है कि हम सांसारिक वस्तुओंकी क्षणभङ्गुरता और जीवनकी परिवर्तनशील अवस्थाओंका ध्यानपूर्वक अवलोकन करते हुए अपने आचरणको व्यसन-शून्य और विवेकपूर्ण बनायें । वस्तुओंकी आपातरमणीयतापर आसक्तिपूर्वक ध्यान न दें । वे सामने आनेपर कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न लगें, जब हमको पूर्ण और अडिग विश्वास हो जायगा कि यह दीख पड़नेवाला बाह्य संसार आदि-अन्तवाला, दुःखयोनि तथा निरन्तर परिवर्तनशील है—अतएव मिथ्या है, तब हमारा मन स्वभावतः इससे भाग खड़ा होगा और निरन्तर संसारमें चिपके रहनेके बदले हम अपने आत्माके यथार्थ स्रोतकी ओर अपने-आपको पूर्णतया मोड़ देंगे, जो सत्-चित् और आनन्दस्वरूप है ।

हमको यह निश्चयपूर्वक जान लेना चाहिये कि मानव-जातिके उद्धारक महापुरुष, वे पूर्ण आत्मा, जिनको हम ऋषि, मुनि, संत, संन्यासी, देवदूत आदि नामोंसे पुकारते हैं, हमको अपने चरणोंमें लेनेके लिये तथा हमारी सहायता और मार्गप्रदर्शन करके हमारे लक्ष्य-स्थानकी ओर ले जानेके लिये उससे कहीं अधिक आतुर होते हैं, जितना कि हम उनकी कृपा और सान्निध्य-प्राप्तिके लिये आतुर होते हैं ।

निष्कर्ष यह है कि भगवत्कृपा किसी व्यक्ति-विशेषको दैवी-पुरुषोंके पक्षपातसे नहीं मिलती, अपितु यह स्वयं हमारे अन्तःकरणकी अनवरत अभिलाषा तथा जीवनकी पूर्णता और मुक्तिके उच्च आदर्शके प्रति हमारी श्रद्धाके फलस्वरूप हमको प्राप्त होती है । जब हम परमार्थ-साधनाद्वारा अपनेको अधिकारी बनाते हैं, तब भगवान्‌की या गुरुकी कृपासे बिना किसी विघ्न-बाधाके हम निश्चय ही अनुगृहीत होते हैं ।

---

1. समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (गीता ९ । २९)

भगवत्कृपाका अनुभव कैसे हो ?

[एक वीतराग संतका सदुपदेश]

प्रश्नकर्ता—महाराजजी ! हमें भगवत्कृपाकी प्राप्ति एवं अनुभव कैसे हो ? इसके लिये क्या करना आवश्यक है ? कृपया बतलाइये ।

संतजी—भगवत्कृपाका अनुभव करनेके लिये निम्नलिखित बातोंपर ध्यान देना चाहिये—

(१) हमें नित्य-प्रति शुद्ध कूप-जल अथवा किसी नदीके पवित्र जलसे स्नान करना चाहिये और फिर द्विजाति हो तो संध्या-वन्दन, गायत्री-जप अन्यथा वर्ण-धर्मानुसार भजन-पूजन, पाठ आदि करना चाहिये ।

(२) हमें अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार शास्त्रोक्त कर्तव्यकर्म करते हुए मर्यादानुसार अपना जीवन-यापन करना चाहिये । अपने वर्णाश्रम-धर्मके विरुद्ध कोई कार्य कभी नहीं करना चाहिये ।

(३) हमें कल्पित मतान्तरोंके चक्करमें न फँसकर अनादिकालसे चले आ रहे सत्य सनातनधर्मकी ही शरणमें रहना चाहिये ।

(४) भूलकर भी कभी चाय, तम्बाकू, भाँग, बीड़ी, सिगरेट, अण्डे, मांस, मछली, प्याज, लहसुन आदि मादक एवं अभक्ष्य वस्तुओंका प्रयोग नहीं करना चाहिये । बाजारकी चाट-पकौड़ी खाना एवं होटलोंमें भोजन आदि करना सर्वथा निषिद्ध समझना चाहिये । हिंसात्मक डॉक्टरी दवाओंका प्रयोग सर्वथा बंद कर देना चाहिये ।

(५) अहर्निश श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव आदि किसी भी परम पवित्र भगवन्नामका जप करते-कराते रहना चाहिये ।

(६) समय-समयपर पतितपावनी भागीरथी श्रीगङ्गाजी, श्रीयमुनाजी, श्रीसरयूजी, श्रीनर्मदाजी, श्रीत्रिवेणीजी आदिका दर्शन और उनमें स्नान करते रहना चाहिये ।

(७) पूज्य प्रातःस्मरणीय गौ, ब्राह्मण और संतोंकी प्राणपणसे रक्षा और सेवा करके इनका शुभाशीर्वाद प्राप्त करना चाहिये ।

(८) सच्चे संत-महात्माओंका सत्सङ्ग करना चाहिये, कथा-कीर्तनमें अवश्य भाग लेना चाहिये और नियमपूर्वक देव-मन्दिरोंमें जाकर भगवद्दर्शन करना चाहिये ।

(९) पर-स्त्री और पर-धनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखना चाहिये, इनसे दूर रहना चाहिये ।

(१०) एकादशीका व्रत अवश्य रखना चाहिये । जहाँ गङ्गाजी निकट हों, वहाँ पूर्णिमाको गङ्गा-स्नान और श्रीसत्यनारायणकी कथा अवश्य सुननी चाहिये ।

(११) तीर्थोंमें जाकर हमसे कोई पाप न बन जाय, इस बातका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये ।

(१२) सैकड़ों नकली, पाखण्डी अवतारोंकी इस समय भारतमें बाढ़-सी आयी हुई है, जो अपनेको साक्षात् भगवान्‌का अवतार बताते हैं । इस प्रकार वे देशको व्यभिचारकी भट्टीमें झोंक रहे हैं । ऐसे पापी, पाखण्डी और कुमार्गी लोगोंके मायाजालसे बचना-बचाना चाहिये ।

(१३) भूलकर भी कभी वेश्या-नृत्य एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमके नामपर होनेवाले युवतियोंके नृत्य, नाटक आदि नहीं देखने चाहिये और न कभी इनमें भाग लेना चाहिये । सिनेमाने युवक-युवतियोंका जो भीषण पतन किया है, उसकी कोई सीमा नहीं है । हमें इस पतनकारी व्यसनसे अपने-आपको एवं अपनी संतानोंको अवश्य बचाना चाहिये ।

(१४) अश्लील पुस्तकें, सस्ते-बाजारू उपन्यास, गंदे पत्र-पत्रिकाएँ एवं धर्म-विरोधी साहित्यको भूलकर भी नहीं पढ़ना चाहिये ।

(१५) तुलसी, पीपल, बिल्व, आँवला, वट आदिका दर्शन-पूजन करते रहना चाहिये । इन वृक्षोंको भूलकर भी नहीं काटना चाहिये ।

(१६) चीनी-मिट्टी या काँचके प्याली-प्लेटोंमें, मेज-कुर्सीपर बैठकर, खाटपर या पलँगपर बैठकर, एक थालीमें सबके साथ जूठा, जूते पहने, बिना स्नान किये अथवा खड़े-खड़े भोजन नहीं करना चाहिये । रजस्वला स्त्री एवं गोभक्षकोंके हाथका बना भोजन कभी भी न करना चाहिये ।

(१७) खड़े-खड़े मूत्र-त्याग करना, टट्टीके गंदे हाथ शुद्ध मिट्टीसे न धोकर गाय और सूअरकी चर्बीसे बने गंदे साबुनसे धोना, गंदे साबुनको शरीरमें लगाकर स्नान करना तथा अपने सिरकी पवित्र चोटीको काटकर फेंक देना आदि धर्मविरुद्ध एवं मूर्खतापूर्ण कृत्योंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

भगवत्कृपाका अनुभव करनेके लिये उपर्युक्त बातें सर्व-प्रथम पालनीय हैं । इन बातोंपर हम सबको ध्यान देना चाहिये और अपने वर्णाश्रम-धर्मानुसार जीवन-यापन करना चाहिये ।

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

भगवत्कृपा और भक्त

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

बहुत-से लोगोंकी ऐसी धारणा है कि जब भगवान्‌की कृपा होती है, तब धन, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, मान, कीर्ति और शरीर-सम्बन्धी अनेकानेक भोगोंकी प्राप्ति होती है। जिन लोगोंके पास भोगोंका बाहुल्य है—बस, केवल उन्हींपर भगवान्‌की कृपा है या भगवत्कृपा उनपर है, जिनकी विपत्तिको भगवान् टाल देते हैं। भगवत्कृपाका इस प्रकार क्षुद्र अर्थ करनेवाले लोग बड़े ही दयाके पात्र हैं, ऐसे लोगोंको भगवत्कृपाका यथार्थ अनुभव नहीं है।

वास्तवमें सम्पत्ति या विपत्तिसे भगवत्कृपाका पता नहीं लग सकता। वह नित्य है, अपार है और संसारके समस्त प्राणियोंपर उस कृपा-सुधाकी अनवरत वर्षा हो रही है। जो उसका यथार्थ अनुभव न कर केवल विषयोंकी प्राप्तिको ही भगवत्कृपा समझते हैं, वे ही लोग विषयोंके नाश या अभावमें भगवान्‌पर पक्षपात, अन्याय और कृपालु न होनेका कलङ्क मढ़ा करते हैं। सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌का कोई भी विधान कृपासे शून्य नहीं होता, कृपा करना तो उनका सहज स्वभाव है। पापी प्राणीके दण्ड-विधानमें भी वे अपनी कृपाका समावेश कर देते हैं। यह दूसरा प्रश्न है कि उनकी कृपाका स्वरूप कैसा होता है? इसमें कोई संदेह नहीं कि कृपाका भीतरी स्वरूप तो सदा ही सरस, मनोहर और मधुर होता है; परंतु बाहरसे वह कभी—'सुन्दरं सुन्दराणाम्' (सुन्दरसे सुन्दर) स्वरूपमें दर्शन देती है तो कभी 'भीषणं भीषणानाम्' (महानिर्वाणतन्त्र ३। ६१) (भयानकसे भयानक) रूपमें प्रकट होती है। किसी समय उसका रूप 'मृदूनि कुसुमादपि' (पुष्पसे अधिक कोमल) होता है तो किसी समय 'वज्रादपि कठोराणि' (वज्रसे भी अधिक कठोर) होता है। जिन विवेकी और कल्याणकामी पुरुषोंने विषयोंकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌को साधन नहीं बना रखा है, जो सच्चे त्यागी और प्रेमी हैं, वे तो इन दोनों रूपोंमें उस 'अनुरूप'की अनोखी अनुकम्पाका दर्शन कर कृतार्थ होते हैं, परंतु जो अल्पबुद्धि प्राणी आपातरमणीय विषयोंको ही एकमात्र सुखका साधन मानते हैं, वे अपरिणामदर्शी और अविवेकी मनुष्य भगवत्कृपाके मनोहर रूपको देखकर तो अत्यन्त आह्लादित होते हैं और उसके भीषण रूपको देखकर भयसे काँप उठते हैं।

किसी अबोध बालकके एक जहरीला फोड़ा हो गया, उसे असहनीय वेदना है, बालककी माताने डॉक्टरको बुलवाया, डॉक्टरने चीरा लगवानेका परामर्श देते हुए कहा कि 'यदि बहुत शीघ्र शल्यक्रिया (ऑपरेशन) नहीं की जायगी तो फोड़ेका विष समस्त शरीरमें फैल जायगा और ऐसा होनेसे बालकके मर जानेकी सम्भावना है।' माताने बालकका हित समझकर चीरा लगवाना स्वीकार किया। डॉक्टर साहब चीरा देने लगे। उस समय उस अपरिणामदर्शी अबोध बालकने क्षणिक वेदनासे व्यथित होकर बड़े जोर-जोरसे रोना आरम्भ कर दिया और चीरा दिलवानेवाली माताको प्रत्यक्ष शत्रु समझकर बुरी-भली कहने लगा—

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥
(मानस ७। ७४ क)

माताने बालकके रोने और बकनेकी कोई परवाह नहीं की, उसे और भी बलपूर्वक पकड़ लिया, शल्यक्रिया पूरी हुई, चीरा लगाते ही अंदरका सारा विष बाहर निकल पड़ा, बालककी वेदना मिट गयी और वह सुखपूर्वक सो गया। बालक अज्ञानसे चीरा लगवानेमें रोता है और समझदार लोग जान-बूझकर चीरा लगवाते हैं। बस, इसी दृष्टान्तके अनुसार—

तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥
(मानस ७। ७४ ख)

भगवान् भी अपने प्यारे भक्तके समस्त आन्तरिक दोषोंको निकालकर बाहर फेंक देनेके लिये समय-समयपर शल्यक्रिया (ऑपरेशन) किया करते हैं, उस समय सांसारिक संकटोंका पार नहीं रहता, परंतु इस सारी रुद्र-लीलामें कारण होती है—केवल एक भक्तकी आत्यन्तिक हित-चिन्ता। जिस प्रकार दयामयी जननी अपने प्यारे बच्चेके अङ्गका सड़ा हुआ अंश कटवाकर फेंक देती है, उसी प्रकार भगवान् भी अपने प्यारे बच्चोंकी हितकामनासे उनके अंदरके विषय-विषको निकालकर फेंक दिया करते हैं। ऐसी अवस्थामें परिणामदर्शी विश्वासी भक्तोंको तो आनन्द होता है और विषयासक्त अज्ञानी मनुष्य रोया-चिल्लाया करते हैं।

जिस समय भगवान् वामनने अनुग्रहपूर्वक विराट्-स्वरूप धारण कर भक्त बलिको बाँध लिया और इन बन्धनोंको बलिने भगवान्‌का परम अनुग्रह माना, उस समय बलिके पितामह परम भक्त प्रह्लादजी वहाँ आये । भगवत्कृपाका मर्म जाननेवाले प्रह्लादजीने आते ही भगवान्‌से कहा—'हे भगवन् ! आपने ही इसको यह समृद्धिसम्पन्न इन्द्रपद दिया था और इस समय आपने ही इसको हर लिया, मेरी समझसे आपने इसे राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट करके इसपर बड़ा अनुग्रह किया । लक्ष्मीको पाकर मनुष्य अपनेको भूल जाता है । जिस लक्ष्मीसे विद्वान् और संयमी पुरुष भी मोहित हो जाते हैं, उस लक्ष्मीके रहते हुए कौन पुरुष आत्मतत्त्वको यथार्थरूपसे जान सकता है । अतएव आपने इमपर बड़ी दया की ।' यह है भक्तके विश्वासकी वाणी ! यह है अशुभमें भी शुभका दर्शन !! और यह है भक्तोंका भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास !!!

भगवान्‌ने भी प्रह्लादके इस कथनका समर्थन करते हुए कहा—'मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसका धन-वैभव पहले हर लेता हूँ; क्योंकि मनुष्य धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्यके मदसे मतवाला होकर समस्त जीवोंका और मेरा निरादर करता है ।'

जिस धन-सम्पत्तिसे इतना अनर्थ होता है, केवल उसीकी प्राप्तिमें परमात्माकी कृपा मानना कितनी बड़ी भूल है; परंतु भगवान्‌के उपर्युक्त वचनोंसे कोई यह समझकर न काँप उठे कि भगवान् तो अपने भक्तोंके धन-ऐश्वर्यका नाश ही किया करते हैं । यह बात नहीं है । विभीषणको लंकाका अटल राज्य, ध्रुवको अचल सम्पत्ति और दरिद्र सुदामाको अतुल ऐश्वर्य भगवान्‌ने ही तो दिया था । जैसी अवस्था होती है, वैसी ही व्यवस्था की जाती है ।

एक सद्वैद्य रोगीके रोगका निदान कर उसे वही औषध देता है, जो उसके रोगका नाश करनेवाली होती है, वह इस बातको नहीं देखता कि दवा कड़वी है या मीठी । रोगीके मनके अनुकूल है या प्रतिकूल । रोगीकी इच्छाकी वह कोई परवाह नहीं करता, रोगी कुपथ्य चाहता है तो वैद्य उसे डाँट देता है, उसके बकने-झकनेकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता और उसके मनके सर्वथा विपरीत कड़वे क्वाथकी व्यवस्था करता है । वह दूसरे दवा बेचनेवालोंकी भाँति मूल्य प्राप्त होते ही मुँहमाँगी दवा नहीं दे देता, उसे चिन्ता रहती है रोगीके हिताहितकी । उसका केवल एक ही उद्देश्य होता है—रोगका समूल नाश कर देना । इसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्तोंमेंसे जिसके जैसा रोग देखते हैं, उसके लिये वैसी ही औषधकी व्यवस्था करते हैं । अन्यान्य देवताओंकी भाँति मुँहमाँगा वरदान नहीं दे देते । उसकी इच्छा क्या है, इसका कोई खयाल नहीं करते, अपितु कई बार तो उसके मनके सर्वथा विपरीत कर देते हैं । एक बार भक्तराज नारदने मायासे मोहित होकर विवाह करना चाहा, भगवान्‌से प्रार्थना भी की; परंतु भगवान् जानते थे कि इससे उसका अहित होगा, यह भव-रोगीके लिये कुपथ्य है, इसलिये विवाह नहीं होने दिया । नारदको क्रोध हुआ, उन्होंने झुँझलाकर भगवान्‌को बहुत बुरा-भला कहा, शाप दे दिया । भगवान्‌ने भक्तके शापको सहर्ष ग्रहण कर लिया, परंतु उसे कर्तव्यच्युत नहीं होने दिया ।

रोगमुक्त होकर मनुष्य जब कुछ बल प्राप्त कर लेता है, तब उसे सभी कुछ खाने-पीनेका अधिकार मिल जाता है, इसी प्रकार भवरोगसे मुक्त होकर भगवत्प्राप्ति कर लेनेपर उसको जब भगवान्‌के सर्वस्वका स्वामित्व प्राप्त हो जाता है, तब फिर उसे किस बातकी कमी रहती है और कौन-सी बाधा रहती है ? मनुष्य भूलकर सांसारिक धन-ऐश्वर्यके लिये लालायित रहता है, यदि चेष्टा करके वह उन अतुल ऐश्वर्यशाली परमात्माको, जिनके एक अंशमें यह सारे ऐश्वर्योंसे भरा संसार महान् समुद्रमें एक बालूके कणके समान स्थित है—प्राप्त कर ले तो फिर उसे समस्त पदार्थ आप-से-आप ही प्राप्त हो जायँ । अस्तु,

राजा बलिने भगवत्कृपाके विकट स्वरूपसे न घबराकर उसका सादर स्वागत किया । बलिका समस्त धन-ऐश्वर्य हरण कर लिया गया, अग्नि-परीक्षा हुई; परंतु उस परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके बाद भक्त बलिको उस रमणीय और समृद्धि-सम्पन्न सुतललोकका राज्य दिया गया, जिसकी देवता भी अभिलाषा करते हैं और जहाँ भगवत्कृपासे कभी आधि, व्याधि, भ्रान्ति, तन्द्रा, पराभव और किसी प्रकारका भी भौतिक उपद्रव नहीं होता । इतना ऐश्वर्य देकर ही भगवान् संतुष्ट नहीं हो गये, उन्होंने बलिको सावर्णि-मन्वन्तरमें इन्द्र होनेके लिये वर दिया और प्रह्लादसे बोले—'वत्स प्रह्लाद ! तुम अपने पौत्रसहित सुतललोकमें जाकर लोगोंको सुख पहुँचाते हुए आनन्दसे रहो, वहाँ तुम मुझे सब समय हाथमें गदा लिये हुए बलिके द्वारपर देखोगे ।' यों प्रभुने बलिके द्वारपर द्वारपाल होना स्वीकार किया और अन्तमें उसको अपना परम धाम प्रदान किया, क्या यह परम अनुग्रह नहीं है ? भगवान्‌ने क्रमशः चार बार अवतार धारण करके हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, रावण-कुम्भकर्ण और शिशुपाल-दन्तवक्त्रका उद्धार किया ।

इसीलिये कि उनपर अनुग्रह था । ऋषि-शापसे भ्रष्ट अपने द्वारपाल जय-विजयको शापसे मुक्त करनेके लिये मृत्युसे अधिक भयानक बात और क्या हो सकती है ? परंतु भगवान्‌के द्वारा होनेवाली मृत्युमें भी उनकी कृपा भरी हुई होती है । दुष्टोंका नाश भगवान् क्यों करते हैं ? केवल उनके उद्धारके लिये, उन्हें पापोंसे मुक्त कर अपने सुख-शान्तिमय परमधाममें पहुँचानेके लिये । भक्तगण ही दिव्य-दृष्टिसे इसको देख पाते हैं ।

यह कोई नियम नहीं है कि भगवान्‌के भक्तपर कोई सांसारिक कष्ट न आये या उसे सांसारिक सुख सर्वथा ही न प्राप्त हो । समय-समयपर कर्मानुसार दोनोंकी ही प्राप्ति होती है, परंतु दोनोंमें ही भगवत्कृपाका विलक्षण समावेश रहता है । उस कृपाका यथार्थ दर्शन उन्हीं भाग्यवानोंको होता है, जो सुख-दुःखमें समचित्त होते हैं और जो परमात्मासे कुछ भी सांसारिक वस्तु न चाहकर उसकी अपार महिमा और अपनी भक्तिमें दोष नहीं आने देते । भक्त अपनी भक्तिसे और प्रेमी अपने प्रेमसे क्या चाहते हैं ? वही भक्ति और प्रेम ! वास्तवमें ऐसे भक्तोंके हृदयमें भगवत्प्रेमके प्रति ऐसा प्रबल आकर्षण होता है कि वे उसको पानेके लिये किसी भी विपत्तिको विपत्ति नहीं समझते ।

जो कभी संसारकी ओर ताकता है और कभी परमात्मा-की ओर, वह पूरा प्रेमी नहीं है । उसमें अभी भगवत्-प्रेमकी प्रबल उत्कण्ठा जाग्रत् नहीं हुई है । संसार रहे या जाय, घर उजड़े या बसे, किसी बातकी भी परवाह नहीं, परंतु प्रेममें कोई बाधा न आने पाये, यह है भक्तकी ऐकान्तिक प्रेमनिष्ठा ।

माता यदि छोटे शिशुको मारती है तो भी वह उसीकी गोदमें घुसता है और यदि वह पुचकारती है तो भी वह उसीके पास रहता है, माताकी गोदको छोड़कर शिशुको अन्यत्र कहीं चैन नहीं पड़ता । इसी प्रकार भक्तको भी अपने भगवान्‌को छोड़कर और कहीं विश्राम नहीं मिलता । चाहे वे मारें, चाहे प्यार करें ! भक्त एक क्षण भी उनके बिना रहना नहीं चाहता । सम्भव है कि भक्तपर विपत्तियों-के दारुण चारों ओरसे मँडराने क्यों, यह भी सम्भव है कि उसका समस्त जीवन केवल सांसारिक विपत्तियोंमें ही बीते और एक क्षणके लिये भी विपत्तिका अभाव न हो, तथापि उसका मन उस प्रेमानन्दमें इतना मग्न रहता है कि भूलकर भी उसे भगवत्कृपाके सम्बन्धमें कभी किंचित् भी संदेह नहीं होता ।

चातकपर यदि उसका प्रियतम मेघ पत्थरोंकी वर्षा करे तो क्या वह मेघसे प्रेम करना छोड़ देता है ? क्या उसके प्रेममें कुछ भी अन्तर पड़ता है ? गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

उपल बरसि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर ।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥
(दोहावली २८३)

भयानक वज्रपातसे उसके प्राण भले ही चले जायँ, परंतु प्रेमी चातक दूसरी ओर नहीं ताकता । इसी प्रकार भक्त भी नित्य निश्चिन्त होकर रहता है । उसे न तो दुःखोंमें उद्वेग होता है और न सुखोंकी स्पृहा रहती है । भगवान् कहते हैं—

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥
(गीता १२ । १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है और न किसी प्रकारकी आकाङ्क्षा करता है—जो शुभाशुभ दोनोंका त्यागी है, वह भक्तिमान् (पुरुष) मुझको प्रिय है ।'

इस प्रकार भक्त, जैसे सम्पत्तिमें प्रभुकी मूर्ति देखकर संदेह-शून्य रहता है, वैसे ही विपत्तिमें भी उन्हींकी मनो-मोहिनी मधुर छविका दर्शन कर निःसंशय रहता है ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि लौकिक दृष्टिसे समय-समयपर भगवत्कृपाका स्वरूप बड़ा ही भीषण होता है । प्रह्लाद अग्निमें डाला जाता है, मीराको विषका प्याला दिया जाता है, सदनके हाथ काटे जाते हैं और बेंतोंकी मारके कारण हरिदासकी पीठसे खून बहने लगता है, परंतु धन्य है उन प्रेमी और प्रेमके उपासक भक्तोंको, जो प्रत्येक अवस्थामें शान्त और निश्चिन्त देखे जाते हैं ! उनकी स्थिरतामें तिलभर भी अन्तर नहीं पड़ता । कितने प्रमाद, विषाद और भरोसेकी बात है यह । एक होता-था

काँटा चुभ जानेपर चिल्लाहट मच जाती है—अग्निकी चिनगारीका स्पर्श होते ही मन तिलमिला उठता है, परंतु वे भक्तगण, जो परमात्माके प्रेमके लिये अपने-आपको खो चुकते हैं—बड़े चावसे सारी यातनाओं और क्लेशोंको सहते हैं। उन ईश्वरगत-प्राण भक्तोंको प्रेमके लिये न शूली-पर चढ़नेमें भय लगता है और न धधकती हुई अग्निमें कूदनेमें। प्रेमके लिये मस्तकको तो वे हाथोंमें लिये फिरा करते हैं—

> प्रेम न बाड़ी नीपजै प्रेम न हाट बिकाय।
> राजा परजा जेहि रुचै शीश देइ लै जाय॥

लोग कहते हैं—'देखो बेचारेको कितना कष्ट हो रहा है, बेचारेने सारे जीवन श्रीरामका नाम लिया, परंतु कभी सुखकी नींद नहीं सोया। आजकल भगवान्‌के यहाँ न्याय नहीं रहा। यह तो बेचारा चौबीसों घंटे भजन करता है और इसीपर दुःखोंके पहाड़ टूट पड़ते हैं।' लोगोंकी ऐसी भोली बातोंको सुनकर विपत्ति-सम्पत्तिको लात मारनेवाले वे भक्त मन-ही-मन हँसते हैं।

वे सांसारिक लोग इस बातको नहीं जानते कि भगवान् कभी किसीको कष्ट पहुँचाना नहीं चाहते। भक्तके सामने भगवान् जो दुःखोंका रूप प्रकट करते हैं, वह केवल उनके कल्याणके लिये ही। यदि केवल सुखमें ही भगवान्‌का रूप दीख पड़ता हो तो क्या दुःखमें उसका अभाव है ? यदि सुखमें उनकी व्यापकता है तो दुःखमें भी है। कोई भी ऐसी अवस्था या कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं कि जिसमें वे न हों। इसी बातको पूर्णरूपसे प्रकट करनेके लिये भगवान् भक्तोंके सामने अपने दोनों स्वरूप प्रकट करते हैं। जब भक्त इस प्रहेलिकाको समझ लेता है, तब वह सब तरहसे और सब ओरसे भगवान्‌को पहचान लेता है। साधारणलोग एक ओर देखते हैं, इसीसे वे सुखकी मूर्तिको देखकर हँसते हैं और दुःखकी मूर्तिको देखकर काँप उठते हैं; परंतु जो भक्त हैं, वे दोनोंमें ही उनको देख पाते हैं। इसीसे उनको न तो दुःखसे द्वेष है और न सुखसे अनुराग ! दाहिना और बायाँ—दोनों उसीके तो हाथ हैं। भक्त किसी भी अवस्थामें इस ध्रुव-सत्यसे अपनी दृष्टि नहीं हटाते। प्रत्युत वे तो दूसरे लोगोंको दुःखोंसे घबराया हुआ जानकर भगवान्‌से उल्टे यह प्रार्थना करते हैं—

> न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
> मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
> आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
> मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
> (श्रीमद्भा० ९ । २१ । १२)

'हे नाथ ! मैं (आप) परमेश्वरसे अणिमादि आठ सिद्धियोंसे युक्त गति या मुक्तिको नहीं चाहता। मेरी यही प्रार्थना है कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर दुःख भोग करूँ। जिससे उन सबका दुःख दूर हो जाय।'

परम भक्त प्रह्लादने कातरकण्ठसे कहा था—'हे प्रभो ! मेरा चित्त तो आपके चरित्रगानरूप सुधा-समुद्रमें निमग्न है, मुझे संसारसे कोई भय नहीं; परंतु मैं इन इन्द्रियोंके सुखोंमें लिप्त और भगवद्विमुख दीन असुर-बालकोंको छोड़कर अकेला मुक्त होना नहीं चाहता।'

यह है भक्तोंकी वाणी। संसारभरका दुःख अपने मस्तकपर उठानेको प्रस्तुत हैं। दीन-दुःखियोंका उद्धार हुए बिना अकेले अपना उद्धार नहीं चाहते। कष्ट देनेवालेके लिये भी भगवान्‌से क्षमा चाहते हैं। अपने कष्टोंकी कोई परवाह नहीं। परवाह क्यों हो ! उन्हें तो कष्टोंकी भीषण मूर्तिके अंदर उन सलोने श्यामसुन्दरकी नवघनश्याम मूर्तिका प्रत्यक्ष दर्शन होता है न ! वे तो सब ओरसे अपना सारा अपनापन उन्हें सौंपकर तथा उनकी कृपा-सुधाकी अनन्त और शीतल धारामें अवगाहन कर कृतार्थ हो चुके हैं। उन्हें क्षण-क्षणमें भगवत्कृपाके दिव्य दर्शन होते हैं। इसीसे वे समस्त सुख और दुःखभारको केवल भगवत्प्रसाद समझकर सानन्द ग्रहण करते हैं। कोई स्थिति उन्हें विचलित नहीं कर सकती। वे उस परम लाभको पाकर नित्य उसीमें रमण करते हुए प्रेमके परमानन्दमें निमग्न रहते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

> यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
> यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
> (गीता ६ । २२)

'(भक्त) परमात्माकी प्राप्तिरूप लाभको पाकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और भगवत्प्राप्ति-रूप अवस्थामें स्थित (वह) भक्त बड़े-से-बड़े दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

भगवान् विष्णुकी कृपा

(लेखक—श्रीहरिकृष्णजी दुजारी)

(१)

देवर्षि नारद

पूर्वजन्ममें देवर्षि नारद दासी-पुत्र थे । माता वेदपाठी ब्राह्मणकी दासी थी । एक बार कुछ योगिजन चातुर्मासके लिये उस गाँवमें आये और यहीं प्रथम भगवत्कृपा हुई उस बालकपर । सत्पुरुषोंका सङ्ग भगवत्कृपासे ही प्राप्त होता है । माताके साथ-साथ बालक भी उनकी सेवामें लग गया । मुनियोंका आज्ञा-पालन ही उस बालककी क्रीडा बन गयी । चञ्चलतासे दूर रहकर उनकी सेवा करना उसकी निष्ठा थी । उसके शील-स्वभावको देखकर उसपर संतोंका अनुग्रह हुआ । बालकको भोजनके लिये संतोंका प्रसाद मिलने लगा और सुननेको मिलने लगी भगवच्चर्चा । संत-कृपा और सत्सङ्गसे उसके कोमल हृदयकी मैल दूर हो गयी । उसपर संकीर्तन एवं भगवान्‌की मनोहर कथाका रंग चढ़ने लगा । प्रभुकी मनोहर कीर्ति उसकी निर्मल बुद्धिमे स्थिर होने लगी । संत-कृपासे उसके रजोगुण एवं तमोगुणका नाश होते देर न लगी । शीघ्र ही बालकके हृदयमें भक्तिका प्रादुर्भाव हो गया । शरद् और वर्षाऋतु—इन दो ऋतुओंकी संत-सेवासे बालकके सभी पाप नष्ट हो गये । इन्द्रियोंका संयम तथा शरीर, वाणी और मनसे महात्माओंकी आज्ञाका पालन करनेपर महात्माओंका अनुग्रह हुआ और जाते-जाते उन्होंने कृपा करके उस बालकको भगवान्‌के श्रीमुखसे सुने हुए गुह्यतम ज्ञानका अधिकारी बना दिया । चातुर्मास समाप्त होते ही वे लोग चले गये । माता अपने इकलौते पुत्रके योगक्षेमकी बहुत चिन्ता करती, परंतु वह बेचारी पराधीन अबला थी, ब्राह्मणोंकी सेवा करके किसी प्रकार पुत्रसहित वह अपना जीवन-निर्वाह करती थी ।

कृपासिन्धु भगवान्‌ने एक दिन एक विचित्र लीला की । रात्रिके समय उस बालककी माँ गौ दुहनेके लिये घरसे निकली । घना अँधेरा था, उसके पैरके नीचे एक साँप आ गया । साँपने उसे डस लिया और वह तत्काल ही मृत्युको प्राप्त हो गयी । सत्सङ्गके प्रभावसे बालकने इसे भगवान्‌का परम अनुग्रह माना । 'भगवान् अपने जनका सदैव मङ्गल करते हैं'—यह बालककी दृढ़ निष्ठा थी । सभी ओरसे निराश्रित बालकने भगवान्‌की कृपाका आश्रय लिया । वह उत्तर दिशाकी ओर चल पड़ा । मार्गमें बीहड जंगल आये, जिनमें भयंकर एवं हिंस्र जीव-जन्तु, साँप, उल्लू, सियार आदि भी थे, परंतु वह निर्भय होकर आगे बढ़ता गया ।

भूख-प्याससे व्याकुल बालकने एक नदीके मनोहर तटपर ठहरकर जलपान, आचमन और स्नान किया । महात्माओंकी अमोघ वाणी उसके हृदयमें घर किये हुए थी । उसने एक पीपलके वृक्षके नीचे अपना आसन जमाया और भगवान्‌के ध्यानमें निमग्न हो गया । बालक निर्द्वन्द्व और शान्त था । उसका हृदय भगवत्प्रेमसे विह्वल हो रहा था, शरीर रोमाञ्चित था और नेत्रोंसे प्रेमाश्रु निर्झरित हो रहे थे । संसारकी अन्य सभी चाहें सिमटकर भगवत्प्राप्तिकी चाहमें केन्द्रित हो गयी थीं । वह प्रेमानन्दमें डूबा हुआ था । सहसा भगवत्कृपासे उसे एक अनिर्वचनीय रूपकी झलक दिखलायी दी, परंतु तत्काल ही वह ओझल हो गयी । बालक उस स्वरूपका पुनः दर्शन करनेके लिये व्याकुल हो उठा । उसी समय उसे भगवान्‌की अमोघ वाणी सुनायी दी—'निष्पाप बालक ! तुम्हारे हृदयमें मुझे प्राप्त करनेकी लालसा जाग्रत् करनेके लिये ही मैंने एक बार अपने रूपकी झलक दिखायी है । मुझे प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षासे युक्त साधक धीरे-धीरे हृदयकी सम्पूर्ण वासनाओंका भलीभाँति त्याग कर देता है । अल्पकालीन संत-सेवासे तुम्हारी चित्तवृत्ति मुझमें स्थिर हो गयी है । अब तुम इस प्राकृत मलिन शरीरको छोड़कर मेरे पार्षद हो जाओगे । मुझे प्राप्त करनेका तुम्हारा यह दृढ निश्चय कभी किसी प्रकार नहीं टूटेगा । समस्त सृष्टिका प्रलय हो जानेपर भी मेरी कृपासे तुम्हें मेरी स्मृति बनी रहेगी ।'

भगवान्‌की इस अनुपम कृपासे बालक प्रफुल्लित हो उठा और तभीसे वह लज्जा छोड़कर भगवान्‌के मङ्गलमय मधुर नामों एवं लीलाओंका कीर्तन करने लगा । भगवान्‌की कृपासे समस्त आसक्तियाँ मिट गयीं और उसका हृदय शुद्ध हो गया । प्रारब्धकर्म समाप्त हो जानेपर उसका पाञ्चभौतिक शरीर मृत्युको प्राप्त हो गया ।

सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीके शरीरसे देवर्षि नारदका प्रादुर्भाव हुआ। उनके जीवनका व्रत ही भगवद्भजन है, जो अखण्डरूपसे चलता रहता है। भगवत्कृपासे वे वैकुण्ठादि तीनों लोकोंमें बिना रोक-टोक निर्बाधरूपसे विचरण करते हैं तथा भगवन्नाम और लीलाओंका गान करते हैं। उन्हें भगवान्‌का मन कहा गया है। प्रत्येक काल एवं युगमें वे अधिकारी पुरुषोंको साक्षात् दर्शन देकर उनका मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। उन्होंने भक्ति-सूत्रोंकी रचना कर जगत्‌को भक्तिरूप अमृतका अनुपम दान दिया है। वे गुणमाहात्म्यासक्ति भक्तिके आचार्य माने जाते हैं। वे सदा-सर्वदा भगवन्नाम-कीर्तन करते रहते हैं—

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्॥
(श्रीमद्भा० १।६।३९)

'अहो! ये देवर्षि नारद धन्य हैं; क्योंकि ये शार्ङ्गपाणि भगवान्‌की कीर्तिको अपनी वीणापर गा-गाकर स्वयं तो आनन्दमग्न होते ही हैं, साथ-साथ इस त्रितापतप्त जगत्‌को भी आनन्दित करते रहते हैं।'

(२)

भक्त ध्रुव

ध्रुव स्वायम्भुव मनुके पौत्र थे। महाराज उत्तानपादकी बड़ी पत्नी सुनीतिकी कोखसे उनका जन्म हुआ था। एक समयकी बात है, राजदरबार लगा था। महाराज उत्तानपाद अपनी छोटी रानी सुरुचि एवं उसके पुत्र उत्तमके साथ राजसिंहासनपर विराजमान थे। सुरुचिके रूप-लावण्यने राजाको वशीभूत कर लिया था। सुरुचिकी रुचि ही उत्तानपादकी रुचि हो गयी थी। एक दिन पाँच वर्षका बालक ध्रुव अपने सखाओंके साथ खेलता-खेलता राजसभामें जा पहुँचा। अपने छोटे भाई उत्तमको पिताकी गोदमें बैठे देखकर बालक ध्रुवने भी पिताकी गोदमें बैठना चाहा। सुरुचि इसे कैसे सहन कर सकती थी! सुनीतिसे उसका सौतियाडाह जो था। 'अरे, तुम्हारा इतना साहस! यदि पिताकी गोदमें बैठना चाहते हो तो तपस्या करके भगवान्‌की आराधना करो। भगवान्‌को प्रसन्न करके मेरी कोखसे जन्म लो, तभी तुम्हें यह अधिकार प्राप्त हो सकता है।' कहते हुए सुरुचिने हाथ पकड़कर ध्रुवको राजाकी गोदसे अलग कर दिया।

यद्यपि अबोध बालक ध्रुव पूरी बात न समझ सका, परंतु 'मेरा अपमान हुआ है और भगवान्‌की आराधनासे ही अपमानसे छुटकारा मिल सकता है'—इतनी बात तो उसकी समझमें आ ही गयी। केवल इतनी-सी बात बालक ध्रुवको अमोघ भगवत्कृपाका अनुभव करानेमें हेतु बन गयी। विपरीत परिस्थितियाँ प्रायः मनुष्यको भगवत्कृपा प्राप्त करानेमें बड़ी सहायक होती हैं।

रुदन ही तो बालकका बल है। ध्रुव रोता-रोता अपनी माता सुनीतिके पास पहुँचा। सुनीतिने उसकी पूरी बात सुनी और कहा—'बेटा! सचमुच मैं अभागिनी हूँ। तुम्हारे पिता तुम्हारी छोटी माता सुरुचिके हाथ बिके हुए हैं। तुम्हारी अभिलाषा तो एक भगवान् ही पूर्ण कर सकते हैं। भगवान् विष्णुकी आराधनासे सब कुछ सुलभ है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो भगवान् न दे सकें।' 'भगवान् विष्णु सब कुछ दे सकते हैं।' निर्मल-हृदय ध्रुवके मनमें यह बात घर कर गयी।

'माँ! मुझे आज्ञा दो, मैं भगवान्‌से मिलकर उन्हींसे सब कुछ प्राप्त करूँगा।' ध्रुवने दृढ़ निश्चयके साथ माता सुनीतिसे निवेदन किया। 'बेटा! अभी तो तुम निरे बालक हो, कुछ बड़े हो जाओ, उसके बाद यह कार्य करना।' माताने ध्रुवको बहुत समझाया, परंतु ध्रुवके निश्चयमें माँ सुनीति कुछ भी परिवर्तन न कर सकी और अन्तमें भगवत्कृपापर पूर्ण विश्वास रखनेवाली माताने बालकको वनमें जानेकी आज्ञा दे दी।

भगवान् कैसे और कहाँ मिलते हैं—यह तो ध्रुवको ज्ञात नहीं था, परंतु भगवान् मिलते हैं, इस निश्चयके साथ ध्रुवने वनकी राह ली। भगवान्‌की ओर बढ़नेवालेकी सहायता भगवत्कृपा स्वयं करती है। मार्गमें ध्रुवको देवर्षि नारद मिले। नारद ध्रुवकी पूरी बात सुनकर विस्मय प्रकट करने लगे—'बेटा! तुम्हारी आयु अभी छोटी है, इस उम्रमें क्या मानापमान? प्रसन्न रहो और जैसे भगवान् रखें, उसीमें संतोष करो। भगवान्‌का मिलना बड़ा कठिन है। बड़े-बड़े योगी-मुनि दीर्घकालतक तपस्या करके भी उनका दर्शन अनेक जन्मोंके पश्चात् कर पाते हैं।' देवर्षिकी ये बातें सुनकर भी ध्रुवके निश्चयमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। "मुने! आप बड़े कृपालु हैं। आपने जो उपदेश दिया, वह बहुत उत्तम है; परंतु मुझे तो आप

विचित्र लग सकती है, किंतु है सत्य। एक व्यक्ति सांसारिक दृष्टिसे धन, पुत्र, परिवार और समस्त वैभवसे सम्पन्न है, किंतु उसके मनमे विषाद है। बाह्य दृष्टिसे सुखी दिखायी पड़ते हुए भी वह दुःखी है। दूसरी ओर एक अत्यन्त दरिद्र, दीन और अकिंचन व्यक्ति सत्सङ्गके प्रभावसे भीतरसे संतोषी तथा सुखी देखा जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि सुख-दुःख मनकी स्थितियाँ हैं, बाह्यावस्थासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं।

भगवत्प्राप्तिका इच्छुक साधक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों, प्राणियो और पदार्थोंमे समभाव रखता है। उनमे राग-द्वेष नहीं करता, इसलिये भावी जीवनके लिये वह ऐसे कर्मोंका संचय नहीं करता, जो जन्म-मरण देते हैं। प्रारब्धानुसार प्राप्त अनुकूल परिस्थितिमे, जो पुराने पुण्योंका क्षय करनेके लिये प्राप्त हुई है, राग न होनेसे उसका कल्याण हो जाता है और प्रतिकूल परिस्थितिमे पिछला पाप नष्ट होने और भगवदनुग्रह माननेसे वह द्वेषकी भावनासे बचता है। केवल इतना ही नहीं, यदि वह दुःखमें ईश्वरप्रदत्त तपकी भावना कर ले तो उसका उतना ही सुकृत हो सकता है, जितना तपसे होता है। पर असङ्गता दोनों परिस्थितियोंमें मुख्य है। इस रहस्यको जानकर मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो सकता है।

वस्तु, परिस्थिति, संयोग, वियोग आदिको भगवत्प्रदत्त मानकर तथा फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व-बुद्धिसे कर्म करनेका नाम 'निष्काम कर्मयोग' है। इसीको कर्मयोग, बुद्धियोग या समत्वयोग आदि नामोंसे भी पुकारा जाता है। कर्मयोगका साधक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंको वस्तुतः 'साधन' मानता है। उसका दृढ़ निश्चय होता है कि भगवान्ने पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार हमारा प्रारब्ध बनाकर हमपर अचिन्त्य कृपा की है। यदि मनुष्यके हाथमें कर्म करनेकी स्वतन्त्रताकी तरह ही फल लेनेकी भी स्वतन्त्रता होती तो निषिद्ध कर्मोंका फल कौन भोगता ? भगवान्ने यह फल-विधान अपने अधीन रखकर जो कृपा की है, उसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसलिये प्रतिकूल परिस्थिति जहाँ एक ओर हमें सावधान करती है कि पाप-कर्म न किये जायँ, वहीं दूसरी ओर भगवत्कृपाकी अनुभूति करनेका सुअवसर भी देती है।

कर्मयोगका रहस्य—

भगवान्ने मनुष्योंके श्रेयके लिये गीतामें कृपापूर्वक कर्म-प्रधान कर्मयोगका मार्ग बताया। 'कर्मयोग'मे दो शब्द हैं—'कर्म' और 'योग'। गीतामे समताको 'योग' कहा गया है—

'समत्वं योग उच्यते' (२। ४८)

सिद्धि-असिद्धि, स्तुति-निन्दा, मान-अपमान आदि जितने भी द्वन्द्व हैं, सबमे सम-बुद्धि रखना ही 'योग' है। शास्त्रोक्त कर्तव्योंको साङ्गोपाङ्ग विधिपूर्वक करना 'कर्म' है। परिस्थितिके अनुसार जो कर्तव्य सामने आ उपस्थित हुआ है, वही नियत कर्म है, यही 'कर्म' धर्मका पर्यायवाची भी समझा जा सकता है। अपने स्वाभाविक कर्मोंको निष्कामभावसे करते रहनेसे मनुष्यको परमसिद्धिकी प्राप्ति हो जाती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥

× × ×

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(गीता १८। ४५-४६)

'अपने-अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है, अर्थात् उसकी देह और इन्द्रियाँ स्वाभाविक कर्म करनेसे शुद्ध हो जाती हैं और उसमे ज्ञाननिष्ठाकी योग्यता आ जाती है। उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूजकर मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है।'

स्वाभाविक कर्मोंका 'त्याग' दोष माना गया है—

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

(गीता १८। ४७-४८)

'स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता। अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त भी स्वाभाविक कर्मको नहीं त्यागना चाहिये।'

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

(गीता ३। ३५)

'अपने धर्ममें मरना श्रेयस्कर है, दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है।'

स्वाभाविक (नियत) कर्म—

स्वाभाविक कर्मका स्पष्टीकरण निम्नाङ्कित श्लोकोंमें हुआ है—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥
(गीता १८ । ४२-४४)

'अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि, धर्मके लिये कष्ट सहन करना और क्षमाभाव एवं मन, इन्द्रिय और शरीरकी सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र-विषयक ज्ञान और परमात्मतत्त्वका अनुभव—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं । शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्धमें न भागनेका स्वभाव एवं दान और स्वामिभाव—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं । खेती, गौपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं और सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका स्वाभाविक कर्म है ।'

अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त रहना मनुष्यका पहला कर्तव्य है।

कर्म करनेकी अनिवार्यता—

मनुष्यका कोई भी क्षण कर्मसे रहित नहीं होता। सभी प्राणी प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा परवश होकर कर्म करते हैं—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
(गीता ३ । ५)

कर्म तो करना ही पड़ता है, परंतु यदि ईश्वरद्वारा प्रदत्त विवेकको काममें लाकर कर्म किया जाय तो मनुष्य-जीवन सार्थक सिद्ध होता है । फलकी इच्छासे किये जानेवाले कर्म सकाम होते हैं । लोकमें प्रायः मनुष्य स्वर्गादि उत्तम लोक और सुख-ऐश्वर्य आदि भोग प्राप्त करनेकी दृष्टिसे ही शुभ कर्म करते हैं, जो अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं ।

फलमें आसक्ति होनेके कारण ही वे सकाम कर्म बन्धनमें डालनेवाले होते हैं। अतएव भगवान्ने कृपापूर्वक निष्काम-कर्म करनेका मार्ग श्रेष्ठ बतलाया—

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
(गीता ३ । ९)

'हे कुन्तीनन्दन! तुम कर्मफल और आसक्तिसे रहित होकर कर्मोंका ईश्वरार्थ भली प्रकार आचरण करो ।'

कर्मयोगी जब फलासक्ति त्यागकर कर्म करता है, तब वह सांसारिक भोग-संग्रहका त्याग कर सेवाके मार्गपर चलता है । त्यागके अभिमानका भी त्याग कर वह समग्रतः सात्त्विक त्यागका अनुष्ठान करता है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥
(गीता १८ । ९)

'हे अर्जुन ! करना कर्तव्य है—इसी भावसे जो शास्त्रविहित कर्तव्य कर्म आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है ।'

इसलिये कर्तृत्वाभिमान और फलासक्तिको त्यागकर समत्वबुद्धिसे कर्म करना ही कर्मयोगका सार कहा जा सकता है । कर्मयोगकी सुगमताके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ६)

'मैंने ही मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये तीन प्रकारके योगोंका उपदेश किया है । वे हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग । इनके अतिरिक्त मनुष्योंके लिये श्रेय-प्राप्तिका अन्य कोई साधन नहीं है ।' कर्मयोगमें निष्णात हुए बिना ज्ञानयोगका अनुष्ठान सम्भव नहीं । कर्तव्य-कर्मोंको जब भगवत्प्रीत्यर्थ किया जाता है, तब कर्मयोग ही भक्ति-मिश्रित कर्मयोग कहलाता है, इसलिये मनुष्यके लिये पहले कर्मयोगका ही अनुष्ठान अभीष्ट और सुगम है ।

जब कर्मयोग भगवत्प्रीत्यर्थ हो जाता है, तब भक्तियोग आरम्भ होता है । 'कर्मयोगस्तु कामिनाम्' (श्रीमद्भा० ११ । २० । ७) कहकर कर्मयोगको कामियों अर्थात् उन मनुष्योंके लिये सर्वोपयोगी बतलाया गया, जो पूर्व-संस्कारवश कामनाओं-वासनाओंका त्याग अत्यन्त कठिन मानते हैं । जो अत्यन्त विरक्त हैं, वे ज्ञानयोग अपना लेते हैं; जो न तो अत्यन्त विरक्त हैं न अत्यधिक कामनायुक्त ही, वे भक्तियोगके पथ पर चलते हैं ।

स्वार्थका त्याग कर संसारकी सेवामें प्रवृत्त होना कर्मयोग-सिद्धिका मूल मन्त्र है । इस मन्त्रका अनुसरण करनेसे फलोंमें स्पृहा नहीं होगी, फलोंमें स्पृहा न होनेसे साधक जन्म-मरणमें नहीं बँधेगा । भगवान् कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥
(गीता ४ । १४)

'मुझमें अहंकारका अभाव है, इसलिये देहादिकी उत्पत्तिके कारण कर्म मुझे लिप्त नहीं करते और न उन कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा—लालसा ही है ।' इस प्रकार जो मनुष्य भगवान्को जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता । भगवदुपदिष्ट इस समत्वयोगका साधन कर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है, जिसके लिये ईश्वरने करुणापूर्वक इसे नर-देह प्रदान की है ।

महिमामयी भगवत्कृपा और पुरुषार्थ

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'भला, इस विध्वंसकारी युद्धभूमिमें पक्षीके ये नन्हे-नन्हे बच्चे कैसे जीवित बच गये, गुरुदेव !' शिष्योंने महर्षि शमीकसे उत्सुकतापूर्वक पूछा ।

महाभारतके भीषण युद्धकालकी घटना है । उस दीर्घ-कालिक प्रलयंकारी युद्धमें असंख्य सैनिक, योद्धा, हाथी, घोड़े आदि मृत्युके ग्रास बने । बहुत दिनोंतक मरने-मारनेका भयानक व्यापार चलता रहा । लगता था, जैसे मनुष्यमें सोया वीर-रस एकाएक जाग उठा हो ।

कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमि मृत्युके ग्रास बने शत-शत सैनिकों और पशुओंकी लाशोंसे पटी पड़ी थी । निरन्तर रक्त-पातसे युद्धस्थलका वर्ण लाल हो गया था । मरते हुए कुछ सैनिक अन्तिम श्वासें ले रहे थे । युद्धमें कटे-मरे अश्व और हाथी विपुल संख्यामें पड़े थे । कौवे, चील, गिद्ध और कुत्ते लाशोंको नोच-नोचकर मास खा रहे थे । गीदड़ लाशें झिंझोड़ रहे थे । सर्वत्र मृत्युका ताण्डव था । सामान्य जन-जीवन बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो गया था । चारों ओर मांसकी दुर्गन्ध फैल रही थी ।

अपने शिष्योंको समाज, जीवन और जगत्की जानकारी करानेके अभिप्रायसे महर्षि शमीक उधरसे निकले थे । वे पुस्तकीय ज्ञानकी अपेक्षा वस्तुस्थिति देखकर किये गये अनुभवपूर्ण ज्ञाना-र्जनको ही स्थायी शिक्षा समझते थे । यदा-कदा वे अपने शिष्योंको संसारकी कठोरता और भगवत्कृपाका परिचय दिया करते थे । विद्यार्थी केवल पुस्तकीय शिक्षासे ही नहीं, मानव-जीवन, समाज और विश्वव्यापी प्रतिकूलताओं, कष्टों, सकटोंसे भी परिचित हो जायँ—यही उनका उद्देश्य था । कष्टोंकी भट्ठीमें जलकर ही तो मानव निखरता है । श्मशान-सदृश युद्धस्थलमें शिष्योंने देखा, सर्वत्र प्रलय-जैसा भयावह दृश्य । द्वेष, क्रोध, अहं, अभिमान, स्वार्थ, उपद्रव, हिंसा आदि विविध पापोंद्वारा उत्पन्न हुई दुःखपूर्ण भयावह स्थिति, निरीह घोड़े-हाथियोंका वध, मरते हुए प्राणियोंकी नरक-यन्त्रणाएँ, बहुसंख्यक प्राणिहिंसा, गिद्ध और कौवोंकी काँव-काँव !

शिष्योंकी मनःस्थिति विषादपूर्ण थी । वे दुर्गन्ध-भरी सड़ी लाशोंके बीचसे जाते हुए घृणाका अनुभव कर रहे थे । सभी, उदास, अनचाहे मनसे चुपचाप ऋषिके पीछे-पीछे चल रहे थे । कोई बात करनेको न थी । इस विकराल श्मशानमें क्या बात करते । सर्वत्र मौत-ही-मौत, मृत्युकी नीरवता ।

एकाएक एक शिष्यने एक ओर देखकर आह्लादित स्वरमें कहा—'गुरुदेव ! उधर उन पक्षीके नन्हे-नन्हे बच्चोंको देखिये, वे मरी हुई दुनियामें जीते-जागते नव-जीवनके उमंगभरे संदेशवाहक हैं । अहा ! ये पक्षी एक ओर छिपे कैसे आनन्द ले रहे हैं । लगता है, इस महानाशका तनिक भी प्रभाव उनपर नहीं हुआ । नव-जीवनकी मधुर मुस्कानसे कैसे फुदक रहे हैं । महानाशकी कालरात्रिके बाद यहाँ फिर सुनहरा प्रभात उदित हो रहा है । इन पक्षियोंमें नयी आशा और जीवनप्रेरणा है, उमंग है । यह सब क्या है, गुरुदेव ! इस महानाशमें ये बच्चे कैसे बच गये ?'

× × ×

ऋषि शमीक तथा समस्त शिष्योंका ध्यान मुर्दोंकी विकृतिसे हटकर मोहक नव-जीवन-प्रतीक चिड़ियाके नन्हे-नन्हे बच्चोंकी ओर आकृष्ट हुआ । सचमुच वे नयी उमंग—नयी तरंगसे चहक रहे थे ।

उन्होंने उन नन्हे पक्षिशावकोंके आशाभरे स्वरमें नव-जीवनका प्रभात देखा । एक ओर मृत्युका भीषण अट्टहास था, दूसरी ओर जीवनकी स्वर्णिम लालिमा, आशा, उत्साह !

कुछ देरतक उन सबका मन क्षणिक आह्लादसे परिपूर्ण हो उठा । वे बड़े आश्चर्यसे कुछ सोच रहे थे—'ये बच्चे कैसे बच गये ? कोई इनका सरक्षक नहीं, मृत्युके बीच जीवन !'

ऋषिने पूछा—'तुम सब आश्चर्यमें क्यों हो ?'

शिष्य—'गुरुवर ! एक शङ्का मृत्युके इस विषादपूर्ण वातावरणमें बिजलीके प्रकाशकी तरह हमारे मनमें कौंध उठी है । पूछे बिना नहीं रहा जा रहा है ? आज्ञा हो तो पूछें ?'

ऋषि—'पूछो, शंका-निवारणसे ही ज्ञानवृद्धि होती है । विवेक जाग्रत् होता है ।'

शिष्य—'गुरुदेव ! कृपा कर यह बतायें कि इस घमासान युद्धमें भी ये नन्हे बच्चे कैसे जीवित बच गये ?'

ऋषि शमीक कुछ क्षणतक सोचते रहे। फिर अपने अन्तश्चक्षुओंसे उन्होंने पक्षि-शावकोंके विगत जीवनकी सारी वस्तुस्थिति जान ली। पक्षियोंका पूर्व-जीवन चलचित्रके समान उनके मानस-पटलपर आ गया।

ऋषि बोले—'शिष्यो! महाभारतके भीषण युद्धके समय संयोगसे आकाशमार्गसे उधरसे जाती हुई एक गर्भवती चिड़िया अर्जुनका तीर लगनेसे घायल होकर युद्ध-भूमिमें गिर पड़ी। मरनेसे पूर्व उसने ये अण्डे प्रसव किये। भगवत्कृपासे एक घायल हाथीके गलेमे बँधा हुआ घण्टा टूटकर उन अण्डों-पर इस प्रकार गिरा कि उनकी प्राण-रक्षा हो गयी। सुरक्षित होकर वे अण्डे परिपक्व हुए और चिड़ियाके ये बच्चे पुरुषार्थद्वारा मिट्टी हटाकर (घण्टेके नीचेसे) निकल आये। अब ये जीनेके लिये संघर्ष कर रहे हैं।'

यह रहस्य सुनकर सब शिष्य आश्चर्यसे फिर पक्षिशावकों-को देखने लगे। वे 'चीं-चीं!' करके चुग्गा माँग रहे थे।

शिष्य—'ऋषिवर! अब हम क्या करें? हमारा क्या कर्तव्य है इन पक्षि-शावकोंके प्रति।'

ऋषि—'शिष्यो! इन नन्हे जीवोंको उठा लो! लगता है, भगवान्‌ने कृपा कर इनके संरक्षणके लिये ही हमें यहाँ भेजा है।'

शिष्योंने फुदकते चीं-चीं करते हुए बच्चोंको कोमलतासे उठा लिया।

'इन्हे आश्रममें ले चलो और वात्सल्यपूर्वक माताकी तरह पालन-पोषण करो। भगवत्कृपासे इस महानाशमें भी इन अबोध जीवोंकी रक्षा हो गयी है। वे बचानेवाले कितने महान् हैं! प्रलयमे भी नवीन सृष्टिका कोमल सूत्र—नये जीवोंका सुखद आवागमन! कैसी चमत्कारपूर्ण लीला है दैवकी! महिमामयी भगवत्कृपाके अनन्त सिर, अनन्त चक्षु और अनन्त हाथ हैं। यह सारी सृष्टि उसीका रूप है, उसीके द्वारा रचित है, वह सदैव सर्वत्र जीवरक्षाके लिये तत्पर रहती है। भावी सृष्टिके बीजरूप—ये पक्षिशावक भगवत्कृपासे जीवन-क्षेत्रमें उतरना चाहते हैं। सहयोग देनेमे हम क्यों पीछे रहें?'

शिष्यने शङ्का की—'गुरुवर! जिस महिमामयी भगवत्कृपाने इन पक्षियोंकी विकट मृत्युके मुँहमे पड़नेसे रक्षा की है, क्या वह भविष्यमें भी इनका भरण-पोषण और रक्षण नहीं करेगी?'

ऋषि बोले—'शिष्यो! सब कुछ भगवत्कृपासे ही होता है, फिर भी हमें अपने भावी कर्तव्य और सांसारिक दायित्व-को वहन करना चाहिये। दैवने मनुष्यको सामर्थ्य और पुरुषार्थकी असीम शक्तियाँ इसीलिये दी हैं कि अपनी प्राण-रक्षाके लिये, उन्नति और प्रगतिके लिये वह स्वयं प्रयत्न करे। भगवत्कृपाका आश्रय लेकर निष्क्रिय और आलसी न बने। स्वयं भी जीनेके लिये प्रयत्न करे, संकटसे युद्ध करे, आत्मरक्षा करे, अपने मनोबलको कभी घटने न दे। भगवत्कृपा तो सदैव साथ है ही।'

शिष्योंने तत्त्वका और स्पष्टीकरण चाहा।

ऋषि कहने लगे—'शिष्यो! दैवेच्छा है कि हम अपने पुरुषार्थसे जियें और फिर निर्बलोंकी रक्षा करें। उनमें वह शक्ति उत्पन्न करें कि वे स्वयं जीवित रह सकें। जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये हमें शरीर, मन और आत्माद्वारा कठिनाइयों और प्रतिकूलताओंसे जूझना होगा। जीवनको विजयी बनाना होगा। जीवोंमें मरनेवालोंसे जीनेवाले सदैव अधिक रहें, इसके लिये शुभ कर्म करो। शरीर और मनको कर्ममें पूर्णरूपसे लगा दो। अपने कर्ममें, पुरुषार्थमें कोई कमी न आने दो। भगवत्कृपाका प्रकाश तो भीतर प्रदीप्त है ही। तुम्हारा शरीर निरन्तर कार्य (पुरुषार्थ)में लगा रहे। ईश्वर तुम्हारे माध्यमसे प्रकट हों। तुम्हारे सब कार्य ही ईश्वरपूजाके रूप हैं। ऐसा प्रयत्न करो कि ईश्वरत्व तुम्हारे भीतरसे कर्मोंद्वारा चमकने लगे। ईश्वरमें रहो, ईश्वरमें विश्वास करो, ईश्वरका साक्षात् करो। भगवत्कृपा-प्राप्तिके मार्गमे यह आत्मनिर्भरता अमित सहायक सिद्ध होती है।'

"समझ गये गुरुदेव! आपका तात्पर्य है कि 'हम भगवत्कृपाका आश्रय लेकर पुरुषार्थ करें। भगवत्कृपाका सहारा लेकर अपना मनोबल और पुरुषार्थ स्वयं जाग्रत् करें, प्रतिकूलताओंसे स्वतन्त्र कर्मद्वारा उन्नति करनेकी प्रेरणा लें। भगवत्कृपा सदैव सबपर समानरूपसे बरस ही रही है।"

शिष्यगण प्रसन्नतापूर्वक उन पक्षिशावकोंको आश्रममें ले गये। इन्हींके माध्यमसे आज उन्हें महिमामयी भगवत्कृपा और पुरुषार्थका स्वरूप विदित हो गया था।

प्रारब्ध और भगवत्कृपा

(लेखक—आचार्य श्रीविश्वम्भरजी द्विवेदी)

प्रारब्धको भगवत्कृपाके साथ रखकर देखने-परखनेकी कल्पना ही बड़ी विचित्र है। ज्योतिषशास्त्र, स्मृति, कर्मविपाक एवं पूर्व-मीमांसा आदि ग्रन्थोंमें हमें प्रारब्ध-कर्मके विषयमें गहन एव गम्भीर विचार प्राप्त होते हैं। आचार्य कुमारिल एवं प्रभाकर गुरुने शास्त्रीय पद्धतिसे इस विषयपर अति गम्भीर विचार किया है। ये विद्वान् प्रायः मानवके कर्मको ही उनके सुख-दुःखरूप फलोंका स्वतन्त्र उत्पादक मानकर कर्मसे भिन्न किसीको, ईश्वरतकको भी स्वीकार नहीं करते। मीमांसक लोग कर्मको ही ईश्वर मानते हैं[1]। वे प्रारब्धके लिये 'अदृष्ट' एवं 'अपूर्व' आदि शब्दोंका भी व्यवहार करते हैं।

पर हमारा 'प्रारब्ध' शब्दसे पूर्व-मीमांसाके 'अदृष्ट' और 'अपूर्व'का अभिप्राय नहीं है। यहाँ तो 'प्रारब्ध' शब्दका सीधा-सादा एवं लोकप्रचलित अर्थ भाग्य, दैव, किस्मत, डेस्टिनी (Destiny), लक (Luck) आदि ही लिया गया है; क्योंकि साधारणतया सभी लोग इन शब्दोंका एक सुनिश्चित अभिप्रायसे भाग्यके अर्थमें ही प्रयोग करते हैं। लोकमानसकी उसी धारणाके साथ यहाँ भगवत्कृपाके माहात्म्यको समझनेका प्रयास किया जा रहा है। इसी 'प्रारब्ध' शब्दको कभी-कभी उच्च साहित्यिक भाषामें नियतिका विधान भी कह दिया जाता है, किंतु उक्त शब्दोंकी मूलधारणामें प्रायः कोई मतभेद नहीं है।

प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि जब सब कुछ सर्वदा भगवत्कृपासे ही घटित होता है, तब उसे भगवत्कृपा न कहकर प्रारब्ध अथवा नियतिका विधान ही क्यों न कहा जाय ? वास्तवमें यह आशङ्का असमीचीन और असङ्गत है। भगवत्कृपाको कभी प्रारब्ध मानकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता; इसके अनेक कारण हैं—

प्रारब्ध व्यक्तिके अपने ही जन्मान्तरघटित कर्मोंका परिणाम है। यह मानवके शुभाशुभ एव सुख-दुःखमय जीवन-के प्रवाहमें स्वयं प्रवाहित है और प्राणी भी विवश हो इसी प्रवाहमें प्रवाहित हो जाता है। ऐसे अनिश्चित और अस्थिर 'प्रारब्ध'पर निर्भर रहनेवाले लोग आलसी और कायर बनकर अपने अमूल्य जीवनको निष्फल कर डालते हैं। यह उनकी नासमझी है; वस्तुतः प्रारब्ध और पुरुषार्थका आपसमें विरोध नहीं है। प्रारब्धका तात्पर्य चिन्तारहित होनेमे है और पुरुषार्थ (उद्योग)का तात्पर्य नित्य-निरन्तर कर्तव्य कर्ममें लगे रहनेमें है। भगवत्कृपा वैयक्तिक न होकर सार्वजनीन है। वह न वैयक्तिक कर्मसे सिद्ध है, न कालसे। वह त्रिकालाबाधित है। वह न सांयोगिक है, न परिस्थितिजन्य और न दुःखरूपा है, न मोहरूपा। वह कोई संकीर्ण अथवा मर्यादित प्रवाह भी नहीं है, अतः वह न स्वयं किसी प्रवाहकी भाँति बहती है और न बहाती है। भगवत्कृपा स्वरूपतः अनादि और अनन्त है। वह विश्वव्यापक मेघरूपा है, जिसका अमृतवर्षण कभी समाप्त नहीं होता और सर्वत्र समानरूपसे प्रवृत्त रहता है।

इसके अतिरिक्त भगवत्कृपासे प्रारब्ध बदल सकता है, किंतु प्रारब्ध भगवत्कृपाके विधानमे कभी कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। अजामिल, गीध, गणिका आदिके प्रारब्ध अच्छे नहीं कहे जा सकते, किंतु भगवत्कृपासे वे तर गये। भगवत्कृपाके समक्ष यमराजके कठोर शासनने भी घुटने टेक दिये[2]।

प्रारब्धवादी सदैव संशय और आशङ्काओंसे दुःखी रहता है; क्योंकि उसे स्वयं अपने ही भाग्यके विधानका कुछ पता नहीं रहता[3], किंतु भगवत्कृपापर निर्भर रहनेवाला व्यक्ति सदा ही संशयों एवं आशङ्काओंसे रहित तथा प्रसन्न रहता है। भले ही परिस्थितियाँ उसके अनुकूल हों अथवा प्रतिकूल। भक्त प्रह्लादका सम्पूर्ण जीवन अनुकूल-प्रतिकूल घटनाओंका खिलौना-सा बना रहा; परंतु वह भगवत्कृपाकी गोदमे मुस्कराता ही रहा। उसके लिये विष अमृत बन गया, काँटे पुष्प बन गये और अग्नि शीतल चन्दन बन गयी। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

१. कर्मेति मीमांसका। (हनुमन्नाटक १। ३)

२.—देखिये—अजामिलोपाख्यान। (श्रीमद्भा० ६ । १-२)

३.—''' 'पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः। (भोजप्रबन्ध १४३)

'कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।'

(गीता ९ । ३१)

'हे अर्जुन ! तुम निश्चयपूर्वक जान लो कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता ।'

इस प्रकार प्रारब्ध और भगवत्कृपाकी फल-व्याप्तिमें बहुत अन्तर है । प्रारब्धका सम्बन्ध केवल बाह्य जीवनके परिणामसे है, जबकि भगवत्कृपा मुख्यतः हमारे आन्तरिक जीवनको विकसित करती हुई प्रवाहित होती है ।

भगवत्कृपामें अपरोक्षानुभूतिजन्य भगवत्प्राप्ति ही प्रमाण है, जबकि प्रारब्धकी प्रामाणिकता संदिग्ध है, उद्योगके परिणाममें कोई निश्चित नियम नहीं है । एक ही परिणामको भाग्यवादी प्रारब्धका फल मानता है तो उद्योगवादी उद्योगका, जबकि भगवत्कृपाका निश्चित फल भगवत्प्राप्ति, तत्त्व-साक्षात्कार या मोक्ष है ।

भगवत्कृपा नैमित्तिक नहीं होती, अपितु वह भागवत-आनन्दका सतत-प्रवाही पावन प्रवाह है, परंतु प्रारब्ध सदा नैमित्तिक ही रहता है । प्रारब्ध पूर्व-कर्मोका परिणाम है और प्रारब्ध बनानेवाले सकाम कर्म बिना किसी निमित्तके हो ही नहीं सकते ।

भगवत्कृपा एक दर्शन है, भाव अर्थात् भावनात्मक वृत्तिमात्र नहीं । अतएव भक्तिदर्शनमें ह्लादिनी, संवेदिनी आदि भगवच्छक्तियोंका वर्णन है । श्रीमद्भागवतमें अनुकम्पाके इसी दर्शनके समीक्षण अर्थात् आलोचनके अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं; प्रतीक्षणके नहीं, किंतु इसके विपरीत प्रारब्धके लिये प्रतीक्षा आवश्यक है । अनेक बार तो जीवनके अनेक वर्ष अथवा सम्पूर्ण जीवन ही प्रतीक्षामें व्यतीत हो जाता है और जीवनका पुरुषार्थ निष्क्रिय प्रमाणित होता है । ऐसे लोग यही सोचते रह जाते हैं कि जब भाग्य जागेगा, तब अपने-आप ही सब ठीक हो जायगा । कुछ पुरुषार्थी लोग अपने भाग्यका परीक्षण भी करते हैं, परंतु उस परीक्षणमें पुरुषार्थ करना अनिवार्य होता है । पुरुषार्थ करते समय उन्हें अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, वे कठिनाइयाँ भगवत्कृपासे स्वतः दूर होती रहती हैं । उस समय पुरुषार्थशील व्यक्तिको चाहे भगवत्कृपाकी प्रतीति हो अथवा न हो, परंतु वह तो उसे सदा बढ़ावा ही देती रहती है ।

भगवत्कृपा तो हमारे आन्तरिक अस्तित्वकी सहवर्तिनी है । वह कहीं बाहरसे नहीं आती । वह हमारे अन्तर्जगत्की दार्शनिक विशेषता है । वह हममें ईश्वरके अंशभूत जीवके रूपमें कारण-कार्यभावसे व्याप्त है । गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

(मानस ७ । ११६ । १)

इसके विपरीत प्रारब्ध हमारे भौतिक अस्तित्वका एक क्षुद्र नियामक मात्र है । भगवत्कृपासे उसे पदच्युत, परिवर्तित या नष्ट भी किया जा सकता है[४] । वह हमारे अज्ञानके ही आवरणोंमेंसे एक है, जो हमारे स्वरूप-ज्ञान किंवा आत्मबोधकी दिशामें अनावश्यक एवं अत्यन्त हानिकारक विलम्ब उत्पन्न किया करता है ।

भारतीय संस्कृतिका एक संदेश है, जो हमें भगवत्कृपाकी छायामें सर्वदा व्यथाओंसे रहित होकर भाग्य अथवा प्रारब्धकी प्रतीक्षा किये बिना पुरुषार्थमय जीवनमें आगे बढ़ते रहनेके लिये प्रेरित करता रहता है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ।

(कठोप० १ । ३ । १४)

('अरे अविद्याग्रस्त लोगों !) उठो, (अज्ञान निद्रासे) जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो ।'

ऊपरकी प्रेरणामें पहले उत्थान और जागरणद्वारा पुरुषार्थ किंवा उद्योगका उपदेश है, तदनन्तर अनिश्चित भाग्यके सौभाग्यमें परिवर्तित हो जानेकी सम्भावनाका आशामय संकेत है और दोनोंमें संतुलनके लिये भगवान्की 'संधिनी' कृपाका पुट भी निहित है । वस्तुतः व्यथाओंके बीचमें भी व्यथाओंसे रहित होकर जीवित रहनेका दिव्य साहस केवल उसीके जीवनमें जागरित होता है, जो एक क्षणके लिये भी अपनेको भगवत्कृपाकी छायासे बाहर नहीं समझता ।

अतः भगवत्कृपाको प्रारब्ध समझना भूल है । भगवत्कृपा 'कृपा' ही है, जो प्राणिमात्रके लिये एक समान है और प्रारब्ध प्रारब्ध ही है, जो व्यक्ति-व्यक्तिमें भिन्न-भिन्न होता है ।

---

४. जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी ॥ (मानस १ । ६९ । ३)
मन्त्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥ (मानस १ । ३१ । ५)

देश-भक्ति और भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीहरिद्वामजी 'पारथ')

पारिभाषिक दृष्टिकोणसे अपनी भौगोलिक सीमाके आधार-पर अन्य भू-भागोंसे पृथक् किया हुआ, विशिष्ट संस्कृति, धर्म, सामाजिक व्यवस्था एवं शासन-प्रणालीसे युक्त भू-खण्ड देश कहलाता है। भक्तिका अर्थ है—उपासना, अनुरक्ति, सेवा, सम्मान, पूजा, श्रद्धा आदि। इस प्रकार देशकी उपासना, देशमें अनुरक्ति, देशकी सेवा, देशकी पूजा, देशके प्रति श्रद्धा आदि 'देश-भक्ति'के सामान्य अर्थ कहे जा सकते हैं।

देश-भक्तोंने भगवत्कृपाका सम्बल लेकर सदा ही देश-सेवा की है। देश-भक्त देशको ही अपना सर्वस्व मानते हैं। आदिकालसे भारतीय देश-भक्तोंने इस भू-भागको त्याग और तपसे इतना पावन बना डाला है कि सुर, नाग, किंनर आदि दिव्यलोकवासी भी यहाँ जन्म पाकर अपनेको धन्य समझते हैं; जिन्हें जन्म नहीं मिलता था, वे भारत-पुत्रोंपर भगवान्‌का अनुग्रह स्वीकार करते हुए कहते हैं—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥
(श्रीमद्भा० ५। १९। २१)

'अहा! जिन जीवोंने भारतवर्षमें भगवान्‌की सेवाके योग्य मनुष्य-जन्म प्राप्त किया है, उन्होंने कौन-सा श्रेष्ठ पुण्य किया है अथवा उनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं। इस परम सौभाग्यके लिये तो हम भी निरन्तर तरसते रहते हैं।'

देवताओंका किसी भू-भागपर जन्म लेनेके लिये लालायित होना उस देशपर भक्तवत्सला भगवत्कृपाका ही द्योतक है।

देश-भक्तोंकी मान्यता है—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्गसे भी श्रेष्ठ है।

परवर्ती कालमें विश्वके अनेक देशोंमें अपने-अपने देशको पितृ-देवके रूपमें माननेकी परम्परा प्रारम्भ हुई। बहुत-से देशोंमें देशकी भूमिको जननी मानकर मातृभूमिके रूपमें वन्दनीय माना गया। पितृभूमि या मातृभूमि देश-भक्तोंकी इष्ट हुआ करती थी। आधुनिक कालमें भी प्रायः उसी प्रकारकी मान्यताएँ पूर्ववत् चली आ रही हैं। 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव' (तैत्तिरीय० १। ११। २) आदि श्रुति-वाक्य मातृ-पितृ-भूमिको 'ईश्वर'के समक्ष लाकर खड़ा कर देते हैं। इस प्रकार देश-भक्ति प्रकारान्तरसे ईश-भक्ति अथवा भगवत्कृपा-याचनाके सदृश ही ठहरती है। इन मान्यताओंका आधार भगवत्कृपा ही मानी जाती है।

प्रत्येक देश-भक्तकी देश-भक्तिका अवलम्ब किसी-न-किसी रूपमें भगवत्कृपा ही रही है। विश्वकी वाक्-शक्तिको चुनौती देनेवाले महान् संत एवं देश-भक्त स्वामी विवेकानन्दजीका अन्तिम संदेश भी देश-वासियोंको यही संकेत देता है कि भगवान्‌की महती अनुकम्पासे ही देशकी आवश्यकताओंकी पूर्ति सम्भव है—

'शरीर नाशवान् है, परंतु आत्मा अमर है, उसका कार्य कभी नहीं रुकता। देशकी शेष इच्छाओंको आपलोग पूर्ण करें, भगवान् आपकी सहायता करेंगे।'

योगी अरविन्दको देश-सेवाकार्यके माध्यमसे ही भगवत्कृपाकी अनुभूति हुई। अलीपुर कारावासकी जनशून्य कालकोठरीमें बैठे क्रान्तिकारी अरविन्द विवशताकी हथकड़ियोंसे जकड़े हुए अपने हाथ ऊपर उठाकर प्रभुकी अप्रत्याशित कृपाकी याचना करते थे। उन्हें इस असह्य संकटमें निस्सहाय पुकारते हुए तीन दिन व्यतीत हो गये। भगवत्कृपाकी अहैतुकतामें विश्वासके चरण डगमगा ही रहे थे कि मानसिक संक्रान्तिके उस भयंकर अन्तर्द्वन्द्वका हृदय बेधती हुई एक अन्तर्ध्वनि गूँजती है—'ठहरो। देखो, क्या होता है।' वे किंचित् विचलित हुए कि उसी समय पुनः एक अन्तर्नाद प्रतिध्वनित हुआ—'तुम्हें सारे कार्य छोड़कर एकान्तवास करना है।' भगवत्कृपासे किसीने उन्हें भेंटस्वरूप गीता प्रदान की। सम्भवतः गीताके 'मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति' (७। ७) 'इस जगत्‌में मेरे अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है'—जैसे भगवद्वाक्य उनके मन-मस्तिष्कके अणु-अणुमें परिव्याप्त हो गये हों, तभी तो उन्हें पहरेदार तथा अन्य बंदी-गण—सभी वासुदेवस्वरूप दिखायी देने लगे। उन्होंने लिखा है—

'मैंने जेलके कैदियों, चोरों, हत्यारों और बदमाशोंकी ओर देखा, सब वासुदेव दिखायी पड़े। उन मलिन आत्माओं और अपव्यवहृत शरीरमें मुझे नारायण दीखे।' उन नारायणने

उन्हें जेलकी ही नहीं; आवागमनकी सीमाओंके भी पार मुक्त लोकमें प्रतिष्ठित कर दिया।

देशमें सामाजिक, धार्मिक एवं शैक्षिक क्रान्ति लानेवाले होनेके कारण जब कोई व्यक्ति महामना मालवीयजीकी प्रशंसा करता था, तब वे लोगोंको समझाते थे—'यह मेरा सामर्थ्य नहीं है। इसमें मैंने क्या किया है, यह सब तो उन भगवान् विश्वनाथजीकी कृपा है।'

राष्ट्रपिता महात्मा गांधीका जीवन देशकी स्वतन्त्रताके लिये संघर्ष करते बीता। विदेशी तो कष्ट देते ही थे, भारतीय भी जब उनका विरोध करते थे, तब कभी-कभी तो शरीर, मन एवं बुद्धि भी उनका साथ देनेसे नकार देते थे। ऐसी विषम परिस्थितिमें देशकी सेवाका व्रत कैसे निभ सका, इस विषयमें वे लिखते हैं—

'मैंने देखा है, जब सारी आशाएँ टूट जाती हैं, कुछ भी करते-धरते नहीं बनता; तब कहीं-न-कहींसे सहायता आ पहुँचती है।'

इस 'कहीं-न-कहींसे'का अन्तरङ्ग भाव भगवत्कृपा ही है।

देश-भक्त खुदीरामजीको फाँसीका आदेश हुआ। इतिहासके पृष्ठ इस बातके साक्षी हैं कि फाँसीके दिन भी वे अपने जीवनसे हताश नहीं थे। दैनिक व्यायामके पश्चात् नित्यकी भाँति ही उन्होंने ईश्वरकी आराधना की। श्रद्धालु दर्शकोंने उनसे प्रश्न किया—'क्या आपको अपनी मृत्युका दुःख नहीं है।' वे सदाकी भाँति हँसते हुए-से बोले—

'आपको यह भ्रम है कि मैं मरने जा रहा हूँ। मुझे मालूम है कि यह फाँसीका रस्सा नहीं है, यह उन जगदीश परमेश्वरकी कृपा-डोर है, जिसके सहारे मैं मृत्युको पारकर अमृत पीने जा रहा हूँ। क्या ये फिरंगी मुझे मार सकेंगे ?' कितना दृढ़ भगवद्विश्वास है! उनके उपर्युक्त वाक्योंसे स्पष्ट है कि वे देश-सेवा और भगवत्सेवामें किंचिन्मात्र भी भेद नहीं समझते थे। देश-सेवासे भगवत्प्राप्ति होती है, इसमें उनको तनिक भी संदेह नहीं था।

फाँसीके पूर्व नियमानुसार उनका वजन लिया गया। लोग आश्चर्यचकित थे, उनका वजन पहलेकी अपेक्षा कुछ बढ़ गया था।

आज देश-भक्त खुदीरामपर भगवत्कृपा बरस रही थी। लोगोंकी दृष्टिमें फाँसी भयावह मृत्यु थी, किंतु उनकी दृष्टिमें वह प्रभु-मिलनेका माध्यम था। धन्य!

देश-भक्त 'नेपोलियन'की माँ अपने पुत्रको वीरतापूर्ण उपदेश देते हुए कहा करती थी—

'फ्रांस देश ही तेरा पिता है। इसकी सेवा करना ही तेरा धर्म है, परमात्माकी कृपाका भरोसा कर कि वे तुझे अपने पिताकी सेवा करनेका सामर्थ्य प्रदान करें। मैं अपने पतिके मरणसे विधवा नहीं हूँ, यदि देशका विनाश हो गया तो मैं विधवा हो जाऊँगी, ईश्वर तेरी रक्षा करे।'

वाटर लूके युद्धमें पराजयके पश्चात् जिस समय नेपोलियनको सेन्ट हेलना-जैसे छोटे-से दुःखद टापूमें बंदीके रूपमें भेजा जा रहा था, उस समय वह फ्रांस देशको प्रणाम करते हुए अपने देश और भगवान्से कहता है—

'हे वीर फ्रांस! तुम्हें मेरा प्रणाम है। माता फ्रांस-भूमि! आज तुमसे विदा होता हूँ। हे परमात्मन्! यों ही मारना था तो क्यों तोपके एक गोलेसे ही मेरा काम तमाम न किया। क्यों इतने समरोंमेंसे मुझे बचा लाया; किंतु नहीं, यह तेरी असीम कृपा है कि बंदीके रूपमें ही सही, पर तूने मेरा समर्पण तो स्वीकार किया।'

'मुसोलनी' भी भगवत्कृपाको ही पहला साक्षी बनाकर अपने दलका घोषणा-पत्र प्रस्तुत करता है—

''हम परमात्मा तथा अपने पाँच लाख मृतकोंकी साक्षीसे कहते हैं कि हमको केवल एक ही कारण प्रेरित करता है, हमारे अंदर केवल एक ही भाव जाग्रत् है कि 'हे परमात्मन्! तेरी कृपासे हमारे देशका महत्त्व बढ़े और उसकी रक्षा हो।''

वह पार्लियामेंटको दी गयी चेतावनीमें भी भगवत्कृपाकी माँग करते हुए कहता है—

'हमारी सरकारकी विचित्र रचना राष्ट्रका अन्तरात्मा है, हमारी पितृ-भूमि एक सूत्रमें बँधी हुई है—हमको बात न कर देशकी समृद्धि और प्रतिष्ठाके लिये शुद्ध हृदयसे कार्य करना चाहिये। परमात्मा कठोर परिश्रमसे उत्तम परिणाम निकलनेमें सहायता दें।'

विश्वविजयकी महत्त्वाकाङ्क्षासे भरा हुआ 'हिटलर' तूफानी दलपर गोली-वर्षामें स्वयं घायल हुआ। गोली चलानेवाले सिपाहीद्वारा पकड़ा जानेपर मुकदमेमें इतिहासको ही देवता मानकर उसकी कृपाका भरोसा रखते हुए उसके अन्तमें कहता है—

'········सत्य और कानूनका देवता इतिहास जिस फैसलेको फाड़कर फेंकते समय मुस्कुरायेगा, उस समय

वह हम सबको निर्दोष और कर्तव्यपरायण ही घोषित करेगा। यदि ईश्वर है तो वह न्याय करनेकी कृपा अवश्य करेगा।'

विश्वके महान् दार्शनिक सुकरात, जो एक छोटे-से राज्य 'एथेन्स'की धार्मिक उन्नतिके लिये मृत्युदण्डसे भी भयभीत न हुए। इस निर्भीकताका कारण भगवत्कृपा ही थी, जिसकी अनुभूति करानेके लिये वे दण्डदाता न्यायाधीशोंसे कहते हैं—

'…मेरे न्यायाधीशो! तुम भी अपनी मृत्युका हिम्मतके साथ सामना करना और इस सत्यमें विश्वास रखना कि सच्चे मनुष्यका इस जन्ममें या उसकी मृत्युके बाद कभी अहित नहीं होता। ईश्वर उसकी सचाईका पुरस्कार दिये बिना नहीं रहेगा। जीवन श्रेयस्कर है या मृत्यु, यह तो ईश्वर, केवल ईश्वर ही जानता है।'

इस प्रकार अतीतसे वर्तमानतक देश-भक्तिके मार्गपर निर्भीकतापूर्वक चले आ रहे देश-भक्तोंपर यदि हम दृष्टिपात करें तो हमें अगणित पथिक भगवत्कृपाका पाथेय लिये हुए यात्रारत मिल सकते हैं, अनेक देश-भक्त अपनी यात्रा पूरी कर पदचिह्न छोड़ भगवत्कृपालीन हुए मिल सकते हैं। पृथ्वीराज चौहान, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, रानी लक्ष्मीबाई, नेताजी सुभाषचन्द्र, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह आदि विदेशियोंमें इब्राहिम लिंकन आदिके संस्मरणोंमें इन सबकी देश-भक्तिपरक प्रत्येक क्रिया भगवत्कृपा-जनित एवं भगवत्कृपाके अधीन ही देखनेमें आती है। एक सैनिक अपने अन्तिम श्वासके हिचकोलोंमें भगवान्‌की कृपाकी ही भिक्षा माँगता है—

ईश्वर तेरी अमित कृपा जो दिया जन्म इस देशमें।
तेरी अनुकम्पा है मेरे इस अन्तिम संदेशमें॥
बहुत अनुग्रह किया, और इतना कर देना मेरे नाथ!
जड़ चेतन कुछ भी करना पर देना जन्म स्वदेशमें॥

कृपा-अवलम्ब

क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है।
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुःखहर्त्री है,
भयनिवारिणी, शान्तिकारिणी, सुखकर्त्री है।
हे शरणदायिनी देवि! तू करती सबका त्राण है,
हे मातृभूमि! संतान हम तू जननी, तू प्राण है॥ १॥

मृतक समान अशक्त विवश आँखोंको मीचे,
गिरता हुआ विलोक गर्भसे हमको नीचे।
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अङ्कमें त्राण किया था।
जो जननीका भी सर्वदा थी पालन करती रही,
तू क्यों न हमारी पूज्य हो, मातृभूमि, मातामही!॥ २॥

—राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरण गुप्त

लोकसंग्रह और भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीवाल्मीकिप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, एम्०एड्०)

बाबाके वेषमें मानो वह मूर्तिमान् करुणा-रस ही था। सरयूके सुन्दर पुलिनमें झाऊकी झाड़ियोंमें बैठे, धार-धार आँसू बहाते वे तप्तकाञ्चन-गौराङ्ग रामानन्दी साधु तारस्वरसे पुकार रहे थे—'राम-राम-राम।' पुलिन-प्रान्तकी नील-रेणुको अञ्जलिमें भरकर, नमनकर, श्रद्धासे निहारने लगे थे वे। नील ज्योति पुञ्जीभूत हुई और प्रकट हो गये उस प्रभा-पुञ्जसे उनके आराध्य, नील-सुन्दर, भक्त-उर-चन्दन श्रीरघुनन्दन। बाबाका वक्षःस्थल निर्झरित अश्रु-बिन्दुओंसे भीग चुका था। वे आत्माभिव्यक्ति प्रस्तुत कर रहे थे—

सकल अंग पद बिमुख नाथ मुख नामकी ओट लई है।
है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामई है॥
(विनयप० १७०।७)

नव-दूर्वादल-श्याम श्रीरामके कोमल करकमल अश्रु-प्रोक्षण कर रहे थे, सात्त्विक रोमाञ्चके पश्चात् एक समाधिकी-सी स्थिति आ चुकी थी, बाबा सर्वथा शान्त, निष्पन्द थे। नेत्र खुले, आराध्य अन्तर्धान हो चुके थे; किंतु उनके वे करुणापूरित कमलदलनयन अब भी झूम रहे थे बाबा तुलसीके नेत्रोंमें। अपने पञ्चवटी-निवास-कुटीरसे गोस्वामिपाद आज अकेले ही यहाँ आकर बैठ गये थे। चिदाकाशमें आराध्यका पावन प्रकाश उन्हें यों ही प्रायः धन्य करता रहता; किंतु बाबा तुलसी तो अब भी प्यासे थे। विद्यापतिने ठीक ही तो गाया है—

'जनम अवधि हम रूप निहारेल, नयन न तिरपित भेल।'
(विद्यापति-पदावली ८३५।२)

बाबा पुनः मुखरित हुए और गा उठे—

नाथ कृपाहीको पंथ चितवत दीन हौं दिन-राति।
होइ धौं केहि काल दीनदयालु ! जानि न जाति॥
(विनयप० २२१।१)

'बाबा ! कृपाके पंथको यहाँ बैठे-बैठे जोहते रहनेकी अपेक्षा क्या यह उत्तम नहीं होगा कि उसके पथमें आप स्वयं चल पड़ें ! कौन जाने कृपा-भगवतीसे बीच राहमें ही भेंट हो जाय।' प्रश्न था एक किशोरका। पता नहीं वह कहाँसे आकर कब उनके सामने बैठ गया था !

'मेरे प्रभुकी कृपा-भगवतीके आगमनका कोई मार्ग निश्चित हो तो यह भी करूँ, भैया। साधनों, अनुष्ठानों एवं गुणोंके बन्धन कब बाँध पाये हैं उन कृपासिन्धुको ! सती-शिरोमणि माँसे मिलनेके पूर्व पतित-पाषाणीका उद्धार, गुरु अगस्त्यसे भी पहले शिष्य सुतीक्ष्णपर कृपा क्या यह नहीं व्यक्त करती कि उसके पदार्पणका कोई निश्चित पथ नहीं ?'

'तो क्या इस प्रकार कृपाका अवलम्ब लेकर बैठ जाना निष्क्रियता, नैराश्य एवं निठल्लेपनको प्रश्रय नहीं देगा ! व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्रके जीवनमें क्या प्रमादकी प्रतिष्ठा ही इस दर्शनका उद्देश्य नहीं होगा ? क्या आपके महाकाव्यका यही संदेश है ? अन्ततः लोकसंग्रहका क्या होगा, बाबा ?' वह किशोर प्रश्न-पर-प्रश्न प्रस्तुत किये जा रहा था। तुलसी बाबा अब मुस्कुरा उठे, बोले—"उथले पुरुषार्थवादके उद्घोषकोंकी सृष्टि अवश्य ही प्रथम दृष्टिमें कुछ ऐसा ही निर्णय ले सकती है। मुझपर ये आक्षेप कुछ नये नहीं हैं—

'तुलसीके इस कृपा-दर्शन (दैन्य मार्ग या प्रपत्ति-पथ)-ने ही व्यक्ति और समाजको पतनके गर्तमें डाला है। यह काठकी माला पहननेवाला कर्मके रहस्यको क्या समझेगा ?'

वेदान्तवेत्ताओंने भी कुछ ऐसी ही मिलती-जुलती बात कही—

'निरन्तर आँसू बहाते रहनेवाला यह वेदान्ततत्त्वको क्या समझेगा ?' इस प्रकार कहते हुए कर्म, ज्ञान एवं उपासनाके मर्मज्ञोंने न जाने कबसे मुझे अपनी-अपनी पङ्क्तियोंसे निष्कासित कर रखा है ! और भक्तोंके लक्षण स्वयंमें न पाकर मैं उनकी पङ्क्तिमें गया ही नहीं। फिर भी मेरे प्रभुने मुझे स्वीकार लिया।" बाबा भावाभिभूत थे।

'प्रपन्नके जीवनमें प्रारब्ध या नियति-जैसी कोई वस्तु नहीं होती, उसके लिये तो प्रत्येक घटना उसके अपने श्रीरामकी रचना या प्रसाद है; किंतु यह कोई ऐसा सिद्धान्त-दर्शन नहीं है, जो विचार, तर्क एवं पुरुषार्थका सर्वथा निषेध करता हो। श्रीशिवने सतीको समझानेका सभी विधाओंसे प्रयास किया था, उसमें तर्क, चेतावनी और व्यंग्य—सभी कुछ तो था; किंतु इतना होनेपर भी सती अपने ही पथपर चलीं। अन्ततोगत्वा शिवजीने इसे अपने आराध्यकी रचना ही कहा—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा।·······················॥
अस कहि लगे जपन हरिनामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा॥
(मानस १।५१।४)

घटनाएँ अत्यन्त यान्त्रिक-क्रमसे घटती गयीं और शिवजीने इस अपरिहार्य घटना-चक्रको 'श्रीराममायाके' रूपमें स्वीकार कर सिर झुका दिया—

बहुरि राम मायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहिं झूँठ कहावा॥
हरि इच्छा भावी बलवाना। हृदय बिचारत संभु सुजाना॥
(मानस १।५५।३)

पुरुषार्थ-पराभवके क्षणोंमे 'रामकृपा'की यह स्वीकृति अत्यन्त मनोवैज्ञानिक संदेश देती है। वह हमें समग्र निराशासे बचा लेती है; हम घोषणा कर देते हैं—

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः।
नान्यत् किंचिद् विजानामि त्वमेव शरणं मम॥

'हे नाथ! मेरी बुद्धि अत्यन्त कुण्ठित हो गयी, सारी युक्तियाँ समाप्त हो गयीं और मैं अन्य कुछ जानता नहीं; अतः केवल आप ही मेरे रक्षक हैं।'

प्रपन्नका यह नेत्र-निमीलन उसे एक दिव्य उत्साहसे भर देता है।

निःसाधनताका साधन कर्तृत्वकी समस्त सीमाओंकी समाप्तिके पश्चात् प्रारम्भ होता है। बुद्धिसे जितना सोचा जा सकता है, उतना सोच लिये जानेके पश्चात् तथा शरीरसे जितना किया जा सकता है, उतना करके थक जानेपर जब सहज शून्यता (निःसंकल्पता)का उदय हो जाता है, तभी प्रभुके कृपा-साम्राज्यकी सीमामें पदन्यासका अधिकार प्रारम्भ होता है—

नागराज निज बल बिचारि हिय, हारि चरन चित दीन्हों।
आरत-गिरा सुनत खगपति तजि, चलत बिलम्ब न कीन्हों॥
दितिसुत-त्रास-त्रसित निसिदिन प्रहलाद प्रतिग्या राखी।
अतुलित बल मृगराज-मनुज-तनु दनुज हत्यो श्रुति साखी॥
भूप-सदसि सब नृप बिलोकि प्रभु, राखु कह्यो नर नारी।
बसन पूरि, अरि-दरप दूरि करि, भूरि-कृपा दनुजारी॥
(विनयप० ९३। १–४)

तुलसीबाबा एक विशिष्ट भाव-वीथिकामें विचरण कर रहे थे और श्रोता किशोर मन्त्रमुग्ध था। बाबा खिलखिलाकर हँस उठे, पर उनके दोनों नेत्र सजल हो गये थे।

'क्या निहार रहे हैं आप?' किशोरने प्रश्न किया।

'बड़ा दिव्य दृश्य है, भैया!' बाबाने उत्तर दिया। 'मिथिलाधिराजकी पुष्प-वाटिकामे श्रीराजकिशोरी भगवती सीताकी एक प्रिय सखी प्रेम-विह्वल होकर एक वृक्षके आश्रयसे खड़ी है, उसके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु झर रहे हैं। भवानीकी पूजन-वेलामे वह सम्भवतः मिथिलेशनन्दिनीके साथ नहीं थी। वह बीच बीचमे खिल-खिला पड़ती है'—

तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नैन।
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन॥
(मानस १। २२८)

'प्राण-सखि! तुम्हारी यह स्थिति कैसे हुई?'
'अयोध्यानरेशके राजकुमार वाटिकामे पुष्प-चयन कर रहे हैं, मैंने उन्हे निहारा है, मैं पुनः उधर ही चली।' यों कहकर वह प्रायः दौड़नेवाली ही थी कि एक सहेलीने उसे पकड़ लिया। 'तुम रो क्यों रही हो?' सहेलीके प्रश्नपर सखी बोली—'यदि तुम्हें यथारुचि अमृत-रसका कोई दानी मिल जाय तो क्या खारे जलका कलश रिक्त नहीं कर लोगी?' 'क्या तात्पर्य, मैं समझ नहीं पायी।' सहेलीने जिज्ञासा व्यक्त की। 'देखो हमारे ये दोनों नेत्र हैं कलश और वह रूप है अमृत-रस, उसे भरनेके लिये खारे जलसे भरे इन कलशोंको रिक्त तो करना ही होगा।' गीत फूट पड़ा—

'नेकु सुमुखि, चित लाइ चितौ री।
साँवर-रूप-सुधा भरिबे कहँ, नयन कमल कल कलस रितौ री।'
(गीतावली १। ७७। १-२)

'दृश्य लुप्त हो गया, मैया।' बाबाने मानो जागते हुए-से कहा और आगे बोले—'ठीक है, ठीक है, हमारे नेत्रोंके इन कलशोंमें जबतक साधनाके कर्तृत्वका अहंकाररूप खारा जल भरा रहेगा, तबतक वह श्याम-सुधारस कैसे भर पायेगा इनमें? निस्साधनका साधन, आत्यन्तिक दैन्य, अहं-शून्यता ही हमें कृपाके अमृतरसकी आस्वाद-पात्रता देगी।' बाबा पुनः भाव-विह्वल हो रो उठे—

माधव! मो समान जग माहीं।
सब बिधि हीन मलीन दीन अति लीन बिषय कोउ नाहीं॥
तुम सम हेतु रहित कृपालु आरतहित ईस न त्यागी।
मैं दुख-सोक बिकल कृपाल केहिं कारन दया न लागी॥
(विनयप० ११४। १२)

जब लगि मैं न दीन, दयालु तैं, मैं न दास तैं स्वामी।
तब लगि जो दुख सहेउँ कहेउँ नहिं जद्यपि अंतरयामी॥
(विनयप० ११३। २)

सम्मुख अवस्थित श्रोता किशोर भी सजलनयन हो रहा था। 'नाथ! तुम्हीं श्रोता और तुम्हीं वक्ता हो, तुम्हीं जिज्ञासा और तुम्हीं समाधान हो' कहते हुए बाबाने किशोर कुँवरके चरणोंमे सिर रख दिया। दृश्य परिवर्तित हो गया—किशोरके स्थानपर साक्षात् कौशल-किशोर प्रकट थे। नील-नीरद वरद वपुष्, भुवनाभरण, कुञ्चित-काली अलकें, अरुण अधर, नवल-नीरज नयन, भालमें केसर-खौर और सिरपर किरीट। अपने कोमल करोंसे बाबाके नयनाश्रु पोंछ रहे थे रघुवंश-विभूषण। अधर-पल्लव हिले और बोल उठे करुणा-निधान—

'जहाँ कृपाका समग्र आश्रयण है, वहीं समर्पणकी पूर्णता है; जहाँ जितना पूर्ण समर्पण है, वहाँ उतना ही मेरा अधिकार-क्षेत्र है। ऐसे कृपापथके पथिकके द्वारा जो कुछ भी होता है, वह लोकसंग्रहका दिव्य प्रतीक होता है।'

संस्कृत-साहित्यमें भगवत्कृपा

(लेखक—पं० श्रीभगवतीशरणजी शास्त्री)

अकारणकरुणावरुणालय परमात्माकी कृपाशक्ति अघटित-घटना-पटीयसी, सर्वसमर्था और परमाह्लादकारिणी है। जैसे चन्द्रकी मृदु, मञ्जुल रश्मि-राशिसे चराचर जगत् प्रकाशित, विकसित एवं आह्लादित होता है, वैसी ही दशा परमेश्वरकी कृपा-रश्मिको पाकर अखिल ब्रह्माण्डकी हो रही है। प्राणि-पदार्थमात्रपर भगवत्कृपा सदैव बरसती रहती है। जहाँ-जहाँ, जब-जब, जिस किसी प्रकारका विकास एवं प्रकाश देखा गया है, वह सब भगवत्कृपाका ही दिव्य चमत्कार है। यह भगवत्कृपा परमात्माके समान ही विश्वव्यापिनी एवं विश्वकल्याणकारिणी है।

भारतीय वाङ्मयमें—चाहे वह आध्यात्मिक हो अथवा लोकरञ्जक, भगवत्कृपाका वर्णन प्रायः सर्वत्र देखनेको मिलता है। संस्कृत-काव्य-रचनामें तो भगवत्कृपाशक्तिका सर्वोच्च स्थान है। इतना ही नहीं, यही समस्त सनातन काव्योंका बीज है। कालिदास, भारवि, भवभूति, माघ आदि जितने महाकवि हुए हैं, वे सब अपने-अपने काव्यप्रासादका आधार भगवत्कृपाको ही मानते हैं। संस्कृत-साहित्यकी काव्यरूपा प्रवहमाना रसधाराका समुद्गम-स्रोत भगवत्कृपा ही है। व्याधके बाणसे संविद्ध व्यथित विहंगकी दीनदशाको देखकर आदिकवि वाल्मीकिके हृदयको द्रवित करती हुई दया ही सुन्दर काव्यरूपसे प्रकट होती है—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥
(वा० रा० १। २। १५)

'निषाद! तुम्हे अनन्त वर्षोंतक प्रतिष्ठा न मिले; क्योंकि तुमने इस काममोहित क्रौञ्चके जोडेमेसे निरपराध एकको हत्या कर डाली।' यह संस्कृत-काव्यका कृपाभावपूर्ण सर्वप्रथम पद्य है। इस प्रकार संस्कृत-साहित्यमे कविताका मूलभूत स्रोत कृपा ही है।

कवि धावकने भगवत्कृपाश्रयिणी कविताद्वारा राजा हर्षसे प्रचुर धन प्राप्त किया था।

महाकवि कालिदास 'रघुवंश' महाकाव्यमें भगवत्कृपाका वर्णन (सुरसमूहद्वारा किये गये श्रीविष्णुभगवान्‌के स्तोत्रके माध्यमसे) करते हुए कहते हैं—

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः॥
(१०। ३१)

'हे भगवन्! विश्वमें ऐसा कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, जो आपको प्राप्त न हो। अजन्मा एवं अकर्ता होते हुए कर्म करनेके लिये आप जन्म लेते हैं। आपके जन्म और कर्मोंका कारण केवल चौदह भुवनोंपर कृपा करना ही है अर्थात् संसारमें जीवोंका जन्म पुरातन कर्म-फलको भोगने एवं नूतन कर्म करनेके लिये होता है; परंतु आपके जन्म-कर्ममें ये कारण नहीं हैं। केवल प्राणिमात्रके कल्याणके लिये ही आप अवतार लेते हैं।'

भगवत्कृपासे रोगनिवृत्तिका वर्णन भी संस्कृत-साहित्यमें हुआ है। कवि 'मयूर' अपने 'सूर्यशतक' नामक स्तोत्रद्वारा भगवान् सूर्यकी प्रार्थना करके उनकी कृपासे ही कुष्ठरोगसे मुक्त हुए। कविको दुर्लभ कवित्व-शक्ति प्रभु-कृपासे ही प्राप्त होती है। काव्य-प्रकाशके सुधासागर टीका (१। ३)मे कहा गया है—'देवप्रसादाद् वा।' कवियोंकी काव्यकृति भगवत्कृपासे ओतप्रोत है।

महाकवि भारविकृत 'किरातार्जुनीय' महाकाव्यमें अर्जुनके प्रति भगवान् शंकरकी कृपाका वर्णन मिलता है। तपश्चर्यामें संलग्न वीर तपस्वी अर्जुन भगवान् शंकरसे प्रार्थना करते हैं—

शरणं भवन्तमतिकारुणिकं भव भक्तिगम्यमधिगम्य जनाः।
जितमृत्यवोऽजित भवन्ति भये ससुरासुरस्य जगतः शरणम्॥
(१८। २२)

'हे अजित शंकर! आप कृपास्वरूप हैं। भयके अवसरपर आप दैत्य, दानव, मानव एवं निखिल जगत्‌के एकमात्र शरण्य हैं। भक्त भक्तिके द्वारा शरणस्वरूप आपको प्राप्तकर मृत्युपर विजय प्राप्त करते हैं। इस दुर्जय मृत्युको जीतना, केवल आपकी कृपासे ही सम्भव है।'

संसेवन्ते दानशीला विमुक्त्यै सम्पश्यन्तो जन्मदुःखं पुमांसः।
यन्निःसङ्गस्त्वं फलस्यानतेभ्यस्तत्कारुण्यं केवलं न स्वकार्यम्॥
(किरात० १८। २४)

'बड़े-बड़े दानशील महापुरुष दानादिद्वारा आपको प्रसन्न कर जन्मादि दुःसह दुःखोंसे मुक्त होते हैं, इसमे कोई आश्चर्य नहीं है; परंतु जिनके पास कोई साधन नहीं, कोई

आश्रय नहीं, कोई भी बल नहीं—ऐसे निःसाधन निराश्रयी निर्बलोंको आप केवल नमस्कारमात्रसे प्रसन्न होकर जन्मादि दुःखोंसे निवृत्त कर देते हैं, यह तो केवल आपकी कृपा ही है।'

अब दीन-दुःखियोंपर भगवत्कृपाका उदाहरण भी देखिये—

सन्निबद्धमपहर्तुमहार्यं भूरि दुर्गतिभयं भुवनानाम्।
अद्भुताकृतिमिमामतिमायस्त्वं बिभर्षि करुणामय मायाम्॥
(किरात० १८। ३०)

'हे करुणामय! अपने कर्मोंके सुदृढ़ बन्धनोंसे बद्ध होनेके कारण अपने दुष्कर्मजनित नानाविध नारकीय भयोंको मिटानेमें असमर्थ दीन-दुःखियोंके दुःखोंको देखकर उन्हें दुःखोंसे मुक्त करनेके लिये आप मायातीत होते हुए भी अपनी मायासे अवतार धारण करते हैं, यह जीवोंपर आपकी अहैतुकी कृपा ही है।'

भगवत्कृपाका यथार्थ रहस्य समझनेवाले पुरुष समस्त क्रिया-कलाप प्रभुकी प्रेरणा, इच्छा और कृपा-शक्तिसे ही सम्पन्न हुआ मानते हैं।

महाकवि माघने 'शिशुपालवध' नामक महाकाव्यमें महाराज युधिष्ठिरके मुखसे इस रहस्यका उद्घाटन करवाया है—

सप्ततन्तुमधिगन्तुमिच्छतः कुर्वनुग्रहमनुज्ञया मम।
मूलतामुपगते प्रभो त्वयि प्रापि धर्ममयवृक्षता मया॥
(१४। ६)

'हे भगवन्! मुझ यज्ञेच्छुको यज्ञ करनेकी आज्ञा प्रदान करनेका अनुग्रह करें। धर्मरूप वृक्षके मूलभूत आपकी कृपासे ही मैं धर्मराज पदको प्राप्त हुआ हूँ।' इसलिये—

किं विधेयमनया विधीयतां त्वत्प्रसादजितयार्थसम्पदा।
शाधि शासक जगत्त्रयस्य मामाश्रवोऽस्मि भवतः सहानुजः॥
(शिशु० १४। ११)

'आपकी कृपासे प्राप्त इस धन-सम्पत्तद्वारा मुझे क्या करना है, कृपापूर्वक आप ही निर्देश करें। आप तीनों लोकोंके शासक हैं। कृपया मुझे भी शिक्षा दीजिये। हम सबान्धव आपके आज्ञाकारी हैं।'

भक्त अपने प्रभुके गुण, प्रभाव, तत्त्व आदिका यत्किञ्चित् रहस्य समझकर आनन्द-सागरमें निमग्न हो जाता है।

महाकवि भवभूति अपने 'महावीरचरित'मे भगवान् श्रीरामके स्वभावका वर्णन करते हुए कहते हैं—

क्षमायाः स क्षेत्रं गुणमणिगणानामपि खनिः
प्रपन्नानां मूर्तः सुकृतपरिपाको जनिमताम्।
कृपारामो रामः........................
(७। ३३)

'भगवान् श्रीराम क्षमाके क्षेत्र, गुणगणमणियोंके आकर, शरणागत जीवोंके सुकृत-फलोंकी प्रत्यक्ष प्रतिमा एवं कृपाके उद्यान हैं।'

यद्यपि प्रपन्न कभी दुराचारी नहीं होता, परंतु 'दैन्य' उसका एक अभिन्न गुण होता है। दीनता और प्रपन्नता पर्यायवाची शब्द न होते हुए भी भक्ति-जगत्‌में 'पर्याय' कहे जा सकते हैं। इसी 'दैन्य'की अभिव्यक्ति कविकुलतिलक शिवभक्त जगद्धर भट्टकृत 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि'में हुई है—

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम्।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः॥
(११। ३८)

'हे नाथ! यद्यपि मैं अपने कुकृत्योंके कारण नीच गतिको प्राप्त हो गया हूँ, तथापि आप उसी प्रकार मेरी उपेक्षा नहीं कर सकते, जैसे उद्धत-कामान्ध पशुके कुएँमें गिर जानेपर भी कारुणिक जन उसकी उपेक्षा नहीं करते।'

आ. किं न रक्षसि नयत्ययमन्तको मां
हेलावलेपसमयः किमयं महेश।
मा नाम भूत्करुणया हृदयस्य पीडा
व्रीडापि नास्ति शरणागतमुज्झतस्ते॥
(स्तुतिकु० ११। १०२)

'देवाधिदेव शंकर! यह यमराज मुझे लिये जा रहा है। हाय! ऐसी विपत्तिमें भी आप मेरी रक्षा क्यों नहीं कर रहे हैं? क्या यह उपेक्षा करनेका समय है? क्या मेरी इस दीन दशाको

देखकर आपके हृदयमे पीड़ा नहीं हो रही है एवं मुझ शरणागतका त्याग करते हुए क्या आपको लज्जा नहीं आ रही है ?'

आत्मीयताके नाते भक्तकी भगवान्‌पर पूर्ण निर्भरता है। कैसी मधुमयी प्रीति है, कैसा अपनत्वभरा उपालम्भ है!—

अज्ञोऽसि किं किमबलोऽसि किमाकुलोऽसि
व्यग्रोऽसि किं किमघृणोऽसि किमक्षमोऽसि।
निद्रालसः किमसि किं मदघूर्णितोऽसि
क्रन्दन्तमन्तकभयार्तमुपेक्षसे यत्॥
(स्तुतिकु० ११। १०२)

'क्या आप अज्ञ, निर्बल, आकुल, व्यग्र, दयारहित अथवा असमर्थ हैं? क्या आप निद्रामें सो रहे हैं या मदसे उन्मत्त हो गये हैं? मृत्युके भयसे जो कातर करुणक्रन्दन करते हुए मुझ असहायकी उपेक्षा कर रहे हैं?' यहाँ कविका काव्य करुणा-रसके एक सुन्दर स्तोत्रके रूपमे निर्मित हुआ है।

रसिक भक्त तो जड-चेतन चराचरमात्रको प्रभुका साक्षात् स्वरूप एवं चेष्टा (क्रिया) मात्रको उनकी मधुर लीला समझकर प्रतिक्षण आनन्दित होते रहते हैं। उनके प्रभु ही प्रत्येक रूप और प्रत्येक रङ्गमे क्रीड़ा करते हैं। ऐसे ही भक्तोमेसे एक श्रीरूपगोस्वामी 'विदग्ध-माधव' नाटकमे लिखते हैं—

प्रपन्नमधुरोदयः स्फुरदमन्दवृन्दाटवी-
निकुञ्जमयमण्डपप्रकरमध्यबद्धस्थितिः।
निरङ्कुशकृपाम्बुधिर्व्रजविहाररज्यन्मनाः
सनातनतनुः सदा मयि तनोतु तुष्टिं प्रभुः॥
(१। ७)

'शरणागत प्राणियोके मृदु मधुर कल्याणका उदय करनेवाले, वृन्दावनके निकुञ्ज-मण्डप-मण्डलके मध्य अवस्थित, निरङ्कुश, अगाध कृपाके समुद्र, नित्यलीलाविग्रह, प्रभु श्रीकृष्ण मुझपर सदा कृपाप्रसादका विस्तार करें।'

कविकुलल्लाम भक्त जीवगोस्वामीके काव्यमे कृपा-करुणाकी सुललित लहरें उमड़ रही हैं। आइये, कुछ स्थलोंका अवलोकन करें। इन्द्रके त्राससे संत्रस्त गोपोके प्रति श्रीकृष्णके वचनोंमें कृपाका कैसा विलक्षण भाव भरा है—

इन्द्रो यदि महावृष्टिं नष्टसृष्टिं तनिष्यति।
तदङ्गीकारिगिरिराट् कृपां साङ्गीकरिष्यति॥
(गोपालच० पू० १८। १०१)

'यदि इन्द्र प्रलयकारिणी वृष्टिद्वारा सृष्टिको नष्ट करनेपर तुल जायँगे तो उसे अङ्गीकार करनेवाले गिरिराज गोवर्धन कृपापूर्वक (सारा जल) अपने अङ्गोंमें ही विलीन कर लेंगे।'

ऐसा ही श्रीकृष्णाभिषेककी प्रतीक्षामें इन्द्रके प्रति सुरभिका कृपापूर्ण वचन है—

श्रीगोवर्धनशैलरत्नदृषदि प्रक्षिप्तशुभ्रास्तरे
वामोरुस्थितकञ्जचारुचरणे सव्यं करं दक्षिणे।
न्यस्यन्नन्यमपूर्वरूपमुरलीनाले मनागत्र नः
स्मेरेणाक्षितटेन संदधदहो मन्ये कृपां वर्षति॥
(गोपालच० पू० १९। ३२)

'श्रीगोवर्धनकी रत्नशिलापर श्वेतासनासीन श्रीकृष्ण अपने वाम ऊरुस्थ कमलसे भी अति सुकोमल दक्षिण चरणपर अपना बायाँ कर-कमल रख दक्षिण करको अपूर्व रूप-राशि मुरलीके छिद्रपर रखते हुए अपनी प्रेममयी चितवनसे हम सभीका चितवन करते हैं, मानो उनकी कृपाका अभिवर्षण हो रहा है।' क्या ही दिव्यकृपाकी छटा है!

यस्मिन् स्वयमपराधी नमति रहस्तं सहायनिर्विण्णः।
कृपयति सा जनमात्रं दैन्यावस्था महाजनं किमुत॥
(गोपालच० पू० १९। ३५)

'अपराधी यदि निःसहाय हो दीनभावसे उस व्यक्ति-की जिसके प्रति उसने अपराध किया है, शरण ग्रहण कर लेता है तो उसकी दीनता उसे उस व्यक्तिका कृपा-पात्र बना देती है। ऐसा व्यक्ति यदि कोई महापुरुष हो तो फिर क्या कहना है! क्योंकि महापुरुष स्वभावसे ही दयालु होते हैं।' श्रीकृष्ण ऐसे महापुरुष हैं कि इन्द्र तुम्हारी दीनता ही तुमको श्रीकृपाका पात्र बना देगी। श्रीकृष्ण तो महादयालु हैं, उनकी कृपा-राशि-रश्मिके सामने अपराधरूप अन्धकार नहीं रह सकता।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्यमे भगवदनुग्रहानुगृहीत कृपादर्शी कवियोने भगवत्कृपाका सुन्दर उल्लेख कर अपनी लेखनीको सफल किया है।

संस्कृत-नाटकोंमें भगवत्कृपा

[श्रीरामावतार एवं श्रीकृष्णावतारके परिप्रेक्ष्यमें]

(लेखक—श्रीबापूलालजी आंजना)

अवतारवाद हिंदू-धर्मका एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। महाभारत, रामायण, गीता, पुराणों एवं पञ्चरात्रसंहिताओंमें इसकी चर्चा विस्तारसे की गयी है।

भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णके चरितको लेकर अनेक संस्कृत-नाटकोंकी रचना हुई है। इन नाटकोंमे उनके अवतारी रूपका वर्णन किया गया है।

श्रीरामावतार

भास, भवभूति, मुरारि और राजशेखरके नाटकोंमे श्रीरामको भगवान् विष्णुका अवतार माना गया है तथा उनके प्रति नाटककारोंकी उत्कृष्ट भक्तिभावना प्रकट हुई है। 'भास'के 'प्रतिमा' नाटकमे रावण श्रीरामके ईश्वररूपका स्मरण करता है—

अहो बलमहो वीर्यमहो सत्त्वमहो जव।
राम इत्यक्षरैरल्पैः स्थाने व्याप्तमिदं जगत्॥

(५। १४)

'श्रीरामके बल, पराक्रम, सत्त्व और वेग—सभी आश्चर्यजनक हैं। 'राम'—इन दो अक्षरोंसे जो यह सारा जगत् व्याप्त है, यह युक्त ही है।'

'भास'ने कई पात्रोंके मुखसे श्रीरामकी परमेश्वरताका कथन करवाया है (अभिषेक ४। १३-१४। ६; ३०। ३१)। श्रीराम सबके कारण होते हुए भी कार्यार्थीके रूपमें उपस्थित हुए हैं—

मानुषं रूपमास्थाय चक्रशार्ङ्गगदाधरः।
स्वयं कारणभूतः सन् कार्यार्थी समुपागतः॥

(अभिषेक ४। १४)

'भवभूति'के श्रीराम धर्मद्रोहियोंका दमन करनेवाले हैं(महावीरचरित १। ६)।

'शक्तिभद्र'के 'आश्चर्यचूडामणि' नाटकमे श्रीराम 'भुवनसंहरणोदय—कारण हरि' के रूपमे सस्तुत है (४। ७)। संसारकी रक्षाके लिये ही उन्होने मनुष्यरूपमे अवतार लिया है।

'राजशेखर'ने 'अपने बालरामायण' नाटकमे उन्हें—'सप्तमो **वैकुण्ठावतारः**' कहा है (अङ्क ७ पृ० ४३०)। 'उदारराघव' में उन्हे शेषशायी कहकर बलिमर्दन तैजसांश श्रीविष्णुके रूपमें उनकी स्तुति की गयी है (२। ३३। ३४)। 'अद्भुतदर्पण'में श्रीरामको गरुडसेवित कहकर उनके श्रीविष्णुरूपकी वन्दना की गयी है (५। ४-७)।

भास, भवभूति आदि प्रायः सभी नाटककारोने अपने नाटकोंके मङ्गलाचरणमे भगवान् विष्णुके श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीवामन आदि अवतारोंकी वन्दना की है। अपने नाटकोंमें पात्रोंद्वारा उनके प्रति अपनी उत्कृष्ट भक्ति-भावनाको उद्भासित कराया है। नाटकोंमे किसी भी स्थलपर उनके विष्णुत्वको ओझल नहीं होने दिया गया है।

तपःपूत ऋषिजन—

श्रीरामने तपःपूत ऋषियोंपर अनुग्रह करनेके लिये अवतार धारण किया है। मिथिलेश जनक श्रीरामका दर्शन करके ब्रह्मानन्दकी अनुभूति करते हैं। महर्षि वसिष्ठ उन्हें तीनों लोकोंके तेजके निधान रूपमे जानते हैं। महर्षि विश्वामित्र श्रीरामको पूर्व (वामन) अवतारका स्मरण करवाते हुए कहते हैं—

इह वनेषु स कौतुकवामनो मुनिरतप्त तपांसि पुरातनः।
तमिव वामवलोक्य तपस्विनो नयनमद्य मनागुदमीमिलन्॥

(अनर्घराघव २। ४३)

'इसी वनमें पुरातन वामनावतार श्रीविष्णुने तपस्या की थी, उन्हींकी तरह तुम्हें देखकर यहाँके तपस्वियोंने आज अपनी आँखें उन्मीलित कर ली हैं।'

अहल्या—

ऋषि-पत्नी अहल्यापर अनुग्रह करनेके वृत्तका वर्णन प्रायः सभी नाटककारोंने किया है। गौतम ऋषिकी शापग्रस्ता पत्नी अहल्या श्रीरामके तेजसे पापमुक्त होकर दिव्यरूपमें प्रकट होती है (महावीरचरित अङ्क १। २६के उपरान्त)।

परशुराम—

परशुरामजीके मदमर्दनका प्रसङ्ग संस्कृत-नाटककारोंद्वारा अत्यधिक चर्चित रहा है। प्रसङ्गके अन्तमे श्रीरामके वैष्णव तेजको देखकर परशुरामजीके हृदयका सारा मल दूर हो जाता है—

यदर्थमस्माभिरिह प्रकोपितस्तदद्य दृष्ट्वा तव धाम वैष्णवम्।
विशीर्णसर्वामयमस्मदान्तरं चिरस्य कंचिल्लघिमानमश्नुते॥

(अनर्घराघव ४। ५९)

'जिस प्रयोजनसे मैंने आपको यहाँ प्रकुपित किया है, उसका परिणाम यह है कि आज आपके वैष्णव तेजको देखकर मेरे अन्तःकरणमे चिरकालसे संचित सम्पूर्ण दर्प-रोग विच्छिन्न हो गये, जिससे अब वह कुछ हलकेपनका अनुभव कर रहा है।'

उपर्युक्त कथनसे परशुरामजीका आशय है कि 'ब्राह्मण जातिकी पवित्रता, वंश-गौरव तथा श्लाघ्य आचरणको अकेले होकर भी अनन्त दोषोंसे पूर्ण जिस दर्प-रोगने छीन लिया था, ब्राह्मणप्रिय होनेके कारण आपने हमारी भलाईके लिये उसे शान्त कर दिया' (अनर्घराघव ४ । २२) ।

'मुरारि'ने नेपथ्यसे परशुरामजीपर श्रीरामके अनुग्रहकी घोषणा की है—'श्रीरघुनाथजीने नारायणी चापको आकृष्ट कर दिया और उसपर बाण संधान करके उस बाणको उत्तर-गतिच्छेदद्वारा अमोघ बना दिया (अनर्घराघव ४ । ५७) ।

शूद्र तपस्वी शम्बूक—

'उत्तररामचरित'मे शूद्र तपस्वी शम्बूकपर श्रीरामके अनुग्रहका प्रसङ्ग विस्तारसे वर्णित है। वह श्रीरामके अनुग्रहसे शाश्वत लोक (वैराज नामक तेजोमय लोक)को प्राप्त करता है। 'भवभूति' श्रीरामको परब्रह्मका अवतार मानते हैं। शूद्र तपस्वी शम्बूकपर अनुग्रह करनेके लिये संसारमे ढूँढ़ने योग्य प्राणियोंके स्वामी एवं शरणागतपालक श्रीराम सैकड़ों योजन पारकर दण्डकवनमे आये हैं (उत्तररामचरित २ । १३) ।

श्रीराम शम्बूकपर अनुग्रह करते हुए कहते हैं—

भद्र ! शिवास्ते पन्थानः, देवयानं प्रतिपद्यस्व ।

(उ० रा० च० २ । २१ के उपरान्त)

'भद्र ! तुम्हारे मार्ग कल्याणकारी हों, तुम देवमार्गको प्राप्त होओ।'

मारीच—

मारीचपर श्रीरामकी कृपा भी उल्लेखनीय है। वह अपने अन्तःकरणसे श्रीरामको धोखा देकर अपने पुण्यकर्म नष्ट नहीं करना चाहता, किंतु रावणके भयसे वह यह सब करनेको विवश हो जाता है। उसे इस बातका संतोष है कि वह श्रीरामके रूपमे अवतरित परम पुरुषके बाणका लक्ष्य बन रहा है, अतः उसका कल्याण निश्चित है—

'रामाभिधानस्य परस्य पुंसः शरण्यमापाद्य शरीरमेतत् ।'

(आश्चर्यचूडामणि ३ । ७)

कबन्ध—

कबन्ध राक्षसपर श्रीरामके अनुग्रहका वर्णन 'भवभूति'के दोनों नाटकोंमें आया है। श्रीलक्ष्मण दनुकबन्ध राक्षसका वध कर उसकी चिता प्रज्वलित करते हैं। चितासे दिव्य पुरुष प्रकट होकर अपना परिचय देता है—'वह श्रीपुत्र दनु है, शापके कारण राक्षस हुआ, बादमें इन्द्रके द्वारा सिर कट जानेसे वह कबन्ध राक्षस कहलाने लगा। अब श्रीरामका आश्रय पाकर पवित्र हो गया'—'पूतोऽस्मि भवदाश्रयात्' (महावीरचरित ५।३४)। और वह श्रीरामके अनुग्रहसे दिव्य लोकोंको प्राप्त करता है—

भद्र, कृतं सौजन्यम् । अधुना नन्दतु महाभागः स्वेषु लोकेषु ।

(महावीरचरित ५ । ३५ के उपरान्त)

'भद्र ! तुमने बड़ी उदारता की, अब तुम महान् भाग्यशाली होकर अपने लोकोंमें आनन्द करो।'

राक्षसराज रावण—

श्रीरामकथापर आश्रित संस्कृतके प्रायः सभी नाटककारोंने रावणके दुराचारोंका वर्णन किया है। सभी लोकोंके प्राणी—मनुष्य, देव, गन्धर्व, विद्याधर, नाग आदि रावणके अत्याचारोंसे संतप्त थे। अतः श्रीराम और रावणका युद्ध कोई व्यक्तिगत घटना नहीं है, अपितु उसका तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिये महत्त्व है। त्रैलोक्यके प्राणी श्रीरामकी विजयपर आशा लगाये हुए हैं। कुबेरने गन्धर्वराज चित्ररथको उस युद्धका परिणाम जाननेके लिये भेजा—'जन्मसे लेकर जो व्याधि हमारे हृदयमे चली आ रही है, वह विश्वकी व्याधि है।' इन्द्र श्रीरामके लिये अपना रथ भेजते हैं। वे अपना कवच और धनुष भी मातलिके साथ श्रीरामके लिये देते हैं (अनर्घराघव ६।५४)।

अतः श्रीरामने रावणका वध करके न केवल सीताका, अपितु समस्त लोकोंका त्राण किया। इस प्रकार उन्होंने कृपापूर्वक देवकार्यकी सिद्धि की है—

'भवतु सिद्धं देवकार्यम् ।'

(अभिषेक ६ । १८ के उपरान्त)

'रावणका वध होनेपर देवगण आकाशसे पुष्पवृष्टि करके दुन्दुभियाँ बजाते हैं' (अभिषेक ६ । १८) । रावणका वध हो जानेपर कई युगोंके पश्चात्

ब्रह्मज्ञानी ऋषिजन प्रसन्नतासे खिले हुए अपने चित्तोंमें शान्ति प्राप्त करते हैं (महावीरचरित ६ । ६२)। बंदी देवगण रावणके कारागृहसे मुक्ति प्राप्त करते हैं। कई दिनों बाद विद्याधर आदि आकाशमें पुनः निर्भय विचरण करते हैं। दिव्य गन्धर्व उपस्थित होकर अपनी स्तुतिमें श्रीरामको सर्वदेवतामय तथा वामन, वराह आदि अवतारोंसे अभिन्न बतलाते हैं (अभिषेक ६ । ३१)।

श्रीकृष्णावतार

भास, भट्टनारायण, रूपगोस्वामी आदि सभी नाटककार श्रीकृष्णको भगवान् विष्णुका अवतार मानते हैं।

भासने अपने दोनों नाटकों—'दूतवाक्य' और 'बालचरित'में श्रीकृष्णको भगवान् विष्णुके अवतारके रूपमें देखा है और उनके प्रति अपनी उत्कृष्ट भक्तिभावना प्रकट की है।

महाकवि भासने अपने दोनों ही नाटकोंमें भगवान् विष्णुके आयुधों और वाहन गरुडको पात्रोंके रूपमें उपस्थित किया है। इन आयुधोंसे कविने श्रीकृष्णकी लोक-रक्षात्मिका शक्तिका दर्शन करवाया है। सुदर्शन चक्रके लिये कहा गया है—

अव्यक्तादिरचिन्त्यात्मा लोकसंरक्षणोद्यतः।
एकोऽनेकवपुः श्रीमान् द्विषद्बलनिषूदनः॥

(दूतवाक्य ४३)

'तुम अव्यक्त, आदिभूत, अचिन्त्यात्मा, लोकोंकी रक्षामें निरन्तर उद्यत, (युद्धके अवसरपर) एक होते हुए भी अनेक शरीरधारी-से प्रतीत होनेवाले, सौन्दर्यशाली तथा शत्रु-सेनाका संहार करनेवाले हो।'

नारद—

'बालचरित'में श्रीकृष्ण परमेश्वरकी भूमिकापर अधिष्ठित किये गये हैं। भगवान् नारायणने कंसके संहारके लिये और लोकहितार्थ वृष्णिकुलमें जन्म ग्रहण किया है। नारद श्रीकृष्णका दर्शन करने ब्रह्मलोकसे आते हैं तथा श्रीकृष्णका दर्शन और उनकी परिक्रमा कर, उनके ईश्वरीय रूपकी स्तुति करते हैं—

तद् भगवन्तं लोकादिमनिधनमव्ययं लोकहितार्थं कंसवधार्थं वृष्णिकुले प्रसूतं नारायणं द्रष्टुमिहागतोऽस्मि।

(बालचरित १ । ५ के बादका गद्यांश)

राक्षसगण—

भगवान् श्रीकृष्ण साधुओंकी रक्षाके लिये, गौ-ब्राह्मणके कल्याण-हेतु, धर्मके अभ्युत्थानके निमित्त और भू-भारहरणार्थ दानव-समूहका संहार करते हैं। शिशु श्रीकृष्ण पूतना, यमलार्जुन, धेनुक, प्रलम्ब, केशी आदि दानवोंका अनुग्रहपूर्वक सहजमें ही उद्धार कर देते हैं।

अरिष्टर्षभ—नृत्य करते समय श्रीकृष्णको दानव अरिष्टर्षभके आनेकी सूचना मिलती है। श्रीकृष्ण कृपा कर उसका दर्प चूर्ण करनेके लिये खड़े होकर पृथ्वीपर पाँव जमाते हुए उसे चुनौती देते हैं कि तुममें शक्ति हो तो मुझे हिला दो। अरिष्टर्षभ उन्हें गिरानेके यत्नमें स्वयं मूर्च्छित हो जाता है। वह श्रीकृष्णके विष्णुरूपको पहचान लेता है—

रुद्रो वायं भवेच्छक्रो विष्णुर्वापि स्वयं भवेत्।
अमिथ्या खलु मे तर्कः स एव पुरुषोत्तमः॥

(बालचरित ३ । १२)

'ये रुद्र हैं या इन्द्र, अथवा स्वयं विष्णु ही तो नहीं हैं? मेरा तर्क निश्चय ही मिथ्या नहीं हो सकता। ये पुरुषोत्तम विष्णु ही हैं।'

भवतु, विष्णुना हतस्याप्यक्षयो लोको मे भविष्यति। तस्माद् युद्धं करिष्यामि। (बालचरित ३ । १३ के पश्चात्)

'जो कुछ हो, विष्णुके हाथसे मारे जानेपर मुझे अक्षय लोकोंकी प्राप्ति होगी, अतः मैं युद्ध करूँगा।' ऐसा निश्चय कर वह युद्धमें डट जाता है। अन्तर्यामी कृपालु श्रीकृष्ण क्षणभरमें उसे परमधाम पहुँचा देते हैं।

दुराचारी कंस—'बालचरित'के पाँचवें अङ्कका कथानक कंसानुग्रहसे सम्बन्ध रखता है। श्रीकृष्ण कंसके निमन्त्रणपर धनुर्मखमें भाग लेने-हेतु मथुरा जाते हैं। वहाँ वे उत्पलापीड़ हाथीके दाँत उखाड़कर उसका कल्याण करते हैं। अन्तमें धनुःशाला-रक्षक सिंहबल, चाणूर और मुष्टिक मल्लोंको मुक्ति प्रदान कर, प्रासाद-शिखरस्थित कंसको गिराकर उसका भी उद्धार करते हैं (बालच० ५ । ११)। कंसका वध होनेपर देवगण प्रसन्न होकर तूर्यवादन और पुष्पवृष्टि करते हैं।

कालियनाग—

प्राणियोंके हितके लिये ही वे कालिय-नागको वशमें करते हैं। 'बालचरित'के चौथे अङ्कके छठे श्लोकमें कालियनागके फनोंपर चढ़कर 'हल्लीसक' नृत्य करनेका उल्लेख है। श्रीकृष्ण कालियको चेतावनी देते हैं कि तुममें शक्ति हो तो अपनी विष-ज्वालाओंसे

मेरे हाथोंको जला दो। कालिय असफल हो जाता है और दामोदरके ईश्वरत्वको पहचानकर अपने व्यवहारके लिये क्षमा माँगता है—

गोवर्द्धनोद्धरणमप्रतिमप्रभावं
बाहुं सुरेश तव मन्दरतुल्यसारम्।
का शक्तिरस्ति मम दग्धुमिमं सुवीर्यं
यं संश्रितास्त्रिभुवनेश्वर सर्वलोकाः॥
(बालचरित ४। ११)

'त्रिभुवनेश्वर! सुरेश!! जो अप्रतिम प्रभावशाली, परम पराक्रमसम्पन्न, मन्दराचलके सदृश बलवाला और गोवर्धन पर्वतको उठा लेनेमें सक्षम है तथा सम्पूर्ण लोक जिसके आश्रित हैं, आपके इस हाथको जलानेके लिये मेरी क्या शक्ति है?'

कालिय गरुड़-भयसे मुक्त होना चाहता था। श्रीकृष्ण उसके सिरपर अपना चरणचिह्न अङ्कित कर उसे उस भयसे मुक्त कर देते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णके अनुग्रहको प्राप्तकर वह यमुनाह्रदको छोड़ अन्यत्र चला जाता है।

इस प्रकार नाटककार भासने अपने नाटकोंमें उनके नारायणत्वको ओझल नहीं होने दिया है। श्रीकृष्णके सारे कार्य गौ-ब्राह्मण और प्रजाजनोंके हितार्थ हुए। वे सज्जनोंपर अनुग्रह करने, असुरोंका विनाश कर पापोंसे मुक्त करने तथा पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतरित हुए हैं। असुरोपर की गयी उनकी कृपा (अर्थात् श्रीकृष्णके हाथों मरकर अक्षय लोकोंकी प्राप्ति करना) और उनकी परब्रह्मता या ईश्वरत्वका वर्णन करना ही नाटककारोंका विशिष्ट लक्ष्य प्रतीत होता है। अतः नाटककारोंने पुनः-पुनः इस तथ्यका स्मरण कराया है कि श्रीकृष्ण भगवान् विष्णुके अवतार हैं, वे लोकहितार्थ कंस-वधके लिये वृष्णिकुलमें देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं, वे मायाद्वारा शिशु बने हैं—

मायया शिशुत्वमुपागतं त्रिलोकेश्वरं प्रगृह्य…।
(बालचरित १। ५ के पश्चात्)

श्रीरूपगोस्वामी (सोलहवीं शती)के 'ललितमाधव' और 'विदग्धमाधव' नाटकोंमें श्रीकृष्ण, श्रीराधा और गोपियोंकी प्रेमकथाको चैतन्य-सम्प्रदायके भक्ति-सिद्धान्तोंके आलोकमें एक नया रूप प्रदान किया गया है। इन नाटकोंमें परमेश्वरके अवतारका मुख्य प्रयोजन भक्तोंपर अनुग्रह करना ही कहा गया है।

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि संस्कृत-नाटककारोंने श्रीकृष्णावतार तथा श्रीरामावतारके चरितको लेकर अनेकानेक नाटकोंकी रचना की। श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों ही धर्म-द्रोहियों तथा असुरोंका विनाश करके पृथ्वीका भार उतारते हैं। दोनों धर्मरक्षक हैं, गौ-ब्राह्मण, तपःपूत ऋषियों और भक्तोंका कल्याण करनेवाले हैं। राक्षस उनके परमेश्वरत्वको पहचानकर उनके हाथोंसे मरकर पुण्यलोकोंको प्राप्त करते हैं। परात्पर ब्रह्म ही इन रूपोंमें अवतरित हो रावण तथा कंस-जैसे दुराचारी असुरोंका विनाश कर त्रिलोकीका कल्याण करते हैं।

इस प्रकार परब्रह्म परमेश्वर ही राम, कृष्ण, वराह, वामन, नरसिंह आदि अवतार लेकर त्रिलोकीके प्राणियोंपर अनुग्रह करते हैं। मनुष्य, देव, गन्धर्व, विद्याधर, नाग आदि सभी उनके अनुग्रहसे कृतार्थ हो जाते हैं।

श्रीराम-प्रतापकी महिमा

ये मज्जन्ति निमज्जयन्ति च परांस्ते प्रस्तरा दुस्तरे
वार्धौ वीर तरन्ति वानरभटान् संतारयन्तेऽपि च।
नैते ग्रावगुणा न वारिधिगुणा नो वानराणां गुणाः
श्रीमद्दाशरथेः प्रतापमहिमारम्भः समुज्जृम्भते॥
(श्रीहनुमन्नाटक ७। १९)

हे वीर! जो आप स्वयं डूब जाते हैं और दूसरोंको भी डुबा देते हैं, वे ही पत्थर दुस्तर समुद्रमें तर रहे हैं और वानरयोद्धाओंको भी तार रहे हैं। यह न पत्थरोंकी शक्ति है, न समुद्रका ही गुण है और न वानरोंकी महिमा है, किंतु यह केवल दशरथनन्दन श्रीरामके (कृपा) प्रतापकी महिमाका ही रूप शोभित हो रहा है।

आन्ध्र-महाभागवतमें भगवत्कृपा

(लेखक—डॉ० श्री एन्० एस्० दक्षिणामूर्ति)

महर्षि व्यासप्रणीत भक्ति-प्रतिपादक ग्रन्थ श्रीमद्भागवत-का भारतीय साहित्यमे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थने समूचे देशको प्रभावित किया है। भारतीय जन-जीवनका, विशेषतया भागवतोंका यह विश्वकोश है। इसके सम्बन्धमे जर्मन-लेखक विंटरनिट्ज़ने ठीक ही लिखा है—

'This (Bhagavata) is indisputably that work of Purana-literature which is most famous in India Still today it exerts a powerful influence on the life and thought of the innumerable adherents of the sect of Bhagavatas ....'

इस प्रभावशील ग्रन्थका अवतरण प्रायः सभी भारतीय भाषाओंमे अनुवाद या अनुकृतिके रूपमे हुआ है। भक्त-कवि श्री'पोतना'ने (समय १४१०-१४७० ई०के मध्य) इस ग्रन्थका तेलुगुमे अनुवाद किया है। अपनी ही विशेषताओंके कारण यह अनुवाद होते हुए भी स्वतन्त्र ग्रन्थका रूप धारण कर चुका है। यह तेलुगु-साहित्यका गौरव-ग्रन्थ है। यद्यपि आन्ध्रमे धर्म-ग्रन्थोंमे महाभारत और रामायणका अध्ययन विशेष चावसे होता है, तथापि यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि आन्ध्र-महाभागवतको उनसे भी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। यह विद्वद्वर्ग और सर्वसाधारण—दोनोका सर्वाधिक प्रिय और अनुरञ्जक ग्रन्थ है।

आन्ध्र-महाभागवतमे भक्त तथा ऋषि कवि श्रीपोतनाद्वारा अभिव्यक्त भगवान्‌की अपार महिमा और अनन्त कृपाका उद्घाटन करनेवाले अनेक पद्य हैं। ऐसे पद्योंसे हमे अनायास ही कविके महान् व्यक्तित्वका परिचय मिलता है।

सृष्टि, स्थिति, लय भगवान्‌के ही अधीन हैं। श्रीपोतनाने एक स्थानपर कहा है—

> विष्णुंडु विश्वंबु विष्णुनिकंटेनु
> वेरेमियुनु लेदु विश्वमुनकु
> भववृद्धिलयमु ला परमेशुचेनगु···।
> (आन्ध्र-महाभा० २ । २०२)

'विष्णु ही विश्व हैं, विष्णुसे परे कुछ नहीं है, उन परमेश्वरसे ही विश्वकी सृष्टि-स्थिति-लय है।'

भगवान् अव्याजकरुणामूर्ति हैं, अशरणशरण हैं। उनका भजन करनेवाला, जो भक्त अथवा भागवत कहलाता है, भले ही नीच कुलमे क्यों न जन्मा हो, महोज्ज्वल कुलवाला हो जाता है। श्रीपोतना कहते हैं—

> कुलहीनुडु नारायण
> विलसत् कथनमुलु गडक विनिर्पिचिन द-
> त्कुलहीनत बासि महो-
> ज्ज्वलकुलत्वमुनु बोंदु ···।
> (आन्ध्र-महाभा० १ । १४०)

'कुलहीन यदि निरन्तर नारायणकी विलसित कथाका श्रवण-कीर्तन करता रहता है तो वह महोज्ज्वल कुलका हो जाता है।'

'प्रह्लादचरित'में राक्षसराज हिरण्यकशिपु जब प्रह्लादसे पूछता है—'तुम्हे गुरुओंने क्या पढाया? तुमने क्या पढा?' तब प्रह्लाद बतलाते हैं—'गुरुओंने मुझे पढ़ाया, मैंने निखिल शास्त्रोंका सार पढ़ा, पढाईका मर्म समझा—वह मर्म भक्ति है, समस्त चराचरके स्वामीको समझनेकी अनुरक्ति है।' यही कारण है कि प्रह्लाद अपने विद्या-गुरुजीको सम्बोधित कर कहते हैं—

> इनुमयस्कांत सन्निधि नेट्लु भ्रांत-
> मगु हृषीकेश सन्निधि ना विधमुनै
> मरगुचुन्नदि दैवयोगमुन जेसि
> ब्राह्मणोत्तम चित्तंबु भ्रांतमगुचु ॥
> (आन्ध्र महाभा० ७ । १८९)

'हे ब्राह्मणोत्तम! दैवयोगसे मेरा चित्त श्रीहृषीकेशकी ओर उसी प्रकार आकर्षित हो रहा है, जिस प्रकार लोहा अयस्कान्त (चुम्बक)की ओर झुक जाता है।'

भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेका यही सर्वोत्तम साधन है। कहा भी गया है—

> यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
> तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात् ॥
> (श्रीमद्भा० माहा० १ । ६८)

'(अन्य युगोंमे) जो फल तपस्या, योग और समाधिसे भी नहीं प्राप्त होता, वही कलियुगमे केवल श्रीहरिके संकीर्तनसे भलीभाँति मिल जाता है।'

वस्तुत: भगवान्‌का कीर्तन वाणीके लिये अलंकार है, भक्तके लिये सहारा है। भक्त श्रीहरिका नाम-संकीर्तन करते हुए अघाते नहीं हैं—

भूषणमुलु सेवुलकु बुध
तोषण मुलनेक जन्म दुरितौघविनि-
श्शोषणमुलु मंगलतर
घोषणमुलु गरुडगमनगुण भाषणमुल् ।
(आन्ध्र-महाभा० ७ । १६८७ पूर्वार्द्ध)

'गरुडगमन (श्रीविष्णु)के गुणोंका संकीर्तन कानोंके लिये भूषण, पण्डितोंके लिये सतोषप्रद, अनेक जन्मोंके पापोंको दूर करनेवाला तथा मङ्गलतर घोषणा है ।'

'श्रीपोतना'के प्रह्लाद भक्तोंके आदर्श हैं ।

श्रीमद्भागवतमें भक्तिके अनेक प्रसङ्ग वर्णित हैं, जिनमें भगवान्की कृपा और भगवद्भक्तिकी प्राप्तिके साधनोंका उल्लेख है । सच्चे हृदयसे जो भगवान्को पुकारता है, उसको निश्चय ही भगवान्की कृपा प्राप्त होती है। 'श्रीपोतना'ने इस बातको अपने ग्रन्थमें स्थान-स्थानपर स्पष्ट किया है । वस्तुतः प्रह्लादचरित, गजेन्द्रमोक्ष, अम्बरीषोपाख्यान और रुक्मिणी-कल्याण आदि आन्ध्र-महाभागवतके प्रमुख प्रसङ्ग हैं, जो 'श्रीपोतना'के भक्त-हृदयके दिव्य प्रमाण हैं । इन प्रसङ्गोंमें उन्होंने यह दिखलाया है कि भगवान्की कृपा प्राप्त करनेका अमोघ साधन सर्वस्व-समर्पण ही है । 'गजेन्द्रमोक्ष'-प्रसङ्गमें उन्होंने लिखा है कि जबतक गजेन्द्रको भगवान्पर अटूट विश्वास नहीं हुआ, तबतक वह द्वन्द्वमें फँसा रहा । जब निश्चयात्मिका बुद्धिसे उसने समस्त चराचर जगत्के स्वामीकी शरणके लिये प्रार्थना की, तब तुरंत उसको भगवान्की कृपा प्राप्त हुई । दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि भगवत्कृपा प्राप्त करनेका सर्वथा सुलभ मार्ग शरणागति है । 'अहिर्बुध्न्यसंहिता'में शरणागतिके छः भेद बताये गये हैं—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ।
(१७ । २८-२९)

भगवत्प्राप्तिमें सर्वथा अनुकूल पड़नेवाले साधनोंको ही अपनानेका दृढ़ संकल्प 'आनुकूल्यस्य संकल्पः' प्रथम प्रकारकी शरणागति है । प्रह्लाद अपने पितासे कहते हैं—"निशाचरनाथ! संसाररूप अन्धकारमय कूपमें न पड़कर, 'तुम-हम'के मति-विभ्रममें उत्पन्न भेद-भावका व्यवहार न कर, सब उन परमात्माकी ही दिव्य कलाएँ हैं—ऐसा विचार करे । श्रीविष्णुमें चित्त लगाना और अरण्यमें निवास करना शुभकर है ।"(आन्ध्र-महाभा० ७ । १४२) जो बातें भगवत्प्राप्तिमें विघ्न उपस्थित करती हैं, उनका परित्याग सर्वथा श्रेयस्कर है । इसीका नाम 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' है । 'श्रीपोतना'के प्रह्लाद दैत्य-बालकोंको समझाते हैं—'विषयासक्त विबुध-अहितैषियों (राक्षसों)-के साथ हम सम्बन्ध न रखें । हम शैशवमें ही मुक्त-सङ्गजनों अर्थात् संतोंका सङ्ग कर मुक्तिमार्ग-वाञ्छासे उन आदिदेवकी शरणमें जायँ (आन्ध्र-महाभा० ७ । २२६) । सब प्रकारसे भगवान् हमारी रक्षा करेंगे—भक्तोंके मनमें ऐसा दृढ़ विश्वास होता है, 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' यही उनके सबल हृदयका प्रमाण है । प्रह्लाद अपने पितासे कहते हैं—'पिताजी ! परमात्मा अम्भोनिधि (समुद्र)में हैं, पवनमें हैं, आकाश और भूमिमें हैं, अग्निमें हैं, दिशाओंमें हैं, दिन, रात, खद्योत और चन्द्रमामें हैं, ओंकार (प्रणव)में, त्रिमूर्तियों (ब्रह्मा, विष्णु, शिव)-में, त्रिलिङ्गों (स्त्री, पुरुष, नपुंसक)में—सर्वत्र विद्यमान हैं। उनको इधर-उधर ढूँढ़नेकी आवश्यकता क्या है ?' (आन्ध्र-महा० ७ । २७४) । भगवान्के रक्षक-स्वरूपका वरण करना चतुर्थ प्रकारकी शरणागति 'गोप्तृत्ववरणम्' है । प्रह्लाद पितासे कहते हैं—'बलवान्, बलहीन, आपके, ब्रह्मादिके, सकल प्राणियोंके जो बल हैं, हे असुरेन्द्र ! वे ही मेरे बल हैं ।' (आन्ध्र-महाभा० ७ । २६४) । यह उपाय और बलकी आत्यन्तिक निवृत्ति तथा सर्वस्व-समर्पण 'आत्मनिक्षेपः' है । 'श्रीपोतना'की गोपियाँ कहती हैं—'आपके पाद-कमलोंके स्नेहसे हम उनके ही पास जा सकती हैं, उनको छोड़कर जानेके लिये हमारे चरण नहीं उठते। आपके कराग्रोंके स्पर्शको छोड़कर हमारे हाथ और कुछ नहीं कर सकते, हमारे कान आपके वागमृत-को छोड़कर अन्य वाणी नहीं सुन सकते, हमारी दृष्टि आपकी सुन्दराकृतिको छोड़कर अन्य किसीको नहीं देखना चाहती, हमारी जिह्वा आपकी बात छोड़कर और किसीके सम्बन्धमें नहीं बोलना चाहती ।'(आन्ध्र-महाभा० ७।१८३)। अहंकारका नाश और दैन्यभाव 'कार्पण्यम्' है, जो अन्तिम प्रकार है । प्रह्लादकी इस उक्तिमें इसका स्वरूप देखा जा सकता है—'लक्ष्मी, महेश और ब्रह्माको भी आप निज महान् उद्दाम हस्तसे अभयदान नहीं देते, मैं बालक हूँ, असुरवशमें उत्पन्न दैत्य हूँ, उग्र रजोगुणवाला हूँ, (ऐसे मुझ बालकके) सिरपर कराम्बुज रखकर अपार दया दिखाना, हे परमेश्वर ! आश्चर्यजनक है ।' यह दैन्य भव-बन्धन-मुक्ति और प्रभु-कृपा-प्राप्तिका एकमात्र साधन है । भगवान्की कृपासे ही शाश्वत शुभकी प्राप्ति सम्भव है ।
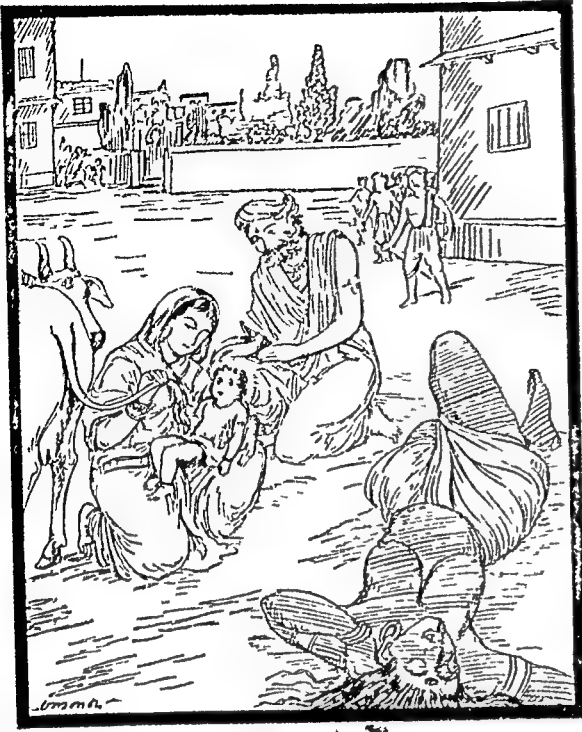
'कं वा दयालुं शरणं व्रजेम'

[पृष्ठ ४४२

नलकूवर-मणिग्रीवपर देवर्षि नारदकी कृपा

[पृष्ठ ४४२

नलकूबर-मणिग्रीव-उद्धार

[पृष्ठ ४४३

फलवालीपर कृपा

[पृष्ठ ४४४

भगवान् श्रीकृष्णका कृपा-विलास

अमृतमयी कृपादृष्टिद्वारा जीवन-दान

[पृष्ठ ४४५

कालिय-मानमर्दन

[पृष्ठ ४४६

महाराज मुचुकुन्द

[पृष्ठ ४४७

भक्त सुदामाको ऐश्वर्यकी प्राप्ति

[पृष्ठ ४५१

जगद्धर भट्टकी दृष्टिमें भगवत्कृपा

(लेखक—कविरत्न श्रीकृष्णप्रसादजी शर्मा घिमिरे)

भगवान् शिवके अनन्य-भक्त तथा 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि'-के रचयिता परम शैव महाकवि जगद्धर भट्ट काश्मीर-निवासी थे। उनके पूर्वज महान् शिव-भक्त थे, जिनके आशीर्वादसे महाकवि जगद्धर भट्टने अपनी 'स्तुति-कुसुमाञ्जलि'नामक रचनामे भगवान् शिवकी कृपा-वत्सलता और करुणामय स्वभावका बड़ा मौलिक वर्णन प्रस्तुत किया है। उन्होने संवत् १४०७ वि०मे काश्मीरको अपनी उपस्थितिमे गौरवान्वित कर वहाँ भगवान् शिवकी भक्ति-मन्दाकिनी प्रवाहित की।

'स्तुति-कुसुमाञ्जलि'मे भगवान् शिवकी करुणा, अनुकम्पा, प्रसन्नता और कृपाका बड़ा सारगर्भित वर्णन उपलब्ध होता है। उसमे उन्होंने अपने हृदयके सम्पूर्ण दैन्य और भगवत्कृपा-प्राप्तिकी बलवती अभीप्साका सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। उनका दृढ विश्वास है कि 'मुझ असहाय, अकिंचन और अनाथपर भगवान् गिरिजापति चन्द्रशेखरकी कृपा अवश्यमेव उतरेगी; क्योंकि यदि मुझ-जैसा दीन-हीन उनकी कृपा-भाजन नहीं बनेगा तो दूसरा कौन बन सकता है?' इसीलिये उन्होंने अपनी रचनामे भगवान् शिवकी उपासना और कृपा-प्राप्तिपर विशेष बल दिया है। उनके आराध्य भगवान् 'शिव' चराचर-पर अनुकम्पा करनेवाले हैं, क्योंकि वे ही 'शिव' अर्थात् सबका कल्याण करनेवाले हैं। उन्होंने भगवान् शंकरको प्रणाम निवेदन करते हुए उनके भूतवर्गानुकम्पी रूपका स्मरण किया है—

> नमस्तम पराभूतभूतवर्गानुकम्पिने ।
> इन्द्वेतभानुवृहद्भानुभानुभासितचक्षुषे ॥
>
> (स्तुतिकु० २ । ६)

'जो अविद्यारूप अज्ञान (अन्धकार)से पराभूत—आक्रान्त दीन-हीन प्राणियोंके प्रति अकारण ही अनुकम्पा करनेवाले हैं, उन चन्द्र, अग्नि, सूर्यके समान भासमान नेत्रसे सम्पन्न भगवान् (त्र्यम्बक) शिवको नमस्कार है।'

भक्तराज जगद्धरको भगवान्की कृपा-शक्तिमे अमोघ विश्वास था। उनके हृदयने इस बातका अनुभव किया कि हमारे एकमात्र रक्षक—शरण भगवान् सदाशिव महादेव हैं। उन्होंने इस भीषण भवसागरसे पार होनेके लिये उनसे बड़े दीनभावसे निवेदन किया है—

> तावत्प्रसीद कुरु नः करुणामनन्द-
> माक्रन्दमिन्दुधर मर्पय मा विहासीः ।
> ब्रूहि त्वमेव भगवन् करुणार्णवेन
> त्यक्तास्त्वया कमपरं शरणं व्रजामः ॥
>
> (स्तुतिकु० ९ । ५४)

'हे चन्द्रशेखर! आप प्रसन्न हो जाइये, कृपा कीजिये, मेरे करुण क्रन्दनपर ध्यान दीजिये। आप मेरा परित्याग मत कीजिये। आप-जैसे कृपासागरसे परित्यक्त होकर मैं किसकी शरणमे जाऊँ! क्या आपसे भी बढकर कोई दूसरा कृपा-सागर है? आप मेरा उद्धार कीजिये। मुझे भवसागरसे पार उतार दीजिये।'

भक्तराज शैवकवि जगद्धर भट्टके नेत्रोंने भगवान् शिवको सम्पूर्ण कृपामय देखा। एक स्थलपर कविने कृपा-मूर्ति भगवान्के चरणकमलोंमे सारगर्भित स्तुति समर्पित की है, जो प्राणियोंके लिये परम सतुष्टिदायिनी और कल्याणस्वरूपा है—

> हन्तापहन्तापदुपद्रवाणां
> यस्याक्षयस्याक्षणिकः प्रसादः ।
> संतापसंतापहरा प्रपेव
> कान्तारकान्ता रसना च यस्य ॥
> तादृङ्मता दृङ्महतां समन्ता-
> दालोकदा लोकहिता च यस्य ।
> तं संततं संतमसार्त्तलोक-
> पालं कृपालंकृतमीशमीडे ॥
>
> (स्तुतिकु० २६ । १-२)

'जिन परमेश्वरका अमोघ प्रसाद आपत्तिरूप उपद्रवोंको नष्ट करता है, जिनकी अमृतरसपूर्ण रसना (वाणी) मरुस्थलकी प्रपा (प्याऊ)के समान जीवोंके आधिदैविक और आधि-भौतिक तापोंके संतापका हरण कर लेती है और महात्माओं-को परम प्रकाश देनेवाली जिनकी दृष्टि जीवोंका हित करती है, उन अज्ञानरूप अन्धकारसे पीड़ित आर्तजनोंके प्रतिपालक, कृपासे अलंकृत ईश (शिव)का मैं स्तवन करता हूँ।'

महाकवि जगद्धर भट्टकी अमर रचना 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' भगवान् शिवके अलौकिक लीलाचरित्रोंसे परिपूर्ण है। यह स्तवनात्मक काव्य है, जिससे जगद्धर भट्टने अपनी सौभाग्यवती भक्तिमयी वाणीका शृङ्गार किया। इसमे पद-पदपर उनकी भगवत्कृपामयी अनुभूतिका परिचय मिलता है।

सूर-काव्यमें भगवत्कृपा

(लेखक—प्रो० श्रीराम [illegible])

सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्माके अनुग्रहको ही भगवत्कृपाके नामसे सम्बोधित किया जाता है। इसकी महिमा अमित, अनन्त और अपार है। यह भव-भयभञ्जनी, जन-मन-रञ्जनी, पाप-ताप-हारिणी और सर्वसुखप्रदायिनी है। यह लौकिक एवं पारलौकिक—उभय प्रकारके सुखोंकी प्राप्तिका एकमात्र साधन है, इसीलिये बड़े-बड़े ऋषियों, मुनियों, महापुरुषों एवं विद्वानोंने भगवत्कृपाकी महिमाका एक स्वरसे गान किया है। प्रज्ञाचक्षु सर्वश्रेष्ठ भक्त एवं महाकवि सूर भी इस क्षेत्रमें पीछे नहीं हैं। उन्होंने भी भगवत्कृपाकी महिमाका गान कर अपनी वाणीको परम पावन बनाया है तथा अपने काव्य (सूरसागर)में अनेक स्थलोंपर इसकी प्रतिष्ठा की है।

सूर-काव्यके अनुशीलनसे विदित होता है कि इनकी रचनाओंका शुभारम्भ ही भगवत्कृपा-महिमा-गानसे हुआ है। उन्होंने 'सूरसागर' तथा 'सूरसारावली'—दोनोंके प्रथम पदमें लिखा है—'मैं श्रीहरिके उन चरण-कमलोंकी वन्दना करता हूँ, जिनकी कृपासे लँगड़ा व्यक्ति पहाड़को लाँघ सकता है, अंधेको सब कुछ दिखायी दे सकता है, बधिर सुन सकता है, गूँगा बोल सकता है, रंक राजा बन सकता है'—

चरन कमल बंदौं हरिराइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कछु दरसाइ॥
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तिहिं पाइ॥
(सूरसागर १।१)

सूरदासजीकी दृष्टिमें वही मानव कुलीन और सुन्दर है, जिसपर भगवान् कृपा करते हैं—

जापर दीनानाथ ढरै।
सोइ कुलीन, बड़ौ सुंदर सोइ, जिहिं पर कृपा करै॥
(सूरसागर १।३५)

भगवत्कृपा होनेपर अर्जुन युद्ध-भूमिमें विजयी हो सके, विभीषणको लंकाका राज्य मिल सका, ध्रुव आकाशमें अचल स्थान पा सके, कौरवोंकी भरी सभामें द्रौपदीकी लाज बच गयी और दुःशासनको लज्जित होना पड़ा—

जाकौं दीनानाथ निवाजैं।
भवसागर मैं कबहुँ न झूकैं, अभय निसाने बाजैं॥
........................अर्जुन रन मैं गाजैं।

यहै बचन गजराज सुनायौ, गरुड छाँडि तहँ धाए।
यहै बचन सुनि लाखा-गृहमें पांडव जरत बचाए॥
यह बानी सहि जात न प्रभु सौं, ऐसे परम कृपाल।
सूरदास प्रभु अङ्ग मकोर्‌यौ, व्याकुल देख्यौ व्याल॥
(सूरसागर १० । ५५६)

उपर्युक्त पदमे सूरदासने एक ओर तो कालिय-नागपर भगवान्‌की कृपाका वर्णन किया है, दूसरी ओर भगवत्कृपाको प्राप्त करनेके साधन शरणागतिका निर्देश संकेतरूपमे दिया है। भगवत्कृपा तभी प्राप्त होती है, जब मनुष्य अपना सब कुछ भुलाकर भगवान्‌की शरणमे चला जाता है। यहाँ द्रुपद-सुता, गजराज और पाण्डवोंके उदाहरण प्रस्तुत कर इसी तथ्य-का निदर्शन कराया गया है।

नागपत्नियोंपर भगवान्‌की कृपाका चित्रण भी अत्यन्त भावपूर्ण है—जब भगवान् श्रीकृष्ण कालियनागके प्रत्येक फनपर नृत्य करने लगे, तब नागपत्नियोंने भगवान्‌के समक्ष खडी होकर स्तुति की और वरदानके रूपमें अपने पति-को ही माँगा। कृपालु भगवान्‌ने उनका पति उन्हें सौंपकर अपने कृपामृतका वर्षण किया—

उरग-नारि आगें सब ठाढी, मुख-मुख अस्तुति गावैं।
सूर स्याम अपराध छमहुँ अब, हम मागें पति पावैं॥
(सूरसागर १० । ५६६)

पतिके प्राप्त होनेपर वे भगवान्‌से कहने लगीं—
बहुत कृपा इहिं करी गोसाईं।
इतनी कृपा करी नहिं काहूँ जिनि राखे सरनाईं।
× × ×
जो कछु कृपा करी काली पर सो काहूँ नहिं कीन्हौ।
(सूरसागर १० । ५६७)

इस महामहिमामयी श्रीहरिकृपासे पारमार्थिक दारिद्र्यके साथ-ही-साथ भौतिक सम्पत्तिके अभावका विनाश भी पलभरमें हो जाता है। सूरदासजीने घोर दारिद्र्यसे पीड़ित सुदामाका उदाहरण हमारे समक्ष रखा है। जब सुदामा भगवान् श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये द्वारका पहुँचे, तब प्रभु श्रीकृष्ण उनकी दीन-हीन दशाको देखकर अत्यन्त व्याकुल हो गये और अत्यन्त द्रवित होकर उन्होने सुदामाको दो मुट्ठी चावलके बदले दो लोकोंका राज्य दे दिया। यदि रुक्मिणीजी तन्दुल चबाते (फाँकते) समय उनका हाथ न पकड़तीं तो वे सुदामाको त्रिभुवनका अधिपति बना देते। प्रभु बडे कृपालु हैं। उनकी कृपाको वही जान सकता है, जिसपर उनकी कृपा होती है। वे कृपा करते समय कुछ भी देनेमे संकोच नहीं करते—

जदुपति दीख सुदामा आवत।
बिहवल बिकल भयो दारिद बस,
········करि बिलाप रुक्मिनी सुनावत॥
× × ×
तंदुल देखि अधिक आनंदित, माँगि सुदामा जो मन भावत॥
मन ही मनमें कहत गहौ कर, सो दीजै जो चित न डुलावत।
सूरदास नव निधि के दाता, जाकौं कृपा करत सोइ पावत॥
(सूरसागर १० । ४२२९)

प्रभुने सर्वस्व देकर सुदामाको घरके लिये विदा किया। सुदामाके मुखसे निकली निम्न पङ्क्तियोंमें श्रीहरिकृपासे दारिद्र्य-हरणकी झलक मिलती है—

हरि बिनु कौन दरिद्र हरै।
कहत सुदामा सुन सुंदरि, हरि मिलन न मन बिसरै॥
(सूरसागर १० । ४२४२)

सूरदासजीने कुरुक्षेत्रमे श्रीकृष्ण और व्रजवासियोंके मिलन-प्रसङ्गमे भी भगवत्कृपाकी चर्चा की है। कुरुक्षेत्रमे भगवती राधा जब श्रीकृष्णसे मिलती हैं, तब उनसे कहती हैं कि यह आपकी बड़ी भारी कृपा है, जो आपने हमें नहीं भुलाया और यहाँ आकर हमें दर्शन दिया—

हम तौ इतनैं ही सचु पायौ।
सुंदर स्याम कमलदल-लोचन, बहुरौ दरस दिखायौ॥
× × ×
महाराज है मातु पिता मिलि, तऊ न ब्रज बिसरायौ।
(सूरसागर १० । ४२९६)

भगवत्कृपा-प्राप्तिके प्रमुख साधन महापुरुषोंका सत्सङ्ग और प्रेमाभक्ति हैं। कुरुक्षेत्रमें ऋषियोंने भगवान् श्रीकृष्णसे वरदानके रूपमे प्रेम-भक्तिकी याचना की और कहा कि हमने यह अच्छी तरह देख लिया है कि आपकी कृपाके बिना कुछ भी सम्भव नहीं है। आपकी कृपा ही सर्वोपरि है, उसीसे अभीष्टकी सिद्धि हो सकती है। आपकी कृपा जिसपर हो जाती है, उसे भक्तिकी प्राप्ति होती है। साथ ही वह आपके स्वरूपको पहचान जाता है—

जापर कृपा तुम्हारी होइ। रूप तुम्हारौ जानै सोइ॥
(सूरसागर १० । ४२९८)

आत्माका परमात्मासे मिलन ही मोक्षका प्रतीक है। स्पष्ट है कि इस असार संसारसे उद्धार पानेका सर्वोपरि एवं सर्वश्रेष्ठ साधन श्रीहरिकृपा अथवा भगवत्कृपा ही है। वही मोक्ष और सर्वसुखोंका मूल है।

तुलसी-साहित्यमें भगवत्कृपा

(लेखक—डॉ० श्रीशुकदेवरायजी एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भक्त-कवि गोस्वामी तुलसीदासजीका काव्य 'श्रीराम-काव्य' तो है ही, उससे भी अधिक यह भगवत्कृपा-काव्य है। अपनी छोटी-बड़ी समस्त रचनाओंमें इन्होंने कथा-प्रसङ्गके सहारे श्रीराम-कृपाका उल्लेख किया है। इनके इष्टदेव श्रीराम व्यापक ब्रह्म निरञ्जन होते हुए भी केवल भक्तोंके लिये अपने लोकरञ्जक रूपमें प्रणतपाल हैं और भक्त-भयहारी हैं। वे करुणाके आगार और कृपा-मूर्ति हैं। करुणामय श्रीरामका शब्द-चित्र इस प्रकार है—

दीन-बंधु, सुख-सिंधु, कृपा-कर कारुनीक रघुराई।

(विनयप० ८१। १)

जीवके लिये यह कृपा ही एकमात्र आधार है। इसके बिना वह संसार-सागरमें डूबता-उतराता रहता है। श्रीरामकी यह कृपा जीवको सहज ही प्राप्त होती है। यद्यपि इसकी प्राप्तिके लिये योग-जप-तपका विधान है, तथापि तुलसीदासजीने इसके लिये किसी साधन-विशेषकी आवश्यकता नहीं बतायी है। उस कृपाके लिये केवल एक गुण चाहिये—अनन्य-शरणापन्नता—

बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।

(विनयप० १६२। १)

श्रीरामकी कृपा दीनोंके लिये है। वे श्रीरामके प्यारे हैं। श्रीराम दीनबन्धु हैं। कोई दीन बनकर ही उनकी कृपाको प्राप्त कर सकता है। कृपा सुखका अमोघ साधन है। उसे प्राप्त कर लेनेपर कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। बड़ी महिमा है इस भगवत्कृपाकी। मानसके सुन्दरकाण्डमें इस महिमाका संकेत किया गया है। 'जिसपर प्रभु श्रीरामकी कृपादृष्टि हो जाती है, उसके लिये विष अमृत, शत्रु मित्र, समुद्र गायके खुरसे बने गड्ढेके बराबर और सुमेरु पर्वत रजःकणके समान हो जाता है तथा अग्निमें शीतलता आ जाती है'—

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥

(मानस ५। ४। १-२)

श्रीरामकी कृपामें संजीवनी शक्ति है। शारीरिक और मानसिक—दोनों प्रकारके श्रमोंको दूर करनेकी अद्भुत क्षमता है इस कृपामें। जिसे यह कृपा मिली, वही 'विगत-शोक-दुःख-मोह' हो गया। श्रीरामके कृपा-पात्रोंमें सुग्रीव भी एक थे। वालीसे द्वन्द्वयुद्धके लिये सुग्रीव तैयार तो हो गये, किंतु चोट खाकर व्याकुल हो गये। उन्हें श्रीराम-कृपाका सद्यः फल मिला—

कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा॥

(मानस ४। ७। ३)

श्रीराम-कृपाकी श्रमहारिणी शक्तिका दूसरा उदाहरण मानसके लंकाकाण्डमें मिलता है। श्रीराम-रावण-युद्धमें वानरी सेना हताहत हो गयी, वह थक-सी गयी। शिविरमें आकर प्रभु श्रीरामकी कृपा-दृष्टिमात्रसे ही सारी सेना अनुप्राणित हो उठती है और पुनः युद्धके लिये तैयार हो जाती है—

राम कृपा करि चितवा सबहीं। भए बिगतश्रम बानर तबहीं॥

(मानस ६। ४७। १)

श्रीराम-कृपामें श्रमहरण-शक्ति ही है, यह बात नहीं; उसमें शक्तिवर्धिनी क्षमता भी है। हतप्रभा और निरुत्साहिता वानरी सेना श्रीरामकी कृपा पाकर सबल हो जाती है, उसमें नये उत्साहका सहज संचार हो जाता है—

राम कृपाँ कपि दल बल बाढ़ा। जिमि तृन पाइ लाग अति डाढ़ा॥

(मानस ६। ७१। १)

इस कृपाके प्रभावसे शोक, मोह, संदेह, भ्रम कुछ भी नहीं रह पाता और जीव विगत-विकार हो जाता है—

राम कृपा तें पारबति सपनेहुँ तव मन माहिं।
सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं॥

(मानस १। ११२)

श्रीरामकी कृपा शत्रु-विध्वंसकारिणी है। भगवत्कृपापात्रका एक तो कोई शत्रु होता ही नहीं, दूसरे कोई हो भी तो वह उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। किष्किन्धामें स्वयं श्रीरामने वालीसे कहा था—

मम भुजबल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी

(मानस ४। ८। ५)

सम्भवतः श्रीरामकी इसी स्वभावोक्तिके आधारपर विनय-पत्रिकामें श्रीरामकी कृपाके सम्बन्धमें गोस्वामीजीने यह घोषणा की है—

जोपै कृपा रघुपति कृपालु की, बैर और के कहा सरै।
होइ न बाँको बार भगत को, जो कोउ कोटि उपाय करै॥
(१३७ । १)

संसार-सागरसे पार होनेके लिये तो भगवत्कृपा ही एकमात्र आधार है। यही परम विश्रामका कारण है। इसीके सहारे मनुष्य षड्विकारोंसे मुक्त होता है और चैतन्य-लाभ करता है। मोह-निद्रासे जगानेके लिये इससे बढ़कर दूसरा कोई सुलभ साधन नहीं। जिसपर भगवान्‌की कृपा हो जाती है, वह दुःखरूप सांसारिक सुखोंसे विमुख होकर भक्ति-साधनामें तत्पर हो जाता है—

राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं।
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर करतें न खसैहौं॥
(१०५ । १-२)

भगवत्कृपा जिस प्रकार लौकिक सुख-सम्पदा प्रदान करती है, उसी प्रकार पारलौकिक सुख भी देती है। सुखकी कौन कहे, इसमें इतनी शक्ति है कि यह स्वयं परम सुखधाम, आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द परम कृपालुका सांनिध्य प्राप्त करा देती है, जो चरम विश्राम-स्थल है। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि यह सायुज्य-मुक्ति-प्रदायिनी है। सबसे अधिक गूढ़ बात तो यह है कि इस परम सुखदायिनी कल्पलतारूपा भगवत्कृपाको स्वयं उस परम कृपालुकी कृपा बिना जाना भी नहीं जा सकता। कृपा-प्राप्तिके लिये भी कृपा ही चाहिये—यह एक विचित्र बात है। सचमुच इसे वही जान पाता है, जिसे भगवत्कृपा प्राप्त है, जो भक्त है—

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
(मानस २ । १२६ । २)

भगवान्‌की कृपासे ही भगवान्‌को जाना जा सकता है। उनका दर्शन भी उनकी कृपासे ही सुलभ होता है—

लेत बिलोचन लाभु सब बड़भागी मग लोग।
राम कृपाँ दरसनु सुगम, अगम जाग जप जोग॥
(रामाज्ञा-प्रश्न ४ । ६ । १)

अतएव भगवत्कृपा-प्राप्तिकी यह क्रिया भी अपने ढंगकी है, अश्रुतपूर्व है। कृपा-प्राप्तिकी इस प्रक्रियाकी चर्चा गोस्वामी तुलसीदासजीने कई स्थलोंपर की है। एक स्थलपर वे कहते हैं कि भगवत्कृपा सहज सुलभ है। सहज-सुलभ इसलिये कि भगवान् आश्रित जनोंके बन्धु हैं और सहजकृपालु हैं। सेवकोंको सुख देना उनका स्वभाव है—

सहज बानि सेवक सुख दायक।........................॥
(मानस ५ । १३ । ३)

उनकी इसी बानि (स्वभाव) का स्मरण कर सुग्रीवने स्तुति की थी—

कुजन पाल गुन बर्जित अकुल अनाथ।
कहहु कृपानिधि राउर कस गुन गाथ॥
(बरवैरा० ४ । ३५)

'हे कृपानिधान ! आपने मेरे-जैसे दुर्जन, गुणहीन, कुलहीन और अनाथका पालन किया, आपके गुणोंका मैं कैसे वर्णन करूँ ?' आर्तजनोंका कष्ट दूर करना उनकी कृपाकी विशेषता है। इस सम्बन्धमें अहल्योद्धारका यह प्रसङ्ग द्रष्टव्य है—

कीन्हीं भली रघुनायकजू करुना करि काननको पगु धारे।
(कवितावली २ । २८)

प्रबल पाप पति-साप दुसह दव दारुन जरनि जरी।
कृपासुधा सिंचि बिबुध-बेलि ज्यों फिरि सुख-फरनि फरी॥
(गीतावली १ । ५७ । २)

शापकी दुःसह अग्निसे जलती हुई कल्पलता कृपा-अमृतसे पुनः सुखरूप फलोंसे सम्पन्न हो गयी। भगवान् श्रीरामका स्वभाव ही दीनोंपर दया करना है। सुग्रीव और अहल्याकी तरह आपने गीधराजका संताप भी दूर किया और स्वयं शोकमग्न हो गये—

बार-बार कर मीजि, सीस धुनि गीधराज पछिताई।
तुलसी प्रभु कृपालु तेहि औसर आइ गए दोउ भाई॥
(गीतावली ३ । १२ । ४)

× × ×

दसरथ तें दसगुन भगति सहित तासु करि काजु।
सोचत बंधु समेत प्रभु कृपासिंधु रघुराजु॥
(दोहावली २२७)

बिभीषणपर कृपाके प्रसङ्गमें तुलसीदासजीने कृपानिधान श्रीरामकी अकारण कृपाकी ओर विशेषरूपसे इङ्गित किया है—

दियो तिलक लंकेस कहि राम गरीब नेवाज॥
(रामाज्ञा-प्रश्न ५ । ६ । १)

सब भाँति बिभीषनकी बनी ।
कियो कृपालु अभय कालहुँतें, गइ संसृति-साँसति घनी ।
(गीतावली ५ । ३९)

भगवान्‌का दर्शन प्राप्त करते ही विभीषण 'विशोक' हो गये और सोचते हैं—

को दयालु दूसरो दुनी, जेहि जरनि दीन-हियकी हई ?
(गीतावली ५ । ३८)

दीनवत्सल श्रीराम भक्तोंके हृदयकी पीड़ा शीघ्र दूर कर देते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने लौकिक और पारलौकिक सभी सिद्धियाँ और सफलताएँ प्राप्त होनेमे श्रीरामचन्द्रजीकी कृपाको ही एकमात्र कारण माना है। उनके सेवककी सब प्रकारसे भलाई होती है—

राम कृपाँ तुलसी जनको जग होत भलेको भलाई भलाई ॥
(कवितावली ७ । १३०)

× × ×

सिला सुतिय भइ गिरि तरे मृतक जिए जग जान ।
राम अनुग्रहँ सगुन सुभ, सुलभ सकल कल्यान ॥
(रामाज्ञा-प्रश्न ६ । ५ । ६)

× × ×

बालक कोसलपालके सेवक पाल कृपाल ।
(रामाज्ञा-प्रश्न ४४ । ७)

× × ×

तुलसी राम कृपालु को बिरद गरीब निवाज ॥
(रामाज्ञा-प्रश्न ३ । ५ । ७)

× × ×

'रामाज्ञा-प्रश्नावली'मे तुलसीदासजीने पुत्र-लाभ, स्वास्थ्य-लाभ, व्यापार-लाभ और सब प्रकारका सुख-संतोष श्रीराम-कृपासे सुलभ बताया है—

तुलसी रघुबर की कृपा सकल सुमंगल खानि ॥
(दोहावली २२८)

सकल सुमङ्गल प्रदान करनेवाली इस श्रीराम-कृपाको प्राप्त करनेमे आवश्यकता है भगवान्‌के साथ अपनत्वकी। अपनी चर्चा करते हुए कारणरहित कृपालु श्रीरामकृपाकी महिमाको गोस्वामीजीने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ ।
पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ॥
(मानस ७ । १२९ छन्द ३)

'जिनकी लेशमात्र कृपासे मन्दबुद्धि तुलसीदासने भी परम शान्ति प्राप्त कर ली, उन श्रीरामजीके समान प्रभु कहीं भी नही है।'

इस प्रकार सम्पूर्ण तुलसी-साहित्य-सागर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके कृपामृतसे सर्वथा परिपूर्ण है। इसकी कणिकामात्रकी उपलब्धिसे भक्तजन मुक्तिका भी निरादर करके भक्तिके साम्राज्यमे प्रवेश कर स्वच्छन्द विचरण करते हैं।

'पूरन-कृपा-हियो'

नाहिन भजिबे जोग बियो ।
श्रीरघुबीर समान आन को पूरन-कृपा-हियो ॥
कहहु, कौन सुर सिला तारि पुनि केवट मीत कियो ?
कौने गीध अधमको पितु-ज्यों निज कर पिंड दियो ? ॥
कौन देव सबरीके फल करि भोजन सलिल पियो ?
बालित्रास-बारिधि बूड़त कपि केहि गहि बाँह लियो ? ॥
भजन-प्रभाउ बिभीषन भाष्यौ, सुनि कपि-कटक जियो ।
तुलसिदासको प्रभु कोसलपति सब प्रकार बरियो ॥
(गीतावली ५ । ४६)

महाराष्ट्रिय संत-साहित्यमें भगवत्कृपा

(लेखक—एक साधु)

भारतीय आध्यात्मिक जगत्में महाराष्ट्रीय संत-साहित्यका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । भगवत्कृपापात्र कैवल्यपाद श्रीज्ञानेश्वरजी, श्रीनामदेवजी, श्रीएकनाथजी और श्रीतुकारामजी आदि भागवत संतोंने अपने अनुभूत साहित्यमें भगवत्कृपाका विशद वर्णन किया है, जिसमें संतोंके अनुभवपूर्ण वक्तव्य तथा भक्ति, ज्ञान, कर्म, उपासना आदिका स्रोत भगवत्कृपाकी ओर ही बहता प्रतीत होता है ।

ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोगके भावपूर्ण वर्णनसे युक्त नौ हजार 'ओवी' छन्दोंमें रची गयी संत श्रीज्ञानेश्वरजीकी 'गीताभाष्य-ज्ञानेश्वरी', संत श्रीएकनाथजीद्वारा अठारह हजार 'ओवी' छन्दोंमें लिखी गयी श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धकी भक्तिरसपरक टीका तथा साढे चार हजार प्रासादिक 'अभंग' छन्दयुक्त संत श्रीतुकारामजीविरचित 'गाथा'-ग्रन्थ—ये तीनों कृतियाँ महाराष्ट्रिय संत-साहित्यमें प्रस्थानत्रयीके नामसे सम्मानित एवं प्रतिष्ठित हैं । इनके अतिरिक्त महाराष्ट्रिय काव्य-जगत्में संत नामदेवजी, संत निळोबाराय एवं समर्थ स्वामी रामदासजी आदि भागवतोंद्वारा विरचित प्रचुर साहित्य भी उपलब्ध होता है । संत-साहित्य एक अथाह समुद्र है, इसकी गहराईमें प्रवेश करनेसे भगवत्कृपारूप अमूल्य रत्नकी प्राप्ति होती है । संत श्रीतुकारामजी अपने 'गाथा'-ग्रन्थमें कहते हैं—

होवोनि कृपाळ । भार घेतला सकळ ॥

(१०३२)

'हे प्रभो ! आपने कृपा करके ही संसारका भार ग्रहण किया है ।' भगवान्‌की कृपा जितनी सर्जन एवं पालनमें है, उतनी ही संहारमें भी है । उनकी अहैतुकी कृपा जड-चेतनपर समानरूपसे बरसती रहती है ।

संत श्रीतुकारामजी अनुकूल एवं प्रतिकूल—दोनों प्रकारकी परिस्थितियोंमें भगवत्कृपाका ही अनुभव कर संतुष्ट रहा करते थे । जीवनके प्रत्येक क्रियाकलापको वे भगवत्कृपा-आश्रित मानते हुए तन-मन-वाणीसे भगवत्समर्पित जीवन बिताते थे । इस विषयमें उन्होंने स्वयं कहा है—

तूंचि चालवीसी माझें । भार सकळ ही ओझें ॥
देह तुझीया पायीं । ठेवूनी झालो उतराई ॥

(तुकाराम-गाथा १०३२)

'हे प्रभो ! मेरे सम्पूर्ण जीवनका भार आप ही वहन करते हैं । अपने तनको आपके चरणोंमें समर्पित कर मैं भवसे पार हो गया ।' इस समर्पणमें कितनी निश्चिन्तता, निर्द्वन्द्वता एवं कितना विलक्षण आनन्द है ! शरणागतको सांसारिक बन्धनोंसे अनायास ही मुक्ति मिल जाती है । एकमात्र भगवत्कृपाके भरोसे जीवनका प्रत्येक व्यवहार करना एवं, दृश्य जगत्के प्रत्येक क्रियाकलापमें भगवत्कृपाका दर्शन करना ही सच्चा समर्पण है ।

मनुष्य भगवत्कृपाका जितनी मात्रामें अनुभव करता है, वह उससे कई गुना अधिक मात्रामें प्राप्त होती है । जितनी मिलती है, उतनी ही उसकी प्राप्तिकी तृषा और बढ़ जाती है । जितना-जितना कृपाका अनुभव होता जाता है, उतना-ही-उतना भगवान्से प्रेम बढता जाता है । प्रेमके कारण मिलनकी उत्कण्ठा तीव्रतर होती जाती है । चरमोत्कण्ठा होनेपर साक्षात्कार हो जाता है । साक्षात्कारके साथ ही कृपाके अगम्य स्वरूपका भी दर्शन हो जाता है । इसलिये संत निरन्तर कृपाकी ही याचना करते रहते हैं । यद्यपि भगवत्कृपा तो सभीपर समानरूपसे बरसती रहती है, किंतु उसका विशेष अनुभव भक्तों, संतों एवं भगवत्प्रेमियोंको ही होता है ।

संत ज्ञानेश्वरजीको चिर-समाधिकी पुण्यवेलामें कृपाशील प्रभुने दर्शन देकर परम अनुग्रह करते हुए कहा था—

एक एक अनुभव कृपा । पदा पदान्तरे केला सोपा ॥
तरी त्यांत माझी कृपा । सकळ ही ओळली ॥

(समाधि-पद)

'तुमने मेरी कृपाको अपने प्रत्येक अनुभवपदके माध्यमसे सुगम करके (सर्वसाधारण समझ सकें, इस प्रकारसे) व्यक्त किया है तथा जितना भी वह (साहित्य) है, उसमें मेरी ही कृपाका साङ्गोपाङ्ग वर्णन है ।'

संत ज्ञानेश्वरजी भगवत्कृपाकी अनुभूतिके विषयमें 'अमृतानुभव'में कहते हैं—'भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है । वे चराचरमें सच्चिदानन्दघनरूपसे व्याप्त होनेके कारण सर्वदा प्राप्त ही हैं । जबतक जीव परमात्माको स्वयंसे अलग समझता है और संसारमें लिप्त रहता है, तबतक वह भगवत्कृपाके अनुभवसे वञ्चित रहता है ।' परिस्थितिकी अनुकूलता-प्रतिकूलताको एक दृष्टान्तद्वारा समझाते हुए वे लिखते हैं—

पैं चन्द्र चण्डांशु डोळा । दावितासि कोपप्रसाद लीळा ॥
एकां रुससी तमाचिया डोळां । एकां पाळितोसि कृपादृष्टि ॥

(ज्ञानेश्वरी ११ । १९ । ३११)

'हे भगवन् ! चन्द्र और सूर्य—दोनों आपके नेत्र हैं और उनके द्वारा कृपा तथा कोपके खेल सदैव होते रहते हैं, आप किसीको क्रोधपूर्ण नेत्रसे देखते हुए उसपर कृपा-कोप करते हैं तथा किसीको अपनी कृपाकी शीतल छाया प्रदान करते हैं।'

भगवान्‌का कोप भी कृपा ही है, उसका विवेचन करते हुए संत ज्ञानेश्वरजीने अपने गीताभाष्यमें लिखा है—

श्रीकृष्ण ज्यासि कोपोंनिमारी। तो पावे परब्रह्मसाक्षात्कारी॥
मा कृपेनें उपदेश करी। तो कैशापरी न पवेल॥
(ज्ञानेश्वरी ८।२।९)

'भगवान् श्रीकृष्ण जिसको (कृपा-) कोपसे मारते हैं, वह भी परब्रह्मके साक्षात्कारको प्राप्त हो जाता है। तब जिसको कृपा कर स्वयं उपदेश देते हैं, उसके कल्याणमें क्या संदेह है!'

श्रीएकनाथ महाराज भी भगवत्कृपाके विषयमें कहते हैं कि मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति भगवत्कृपासे ही हुई है। साथ ही संसारसे विरक्ति भी भगवान्‌की विशेष कृपाप्रसादका ही फल है—

जरी कृपा उपजेल भगवन्ता। तरी होय मागुता विरक्त॥
(चिरंजीवपद २५)

कर्मोंके विषयमें उनका कहना है—

एकाजनार्दनी भोग प्रारब्धाचा। हरिकृपे त्याचा नाश झाला॥
(एकनाथम० का हरिपाठ २३)

'अर्थात् भगवत्कृपानिष्ठ होनेसे जीवके प्रारब्धादि कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

संत श्रीज्ञानेश्वरजी भी कर्मोंके नाशमें भगवत्कृपाको ही कारणरूपसे स्वीकार करते हैं। उन्होंने 'गीताभाष्य'में भगवान्‌द्वारा ही इस तथ्यको कहलवाया है—

तैसा माझेनि प्रसादें। जीवकण जयाचा उपमर्दे।
तो संसाराचेनि बाधे। बागुलें केवि॥
तेथ सकळ दु:खधामे। भुंजीजती जिये मृत्युजन्मे॥
तियें दुर्गमेंचि सुगमें। होती तुज॥
मग अभिन्ना इया सेवा। चित्त मियांचि भरेल जेव्हां।
माझा प्रसाद जाण तेव्हां। संपूर्ण जाहाला॥
(ज्ञानेश्वरी १८।५८, १२७२, १२७०, १२६९)

भगवान् कहते हैं—'मेरे कृपाप्रसादसे ही जीव (स्वयं-को पृथक् समझनेका) भाव अर्थात् मद्रूपताके बीचकी बाधा नष्ट हो जाती है। जीव-भावमें प्रतीत होनेवाले दुःख-स्वरूप जन्म, मरण, जरा, व्याधि आदि मेरी कृपासे सुखरूप प्रतीत होने लगते हैं। भीषण विपत्तियोंमें भी वह विचलित नहीं हो पाता। उसका पुनर्जन्म भी नहीं होता। उसे मेरा निरन्तर दर्शन होने लगता है। भक्तिमें अनन्यताका भाव हो जानेसे उसके चित्तमें केवल मैं ही प्रतिष्ठित रहने लगता हूँ। मेरा कृपाप्राप्त भक्त महत्तम सेवाका रसास्वादन करता है। उसकी सेवासे सुखी होकर मैं उसकी सेवाके लिये लालायित रहता हूँ। उसे सुखी देखकर मैं सुखी होता और मुझे सुखी देखकर वह सुखका अनुभव करता है। इस प्रेमके नित्य विस्तृत होनेवाले साम्राज्यमें मैं अपनेको भूल जाता हूँ।'

भगवान्‌द्वारा संत नामदेवजीपर कृपाकी एक झलक प्रस्तुत है—श्रीनामदेवजी भक्तमण्डलीके साथ भावविभोर हो संकीर्तन कर रहे थे, सब कुछ भूलकर उसी आनन्दमें बैठे थे। श्रीनामदेवजी भावविभोर हो नृत्य करने लगे। उनकी तन्मयता इस सीमातक बढ़ी कि भगवान् भी सुध खोकर उनके साथ ही नृत्य करने लगे और प्रेमानन्दमें इतने तल्लीन हो गये कि उनका पीताम्बर नीचे गिर पड़ा—

'नाचता नाचता देवाचा पीताम्बर सुटला॥'

यह भगवत्कृपाका ही फल है कि भक्तोंके साथ भगवान् संकीर्तनमें ऐसे तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें अपने वस्त्रों-का भी ध्यान नहीं रहता।

भगवान्‌को अनेक सम्बन्धोंमेंसे मातृभाव विशेष प्रिय है। वे माँ बनकर अपने उद्दण्ड पुत्रका भी हित सोचते हैं। पुत्र गलितदेह, कपटी मनका हो अथवा निर्मल तन-मनवाला, माँ तो उसे समताभरी दृष्टिसे ही देखती है। सम्भवतः इसीलिये संत तुकारामजी भगवान् विठ्ठलको विठामाई (माँ) कहा करते थे—

तुका म्हणे तुझे कृपा पार नाहीं। माझे विठाबाई जननिये।

'हे विठ्ठल ! आप मेरी माँ हैं, मेरे ऊपर आपकी कृपाका कोई पार नहीं है।'

भगवत्कृपाके अगाध समुद्रमें आकण्ठ डूबे हुए इन संतोंके हृदयोद्गार वस्तुतः भगवत्कृपाके ही तुल्य दिव्य कहे जा सकते हैं। महाराष्ट्रीय संत-वाङ्मयमें भगवत्कृपाका अङ्कन इतना विस्तृत है कि उसका एक स्थानपर वर्णन प्रायः असम्भव-सा ही है। यहाँ तो उसका दिग्दर्शनमात्र ही अभिप्रेत है।

श्रीस्वामिनारायण-संत-साहित्यमें भगवत्कृपा

परात्पर श्रीकृष्ण और भगवान् श्रीराघवेन्द्रने जिस पावन भारतभूमिपर अवतार ग्रहण कर भक्तोंको आनन्द देनेके लिये अनेक अलौकिक लीलाएँ कीं, उसकी तुलना किसी भी लोक-भूमिसे नहीं की जा सकती, इस भूमिपर भगवान्‌की यह विशेष कृपा ही है। उनकी अवतार-लीलाके प्रभावसे ही भारतवर्षमें भक्तिकी ऐसी गङ्गा प्रवाहित हुई, जिसने अपनी अद्भुत लीला-तरंगोंमें उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम—सभी दिशाओंके कोटि-कोटि जीवोंको स्नान कराया और उनपर भगवदनुग्रहकी वर्षा की। भक्तिके महान् प्रचारक अनेक लोकोत्तर महापुरुष भी इसी भारतभूपर अवतीर्ण हुए। संतमें भगवान्‌के ही गुण-आचरण प्रकट होते हैं, इसीलिये वे जीवोंपर सहज निःस्वार्थ दया कर उन्हें कल्याणका मार्ग बताते हैं।

भक्तिका अमृत-रस बरसानेवाली विविध सम्प्रदायों और उनके आचार्योंकी एक अक्षुण्ण परम्परा जिस देशको मिली हो, उसपर भगवान्‌की विशिष्ट कृपा है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है? श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्य श्रीस्वामिनारायणजी (सहजानन्दजी या नारायण मुनि) थे, जिन्होंने उद्धवजीके अवतार संत श्रीरामानन्दजी स्वामीसे दीक्षा ली थी। श्रीरामानन्द स्वामीने इन्हें जेतपुरकी धर्मधुरी गद्दीपर बैठाया था। (उस समय इस सम्प्रदायका प्रचार भारतके प्रायः सभी राज्योंमें हुआ, किंतु वर्तमानमें गुजरात राज्यमें इसके अनुयायी बहुतायतसे मिलते हैं।)

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिका आश्रय ही परमार्थ-साधनका मुख्य बल माना जाता है। सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य श्रीस्वामिनारायणजीने कहा है—'परमात्माके माहात्म्य-ज्ञानके द्वारा उनमें जो आत्यन्तिक स्नेह होता है, वही भक्ति है। परमात्माका यह आत्यन्तिक स्नेह संत-कृपामें ही सुलभ होता है। 'भगवान्‌की प्राप्ति यदि कलिके जीवोंको कठिन, दुस्तर जान पड़े तो वे संतोंकी ओर ही आकृष्ट होकर अपना कल्याण-साधन करें और मनुष्य-देहकी प्राप्तिका स्वर्ण-अवसर संसाररूप काँचको बटोरनेमें ही न खो दें, प्रत्युत संत-कृपासे भगवत्कृपारूप मणिको प्राप्त करें।'

इस सम्प्रदायके संत श्रीनिष्कुलानन्द स्वामीने लिखा है—

> संत कृपा से पाइये, रण पुरुषोत्तम धाम।
>
> × × ×
>
> कामदुघा अरु कल्पतरु, पारस चिंतामणि चार।
> संत समान कोई नहीं, मैंने किये विचार॥

कामधेनु, कल्पतरु, पारस और चिन्तामणिद्वारा जो वाञ्छित पदार्थ प्राप्त होते हैं, वे कालान्तरमें नष्ट हो जाते हैं; परंतु संत तो कृपा करके पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णसे ही मिला देते हैं। ऐसी कृपा संतके अतिरिक्त अन्य कौन कर सकता है?

इसी प्रकार श्रीमुक्तानन्द स्वामीने भी संत-महिमाका बखान स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे कराया है—

> नारद मेरे संत से अधिक न कोई।
> मम उर संतरु मैं संतन उर, बास करूँ थिर होई॥
> कमला मेरो करत उपासन, मान चपलता दोई॥
> यद्यपि वास दियो मैं उर,पर संतन सम नहिं होई॥
> भूको भार हरूँ संतन हित, करूँ छाय कर दोई।
> जो मेरे संत की रती इक दूषत,तेहि जड डारूँ मैं खोई॥

कैसी अद्भुत भगवत्कृपा है! लक्ष्मीजीको यद्यपि भगवान्‌ने निज हृदयपर वास दिया है, फिर भी वे संतोंकी समता नहीं कर सकती। भगवान् कहते हैं—'मैं तो संतोंके हितके लिये ही पृथ्वीका भार हरण करता हूँ, दोनों हाथोंसे उनपर छाया करता हूँ और उन्हें रत्तीभर भी क्लेश पहुँचानेवालेको मैं समूल नष्ट कर देता हूँ।' संत स्वयं भी भगवान्‌के सदृश ही अहैतुकी कृपाका दान करते हैं। इसीलिये श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायके आचार्योंने स्थान-स्थानपर संत-कृपाको विशेष आदर दिया है।

श्रीब्रह्ममुनिने अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मविलास'में इसी भगवद-नुग्रहका पुण्य स्मरण करते हुए लिखा है—

> दीनदयाल कृपा करके अन्न गर्भहु में पहुँचाय दियो है।
>
> × × ×
>
> जाके दिये अन्न पानहु से नित जीवत है सबहि तनु धारी॥

सारे प्राणधारियोंको वे अपनी कृपा-वृष्टिसे अनन्तकालसे सरसाते आ रहे हैं। उन्हें प्राप्त करनेके लिये केवल उनकी दया ही चाहिये, अपनी क्रिया नहीं।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदाय जहाँ एक ओर जीवके कल्याणार्थ भगवत्कृपाका अवलम्ब अत्यावश्यक मानता है, वहीं दूसरी ओर संत-समागमको भगवत्कृपा-प्राप्तिका एकमात्र अमोघ साधन स्वीकार करता है। —दी० म०

आधुनिक श्रीराम-काव्योंमें भगवत्कृपा

(लेखक—डॉ० श्रीपरमलालजी गुप्त, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

जीवनके बदलते हुए मूल्योंका प्रभाव आधुनिक श्रीराम-काव्योंमे स्पष्ट परिलक्षित होता है। भक्त-कवियोंका जीवन-दर्शन निवृत्तिमूलक कहा गया है। पाश्चात्त्य जीवन-दर्शन प्रवृत्ति-मूलक होनेके कारण सम्भवतः समाजको प्रगतिकी ओर ले जानेकी क्षमता रखता है, परंतु वह भौतिकवादके दोषोंसे आक्रान्त और मनुष्यको वास्तविक लक्ष्यतक ले जानेमें असमर्थ कहा जाता है। अतः भारतीय चिन्तकोंने निवृत्तिमूलक दर्शनमें प्रवृत्तिका समन्वय करके जीवनमे त्यागकी महत्ताके साथ-साथ उसके प्रति अनुराग भी उत्पन्न किया। यह जीवन दर्शन मानवतावादी है और आधुनिक श्रीराम-काव्योंके नायक भगवान् श्रीराम अपने कार्योंद्वारा इसीका महत्त्व प्रतिपादित करते प्रतीत होते हैं।

श्रीमैथिलीशरण गुप्त, श्रीहरिऔध, श्रीबालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीसुमित्रानन्दन पंत, श्रीबलदेवप्रसाद मिश्र, श्रीपोद्दार रामावतार 'अरुण' आदि सभी कवियोंने भौतिकताके स्थानपर अध्यात्मका महत्त्व स्वीकार किया है। अध्यात्मवाद सम्पूर्ण जगत्में एकात्मभावका प्रतिष्ठापक है। एकात्मभाव अथवा अद्वैतभाव ही मुक्ति है। जिस व्यक्तिके अंदर इस प्रकारकी तीव्र अनुभूति उत्पन्न होती है अर्थात् जो समस्त विश्वको श्रीरामका धाम मानकर सबमे श्रीरामकी ही झलक देखता है, वही अत्यन्त सौभाग्यशाली है—

स्वामी एक राम हैं, उन्हींका धाम विश्व यह,
जनमें जनार्दनकी ज्योति नित्य जागी है।
तीव्र अनुभूति इस भाँति जिसकी है हुई,
नश्वर जगत्में वही तो बडभागी है॥

('साकेत सन्त'—डॉ० श्रीबलदेवप्रसाद मिश्र)

अध्यात्मवादकी यही सबसे बडी देन है कि वह जीवनमे त्यागका महत्त्व प्रतिपादित करता है। आधुनिक श्रीराम-काव्योंमे त्यागको जीवनका एक श्रेष्ठ आदर्श माना गया है—

'संचय नहीं, अपितु जीवनमें है नित त्याग सार राजन'

('उर्मिला'—'श्रीनवीन')

त्यागकी इसी भूमिकापर पात्रोंका चरित्र आँका गया है। जो व्यक्ति दूसरोंके लिये सर्वस्व समर्पित कर देता है, वही परम पूज्य और वन्दनीय है—

मनुजों में वे परम-पूज्य हैं वंद्य हैं।
जो परार्थ-उत्सर्गी-कृत-जीवन रहे॥
सत्य, न्यायके लिये जिन्होंने अटल रह।
प्राण-दानतक किये, सर्व-संकट सहे॥

('वैदेही वनवास' ९। ५७ श्रीहरिऔध)

राष्ट्रकवि श्रीमैथिलीशरण गुप्तने इसी आदर्शको 'ईश्वर' कहा है—

'आदर्श ही ईश्वर है हमारा।'

हृदयके परावर्तित भावोंमें वे संत एवं भक्त कवि गोस्वामीजीके इस कथनसे पूर्णतया सहमत हैं—

जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी॥

(मानस १। १०४। ३)

उपर्युक्त कथनकी पुष्टि करते हुए एवं भगवत्कृपाकी शाश्वत सर्वयुगीन विद्यमानताका समर्थन करते हुए कहते हैं—

राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है॥

(साकेत, सर्ग ५)

आधुनिक श्रीराम काव्योंमें भगवत्कृपाका वह स्वरूप नहीं पाया जाता, जो भक्ति-काव्योंमें मिलता है। भक्ति-काव्योंमें भगवान्के अनुग्रहसे सांसारिक माया-मोहसे मुक्ति और सतत भगवद्भक्तिकी कामना की गयी है। आधुनिक श्रीराम-काव्योंमें मानवतावादी जीवन-दर्शनके प्रभावसे 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'के आदर्शपर जीवनमें त्यागकी परम आवश्यकता प्रकट की गयी है। श्रीराम जीवको संसारसे विरत करके तारनेके लिये अवतरित नहीं होते। वे विश्वमें नव-जीवन-मूल्योंकी प्रतिष्ठा, उच्चतर संस्कृतिकी विरचना और संतुलित जीवन-दृष्टिकी स्थापनाके लिये अवतरित होते हैं। श्रीराम और रावणका युद्ध आध्यात्मिकता और भौतिकताके संघर्षका प्रतीक है। उनका लक्ष्य है—इस धरतीको सुखी बनाना और मनुष्यको मानवताका पाठ पढ़ाना। श्रीराम अपना लक्ष्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।

संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥
('साकेत' सर्ग ८—श्रीमैथिलीशरण गुप्त)

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक कवियोंने श्रीरामकी भक्तिमूलक विचारणाके स्थानपर सांस्कृतिक आदर्शोंकी रक्षाको अधिक महत्त्व दिया है। दूर-दूरतक वन्य प्रदेशोंमें भी इस अध्यात्मवादी संस्कृतिका दीप जलानेवाले ऋषि-मुनि राक्षसोंसे उत्पीड़ित हो श्रीरामका संरक्षण चाहते हैं। ऋक्ष, वानर, भील, किरात आदि ऐसे भोले मनुष्य हैं, जो जंगलोंमें प्रकृतिके सहारे जीवन-यापन करते हैं। राक्षसोंने भोगवादिनी सभ्यताको अपनाकर सबको संत्रस्त कर रखा है। वे अपना सुख और भोग-विलास ही देखते हैं तथा इसके लिये दूसरोंका उत्पीड़न और शोषण करते हैं। श्रीराम सभी जंगली जातियोंको संरक्षण देकर राक्षसोंसे लोहा लेते हैं। राक्षसोंके नेता रावणका अन्त कर निवृत्तिमूलक संस्कृतिका प्रकाश विकीर्ण करते हैं। श्री'सिरीष'जीके अनुसार तो वे कृपा कर जनजातियोंके उद्धारके लिये ही मनुज-अवतार धारण करते हैं—

सतत नीच नराधमता करें
बद चले अघ-ओघ अपार हों।
सुजन भी हिलते डुलते रहें
महि-प्रकम्पन से घर ज्यों गिरें॥
अधमता यदि सृष्टि बढ़े महा-
प्रलय कम्पन शीघ्र हुआ करे।
विधि विधान समेत न कार्य हो
पग प्रपीड़ित हो नर पंगुला॥
इसलिये प्रभु नीच उबारते
जगत की गति क्यों प्रतिकूल हो।
प्रकृतिका मल धो सकती कृपा
छन गया जल जो अति शुद्ध हो॥
('श्रीराम-तिलकोत्सव' १।२८—३०—श्रीशिवरत्न शुक्ल 'सिरीष')

रावण और उसके सहयोगियोंके अतिरिक्त सभी श्रीराम-कृपाके अभिलाषी हैं; क्योंकि श्रीराम पुरुषोत्तम हैं, सबके हितैषी हैं, सबको सन्मार्ग दिखानेवाले और मानवतावादी विश्वधर्मके प्रवर्तक हैं। देहकी सीमाओंमें बँधे हुए कोल, किरात, भील, ऋक्ष, वानर, राक्षस आदि क्षुद्र जीव विराट् परमात्मा श्रीरामके सान्निध्यके फलस्वरूप देहके बन्धनोंसे छूटकर समस्त विश्वमें अपने आत्माकी व्याप्तिका अनुभव करते हैं। आधुनिक कवियोंमें भी भक्त-कवियोंका-सा भाव आ ही जाता है। आधुनिक काव्योंमें इसी भावनाको छायावादके माध्यमसे व्यक्त किया गया है—

पावन करो नयन
रश्मि, नभ-नील-पर,
सतत शत रूप धर
विश्वछबि में उतर,
लघुकर करो चयन।
('अपरा'—महाकवि निराला)

दार्शनिक चिन्तनमें आत्मा और परमात्माका भेद मिटा-सा प्रदर्शित किया गया है, किंतु जहाँ-जहाँ कविका अन्तर्मन ध्वनित हुआ, वहाँ-वहाँ वह ईमानदारीसे भगवत्कृपाकाङ्क्षी ही प्रस्तुत हुआ है—

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा?
जग के दूषित बीज नष्ट कर,
पुलक-स्पन्द भर खिला स्पष्टतर,
कृपा-समीरण बहने पर क्या
कठिन हृदय यह हिल न सकेगा?
('अपरा'—महाकवि निराला)

आधुनिक काव्य-युगप्रवर्तक कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये उपालम्भ-मिश्रित आर्तनाद आधुनिक कालको भक्ति-कालके समानान्तर ही लाकर खड़ा कर देता है—

कहा पखानहु तें कठिन मो हियरो रघुबीर।
जो मम तारन में परी प्रभु पर इतनी भीर॥

'हे श्रीरघुवीर! क्या मेरा हृदय पत्थरसे भी अधिक कठोर है, जो मेरा उद्धार करनेमें आपपर इतना भार पड़ गया?' अपनी ओर देखनेपर कविका दैन्य मुखरित हो उठता है—

हमहूँ कछु लघु सिल न जो सहजहिं दीनौ तार।
लगिहै इत कछु बार प्रभु, हम तौ पाप पहार॥
(भारतेन्दु ग्रन्थावली खण्ड २—रामलीला)

'प्रभो! हम (अहल्याकी भाँति) साधारण शिला नहीं हैं, जिसे आपने सहज ही संसार-सागरसे पार कर दिया था। हमारे लिये आपको कुछ समय लगाना पड़ेगा; क्योंकि हम तो पापके पहाड़ हैं।'

अवधी लोक-साहित्यमें भगवत्कृपा

(लेखक—डॉ० श्रीधनवतीजी, एम्० ए०, बी० टी०, पी-एच्० डी०)

जिसकी छायामें क्षण हँसता है, कण हुलसता है तथा जिससे रहित क्षण अभिशाप है और कणकी तो बात ही क्या, परम शक्तिशाली अणु-परमाणु भी तुच्छ हैं, उसी भगवत्कृपाकी कोरको सृष्टिका एक-एक क्षण, प्रत्येक कण अपनी ओर खींचता है, उसकी ओर जाना चाहता है।

साहित्य, जिसका सीधा-सादा अर्थ ही 'हितके सहित' है, भगवत्कृपाके बिना कहाँ पनप सकता है? और लोकजीवन? जिसका आधार है—'मारु गोसइयाँ, तोरिहि आस।' 'हे प्रभो! मारो भी, तो भी हमे तो आपकी ही आशा है।' परम विश्वासी, नितान्त सरल, कर्मठ तथा करुण-कोमल लोक-मानसकी हृत्तन्त्री तो भगवत्कृपाके कर-कमलोका स्पर्श पाकर हो झङ्कृत होती है, सस्वर होती है। अशिक्षित, अभाव-ग्रस्त, अपनी सीमामे संकुचित, पग-पगपर कठिनाइयोसे जूझनेवाले ग्रामीण लोगोके पास यदि भगवत्कृपाका सम्बल न हो तो उनका जीवन दूभर ही नहीं, नरकके समान यन्त्रणादायी हो जाय, इसमे सदेह नही। उनके जीवनके कदर्यको राम-रसका माधुर्य ही मधुर बनाये रखता है—

'राम क नाम सदा मिसरी, सोवत जागत ना बिसरी।'

वैसे तो साहित्यकी अनेक विधाएँ हैं, भेद-प्रभेद हैं; किंतु लोक-साहित्यके अन्तर्गत लोक-गीत, लोक-कथाएँ तथा लोकोक्तियाँ ही प्रमुख हैं।

गीत लोक-जीवनका रस है, कथा उसकी गति तथा अनुभवके आकरसे निकली, रसनाके रसमे पगी लोकोक्तियाँ पग-पगपर पथ-प्रदर्शन करनेवाली ही नही, अनोखी, अनुपम और आनन्द प्रदायिनी भी हैं।

लोक-गीत—

यह तो निश्चित ही है कि संगीत-रसके बिना जीवन नीरस है। इसीलिये लोक-जीवनके श्वास-प्रतिश्वासमे गीत परिपूर्ण हैं। ये गीत, चाहे पर्वके हों या परिस्थितिके, सस्कारोके हो या समस्या-समाधानके, भगवत्कृपाकाङ्क्षासे ही उनका शुभारम्भ होता है तथा समापन भी भगवत्कृपामे ही होता है।

हिंदू-सस्कारोंमे जन्म, नामकरण, अन्न-प्राशन, मुण्डन, कर्ण-छेदन, यज्ञोपवीत तथा विवाह मुख्य संस्कार हैं। इन संस्कारोमे विभिन्न प्रकारके गीत गाये जाते हैं। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ गीत दिये जा रहे हैं।

प्रायः सभी गीत-गोष्ठियोका श्रीगणेश भगवती देवीके आह्वान तथा उनकी कृपाकाङ्क्षासे होता है।

आओ माता बइठो मोरे अँगना
सतरंगी मैं देहौं बिछाय।
घिया गुड़ देवी क होमु करैहों,
जो मोरिव जज्ञि पूरन होइ जाय॥

'माता भगवती! आइये और मेरे आँगनमे बैठिये। मैं सतरगा बिछौना बिछा दूँगी तथा घी-गुड़से आपके लिये हवन कराऊँगी, यदि मेरा यज्ञ (शुभ-संस्कार) सकुशल सम्पन्न हो जायगा।'

'यज्ञोपवीत' और 'विवाह'के संस्कार क्रमशः अधिक महत्त्वपूर्ण हैं; क्योकि कई बार कुछ-न-कुछ ऐसी त्रुटियाँ हो जाती हैं, जिनके कारण लोक-निन्दा होती है, समाजमे सिर उठाना कठिन हो जाता है तथा जाति-बिरादरीके तानोसे मन दुःखी हो जाता है। अतएव इन संस्कार-समारोहोमे मण्डपमे बैठकर मान-मर्यादाकी रक्षाके लिये माता भगवतीसे प्रार्थना की जाती है।

यज्ञोपवीत-गीत—यज्ञोपवीत-संस्कारमे—

पहिला जनेऊ गनेसजीका देव, दुसरा जनेऊ ब्रह्माजीका देव,
तीसरा जनेऊ महादेवका देव, चउथ जनेऊ विष्णुजीका देव।

इसी प्रकार पाँचवाँ सब देवताओको और छठा पूज्य पूर्वजोको, तब सातवाँ जनेऊ—

सतवाँ जनेऊ बरुआ का देव।

छः जनेऊ भगवत्कृपाकाङ्क्षामें देनेके पश्चात् ही बरुवा (बच्चे)को जनेऊ दिया जाता है।

विवाह-गीत—इसी प्रकार कन्याके विवाहमे सौभाग्यकी कामनाके लिये सर्वप्रथम देवाधिदेव महादेवसे याचना की जाती है—

लाये महादेव बैलु लदाय, सोहगवा अपनी गौराका,
देव गउरा देई तिनुकु सोहगवा हमरी बेटीका।
चलो चलो रे धतूरवा, महादेव केरे पासा

गौरा देई का सोहागु मोरी चन्द्रवदनि पै लागा ।

इसके पश्चात् अन्य सौभाग्यवती स्त्रियोंसे सौभाग्यकी याचना की जाती है। एक अन्य गीतमें सयानी बेटीके विवाहकी चिन्तामें घरके बड़े-बूढ़ोंकी मनःस्थिति तथा कन्याकी सान्त्वनाका चित्र देखिये—

ऊँची महलियाके नीचे दुअरवा, तहँना बाबा उनके सोवैं ना ।
लपकि कै चढ़ि गयीं बेटी महलिया की बाबा सोवौ कि जागौ ना ॥
ना बेटी सोवौं ना बेटी जागौं, चिन्ता लागि तुम्हारी ना ।
काहे को बाबा मोरे सोचु करत हौ, पार लगइहैं भगवानै ना ॥

यहाँ कन्याको पिता-पितामहसे अधिक भगवत्कृपापर विश्वास है और उसी विश्वासको वह अपने अभिभावकोंके सामने प्रकट कर रही है ।

भजन—लोक-जीवनमें प्रभु-स्मरणका एकमात्र सुगम और मनोरञ्जक साधन है भजन । ये झोपड़ीसे लेकर राजमहलोंतक भगवत्कृपाकी अखण्ड ज्योति फैलाते हैं । वैसे 'भजन' शब्द ही भक्तिका पर्याय होनेके कारण भगवत्कृपासे घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है, इसीलिये चाहे संगीतसमारोह हो या किसी भी प्रकारकी गीतगोष्ठी, उसका प्रारम्भ तथा समापन प्रायः भजनोंसे ही होता है ।

लोक-कथा—

गीतके पश्चात् कथा-साहित्यकी बात आती है । बचपनमें जिन्हें अपनी दादी या नानीसे सोते समय कथा-कहानी सुननेका सुयोग ही नहीं, सौभाग्य भी मिला है, वे जानते हैं कि मानव-मनकी प्रत्येक वृत्तिके लिये कोई-न-कोई कहानी लोक-जीवनके पास है । भगवत्कृपाके साथ ही लोक-कथाका प्रारम्भ होता है—

कथा किहानी बिज्जोरानी, चली रामके साथ ।
कहानी चलती ही श्रीरामके साथ है ।

एक कहानी सुदामा ब्राह्मणकी कथासे साम्य रखती है—

यार्कै[2] रहैं दुर्बल ब्राह्मन । झोरी[3] भरी भीख लावैं, ब्राह्मनी म्यॅाड[4] भरि पीसै, कठौता भरि पैवै[5], मुला खायकी बेरिया रहि जाय रौटियां—फोंचियाँ[6] । ब्राह्मन बड़े परेशान । सबते कहेनि, तो लोगन पूछा—कोऊ तुम्हरे जगन्नाथनके पूजा करत हैं ? ब्राह्मन बोले—हम तो नहीं करित, हमार पिता करत रहैं । लोगन कहा—बसि यहै कारन है । ब्राह्मन घॅरै[7] गे औ ब्राह्मनी ते कहेनि, लाव म्हार[8] फीहा लँग्वांटा[9] मैं जगन्नाथन जइहौं । चलते चलते रस्ता मॉ जहाँ टिके हुँआँ[10] चारजने अउर टिके रहैं । उइ चारिउ जन भउरा[11] बनायेनि तो सबका एकु-एकु बढ़िगा । उइ सब परेशान, चारिउ छवार[12] दिखेनि तो उनका दुर्बले ब्राह्मन देखाई परे । उइ सब जने अपन एकु-एकु भउरा दुर्बले ब्राह्मनका दइ दीन्हेनि । ब्राह्मन एकु भउरा खायेनि और तीनि याक राहगीर के हाथे घरै पठै दीन्हेनि । राहगीर जब खोलिके दिखेसि तो वहिमाँ धरे रहैं सोनेके भउरा । वहिके मन माँ लालचु आवा, सोनेके भउरा घर माँ धरि लीन्हेसि और आटाके बनाय कै दै आवा । साम तक वहिके घरका सब सामान गायब, तब वहिकी समझ मा आवा और वहु सोनेका भउरा ब्राह्मनीके दै आवा । वही लागै वहिकै धन-लच्छिमी[13] लउटि आयी ।

कहानी बहुत लंबी है । इसमें पद-पदपर भगवत्कृपाके उदाहरण हैं । यहाँ तो केवल इतना ही बताना पर्याप्त है कि भगवत्कृपा होते ही ब्राह्मणके घर तीन सोनेके 'भउरा' पहुँच गये । ब्राह्मणके लौटनेसे पहले ही ब्राह्मणी 'मालामाल—खुशहाल' हो गयी । 'जस उनके दिन फिरे तस सबकै फिरैं'—कहकर प्रायः प्रत्यक्ष या परोक्षरूपमें भगवत्कृपापर ही कहानीका समापन होता है ।

लोकोक्तियाँ—

गीत और कथाके अतिरिक्त भी हम देखते हैं कि समस्या कैसी भी हो, लोक-जीवन उसका समाधान भगवत्कृपामें ही ढूँढ़ता है । कभी-कभी अनावृष्टि होनेपर गाँवमें कुछ विशेष वर्गके लोग 'लेदा' माँगते हैं । दरवाजेपर पानी फेंका जाता है और उसीमें लोट-लोटकर लड़के गाते हैं—

'कारे मेघा पानी दे, अरे नरइना[14] पानी दे ।'

नारायणसे पानी माँगते ही उनकी आशा-लता लहलहा उठती है—

'कउड़ी[15] गिरी रेत माँ, पानी बरसै खेत माँ ।'

१. बिजली, २. एक, ३. झोली, ४. चक्कीके चारों ओर, ५. रोटी बनाना, ६. गायके लिये छोटी रोटी, ७. घर, ८ मेरा, ९. फटा लँगोट, १०. वहाँ, ११. खूब मोटी छोटी रोटी, १२. तरफ, १३. लक्ष्मी, १४ नारायण, । १५. कौड़ी ।

जिन्होंने ग्राम्य-जीवनका यह दृश्य देखा है, वे गवाह हैं। प्रायः पानी बरसने लगता है; क्योंकि लोक-विश्वास तोप-तलवार-की रक्षामें नहीं जीता। वे जानते हैं कि 'रच्छक राम तो, भच्छक को?' इसीलिये प्रातः उठते ही बड़े-बूढ़े अपने-को ही नहीं, समस्त परिवारको सान्त्वना देते हुए गा उठते हैं—

'राम खबरिया लेबे करिहैं, दाया लागी देबे करिहैं।'

लोक-जीवनका यह अटल विश्वास है कि सब कुछ भगवत्कृपापर ही आधारित है; क्योंकि प्रभु यदि चाहें तो—'छूँछी[१६] भरैं भरी ढरकावैं[१७], जब चाहैं तब फेरि भरावैं।'

सब कुछ भगवत्कृपापर निर्भर है और भगवत्कृपाके अधिकारी भी सब हैं—'गाइव क राम, कसाइव क राम'

गाय और कसाईकी परिस्थितियोंमें आकाश-पातालका अन्तर है; किंतु परम दार्शनिक लोक-अनुभवी जानता है कि निरीह पशु गायकी रक्षा यदि कोई कर सकता है तो केवल श्रीराम और कसाई-जैसे क्रूरकर्माका कल्याण भी श्रीरामके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं कर सकता। इसीलिये उन्हें सांसारिक कोपकी जरा भी परवाह नहीं होती—

'राम न रिसाँय चहै दुनिया रिसाय।'

दुनिया रिस करके कर भी क्या लेगी?

केवल लोकोक्तियाँ ही नहीं, कुछ शब्दोंमें भी भगवत्कृपाका चमत्कार विचारणीय है। नमक—जिसके बिना सब अलोना है, लोकशब्द-कोशमें उसका दूसरा नाम है 'रामरस'। बस, सोचते चले जाइये, जहाँ रामरस नहीं, वहाँ सब रस फीके। लोक-जीवनमें श्रीराम और काम अभिन्न हैं। वहाँ चिड़िया चुगती नहीं, 'रामका करवा' भरती है, जहाँ पेट भरनेकी उपमा 'रामका करवा' भरनेसे दी जाय, वहाँ द्वैत कहाँ? परायापन कहाँ? वहाँ तो—

'रामकी चिड़िया, रामका खेत, खाव चिरइया भरि-भरि पेट।'

'रामका करवा' भरना है, रामकी ही चिड़िया है और खेत भी रामका ही है। इन लोकोक्तियोंको मानव-जीवनमें घटित करके देखिये तो इनमें जीवनका उद्देश्य, धर्म-अर्थ-काम सरल भावसे समाहित मिलेंगे। धर्मकी बात तो इतनी ही है कि अर्थ और काम उससे शासित रहें, किंतु लोक-जीवन तो इससे भी आगे निकल गया है—

राम नाम के कारना सब धन डारेनि खोय।
मूरुखु जानै गिरि परा, दिन-दिन दूना होय॥

और भी कहा है—

'रामै औषधि रामै मूरि, रामै करैं बिथा सब दूरि।'

यह है अवधी लोक-साहित्यमें भगवत्कृपाकी अनुपम अनूठी झाँकी, इसे देखनेके लिये ज्ञानका चश्मा नहीं लगाना है, हृदयकी आँखें खोलनी हैं।

'भगवत्कृपा ही तीनों लोकोंमें समाई है'

(रचयिता—कविरत्न श्रीउमादत्तजी सारस्वत 'दत्त')

भगवत्कृपा से चढ़ जाता पंगु पर्वतों पै,
भगवत्कृपा से सिद्धि साधकोंने पाई है।
भगवत्कृपा से गूँगा बोलता है मीठे बैन,
भगवत्कृपा से देता अंधे को दिखाई है॥
भगवत्कृपा से बधिर पाता श्रवण-शक्ति,
भगवत्कृपा से वाणी होती सुखदाई है।
भगवत्कृपा से ब्रह्म-ज्ञान की है प्राप्ति होती,
भगवत्कृपा ही तीनों लोकोंमें समाई है॥

१६. रिक्त, १७. खाली कर देना।

राजस्थानी लोकसाहित्यमें भगवत्कृपा

(लेखक—डॉ० श्रीमनोहरजी शर्मा)

राजस्थानी लोकसाहित्यका नाम लेते ही बहुसंख्यक वीर-रसात्मक काव्य-कृतियोंकी ओर सहज ही वृत्ति चली जाती है, परंतु साथ ही यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि ज्ञान, योगादिसे सम्पन्न राजस्थानी लोकसाहित्यमे उसके आदिकालसे अद्यावधि भक्तिरसकी पुनीत धारा भी सततरूपसे प्रवाहित है और उसने लोक-जीवनको प्रेरणा प्रदान करनेमे असाधारण योग दिया है।

राजस्थानी भक्ति-साहित्य विविध शाखाओंमें विभक्त है। उसमें सगुण तथा निर्गुण भक्तिविषयक छोटी-बड़ी अनेक काव्य-रचनाएँ उपलब्ध हैं। जनसाधारणने जहाँ राजस्थानी भक्त-कवियोंके पुनीत पदोंसे अपने जीवनको सरस और सात्त्विक बनाया है, वहाँ निर्गुण संतोंकी निर्मल वाणीका अमृतपान भी किया है।

राजस्थानमें अनेक भक्ति-केन्द्र एवं आचार्य-संस्थान हैं, जिनकी संत-परम्परामें अनेक भक्त, कवि-कोविद हुए हैं।

राजस्थानी काव्यमें भक्ति-तत्त्वके सभी अङ्गोंसे सम्बन्धित सामग्री प्रचुरमात्रामें उपलब्ध है। उसमें संसारकी नश्वरता, मायाकी प्रबलता, ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता आदि निरूपित हैं। राजस्थानी काव्यमें भक्त-हृदयकी सरलता और परम प्रभुकी अपार कृपालुताका बड़ा ही मार्मिक और रसपूर्ण अङ्कन हुआ है। इस विषयमें भक्त-हृदयके उद्गार इतने सरस एव प्रभावोत्पादक हैं कि श्रोता उनके प्रति सहज ही आकर्षित हो जाते हैं।

जब भक्तपर विपत्ति आती है, तब उसका हृदय भगवान्‌की कृपा प्राप्त करने-हेतु सहज ही पुकार उठता है; क्योंकि जब-जब भक्तोंपर कष्ट पड़ा है, तब-तब भगवान्‌ने उनकी सहायता की है। इन कृपा-कथाओंकी ओर संकेत करते हुए वह कष्ट-निवारणार्थ भगवान्से प्रार्थना करता है। उसे भगवान्‌की कृपाका पूरा भरोसा है। सर्वप्रथम जोधपुरके महाराणा श्रीअजीतसिंहके 'गज-उद्धार' ग्रन्थमे वर्णित ग्राह-पीड़ित गजराजकी गुहार सुनिये—

साद्दे आवौ सांवला, भगतां करवा भीर।
कह मोकूं राखै कवण, राम बिना रघुबीर॥
भीड़ पड़ी जद भगत कूं, साहि करी ब्रजराज।
लाज हमारी राखियो, यूं टेरत गजराज॥
रावण के दह छेद सिर, बांधे सायर पाज।
दीन्ह भभीखण कूं दियो, लंका गढ़ को राज॥
कंस पछाड़यौ कृष्ण जूं, कारण संतां काज।
मेटयौ संकट मात-पितु, उग्रसेन दे राज॥
राख लियो प्रह्लाद कूं, हिरणाकुस कूं मार।
थंभ फाड़ परगट भये, धन नरहर अवतार॥
धू कूँ दियौ अटल पद, सांची करी सहाय।
ग्राह तणां फंद मांहि सूं, लीजै मूझ छुड़ाय॥
हाथी बहु हेला दिये, कर बाहर करतार।
वेगा आवौ वरदपत, मेरी भीड़ मुरार॥
लांबी बांहां रावली, मो सिर दीजै हाथ।
तांतू जल ताणीजतां, राख लियौ रघुनाथ॥

उपर्युक्त दोहोंमें कविने गजकी पुकार बोलचालकी सरल राजस्थानी भाषामें प्रकट करके अत्यन्त करुणापूर्ण वातावरण प्रस्तुत किया है, जो लोक-हृदयको सहज ही द्रवित कर देता है। लगभग यही रूप श्रीरामनाथ कविया (चारण) विरचित 'करुणा बावनी'में द्रष्टव्य है, जहाँ द्रौपदी भगवान्‌को इस प्रकार पुकार रही है—

रटियो हरि गजराज, तज खगेस फिर तारियो।
आवण देरी आज, सो नह कीजै, सांवरा॥
लड़कापण प्रह्लाद, आद थनैं कीनो अवस।
विण रो राख्यो वाद, सिंहनाद कर, सांवरा॥
आसा राखी एक, सुमिरण तो निस-दिन सदा।
टाबर धू री टेक, तूं राखी वसुदेव-तण॥
सरै भगतां लाज, लंकागढ़ रघुपत लड़्या।
करण भभीखण काज, सिर दस तोड्या, सांवरा॥
रखियो जळ सुरराज, धर अंबर इक धार सूं।
करै अभय ब्रज काज, कर गिर धार्यौ, कान्हड़ा॥
विप्र सुदामा वार, कोड़ां धन लायौ कठा।
भवण चीर बिस्तार, सरभा मटगी, सांवरा॥

भक्त तुलसीदासपर कृपा

तुलसीदासके पहरेदार

नरसीजीका भात

भक्त नरसीपर कृपा

गुजराती लोक-साहित्यमें भगवत्कृपा

(लेखक—काव्यशास्त्री श्रीहिम्मतलाल भलुशंकर झांवड़ी)

श्रीहरि परम दयालु हैं। मनुष्यकी तो बात ही क्या, उन्होंने पक्षियोंकी भी रक्षा की है। होला-होली नामक पक्षीका जोड़ा बड़ी कठिन विपत्तिमें फँस जाता है। प्राणसंकटकी स्थितिमें निरुपाय होकर वह सहायताके लिये परमात्मासे प्रार्थना करता है। भगवान् उनकी सहायता करते हैं और उनकी प्राणरक्षा होती है। कवि धीरा भक्त*की सरस वाणीमें वर्णन पढ़िये। रचना मुक्तक पदोंमें है—

होलो होली कहे छेरे
प्रभुजी मारी वहारे चढो।
बच्चा माला माँहे रे,
तळे आवी भी खडो॥
ऊपर आव्यो बाज
पोलाण माँथी सर्प निसरियो।
तेणे तो सरी गया काज
गरुड नो गामी रे,
हरि विरददार बडो—होलो०॥
विनति सुणी विट्ठल पर वरिया
साप माटे निरवाण,
तिर ने खेंचता पारधीनो
तत क्षण लीधा प्राण।
बाण त्यायीछुटयु रे,
बाज आवी ऐंठे पड्य—होलो०॥
जुओ हरि केवो संकट मोचन
बच्यां बचाव्या कृपाळ;
काळुं करनारनुं करतो काळुं
एवो ए दीन दयाल।
कालनो काल कालोरे
प्रह्लाद नी वहारे चढयो—होलो०॥
कठण वेलाए कारज करशे
भजन करो भय जाय।
स्वामी सेवा नु फळ अमोले
अंत समे करे महाय।
थाय हरि ऊभो रे
कदी, काल सामे तू चडयो—होलो०॥

पक्षी प्रभुसे प्रार्थना करते हैं—'हे प्रभो! हमारी सहायता करो। हमारा बच्चा घोंसलेमें है, वृक्षके नीचे भील (व्याध) आकर खड़ा है, ऊपर बाज आकर बैठा है तथा उधर बिलमेंसे साँप निकल रहा है। चारों ओर काल नाच रहा है। हे कृपालो! आपका विरद बहुत बड़ा है, कृपा करो।'

'रक्षा करनेवाले विट्ठल भगवान्ने तत्काल उनकी विनती सुनी। भील, जो धनुषपर बाण चढ़ाकर खड़ा था, उसे सर्पने काट लिया, वह गिर पड़ा, उसके गिरनेसे सर्प दबकर मर गया और उसका बाण धनुषसे छूटा, जो जाकर बाजको लगा और वह मरकर जमीनपर जा गिरा। धीरा भक्त कहते हैं कि इस प्रकार प्रभुने कृपा करके संकट काटा। प्रभु कालके भी काल हैं, दीनदयालु हैं। देखिये, प्रह्लादको कैसे बारंबार कृपा करके कालके मुखसे बचा लिया। वे विपत्तिके समय सहायता करते हैं। प्रभुका भजन कीजिये, भय दूर हो जायगा। प्रभुकी भक्तिका फल अनमोल है। प्रभु अन्तमें सहायता करते हैं। अरे प्राणी! काल तेरे सामने खड़ा है, तू प्रभुकी शरण जा, वे खड़ा होकर तेरी रक्षा कर रहे हैं।'

(२)

काचवो अने काचवी

कल कल माँ काचवी कुडी रामैया नी रीति छे रूडी।
धणी नो आसरो धारे, तेने मारो सायबो तारे॥
काचवो काचवी साथ माँ रहेता हतां हरि ना दास,
दर्शन काजे बहार निकला, राखीने विश्वास।
निकलता नजरे आव्यों पाराधीए बांधी बाण्यां॥
काचबी कहे छे काचवा ने ते कंथ न मान्यु केण।
काल आव्यो हमे कोण राखशे, तमे निचा ठालो नेण।
प्रभु तारो नाव्यो प्राणी माथे आवी मीत नीसाणी॥
काचबो कहे छे काचवीने तुं राख्यने धारण धीर,
आपणने उबारशे ओल्यो जगभेरु जदुवीर।
चींता मेली शरणे आवो मर वा तुने नहीं दे मावो॥

उपर्युक्त लोक-गीतमें भी भगवत्कृपाका बड़ा सुन्दर अङ्कन हुआ है। ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि एक सरोवरमें

* ये गुजरातीके कवि सावलीके निवासी थे। इनका समय सन् १७५३ से १८२५ ई० है।

एक कछुवा और एक कछुवी रहते थे। उनका नित्य सत-दर्शन करनेका नियम था। एक शिकारी इस रहस्यको जानकर साधुओं-जैसे वस्त्र पहने सरोवरके निकट पहुँचा। कछुवा ऐसा विश्वास करके कि ये कोई संत पुरुष ही हैं, दर्शनार्थ सरोवरसे बाहर आने लगा। कछुवीको कुछ संदेह-सा हुआ, उसने कछुवेसे कहा—'स्वामिन्! मुझे आज बाहर चलना न जाने क्यों अनिष्टकर प्रतीत हो रहा है। कृपया आज बाहर न जायँ।' संत-सेवी कछुवेको उसकी बात न जँची। लाचार हो कछुवीने भी अनुगमन किया। पारधीने दोनोंको उठाकर झोलीमें डाल लिया। अपनी झोपड़ीमें आकर उसने दोनोंको हँडियामें पकाना आरम्भ किया। कछुवी बोली—'आपने मेरी बात नहीं मानी! क्या संत पुरुष ऐसे ही होते हैं? अब हमारी कौन रक्षा करेगा? मौत सिरपर नाच रही है। आपके प्रभु कहाँ रहे?'

कछुवेने कहा—'तू धैर्य रख। वे अवश्य रक्षा करेंगे।'—ऐसा कहकर वह स्वयं हँडियाकी तलीमें चला गया और कछुवीको अपनी पीठपर ले लिया। उसी समय भक्तवत्सल करुणासागर भगवान् अचानक वर्षारूपमें प्रकट हो गये। इतना अधिक पानी बरसा कि हँडियाके नीचे जलती हुई आग तो शान्त हो ही गयी, ऊपर उतारू उस पारधीकी झोंपड़ी भी बह गयी। वह असहाय खड़ा देखता ही रह गया। भगवान् अपने आश्रितोंका कष्ट नहीं देख सकते, उनकी अहैतुकी कृपाने कछुवा-कछुवी दोनोंकी रक्षा की।

इस प्रकारके पद, दोहा तथा भजन गुजराती लोक-साहित्यमें बहुत प्राचीन-कालसे ग्रामीण भाषामें रचे जाते रहे हैं और समूहमें बैठकर गाये जाते हैं। आज भी रातके समय गाँवके लोग व्रत-त्योहारके दिन इकट्ठे होते हैं। दो-चार भक्त एकतारा, रामसागर आदि वाद्ययन्त्रोंके साथ पदोंको बोलते हैं और लोगोंके हृदयोंमें भगवद्भक्तिका अजस्र प्रवाह बहने लगता है।

कृपाकी भीख !

भगवन्! आपकी असीम कृपा है, जिससे हमें यह सुरदुर्लभ, साधन-धाम मनुष्य-शरीर मिला है। पर नाथ! हमें इस कृपाका स्मरण कहाँ है? हम तो संसारकी बाह्य चमक-दमकसे चौंधियाकर केवल आपकी कृपाको ही नहीं, प्रत्युत इस शरीरके प्रदाता, परम कृपामय स्वयं आपको भी भूल गये हैं। यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है!

भगवन्! आपने तो सिखाया था कि 'तुम सदा-सर्वदा मेरा स्मरण करते हुए ही अनासक्त होकर सब कर्म करो और अपना प्रत्येक कर्म मुझे अर्पण करते रहो।' परंतु यह सदुपदेश हम क्यों स्मरण रखने लगे? हम तो तनिक-सा काम करके भी अभिमानसे ऐंठ जाते हैं और उसीका बहुत बड़ा तथा तात्कालिक फल चाहते हैं। अभिमानमें कार्यकी सिद्धि कहाँ है? वह तो पतनका मूल है, परंतु इस बातपर कौन विचार करे? बस, फल मिलना चाहिये और वह भी कर्मसे कहीं अधिक। यदि नहीं तो फिर हमारे मनके संसारमें आपका अस्तित्व ही कहाँ है? कितना मूर्खतापूर्ण निर्णय है!

भगवन्! आपके कृपापूर्ण परमपावन चरित्रमें त्यागका कितना उच्च स्थान है; पर हमारे मनमें उसके लिये आदर और कृतज्ञता कहाँ? हम तो एकदम असावधान बन रहे हैं, और संसारके सभी विलासोंको मनमाना भोगते हुए ही आपका सच्चा कृपापात्र कहलाना चाहते हैं? कभी-कभी तो हमारी यह वृत्ति इतनी नीची तहतक पहुँच जाती है कि हम अपने भौतिक आरामके लिये सैकड़ों निरपराध प्राणियोंको दुःसह पीड़ा पहुँचानेमें भी नहीं हिचकते।

भगवन्! क्या हमारी यह दूषित मनोवृत्ति कभी बदलेगी? कभी आपकी परम कृपाका हमें अनुभव होगा? प्रभो! अब तो बहुत हो चुका! हमने अपनी करनीका पर्याप्त फल पा लिया, मनुष्य-जीवनको खूब ही कलंकित किया। कृपासिन्धु भगवन्! अब आपके पावन चरणोंमें यही करबद्ध प्रार्थना है कि आप अपनी कृपाकी ओर देख, हमारे सभी अक्षम्य अपराधोंको क्षमाकर हमें अपना लें। हे प्रभो! ऐसी कृपाकी भीख दो, जिससे इस जीवनका उद्देश्य, जिसके लिये आपने हमें जन्म दिया है, शीघ्र ही सफल हो।

—एक भूला हुआ

आङ्ग्ल-साहित्यमें भगवत्कृपा

(लेखक—डॉ० श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्०टी०, एल्-एल्०बी०, साहित्य-वारिधि)

साहित्य एक ऐसा विशाल समुद्र है कि अल्पजीवी मानव आजीवन उसमें गोते लगाता रहे तो भी उसकी थाह नहीं पा सकता। पाश्चात्य साहित्य भी अनेक भाषाओंका विशाल भण्डार है, परंतु इस विविधताके बीच अंग्रेजी साहित्यकी प्रमुखता प्रायः सर्वसम्मत है। व्यापक महत्त्वके साथ ही अंग्रेजीपर ईसाई-धर्मकी छाप भी एक विशेषताके रूपमें विद्यमान है। भारतमें एक लंबे समयसे अंग्रेजी भाषा और साहित्यके अध्ययन और अध्यापनके परिणामस्वरूप हमने भी इस अन्ताराष्ट्रिय सम्पर्क-सूत्रद्वारा विदेशी साहित्य-जगत्से थोड़ा-बहुत नाता जोड़ रखा है। 'लियो टाल्सटाय' और 'अनातोले फ्रांस' जैसे जाने-माने पाश्चात्य साहित्यकारोंकी सूक्तियोंका रसास्वादन भी हम अंग्रेजीके माध्यमसे ही कर सके हैं। प्रस्तुत लेखके संक्षिप्त कलेवरमें आङ्ग्ल-साहित्यमें भगवत्कृपाकी एक झलकमात्र दिखाना ही अभीष्ट है। आङ्ग्ल-मनीषियोंकी विचारधारा पाश्चात्य साहित्य-जगत्के अन्यान्य विद्वानोंसे प्रायः मिलती-जुलती है। हम समन्वय-बुद्धिसे पूर्व और पश्चिममें साम्य देखनेका प्रयास करें।

भगवत्कृपाके अनन्त सामर्थ्यको संस्कृत-साहित्यमें सूत्ररूपमें व्यक्त करते हुए विनय की गयी है—

> मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
> यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥
>
> (श्रीमद्भा० श्रीधरस्वामिकृत मङ्गलाचरण)

हिंदी-साहित्याकाशमें सूर्यकी भाँति प्रकाशमान महात्मा सूरदासजीने भी इसी भावको अपने शब्दोंमें व्यक्त किया है—

> चरन-कमल बंदौ हरि-राइ।
> जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौं सब कुछ दरसाइ॥
>
> (सूरसागर १)

आङ्ग्ल-साहित्यमें भगवत्कृपाके लिये God's grace (गाडस् ग्रेस) या केवल Grace (ग्रेस) शब्द प्रचलित हैं। Grace (ग्रेस)के पर्यायवाची हैं—Mercy (मर्सी) तथा Clemency (क्लीमैन्सी)। ईश्वरकी अपार अनुकम्पाके लिये आभार तो कोई क्या प्रकट करेगा, परंतु धन्यवाद कहिये या स्मरण कहिये—भोजनके पहले या पीछे ईसाईलोग 'ग्रेस' शब्दसे धन्यवाद प्रकट करते हैं। हम भारतीयोंको भी जन्मसे ही सीख दी गयी है कि हम भोजनकी थालीको सामने पाकर अन्नदेवताका अभिवादन या इष्टदेवको अर्पण करें।

ईश्वर सभी धर्मोंमें पूज्य, आराध्य और उपास्य हैं। वे सदासे ही हैं और सदैव रहेंगे। वैदिक धर्मानुयायियोंकी भाँति ईसाईलोग 'प्रार्थना'के द्वारा भगवत्कृपाकी ही याचना करते हैं। वे गिरजेकी सामूहिक प्रार्थनामें अतीत और भविष्यमें अपनेसे होनेवाले सभी पापोंके लिये क्षमा-याचना करते हैं। निश्चय ही वे इस प्रार्थनाके द्वारा अपनी भूलोंके लिये पश्चात्ताप करते हैं और कामना करते हैं कि वे शुद्ध और सदाचारी जीवन बितायें, जिससे उन्हें परम प्रभुकी अनन्त कृपा प्राप्त हो।

ईश्वर अकेले थे। उन्होंने अपना अकेलापन दूर करनेके लिये संसार बनाया। हम मनुष्य उन परमात्माके हाथोंके खिलौने हैं। ईश्वरने संसारको सब प्रकारके वैभवसे सम्पन्न रखनेकी बड़ी कृपा की है। हमें बुद्धि और विवेकसे सम्पन्न कर मानव-देह प्रदान करना भी उनकी महती अनुकम्पा ही है।

कौन-सा ऐसा धर्म है, जो प्रकृति (Nature)से मन्त्रमुग्ध होकर उसे ईश्वरीय लीलाका विलास नहीं मानता ? ईश्वरके अस्तित्वमें नास्तिकोंका विश्वास भले ही न हो, परंतु चतुर्दिक् बिखरे हुए प्रकृतिके सौन्दर्यपर तो वे भी रीझे बिना नहीं रहते। प्रकृति-प्रेमी कवि 'विलियम वर्ड्सवर्थ' तो सांसारिकतासे खीझकर 'पैगन' (प्रकृति-उपासक) बननेकी इच्छा प्रकट करता है, जिससे वह घासके किसी सुहावने भूमि-भागपर स्थित होकर समुद्रके ऐसे दृश्य देख सके और ऐसे संगीत सुन सके, जो उसकी उदासी या सूनेपनको कम कर सकें। जीवका स्वभाव है कि वह किसी-न-किसीका आश्रय लेता है, किंतु जडताका आश्रय लेनेवाला स्थायी प्रसन्नता प्राप्त नहीं कर सकता, अतः जो परमात्मा प्रकृतिके भी कारण हैं, उनका ही आश्रय लेना परम पुरुषार्थ है।

अंग्रेजीमें कितनी ही प्रेरक कृतियोंकी सृष्टि करनेवाला

'स्वेट मार्डन' कहता है—'सुसंस्कृत व्यक्तिके लिये प्रकृतिके उपहार सर्वशक्तिमान् ईश्वरके शाश्वत संदेश हैं, जिनमें वे अपने सर्जनकी गाथाका चित्रण करते हैं और मानवमात्रको उसके मन्तव्यकी ओर भेजते हैं।'

प्रकृति हमे संघर्षरत होनेके लिये सुदृढता प्रदान करती है। वह हमें कठिनाइयाँ सहनेकी सामर्थ्य प्रदान करती है, जिससे हम ऐसे चरित्रका निर्माण कर सकें, जो महान् उद्देश्यकी प्राप्ति (पूर्ति) करानेवाला हो। स्वामी रामकृष्ण परमहंसके अनुसार—'भगवत्कृपाकी वायु मनुष्योंके सिरपर रात-दिन बह रही है।'

'बुक आफ कामन प्रेयर' (सामान्य प्रार्थनाकी पुस्तक) मे एक विनय है—

'Grant us grace to contend fearlessly against evil and to make no peace with oppression and that we may reverently use our freedom. Help us to employ it in the maintenance of justice among men and nations'

'हमें कृपा प्रदान कीजिये, जिससे हम निर्भय होकर बुराईसे संघर्ष कर सकें और अत्याचारसे कोई समझौता न करें, जिससे हम अपनी स्वतन्त्रताका उपभोग सम्मानपूर्वक कर सकें। हमारी सहायता कीजिये, जिससे हम मनुष्यों और राष्ट्रोंके बीच न्याय बनाये रखनेमें उसका सदुपयोग कर सकें।'

अंग्रेजीमें एक कहावत है—'First deserve, then desire'—'पहले योग्य बनो और तब आकाङ्क्षा करो।' ईश्वरकी कृपा सत्कर्म और स्वावलम्बनमें निवास करती है।

प्रसिद्ध अंग्रेजी-कवि लांगफेलोके अत्यन्त प्रेरक उद्गार हैं—

Act, act in the living present,
Heart within and God overhead.

'अपने आपमें दृढ़ आस्था रखकर पूर्ण भगवदाश्रित रह अपने वर्तमान (जीवन) में कार्य करो, कार्य करो।'

ईसाइयोंकी धर्म-पुस्तक 'बाइबिल'के अनुसार मानवीय कर्ममें सर्वोपरि है 'दया'। बाइबिलमे कहा गया है—'हमें वीरतापूर्वक कृपाके सिंहासनतक जाना चाहिये, जिससे हम दया और उत्तम कृपा पा सकें, जो आवश्यकताके समय सहायक हो।' 'न्यू टेस्टामेंट' (नया नियम) की विज्ञप्ति है—'Blessed are the merciful, for they shall obtain mercy.'

'दयावान् भाग्यशाली हैं, क्योंकि उन्हें ईश्वरकी अनुकम्पा प्राप्त होगी।'

'God is a spirit and they that worship Him, must worship Him in spirit and in truth'.

'ईश्वर सत्य (आत्मा) है, और वे, जो उसकी पूजा करते हैं, उन्हें निष्ठा और सत्यतासे उसकी पूजा करनी चाहिये।'

स्पष्टतया ईश्वरकी सच्ची पूजा है उनके द्वारा निर्मित सृष्टिके प्रति पवित्र-प्रगाढ प्रेम। सृष्टि और उसके सिरजनहारके प्रति पुनीत प्रीति ही हमें अनन्त कृपासे विभूषित कर सकती है। भगवत्कृपा मिल जानेपर हमें किसका भय रह जायगा। 'न्यू टेस्टामेंट'का ही उद्घोष है—'If God be for us, who can be against us ?'

'यदि ईश्वर हमारे अनुकूल (पक्षमें) हैं तो प्रतिकूल (विपक्षमें) कौन हो सकता है?'

विख्यात नाटककार 'शेक्सपियर'ने भी दयाकी बड़ी प्रशंसा की है। उनका कथन है—'Sweet mercy is nobility's true badge.'

'मधुर दया उदारताका सच्चा पदक—प्रतीक है।'

कवि लांगफेलो कृपाके साथ न्यायके सम्मिश्रणके पक्षमें है—

Being all fashioned of the self same dust,
Let us be merciful as well as just.

'हम सब एक ही तरहकी मिट्टी (रज) से निर्मित हैं, अतएव हमें दयालु और न्यायपरायण होना चाहिये।'

अनन्त सौन्दर्य और अनन्त शक्तिपर रीझनेवाले गोस्वामी तुलसीदासजी भी तो शील-साधनाका ही समर्थन करते दिखायी देते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपातें संत सुभाव गहौंगो ॥

(विनयप० १७२। १)

'क्या कभी मैं इस रहनीसे रहूँगा ? क्या कृपालु श्रीरघुनाथजीकी कृपासे कभी मैं संतोंका-सा स्वभाव ग्रहण करूँगा।'

दिव्य प्रेमकी ज्वालामें भगवत्प्रेमियोंकी भोग-मोक्षसम्बन्धी समस्त कामनाएँ,—संसार-विषयक सभी आसक्तियाँ भस्म हो जाती हैं। उनके लिये सर्वस्व-त्याग सहज स्वाभाविक होता है। वे तो नित्य-निरन्तर परमप्रभुके मधुर स्मरणमे निमग्न रहते हैं। पाश्चात्त्य विद्वान् होरेसका कथन है—'Unless a man practises privation, he will not find favour with the gods.'

'जबतक मनुष्य दुःख-त्यागका अर्थात् कष्ट-सहनका अभ्यास नहीं करता, तबतक वह देवताओंकी प्रसन्नता नहीं पा सकता ।'

'विलियम कूपर'को भी दुःखकी चिन्ता नहीं है—उनका तो परमपिताकी अत्यन्त सबल अनुकम्पापर ही अडिग विश्वास है । ईश्वरीय विधानमें कहीं भी कुछ कठोरता दिखायी दे, परंतु उन्हें विश्वास है कि परिणाम मधुर ही होगा । ईश्वर-विषयक उनकी दो सुन्दर कविताओंमें उनकी यह आस्था स्पष्ट प्रकट है । उनके उद्गार हैं*—

(१) 'जब मैंने सबसे पहले परमेश्वरका दर्शन किया, मुझे विदित हो गया कि उनकी कृपा कहाँ है । तब मैंने कितनी ही शान्तिमयी घड़ियोंका रसास्वादन किया । अब उनके अभावमें करुण व्यथाभरी रिक्तता दीखती है, जिसे संसार कभी नहीं भर सकता ।'

(२) 'अपनी कमजोर अल्पबुद्धिसे परमेश्वरकी शक्ति मत नापो, उनकी कृपाके प्रकाशमें उनपर विश्वास करो । निर्मम-क्रूर प्रकृतिकी ओटमें वे अपनी मृदु मुसकान छिपाये रहते हैं । प्रत्येक घड़ीके रहस्योद्घाटनस्वरूप उनके विधान शीघ्रतासे सफल होंगे । कली भले ही कड़वी लगे, पुष्प तो मधुर होगा ही ।'

ईश्वरकी गहन अनुभूतिमें 'कूपर'ने महती शान्ति पायी है और उन सुखद क्षणोंकी स्मृति भी अत्यन्त मधुर है । वह चाहता है कि भगवत्कृपापर विश्वास किया जाय । कलीका स्वाद कड़वा हो सकता है, पर फूल तो निश्चय ही मधुर होगा ।

'पोप'नामक एक कविकी अपने प्रभुसे अधिकतम चाह यही है कि 'वह दया, जो मैं दूसरोंके प्रति दिखाता हूँ, आप मेरे प्रति दिखाइये ।'

भगवान् तो आस्तिक-नास्तिक सभीका पोषण करते हैं । उनकी कृपाका लाभ प्रत्येक जीवधारीको सब समय सुलभ है; परंतु धर्ममें आस्था भगवत्कृपाके लिये प्रमुख शर्त है । 'लियो टाल्सटाय'के अनुसार—Faith is the force of life. 'आस्था जीवनकी शक्ति है ।'

महाकवि 'टैनीसन'की सम्मतिमें—'आँधी-भरे इस संसारमें जो कुछ उन्नत है, वह विश्वास है और जो अवनत है, वह नास्तिकता है ।'

निबन्धकार 'फ्रांसिस बेकन'की दृष्टिमें नास्तिकता मनुष्यके हृदयकी अपेक्षा ओठोंमें ही है । आशय केवल इतना है कि बातोंसे कोई भले ही नास्तिक बना रहे, परंतु उसका अन्तःकरण किसी-न-किसी रूपमें ईश्वरकी अनुभूति किये बिना नहीं रह सकता ।

ईश्वरीय आदेश प्राप्त करना और इस निर्देशनके अनुसार अपनी जीवन-धारा मोड़ लेना ही प्रभु-कृपाका प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

किसी लेखकका कथन है—'To follow God's guidance is to attain true peace.'

'ईश्वरके निर्देशका अनुगमन करना सच्ची शान्तिको प्राप्त करना है ।' इसीलिये 'क्रिस्को' विनय करता है—

'Lord ! guide today in my work, my conversation and my thoughts.'

'प्रभो ! मेरे काम, मेरे संलाप और मेरे विचार आज ही निर्देशित कीजिये ।' मन, वचन और कर्म—तीनोंसे शुद्ध व्यक्ति क्या कभी भगवत्कृपासे वञ्चित रह सकता है ।

पाश्चात्य साहित्यकार 'एडीसन'की पङ्क्तियाँ भी विचारणीय हैं—

When all thy mercies, O my God !
My rising soul surveys
Transported with the view I'm lost
In wonder, love and praise.

'हे मेरे ईश्वर ! जब मेरी प्रबुद्ध आत्मा आपकी सभी कृपाओंका सर्वेक्षण करती है, मैं उस दृश्यके साथ तन्मय होते (उड़ान भरते) हुए आश्चर्य, प्रेम और प्रशंसामें खो (आत्मविभोर हो) जाता हूँ ।'

भगवत्कृपाका रसास्वादन प्राणिमात्रका सहज स्वत्व है । जीवनको शान्ति, आह्लाद, सफलता और उत्कर्षसे परिपूर्ण कर रखनेवाली भगवत्कृपा ही है ।

---

* (1) Where is the blessedness I knew
When first I saw the Lord ?
What peaceful hours I once enjoyed,
How sweet their memory still !
But they have left an aching void,
The world can never fill.
(Oh ! For a closer walk with God)

(2) Judge not the Lord by feeble sense,
But trust him for his grace,
Behind a frowning providence,
He hides a smiling face.
His purposes will ripen fast,
Unfolding every hour,
The bud may have a bitter taste
But sweet will be the flower.
(God moves in a mysterious way)

भगवत्कृपा और भाई लारेंस

भगवद्भक्त भाई लारेंसका जन्म सन् १६११ ई०में फ्रांसके 'लोरेन' प्रान्तमें एक अशिक्षित और निर्धन परिवारमें हुआ था। इनका नाम 'निकोलस हरमन' था। भगवान्के प्रति अटूट श्रद्धा, भक्ति, रति और विश्वासके फलस्वरूप इनका जीवन उत्तरोत्तर उन्नत होता गया। अन्तमें ये परम संतकी कोटिमें पहुँच गये एवं 'भाई लारेंस'के नामसे प्रख्यात हुए।

पहले ये एक साधारण सिपाही रहे, पीछे महाशय 'फोवर्ट'के यहाँ इन्होंने दरवानी की और अन्तमें पंद्रह वर्षोंतक पाचक (रसोइये)का काम किया। अठारह वर्षकी अवस्थामें ही इनपर भगवत्कृपा हो गयी थी। तबसे इनका जीवन एकमात्र भगवत्प्रेमकी समाधिमें ही बीता।

भाई लारेंस कहते हैं—अठारह वर्षकी अवस्थामें मुझपर भगवान्की एक अनोखी कृपा हुई, जिससे मेरी जीवन-प्रणाली ही बदल गयी और मैं भगवद्विश्वासी बन गया।

शिशिर-ऋतुमें मैंने एक वृक्षको पत्रहीन देखा, देखते ही मेरे मनमें विचार उठा कि 'यह नंगा वृक्ष थोड़े ही कालमें नयी हरी-हरी पत्तियोंसे आवृत हो जायगा। तदुपरान्त पुष्पों और फलोंके आविर्भावसे इसकी शोभा और भी मनोरम हो जायगी।' इसी विचारधारामें मुझको भगवान्की कृपा एवं विभवकी एक अनूठी झाँकी प्राप्त हुई, जो सदाके लिये मेरे अन्तस्तलमें स्थिर हो गयी। उसके परिणामस्वरूप मेरे समस्त सांसारिक बन्धन एकदम ढीले हो गये। मेरे अन्तरमें भगवत्प्रेमकी जो ज्योति उत्पन्न हुई, उसका प्रकाश उसी समय इतना तीव्र था कि चालीस वर्षसे अधिक बीत जानेपर भी मैं यह नहीं बतला सकता कि उस प्रकाशमें और अभिवृद्धि हुई है।

जब कभी मैं कर्तव्यच्युत होता तो बिना किसी आपत्तिके मैं भगवान्के समक्ष अपने अपराधको स्वीकार करता और आर्त होकर पुकार उठता—'नाथ! यदि इस प्रकार अकेले मेरे बल-बुद्धिके भरोसे आप मुझे छोड़ देंगे तो मुझसे सिवा अपराधके और कुछ न बनेगा। हे शरणागतवत्सल! आप ही मुझे अधोगतिसे बचायें और मेरे अपराधोंका परिमार्जन करें।' इस आतुरताभरी प्रार्थनाके अनन्तर मैं अपूर्व शान्तिका अनुभव करता।

पंद्रह वर्ष रसोई बनानेकी सुदीर्घ अवधि समाप्त कर फिर मैं जिस कामपर लगा, उससे मुझे पर्याप्त संतोष एवं प्रसन्नता रही। आसक्ति न होनेके कारण मैं उस कामको वैसे ही सुगमतासे छोड़ सकता था, जैसे कि मैंने रसोइयेका काम छोड़ा था; क्योंकि छोटे-से-छोटा एवं बड़े-से-बड़ा काम मैं एकमात्र भगवत्प्रसन्नताके लिये ही करता, इससे मेरा स्वभाव ऐसा बन गया कि प्रत्येक अवस्थामें मुझे भगवत्कृपाकी मनोमोहिनी झाँकी दीखती और मैं आनन्दोल्लासका अनुभव करता रहता।

हमारा अडिग भगवद्विश्वास भगवान्के पूजनकी सर्वोत्तम सामग्री है और इसीकी अनुकम्पासे हमपर उनकी महती कृपा बरसती है।

मैंने सभी अवसरोंपर तात्कालिक सहायताके रूपमें भगवत्कृपाका इतनी बार अनुभव किया कि फिर किसी कर्मको करनेके पूर्व मुझे उसका ख्याल ही न रहता; परंतु ज्यों ही कर्म करनेमें हाथ बढाता, त्यों ही दर्पणमें प्रतिबिम्ब दीखनेके सदृश भगवत्सांनिध्यके भावमें मुझे क्या करना उचित है, इसका स्पष्ट पता लग जाता। इस प्रकार किसी कर्मके करनेमें मुझे सावधानी रखनेकी आवश्यकता न रही; परंतु ऐसी स्थिति प्राप्त होनेके पूर्व मैं प्रत्येक कार्यमें सावधानी रखता था।

अपनी त्रुटियों एवं कमजोरियों अथवा पापोंसे निरुत्साह न होकर भगवान्के अनन्त गुणोंपर भरोसा रखते हुए उनकी अहैतुकी कृपाके लिये हम पूर्ण श्रद्धाके साथ प्रार्थना करें। ईश्वर अपनी कृपासे हमें कभी वञ्चित नहीं करते, इसका मैंने सदा-सर्वदा अनुभव किया है। हाँ, असफलता केवल उसी समय मिली, जब मेरा मन भगवत्सांनिध्यके भावसे विचलित हुआ या मैं भगवान्से उनकी सहायताके लिये याचना करना भूल गया।

पूर्णताकी जिस सीमातक पहुँचनेकी मनुष्य आकाङ्क्षा करता है, उतना ही अधिक वह भगवत्कृपाका अनुगत होता है।

भगवदनुग्रह बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते। फिर किसी अन्य व्यक्तिकी अपेक्षा मैं तो और भी असमर्थ ठहरा; परंतु जब हम भक्तिभावसे अपने-आपको भगवान्की पवित्र संनिधिमें रखते हैं, सदा उन्हींको अपने सम्मुख समझते हैं तो हम कभी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकते, जिससे उनका अपराध बने या वे अप्रसन्न हों, अपितु इससे हमारे भीतर एक अलौकिक (पवित्र) स्वतन्त्रता जाग्रत् होती है, अथवा यह कहूँ कि भगवान्के साथ हमारा ऐसा मेल-जोल हो जाता है, जिससे हम निस्संकोच उनसे जिस समय और जैसे अनुग्रहकी आवश्यकता होती है, बिना किसी असफलता या भयके माँग सकते हैं।

भगवान् तो हमें अनन्त धनराशिसे सुसम्पन्न करना चाहते हैं और हम अपनी निकृष्ट भावनाके कारण उनसे केवल क्षण-भङ्गुर विषय ही चाहते हैं। कितनी भारी मूर्खता है कि दया-सागर भगवान्‌की कृपाके अजस्र प्रवाहको हम इस प्रकार रोक देते हैं। भगवान् जब कभी उत्कट श्रद्धा-भक्तिसे सम्पन्न प्राणी पा जाते हैं, तब उसे अपनी कृपासे निहाल कर देते हैं। उन कृपा-सागरका प्रवाह इतने प्रबल वेगसे उसकी ओर प्रवाहित होता है, मानो किसी बहुत भारी बाँधके कारण यह पहले रुका पड़ा था और अब मार्ग पा जानेपर बड़े वेगसे उमड़ आया है।

भगवत्कृपाका वेग जो बंद हो जाता है, इसके लिये हम स्वयं अपराधी हैं; क्योंकि इसका हम कुछ मूल्य ही नहीं आँकते, परंतु अबतक जो हुआ सो हुआ, आगेके लिये हमें सचेत हो जाना चाहिये और भगवत्कृपाके प्रवाहका उन्मुक्त हृदयसे स्वागत करना चाहिये एवं उसके मार्गमें किसी प्रकारकी भी बाधा उपस्थित नहीं करनी चाहिये, प्रत्युत आत्मानुसंधान करते हुए भगवत्कृपाके मार्गमें स्थित समस्त विघ्न-बाधाओंको ढूँढ़-ढूँढ़कर उन्मूलित करते रहना चाहिये। इस प्रकार भगवत्कृपाको प्राप्त करनेके लिये हम अपने हृदयको शुद्ध करें और जो समय अबतक हम अपने हाथसे खो चुके हैं, उसकी तत्परताके साथ क्षति-पूर्ति करें।

जिन भगवान्‌ने कृपावश हमारे लिये दुःखोंका विधान रचा है, हम उन्हें अपने निकट अनुभव कर सुखी हों। वे जब चाहेंगे, इन्हें दूर कर देंगे। सचमुच वे लोग भाग्यशाली हैं, जो दुःखमें भी भगवान्‌को अपने पास समझते हैं। हमें भी इसी प्रकार भगवान्‌को अपने अत्यन्त समीप समझते हुए प्रसन्नतापूर्वक दुःख भोगनेका अभ्यास करना चाहिये और जितने कालतक वे आपको दुःखरूप विधानमें रखें, हम उनसे और कुछ न माँगकर केवल उसे सहर्ष सहन करनेका बल ही माँगें। सांसारिक प्राणी यदि इन बातोंको न समझ पायें तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं; क्योंकि वे देहाभिमानी होनेके कारण जड देहके सुख-दुःखसे प्रसन्न और विषण्ण होते रहते हैं। रोग एवं क्लेशोंको वे भगवान्‌की ओरसे आया हुआ मङ्गलविधान न मानकर शरीरके कष्टसे दुःखी हो नाना प्रकारकी यन्त्रणाओंको बाध्य होकर रो-रोकर भोगते हैं; परंतु जो लोग रोगको भगवान्‌का कृपाप्रसाद मानते हैं और समझते हैं कि यह सब तो हमारे अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही प्रभुका रचा हुआ अनूठा ढंग है, वे भयानक रोगमें भी प्रायः अत्यन्त सुख एवं आश्वस्तताका अनुभव करते हैं।

उनकी अहैतुकी अनुकम्पाकी ओर ध्यान तो दीजिये। सचमुच वे हमपर अनुग्रह करनेके लिये ही दुःखका विधान रचते हैं; क्योंकि इससे हमारे मलिन अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और जब हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, हम अविलम्ब भगवदभिमुख हो जाते हैं, उन्हें अपने पास ही अनुभव करते हैं। इस अनुभूतिमें कितना सुख, कितना आनन्द है; कहा नहीं जा सकता।

स्वयं मेरी कई बार मरणासन्न अवस्था हुई है, किंतु उस अवस्थामें मुझे एक अभूतपूर्व आनन्दका अनुभव हुआ। अतः भगवान्‌से रोगमुक्त होनेके लिये मैंने कभी किसी समय भी प्रार्थना नहीं की। जब कभी माँगा भी तो यही कि, 'प्रभो! मुझे उन सब क्लेशोंको दीनता, धीरता और प्रसन्नतापूर्वक सहन करनेकी शक्ति प्रदान करें।' सचमुच वे क्षण भी कितने मधुर एवं प्रीतिवर्धक होते हैं, जब हम अपने प्राणाराम भगवान्‌की संनिधिमें उन्हींको निहारते हुए क्लेशरूप महाप्रसादका उपभोग करते हैं। अपने परम प्रियतमकी गोदमें लेटे-लेटे दुःख-व्याधिका भोगना कैसा अनुपम स्वर्गीय सुखभोग है। उस मङ्गलमयी और आनन्द-मयी स्थितिका वर्णन भला, कौन कर सकता है? इसलिये मैं आपसे कहता हूँ, भारी-से-भारी दुःख भी क्यों न हो, हमें उसका प्रेमपूर्वक अभिनन्दन करना चाहिये।

सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक भगवान्‌की असीम महिमाका जिस-किसीको भी अनुभव हो जाता है, वह संसारकी आधि-व्याधि और विषमताको सहजमें ही उल्लङ्घन कर जाता है; क्योंकि भगवान् और उनकी कृपाके अतिरिक्त उसके अनुभवमें कोई दूसरी वस्तु आती ही नहीं। यही भगवत्प्रेमकी महिमा है।

अपने मनको समस्त विषय-भोगोंकी कामनासे रिक्त कर एकमात्र भगवत्परायण हो जाना चाहिये। मनमें जो भी विषय-कामना हो, उसे हम भगवान्‌को निवेदन कर दें और एकमात्र उन्हींकी प्राप्तिके लिये उनसे अनुनय-विनय करें। अपनी शक्तिभर प्रयत्न करनेपर भगवान्‌की कृपासे हमें वह मङ्गलमयी स्थिति अवश्य प्राप्त होगी, जिसकी हमें अत्यन्त कामना है।

भारतीय कलामें भगवदनुग्रहकी अभिव्यक्ति

(लेखक—डॉ० श्रीव्रजेन्द्रनाथजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, एफ्० आई० ए० एस्०)

भगवान्‌की अपने भक्तोंपर सदासे ही असीम कृपा रही है। प्राचीन एवं अर्वाचीन मूर्ति-कलामें हमें ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनके अनुसार भगवान्‌द्वारा अनुग्रहपूर्वक अपने भक्तोंको कष्टसे मुक्त करना सिद्ध होता है।

वाल्मीकीय रामायणके उत्तरकाण्डकी एक कथाके अनुसार एक समय लंकापति रावण धनद कुबेरको हराकर पुष्पक-विमानद्वारा जा रहा था। अचानक वह विमान शरवण (सरकंडोंके वन) में[1], जिसमें कार्तिकेयकी उत्पत्ति हुई थी, पहुँचते ही रुक गया और रावणके बहुत प्रयास करनेपर भी वह आगे न बढ़ा सका। तब वहाँ नन्दीश्वरने रावणको बताया कि 'कैलास पर्वतपर भगवान् शिव एवं माँ पार्वती अभिन्न-भावसे विराजमान हैं, अतः वहाँ सभीका जाना वर्जित है।' इसपर रावणको बड़ा क्रोध आया और उसने अपने अद्भुत पराक्रमसे उस पर्वतको ही उखाड़ लिया, जिसके कारण ब्रह्माण्डमें कोलाहल मच गया, लीलाधारिणी भगवती पार्वतीको भी भय प्रतीत होने लगा, तब अन्तर्यामी भगवान् शिवने इसका मूल कारण जान अपने दाहिने पैरके अँगूठेसे पर्वतको दबाया, जिससे रावण भी उसके नीचे दबकर त्राहि-त्राहि करने लगा। रावणने भगवान् शिवकी स्तुतिमें सहस्र वर्षतक साम-मन्त्रोंका उच्चारण किया, जिससे प्रसन्न होकर श्रीशिवने न केवल उसे क्षमा ही कर दिया, अपितु कृपा कर अमूल्य 'चन्द्रहास' नामक तलवार भी प्रदान की।

उपर्युक्त कथाको अभिव्यक्त करती एक प्राचीन मूर्ति मथुरासे प्राप्त हुई है, जो वहाँके संग्रहालयमें सुरक्षित है। गुप्तकालीन मूर्तिकला (पाँचवीं शती ई०) की प्रतीक इस सुन्दर मूर्तिमें कैलासपर भगवान् शिव एवं माँ पार्वती विराजमान हैं और नीचे शक्तिशाली रावण अपने हाथोंसे उस पर्वतको उठाता दिखाया गया है। कुशल शिल्पीने सम्पूर्ण चित्रण बड़ी सजीवतासे अङ्कित किया है। इस आशयकी कला-कृतियाँ, जिन्हें 'रावणानुग्रहमूर्ति' कहा जाता है, भारतीय कलाकारोंको विशेषरूपसे प्रिय थीं। अतः इन्हें उड़ीसा-स्थित भुवनेश्वरके शत्रुघ्नेश्वर एवं परशुरामेश्वर मन्दिरोंपर भी, जिनका निर्माण क्रमशः छठी एवं सातवीं शती ई०में हुआ था, देखा जा सकता है। राजस्थानमें आसिया और चित्तौड़गढ़के कालिका-मन्दिर एवं उदयपुरके समीप नागदा स्थित सास-बहूके प्रसिद्ध देवालयोंपर भी इस कथाको दर्शानेवाली मूर्तियाँ स्थित हैं। जयपुरके केन्द्रिय संग्रहालयमें एक कलात्मक प्रस्तर-फलक विद्यमान है, जिसमें रावण पर्वत उठानेके प्रयत्नमें पर्याप्त थका प्रतीत होता है और वह हतोत्साह-सा पर्वतके नीचे बैठा हुआ है। 'अलोरा' एवं 'एलिफेन्टा'की प्रसिद्ध गुफाओंमें भी रावणानुग्रह-विषयक अनेक प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। मुझे अपनी विदेश यात्राओंकी अवधिमें ऐसी कई सुन्दर मूर्तियाँ 'क्लीवलैंड म्यूजियम आफ आर्ट,' क्लीवलैंड, 'सिटायल आर्ट म्यूजियम,' सिटायल एवं 'म्यूजियम आफ फाइन आर्ट्स,' मोन्ट्रीयलके अतिरिक्त 'बन्तईश्रेय'में भी देखनेको मिलीं, जो प्राचीन कलाकारोंमें इस विषयकी लोक-प्रियता सिद्ध करती हैं।

'शिवपुराण'की एक कथाके अनुसार भगवान् विष्णुने कुछ शक्तिशाली असुरोंपर विजय प्राप्त करने-हेतु भगवान् शिवसे उनके चक्रकी याचना की थी। इसके लिये की जानेवाली पूजामें श्रीविष्णु प्रतिदिन भगवान् शिवको एक सहस्र कमल-पुष्प भेंट करते थे। एक दिन इस संख्यामें एक पुष्प कम हो गया, अतः संख्या पूर्ण करने-हेतु श्रीविष्णुने त्रिनेत्र शिवको अपना एक नेत्र भी भेंट किया, जिससे भगवान् शिव बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीविष्णुको चक्र दे दिया, जिससे बादमें उन्होंने असुरोंका नाश किया।

इस विषयसे सम्बन्धित सबसे प्राचीन प्रतिमा, जिसे 'विष्णु-अनुग्रहमूर्ति' कहा जाता है, मद्रासके समीप कांजीवरम्में स्थित एक पल्लवकालीन (सातवीं शती ई०) देवालयमें देखी जा सकती है। इसमें आशुतोष शिव एक ऊँचे आसनपर विराजमान हैं और नीचे भगवान् विष्णु बैठे हैं तथा श्रीशिवको अपनी बायीं आँख भेंट कर रहे हैं, जिससे प्रसन्न होकर भगवान् शिव उन्हें दोनों हाथोंसे चक्र देते

---

१. स जित्वा धनदं राम भ्रातरं राक्षसाधिपः। महासेनप्रसूतिं तद् ययौ शरवणं महत्॥ (वा० रा० ७। १६। १)

दिखाये गये हैं। ऐसी ही एक मूर्ति मथुरामें भी है, परंतु वहाँ श्रीविष्णु खड़े होकर बैठे भगवान् शिवसे चक्र प्राप्त कर रहे हैं।

महाभारतके वनपर्व तथा कवि भारविके 'किराता-र्जुनीयम्'के अनुसार भगवान् शिवने अर्जुनको कौरवोंके साथ युद्धके समय अपना शक्तिशाली पाशुपत-अस्त्र भेंट किया था। यह कथा प्रायः सर्व-विदित है। इस कथाको प्रकट करनेवाली प्रतिमाओंको 'किरातमूर्ति' कहा जाता है। इस प्रकारकी सम्भवतः सबसे प्राचीन मूर्ति, जो गुप्तकालीन (पाँचवीं शती ई०की) है, चित्तौड़के समीप 'नगरी' नामक स्थानसे प्राप्त हुई है। कर्नाटक राज्यमें इस कथाको दर्शानेवाले अनेक प्रस्तरफलक मिले हैं। दक्षिण भारतमें 'श्रीशैलम्' नामक स्थानपर स्थित एक मध्ययुगीन मूर्तिमें भगवान् शिव और माँ पार्वती खड़े हैं तथा श्रीशिव अर्जुनको पाशुपत-अस्त्र देते दिखाये गये हैं।

दक्षिण भारतमें प्रचलित एक अत्यन्त प्राचीन कथाके अनुसार एक ब्राह्मणबालक विचारशर्माने शिवपिण्डीपर ठोकर मारनेके अपराधमें अपने पिता यज्ञदत्तका पैर फरसेसे काट दिया था। बालककी यह भक्ति देख शिवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा उसका नाम चण्डेश रखते हुए उसे अपने गणोंका अधिपति नियुक्त किया। पल्लवकालीन सातवीं शती ई०की एक 'चण्डेशानुग्रह-मूर्ति', जो काजीवरम्में है, पिताके शिवपिण्डीपर पाद-प्रहारके बाद पुत्रद्वारा उसका वह पैर काट देनेपर पिण्डीसे शिव प्रकट होते एवं बालकको अभय-दान देते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त राजेन्द्रचोलद्वारा ग्यारहवीं शती ई०में गंगेयकोण्ड-चोलपुरम्के शिवमन्दिरपर उत्कीर्ण एक अद्वितीय मूर्तिमें एक ऊँचे आसनपर हर-गौरी विराजमान हैं और नीचे सामने चण्डेश हाथ जोड़े बैठे हैं। शिव अपने हाथोंसे चण्डेशके शीशपर प्रसन्नतापूर्वक एक फूलोंकी माला बाँध रहे हैं, जिससे वे गणनायक बन गये।

ठीक इसी तरह 'विघ्नेश्वरानुग्रहमूर्ति' एवं 'नन्दीशानुग्रहमूर्ति'में भगवान् शिवद्वारा गणेशजी एवं नन्दीको नव-जीवन दान दिये जानेका सुन्दर दृश्य देखनेको मिलता है।

भगवान् विष्णुने भी अपने अनेक भक्तोंका उद्धार किया है। श्रीमद्भागवतपुराणकी एक कथाके अनुसार गजेन्द्र (हाथी) तालाबमें स्नान करने गया, परंतु जलमें प्रवेश करते ही एक मगरने उसका पैर पकड़ लिया। गजेन्द्रने अपना पैर छुड़ानेका पूर्ण प्रयत्न किया, परंतु सफल न हो सका, अतः उसने अन्तमें अपनी सूँड़में एक पद्म ले भगवान् विष्णुका स्मरण किया। गजेन्द्रकी दुःखभरी पुकार सुन वे अपने वाहन गरुड़पर आरूढ़ हो प्रकट हुए और अपने चक्रद्वारा उन्होंने मगरको मार दिया। इस कथाको प्रकट करने-वाली मूर्तियोंको 'गजेन्द्र-मोक्ष', 'वरदराज' या 'करिवरद' कहा जाता है।

उत्तरप्रदेशके झाँसी जिलेमें स्थित देवगढ़के दशावतार मन्दिरमें जिसका निर्माणकाल पाँचवीं शती ई० माना जाता है, प्राचीनतम एवं कलात्मक अङ्कन देखनेको मिलता है। मद्रासके निकट काजीवरम्के प्रसिद्ध वरदराजमन्दिरमें भी इस कथाको दर्शाती एक विशालमूर्ति आज भी विद्यमान है।

वाल्मीकि-रामायणमें वर्णित एक कथाके अनुसार ऋषि गौतमने अपनी पत्नी अहल्याके चरित्रपर शङ्कित हो शाप दिया, जिसके कारण वह स्त्रीसे पत्थर (शिला)में परिवर्तित हो गयी। पर्याप्त समय व्यतीत हो जानेके पश्चात् एक बार श्रीराम एवं लक्ष्मण महर्षि विश्वामित्रके साथ उधरसे जा रहे थे, तब श्रीरामने चरणसे उस शिलाका स्पर्श किया, जिसके फलस्वरूप वह पुनः स्त्रीरूपमें परिणत हो गयी। देवगढ़से ही गुप्तकालीन (पाँचवीं शती ई० का) एक अद्वितीय प्रस्तर-फलक मिला था, जो अब राष्ट्रिय संग्रहालय, नयी दिल्लीमें सुरक्षित है। इसमें भगवान् श्रीराम एक ओर विराजमान हैं, पीछे लक्ष्मणजी खड़े हैं, श्रीरामजीके सम्मुख गौतम ऋषि हैं और पास ही विनीत भावमें उनकी पत्नी अहल्या अपना उद्धार हो जानेके बाद हाथ जोड़े बैठी हैं। 'अहल्या-उद्धार'की इस मूर्तिमें रामायणकी कथाका चित्रण बड़ी सजीवतासे उत्कीर्ण किया गया है। इनके अतिरिक्त ऐसी और भी अनेक प्रतिमाएँ हैं, जिनमें प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे भक्तोंपर भगवत्कृपाका अङ्कन देखनेको मिलता है। मूर्तियोंके माध्यमसे भगवत्कृपा-अङ्कन प्राचीन कालसे चले आ रहे मानवीय भगवद्विश्वासका उत्कृष्टतम परिचायक है।

पतितोंपर भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीदिनेशनारायणजी शर्मा, बी० कॉम०, एल्-एल० बी०)

लोकमे महापातकी—आचार-भ्रष्ट पुरुषको सामान्यतः 'पतित' कहा जाता है। भगवत्कृपासे पतितोंकी सद्गतिका उल्लेख हिंदू-धर्मग्रन्थोंमे विभिन्न प्रकारसे पाया जाता है।

जब मनुष्य अनाचार करता है तो उसके धर्मकी हानि होती है—

अनाचाराद्धर्महानिरत्याचारस्तु मूर्खता ॥
(शुक्रनीति ३ । २२२)

'अनाचारसे धर्मकी हानि होती है और अत्याचार मूर्खता है।'

मद्यपः कितवः स्तेनो जारश्चण्डश्च हिंसकः।
त्यक्तवर्णाश्रमाचारो नास्तिकः शठ एव हि॥
मिथ्याभिशापकः कर्णेजपायंदेवदूषकौ।
असत्यवाङ् न्यासहारी तथा वृत्तिविघातकः॥
अन्योदयासहिष्णुश्च उत्कोचग्रहणे रतः ।
(शुक्रनीति ४ । १ । ९७—९९)

'अनाचारी पुरुष सुरापान करनेवाला, जुआरी, चोर, जार, क्रोधी, हिंसक, वर्ण और आश्रमके आचरणसे हीन, नास्तिक, धूर्त, मिथ्या दोषारोपण करनेवाला, चुगलखोर, देवदूषक, असत्यभाषी, धरोहरको हड़प जानेवाला, जीविका-पहारी, परोत्कर्षको न सहनेवाला और उत्कोच (घूस) ग्रहण करनेमे आसक्त होता है।'

अपने वर्णाश्रमानुसार शास्त्रोक्त कर्म करना ही श्रेयका मार्ग है। कर्तव्य कर्म करना धर्म है और इससे मुख मोड़ लेना पतनका मार्ग है। 'मनुस्मृति'में कहा गया है—

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः॥
(१० । ९७)

'अपना धर्म गुणरहित होते हुए भी श्रेष्ठ है, परंतु भलीभाँति पालन किया हुआ परधर्म श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि दूसरेके धर्मसे जीवन धारण करनेवाला पुरुष तुरंत ही जातिसे पतित हो जाता है।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी यही कहा गया है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(३ । ३५)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है, दूसरेका धर्म भय देनेवाला है।'

'जैसे असावधानीके कारण (हाथसे छूटकर) सीढ़ियोंपर गिरी हुई (खेलकी) गेंद एक सीढ़ीसे दूसरी सीढ़ीपर गिरती हुई नीचे चली जाती है, वैसे ही यदि चित्त अपने लक्ष्य (ब्रह्म)से हटकर थोड़ा-सा भी बहिर्मुख हो जाता है तो फिर वह बराबर नीचेकी ओर ही गिरता जाता है'—

लक्ष्यच्युतं चेद्यदि चित्तमीषद्-
बहिर्मुखं संनिपतेत्ततस्ततः।
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः
सोपानपङ्क्तौ पतितो यथा तथा॥
(विवेकचूडामणि ३२६)

'पतित पुरुषका (नाशके सिवा फिर) उत्थान तो प्रायः कभी देखनेमें ही नहीं आता'—

पतितस्य विना नाशं पुनर्नारोह ईक्ष्यते।
(वि० चू० ३२८)

यदि पतितका उत्थान—उद्धार होता है तो केवल भगवत्कृपासे ही। गीतामें भगवान्‌की स्पष्टोक्ति है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
(९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्ति प्राप्त करता है।'

आचारहीनके अतिरिक्त जातिच्युत (पतित)के परमगति पानेका भी गीतामे उल्लेख हुआ है। भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(९ । ३२)

'पार्थ ! स्त्री, वैश्य और शूद्र आदि तथा पाप-योनिवाले भी जो कोई हों, वे भी मेरी शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ।'

वास्तवमें जो अपना उद्धार नहीं कर पाते, वे स्वयं ही अपने शत्रु हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
(गीता ६ । ५)

'अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है ।'

मनुष्यका वास्तविक कर्तव्य तो है अपने स्वरूपकी प्राप्ति अथवा परमेश्वरको पाना; परंतु वह संसारको पाना चाहता है । अतः ईश्वरसे विमुख हो जाता है और ईश्वरसे विमुख होनेपर उसके पाँव पतनके मार्गकी ओर भटक जाते हैं । वह विवश होकर पापकर्म करने लगता है । धर्म-कर्मसे च्युत होकर पतित हो जाता है । परमात्माको प्राप्त करना ही उसका परम पुरुषार्थ है । पुण्यतोया भागीरथीसे मिलकर तो गंदा जल भी परम पावन हो जाता है—

इक नदिया इक नार कहावत मैलौ नीर भरौ ।
जब मिलि गए तब एक बरन ह्वै गंगा नाम परौ ॥
(सूरसागर २२० । ३)

जैसे गङ्गाजीका स्वभाव ही सब प्रकारके जल-प्रवाहको पवित्र करना है, वैसे ही भगवान्‌का स्वभाव भी पतितोंपर कृपा करना है—

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे ॥
कौने देव बराइ बिरद-हित, हठि-हठि अधम उधारे ।
खग-मृग, व्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे ॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज, सब माया-बिबस बिचारे ।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे ॥
(विनयप० १०१ । १—३)

'हे नाथ ! आपके चरणोंको छोड़कर और कहाँ जाऊँ ! संसारमें पतित-पावन नाम और किसका है ! दीन-दुःखी किसे बहुत प्यारे हैं ! किस देवताने अपने प्रणको रखनेके लिये हठपूर्वक चुन-चुनकर नीचोंका उद्धार किया है ! किस देवताने जटायु (पक्षी), वानर, ऋक्ष आदि (पशु), वाल्मीकि (व्याध), अहल्या (पत्थर), यमलार्जुन (जड वृक्ष) और यवनोंका उद्धार किया । देव, मुनि, दनुज, नाग, मनुष्य आदि सभी बेचारे स्वयं मायाके वश हैं, वे किसको तारते ! इसलिये हे प्रभो ! उनके हाथमें अपनेको डालकर मनुष्य क्या लाभ उठायेगा ?'

मनुष्य जब सांसारिक विषयोंमें आसक्त हो प्रमादका आश्रय लेता है, तभी उसका पतन आरम्भ होता है । गणिका, अजामिल, व्याध, गीध और गज क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशके आधिक्यसे पीड़ित थे । इन सभीका प्रभुने स्वभावतः अर्थात् विशुद्ध कृपावश उद्धार किया । तुलसीदासजीने ऐसे पतित-पावन प्रभुके लिये कहा है—

पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना ।
(मानस ७ । १२९ छं० १)

'अरे मूर्ख मन ! सुन, पतित-पावन श्रीरामको भजकर किसने परमगति नहीं पायी ?'

भगवान्‌की प्रतिज्ञा है—

'............न मे भक्तः प्रणश्यति ।'
(गीता ९ । ३१)

'मेरे भक्तका नाश नहीं होता ।' अधम-से-अधम व्यक्ति भी जब उनकी शरणमें जाता है, तब वे कृपालु उसका अवश्य ही उद्धार करते हैं । जैसे उन्होंने द्वापरमें पूतना (पूत+ना अर्थात् पवित्र नहीं)का उद्धार किया, बकासुर, अघासुर आदि अनेक पतितोंको अपना परमपद दिया, वैसे ही वर्तमान युगमें भी दक्षिणकी प्रसिद्ध वेश्या वरामुखीको भी उन पतित-पावनकी कृपा प्राप्त हुई । आवश्यकता केवल इसी बातकी है कि हम अपने धर्म—सहज कर्मोंको त्यागकर अपने-आपको पतित न होने दें ।

भगवत्कृपापर विश्वास कर सच्चे हृदयसे यही स्मरण करें—

कहियत पतित बहुत तुम तारे, स्रवननि सुनी अवाज ।
दई न जाति खेवट उतराई, चाहत चढ्यौ जहाज ॥
(सूरसागर १०८ । ३)

पतितोंका उद्धार करना तो उनका प्रण ही है । प्रभुकी कृपाको सार्थकता पतितोंने ही दी है । वे स्वयं परमपावन हैं और जन्म-जन्मान्तरकी वासनाओंसे पतित हुए जीवोंको कृपापूर्वक अपने समान ही पावन कर लेते हैं ।

नास्तिकोंपर भगवत्कृपा

(लेखक—श्रीश्रीरजी शर्मा, बी० कॉम०)

'नास्तिक' शब्द 'आस्तिक'का विलोम है। ईश्वरकी आज्ञा और परलोकको माननेवाला, वेदोंमें विश्वास करनेवाला धर्मनिष्ठ व्यक्ति आस्तिक कहा जाता है। नास्तिक ईश्वर, परलोक, धर्म, वेद आदिमें अविश्वास-बुद्धि रखता है। स्थूल-दृष्टिसे कहा जाता है कि नास्तिक देहात्मवादी होते हैं। देह और देहसम्बन्धी पदार्थोंमें सत्यताका अध्यास करके वे लोग उनसे सुख प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं, उसके लिये प्रयत्न और पुरुषार्थ करते हैं और इस प्रक्रियामें राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मत्सर, मोह आदि दोषोंको ही ओढ़े रहते हैं। उनका जीवन मूलतः आसुरी-सम्पत्तियोंका पुञ्ज बना रहता है।

नास्तिकके लक्षण और स्वभाव—

ईश्वर-भजनमें नास्तिकका मन नहीं लगता। गीतामें ऐसे लोगोंके लिये ही कहा गया है—

> न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
> माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
> (७। १५)

'मायाके द्वारा जिनका ज्ञान नष्ट हो चुका है अथवा जो संसारमें ही राग-बुद्धि कर चुके हैं—ऐसे आसुर-स्वभावको प्राप्त, मनुष्योंमें नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढ़ लोग मुझको नहीं भजते।' विपरीत भावना और अश्रद्धासे उनका विवेक नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, इसलिये वे वेद-शास्त्र, गुरु-परम्परासे प्राप्त उपदेश, ईश्वर, कर्मफल और पुनर्जन्ममें अविश्वास कर तथा मिथ्या कुतर्कमें उलझकर दूसरोंका भी अनिष्ट करते हैं।

ऐसे नास्तिक पुरुषोंका जीवनमें एक ही उद्देश्य होता है—'खाओ-पिओ और मौज उड़ाओ।' ईश्वरको तो वे कपोल-कल्पना ही मानते हैं।

उनके स्वभावका दिग्दर्शन गीताके 'आसुरी-सम्पत्ति'-प्रसङ्गमें साङ्गोपाङ्ग हुआ है—

> दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
> अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥
> (१६। ४)

दम्भ, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान—ये सब आसुरी-सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं। मान-बड़ाई पानेके लिये वे ढोंग रचते हैं; धन, जाति, बल, ऐश्वर्य आदि सांसारिक वैभवकी विपुलताके कारण दूसरोंको तुच्छ समझकर वे दर्पका प्रदर्शन करते हैं; मान-बड़ाईकी इच्छासे उसे प्राप्त करके वे घमंडी होते हैं, क्रोध और कोमलताका आत्यन्तिक अभाव उनके स्वभावका अङ्ग होता है और धर्ममें विपरीत बुद्धि रखते हुए वे ईश्वरकी सत्ताको नहीं मानते।

भगवत्कृपाका रहस्य—

ऐसे नास्तिक व्यक्तियोंपर भी भगवत्कृपा किस प्रकार हो जाती है? इस विषयपर कुछ विचार किया जाता है—भगवान् स्वभावतः कोमलचित्त, दीनदयालु और अकारण कृपालु हैं। उनकी ही दयासे समस्त प्राणियोंको जीवन मिला है। मनुष्य-शरीर तो निश्चय ही उनकी बड़ी भारी कृपाका मूर्त फल है—

> कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
> (मानस ७। ४३। ३)

मनुष्य-शरीरकी विलक्षणता यह है कि अन्य शरीरोंसे प्रायः सभी बातोंमें समानता होते हुए भी इसमें विवेक-शक्तिकी प्रधानता है। अन्य योनियों अथवा शरीरोंमें यह प्राप्त नहीं। यह विवेक-शक्ति जो भगवदनुग्रहसे प्राप्त हुई है, नास्तिक और आस्तिक सभी प्राणियोंको समानरूपसे उपलब्ध है। भगवान्की सबपर समानरूपसे दया भी है। 'सब पर मोहि बराबरि दाया।' (मानस ७। ८६। ४) एक पिताके चार पुत्रोंमेंसे यदि कोई एक अनाज्ञाकारी हो तो भी पिता अपना पितृ-भाव उसके प्रति ज्यों-का-त्यों रखता है, उसका स्नेह कम नहीं होता। पिता अनाज्ञाकारी पुत्रका भी कल्याण ही चाहता है। ईश्वर, जो सबके परमपिता हैं, सबका सर्वदा कल्याण चाहते ही नहीं, प्रत्युत करते भी हैं—

> हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
> (मानस ७। ४६। १)

—उनके स्वभावमें जीवका अहित करना है ही नहीं।

इसलिये अपने 'नास्तिक तनय'को सही मार्गपर लानेके लिये उन्होंने कृपा करके एक तो आसुरी आचरणसे होनेवाले कुफलको समझाकर बताया, दूसरा सदाचरणका मार्ग बताया।

भगवान् कहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

(गीता १६। १९-२०)

'उन द्वेष करनेवाले, पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमे वारवार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ। इसलिये अर्जुन! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्ममे आसुरी योनिको प्राप्त हुए मुझे न प्राप्त होकर उससे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं।'

वेद भगवान्‌के श्वास हैं, उनकी वाणी हैं। उनमे भी कृपापूर्वक यही चेतावनी दी गयी है कि विपरीत मार्गपर चलनेवाले नरकोंमे जाते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

(ईशा० ३, ९)

'असुरोंकी (जो) नाना प्रकारकी प्रसिद्ध योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं, वे सभी अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्य हैं, वे बारंबार मरकर उन्हीं भयंकर लोकोंको प्राप्त होते हैं। जो मनुष्य अविद्याकी उपासना करते हैं, (वे) अज्ञान-स्वरूप घोर अन्धकारमे प्रवेश करते हैं।'

इस दुर्गतिसे वचनेका उपाय भी उस करुणाकर परमात्माने कृपापूर्वक बताया है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
काम' क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

(गीता १६। २१-२२)

'काम, क्रोध, लोभ—ये तीनों नरकके द्वार अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले और आत्माके विनाशक हैं, इसलिये इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। इन तीनोंसे मुक्त होकर जो पुरुष अपने कल्याणका साधन करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है।'

आसुरी सम्पत्तिसे आक्रान्त मनुष्योंको भी उनके श्रेयस्‌का साधन परम कृपानिधान भगवान्‌के अतिरिक्त और कौन वता सकता है? यही नहीं, अज्ञानसे मुक्त होनेके लिये भी नास्तिकोंको अत्यन्त सरल मार्गका निर्देशन किया गया है। जब नास्तिक मनुष्य दुःखोंसे विचलित होकर अनायास चिल्ला पड़ता है—'हे राम! अब तू ही बचा।' तब भगवान् ही उसे कृपापूर्वक सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देते हैं। उसके सम्मुख अपनी वाणी (वेद-शास्त्रों)का आश्रय लेकर विवेक प्राप्त करनेका मार्ग प्रस्तुत करते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

'कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामे तेरे लिये शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म करनेयोग्य है।' इस प्रकार प्रभु उसे उसकी क्षमताका ज्ञान भी कराते हैं।

इस तथ्यको जो घोर नास्तिक स्वीकार नहीं करते, वे दुराग्रहीकी श्रेणीमे आते हैं और उन अधम-से-अधम प्राणियोंसे पृथ्वीको भार-मुक्त करनेके लिये वे अहैतुकी कृपा करनेवाले ब्रह्माण्डनायक अवतार लेते हैं। अपने अवतार-कालके दिव्य कर्मोंद्वारा वे साधुओंका परित्राण, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश और धर्मकी पुनः स्थापना करते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ८)

भगवत्कृपाकी इस परमोपलब्धिमे वस्तुतः नास्तिकोंका वह दुराग्रह ही मुख्यतः सहायक होता है, जिसके वशीभूत होकर वे परमकृपालु भगवान्‌को शत्रुरूपसे प्रतिक्षण स्मरण करते हैं। प्रभुकी निन्दा करना ही जिन नास्तिकोंका स्वभाव वन गया है, उनका भी प्रभु कल्याण ही करते हैं। वस्तुतः भगवान्‌के समान उदार तो भगवान् ही हैं—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं॥

(विनयप० १६२। १)

भगवत्कृपाप्राप्त पशु-पक्षी

(लेखक—स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबद्री)

'परस्त्रीका बलपूर्वक हरण करनेवाले ऐ अधम ! ठहर जा ! यदि तू स्वयंको बलशाली माननेका दम्भ करता है तो मुझसे युद्ध कर।'

गृध्रराजकी इस चुनौतीसे मदान्ध दशानन क्रुद्ध हो उठा और उसने ललकारा—'निकृष्ट योनिके पक्षी ! मेरे मार्गमें बाधक न बन। जानता है, मैं महाबली रावण हूँ, मैं अपने मार्गकी प्रत्येक बाधाको शक्तिपर तौलता हूँ।'

क्रोधातुर खगपति अपने डैने फुलाकर विशाल पंखोंको फड़फड़ाता हुआ जगज्जननी जानकीको ले जानेवाले रावणपर टूट पड़ा। राक्षसराज इस अप्रत्याशित आक्रमणको सँभाल न पाया और चोंचकी मारसे विदीर्ण—आहत हो भूमिपर गिर पड़ा तथा कुछ समयके लिये मूर्च्छित हो गया—

चोंचन्ह मारि बिदारेसि देही। दंड एक भइ मुरुछा तेही॥

(मानस ३। २८। १०)

आयुके अन्तिम प्रहरपर पहुँचा हुआ वृद्ध जटायु अधिक समयतक संघर्ष न कर सका। नराधम रावणने अपनी तीक्ष्ण तलवारसे उसे पंखविहीन कर दिया।

परोपकारकी उदात्त भावना किसे महान् नहीं बनाती ! भगवती सीताकी खोजमें प्रवृत्त कृपासिन्धु श्रीरामने जटायुके सिरका स्पर्श किया। प्रभुके सौन्दर्यशाली मुखका दर्शन कर उसकी सारी पीड़ा जाती रही—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबिधाम मुख बिगत भई सब पीर॥

(मानस ३। ३०)

पिताके अन्तिम संस्कारमें विधिवत् भाग न ले पानेवाले मर्यादापुरुषोत्तमने स्वयं अपने भक्तका अन्त्येष्टिकर्म कर उसपर अहैतुकी कृपावृष्टि की—

'तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम॥'

(मानस ३। ३२)

× × ×

जिसकी चिग्घाड़ समस्त वनखण्डके प्राणियोंको प्रकम्पित कर देती थी, वही अपने विशाल समूहका सर्वश्रेष्ठ बलशाली नायक आज असहाय था। जलक्रीड़ामें निमग्न मदोन्मत्त गजयूथपति उस समय चीत्कार कर उठा, जब एक विशालकाय ग्राहने जलमें उसका पाँव दबोच लिया।

गजराज अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर हार गया, फिर भी उस जलदैत्यके समक्ष उसकी एक न चली। वह जितनी शक्तिका प्रयोग कर छूटनेका प्रयास करता, उतनी ही तीव्र-गतिसे ग्राह उसे गहरे जलमें खींचे लिये जा रहा था।

दो विशाल बलशाली जीवोंके इस संघर्षमें सरोवर आलोडित हो उठा, उसके कमल-पुष्प मथ डाले गये।

सूँड़के अग्रभागके अतिरिक्त गजराजका सम्पूर्ण शरीर जलमें जा चुका था। उसने अपनी सूँड़के अग्रभागसे एक कमल-पुष्पको उठाया और प्रभुका ध्यान कर आर्तवाणीमें रक्षा-हेतु पुकार की—

सोऽन्तःसरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो
दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्।
उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रा-
न्नारायणाखिलगुरो भगवन् नमस्ते॥

(श्रीमद्भा० ८। ३। ३२)

"सरोवरके भीतर बलवान् ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ रखा था और वह अत्यन्त व्याकुल हो रहा था। जब उसने देखा कि आकाशमें गरुड़पर सवार होकर हाथमें चक्र लिये भगवान् श्रीहरि आ रहे हैं, तब अपनी सूँड़में कमलका एक सुन्दर पुष्प लेकर उसे ऊपर उठाया और बड़े कष्टसे बोला—'नारायण ! जगद्गुरो ! भगवन् ! आपको नमस्कार है।'"

बस, भगवत्कृपाके लिये तो इसी आर्तवाणीकी ही आवश्यकता है। अपने भक्तके त्राण-हेतु भगवान्का आदेश पानेके बाद सुदर्शनको एक क्षण भी कैसे लगता। गजराज किनारेपर खड़ा ग्राहके विदीर्ण मस्तकसे सरोवरके रक्ताभ जलको निहार रहा था। उसका हृदय उस सर्वशक्तिमान्की कृपासे आप्लावित था।

सोऽनुकम्पित ईशेन परिक्रम्य प्रणम्य तम्।
लोकस्य पश्यतो लोकं स्वमगान्मुक्तकिल्बिषः॥

(श्रीमद्भा० ८। ४। ५)

'भगवान्‌के कृपापूर्ण स्पर्शसे गजके सारे पाप-ताप नष्ट हो गये। उसने भगवान्‌की परिक्रमा की, उनके चरणोंमें प्रणाम किया और सबके देखते-देखते ग्राहसहित दिव्य धामकी यात्रा की।'

× × ×

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम सागर-तटके एक शिलाखण्डपर बैठे बहुत देरसे एकटक उस छोटे-से प्राणीको देख रहे थे। समस्त वानरसमुदाय सेतु-बन्धनके कार्यमें व्यस्त था; विशाल पाषाण-खण्ड लाये जाते और नल-नील उनपर 'राम-राम' अङ्कित कर जलमें रखते जाते, परंतु भगवान्‌का ध्यान तो उस लघु प्राणीपर ही केन्द्रित था। वह क्षुद्र जीव (गिलहरी) सागरके जलमें जाता, अपने शरीरको भिगोता, रेतमे लोटता और छोटे-छोटे बालोंमें जो वालुका-कण एकत्रित होते, उन्हें एक स्थानपर जाकर शरीरको झकझोरकर गिरा देता। उसका यह क्रम निरन्तर चल रहा था, न थकान, न विश्राम। अपने कई बारके इस प्रयाससे वह दो-चार मुट्ठी वालुका इकट्ठी कर पाया होगा।

'लक्ष्मण! उस प्राणीको देखो तो'—भगवान् श्रीरामने पास ही बैठे अनुज लक्ष्मणसे कहा। लक्ष्मणजी भी उस प्राणीके विचित्र कृत्यको देखकर मुग्ध हो गये।

'वह क्या कर रहा है, लक्ष्मण!'

'कुछ वालुका-कण एकत्रित कर रहा है, भैया!'

'परंतु क्यों?'

'जीवोंका अपना-अपना विचित्र स्वभाव होता है, देव!'

'नहीं लक्ष्मण! बिना प्रयोजन वह ऐसा नहीं कर रहा होगा। हनुमान्‌को बुलाओ, वह बता सकेगा।'

पवनपुत्रने उस प्राणीके इस विचित्र कृत्यका वर्णन करते हुए भगवान्‌से कहा—'भगवन्! जगज्जननीके विरहमें संतप्त आपके साथ सभी दुःखी हैं। सभी उस सूर्योदयकी प्रतीक्षामें हैं, जब आप रावणको मारकर सीताको मुक्त करेंगे। यह क्षुद्र गिलहरी भी सेतु-बन्धनमें अपना योगदान देनेको आतुर है। उसे यही मार्ग उपयुक्त लगा कि मेरेद्वारा एकत्रित इन वालुका-कणोंका उपयोग मेरे जीवनको कृतार्थ कर देगा।'

'उसे यहाँ उठा लाओ, अञ्जनीकुमार!' भगवान्‌का वात्सल्य उमड़ पड़ा—'कितना सुन्दर और भोला है यह प्राणी!'

भगवान्‌के स्नेह-सिक्त कर-स्पर्शकी रेखाएँ आज भी उस प्राणीके शरीरपर अङ्कित हैं। हिंदुओंके लिये अवध्य यह भगवत्कृपाप्राप्त प्राणी धन्य है!

× × ×

'जिनके नामका निरन्तर जप कर प्राणी भवसागरसे पार हो जाता है, जो सच्चिदानन्द सहज प्रकाशरूप हैं, जिनकी अपार माया मैं स्वयं भी देख चुकी हूँ, आप भी निरन्तर जिनका नाम-जप करते रहते हैं, हे नाथ! उन अखिल भुवनपति भगवान् श्रीरामका जीवनचरित्र सुननेकी अभिलाषा है'—भगवती पार्वतीने भूतनाथसे प्रार्थना की।

'देवि! श्रीरामकी जीवन-कथा तो अमर-गाथा है, जो वक्ता और श्रोताको अमर बना देती है; परंतु उस कथाके मर्मको विरले ही जान पाते हैं। तुम सुनोगी पूरी कथा?'

'हाँ, देव।'

कैलासकी रमणीक उपत्यकामें विशाल वटवृक्षके नीचे अपना आसन जमाये चन्द्रमौलिने भगवान् श्रीरामकी वह अमरकथा आरम्भ की। शान्त वातावरण था। पार्वती कुछ समय तो तन्मयतासे कथा-श्रवणमें तल्लीन रहीं, परंतु कथाके पूर्ण होनेके पूर्व ही शीतल समीरके झोकोंने उन्हें निद्रामें निमग्न कर दिया।

उड़ने योग्य पंख न निकल पानेके कारण असमर्थ वटवृक्षके कोटरमें बैठा तोतेका एक नन्हा बच्चा इस कथाको आद्योपान्त श्रवण करता रहा। कथा-समाप्तिके पश्चात् हिमाचल-कुमारीकी आँख खुली तो उन्हें पश्चात्ताप हुआ। देखा, भगवान् शंकर समाधिस्थ थे।

भगवत्कृपाके प्रसादसे इस अमरगाथाको सुननेवाला वह शुक-शिशु दूसरे जन्ममें मुनि शुकदेव हुआ, जिनका अध्यात्म आज भी मनीषियोंके चिन्तनका विषय है।

× × ×

काकभुशुण्डिका आख्यान प्रायः सर्वविदित ही है—

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरें। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरें॥
(मानस ७। ८४। ३)

कृपामय वचन भगवान्‌के मुखसे कहलानेकी सामर्थ्य रखनेवाले काक-योनिके इस पक्षीका सौभाग्य सराहनीय है।

× × ×

उस कपोत पक्षीका भी सौभाग्य सराहनीय है, जिसके प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये कृपानाथने अनायास सर्पको प्रकटकर पारधीका प्राणान्त कर दिया। इस आख्यानका बहुत सुन्दर ढंगसे वर्णन किया है भगवद्भक्त सूरदासजीने। एक वृक्षपर कपोत भयभीत बैठा है। ऊपरसे बाज झपट्टा मारना ही चाहता है और नीचेसे व्याधने शर-संधान किया है। मृत्युका महान् कष्ट सामने है। निरीह कपोतने भगवान्‌का स्मरण किया—'अब कै राखि लेहु भगवान।' और भगवान्‌ने उसकी प्रार्थना सुन ली। संकट दूर होते ही वह गद्गद कण्ठसे कह उठा—'जय! जय! कृपानिधान!' सूरदासजीके शब्दोंमें ही कृपानिधानकी कृपाका आस्वादन कैसा सुखकर है—

अब कै राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यो द्रुम-डरिया, पारधि साधे बान॥
ताकैं डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान?
सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी, कर छूट्यौ संधान।
सूरदास सर लग्यौ सचानहिं, जय-जय कृपानिधान॥
(सूरसागर ९७)

भगवान्‌को स्मरण करनेकी देरी थी। 'सुमिरत ही अहि डस्यो'—सर्पने तुरंत व्याधको डस लिया। वह व्याकुल हुआ। निशाना चूका और मरा कौन—बाज! ऐसी है विलक्षण भगवत्कृपा!

× × ×

उस मृगीके सौभाग्यका भी क्या कहना, जिसपर भगवान्‌ने अपार कृपा की! भगवत्कृपासे उसके प्राणोंके साथ-साथ उसके उदरस्थ शिशुकी भी रक्षा हो गयी। मृगीको मार डालनेके लिये आतुर शिकारीने उसे चारों ओरसे घेर लिया। एक ओर कँटीदार झाड़ीमें आग लगा दी, दूसरी ओर जाल फैला दिया, तीसरी ओर रक्त-पिपासु श्वानको खड़ा कर दिया और चौथी ओर स्वयं शर-संधान कर डट गया। चारों ओरसे प्राण-संकट देख मृगीने भयातुर हो करुणानिधानको पुकारा। उनका स्मरणमात्र ही कृपाका साक्षात् अनुभव करानेका सामर्थ्य देता है। उसी समय भीषण वर्षा हुई और अग्नि शान्त हो गयी। प्रचण्ड वायुवेगसे जाल अस्त-व्यस्त हो गया और बिजली गिरनेसे श्वान मृत्युका ग्रास बन गया। शिकारीको डस लिया भयंकर विषधरने। चारों दिशाओंमें खड़ी आसन्न मृत्युसे मृगीको बचानेके लिये मानो प्रभु चतुर्भुज रूपमें प्रकट हो गये। अब क्या था! मृगीने छलाँग लगायी और पलक मारते ही अदृश्य हो गयी। प्रभु-कृपासे उसके प्राणोंकी रक्षा हो गयी। कविने इसी भगवत्कृपाको गद्गद कण्ठसे गाया है—

अग्रे व्याधः करधृतशरः पार्श्वतो जालमाला
पृष्ठे वह्निर्दहति नितरां संनिधौ सारमेयाः।
एणी गर्भादलसगमना जालकैं रुद्धपादा
चिन्ताविष्टा वदति हि मृगं किं करोमि क्व यामि॥
धन्यो धर्मः शमितज्वलनो गर्जिता मेघमाला
चण्डं मन्दं वहति पवनश्छेदिता जालमाला।
नष्टो व्याधो भुजगदशनाद् विद्रुतास्सारमेया
मन्दं मन्दं भणति हरिणी साधु साधु विधातः॥

वे प्रभु अपने भक्तका कष्ट हरण करनेके लिये तुरंत ही दौड़े आते हैं। उनका कृपालु स्वभाव उन्हें चैनसे थोड़े बैठने देता है! इस प्रकार भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका प्रसाद मानवतक ही सीमित नहीं, प्रत्युत उसने आन्तरिक श्रद्धा-भक्तिसे युक्त निम्न समझे जानेवाले पशु-पक्षियोंको भी आप्लावित किया है।

दीनदयालकी कृपा

एक साहब तुम दीनदयाला, आयहु करत सदा प्रतिपाला॥
केतिक अधम तरे तुम चरनन, करम तुम्हारा कहा कहि जाला।
मन उनमेख छुटत नहि कबहीं, सौच तिलक पहिरे गल माला॥
तनिकौ कृपा करहु जेहि जन पर, खुल्यो भाग तासु को ताला।
'भीखा' हरि नटवर बहु रूपी, जानहिं आप आपनौं काला॥

—संत श्रीभीखा साहब

वेदोंमें भगवत्कृपा-प्राप्त्यर्थ प्रार्थना

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

भक्ति-शास्त्रोंके अनुसार भगवत्कृपाके बिना मनुष्य सुख-शान्ति या सफलता नहीं प्राप्त कर सकता, अतः भगवत्कृपाका अनुभव करनेके लिये समस्त प्राणियोंमें स्थित रहनेवाले भगवान्‌को सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी जानकर जो मनुष्य सर्वत्र और सबमें देखता है, वही पूर्ण भगवत्कृपाका अनुभव कर सकता है । वह ऐहलौकिक, पारलौकिक—सभी प्रकारके सुख-साधनोंको प्राप्तकर अभ्युदय और निःश्रेयसरूपा पूर्णताको प्राप्त कर सकता है ।

भगवत्कृपा और भगवान्‌में कोई भेद नहीं है, अतः दोनोंको अभिन्न मानकर भगवदाराधन करना चाहिये । जो मनुष्य श्रद्धा और विश्वासके साथ सर्वव्यापी भगवान्‌की आराधना करता है, वह अवश्य भगवान्‌का कृपापात्र बन जाता है । भगवान्‌के सम्मुख होनेके कारण वह सद्धर्म, सत्कर्म और सदाचार आदिके पालनमें तत्पर हो अहर्निश भगवदाराधनमें संलग्न रहता है । पश्चात् वह शुद्ध-बुद्ध अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है । अतः भगवत्कृपाको विशेषरूपमें प्राप्त (अनुभव) करनेके लिये भगवदाराधना आवश्यक है ।

वेदोंमें मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंद्वारा अनेक स्थलोंपर भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये प्रार्थनाएँ की गयी हैं । ये प्रार्थनाएँ बड़ी ही उदात्त और सत्संकल्पित हैं । मन्त्रद्रष्टा ऋषि सदा भगवदनुग्रहके प्रार्थी रहे हैं, परंतु वे साधारण वस्तुओंके लिये भगवदनुग्रहका आह्वान नहीं करते, प्रत्युत अपने तथा मानवमात्रके सर्वाङ्गीण योगक्षेमके लिये प्रभुकृपाके प्रार्थी हैं ।

मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंद्वारा वेदोंमें आत्मकल्याण और लोक-कल्याणके निमित्त भगवत्कृपा-प्राप्त्यर्थ जो प्रार्थनाएँ की गयी हैं, उनमेंसे कुछ वेद-मन्त्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।

(ऋग्वेद १ । ९० । ८)

'हे प्रभो ! हमारी गौएँ (इन्द्रियाँ) मधुरतापूर्ण अर्थात् संयम-सदाचारादिके माधुर्यसे युक्त हों ।'

अप नः शोशुचदघम् ।

(ऋग्वेद १ । ९७ । ३)

'भगवन् ! आपकी कृपासे हमारे समस्त पाप नष्ट हो जायँ ।'

…… ……सुम्नमस्मे ते अस्तु ।

(ऋग्वेद १ । ११४ । १०)

'हे प्रभो ! हमारे भीतर आपका ही महान् आनन्द स्फुरित हो ।'

भद्रंभद्रं क्रतुमस्मासु धेहि ।

(ऋग्वेद १ । १२३ । १३)

'हे प्रभो ! हमें सुखमय, मङ्गलमय और श्रेष्ठ संकल्प, ज्ञान एवं सत्कर्म धारण कराइये ।'

स्वस्ति पन्थामनु चरेम… ।

(ऋग्वेद ५ । ५१ । १५)

'हे प्रभो ! हम कल्याण-मार्गपर चलें ।'

…श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ।

(ऋग्वेद १० । १५१ । ५)

'हे श्रद्धादेवि ! आप हमें श्रद्धालु बनाइये ।'

सं ज्योतिषाभूम ।

(शुक्लयजुर्वेद २ । २५)

'हे देव ! हम आध्यात्मिक प्रकाशसे संयुक्त हों ।'

स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्याणो अघायतः समस्मात् ।

(शुक्लयजुर्वेद ३ । २६)

'हे प्रभो ! आप हमें सत्-ज्ञान दीजिये, हमारी प्रार्थनाको सुनिये और हमें पापी मनुष्यों (के पापाचरण)से बचाइये ।'

अगन्म ज्योतिरमृता अभूम ।

(शुक्लयजुर्वेद ८ । ५२)

'हे देव ! हम आपकी ज्योतिको प्राप्त होकर अमरत्वको प्राप्त करें ।'

वयं स्याम सुमतौ…… ॥

(शुक्लयजुर्वेद ११ । २१)

'हे देव ! हमलोगोंको सुमति प्रदान कीजिये ।'

……सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।

(शुक्लयजुर्वेद २० । ५१)

'वे सर्वज्ञ प्रभु हमलोगोंके लिये सुखकारी हों ।'

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा᳡ँ सस्तनूभि-
र्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

(शुक्लयजुर्वेद २५ । २१)

'हे देवगण ! हम अपने कानोंसे सदैव कल्याणकारी वचन सुनें, हम अपनी आँखोंसे कल्याणकारक दृश्य देखें, हम अपने दृढ़ अङ्गोंसे युक्त होकर परब्रह्म परमेश्वरकी स्तुति करें और हम अपनी आयुको देवताओंकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए व्यतीत करें ।'

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।
(शुक्लयजुर्वेद ३४ । १)

'(हे प्रभो !) मेरा मन शुभ संकल्पोंवाला हो ।'

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ॥
(शुक्लयजुर्वेद ३६ । १८)

'हे भगवन् ! आप हमें ऐसी सद्बुद्धि दें, जिससे हमें सभी प्राणी मित्रकी दृष्टिसे देखें; हम भी समस्त प्राणियोंको मित्रकी दृष्टिसे देखें । हम सब परस्पर एक दूसरेको मित्रकी दृष्टिसे देखें ।'

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥
(शुक्लयजुर्वेद ३६ । २२)

'हे भगवन् ! आप जहाँ कहीं भी कल्याणमयी चेष्टा कर रहे हैं, वहाँसे आप हमें अभयदान दीजिये, जिससे हमें कभी भी भय न हो । आपके द्वारा (हम) समस्त प्रजाका कल्याण हो । हमारे पशु सब प्रकारसे अभय हों ।'

जीवा ज्योतिरशीमहि ।
(सामवेद २५९)

'(हे दयालो !) हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्योतिको प्राप्त करें ।'

प्र न आयूंषि तारिषत् ॥
(सामवेद १८४)

'प्रभो ! हमें दीर्घायु बनाइये ।'

......कृधी नो यशसो जने ।
(सामवेद ४७९)

'हे देव ! हमें अपने देशमें यशस्वी बनाइये ।'

......स नो मुञ्चत्वंहसः ।
(अथर्ववेद ४ । २३ । १)

'वे ईश्वर हमें पापसे छुड़ा दें ।'

...... वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥
(अथर्ववेद ६ । ५८ । २)

'हम समस्त समाजमें यशस्वी बनें ।'

देव संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे ।
[illegible]
(अथर्ववेद [illegible])

'हे देव ! आप आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक आदि अनेक प्रकारकी शक्तियोंके स्वामी हैं, इसलिये आप हमें उन शक्तियोंको प्रदान करें और उन्हें हममें स्थापित करें, जिससे हम आपकी शक्तिसे युक्त हों ।'

......परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु ।
(अथर्ववेद १८ । ३ । ६२)

'(हे प्रभो !) मृत्यु हमसे दूर रहे और हमें अमरता प्राप्त हो ।'

......शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु ।
(अथर्ववेद १९ । ९ । १३)

'मुझे कल्याणकी प्राप्ति हो और मुझे कभी किसी प्रकारका भय न हो ।'

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे
चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे
प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे
व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥
(अथर्ववेद १९ । ५१ । १)

'हे परमेश्वर ! मैं अनिन्द्य (प्रशंसित) बनूँ, मेरा आत्मा अनिन्द्य बने और मेरे चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान तथा व्यान भी अनिन्द्य बनें ।'

अभयं मित्रादभयममित्रा-
दभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥
(अथर्ववेद १९ । १५ । ६)

'हे प्रभो ! हमें मित्रसे भय न हो, शत्रुसे भी भय न हो, परिचित व्यक्तियों एवं सभी वस्तुओंसे निर्भयता प्राप्त हो । परोक्षमें भी हमें कभी कुछ भय न हो । दिनमें, रातमें और सभी समय हम निर्भय रहें । किसी भी देशमें हमारे लिये कोई भयका कारण न रहे । सर्वत्र हमारे मित्र-ही-मित्र हों ।'

......सर्वमेव शमस्तु नः ।
(अथर्ववेद १९ । ९ । १४)

'हमारे लिये सब कुछ कल्याणकारी हो ।'

वस्तुतः भगवत्कृपाका अनुभव सर्वभावसे भगवान्की शरणमें जानेसे तथा विनम्र होकर भगवत्प्रार्थना करनेसे ही होता है ।

भगवत्कृपा सदा सुलभ है

(लेखक—श्रीतारिणीशजी झा)

शास्त्रोंमें भगवान्‌को 'कृपासिन्धु', 'कृपासागर' आदि नामोंसे अभिहित किया गया है। जैसे गङ्गाके पास रहनेवाले व्यक्तिके लिये जल सदा सुलभ है, वैसे ही भगवान् (परमात्मा)के समीप रहनेवाले जीवके लिये भगवत्कृपा सदा सुलभ है। प्रश्न उठता है, जीव परमात्माके समीप कैसे रहता है ? इसका सही उत्तर इस वेद-वाक्यसे स्पष्ट अभिव्यक्त होता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभि चाकशीति ॥
(ऋग्वेद १ । १६४ । २०)

'सदा साथ रहनेवाले दो सुन्दर पक्षी परस्पर मित्र हैं और एक ही वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं। उनमेंसे एक उस वृक्षके मीठे फलोंको खाता है, किंतु दूसरा उन फलोंका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।'

उपर्युक्त रूपकद्वारा यह दिखलाया गया है कि जीवात्मा एवं परमात्माका निवास-स्थान एक है। इनमेंसे एक (जीवात्मा) इस वृक्षरूप शरीरमें पाप-पुण्यरूप फलोंको अच्छी तरह भोगता है और दूसरा (परमात्मा) कर्मोंके फलोंका भोग न करके चारों ओर अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है।

ऐसी स्थितिमें, जब कि जीव कृपासागरके सांनिध्यमें ही रहता है, उसके लिये कृपाकी सुलभतामें क्या बाधा है ! उसका कल्याण क्यों नहीं होता ? क्यों वह निरन्तर **'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्'** (चर्पटपञ्जरिकास्तोत्र ८) की चक्कीमें पिसता रहता है ? उत्तर है—जैसे कोई गङ्गाके पास रहते हुए भी यदि जलकी अपेक्षा ही न करे तो उसके लिये जल सुलभ होते हुए भी दुर्लभ है, वैसे ही कृपाराशि भगवान्‌के समीप रहते हुए भी जो जीव उनकी कृपाकी अपेक्षा नहीं करता, उसे भगवत्कृपाकी सुलभताका अनुभव होना कठिन है।

जीव भगवत्कृपाकी अपेक्षा क्यों नहीं करता ? इसका एकमात्र कारण है अज्ञान। जिस प्रकार मृगकी नाभिमें कस्तूरी रहा करती है, उसकी सुगन्धसे आकृष्ट हो, वह उसे चारों ओर वन-में खोजता फिरता है, किंतु अथक परिश्रम करनेपर भी उसे वह प्राप्त नहीं कर पाता; क्योंकि उसे ज्ञान नहीं है कि वह कस्तूरी उसके शरीर (नाभिस्थल)में ही स्थित है। इसी प्रकार जीव अनन्त सुखराशि परमात्माके अत्यन्त समीप रहते हुए भी अज्ञानके कारण विषयोंमें सुख ढूँढ़ता रहता है और कृपा एवं सुखके आगार भगवान्‌को भूल रहा है।

अनन्तकालसे चौरासी लाख योनियोंमें भटकते हुए जीवको यह सर्वोत्तम (मनुष्य-) योनि मिली है, इसमें उसे सदा सुलभ भगवत्कृपाका अनुभव करके अपना परम कल्याण अवश्य कर लेना चाहिये। भगवत्कृपाका अनुभव करनेका सर्वोत्तम साधन है—भगवद्भक्ति। शास्त्रोंमें भक्तिकी बड़ी महिमा गायी गयी है। यहाँतक कहा गया है कि जैसे जल समस्त प्राणियोंका प्राण (जीवन) है, वैसे ही समस्त सिद्धियोंका प्राण भक्ति है—

यथा समस्तजन्तूनां जीवनं सलिलं स्मृतम् ।
तथा समस्तसिद्धीनां जीवनं भक्तिरुच्यते ॥

गीतामें स्वयं भगवान्‌ने भी कहा है कि भक्तिके द्वारा ही वस्तुतः मुझे जाना जा सकता है—

'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।'
(१८ । ५५)

यदि मनुष्य प्रभु-भक्तिमें अनन्यतापूर्वक संलग्न रहे तो उसे भगवत्कृपा अवश्य प्राप्त होगी, यह शाश्वत सत्य है; क्योंकि जिस प्रकार माता-पिताको अपने बच्चोंकी सेवामें सहज संतोष होता है और सुख मिलता है, उसी प्रकार भक्तोंकी सँभाल करनेमें भगवान्‌को भी सुख मिलता है। इसीलिये तो वे अपनी शरणमें आनेके लिये भक्तोंका आह्वान करते हैं—

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १२ । १५)

'(तुम) समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूप मुझ एककी ही सम्पूर्ण रूपसे शरण ग्रहण करो; क्योंकि मेरी शरणमें आ जानेसे सर्वथा निर्भय हो जाओगे।'

उपर्युक्त तथ्योंसे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस व्यक्तिको भगवत्कृपाकी चाह है, उसके लिये वह (अनन्य-भक्तिद्वारा) सदा सुलभ है। इसके प्रमाणस्वरूप ध्रुव, द्रौपदी आदि मनुष्य ही नहीं, अपितु गज, गरुड़ आदि पशु-पक्षी भी हैं, जिन्हें भगवत्कृपा सहज ही प्राप्त हो गयी थी।

भगवत्कृपाश्रय—एक सुलभ साधन

(लेखक—श्रीहरिकृष्णजी दुजारी)

मानवकी आध्यात्मिक उन्नतिके अनेकानेक साधन तथा मार्ग हैं। यद्यपि ये सभी अपने-अपने स्थानोंपर महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि हम भगवत्कृपाकी अपेक्षा रखते हैं तथा भगवत्कृपासे ही सरलतापूर्वक सम्पन्न हो सकते हैं। भगवत्कृपाके आश्रयसे साधक अपनेमें एक विशेष सामर्थ्यका अनुभव करता है और उस सामर्थ्यसे वह साधनामे निर्विघ्न अविराम आगे बढ़ जाता है। जिस प्रकार बालक अपनी माताकी गोदमे निर्भय होकर रहता है, उसी प्रकार भगवत्कृपाका आश्रय पाकर साधक सभी क्षेत्रोंमे निर्भय हो विचरण करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह स्वच्छन्द होकर मनमाना आचरण करने लगता है। भगवत्कृपाश्रयी कभी मनमाना आचरण तो कर ही नहीं सकता, वह सदैव शास्त्रानुकूल सदाचरण ही करेगा, यह उसकी प्रथम कसौटी है। जिसकी कृपाका आश्रय लिया है, साधक उसके विपरीत कैसे जा सकता है!

भगवान्की कृपा-सुधा तो सभी जीवोंपर सदैव समानरूपसे बरस रही है, वहाँ कोई भेद-भाव नहीं है। भगवान् स्वयं इसे स्वीकार करते हैं—

अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
(मानस ७। ८६। ४)

परंतु उस कृपासे विशेष लाभ उठाना साधकके ऊपर निर्भर करता है। भक्त ध्रुव एवं प्रह्लादने छोटी आयुमे ही कृपा-लाभ ले लिया था। गोस्वामी तुलसीदास, भक्त सूरदास एव मीराबाईकी घटनाएँ तो इसी युगकी हैं। महात्मा ईसा शूलीपर चढ़ाये जानेपर भी विचलित नहीं हुए। ऐसे सैकड़ों महापुरुषोंके उदाहरण हमारे सामने हैं, जिन्होंने भगवत्कृपाका आश्रय लेकर अपने जीवनको सार्थक बना लिया। भगवान्के लिये देश-कालका कोई भेद नहीं है। प्रत्येक युगमे विभिन्न स्थानोंपर ऐसी घटनाएँ हुई हैं, होती हैं और आगे हो सकती हैं। भगवत्कृपाका प्रभाव तो समानरूपसे सभी देशोंमे, सभी कालोंमें प्रवाहित होता आ रहा है। उसमे जो अवगाहन कर लेता है, वही सौभाग्यशाली है।

सड़कोंपर, भिन्न-भिन्न मार्गोंपर हम देखते हैं कि थोड़ी-थोड़ी दूरपर खम्भे गड़े रहते हैं, उन खम्भोंपर तार लगे रहते हैं, इन्हीं तारोंके माध्यमसे विद्युत् प्रवाहित होती है। विद्युत्का वह प्रवाह हमें दिखायी नहीं देता परंतु उसी विद्युत्से बल्बका प्रकाश देखा जा सकता है। बड़ी-बड़ी मशीनें भी उस विद्युत्से चलती देखी जाती हैं। सभी बल्बोंका प्रकाश एक समान नहीं होता, न सभी मशीनोंकी गति ही एक-जैसी होती है। भिन्न-भिन्न क्षमताके बल्ब एवं भिन्न-भिन्न शक्तिसे चलनेवाली मशीनें होती हैं, किंतु विद्युत्का प्रवाह एक-जैसा ही होता है, जितनी क्षमताका बल्ब होगा, उसी अनुपातमे उसका प्रकाश होगा और जितनी क्षमताकी मशीन होगी, उतनी ही मन्द या तीव्र उसकी गति होगी। विद्युत्को प्रवाहित होनेके लिये तारोंके माध्यमकी नितान्त आवश्यकता होती है, परंतु भगवत्कृपाशक्तिके लिये किसी माध्यमकी आवश्यकता नहीं, वह तो सर्वत्र समानरूपसे स्वतः प्रवाहित हो रही है। विद्युत्-शक्तिकी तो एक सीमा भी है, परंतु भगवत्कृपा तो असीम है, उसको ग्रहण करना बल्बों एवं मशीनोंकी भाँति साधककी क्षमतापर निर्भर करता है कि वह उसको कितनी मात्रामे तथा किस रूपमे ग्रहण करता है।

भगवत्कृपा-प्राप्तिके दो मुख्य साधन हैं। यहाँ प्राप्तिका तात्पर्य अनुभूति है। पहला साधन है भगवत्कृपापर अटूट विश्वास एवं दूसरा दीनता।

विद्युत्-शक्ति दो तारोंसे प्रवाहित होती है। उन्हें ऋणात्मक (निगेटिव) एवं धनात्मक (पॉजिटिव) प्रवाहतन्तु (करेण्ट वायर) कहते हैं। विद्युत्के उपयोगके लिये उन दोनों शक्तिप्रवाहक तारोंकी नितान्त आवश्यकता है। जिस प्रकार निगेटिव या पॉजिटिव प्रवाहोंका अलग-अलग उपयोग नहीं किया जा सकता, उनका सम्मिलित उपयोग ही शक्तिका उत्पादक है, जो विभिन्न उपकरणोंमे गति, प्रकाश आदि पैदा करता है, उसी प्रकार भगवत्कृपासे लाभ उठानेके लिये भी विश्वास एवं दीनता—इन दोनों ही साधनोंकी नितान्त आवश्यकता है।

विश्वास—

अनुकूल-प्रतिकूल—प्रत्येक परिस्थितिमे उपादेय-अनुपादेय—हर क्रियामे, उसके अच्छे-बुरे परिणाममें

भगवत्कृपाका अनुभव करना ही भगवत्कृपापर अटूट विश्वास है। कोई परिस्थिति भगवत्कृपासे रहित होती ही नहीं। संतका प्राप्त होना, सत्सङ्ग प्राप्त होना, ठीकसे साधन चलना—ये सब भगवत्कृपाके ही फल हैं। इनमें भगवत्कृपाका अनुभव करनेसे प्रतिक्षण एक नूतन आनन्द प्राप्त होता है, साधन करनेमें उत्साह प्रतीत होता है और सफलता भी शीघ्र प्राप्त होती है। प्रत्येक मनुष्यमें एक विवेक-शक्ति होती है, जो उसे किसी भी बुरे काममें प्रवृत्त होनेसे पूर्व ही सजग कर देती है तथा अच्छे कार्यके लिये प्रेरणा देती है, यह मानसिक स्तरपर भगवत्कृपाका कार्य है।

अनुकूल परिस्थितियोंमें भगवत्कृपापर विश्वास करना उतना कठिन नहीं, जितना प्रतिकूल परिस्थितियोंमें है। मृत्यु, दुःख, विपत्ति, रोग, दरिद्रता आदिमें भगवत्कृपाका ठीक-ठीक अनुभव करना कठिन है, पर इनमें भगवत्कृपाकी अनुकूलताका अनुभव करना ही विश्वासकी कसौटी है। इसपर कुन्दनकी भाँति खरा सिद्ध होना साधककी सफलता है।

भक्त ध्रुव जब वनमें तपस्या कर रहे थे, उनके सामने मायारचित माता सुनीति प्रकट हुई और बोली—'हे पुत्र! तू शरीरको नष्ट करनेवाले इस भयंकर तपका आग्रह छोड़ दे। मैंने बड़ी-बड़ी मनौतियोंद्वारा तुझे प्राप्त किया है। मुझ निराश्रिताका तो तू ही एकमात्र सहारा है। कहाँ तू पाँच वर्षका शिशु और कहाँ तेरा यह अति उग्र तप। अरे बेटा! इस निष्फल क्लेशकारी आग्रहसे अपना मन मोड़ ले। अभी तो तेरे खेलने-कूदनेके दिन हैं, फिर अध्ययनके तदनन्तर समस्त भोगोंके भोगनेके दिन आयेंगे। इन सबके अन्तमें ही तपस्या करना ठीक होगा। बेटा! इस सुकुमार बाल्यावस्थामें, जो खेल-कूदका समय है, तू तपस्या करना चाहता है? तू क्यों इस प्रकार अपना सर्वनाश करनेपर तुला है? तेरा परम धर्म तो मुझको प्रसन्न रखना ही है, अतः तू अपनी आयु और अवस्थाके अनुकूल कर्मोंमें ही लग, मोहका अनुवर्तन न कर और इस तपरूप कठोर धर्माचरणसे निवृत्त हो जा। बेटा! यदि आज तू तपस्याको न छोड़ेगा तो देख तेरे सामने ही मैं अपने प्राण छोड़ दूँगी।' मायामयी माताने पुनः कहा—'अरे बेटा! यहाँसे भाग चल। देख, इस महाभयंकर वनमें ये कैसे घोर राक्षस अस्त्र-शस्त्र लिये आ रहे हैं।' उसी समय सन्मुख ध्रुवके सामने अनेक राक्षसगण अपने अस्त्र-शस्त्र चमकाते हुए प्रकट हुए। उन्होंने बड़ा भयंकर कोलाहल किया। वे लोग 'मारो-खाओ'—इस प्रकारके डरावने शब्दोंके साथ हुंकार कर रहे थे।

इतनी भयंकर, विपरीत, कठिन एवं विचलित करनेवाली परिस्थितियाँ प्राप्त होनेपर भी भक्त ध्रुवका भगवत्कृपापर विश्वास अडिग रहा। यही विश्वासकी चरम कसौटी है। उन सबको देखते हुए भी वे एकाग्र मौन अवस्थामें भगवान् विष्णुके ध्यानमें मग्न रहे। उन्हें न भय था, न चिन्ता थी। भगवत्कृपासे सभी कुछ सम्भव है।

भक्त प्रह्लादके जीवनमें भी कम भयंकर परिस्थितियाँ नहीं आयीं। पिता हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे उन्हें ऊँचे पर्वत-शिखरोंके ऊपरसे गिराया गया, अग्निमें डाला गया, सर्पोंसे डसाया गया, उन्हें मारनेके लिये कृत्या उत्पन्न की गयी; परंतु भक्त प्रह्लादके विश्वासमें तनिक भी कमी नहीं आयी। उन्होंने अपने पिताद्वारा भगवान्‌के विषयमें पूछे जानेपर निर्भीकतासे उत्तर दिया—

न शब्दगोचरं यस्य योगिध्येयं परं पदम्।
यतो यश्च स्वयं विश्वं स विष्णुः परमेश्वरः॥
(वि० पु० १।१७।२२)

'योगियोंके ध्यान करनेयोग्य जिनका परमपद वाणीका विषय नहीं हो सकता तथा जिनसे विश्व प्रकट हुआ है और जो स्वयं विश्वरूप हैं, वे परमेश्वर ही विष्णु हैं।'

भयं भयानामपहारिणि स्थिते
मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरान्तकादि-
भयानि सर्वाण्यपयान्ति तात॥
(वि० पु० १।१७।३६)

'तात! जिनके स्मरणमात्रसे जन्म, जरा और मृत्यु आदिके समस्त भय दूर हो जाते हैं, उन सकल-भयहारी अनन्तके हृदयमें स्थित रहते भय कहाँ रह सकता है?'

प्रह्लादको रौंदते समय हाथियोंके वज्र-सदृश कठोर दाँत टूट गये, परतु भगवत्कृपा-शक्तिने प्रह्लादका बाल भी बाँका न होने दिया। भक्त प्रह्लादने अपने दृढ़ विश्वासके साथ पितासे कहा—

दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुरा-
शीर्णा यदेते न बलं ममैतत्।
महाविपत्तापविनाशनोऽयं
जनार्दनानुस्मरणानुभावः॥
(वि० पु० १।१७।४४)

'पिताजी ! ये जो हाथियोंके वज्रके समान कठोर दाँत टूट गये हैं, इसमें मेरा कोई बल नहीं है। यह तो श्रीजनार्दन भगवान्‌के महाविपत्ति और क्लेशोंके नष्ट करनेवाले स्मरण-का ही प्रभाव है।'

इतनी भयंकर परिस्थितियोंमें भी प्रह्लादके विश्वासमें तनिक भी न्यूनता नहीं आयी, कठोर परीक्षा उन्हें भगवत्कृपाके विश्वाससे विचलित न कर सकी।

साधकोंके सम्मुख भी ऐसी कठोर परिस्थितियाँ कई बार आती हैं और वे ही घड़ियाँ उनके अटूट विश्वासकी परीक्षा की होती हैं। ऐसी परिस्थितियाँ भी भगवत्कृपासे ही आती हैं। उन विपरीत परिस्थितियोंमें यदि भगवद्विश्वासमें तनिक भी संशय हुआ तो साधक एक बार फिर संसार-भँवरमें चक्कर काटने लगता है, किंतु भगवत्कृपा-शक्ति उस समय भी काम करती रहती है और जब वे परिस्थितियाँ सामान्य हो जाती हैं, तब उनका रहस्य साधककी समझमें तुरंत आ जाता है कि विपरीत परिस्थितियाँ भी भगवान्‌की कृपासे ओतप्रोत थीं और भगवान्‌की कृपा-शक्ति ही उनमें उसकी रक्षा कर सकी।

दीनता—

भगवत्कृपा-प्राप्तिका दूसरा साधन है—दीनता। साधकमें अहंभावका सर्वथा अभाव होना अत्यन्त आवश्यक है। भगवत्कृपाका बल एवं अपनेमें दीनता—इन दोके होते ही उन्नतिका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। कबीरदासजीने भी कहा है—

'लघुता से प्रभुता मिले प्रभुता से प्रभु दूरि।'

साधक तो सर्वथा अपनेको अकिंचन समझता है, जो भी उसमें अच्छापन है, उसके द्वारा अच्छा कार्य होता है, उसमें वह भगवत्कृपाका ही प्रसाद समझता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी श्रीरामचरितमानसकी रचना करके यही कहा—

रघुपति कृपाँ जथामति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥
(मानस ७। १२९। २)

दीनताके सम्बन्धमें नारदजीकी मोह-लीला भी एक शिक्षा देनेवाली घटना है। नारदजीने भगवत्कृपासे ही कामपर विजय प्राप्त की थी। इसमें भगवत्कृपाकी बात तो उन्हें भी याद रही, परंतु साथ-साथ वे अपनी विजयके अहंकार-को नहीं भुला पाये थे—

नारद कहेउ सहित अभिमाना। कृपा तुम्हारि सकल भगवाना॥
(मानस १। १२८। २)

करुणानिधि भगवान्‌को नारदजीके गर्व-अंकुरको पहचाननेमें तनिक भी देर न लगी। उन्होंने तत्काल मायानगरीकी रचना कर डाली। भक्त अपने अहंकारद्वारा भगवान्‌की मायासे छुटकारा नहीं पा सकता। मायापर विजय-प्राप्तिके लिये भगवत्कृपाका बल एवं दीनता—दोनोंकी ही आवश्यकता होती है। भगवान्‌द्वारा मायाका हरण होते ही नारदजी दैन्यकी साकार मूर्ति बन गये—

तब मुनि अति सभीत हरि चरना। गहे पाहि प्रनतारति हरना॥
(मानस १। १३७। १)

भगवान्‌को दीनता बहुत प्रिय है, इस बातका उद्घोष स्वयं नारदजी करते हैं—

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च।
(नारदभक्तिसूत्र २७)

'भगवान्‌को अभिमानसे द्वेष-भाव और दैन्यसे प्रिय-भाव है।' इन्हीं दोनों सिद्धान्तोंपर गोस्वामी तुलसीदासजीकी पूर्ण आस्था रही। वे एक ओर तो यह स्वीकार करते हैं—

राम कृपाँ अतुलित बल तिन्हहीं। तृन समान त्रैलोकहि गनहीं॥
(मानस ५। ५४। १)

और दूसरी ओर अपनेको सर्वथा दीन घोषित करते हैं—

मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भव भीर॥
(मानस ७। १३० क)

दैन्य भगवत्कृपाकी अनुभूतिका अत्यन्त सहज-सुलभ साधन है। यह दैन्य भगवद्भक्तका सहज स्वभाव है, जो बड़ी-से-बड़ी विपत्तियोंकी स्थितिमें भी उसे भगवान्‌के सम्मुख अडिग खड़ा रहनेकी निरन्तर प्रेरणा देता रहता है।

श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) भी सदैव इन्हीं भावोंकी पुष्टि किया करते थे। उन्होंने लिखा है—

भगवत्कृपा दीनका धन है, है उसपर उसका अधिकार।
नहीं योग्यताकी आवश्यकता, नहीं देश-कुल-धर्म-विचार॥
नहीं प्रश्न 'अधिकारी'का कुछ, नहीं शर्त कुछ, नहीं करार।
हो विश्वास परम दृढ़ केवल दीनबन्धुपर बिना विचार॥

संत-कृपासे भगवत्कृपा

(लेखक—डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस्० सी०)

न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥
(श्रीमद्भा० ६ । ११ । २५)

'सर्वसौभाग्यनिधे ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकच्छत्र राज्य, योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि मोक्ष भी नहीं चाहता।'

ऐसा भक्तिभावसम्पन्न संत करोड़ोंमें कहीं कोई विरला ही होता है। जब ऐसे किसी संतके समागमका सौभाग्य पूर्वजन्मकृत सुकृत एवं भगवत्कृपासे किसीको प्राप्त हो जाता है, तब उसे जीवन्मुक्त ही मानना चाहिये। कबीरदासजीने इस सम्बन्धमें कहा है—'जिस दिन संत मिल जायँ, वही दिन अच्छा है; क्योंकि अङ्कमें भरकर उनका आलिङ्गन करनेसे शरीरके पाप नष्ट हो जाते हैं'—

'कबीर' सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाहिं।
अंक भरे भरि भेंटिया, पाप सरीरौं जाहिं ॥
(कबीर-ग्रन्थावली-साधको अंग ६)

केवल पाप ही शरीरसे नहीं निकल जाते, अपितु व्यक्ति उन (संत) की कृपासे स्वयं श्रीहरिको प्राप्त करनेमे भी समर्थ हो जाता है—

माल मलूक हरि देत हैं, हरिजन हरि ही देत।

'श्रीहरि तो धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि देते हैं, किंतु संत श्रीहरिका ही साक्षात्कार करा देते हैं।'

परंतु संतोंकी उपलब्धि सहजमें सम्भव नहीं होती; क्योंकि—

सिंहोंके लहँडे नहीं, हंसोंकी नहिं पाँति।
लालोंकी नहिं बोरियाँ, संत न चलें जमाति ॥

'सिंहोंकी टोली नहीं होती, हंसोंकी पङ्क्ति नहीं होती, बोरियाँ भर-भरके लाल (रत्न आदि) नहीं होते और संत जमात बनाकर नहीं चलते।'

इसीलिये शास्त्रकारोंने कहा है—

'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।'
(नीतिशतक २३)

'बतलाइये, सत्सङ्गति मनुष्योंका कौन-सा हित नहीं करती ?'

परंतु संत-समागम अतीव दुर्लभ होता है, जैसा कि संतशिरोमणि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

'संत समागम हरिकथा 'तुलसी' दुर्लभ दोय।'

फिर भी भगवत्कृपावश संतोंका आविर्भाव इस भूतलपर यत्र-तत्र समय-समयपर होता ही रहता है; क्योंकि यदि इन संतोंका समाजमें पदार्पण न हो तो समाजको चरित्रकी, धर्मपालन और मानवीय कर्तव्योंकी शिक्षा कैसे प्राप्त हो ? वस्तुतः सदाचार और स्वधर्म-पालनकी शिक्षा देने तथा सन्मार्ग दिखानेके लिये भूतलपर संतोंका आगमन अथवा आविर्भाव अत्यन्त आवश्यक भी है। वे ही अपने आदर्श चरित्रद्वारा मानवमात्रका पथ प्रशस्त कर श्रीमद्भगवद्गीताके इस श्लोकको अन्वर्थक बनाते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बर्ताव करने लग जाता है।'

ऐसे महात्माका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। वे इस चराचरात्मक जगत्को वासुदेवमय ही देखते हैं और उसी आदर-भावसे परिपूर्ण व्यवहारको अपनाते हैं, जो विश्वात्माके परितोषका कारण है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।' अतः ऐसे ज्ञानी महात्माओंका मिलाप भी सर्वथा दुर्लभ होता है। यदि मिल भी जायँ तो उन्हें पहचानना बड़ा कठिन होता है, परंतु यदि उन्हें पहचान लिया जाय तो मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिमें कोई संदेह नहीं रह जाता।

सच्चे संत शत्रु-मित्र-भावसे ऊपर, मायाके आकर्षणसे दूर तथा काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदिसे सर्वथा मुक्त एवं सबके हित-चिन्तक होते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने ऐसे ही संतोंके सम्बन्धमें कहा है—

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ॥
(मानस १।३ क)

संतोंकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वे अपने अपकारीका भी उपकार करते हैं—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥
(मानस ५।४०।४)

संतोंके स्वभावका सर्वाङ्गीण सुन्दर दिग्दर्शन गोस्वामी तुलसीदासजीने मानसमें इस प्रकार कराया है—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥

× × ×

भूर्ज तरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला॥
(मानस ७।१२०।७-८)

'मन, वचन, कर्मसे दूसरोंकी भलाई करना संतोंका सहज स्वभाव होता है। दूसरोंका हित-साधन करनेके लिये वे भारी-से-भारी दुःखको सहन करनेसे भी पीछे नहीं हटते।' दूसरोंका दुःख उनका अपना दुःख होता है। ईर्ष्या, मान, मद, मोह, काम-विकार उनसे उसी प्रकार दूर रहते हैं, जिस प्रकार प्रकाशसे अन्धकार। शीलशालीनता, परदुःखकातरता, विनम्रता आदि उनके चरित्रके आधार-स्तम्भ होते हैं। उनकी इसी गुण-गरिमामें निमज्जित होकर व्यक्ति उनके प्रति श्रद्धाभिभूत होते हैं। ये ही गुण संतोंको अलौकिक अथवा भगवान्‌के सदृश बनाते हैं। ऐसे संतोंकी शरणमें पहुँचनेपर व्यक्तिके लिये कुछ भी अलभ्य नहीं रह जाता; परंतु भगवत्कृपा विना ऐसे संतोंका दर्शन दुर्लभ है—

'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥'
(मानस ५।६।२)

पुराण-साहित्यका अध्ययन करनेपर विदित होता है कि जितने व्यक्तियोंको भगवत्कृपा प्राप्त हुई, उनकी उस कृपा-प्राप्तिका मूलस्रोत संत ही रहे हैं। पञ्चवर्षीय बालक ध्रुवको भगवत्कृपाका परिचय देकर उनके अनुग्रहकी प्राप्तिके लिये उन्हें मधुवनमें जाकर तप करनेकी प्रेरणा देनेवाले संत देवर्षि नारद ही थे। संत-कृपासे ध्रुव कितने उच्च पदके अधिकारी बने, यह सर्वविदित है।

दनुजकुलावतंस गर्भस्थ प्रह्लादको भगवत्कृपासे परिचित करा, उन्हें भगवान्‌के अमोघ दर्शन प्राप्त करा देना संत-कृपाका ही फल था। पद्मपुराणान्तर्गत भक्तिकी उक्ति है—हे नारदजी! जिन आपकी एकमात्र वचनावलिको ही (अपनी माताके गर्भमें) सुनकर कयाधूके पुत्र प्रह्लादजीने मायाको परास्त कर दिया और जिनकी कृपासे ध्रुवजीको अविचल पद प्राप्त हुआ, उन आप सर्वमङ्गलमय ब्रह्माजीके पुत्रको मैं (भक्ति) नमस्कार करती हूँ'—

जयति जयति मायां यस्य कायाधवस्ते
वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य।
ध्रुवपदमपि यातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं
सकलकुशलपात्रं ब्रह्मपुत्रं नतास्मि॥
(पाद्मीयभा० माहा० १।८०)

वस्तुतः संत भगवत्स्वरूप ही होते हैं, क्योंकि उनका सर्वस्व भगवदर्पित होता है, अतः उनके समस्त कार्यव्यापार भगवल्लीला-तुल्य ही होते हैं। उनकी उपस्थिति प्रत्येक स्थलको तीर्थ बना देती है। भगवान् स्वयं इन भाग्यवान् संतोंके लिये सतत चिन्तित रहते हैं और इस प्रकार यह सिद्ध कर देते हैं कि संतोंका महत्त्व उनसे भी अधिक है।

अतः यह सुस्पष्ट है कि भगवत्कृपा-प्राप्तिका आधार संत-कृपा ही है।

भगवत्कृपासे भगवत्प्राप्ति

(लेखक—प० श्रीशिवकुमारजी शास्त्री)

धर्मप्राण भारतकी एक विशिष्ट परम्परा है। भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण विश्वकी संस्कृतिका मूल उद्गम है। यह संस्कृति समस्त जीवोंके सच्चे कल्याणकी भावनाको लेकर ही प्रवृत्त है। उसमे जीवमात्रके हितकी भावना है। जीवका परम कल्याण ही उसका परम लक्ष्य है। मनुष्यका परम धर्म है 'भगवत्प्राप्ति'—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।
(याज्ञवल्क्य० १। ८)

'किसी भी योगसे, चाहे वह ज्ञानयोग, ध्यानयोग, या भक्तियोग हो, भगवान्‌का साक्षात्कार हो, यही मानवका उत्कृष्ट धर्म है।' भगवत्प्राप्ति (मोक्ष) ही मानवका परम पुरुषार्थ है। भगवत्प्राप्तिके विना मानव-जन्मका सत्यसाफल्य सम्भव नहीं है। जीवात्मा अल्पज्ञ होनेके कारण भगवान्‌का कथंचित् विस्मरण कर सकता है, पर यदि भगवान् जीवात्माकी उपेक्षा कर दें तो उसका उद्धार कथमपि सम्भव नहीं है। जीवात्मा अनादिकाल-प्रवृत्त अविद्याके वन्धनसे मुक्त होकर परमकल्याण प्राप्त कर ले, यही भगवान्‌के सृष्टि आदि कार्योंका प्रयोजन है।

जीवात्मामे भगवत्कृपाकी पात्रता जितनी होगी, उतनी ही भगवत्कृपाकी अनुभूति भी होगी। सूर्यकी किरणोंका प्रकाश सर्वत्र समान होते हुए भी दर्पण तथा सूर्यकान्तमणिमे क्रमशः उसकी तीव्र चमक एवं उष्णता प्रत्यक्ष अनुभूत है। चन्द्रकान्तमणि चन्द्रप्रकाश पाकर द्रवित हो जाती है। भगवत्कृपा अकारण सब जीवोंको प्राप्त है, पर अनादि अविद्योपाधि-वशवर्ती जीवात्माके तत्तत्कर्मवासनाओंसे वासित अन्तःकरणमे उसकी ग्राहकता स्पष्ट परिलक्षित नहीं होती। सत्त्व-शुद्धि होनेपर निर्मल दर्पणमे सक्रान्त प्रतिविम्बकी भाँति भगवत्कृपा-की पात्रता स्वयं प्राप्त हो जाती है। इसी भावको लेकर श्रीभगवान् कहते हैं—'जो जिस भावनासे मेरी शरण होते हैं, मैं भी उन्हें वैसे ही अपना लेता हूँ'—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'
(गीता ४। ११)

भगवान्‌की अनन्य-भक्ति जीवके जन्म-जन्मान्तरकी पापवासनाओंको उसी प्रकार पूर्णतया भस्मसात् कर देती है, जैसे एक विस्फुल्लिङ्ग (चिनगारी) लाखों टन रुईको भस्म कर देती है। पुनः ऐसे जीवको भगवान्‌के प्राप्त होनेमे कोई विलम्ब नहीं होता—

'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'
(छा० उ० ६। १४। २)

भगवत्प्राप्ति भक्तिकी अनन्यतापर निर्भर है। वीतराग भक्तकी भक्ति-साधनाकी परिपाक दशामे भगवत्कृपा या भगवत्प्राप्ति साध्यकोटिमे प्रविष्ट हो जाती है और सांसारिक विषयोंसे वैराग्यावस्था तथा भगवत्प्राप्तिके लिये परम व्याकुलताकी दशामे भगवत्कृपा साधकके लिये मार्गदर्शकके रूपमे भी मान्य है। भगवत्कृपा भगवत्स्वरूप-से अभिन्न है। भगवत्कृपाप्राप्त पुरुष ससारके पाप-तापोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। यद्यपि साधनाकी परिपाक दशामे साधक अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रख पाता; किंतु ('अहं'के सर्वथा विगलित होनेपर भी) वह तो अपनेको भगवान्‌का ही मानता है। जैसे समुद्रमे तरंगें उठती हैं, पर तरंगोंमे समुद्र नहीं उठता।

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥
(श्रीशंकराचार्यकृत षट्पदी ३)

साधनाकी निर्विघ्न सफलता भी भगवत्कृपापर निर्भर है। भगवान् जिसे अपना लेते हैं, जिसपर कृपा कर देते हैं, उसके समक्ष अपने स्वरूपको प्रकट कर देते हैं—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(कठोप० १। २। २३)

भगवान्‌की कृपाके विना देव, दानव आदि कोई उन्हें देख नहीं सकता। जिसपर भगवान्‌की कृपा और प्रसन्नता होती है, वही उनका दर्शन कर सकता है—

द्रष्टुं न शक्यते कैश्चिद् देवदानवपन्नगैः।
यस्य प्रसादं कुरुते स चैनं द्रष्टुमर्हति॥
(अ० रा० ७। ३। ५१)

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥
(मानस २। १२६। २)

साधना-भेदसे भगवत्कृपाके फल भी विविध होते हैं। भक्त ध्रुवको ध्रुवपदकी प्राप्ति, भक्त प्रह्लादको अन्ततः

भगवत्प्राप्ति, ज्ञानी भक्त उद्धवादिको भगवत्स्वरूप मोक्षप्राप्ति आदि उसके अनेक रूप परिलक्षित होते हैं। विविध साधनोंसे प्राप्त होनेवाली इस भगवत्कृपाके रूप भी विविध हैं। वह साध्य भी है और साधन भी। वस्तुतः भगवत्कृपा भगवत्प्राप्तिका ही अन्तरङ्ग स्वरूप है। जो निष्कपटभावसे अपना सर्वस्व और अपनेको भी श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें न्योछावर कर देते हैं, उन भक्तोंपर वे अनन्त (भगवान्) स्वयमेव दया करते हैं। वस्तुतः उनकी दयाके पात्रजन ही उनकी दुस्तर मायाके स्वरूपको जानकर उसके पार जा पाते हैं।

भगवत्कृपाभिलाषी भक्त अपने कल्याणके लिये श्रीभगवान्‌पर ही पूर्णतया निर्भर रहते हैं। महाराज पृथु कहते हैं कि जिस प्रकार पिता स्वयं ही बालकका हित सम्पादन करता है, उसे किसी प्रेरणाकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार भगवन्! आप हमारा कल्याण सम्पादन स्वयं ही करनेके योग्य हैं—

यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम्।

(श्रीमद्भा० ४। २०। ३१)

महर्षि सुतीक्ष्ण भगवान् श्रीरामसे कहते हैं—

मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥

(मानस ३। १०। १२-१३)

भगवदाश्रितजन स्वयं भगवत्कृपाके अधिकारी हो जाते हैं। भक्त हनुमान् भगवान् श्रीरामसे कहते हैं—

……………………। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई॥
सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(मानस ४। २। २)

हनुमान्‌जीके इन वचनोंको सुनकर श्रीभगवान् प्रेमार्द्रहृदय हो भक्तको उठाकर हृदयसे लगा लेते हैं। और कहते हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(मानस ४। २। ४, ३)

भगवान् दीनबन्धु एवं दयासागर हैं। भक्तके प्रति उनके ये वचन उनके ही अनुरूप हैं।

भगवत्कृपा सब जीवोंपर समान है। उसमें अपने-परायेका लेशमात्र भी भेद नहीं है। भगवान्‌का वैभव असीम है। भगवान्‌की पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदिरूपोंमें भी महिमा प्रत्यक्ष है। पुनः शब्द एवं अनुमानके द्वारा सिद्ध होनेवाली उनकी अपरिच्छिन्नताका क्या कहना—

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा॥

(रघुवंश १०। २८)

आस्तिक-नास्तिक सभीपर भगवत्कृपाकी अविरल वर्षा हो रही है। कोई उस कृपावर्षासे अपनेको आर्द्र न करना चाहे, यह दूसरी बात है। पतितपावनी पुण्य-सलिला गङ्गाजीके समीप जानेपर भी जिसके पास जितना बड़ा पात्र है, वह उसमें उतना ही गङ्गाजल पा सकता है। महादार्शनिक नैयायिकशिरोमणि श्रीउदयनाचार्य तो परम कारुणिक भगवान्‌से नास्तिकोंपर भी करुणा करनेकी याचना करते हैं—'करुणावरुणालय भगवन्! इस प्रकार वेद-शास्त्र-तर्कसे पूर्ण निर्मल जलसे हृदयका प्रक्षालन कर चुकनेपर भी यदि आप नास्तिकोंके हृदयमें स्थान नहीं बनाते, आप और आपके उपदेश उन्हें मान्य नहीं होते तो वे निश्चय ही वज्रसे भी कठोर हृदयवाले हैं। करुणामय! पर आप बड़े दयालु हैं। शास्त्रोंके खण्डनमें निरन्तर निरत चित्तवाले होनेसे क्या वे आपके अनन्यचिन्तक नहीं हैं? हमारी यही प्रार्थना है कि समय आनेपर वे भी आपके द्वारा तारणीय हैं'—

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किंतु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः॥

(न्या० कु० ५। १८)

तत्त्वज्ञानका उपदेश हृदयको तभी प्रकाशित कर पाता है, जब मानव भगवद्भक्तिपूर्ण हृदयसे भगवत्कृपाका अधिकारी बन जाता है। जिसकी परमेश्वरसे अनन्य-भक्ति है तथा परमेश्वरकी भाँति गुरुमें भी है, उस महात्माको ही इस तत्त्वका प्रकाश प्राप्त होता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेता० ६। २३)

निःसंदेह भगवत्कृपा ही भगवान्‌की प्राप्तिमें प्रधान सहायक है।

नवधा भक्तिद्वारा भगवत्कृपा-प्राप्ति

(लेखक—श्रीउमाकान्तजी कपिध्वज, एम्० ए०, काव्यरत्न)

प्राचीन हिंदू-शास्त्रोंमें ही नहीं, अन्यान्य देशोंके धर्म-शास्त्रोंमें भी इतर प्राणियोंके देहकी अपेक्षा मानव-देहको अधिक उत्कृष्ट माना गया है। पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यजीने मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व तथा महापुरुषसंश्रय—इन तीनोंको अत्यन्त दुर्लभ पदार्थके रूपमें वर्णित किया है। इन तीनोंमें भी मनुष्यत्व ही प्रधान है; क्योंकि मनुष्य-देहकी प्राप्ति हुए बिना मुक्तिकी इच्छा तथा महापुरुषका आश्रय प्राप्त करना सम्भव नहीं है। चौरासी लाख योनियोंके अन्तर्गत मनुष्य-देहकी प्राप्ति सर्वोपरि है। यह मनुष्य-शरीर बड़ा ही दुर्लभ है। विभिन्न योनियोंमें भटकता हुआ जीव जब श्रान्त-क्लान्त हो जाता है, तब भगवान् विशेष अनुकम्पा करके उसे मानव-देह प्रदान करते हैं[1]।

ऐसा सुर-दुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ न जाय, इसके लिये भक्तप्रवर प्रह्लादने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन[2]—इन नौ साधनोंका अभिधान किया है। श्रद्धा और भक्तिपूर्वक इन नौ साधनोंको हृदयगम करनेसे निश्चय ही भगवत्कृपा सुलभ हो सकती है। अब क्रमशः भगवत्कृपा-प्राप्तिमें सहायक इन नौ साधनोंका वर्णन किया जाता है—

श्रवण—

भगवान्‌के अलौकिक चरित्रोंकी महिमा-सूचक कथाओंको महात्माजनोंके मुखसे श्रद्धा और प्रेमके साथ सुनना 'श्रवणभक्ति'-के अन्तर्गत आता है। 'देवगण! हम अपने कानोंसे भद्र—परमेश्वरके नाम-गुणयुक्त चरित्रोंका श्रवण करें'[3]—कहकर वेदोंने भी इस परम्पराको स्वीकार किया है। श्रीमद्भागवतान्तर्गत भगवत्स्तुतिमें ब्रह्मादि देवताओंने भगवत्कथा-श्रवणकी महत्ता प्रदर्शित की है। गोस्वामी तुलसीदासजी तो यहाँतक लिखते हैं कि 'जिन्होंने अपने कानोंसे भगवत्कथा-श्रवण नहीं किया, उनके कर्ण-छिद्र सर्पबिलके समान हैं[4]।' महाराज पृथु भगवत्कथाश्रवणकी महत्ता भलीभाँति समझते थे, तभी तो उन्होंने महज्जनोंके मुखसे विनिःसृत भगवत्कथामृतको पान करनेके लिये दस सहस्र कानोंकी याचना की थी[5]। राजा परीक्षित्‌को सम्पूर्ण भागवत सुनानेके पश्चात् महामुनि शुकदेवजीने निष्कर्षरूपमें यही तो कहा था कि अनेक प्रकारके दुःखरूप दावानलसे त्रस्त होकर अत्यन्त दुस्तर संसार-समुद्रसे उत्तीर्ण होनेकी इच्छावाले पुरुषके लिये भगवान् पुरुषोत्तमकी लीलाओंके कथामृत-सेवनके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्लव (नौका) नहीं है[6]।

भगवत्कृपा-प्राप्तिके प्रमुख और प्रथम साधन श्रवणका मूलस्रोत एकमात्र सत्सङ्ग है। पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

> बिनु सत्संग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
> मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
> (मानस ७। ६१)

कीर्तन—

व्याख्यान, प्रवचन, स्तवन, स्तोत्रपाठ, कथा—ये सब कीर्तनके ही विविध रूप हैं। अन्य युगोंकी अपेक्षा कलियुगमें कीर्तनकी विशेष महिमा है। कीर्तनके विषयमें यहाँतक कहा गया है कि अनजानमें अथवा जानकर उत्तमश्लोक भगवान्‌का कीर्तन करनेवाले पुरुषके पाप तत्काल जलकर वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे अग्निसे ईंधन[7]। भगवान्‌के मङ्गलमय

---

१. कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (मानस ७। ४३। ३)

२. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ (श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

३. 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा.।' (ऋक्० १। ८९। ८)

४. जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहिभवन समाना॥ (मानस १। ११२। १)

५. न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः॥
महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः॥ (श्रीमद्भागवत ४। २०। २४)

६. संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य॥ (श्रीमद्भा० १२। ४। ४०)

७. अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
(श्रीमद्भा० ६। २। १८)

बालचरित एवं अवतारोंके पराक्रमसूचक अन्य चरित्रोंका कीर्तन करनेवाले व्यक्तिको परमहंसगति अर्थात् परमात्मामें पराभक्तिकी प्राप्ति होती है।[८]

कीर्तनकी महत्ता प्रदर्शित करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने तो यहाँतक कहा है कि 'मैं वैकुण्ठमे नही रहता और न योगियोंके हृदयमे ही मेरा वास है, वर मेरे भक्तजन जहाँ मेरा कीर्तन करते हैं, वही मै निवास करता हूँ[९]।' तभी तो गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि भले ही जलके मन्थनसे घृत उत्पन्न हो जाय और बालूके पेरनेसे तेल निकल आये, परंतु भगवद्भजनके बिना संसार-समुद्रसे नही तरा जा सकता—यह अटल सिद्धान्त है[१०]।

स्मरण—

भगवान्‌के प्रभावशाली नाम, रूप, गुण और लीला आदिका मनन और भगवान्‌की लोकोत्तर लावण्यमयी श्रीमूर्तिका ध्यान 'स्मरण' कहलाता है। भगवत्स्मृति परा-साधन है। गरुडपुराणमे लिखा है कि जो गुरुतर पाप सहस्रों बार गङ्गाजलमे और करोड़ों बार पुष्कर-जलमे स्नान करनेसे नष्ट होता है, वह भगवान्‌के स्मरणमात्रसे नष्ट हो जाता है[११]। श्रीभगवान्‌के मङ्गल-स्मरणसे सारी विपत्तियोंका नाश हो जाता है,[१२] और अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये शुद्ध (निर्मल) अन्तःकरणकी ही आवश्यकता होती है[१३]। इसीलिये तो गीतामे भगवान्‌ने निरन्तर स्मरणकी आज्ञा दी है[१४]।

पाद-सेवन—

भाव-भक्तिसे आराध्यदेवकी चरण-सेवा ही 'पाद-सेवन' है। भक्तको भगवान्‌के श्रीचरणोंका आश्रय ही सुखप्रद प्रतीत होता है। पाद-सेवन दो प्रकारका है—एक तो भगवान्‌की साक्षात् पादसेवा और दूसरा भगवान्‌के पाद-पद्मोंका भजन। इनमे प्रथम प्रकारकी पादसेवा अत्यन्त दुर्लभ है। इसके लिये स्वयं ब्रह्माजी भी लालायित रहते हैं और इसे अति दुर्लभ समझकर भगवान्‌के लीला-परिकर व्रज-वासियोंकी चरण-रजकी प्राप्तिके लिये ही वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—'यह मेरा सौभाग्य होगा, यदि मनुष्यलोकमें विशेषतया गोकुल या व्रजके किसी वनमे पशु-पक्षी, कीट-पतंग अथवा वृक्षादि योनिमे मेरा जन्म हो, (जिससे) भगवान् मुकुन्दको ही सर्वस्व माननेवाले व्रजवासियोंकी चरण-रजका मुझपर अभिषेक होता रहे, जिसे श्रुतियाँ भी अनादि-कालसे खोज रही हैं[१५]।' परम भाग्यवान् गोपाङ्गनाएँ एवं श्रीरुक्मिणीजी आदि पट्टमहिषियाँ भी निरन्तर भगवत्पाद-सेवनकी अभिलाषा करती हैं।

अर्चन—

बाह्य अथवा मनः कल्पित सामग्रियोंद्वारा भगवान्‌का श्रद्धापूर्वक पूजन करना ही 'अर्चन' है।

श्रद्धासमन्वित आराध्य-अर्चनसे लौकिक सम्पत्तिके साथ-साथ मोक्षकी भी प्राप्ति होती है। अर्चन पराभक्तिका साधन है। गृहस्थोंके लिये तो यह विशेषतया अनिवार्य है। भगवदर्चनमे कामनारहित होना आवश्यक है। जो मनुष्य भगवान्‌की अर्चना सासारिक कामनाओंके लिये करते हैं, उनके विषयमे भक्तवर प्रह्लाद कहते हैं—'जो लोग विषय-सुखके लिये लालायित रहते हैं, निश्चय ही उनकी बुद्धि मायाग्रस्त है, क्योंकि वे जन्म-मरणके बन्धनसे

---

८ इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतारवीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि। अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥ (श्रीमद्भा० ११। ३१। २८)

९ नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥ (पद्मपुराण उ० ख० ९५। २३; आदिपु० १९। ३५)

१०. बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल। बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥ (मानस ७। १२२ क)

११ गङ्गास्नानसहस्रेषु पुष्करस्नानकोटिषु। यत् पापं विलयं याति स्मृते नश्यति तद्धरौ॥ (पू० २२२। १८)

१२. हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्॥ (श्रीमद्भा० ८। १०। ५५)

१३. निर्मल मन जन सो मोहि पावा। (मानस ५। ४३। ३)

१४ तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर॥ (८। ७)

१५. तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥ (श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

मुक्त करनेवाले कल्पतरुस्वरूप भगवदर्चनको भगवत्कृपा-प्राप्तिके अतिरिक्त इतर उद्देश्यकी पूर्तिमें लगाते हैं[१६]।'

वन्दन—

वन्दनका अर्थ है—भगवान्‌के श्रीचरणोंमें श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक अनन्यभावसे प्रणाम करना। श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे प्रणाम करनेकी विधिका वर्णन हुआ है। भगवान्‌को एक बार भी प्रणाम करना दस अश्वमेधयज्ञके अवभृथ-स्नानके तुल्य है, किंतु अश्वमेधयज्ञ करनेवालोंको पुनर्जन्मकी प्राप्ति होती है, जब कि भगवान्‌को प्रणाम करनेवालोंको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता अर्थात् उनकी मुक्ति हो जाती है[१७]। ब्रह्माजी कहते हैं—"आपकी कृपा कब प्राप्त होगी?' इस प्रकार प्रतीक्षा करते हुए, अपने कर्मोंके फलको भोगते हुए तथा शरीर, वाणी और मनसे भगवद्वन्दना करते हुए जो जीवन-निर्वाह करते हैं, वे मुक्तिपदके भागीदार बनते हैं, अर्थात् उनको मुक्ति सुलभ हो जाती है[१८]।"

दास्य—

भगवान्‌के प्रति श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सेवा 'दास्य'-भावके अन्तर्गत आती है। इसकी प्राप्तिके लिये 'भगवान्‌के मन्दिरका मार्जन, लेपन, सिंचन, मण्डल-रचना (चौक पूरना, स्वस्तिक बनाना) आदि कृत्य निष्कपट-भावसे दासकी भाँति करने चाहिये[१९]।'

भगवान्‌को अपना वह दास अत्यन्त प्रिय है, जिसे उनके अतिरिक्त कोई अन्य आश्रय नहीं है[२०]। वे सदैव अपने दासकी रुचिके अनुरूप ही कार्य करते हैं[२१]। भगवान्‌के दासकी मनोभावनाका झुकाव निःस्वार्थताकी ओर ही अधिक होता है। जो कोई अपने किसी स्वार्थको लेकर भगवत्सेवाके लिये संनद्ध होता है, उसे प्रह्लादजीने एक समान्य वनियेकी संज्ञा दी है,[२२] जो लेने-देनेका व्यापार करता है। प्रभुके सच्चे भक्त (दास)को किसी भी सासारिक वस्तुकी कामना नहीं रहती, यदि रहती है तो वह सचा दास नहीं है। दास्य-भावका महत्त्व श्रीहनुमान्‌जी भलीभाँति समझते हैं।

सख्य—

भगवान्‌में मित्र-भावसे प्रेम करना 'सख्य' है। सख्य-भक्ति श्रीरामावतारमें कपिराज सुग्रीव और विभीपणादिको, श्रीकृष्णावतारमें व्रजके गोप एवं गोपाङ्गनाओंको और उद्धव एवं पाण्डुपुत्र अर्जुन आदि कतिपय सौभाग्यशालियोंको ही प्राप्त हो सकी है। सख्य-भक्तिकी महिमामें ब्रह्माजीके वचन हैं—'अहो! नन्दादि व्रजवासी गोपोंके भाग्य धन्य हैं, जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन पूर्णब्रह्म प्रभु श्रीकृष्ण हैं[२३]। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामने मित्रधर्मकी व्याख्या करते हुए कहा है कि सच्चे मित्रको अपने मित्रके निमित्त सर्वस्व त्यागनेको तैयार रहना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं खेलमें पराजित हुए और श्रीदामाको अपनी पीठपर चढ़ाकर[२४]

---

१६. नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्यमिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम्॥ (श्रीमद्भा० ४।९।९)

१७. एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः। दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥ (पाण्डव-गीता १३)

१८. तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्। हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥ (श्रीमद्भा० १०।१४।८)

१९. सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः। गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद् यदमायया॥ (श्रीमद्भा० ११।११।३९)

२०. तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥ (मानस ७।८५।४)

२१. राम सदा सेवक रुचि राखी। (मानस २।२१८।४)

२२. यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥ (श्रीमद्भा० ७।१०।४)

२३. अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥ (श्रीमद्भा० १०।१४।३२)

२४. उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः। (श्रीमद्भा० १०।१८।२४)

उन्होंने सख्य-धर्मका आदर्श प्रस्तुत किया, सखापर कृपा-वृष्टि की।

आत्मनिवेदन—

तन, मन, धन और परिजनसहित अपने-आपको समर्पण कर देना 'आत्मनिवेदन' है। आत्मनिवेदन करनेवाले भगवान्‌के अनन्य भक्त ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, रसातलका आधिपत्य और योगद्वारा प्राप्त सिद्धियाँ ही नहीं, भगवान्‌के अतिरिक्त वे कैवल्य मोक्षतककी इच्छा नहीं करते।[२५] ऐसे साधकोंको भगवान्‌की परा-भक्ति प्राप्त होती है और उन्हे कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता। श्रीमद्भागवत, गीता, वाल्मीकि-रामायण, मानस आदि ग्रन्थोंमे आत्मनिवेदन (शरणागति)की महत्तापर विपुल प्रकाश डाला गया है। वेदमे भी कहा गया है कि भगवान् अशरण-शरण हैं। उन्हींकी कृपासे मनुष्यका उद्धार हो सकता है और उनकी कृपा श्रद्धा-समन्विता भक्तिसे ही प्राप्त होती है। प्रभुने स्वयं कहा है—'जिससे मैं शीघ्र ही प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है, जो भक्तोंको सुख देनेवाली है।'

भगवान् श्रीरामने इसीलिये शबरीको नवधा-भक्तिका उपदेश दिया है। उपरिनिर्दिष्ट नौ साधनोमेसे किसी एकको भी अपना लेनेसे जीवको निश्चय ही भगवत्कृपामृतके वर्षणका अनुभव होता है।

इस घोर कलिकालमें अपने जीवनको सफल बनाकर भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये हमे भगवान्‌की सर्वस्वप्रदायिनी 'भक्ति'का ही सहारा लेना चाहिये, अन्यथा पछताना ही शेष रह जायगा।

भगवत्कृपा-प्रसाद

(रचयिता—श्रीजगदीशचन्द्रजी शर्मा, एम्० ए०, बी० एड्०)

भगवत्कृपा मुखर होती हैं जहाँ-जहाँ भी,
पा लेते हैं प्राण मधुरताका सम्पादन;
झर जाते हैं वहाँ दैन्यके शाप समूचे,
जीवन करता है प्रफुल्लताका अवगाहन।

असंतोष की धुंध कहीं भी हो, छँट जाती;
दिव्य रश्मियोंके बहने लगते हैं निर्झर;
मंगलमय चिन्तनके उत्पादन-वर्धनमें,
बन जाती है भाव-भूमि अधिकाधिक उर्वर।

शौर्य और साहस बढ़ते हैं ध्येय-पंथमें,
त्यों ही संकट-शिखरोंके झुकते हैं मस्तक;
निष्ठाकी उपलब्धि उत्ससे पूर्ण हृदयहित,
कभी न रह सकता है कोई यत्न निरर्थक।

दिग्दिगन्तमें सुरभित स्नेह थिरक उठता है,
फूलों-सी तरुणाईसे मुस्काता प्रतिपल;
गीतोंकी गुंजार नया स्पंदन भरती है,
यों विकीर्ण होता है नई स्फूर्तिका परिमल।

छोड़-छाड़कर सभी संकुचनकी सीमाएँ,
दृष्टिकोण पाता है दिग्व्यापी विस्तारण;
सदियोंतक पीढ़ियाँ किया करती हैं अपना
जिसकी रम्य ज्योतिमें निर्भय-पथ-निर्धारण।

---

२५. न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

भगवत्कृपा-प्राप्तिका सहज मार्ग—भक्ति

(लेखक—आचार्य श्रीमदनेश्वरजी पाण्डेय)

कर्म-बन्धनसे ग्रसित जीव अनेक योनियोंमें भटकता हुआ चक्कर लगाता रहता है, उसे तबतक 'आवागमन'से मुक्ति नहीं मिलती, जबतक भगवत्कृपाकी प्राप्ति नहीं हो जाती। कर्मकी शृङ्खला इतनी जटिल है कि यज्ञादि सकाम कर्मोंसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होनेपर भी पुण्य क्षीण हो जानेपर मृत्युलोकमें आना पड़ता है। निष्कामभावसे परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन करनेवाले भक्तका योगक्षेम भगवान् स्वय वहन करते हैं। जो भक्त समस्त धर्मोंके आश्रयका त्यागकर एकमात्र भगवान्‌के शरणागत होता है, उसके सारे कलुष, सारी चिन्ताएँ मिट जाती हैं और वह अमृतत्वकी प्राप्ति कर लेता है। श्रुति कहती है कि परब्रह्म परमात्मा प्रवचन-बुद्धि अथवा श्रवणसे प्राप्त नहीं हो सकते, वे जिसको स्वीकार कर लेते हैं, उसीके द्वारा प्राप्त होने योग्य हैं; क्योंकि वे उसके लिये अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट कर देते हैं।

सभी प्रकारके दोषोंसे रहित साधक अपने अन्तःकरणमें शुद्ध-बुद्ध परमात्माको सत्यभाषण, तप एव ब्रह्मचर्यका आचरण करते हुए यथार्थ ज्ञानद्वारा देख पाते हैं। ज्ञानयोगमें निम्नलिखित साधनोंकी प्रमुखता है—एक ब्रह्म ही नित्य है, उसके अतिरिक्त सभी अनित्य है—यही ज्ञान 'नित्यानित्य-विवेक' कहलाता है। अनित्य भोगपदार्थोंमें घृणा-बुद्धि होना 'वैराग्य' है। विषय-समूहोंसे विरक्त होकर चित्तको अपने लक्ष्यमें स्थिर करना 'शम' है, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियके विषयोंको रोककर स्थिर करना 'दम' है, वृत्तिद्वारा बाह्य विषयोंका आश्रय ग्रहण न करना 'उपरति' है, चिन्ता और शोकसे रहित होकर सभी कष्टोंको सहन करना 'तितिक्षा' है, गुरुवाक्यों तथा शास्त्रोंमें सत्य-बुद्धि रखना 'श्रद्धा' है, अपनी शुद्ध बुद्धिको ब्रह्ममें स्थिर करना 'समाधान' है, अज्ञान तथा सांसारिक बन्धनोंको ज्ञानद्वारा नष्ट करना और ब्रह्ममें लीन होनेकी इच्छाका नाम 'मुमुक्षुता' है—ये साधन ज्ञानयोगकी सिद्धिमें विशेष सहायक हैं।

श्रीमद्भागवतमें मानवके कल्याण-हेतु तीन योगोंका उल्लेख मिलता है—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इन योगोंके अतिरिक्त भगवत्प्राप्तिके अन्य उपाय नहीं हैं।[1] उपर्युक्त तीन योगोंमें भक्तियोग सहज एवं सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म या अन्य श्रेयस्कर क्रियाओंसे जो कुछ प्राप्त होता है, उसे भक्तियोगके द्वारा भक्त सहज ही प्राप्त कर लेता है। उसे भगवान् श्रीकृष्णके लोककी प्राप्ति अनायास सुलभ हो जाती है। भगवान्‌का अनन्य-भक्त भगवद्भक्तिके समक्ष मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करता; क्योंकि भक्तियोगद्वारा उसे अनिर्वचनीय परमानन्दकी अनुभूति हो जाती है। देवर्षि नारदके मतानुसार भगवत्प्राप्तिके अन्य उपायोंमें भक्ति सहज एवं सर्वसुलभ है; क्योंकि यह स्वयं प्रमाणस्वरूप है, इसके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है।[2]

महर्षि शाण्डिल्यने भक्तिको ईश्वरके प्रति परम अनुरक्तिरूपा कहा है।[3] देवर्षि नारद भी उसे प्रेमरूपा एवं अमृतस्वरूपा मानते हैं।[4] श्रीशंकराचार्य अपने वास्तविक स्वरूपका अनुसधान करना भक्ति मानते हैं।[5] श्रीमधुसूदन सरस्वतीके मतानुसार भगवद्धर्मसे द्रवित चित्तकी सर्वेश्वर भगवान्‌के प्रति अविच्छिन्न वृत्ति ही भक्ति कहलाती है,[6] अथवा द्रवित चित्तमें जब भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति स्थापित हो जाती है,

१. योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञान कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥ (११।२०।६)

२. अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ। प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वय प्रमाणत्वात्। (नारदभक्तिसूत्र ५८-५९)

३. सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्यसूत्र २)

४. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। (नारदभक्तिसूत्र २-३)

५ 'स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।' (विवेक-चूड़ामणि ३२)

६. 'द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥ (भक्तिरसायन १।३)

उसे भक्ति कहते हैं।[७] जिस प्रकार चित्तद्रुति काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दयादि कारणोंसे भी होती है, उसी प्रकार भगवत्प्रेमकी अग्निसे चित्तरूपालाक्षा द्रवित हो जाती है, तब वह भक्ति-रंगमें रँग जाती है और पुनः कठिन हो जानेपर भी उसका वह रंग कभी नहीं छूटता अर्थात् भक्तिरसकी स्थायिभावरूपा रति निष्पन्न होती है।

भक्तिका स्वरूप—

श्रीमद्भागवतमें भक्तिकी नौ भूमिकाएँ मानी गयी हैं। निर्भयता चाहनेवालेको सर्वात्मा, सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णका अच्छी प्रकार कीर्तन करनेपर वे प्राणियोंके हृदयमें प्रविष्ट होकर उनके समस्त कष्टोंका निवारण उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार सूर्य अन्धकारको एव वायु बादलोंको नष्ट कर देते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके पदारविन्दोंके स्मरणसे सम्पूर्ण अनिष्टोंका नाश हो जाता है। उनका स्मरण अन्तःकरणकी शुद्धि कर परमात्मामें भक्ति, विज्ञान और वैराग्य बढ़ानेवाला है। अर्थ-कामका सेवन करनेवालोंके मनोरथ पूर्ण नहीं होते, किंतु भगवच्चरणारविन्दोंके सेवन करनेवालोंको वे स्वयं आ प्राप्त होते हैं। वैदिक एवं तान्त्रिक कर्मयोगकी विधियोंसे भगवान् श्रीकृष्णका अर्चन करता हुआ पुरुष दोनों प्रकारकी इच्छित सिद्धियोंको प्राप्त करता है। बलिने भगवान्से कहा था—'आपको प्रणाम करनेकी महिमाका क्या कहना, यह अभक्तोंके लिये भी वही फल देती है, जो शरणागत भक्तोंके लिये; क्योंकि मुझ नीच असुरपर आपने जो कृपा की, वह लोकपालों एवं देवताओंके लिये भी दुर्लभ है।'

जिसके नाम-श्रवणमात्रसे पुरुषके सारे कलुष मिट जाते हैं, उन तीर्थपाद भगवान्के दासोंके लिये क्या शेष रह जाता है! भगवान्का कथन है—'जो मनुष्य समस्त कर्मोंके आश्रयका परित्याग कर मेरी शरण ग्रहण करता है, वह मुझ (ईश्वर) से सम्मानित हो अमृतत्वको प्राप्त कर मेरी एकरूपताको प्राप्त हो जाता है।'

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भक्तिकी ग्यारह भूमिकाएँ बतलायी हैं—(१) महत्सेवा, (२) उनकी दयापात्रता, (३) उनके धर्मोंमें श्रद्धा, (४) भगवान्के गुणोंका श्रवण, (५) भगवद्भक्तिमें रति अङ्कुरित होना, (६) स्वस्वरूपको समझना, (७) परमानन्दस्वरूप ईश्वरमें प्रेमवृद्धि करना, (८) भगवान्का दर्शन होना, (९) भगवद्धर्मोंमें निष्ठा होना, (१०) भगवद्भक्तोंके गुणोंका परिशीलन एवं (११) प्रेमकी पराकाष्ठा।[८] पहली भूमिकामें महापुरुषोंकी सेवा करनी पड़ती है। महापुरुषोंकी सेवा करनेसे भक्त उनका कृपापात्र बन जाता है, कृपापात्र बन जानेपर उसे धर्म-सिद्धान्तोंमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, इसके बाद वह भगवान्के गुणोंका श्रवण, कीर्तनादि करने लगता है, श्रवण-कीर्तनादिसे उसकी चित्त द्रुति होकर प्रेमका बीज-स्थापन होता है, स्थायिभावरूपा रतिकी उत्पत्तिके पश्चात् वह अपने स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करता है। स्वस्वरूपज्ञानकी उत्कण्ठा भगवत्स्वरूप-ज्ञानकी ओर उत्प्रेरित करती है और उसके हृदयमें उत्पन्न प्रेमाङ्कुर बढ़ने लगता है। प्रेमवृद्धि होनेसे परमात्मतत्त्वका बारंबार स्फुरण होता है। इस स्फुरणसे भगवद्धर्मोंमें पूर्ण आसक्ति हो जाती है। भगवद्धर्मोंमें पूर्ण आसक्ति और भगवान्के गुणोंका परिशीलन ही आनन्दरूपता एवं सर्वज्ञताकी ओर आकर्षणमें कारण हैं। इस प्रकार अन्तमें वह परम उत्कृष्ट प्रेमकी प्राप्ति कर लेता है।

महत्सेवा दो प्रकारकी होती है—भगवद्भक्तोंकी सेवा और साक्षात् भगवान्की सेवा। भगवद्भक्तोंकी सेवाके क्षणिककालकी भी तुलना न तो स्वर्ग-सुख कर सकता है न मोक्ष ही। फिर राज्यादि ऐश्वर्योंकी तो बात ही क्या है। इस संसारमें आधे क्षणके लिये भी सज्जनोंका सङ्ग मनुष्योंके लिये निधितुल्य है[९]। इस विषयमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'वृषपर्वा, बलि, बाण, मय, तुलाधार वैश्य, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, ऋक्ष, गज, गृध्र, व्याध, कुब्जा, व्रजगोपियाँ, यज्ञपत्नियाँ

७. द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा। सा भक्तिरित्यभिहिता ··· ··· ·· ॥' (भक्तिरसायन २।१)

८. प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः। श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः। प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं तथा॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता। प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिका॥ (भक्तिरसायन १।३२—३४

९. 'संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम्।' (श्रीमद्भा० ११।२।३०)

तथा और बहुत-से लोग हैं, जिन्होंने न वेद-शास्त्रोंका अध्ययन किया था, न महापुरुषोंकी सेवा की थी, न व्रत किये थे, न तपस्या की थी, पर वे मेरे सङ्गसे मुझे प्राप्त हो गये।'

भगवद्भक्तिके बिना स्वप्नमें भी सुखकी इच्छा रखना व्यर्थ है। जो व्यक्ति भगवान्‌की भक्तिके बिना सुखकी अभिलाषा करता है, वह मूर्ख है। उसका यह प्रयास वैसा ही है, जैसे कोई व्यक्ति तैरकर (बिना नावके) महासागर पार करना चाहता हो। गोस्वामीजी कहते हैं कि 'चाहे पानीके मथनेसे घी, बालूके पेरनेसे तेलकी प्राप्ति हो जाय, किंतु भजनके बिना संसारसागरसे पार होना असम्भव है।' श्रीरामभक्तिरूपा चिन्तामणि जिसके हृदयमें रहती है, उसके मोह, दरिद्रता, अविद्या आदि दोष नष्ट हो जाते हैं, भक्ति-चिन्तामणिके प्रभावसे गरल अमृत बन जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है, स्वप्नमें भी क्षणिक दुःखका आभास नहीं होता। वेद, शास्त्र, पुराणादि सभी यही कहते हैं कि भगवान्‌के चरणारविन्दोंमें अटूट भक्ति होनेसे जीवका परम कल्याण सम्भव है। भगवान् विष्णुकी श्रवण-भक्तिमें परीक्षित्, कीर्तनमें शुकदेव, स्मरणमें प्रह्लाद, पादसेवनमें लक्ष्मीजी, अर्चनमें पृथु, वन्दनमें अक्रूर, दास्यमें हनुमान्, सख्यमें अर्जुन और आत्मनिवेदनमें राजा बलि प्रसिद्ध भक्त हुए हैं, इन सभीको मोक्षरूप फलकी प्राप्ति हुई है। भक्तिकी महिमा कितनी अचूक है! परम ज्ञानी उद्धव भी गोपियोंकी भक्तिसे प्रभावित होकर कहते हैं—'व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं! इन महाभागा गोपियोंने भगवान् मुकुन्दका अनुसरण किया, जिनकी श्रुति निरन्तर खोज करती रहती है। क्या ही अच्छा हो, यदि मैं अगले जन्ममें वृन्दावनकी किसी झाड़ी, लता, ओषधियोंमेंसे कुछ बन सकूँ, जिनपर गोपियोंकी चरणधूलि पड़ती है[10]।'

निस्संदेह भगवद्भक्तिपरक आचरणसे जीवात्मा भगवद्धाम—भगवत्पदमें प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके लिये भगवत्कृपा सहज सुलभ रहती है। भक्तिके साम्राज्यमें निवास करनेवाले प्राणीके लिये भगवत्कृपा प्राण-संजीवनी है।

कृपामूलक न्याय

भगवान् कितने कृपालु हैं, उनकी कृपा कैसी है—यह कोई कैसे बतला सकता है। वे तो कृपामूर्ति हैं, उनमें कृपा-ही-कृपा है। वहाँ न्याय नहीं है, इन्साफ नहीं है—यही कहना पड़ता है। ······उनकी कृपाशक्ति इतनी विचित्र है कि वह जहाँ भी कोई न्यायका प्रसङ्ग आता है, वहीं उस न्यायमें प्रवेश कर जाती है और न्यायको तत्काल कृपाके रूपमें बदल देती है। सच्ची बात तो यह है कि भगवान् सदा कृपामय ही हैं, उनमें कृपा-ही-कृपा है। इसलिये उनका न्याय भी कृपामूलक ही है। अतएव निरन्तर उनकी कृपापर दृढ़ विश्वास रखना चाहिये और उस परम करुणामयी माँ कृपादेवीके चरणोंपर अपनेको बिना शर्त न्योछावर कर देना चाहिये। बस, निश्चिन्त हो जाना चाहिये—कृपापर पूर्ण निर्भर हो जाना चाहिये। याद रखना चाहिये—

'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।' (मानस)
'प्रभु मूरति कृपामई है।' (विनयपत्रिका)
'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५। २९)
'सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।' (गीता १८। ५८)

बस—कृपा, कृपा, कृपा! भगवत्कृपा!!

—'श्रीभाईजी'

---

१०. आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भा० १०। ४७। ६१)

भगवत्कृपा-प्राप्तिके सात साधन

(लेखिका—कुमारी पद्मादेवीजी)

वेदान्त-सूत्रोंके प्राचीन वृत्तिकार भगवान् 'बोधायन' हैं। इस वृत्तिग्रन्थके व्याख्याता (टङ्क) 'ब्रह्मनन्दी' भी प्राचीन हैं। 'वाक्यकार' भी इनका ही नामान्तर है। इन दोनों ब्रह्मज्ञ महापुरुषोंने भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये वृत्ति एवं वाक्य-ग्रन्थोंमे सात साधनोंका उल्लेख किया है। यहाँ उन साधनोंके नाम, स्वरूप एवं निर्वचनका संक्षेपमे निरूपण किया जा रहा है।

भगवत्कृपा—

शास्त्राधार एवं संतानुभवसे यह प्रमाणित है कि परमात्मा अनन्त, असीम एवं कल्याणगुणोंके समुद्र हैं। भगवान्के इन अनन्त कल्याणगुणोंको पूर्वाचार्योंने सापराध जीवात्माओंकी दृष्टिसे तीन वर्गोंमे विभक्त माना है—अनुकूल गुण, प्रतिकूल गुण और उदासीन गुण। जो सापराध जीवोंकी रक्षामे सहायक होते हैं, वे अनुकूल गुण; जो सापराध जीवोंको दण्ड देनेमे सहायक होते हैं, वे प्रतिकूल गुण और जो रक्षा और दण्ड दोनोंमे सहायक बनते हैं, वे उदासीन गुण हैं। इनमे कृपा, वात्सल्य, सौशील्य आदि अनुकूल गुण; कर्म-फलप्रदातृत्व, न्यायकारित्व, दण्डकारित्व आदि प्रतिकूल गुण और ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य आदि उदासीन गुण माने गये हैं।

इन अनन्तानन्त भगवद्गुणोंमेसे प्रत्येक गुण सभी जीवात्माओंका उद्धार करनेमे समर्थ है, परंतु 'बोधायन' आदि महापुरुषों एव प्रह्लाद आदि भगवद्-भक्तोंने तो 'भगवत्कृपा'को ही सर्वोच्च भगवद्गुण माना है। संतों और शास्त्रोंने इसके स्वरूपका भिन्न-भिन्न प्रकारसे ज्ञान कराया है। इसका कारण 'कृपा' शब्दके पर्यायोंके मूल धातुओंसे उपलब्ध विभिन्न अर्थ ही प्रतीत होता है। घृणा, दया, अनुक्रोश करुणा, अनुकम्पा, अनुग्रह आदि 'कृपा'के अनेक पर्याय हैं।

इनमे 'घृ—सेचने' धातुसे निष्पन्न 'घृणा' शब्दका सेक (सिञ्चन) अर्थ है। जैसे सिञ्चनसे आयतन (स्थल) आर्द्र हो जानेसे कोमल हो जाता है, वैसे ही जिन मनोभावोसे हृदय आर्द्र (कोमल) हो जाता है, वह भाव घृणा है। कोमल हृदयमे परदुःख-असहिष्णुता होती है, अतः परदुःखा-सहिष्णुता कृपाका स्वरूप प्रतिफलित होता है अर्थात् दूसरेके दुःखोंको सहन न कर सकना 'कृपा' है।

'दय—दाने पालने च' धातुसे निष्पन्न 'दया' शब्दके दान और पालन—ये दो अर्थ हैं। इनसे 'कृपा'का स्वरूप फलित होता है—आपन्न जनोंको दान देना और उनकी रक्षा करना।

'अनु'उपसर्गपूर्वक 'क्रुश—आह्वाने रोदने च' धातुसे निष्पन्न 'अनुक्रोश' शब्दका अर्थ है—'अनुक्रोशन्ति समानसुखदुःखा भवन्ति इति अनुक्रोशः।' इस निर्वचनके आधारसे अर्थात् 'प्राणियोंके समान सुख-दुःखभाव है'—इससे 'कृपा'के 'परसुखसुखित्वं कृपा', 'परदुःखदुःखित्वं कृपा'—आदि स्वरूप सिद्ध होते हैं।

'कृप—कृपायां गतौ' धातुसे निष्पन्न 'कृपा' शब्दका अर्थ अनुग्रह होता है। यह ईशानुग्रह (भगवत्कृपा) सामान्य रूपसे स्थावर-जङ्गम समस्त जीवोंपर सर्वत्र व्याप्त है, कारण कि परमात्माकी सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और निग्रह—इन पाँच शक्तियोंमे अनुग्रह (कृपा) ही अन्यतम है। ये पाँचो स्वतः सर्वत्र व्याप्त हैं, अतः 'अनुग्रह'की प्राप्तिके लिये किसी भी जड-चेतन पदार्थका कुछ भी साधन नहीं करना पड़ता अर्थात् यह निर्हैतुकी ही स्वतः सर्वत्र सामान्यरूपसे व्याप्त है, तथापि उसको विशेषरूपसे अनुभव कर पानेके लिये साधनोंकी अनिवार्य आवश्यकता है।

दूसरे शब्दोंमे भगवत्कृपाके दो प्रकार हैं—सामान्य कृपा और विशेष कृपा। सामान्य कृपा निर्हैतुक है, अर्थात् इसकी प्राप्तिके लिये जीवको किसी प्रकारके साधनकी आवश्यकता नहीं होती। विशेष कृपाके लिये तो सबको सदा साधनोंकी अनिवार्य आवश्यकता है ही। किंबहुना सामान्य कृपा ही साधनोंसे उद्दीप्त होकर विशेष कृपाके रूपमे परिणत होती है। सर्वत्र व्याप्त अग्नि सामान्य अग्नि है। वही साधनोंसे अभिव्यक्त हो विशेष अग्निरूपमे परिणत हो जाती है। दोनोके कार्य भी सामान्य और विशेष हैं। सामान्य भगवत्कृपाके सामान्य कार्योंका वर्णन वाराहपुराणमे विस्तारसे किया गया है। नैयायिकशिरोमणि श्रीउदयनाचार्यजीने 'न्यायकुसुमाञ्जलि'मे विशेष कृपाका वर्णन किया है।

अर्थात् विशेष 'भगवत्कृपा'के अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष—ये विशेष कार्य हैं।

श्रीमद्भागवतमहापुराणमें 'दया'को धर्मकी पत्नी माना गया है। जिसका पुत्र अभय है। सापराध जीवोंको परमात्मासे दिया गया 'अभय'-दान भी भगवत्कृपाका पुत्र ही है। यह कृपा प्राणियोंके प्रति किये जानेवाले घृणा, तिरस्कार, क्रूरता आदि गुणोंकी विरोधिनी है। दयाके कारण ही सापराध जीवोंको परमात्मासे घृणा, तिरस्कार आदिका भय नहीं रहता, अतः वे सुखसे उनकी शरण ग्रहण करते हैं।

साधन-सप्तक—

इस चेतन (जीव)को जिन साधनोंसे भगवान्‌की विशेष कृपाकी अनुभूति होती है, उनका उल्लेख श्रीरामानुजाचार्यजीने वेदान्त-सूत्रोंके वृत्तिकार एवं वाक्यकार भगवान् बोधायनके मतानुसार इस प्रकार किया है—

'तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः'
(सर्वदर्शनसं० ४ । ४७)

अर्थात् चेतनको उस विशेष 'भगवत्कृपा'की प्राप्ति (अनुभूति) विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष—इन सात साधनोंसे होती है। इनके स्वरूपोंका दर्शन ब्रह्मज्ञ ब्रह्मानन्दीने 'वृत्ति'व्याख्यारूप 'वाक्य'मे इस प्रकार कराया है—

(१) विवेक—

'जात्याश्रयनिमित्तदुष्टादन्नात् कायशुद्धिर्विवेकः'

"जाति, आश्रय और निमित्तके अनुसार अशुद्ध अन्नसे बचकर शरीरको शुद्ध रखना 'विवेक' है।"

जाति, आश्रय और निमित्त—इन दोषोंसे अन्न दूषित (अपवित्र) होता है। लहसुन, गृञ्जन (गाजर), पलाण्डु (प्याज) आदि पदार्थ जातिसे अपवित्र है। पतित आदिका अन्न आश्रयसे दुष्ट है—कारण कि 'यावद्वित्तं तावदात्मा'—इस श्रौत विज्ञानके अनुसार पापात्माके अन्न आदि सब पदार्थोंमे पाप भी सक्रान्त रहते हैं, अतः पापीका अन्न आश्रयसे अपवित्र है। उच्छिष्ट, केश, कीट आदि पदार्थोंसे दूषित अन्न निमित्त-दुष्ट है अर्थात् अपवित्र है। अपवित्र अन्नके सेवनसे शरीर, मन एव बुद्धि अशुद्ध हो जाते हैं। अशुद्ध शरीर, मन और बुद्धिमें भगवत्कृपाकी उद्दीप्ति नहीं होती, अतः दूषित (अपवित्र) आहारके परित्याग और पवित्र आहारके सेवनसे अपने शरीर आदिको शुद्ध रखना 'विवेक' है।

इस विषयमे श्रुति भगवती भी कहती है—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।
(छा० उ० ७ । २६ । २)

'आहार-शुद्धिपर अन्तःकरणकी शुद्धि निर्भर है। शुद्धान्तःकरणमें ध्रुवा स्मृतिरूपा उपासना प्रतिष्ठित होती है, जिससे जड-चेतनकी सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। इस प्रकार अन्नकी शुद्धि 'विशेष भगवत्कृपा'के प्राकट्य (अनुभव)में परम्परासे कारण है।'

(२) विमोक—

'विमोक'के स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए वाक्यकार ब्रह्मनन्दी कहते हैं—

'विमोकः कामानभिष्वङ्गः' (सर्वदर्शनसं० ४ । ४७)

अर्थात् हृदयसे कामका परित्याग 'विमोक' है। श्रीभाष्यके व्याख्याता श्रीवेङ्कटनाथ (श्रीवेदान्तदेशिक)के मतमे 'काम' शब्दद्वारा अभिष्वङ्ग (तीव्र सङ्ग)से उत्पन्न 'काम' विवक्षित है। 'काम' शब्द यहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि समस्त हेय वर्गका उपलक्षण है। अतः 'विमोकः कामानभिष्वङ्गः'का यह फलित अर्थ होता है कि काम, क्रोध, लोभ आदि त्याज्य वर्गसे हृदय विमुक्त रखना 'विमोक' है। यह 'विमोक' विशेष भगवत्कृपाकी प्राप्तिका साधन है। हृदयमे काम, क्रोध, मोह, लोभ, राग-द्वेषादिके रहते भगवत्कृपाका (अनुभव) होना सम्भव नहीं है। इस विषयमे श्रुतिका आदेश है—

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति। (सुबालोपनिषद् ९)

'शान्त (जितेन्द्रिय), दान्त (मनोनिग्रहयुक्त), उपरत (रागरहित), तितिक्षु (सहनशील) और समाहित (एकाग्र) होकर साधक आत्मामे ही आत्मा (परमात्मा)-का दर्शन करता है।'

(३) अभ्यास—

'अभ्यास'के स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए वाक्यकार ब्रह्मनन्दी कहते हैं—

'पुनः पुनः संशीलनमभ्यासः'

(सर्वदर्शनसं० ४ । ४७)

अर्थात् पुनः-पुनः संशीलनका नाम 'अभ्यास' है।

श्रीवेदान्तदेशिकके मतानुसार 'आरम्भण' श्रीविष्णुमूर्ति है। कारण कि यह योगमें आरूढ़ होनेवालोंके लिये चित्तका आलम्बन है। आलम्बनका पर्याय है आरम्भण। शुभाश्रय भी इसका नामान्तर है। श्रीभाष्यके व्याख्याताके मतमें भी ज्ञानका आलम्बन 'उपास्य' आरम्भण है। उपास्यका पुनः-पुनः चिन्तन 'अभ्यास' है। यह विवेक और विमोकका फल तथा विशेष भगवत्कृपा प्राप्तिका तीसरा साधन है।

(४) क्रिया—

'क्रिया'के स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए ब्रह्मानन्दी कहते हैं—

'श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानं शक्तितः क्रिया'

(सर्वदर्शनसं० ४ । ४७)

अर्थात् यथाशक्ति पञ्चमहायज्ञादि यज्ञका अनुष्ठान यहाँ 'क्रिया'शब्दसे अभिप्रेत है। पञ्चमहायज्ञोंके अनुष्ठानका फल विश्व-संतर्पण और रक्षा है। अतः विश्वहितकारी कार्योंको करना भी आवश्यक है।

भगवद्भक्त श्रीएकनाथजीके मतमें यहाँ 'क्रिया'का अर्थ दीनजनोद्धारणरूप लोकसंग्रह है। उनके मतमें ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर सिद्ध हुए महात्माका भी जीवन व्यर्थ है, यदि उसने भयाकुल प्राणियोंका उद्धार नहीं किया—

पावोनिया ब्रह्मज्ञान। स्वयं तरेल आपण॥
न करीच दीनोद्धरण। ते वढप्पण ज्ञात्याचे॥

इस विषयमें श्रुतिके वचन मननीय हैं—

'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'

(सर्वदर्शनसं० ४ । ४७)

"ब्रह्मवेत्ताओंके मध्यमें वही श्रेष्ठतम है, जो 'क्रियावान्' है।"

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।'

(बृहदारण्यक ४ । ४ । २२)

यज्ञ, दान, तप आदि क्रियाएँ हैं। इनसे भगवत्कृपा-प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त होता है।

(५) कल्याण—

'सत्यार्जवदयादानादीनि कल्याणानि'।

(सर्वदर्शनसं० ४ । ४७)

वाक्यकार ब्रह्मानन्दीके मतानुसार सत्य, आर्जव, दया, दान आदि 'कल्याण' शब्दसे अभिप्रेत हैं। इनमें भूतहित और यथार्थ वाक्य 'सत्य' है। मन, वचन एवं क्रियामें एकरूप रहना 'आर्जव' है। स्वार्थ-निरपेक्ष पर-दुःख निवारणकी इच्छा 'दया' है। प्राणियोंके प्रतिकूल आचरण न करना—'अहिंसा' है। लोभका परित्याग 'दान' है। प्राणियोंके प्रतिकूल चिन्ता न करना, अन्यके अपकारका स्मरण न करना, परकीय वस्तुमें ममत्वबुद्धि न करना आदि सब 'अनभिध्या' है। इस विषयमें श्रुतिका आदेश है—

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।'

(मुण्डको० ३ । १५)

न येषु जिह्ममनृतं न माया च।'

(प्रश्नो० १ । १६)

तात्पर्य यह है—जो मनुष्य कपट, कुटिलता और मिथ्या व्यवहारसे रहित एवं तप और सत्यादिसे अलंकृत है, वह भगवत्कृपा और भगवान्—दोनोंका अधिकारी है।

(६) अनवसाद—

देश और कालकी विगुणता, नष्ट वस्तुके शोक या आगामी भयसे मनमें जो संकोच (दैन्य) उत्पन्न होता है, वह अवसाद है। देश, काल आदिका वैगुण्य रहनेपर भी मनमें दैन्यभावका उदय न होना 'अनवसाद' है।

'दैन्यविपर्ययोऽनवसादः।'

(सर्वदर्शनसं० ४ । ४७)

इस विषयमें श्रुति कहती है—

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'

(कठोप० १ । २ । २३)

अर्थात् मनोबलहीन मानव भगवत्कृपाका अनुभव नहीं कर सकता।

(७) अनुद्धर्ष—

'तद्विपर्ययजा तुष्टिरनुद्धर्षः।'

(सर्वदर्शनसं० ४ । ४७)

वाक्यकारके मतानुसार भगवत्-स्मरणमें संतोष—तृप्ति न रखना, सदा अतृप्त रहना 'अनुद्धर्ष' है।

विशेष भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये साधकोंको उपर्युक्त सातों साधनोंको धारण करना चाहिये। इसीमें मनुष्य-जीवनका परम श्रेय है।

भगवत्कृपा और उसकी प्राप्तिके साधन

(डॉ० महम्मद हाफिज सैयद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

लोगोंको हम भगवत्कृपाके विषयमें अनर्गलरूपसे बातें करते हुए सुनते हैं । वे यह समझनेकी चेष्टा नहीं करते कि वस्तुतः इसका तात्पर्य क्या है और यह कैसे प्राप्त हो सकती है । यथार्थमें भगवत्कृपा क्या वस्तु है, यह समझनेके पहले हमें भगवत्स्वरूप और भगवत्कृपा प्राप्त करानेवाले अनिवार्य नियमोंको समझना है ।

संसारमें जब-जब लोग पापमें रत होने लगते हैं, तब-तब भगवान् श्रीकृष्ण धर्मकी रक्षा और दुष्कृतियोंके उद्धारके लिये अवतार लेते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'सब प्राणियोंके लिये मैं एक-सा हूँ । मेरे लिये न तो कोई द्वेष्य है, न प्रिय । जो भक्तिभावसे मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ[1] ।' इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि भगवान् सबके प्रति एक-सा भाव रखते हैं, तथापि उनका ध्यान उसी मनुष्यकी ओर आकर्षित होता है, वे उसीको अपनी विशेष कृपा प्रदान करते हैं, जो कठिन अभ्यास तथा परम श्रद्धा, आत्मसंयम और आत्मशुद्धिद्वारा अथवा व्याकुलतासे अपनेको कृपाका अधिकारी बना लेता है । हाँ, भगवत्कृपाका पात्र हमें स्वयं बनना पड़ेगा ।

भगवत्कृपा-प्राप्तिका यह अधिकार पानेके लिये हमें क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि हमको निरन्तर उनका चिन्तन करना होगा, उनके दिव्य गुणोंका ध्यान करना होगा, उनके पथपर आत्मसमर्पण कर देना होगा और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निरन्तर प्रार्थना करनी होगी कि 'हे प्रभो ! हमारे जीवनको पलट दो, हमको अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलो ।'

छान्दोग्य-उपनिषद्का कथन है कि मनुष्य भावनासे बना है, वह जैसी भावना करता है, वैसा ही बनता है ।

मनःप्रेरित परिवर्तनका यह सर्वमान्य सिद्धान्त कहीं भी विपर्ययको नहीं प्राप्त होता । निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करनेसे उनका ध्यान हमारी ओर आकर्षित होगा और हम इस प्रकार उनके अनुग्रहके सुपात्र बन सकेंगे ।

सांसारिक चिन्तन और अभिलाषाओंसे अपने मनको हटानेका एक उपाय यह है कि हम बारबार अपने-आपसे पूछें कि हम कहाँ हैं और किसके विषयमें सोच रहे हैं । शान्तचित्त होते ही हम बरबस इस परिणामपर पहुँचेंगे कि हम प्रायः क्षणिक सांसारिक वस्तुओंकी अभिलाषा और उनके चिन्तनमें ही पड़े रहते हैं तथा उस निर्विकार, आनन्दके आदिकारण परम प्रिय प्रभुकी ओर ध्यान ही नहीं देते ।

अतएव करना यह है कि हम सांसारिक वस्तुओंकी क्षणभङ्गुरता और जीवनकी परिवर्तनशील अवस्थाओंका ध्यानपूर्वक अवलोकन करते हुए अपने आचरणको व्यसन-शून्य और विवेकपूर्ण बनायें । वस्तुओंकी आपातरमणीयता-पर आसक्तिपूर्वक ध्यान न दें । वे सामने आनेपर कितनी ही महत्त्वपूर्ण क्यों न लगें, जब हमको पूर्ण और अडिग विश्वास हो जायगा कि यह दीख पड़नेवाला बाह्य संसार आदि-अन्तवाला, दुःखयोनि तथा निरन्तर परिवर्तन-शील है—अतएव मिथ्या है, तब हमारा मन स्वभावतः इनसे भाग खड़ा होगा और निरन्तर संसारमें चिपके रहनेके बदले हम अपने आत्माके यथार्थ स्रोतकी ओर अपने-आपको पूर्णतया मोड़ देंगे, जो सत्-चित् और आनन्दस्वरूप है ।

हमको यह निश्चयपूर्वक जान लेना चाहिये कि मानव-जातिके उद्धारक महापुरुष, वे पूर्ण आत्मा, जिनको हम ऋषि, मुनि, संत, संन्यासी, देवदूत आदि नामोंसे पुकारते हैं, हमको अपने चरणोंमें लेनेके लिये तथा हमारी सहायता और मार्गप्रदर्शन करके हमारे लक्ष्य-स्थानकी ओर ले जानेके लिये उससे कहीं अधिक आतुर होते हैं, जितना कि हम उनकी कृपा और सांनिध्य-प्राप्तिके लिये आतुर होते हैं ।

निष्कर्ष यह है कि भगवत्कृपा किसी व्यक्ति-विशेषको दैवी-पुरुषोंके पक्षपातसे नहीं मिलती, अपितु यह स्वयं हमारे अन्तःकरणकी अनवरत अभिलाषा तथा जीवनकी पूर्णता और मुक्तिके उच्च आदर्शके प्रति हमारी श्रद्धाके फलस्वरूप हमको प्राप्त होती है । जब हम परमार्थ-साधनाद्वारा अपनेको अधिकारी बनाते हैं, तब भगवान्‌की या गुरुकी कृपासे बिना किसी विघ्न-बाधाके हम निश्चय ही अनुगृहीत होते हैं ।

---

१. समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः । ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (गीता ९ । २९)

भगवत्कृपाका अनुभव कैसे हो ?

[एक वीतराग संतका सदुपदेश]

प्रश्नकर्ता—महाराजजी ! हमें भगवत्कृपाकी प्राप्ति एवं अनुभव कैसे हो ? उसके लिये क्या करना आवश्यक है ? कृपया बतलाइये ।

संतजी—भगवत्कृपाका अनुभव करनेके लिये निम्नलिखित बातोंपर ध्यान देना चाहिये—

(१) हमें नित्य-प्रति शुद्ध कूप-जल अथवा किसी नदीके पवित्र जलसे स्नान करना चाहिये और फिर द्विजाति हो तो संध्या-वन्दन, गायत्री-जप अन्यथा वर्ण-धर्मानुसार भजन-पूजन, पाठ आदि करना चाहिये ।

(२) हमें अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार शास्त्रोक्त कर्तव्यकर्म करते हुए मर्यादानुसार अपना जीवन-यापन करना चाहिये । अपने वर्णाश्रम-धर्मके विरुद्ध कोई कार्य कभी नहीं करना चाहिये ।

(३) हमें कल्पित मतान्तरोंके चक्करमें न फँसकर अनादिकालसे चले आ रहे सत्य सनातनधर्मकी ही शरणमें रहना चाहिये ।

(४) भूलकर भी कभी चाय, तम्बाकू, भाँग, बीड़ी, सिगरेट, अण्डे, मांस, मछली, प्याज, लहसुन आदि मादक एवं अभक्ष्य वस्तुओंका प्रयोग नहीं करना चाहिये । बाजारकी चाट-पकौड़ी खाना एवं होटलमें भोजन आदि करना सर्वथा निषिद्ध समझना चाहिये । हिंसात्मक डॉक्टरी दवाओंका प्रयोग सर्वथा बंद कर देना चाहिये ।

(५) अहर्निश श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीशिव आदि किसी भी परम पवित्र भगवन्नामका जप करते-कराते रहना चाहिये ।

(६) समय-समयपर पतितपावनी भागीरथी श्रीगङ्गाजी, श्रीयमुनाजी, श्रीसरयूजी, श्रीनर्मदाजी, श्रीत्रिवेणीजी आदिका दर्शन और उनमें स्नान करते रहना चाहिये ।

(७) पूज्य प्रातःस्मरणीय गौ, ब्राह्मण और संतोंकी प्राणपणसे रक्षा और सेवा करके इनका शुभाशीर्वाद प्राप्त करना चाहिये ।

(८) सच्चे संत-महात्माओंका सत्सङ्ग करना चाहिये, कथा-कीर्तनमें अवश्य भाग लेना चाहिये और नियमपूर्वक देव-मन्दिरोंमें जाकर भगवद्दर्शन करना चाहिये ।

(९) पर-स्त्री और पर-धनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखना चाहिये, इनसे दूर रहना चाहिये ।

(१०) एकादशीका व्रत अवश्य रखना चाहिये । जहाँ गङ्गाजी निकट हों, वहाँ पूर्णिमाको गङ्गास्नान और श्रीसत्यनारायणकी कथा अवश्य सुननी चाहिये ।

(११) तीर्थोंमें जाकर उनमें कोई पाप न बन जाय, इस बातका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये ।

(१२) ढोंगियों नकली, पाखण्डी अवतारोंकी इस समय भारतमें बाढ़-सी आयी हुई है, जो अपनेको साक्षात् भगवान्का अवतार बताते हैं । इस प्रकारके ढोंगी व्यभिचारकी गद्दीमें जोड़ रहे हैं । ऐसे नास्तिक, दम्भी और दुराचारी लोगोंके मायाजालसे बचना-बचाना चाहिये ।

(१३) भूलकर भी कभी सिनेमा-घर एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमके नामपर होनेवाले कुचरित्रों, नृत्य, नाटक आदि नहीं देखने चाहिये और न कभी उनमें भाग लेना चाहिये । सिनेमाने युवक-युवतियोंका जो भीषण पतन किया है, उसकी कोई सीमा नहीं है । हमें इस नाशकारी दलदलसे अपने-आपको एवं अपनी संतानोंको अवश्य बचाना चाहिये ।

(१४) अश्लील पुस्तकें, गन्दे-गन्दे उपन्यास, गंदे पत्र-पत्रिकाएँ एवं धर्म-विरोधी साहित्यको भूलकर भी नहीं पढ़ना चाहिये ।

(१५) तुलसी, पीपल, बिल्व, आँवला, वट आदिका दर्शन-पूजन करते रहना चाहिये । इन वृक्षोंको भूलकर भी नहीं काटना चाहिये ।

(१६) चीनी-मिट्टी या काँचके प्यालों-प्लेटोंमें, मेज-कुर्सियोंपर बैठकर, खाटपर या पलँगपर बैठकर, एक थालीमें सबके साथ जूठा, जूते पहने, बिना स्नान किये अथवा खड़े-खड़े भोजन नहीं करना चाहिये । रजस्वला स्त्री एवं गोभक्षकोंके हाथका बना भोजन कभी भी नहीं करना चाहिये ।

(१७) खड़े-खड़े मूत्र-त्याग करना, टट्टीके गंदे हाथ शुद्ध मिट्टीसे न धोकर गाय और सूअरकी चर्बीसे बने गंदे साबुनसे धोना, गंदे साबुनको शरीरमें लगाकर स्नान करना तथा अपने सिरकी पवित्र चोटीको काटकर फेंक देना आदि धर्मविरुद्ध एवं मूर्खतापूर्ण कृत्योंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

भगवत्कृपाका अनुभव करनेके लिये उपर्युक्त बातें सर्वप्रथम पालनीय हैं । इन बातोंपर हम सबको ध्यान देना चाहिये और अपने वर्णाश्रम-धर्मानुसार जीवन-यापन करना चाहिये ।

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

——○○○——

भगवत्कृपा और भक्त

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

बहुत-से लोगोंकी ऐसी धारणा है कि जब भगवान्‌की कृपा होती है, तब धन, ऐश्वर्य, स्त्री, पुत्र, मान, कीर्ति और शरीर-सम्बन्धी अनेकानेक भोगोंकी प्राप्ति होती है। जिन लोगोंके पास भोगोंका बाहुल्य है—बस, केवल उन्हींपर भगवान्‌की कृपा है या भगवत्कृपा उनपर है, जिनकी विपत्तियाँ भगवान् टाल देते हैं। भगवत्कृपाका इस प्रकार क्षुद्र अर्थ करनेवाले लोग बड़े ही दयाके पात्र हैं, ऐसे लोगोंको भगवत्कृपाका यथार्थ अनुभव नहीं है।

वास्तवमें सम्पत्ति या विपत्तिमें भगवत्कृपाका पता नहीं लग सकता। वह नित्य है, अपार है और संसारके समस्त प्राणियोंपर उस कृपा-सुधाकी अनवरत वर्षा हो रही है। जो उसका यथार्थ अनुभव न कर केवल विषयोंकी प्राप्तिको ही भगवत्कृपा समझते हैं, वे ही लोग विषयोंके नाश या अभावमें भगवान्‌पर पक्षपात, अन्याय और कृपालु न होनेका कलङ्क मढ़ा करते हैं। सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌का कोई भी विधान कृपासे शून्य नहीं होता, कृपा करना तो उनका सहज स्वभाव है। पापी प्राणीके दण्ड-विधानमें भी वे अपनी कृपाका समावेश कर देते हैं। यह दूसरा प्रश्न है कि उनकी कृपाका स्वरूप कैसा होता है! इसमें कोई संदेह नहीं कि कृपाका भीतरी स्वरूप तो सदा ही सरस, मनोहर और मधुर होता है; परंतु बाहरसे वह कभी—'सुन्दरं सुन्दराणाम्' (सुन्दरसे सुन्दर) स्वरूपमें दर्शन देती है तो कभी 'भीषणं भीषणानाम्' (महानिर्वाणतन्त्र ३ । ६१) (भयानकसे भयानक) रूपमें प्रकट होती है। किसी समय उसका रूप 'मृदूनि कुसुमादपि' (पुष्पसे अधिक कोमल) होता है तो किसी समय 'वज्रादपि कठोराणि' (वज्रसे भी अधिक कठोर) होता है। जिन विवेकी और कल्याणकामी पुरुषोंने विषयोंकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌को साधन नहीं बना रखा है, जो सच्चे त्यागी और प्रेमी हैं, वे तो इन दोनों रूपोंमें उस 'अनुरूप'की अनोखी अनुकम्पाका दर्शन कर कृतार्थ होते हैं, परंतु जो अल्पबुद्धि प्राणी आपातरमणीय विषयोंको ही एकमात्र सुखका साधन मानते हैं, वे अपरिणामदर्शी और अविवेकी मनुष्य भगवत्कृपाके मनोहर रूपको देखकर तो अत्यन्त आह्लादित होते हैं और उसके भीषण रूपको देखकर भयसे काँप उठते हैं।

किसी अबोध बालकके एक जहरीला फोड़ा हो गया, उसे असहनीय वेदना है, बालककी माताने डॉक्टरको बुलवाया, डॉक्टरने चीरा लगवानेका परामर्श देते हुए कहा कि 'यदि बहुत शीघ्र शल्यक्रिया (ऑपरेशन) नहीं की जायगी तो फोड़ेका विष समस्त शरीरमें फैल जायगा और ऐसा होनेसे बालकके मर जानेकी सम्भावना है।' माताने बालकका हित समझकर चीरा लगवाना स्वीकार किया। डॉक्टर साहब चीरा देने लगे। उस समय उस अपरिणामदर्शी अबोध बालकने क्षणिक वेदनासे व्यथित होकर बड़े जोर-जोरसे रोना आरम्भ कर दिया और चीरा दिलवानेवाली माताको प्रत्यक्ष शत्रु समझकर बुरी-भली कहने लगा—

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥

(मानस ७ । ७४ क)

माताने बालकके रोने और बकनेकी कोई परवाह नहीं की, उसे और भी बलपूर्वक पकड़ लिया, शल्यक्रिया पूरी हुई, चीरा लगाते ही अंदरका सारा विष बाहर निकल पड़ा, बालककी वेदना मिट गयी और वह सुखपूर्वक सो गया। बालक अज्ञानसे चीरा लगवानेमें रोता है और समझदार लोग जान-बूझकर चीरा लगवाते हैं। बस, इसी दृष्टान्तके अनुसार—

तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥

(मानस ७ । ७४ ख)

भगवान् भी अपने प्यारे भक्तके समस्त आन्तरिक दोषोंको निकालकर बाहर फेंक देनेके लिये समय-समयपर शल्यक्रिया (ऑपरेशन) किया करते हैं, उस समय सांसारिक संकटोंका पार नहीं रहता, परंतु इस सारी रुद्र-लीलामें कारण होती है—केवल एक भक्तकी आत्यन्तिक हित-चिन्ता। जिस प्रकार दयामयी जननी अपने प्यारे बच्चेके अङ्गका सड़ा हुआ अंश कटवाकर फेंक देती है, उसी प्रकार भगवान् भी अपने प्यारे बच्चोंकी हितकामनासे उनके अंदरके विषय-विषको निकालकर फेंक दिया करते हैं। ऐसी अवस्थामें परिणामदर्शी विश्वासी भक्तोंको तो आनन्द होता है और विषयासक्त अज्ञानी मनुष्य रोया-चिल्लाया करते हैं।

जिस समय भगवान् वामनने अनुग्रहपूर्वक विराट्-स्वरूप धारण कर भक्त बलिको बाँध लिया और इन बन्धनोंको बलिने भगवान्का परम अनुग्रह माना, उस समय बलिके पितामह परम भक्त प्रह्लादजी वहाँ आये । भगवत्कृपाका मर्म जाननेवाले प्रह्लादजीने आते ही भगवान्से कहा—'हे भगवन् ! आपने ही इसको यह समृद्धिसम्पन्न इन्द्रपद दिया था और इस समय आपने ही इसको हर लिया, मेरी समझसे आपने इसे राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट करके इसपर बड़ा अनुग्रह किया । लक्ष्मीको पाकर मनुष्य अपनेको भूल जाता है । जिस लक्ष्मीसे विद्वान् और संयमी पुरुष भी मोहित हो जाते हैं, उस लक्ष्मीके रहते हुए कौन पुरुष आत्मतत्त्वको यथार्थरूपसे जान सकता है । अतएव आपने इस-पर बड़ी दया की ।' यह है भक्तके विश्वासकी वाणी ! यह है अशुभमें भी शुभका दर्शन !! और यह है भक्तोंका भगवान्-पर दृढ़ विश्वास !!!

भगवान्ने भी प्रह्लादके इस कथनका समर्थन करते हुए कहा—'मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसका धन-वैभव पहले हर लेता हूँ; क्योंकि मनुष्य धन-सम्पत्ति और ऐश्वर्यके मदसे मतवाला होकर समस्त जीवोंका और मेरा निरादर करता है ।'

जिस धन-सम्पत्तिसे इतना अनर्थ होता है, केवल उसीकी प्राप्तिमें परमात्माकी कृपा मानना कितनी बड़ी भूल है; परंतु भगवान्के उपर्युक्त वचनोंसे कोई यह समझकर न काँप उठे कि भगवान् तो अपने भक्तोंके धन-ऐश्वर्यका नाश ही किया करते हैं । यह बात नहीं है । विभीषणको लंकाका अटल राज्य, ध्रुवको अचल सम्पत्ति और दरिद्र सुदामाको अतुल ऐश्वर्य भगवान्ने ही तो दिया था । जैसी अवस्था होती है, वैसी ही व्यवस्था की जाती है ।

एक सद्वैद्य रोगीके रोगका निदान कर उसे वही औषध देता है, जो उसके रोगका नाश करनेवाली होती है, वह इस बातको नहीं देखता कि दवा कड़वी है या मीठी । रोगीके मनके अनुकूल है या प्रतिकूल । रोगीकी इच्छाकी वह कोई परवाह नहीं करता, रोगी कुपथ्य चाहता है तो वैद्य उसे डाँट देता है, उसके बकने-झकनेकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता और उसके मनके सर्वथा विपरीत पथ्य-पथ्यकी व्यवस्था करता है । वह दूसरे दवा बेचनेवालोंकी भाँति मूल्य प्राप्त होते ही मुँहमाँगी दवा नहीं दे देता, उसे चिन्ता रहती है रोगीके हिताहितकी । उसका केवल एक ही उद्देश्य होता है—रोगका समूल नाश कर देना । इसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्तोंमेंसे जिसके जैसा रोग देखते हैं, उसके लिये वैसी ही ओषधिकी व्यवस्था करते हैं । अन्यान्य देवताओंकी भाँति मुँहमाँगा वरदान नहीं दे देते । उसकी इच्छा क्या है, इसका कोई खयाल नहीं करते, अपितु कई बार तो उसके मनके सर्वथा विपरीत कर देते हैं । एक बार भक्तराज नारदने मायासे मोहित होकर विवाह करना चाहा, भगवान्से प्रार्थना भी की; परंतु भगवान् जानते थे कि इससे उसका अहित होगा, यह भव-रोगीके लिये कुपथ्य है, इसलिये विवाह नहीं होने दिया । नारदको क्रोध हुआ, उन्होंने झुँझलाकर भगवान्को बहुत बुरा-भला कहा, शाप दे दिया । भगवान्ने भक्तके शापको सहर्ष ग्रहण कर लिया, परंतु उसे कर्तव्यच्युत नहीं होने दिया ।

रोगमुक्त होकर मनुष्य जब कुछ बल प्राप्त कर लेता है, तब उसे सभी कुछ खाने-पीनेका अधिकार मिल जाता है, इसी प्रकार भवरोगसे मुक्त होकर भगवत्प्राप्ति कर लेनेपर उसको जब भगवान्के सर्वस्वका स्वामित्व प्राप्त हो जाता है, तब फिर उसे किस बातकी कमी रहती है और कौन-सी बाधा रहती है ? मनुष्य भूलकर सांसारिक धन ऐश्वर्यके लिये लालायित रहता है, यदि चेष्टा करके वह उन अतुल ऐश्वर्यशाली परमात्माको, जिनके एक अंशमें यह सारे ऐश्वर्योंसे भरा संसार महान् समुद्रमें एक बालूके कणके समान स्थित है—प्राप्त कर ले तो फिर उसे समस्त पदार्थ आप-से-आप ही प्राप्त हो जायँ । अस्तु,

राजा बलिने भगवत्कृपाके विकट स्वरूपसे न घबराकर उसका सादर स्वागत किया । बलिका समस्त धन-ऐश्वर्य हरण कर लिया गया, अग्नि-परीक्षा हुई; परंतु उस परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके बाद भक्त बलिको उस स्मरणीय और समृद्धि-सम्पन्न सुतललोकका राज्य दिया गया, जिसकी देवता भी अभिलाषा करते हैं और जहाँ भगवत्कृपासे कभी आधि, व्याधि, भ्रान्ति, तन्द्रा, पराभव और किसी प्रकारका भी भौतिक उपद्रव नहीं होता । इतना ऐश्वर्य देकर ही भगवान् संतुष्ट नहीं हो गये, उन्होंने बलिको सावर्णि-मन्वन्तरमें इन्द्र होनेके लिये वर दिया और प्रह्लादसे बोले—'वत्स प्रह्लाद ! तुम अपने पौत्रसहित सुतललोकमें जाकर लोगोंको सुख पहुँचाते हुए आनन्दसे रहो, वहाँ तुम मुझे सब समय हाथमें गदा लिये हुए बलिके द्वारपर देखोगे ।' यों प्रभुने बलिके द्वारपर द्वारपाल होना स्वीकार किया और अन्तमें उसको अपना परम धाम प्रदान किया, क्या यह परम अनुग्रह नहीं है ? भगवान्ने क्रमशः चार बार अवतार धारण करके हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, रावण-कुम्भकर्ण और शिशुपाल-दन्तवक्त्रका वध किया ।

इसीलिये कि उनपर अनुग्रह था। ऋषि-शापसे भ्रष्ट अपने द्वारपाल जय-विजयको शापसे मुक्त करनेके लिये मृत्युसे अधिक भयानक बात और क्या हो सकती है? परंतु भगवान्‌के द्वारा होनेवाली मृत्युमें भी उनकी कृपा भरी हुई होती है। दुष्टोंका नाश भगवान् क्यों करते हैं? केवल उनके उद्धारके लिये, उन्हें पापोंसे मुक्त कर अपने सुख-शान्तिमय परमधाममें पहुँचानेके लिये। भक्तगण ही दिव्य-दृष्टिसे इसको देख पाते हैं।

यह कोई नियम नहीं है कि भगवान्‌के भक्तपर कोई सांसारिक कष्ट न आये या उसे सांसारिक सुख सर्वथा ही न प्राप्त हो। समय-समयपर कर्मानुसार दोनोंकी ही प्राप्ति होती है, परंतु दोनोंमें ही भगवत्कृपाका विलक्षण समावेश रहता है। उस कृपाका यथार्थ दर्शन उन्हीं भाग्यवानोंको होता है, जो सुख-दुःखमें समचित्त होते हैं और जो परमात्मासे कुछ भी सांसारिक वस्तु न चाहकर उसकी अपार महिमा और अपनी भक्तिमें दोष नहीं आने देते। भक्त अपनी भक्तिसे और प्रेमी अपने प्रेमसे क्या चाहते हैं? वही भक्ति और प्रेम! वास्तवमें ऐसे भक्तोंके हृदयमें भगवत्प्रेमके प्रति ऐसा प्रबल आकर्षण होता है कि वे उसको पानेके लिये किसी भी विपत्तिको विपत्ति नहीं समझते।

जो कभी संसारकी ओर ताकता है और कभी परमात्माकी ओर, वह पूरा प्रेमी नहीं है। उसमें अभी भगवत्-प्रेमकी प्रबल उत्कण्ठा जाग्रत् नहीं हुई है। संसार रहे या जाय, घर उजड़े या बसे, किसी बातकी भी परवाह नहीं, परंतु प्रेममें कोई बाधा न आने पावे, यह है भक्तकी ऐकान्तिक प्रेमनिष्ठा।

माता यदि छोटे शिशुको मारती है तो भी वह उसीकी गोदमें घुसता है और यदि वह पुचकारती है तो भी वह उसीके पास रहता है, माताकी गोदको छोड़कर शिशुको अन्यत्र कहीं चैन नहीं पड़ता। इसी प्रकार भक्तको भी अपने भगवान्‌को छोड़कर और कहीं विश्राम नहीं मिलता। चाहे वे मारें, चाहे प्यार करें! भक्त एक क्षण भी उनके बिना रहना नहीं चाहता। सम्भव है कि भक्तपर विपत्तियोंके बादल चारों ओरसे मँड़राने लगें, यह भी सम्भव है कि उसका समस्त जीवन केवल सांसारिक विपत्तियोंमें ही बीते और एक क्षणके लिये भी विपत्तिका अभाव न हो, तथापि उसका मन उस प्रेमानन्दमें इतना मग्न रहता है कि भूलकर भी उसे भगवत्कृपाके सम्बन्धमें कभी किंचित् भी संदेह नहीं होता।

चातकपर यदि उसका प्रियतम मेघ पत्थरोंकी वर्षा करे तो क्या वह मेघसे प्रेम करना छोड़ देता है? क्या उसके प्रेममें कुछ भी अन्तर पड़ता है? गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

> उपल बरसि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
> चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
>
> (दोहावली २८३)

भयानक वज्रपातसे उसके प्राण भले ही चले जायँ, परंतु प्रेमी चातक दूसरी ओर नहीं ताकता। इसी प्रकार भक्त भी नित्य निश्चिन्त होकर रहता है। उसे न तो दुःखोंमें उद्वेग होता है और न सुखोंकी स्पृहा रहती है। भगवान् कहते हैं—

> यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
> शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
>
> (गीता १२। १७)

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है और न किसी प्रकारकी आकाङ्क्षा करता है—जो शुभाशुभ दोनोंका त्यागी है, वह भक्तिमान् (पुरुष) मुझको प्रिय है।'

इस प्रकार भक्त, जैसे सम्पत्तिमें प्रभुकी मूर्ति देखकर संदेह-शून्य रहता है, वैसे ही विपत्तिमें भी उन्हींकी मनो-मोहिनी मधुर छविका दर्शन कर निःसंशय रहता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि लौकिक दृष्टिसे समय समयपर भगवत्कृपाका स्वरूप बड़ा ही भीषण होता है। प्रह्लाद अग्निमें डाला जाता है, मीराको विषका प्याला दिया जाता है, सदनके हाथ काटे जाते हैं और बेंतोंकी मारके कारण हरिदासकी पीठसे खून बहने लगता है, परंतु धन्य है उन प्रेमी और प्रेमके उपासक भक्तोंको, जो प्रत्येक अवस्थामें शान्त और निश्चिन्त देखे जाते हैं! उनकी स्थिरतामें तिलभर भी अन्तर नहीं पड़ता। कितने प्रगाढ़ विश्वास और भरोसेकी बात है यह! एक छोटा सा

काँटा चुभ जानेपर चिल्लाहट मच जाती है—अग्निकी चिनगारीका स्पर्श होते ही मन तिलमिला उठता है, परंतु वे भक्तगण, जो परमात्माके प्रेमके लिये अपने-आपको खो चुकते हैं—बड़े चावसे सारी यातनाओं और क्लेशोंको सहते हैं। उन ईश्वरगत-प्राण भक्तोंको प्रेमके लिये न शूली-पर चढ़नेमे भय लगता है और न धधकती हुई अग्निमें कूदनेमे। प्रेमके लिये मस्तकको तो वे हाथोंमे लिये फिरा करते हैं—

> प्रेम न बाड़ी नीपजै प्रेम न हाट बिकाय।
> राजा परजा जेहि रुचै शीश देइ लै जाय॥

लोग कहते हैं—'देखो बेचारेको कितना कष्ट हो रहा है; बेचारेने सारे जीवन श्रीरामका नाम लिया, परंतु कभी सुखकी नींद नहीं सोया। आजकल भगवान्‌के यहाँ न्याय नहीं रहा। यह तो बेचारा चौबीसों घंटे भजन करता है और इसीपर दुःखोंके पहाड़ टूट पड़ते हैं।' लोगोंकी ऐसी भोली बातोंको सुनकर विपत्ति-सम्पत्तिको लात मारनेवाले वे भक्त मन-ही-मन हँसते हैं।

वे सांसारिक लोग इस बातको नहीं जानते कि भगवान् कभी किसीको कष्ट पहुँचाना नहीं चाहते। भक्तके सामने भगवान् जो दुःखोंका रूप प्रकट करते हैं, वह केवल उनके कल्याणके लिये ही। यदि केवल सुखमे ही भगवान्‌का रूप दीख पड़ता हो तो क्या दुःखमे उसका अभाव है? यदि सुखमे उनकी व्यापकता है तो दुःखमे भी है। कोई भी ऐसी अवस्था या कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं कि जिसमे वे न हो। इसी बातको पूर्णरूपसे प्रकट करनेके लिये भगवान् भक्तोंके सामने अपने दोनों स्वरूप प्रकट करते हैं। जब भक्त इस प्रहेलिकाको समझ लेता है, तब वह सब तरहसे और सब ओरसे भगवान्‌को पहचान लेता है। साधारणलोग एक ओर देखते हैं, इसीसे वे सुखकी मूर्तिको देखकर हँसते हैं और दुःखकी मूर्तिको देखकर काँप उठते हैं; परंतु जो भक्त हैं, वे दोनोंमे ही उनको देख पाते हैं। इसीसे उनको न तो दुःखसे द्वेष है और न सुखसे अनुराग! दाहिना और बायाँ—दोनों उसीके तो हाथ हैं। भक्त किसी भी अवस्थामें इस ध्रुव-सत्यसे अपनी दृष्टि नहीं हटाते। प्रत्युत वे तो दूसरे लोगोंको दुःखोंसे घबराया हुआ जानकर भगवान्‌से उलटे यह प्रार्थना करते हैं—

> न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
> मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
> आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
> मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
> (श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

'हे नाथ! मैं (आप) परमेश्वरसे अणिमादि आठ सिद्धियोंसे युक्त गति या मुक्तिको नहीं चाहता। मेरी यही प्रार्थना है कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर दुःख भोग करूँ। जिससे उन सबका दुःख दूर हो जाय।'

परम भक्त प्रह्लादने कातरकण्ठसे कहा था—'हे प्रभो! मेरा चित्त तो आपके चरित्रगानरूप सुधा-समुद्रमें निमग्न है, मुझे संसारसे कोई भय नहीं; परंतु मैं इन इन्द्रियोंके सुखोंमें लिप्त और भगवद्विमुख दीन असुर-बालकोंको छोड़कर अकेला मुक्त होना नहीं चाहता।'

यह है भक्तोंकी वाणी। संसारभरका दुःख अपने मस्तकपर उठानेको प्रस्तुत हैं। दीन-दुःखियोंका उद्धार हुए बिना अकेले अपना उद्धार नहीं चाहते। कष्ट देनेवालेके लिये भी भगवान्‌से क्षमा चाहते हैं। अपने कष्टोंकी कोई परवाह नहीं। परवाह क्यों हो? उन्हें तो कष्टोंकी भीषण मूर्तिके अंदर उन सलोने श्यामसुन्दरकी नवघनश्याम मूर्तिका प्रत्यक्ष दर्शन होता है न! वे तो सब ओरसे अपना सारा अपनापन उन्हे सौंपकर तथा उनकी कृपा-सुधाकी अनन्त और शीतल धारामे अवगाहन कर कृतार्थ हो चुके हैं। उन्हें क्षण-क्षणमे भगवत्कृपाके दिव्य दर्शन होते हैं। इसीसे वे समस्त सुख और दुःखभारको केवल भगवत्प्रसाद समझकर सानन्द ग्रहण करते हैं। कोई स्थिति उन्हे विचलित नहीं कर सकती। वे उस परम लाभको पाकर नित्य उसीमे रमण करते हुए प्रेमके परमानन्दमे निमग्न रहते हैं। भगवान्‌ने कहा है—

> यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
> यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
> (गीता ६। २२)

'(भक्त) परमात्माकी प्राप्तिरूप लाभको पाकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और भगवत्प्राप्ति-रूप अवस्थामें स्थित (वह) भक्त बड़े-से-बड़े दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।'

भगवान् विष्णुकी कृपा

(लेखक—श्रीहरिकृष्णजी दुजारी)

(१)

देवर्षि नारद

पूर्वजन्ममे देवर्षि नारद दासी-पुत्र थे। माता वेदपाठी ब्राह्मणकी दासी थी। एक बार कुछ योगिजन चातुर्मासके लिये उस गाँवमे आये और यही प्रथम भगवत्कृपा हुई उस बालकपर। सत्पुरुषोंका सङ्ग भगवत्कृपा-से ही प्राप्त होता है। माताके साथ-साथ बालक भी उनकी सेवामें लग गया। मुनियोंका आज्ञा-पालन ही उस बालककी क्रीड़ा बन गयी। चञ्चलतासे दूर रहकर उनकी सेवा करना उसकी निष्ठा थी। उसके शील-स्वभावको देखकर उसपर संतोंका अनुग्रह हुआ। बालकको भोजनके लिये संतोंका प्रसाद मिलने लगा और सुननेको मिलने लगी भगवच्चर्चा। संत-कृपा और सत्सङ्गसे उसके कोमल हृदयकी मैल दूर हो गयी। उसपर संकीर्तन एवं भगवान्‌की मनोहर कथाका रंग चढने लगा। प्रभुकी मनोहर कीर्ति उसकी निर्मल बुद्धिमे स्थिर होने लगी। संत-कृपासे उसके रजोगुण एवं तमोगुणका नाश होते देर न लगी। शीघ्र ही बालकके हृदयमें भक्तिका प्रादुर्भाव हो गया। शरद् और वर्षाऋतु—इन दो ऋतुओंकी संत-सेवासे बालकके सभी पाप नष्ट हो गये। इन्द्रियोंका सयम तथा शरीर, वाणी और मनसे महात्माओंकी आज्ञाका पालन करनेपर महात्माओंका अनुग्रह हुआ और जाते-जाते उन्होंने कृपा करके उस बालकको भगवान्‌के श्रीमुखसे सुने हुए गुह्यतम ज्ञानका अधिकारी बना दिया। चातुर्मास समाप्त होते ही वे लोग चले गये। माता अपने इकलौते पुत्रके योगक्षेमकी बहुत चिन्ता करती, परंतु वह बेचारी पराधीन अबला थी, ब्राह्मणोंकी सेवा करके किसी प्रकार पुत्रसहित वह अपना जीवन-निर्वाह करती थी।

कृपासिन्धु भगवान्‌ने एक दिन एक विचित्र लीला की। रात्रिके समय उस बालककी माँ गौ दुहनेके लिये घरसे निकली। घना अँधेरा था, उसके पैरके नीचे एक साँप आ गया। साँपने उसे डस लिया और वह तत्काल ही मृत्युको प्राप्त हो गयी। सत्सङ्गके प्रभावसे बालकने इसे भगवान्‌का परम अनुग्रह माना। 'भगवान् अपने जनका सदैव मङ्गल करते हैं'—यह बालककी दृढ़ निष्ठा थी। सभी ओरसे निराश्रित बालकने भगवान्‌की कृपाका आश्रय लिया। वह उत्तर दिशा-की ओर चल पड़ा। मार्गमें बीहड़ जंगल आये, जिनमें भयंकर एवं हिंस्र जीव-जन्तु, साँप, उल्लू, सियार आदि भी थे, परंतु वह निर्भय होकर आगे बढ़ता गया।

भूख-प्याससे व्याकुल बालकने एक नदीके मनोहर तटपर ठहरकर जलपान, आचमन और स्नान किया। महात्माओंकी अमोघ वाणी उसके हृदयमें घर किये हुए थी। उसने एक पीपलके वृक्षके नीचे अपना आसन जमाया और भगवान्‌के ध्यानमें निमग्न हो गया। बालक निर्द्वन्द्व और शान्त था। उसका हृदय भगवत्प्रेमसे विह्वल हो रहा था, शरीर रोमाञ्चित था और नेत्रोंसे प्रेमाश्रु निर्झरित हो रहे थे। संसारकी अन्य सभी चाहें सिमटकर भगवत्प्राप्तिकी चाहमें केन्द्रित हो गयी थीं। वह प्रेमानन्दमें डूबा हुआ था। सहसा भगवत्कृपासे उसे एक अनिर्वचनीय रूपकी झलक दिखलायी दी, परंतु तत्काल ही वह ओझल हो गयी। बालक उस स्वरूपका पुनः दर्शन करनेके लिये व्याकुल हो उठा। उसी समय उसे भगवान्‌की अमोघ वाणी सुनायी दी—'निष्पाप बालक! तुम्हारे हृदयमें मुझे प्राप्त करनेकी लालसा जाग्रत् करनेके लिये ही मैंने एक बार अपने रूपकी झलक दिखायी है। मुझे प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षासे युक्त साधक धीरे-धीरे हृदयकी सम्पूर्ण वासनाओंका भलीभाँति त्याग कर देता है। अल्पकालीन संत-सेवासे तुम्हारी चित्तवृत्ति मुझमें स्थिर हो गयी है। अब तुम इस प्राकृत मलिन शरीरको छोड़कर मेरे पार्षद हो जाओगे। मुझे प्राप्त करनेका तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय कभी किसी प्रकार नहीं टूटेगा। समस्त सृष्टिका प्रलय हो जानेपर भी मेरी कृपासे तुम्हें मेरी स्मृति बनी रहेगी।'

भगवान्‌की इस अनुपम कृपासे बालक प्रफुल्लित हो उठा और तभीसे वह लज्जा छोड़कर भगवान्‌के मङ्गलमय मधुर नामों एवं लीलाओंका कीर्तन करने लगा। भगवान्‌की कृपासे समस्त आसक्तियाँ मिट गयीं और उसका हृदय शुद्ध हो गया। प्रारब्धकर्म समाप्त हो जानेपर उसका पाञ्चभौतिक शरीर मृत्युको प्राप्त हो गया।

सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीके शरीरसे देवर्षि नारदका प्रादुर्भाव हुआ। उनके जीवनका व्रत ही भगवद्भजन है, जो अखण्डरूपसे चलता रहता है। भगवत्कृपासे वे वैकुण्ठादि तीनों लोकोंमें बिना रोक-टोक निर्बाधरूपसे विचरण करते हैं तथा भगवन्नाम और लीलाओंका गान करते हैं। उन्हें भगवान्‌का मन कहा गया है। प्रत्येक काल एवं युगमें वे अधिकारी पुरुषोंको साक्षात् दर्शन देकर उनका मार्ग-प्रदर्शन करते हैं। उन्होंने भक्ति-सूत्रोंकी रचना कर जगत्‌को भक्तिरूप अमृतका अनुपम दान दिया है। वे गुणमाहात्म्यासक्ति भक्तिके आचार्य माने जाते हैं। वे सदा-सर्वदा भगवन्नाम-कीर्तन करते रहते हैं—

> अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शार्ङ्गधन्वनः।
> गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्॥
>
> (श्रीमद्भा० १।६।३९)

'अहो! ये देवर्षि नारद धन्य हैं; क्योंकि ये शार्ङ्गपाणि भगवान्‌की कीर्तिको अपनी वीणापर गा-गाकर स्वयं तो आनन्दमग्न होते ही हैं, साथ-साथ इस त्रितापतप्त जगत्‌को भी आनन्दित करते रहते हैं।'

(२)

भक्त ध्रुव

ध्रुव स्वायम्भुव मनुके पौत्र थे। महाराज उत्तानपादकी बड़ी पत्नी सुनीतिकी कोखसे उनका जन्म हुआ था। एक समयकी बात है, राजदरबार लगा था। महाराज उत्तानपाद अपनी छोटी रानी सुरुचि एवं उसके पुत्र उत्तमके साथ राजसिंहासनपर विराजमान थे। सुरुचिके रूप-लावण्यने राजाको वशीभूत कर लिया था। सुरुचिकी रुचि ही उत्तानपादकी रुचि हो गयी थी। एक दिन पाँच वर्षका बालक ध्रुव अपने सखाओंके साथ खेलता-खेलता राजसभामें जा पहुँचा। अपने छोटे भाई उत्तमको पिताकी गोदमें बैठे देखकर बालक ध्रुवने भी पिताकी गोदमें बैठना चाहा। सुरुचि इसे कैसे सहन कर सकती थी! सुनीतिसे उसका सौतियाडाह जो था। 'अरे, तुम्हारा इतना साहस! यदि पिताकी गोदमें बैठना चाहते हो तो तपस्या करके भगवान्‌की आराधना करो। भगवान्‌को प्रसन्न करके मेरी कोखसे जन्म लो, तभी तुम्हें यह अधिकार प्राप्त हो सकता है।' कहते हुए सुरुचिने हाथ पकड़कर ध्रुवको राजाकी गोदसे अलग कर दिया।

यद्यपि अबोध बालक ध्रुव पूरी बात न समझ सका, परंतु 'मेरा अपमान हुआ है और भगवान्‌की आराधनासे ही अपमानसे छुटकारा मिल सकता है'—इतनी बात तो उसकी समझमे आ ही गयी। केवल इतनी-सी बात बालक ध्रुवको अमोघ भगवत्कृपाका अनुभव करानेमें हेतु बन गयी। विपरीत परिस्थितियाँ प्रायः मनुष्यको भगवत्कृपा प्राप्त करानेमें बड़ी सहायक होती हैं।

रुदन ही तो बालकका बल है। ध्रुव रोता-रोता अपनी माता सुनीतिके पास पहुँचा। सुनीतिने उसकी पूरी बात सुनी और कहा—'बेटा! सचमुच मैं अभागिनी हूँ। तुम्हारे पिता तुम्हारी छोटी माता सुरुचिके हाथ बिके हुए हैं। तुम्हारी अभिलाषा तो एक भगवान् ही पूर्ण कर सकते हैं। भगवान् विष्णुकी आराधनासे सब कुछ सुलभ है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो भगवान् न दे सकें।' 'भगवान् विष्णु सब कुछ दे सकते हैं।' निर्मलहृदय ध्रुवके मनमें यह बात घर कर गयी।

'माँ! मुझे आज्ञा दो, मैं भगवान्‌से मिलकर उन्हींसे सब कुछ प्राप्त करूँगा।' ध्रुवने दृढ़ निश्चयके साथ माता सुनीतिसे निवेदन किया। 'बेटा! अभी तो तुम निरे बालक हो, कुछ बड़े हो जाओ, उसके बाद यह कार्य करना।' माताने ध्रुवको बहुत समझाया, परंतु ध्रुवके निश्चयमें माँ सुनीति कुछ भी परिवर्तन न कर सकी और अन्तमें भगवत्कृपापर पूर्ण विश्वास रखनेवाली माताने बालकको वनमें जानेकी आज्ञा दे दी।

भगवान् कैसे और कहाँ मिलते हैं—यह तो ध्रुवको ज्ञात नहीं था, परंतु भगवान् मिलते हैं, इस निश्चयके साथ ध्रुवने वनकी राह ली। भगवान्‌की ओर बढ़नेवालेकी सहायता भगवत्कृपा स्वयं करती है। मार्गमें ध्रुवको देवर्षि नारद मिले। नारद ध्रुवकी पूरी बात सुनकर विस्मय प्रकट करने लगे—'बेटा! तुम्हारी आयु अभी छोटी है, इस उम्रमें क्या मानापमान? प्रसन्न रहो और जैसे भगवान् रखें, उसीमें संतोष करो। भगवान्‌का मिलना बड़ा कठिन है। बड़े-बड़े योगी-मुनि दीर्घकालतक तपस्या करके भी उनका दर्शन अनेक जन्मोंके पश्चात् कर पाते हैं।' देवर्षिकी ये बातें सुनकर भी ध्रुवके निश्चयमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। "मुने! आप बड़े कृपालु हैं। आपने जो उपदेश दिया, वह बहुत उत्तम है; परंतु मुझे तो आप

शीघ्र मिल सके' ऐसा उपाय ही बताइये। जिसमे मैं दुर्लभ पद प्राप्त कर सकूँ।'' दृढ़ निष्ठा और निश्चयके साथ ध्रुवने देवर्षिके चरणोंमे नम्र निवेदन किया। ध्रुवके हृदयमे भय और संशयको बिल्कुल स्थान नहीं था। देवर्षिका हृदय ध्रुवकी निष्ठा देखकर पिघल गया।

ध्रुवपर संत-कृपा हुई। देवर्षिने उसे अमोघ आशीर्वाद दिया—''बेटा! तेरा कल्याण होगा। अब तुम श्रीयमुनाजीके तटस्थित मधुवनमे चले जाओ। वहाँ निरन्तर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'—इस द्वादशाक्षर मन्त्रका जाप करो। त्रिकाल यमुनामे स्नान करके सुस्थिर आसनपर बैठ जाना, प्राणायाम करना, चित्तको स्थिर और एकाग्र करके भगवान् विष्णुका ध्यान करना।'' ध्रुव यमुनाजीके किनारे मधुवनमे जा पहुँचे और भगवान्की आराधनामे लग गये। नारदजीकी कृपासे उन्हें विधिका ज्ञान तो हो ही गया था। दिन-पर-दिन वे अपने व्रतको कठोर करने लगे। निर्भय-निर्द्वन्द्व उपासना चलने लगी। भगवान्की कृपापर उनका दृढ विश्वास था। मन, वाणी और शरीर—तीनोंसे वे कृपानिधि भगवान्के साथ एकाकार हो रहे थे।

साधनामे भय और प्रलोभनरूपा बाधाओंका ताँता लग जाता है। ध्रुवके सामने भी बड़ी भयंकर परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। उन्हे डरानेके लिये बड़ी भयावनी राक्षसियाँ आयीं। मायाने माता सुनीतिका रूप धारण कर ध्रुवके सम्मुख प्रकट हो ममताका जाल डालना चाहा। ध्रुवको एकमात्र भगवत्कृपाका आश्रय था। उन्होंने उसकी बाते सुन करके भी अनसुनी कर दीं। वे प्रभुके ध्यानमे मग्न रहे। इतनेमे वहाँ 'मारो, पकड़ो, खा डालो' चिल्लाते हुए भयकर राक्षस प्रकट हो गये। मायामयी माता सुनीतिका आर्तनाद सुनकर भी ध्रुव अपनी साधनामे अटल ही रहे। किसी भी तरहके विघ्न उनकी साधनामे बाधा न डाल सके।

उनकी कठोर तपस्याके छः महीने पूरे होने जा रहे थे। सुरपति घबरा उठे—'कहीं ध्रुव हमारा पद न छीन ले।' देवतालोग पहुँचे भगवान्के पास। भगवान्ने देवताओंको आश्वासन दिया—'ध्रुव मेरा भक्त है, वह किसीका कोई अनिष्ट नही करेगा। मैं उसे दर्शन देकर तृप्त करूँगा।' देवतालोग निर्भय होकर चले गये, परंतु कृपानिधान भगवान् विष्णु अब अपने भक्तका कष्ट सहन नहीं कर पा रहे थे। वे तत्काल गरुड़ारूढ होकर ध्रुवके पास पहुँच गये, परंतु फिर भी ध्रुव अपने ध्यानमे मग्न रहे। भक्तको साध्य तो प्रिय होता ही है, किंतु माध्यमे साधन भी कम प्रिय नहीं लगता। अन्तमे भगवान्को उनके ध्यानसे अपने स्वरूपको हटाना पड़ा, तब कहीं ध्रुवने विकल होकर नेत्र खोले। साक्षात् भगवान्को अपने सामने उपस्थित देखकर ध्रुव तुरंत उनके चरणोंमें लोट गये। प्रेमसे वाणी गद्गद हो गयी, शरीर रोमाञ्चित हो गया और नेत्रोंमे प्रेमाश्रु बहने लगे। उनकी वाणी प्रेमसे अवरुद्ध थी। वे केवल हाथ जोड़े प्रभुके सामने खड़े थे, स्तुति करना चाहते हुए भी स्तुति करनेमे असमर्थ थे। करुणालय भगवान् श्रीहरिने अपना वेदमय शङ्ख ध्रुवके कपोलसे स्पर्श करा दिया। शङ्खका स्पर्श होते ही ध्रुवको दिव्य वाणी प्राप्त हो गयी। सम्पूर्ण वेद-ज्ञान सुलभ हो गया। ध्रुव दिव्य वाणीसे भगवान्की स्तुति करने लगे—

सत्याऽऽशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः।
अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान्॥
(श्रीमद्भा० ४। ९। १७)

'भगवन्! आप परमानन्दमूर्ति हैं—जो लोग ऐसा समझकर निष्काम भावसे आपका निरन्तर भजन करते हैं, उनके लिये राज्यादि भोगोंकी अपेक्षा आपके चरणकमलोंकी प्राप्ति ही भजनका सच्चा फल है। स्वामिन्! यद्यपि बात ऐसी ही है, तो भी गौ जैसे तुरंत जन्मे हुए बछड़ेको दूध पिलाती और व्याघ्रादिसे बचाती रहती है, उसी प्रकार आप भी भक्तोंपर कृपा करनेके लिये निरन्तर आतुर रहनेके कारण हम-जैसे सकाम जीवोंकी भी कामना पूर्ण करके संसार-भयमे उनकी रक्षा करते रहते हैं।'

'प्रभो! आपकी कृपाका क्या कहना! बड़े-बड़े ऋषियो और मुनियोंको भी जिस रूपके दर्शन नहीं होते, आपने उस दिव्य स्वरूपका दर्शन मुझे छः मासके अल्पसमयमे ही दे दिया। अब मैं कृतार्थ हो गया। आपकी विलक्षण कृपा प्राप्त करके अब मेरे चित्तमे कोई कामना नहीं है। मुझे केवल आपके सान्निध्यकी ही इच्छा है।'

'बेटा ध्रुव! तुम्हारे मनमे अब कोई कामना नहीं है, परंतु मेरी आज्ञाका तुम्हें पालन करना ही होगा। मैं तुम्हें जो पद देता हूँ, वह ग्रहण करना होगा। मेरी आज्ञासे तुम्हें राज्यभार सँभालना होगा। ग्रह-नक्षत्रोंसे ऊपर तुम्हें ध्रुव-पद

प्राप्त होगा। जीवनभर तुमपर मेरी अनोखी कृपा बरसती रहेगी। कल्पके अन्तमें तुम मेरे पास ही आओगे, जहाँसे तुम्हें फिर लौटना नहीं होगा।' कृपालु श्रीहरिने ध्रुवको कृपामय आदेश दिया।

भगवान् श्रीहरिके विरहका संताप लेकर राज्यकी कामना न होते हुए भी प्रभुके आदेशानुसार ध्रुव वनसे लौट आये। पितासहित सभी राजपुरुषों एवं सौतेली माँने उनका अभिनन्दन कर आशीर्वाद दिया। सुनीतिने तो आरती उतारते हुए प्रेमाश्रुओंसे अभिषेक किया।

युवावस्थामें ध्रुवने अपने माता-पिताकी आज्ञासे गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया।

ध्रुवके भाई उत्तमको आखेटका दुर्व्यसन था। एक बार वह आखेट करते-करते स्वयं भी एक यक्षका आखेट बन गया। ध्रुव भाई उत्तमके निधनकी जानकारीके लिये वनमें गये। वहाँ उनका यक्षोंसे घमासान युद्ध हुआ। अन्तमें पितामह मनुने युद्धमें आकर भयंकर संहार बंद करवाया। यक्षपति कुबेर भक्त ध्रुवके व्यवहारसे बहुत प्रसन्न हुए। कुबेरने ध्रुवको वरदान देना चाहा, परंतु ध्रुवने उनसे विनम्रतापूर्वक भगवद्भक्तिकी ही याचना की।

ध्रुवने अनेक यज्ञ-यागादि किये। उन्होंने भगवान् शंकरकी भी आराधना कर उन्हें प्रसन्न किया तथा भगवद्भक्तिका ही अमोघ आशीर्वाद प्राप्त किया।

ध्रुवने छत्तीस सहस्र वर्षतक धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन किया। भगवत्प्रेमका उनके जीवनमें उत्तरोत्तर विकास हुआ। अन्त समयमें भगवान्के पार्षद सुनन्द एवं नन्द उन्हें लेने आये और वे विमानपर आरूढ़ हो सदेह भगवद्धामको चले गये।

(३)

अनुगृहीत गजेन्द्र

पाण्ड्यनरेश इन्द्रद्युम्नको शापवश गज-योनिमें जन्म लेना पड़ा था। यशस्वी राजा इन्द्रद्युम्न भगवद्भक्त थे और भगवान्की उपासना करते हुए प्रजापालन करते थे। राजाके लिये शास्त्रोचित आचरण करना धर्मका मुख्य अङ्ग है। एक बार राजा इन्द्रद्युम्नको मनमाना आचरण (प्रजा-पालन, गृहस्थोचित अतिथि-सेवा आदि धर्मका परित्याग करके तपस्वियोंकी तरह एकान्तमें बैठकर उपासना) करनेसे मुनि अगस्त्यका कोप-भाजन होना पड़ा। संत-महात्माओंका कोप भी कृपापूर्ण होता है। मुनि अगस्त्यके कोपके कारण राजा इन्द्रद्युम्नको जडबुद्धि गजकी योनि प्राप्त हुई, परंतु भगवान्की आराधना कभी निष्फल नहीं होती, वे कृपासिन्धु जो ठहरे।

गजेन्द्र बड़ा शक्तिशाली था। वह अनेक बलवान हाथियोंका सरदार था। पर्वतराज त्रिकूटकी तराईका घना जंगल उसका निवासस्थान था। क्षीरसागरमें स्थित उस त्रिकूट-पर्वतकी शोभा निराली थी। उसकी पर्वतमालाएँ रत्नोंकी तरह सुशोभित थीं। उसके तीनों शिखर स्वर्ण, रजत एवं लोहेकी तरह दूरसे ही जगमगाते थे। उसकी कन्दराएँ सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, किंनर एवं अप्सराओंकी विहारस्थली थीं, जो संगीतसे गुंजायमान रहती थीं। भगवान् वरुणदेवका ऋतुमान् नामका उद्यान भी त्रिकूटकी तराईमें ही सुशोभित था, जहाँ देवाङ्गनाएँ क्रीड़ा किया करती थीं। वह उद्यान भाँति-भाँतिके वृक्षोंसे आच्छादित था। उद्यानमें स्थित सरोवरमें नाना प्रकारके कमल-पुष्प खिला करते थे, जिनकी मधुर गन्ध दूर-दूरतक फैलती थी।

मतवाला गजेन्द्र त्रिकूटके जंगलमें निर्भय विचरण किया करता था। जंगलके हिंस्र जन्तु बाघ, गैंडे, शरभ, नाग आदि गजेन्द्रकी गन्धमात्रसे भयभीत होकर भाग जाया करते थे। वह बड़े-बड़े हाथी एवं हथिनियोंसे घिरा हुआ चला करता था। जंगलमें अन्य छोटे-छोटे जानवर खरगोश, हिरण, बंदर आदि गजेन्द्रके रहनेसे निर्भय होकर विचरण करते थे। गजेन्द्रकी चिग्घाड़से पूरा पर्वत गुंजायमान हो उठता था।

एक बार गजेन्द्र अपने कुछ साथियोंके साथ दोपहरकी तेज धूपमें उस पर्वतपर विचरण कर रहा था कि उसे एवं उसके साथियोंको प्यास सताने लगी, जिससे वे व्याकुल हो उठे। दूरसे ही कमल-पुष्पोंकी गन्ध सूँघकर गजेन्द्र अपने यूथके साथ एक सरोवरपर जा पहुँचा। सरोवरके निर्मल नीरने उस पूरे यूथकी व्याकुलताका हरण कर लिया। गजेन्द्रके नायकत्वमें वे सभी हाथी जलक्रीड़ामग्न हो झूम उठे। उन्हें किसीका भी भय न था। गजेन्द्र अपने बलके अहंकारमें डूबा हुआ अपनी सूँड़में जल भर-भरकर अन्य साथियोंपर

उछाल रहा था। भगवान्‌की मायासे मोहित हुआ वह उन्मत्त हो रहा था।

अचानक एक क्रोधी एवं बलवान् ग्राहने उसका पैर पकड़ लिया। गजेन्द्रने अपनी पूरी शक्ति लगाकर अपना पैर छुडानेका प्रयत्न किया, परंतु वह छुड़ा न सका। उसका बल कुछ काम न आया। गजेन्द्रके अन्य साथी हाथी-हथिनियाँ अपने स्वामीको विपत्तिमें फँसा देखकर घबरा उठे। वे व्याकुलतासे चिग्घाड़ने लगे। उन सभीने सूँडोंद्वारा अपनी शक्ति लगाकर गजेन्द्रको छुड़ानेका बहुत प्रयत्न किया, परंतु सब निष्फल रहा।

गजेन्द्र और ग्राह अपनी पूरी शक्ति लगाकर भिड रहे थे। कभी गजेन्द्र ग्राहको जलके बाहर ले आता तो कभी ग्राह गजेन्द्रको पुनः जलके भीतर खींच ले जाता था। इस तरह यह युद्ध वर्षोंतक चलता रहा। ग्राह जलजन्तु था, अतः जलके संयोगसे उसकी शक्ति क्षीण होनेकी अपेक्षा बढती ही थी, परंतु इधर थलचर गजेन्द्रकी शक्ति धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी। गजेन्द्रके सम्मुख निराशाके बादल छाने लगे। उसके बलशाली साथी भी निराश एवं हतोत्साह हो चुके थे। गजेन्द्रको अब किसीसे भी सहायताकी आशा नहीं रही; वह पूर्णरूपसे निराश्रित हो चुका था।

पूर्वजन्मकी साधनाके प्रभावसे गजेन्द्रके हृदयमें भगवत्कृपाका प्रकाश हुआ और उसे दयानिधि भगवान्‌का स्मरण हो आया। उसे लगा, अब मृत्यु एकदम निकट है। वह प्रायः पूर्णरूपसे जलमग्न हो गया था, केवल सूँड़का अग्रभाग जलसे बाहर था। अपने अन्त समयमें उसने भगवत्कृपाका आश्रय ग्रहण किया और भगवान्‌की शरण होकर उन्हें आर्त-स्वरसे पुकारने लगा। अपने पूर्वजन्ममें सीखी हुई स्तुति उसे याद हो आयी। वह अत्यन्त भयभीत होकर प्रार्थना करने लगा—

ॐ नमो भगवते तस्मै यत एतच्चिदात्मकम्।
पुरुषायादिबीजाय परेशायाभिधीमहि ॥

× × ×

मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय
मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय।
स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसि प्रतीत-
प्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते ॥
(श्रीमद्भा० ८। ३। २, १७)

'जिनके प्रवेश करनेपर (जिनकी चेतनताको पाकर) ये जड़ शरीर और मन आदि भी चेतन बन जाते हैं (चेतनकी भाँति व्यवहार करने लगते हैं), 'ॐ' शब्द-द्वारा लक्षित तथा सम्पूर्ण शरीरोंमें प्रकृति एवं पुरुषरूपसे प्रविष्ट हुए उन सर्वसमर्थ परमेश्वरको मैं मन-ही-मन नमन करता हूँ। जो मुझ-जैसे शरणागत पशुतुल्य (अविद्याग्रस्त) जीवकी अविद्यारूप फाँसीको सदाके लिये पूर्णरूपसे काट देनेवाले, अत्यधिक दयालु एवं दया करनेमें कभी आलस्य न करनेवाले हैं, उन नित्यमुक्त प्रभुको नमस्कार है। जो अपने अंशसे सम्पूर्ण जीवोंके मनमें अन्तर्यामीरूपसे प्रकट रहनेवाले हैं, उन सर्वनियन्ता अनन्त परमात्माको नमस्कार है।'

सच्ची पुकार सुनते ही करुणानिधि चक्रधारी भगवान् श्रीहरि गरुड़पर सवार होकर चल पड़े। गरुड़की गति मनसे भी अधिक तीव्र है, किंतु अपने भक्तकी रक्षाके लिये भगवान्‌को यह गति भी मन्द प्रतीत हुई। वे व्याकुल गजेन्द्रकी वेदना सहन न कर सके। भयहारी करुणासिन्धु कूद पड़े गरुड़की पीठ-से और तुरंत गजेन्द्रके सम्मुख प्रकट हो गये। एक क्षणकी देर भी उन्हें सहन कैसे होती ? उन्होंने तुरंत गजेन्द्रको ग्राह-सहित जलके बाहर खींच लिया। कृपालु भगवान्‌ने गजेन्द्र एवं ग्राह दोनोंपर कृपा की। अपने सुदर्शन चक्रसे ग्राहका मुख चीरकर उसे मुक्ति प्रदान की और गजेन्द्रको अपना पार्षद बनाया—

तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य
सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहाद् विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्रं
सम्पश्यतां हरिरमूमुचदुच्छ्रियाणाम् ॥
(श्रीमद्भा० ८। ३। ३३)

तत्पश्चात् प्रभु पार्षदरूप गजेन्द्रको अपने साथ गरुड़पर बैठाकर अपने अलौकिक धामको चले गये।

भगवान्‌की दिव्य वाणी है—

ये मां स्तुवन्त्यनेनाङ्ग प्रतिबुध्य निशात्यये।
तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विमलां मतिम् ॥
(श्रीमद्भा० ८। ४। २५)

'प्यारे गजेन्द्र ! जो लोग ब्राह्ममुहूर्तमें जगकर तुम्हारे द्वारा की हुई इस स्तुतिसे मेरा स्तवन करेंगे, मृत्युके समय उन्हें मैं निर्मल बुद्धि प्रदान करूँगा।'

(४)

अजामिलपर कृपा

अजामिलने कान्यकुब्जनिवासी एक श्रेष्ठ ब्राह्मणकुलमें जन्म लिया था। वह अनेक अलौकिक गुणोंसे सम्पन्न था। शील, सदाचार, विनम्रता, सत्यता, पवित्रता—ये सभी गुण उसमें सहज ही विद्यमान थे। उसने शास्त्रोंका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया था। गुरुजन एवं अतिथियोंकी सेवामें वह कभी त्रुटि नहीं करता था। उसकी वाणीमें संयम था। गुणज्ञ होकर भी अहंकाररहित होना बहुत कठिन है, परंतु उसे तो अहंकार छू भी नहीं गया था।

उसके पिता नित्य यज्ञ किया करते थे। उनके लिये वनसे फल-फूल, समिधा, कुश आदि हवन-पूजनकी समग्र सामग्री वही लाता था। एक दिन वह यज्ञ सामग्री लेकर वनसे लौट रहा था। संयोगवश उसकी दृष्टि एक मनचले शूद्रपर पड़ी। एक कुलटा स्त्री (वेश्या) उससे लिपटी हुई थी। दोनों शराब पीकर मतवाले हो रहे थे। उनके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। उनकी आँखें नशेमें झूम रही थीं। आपसमें तरह-तरहकी-कुचेष्टाएँ चल रही थीं—बड़ा कुत्सित दृश्य था। अजामिलकी दृष्टि जम गयी उस दृश्यपर। क्या ही अच्छा होता, जो वह पलक पड़ते ही आँख फेर लेता; परंतु उसके दुर्भाग्यने उसका साथ दिया, उस दृश्यने उसे मोहित कर लिया। बार-बार उसकी दृष्टि कामवासनाको भड़कानेवाले उस दृश्यपर गयी। अजामिलने अपने मनको बहुत रोका, परंतु कुसङ्ग उसपर अपना प्रबल प्रभाव डाल चुका था। सच है, कुसङ्गने किसका विनाश नहीं किया!

अजामिल मोहाच्छन्न हो चुका था, उसका विवेक कुण्ठित हो गया। वह उस वेश्याके पास जा पहुँचा। अब तो वेश्याकी प्रसन्नता ही अजामिलकी प्रसन्नता थी। वह प्रसन्न रहे, इसके लिये अजामिल अपना घर-बार लुटाने लगा। उस कुलटाकी तिरछी चितवनसे प्रभावित हो वह अपनी विवाहिता पत्नीको भी भूल गया एवं उसका परित्याग कर उस वेश्याके घर ही रहने लगा। अब वेश्याके बड़े कुटुम्बके भरण-पोषणका सारा भार अजामिलपर ही था। कुसङ्गके दुष्परिणामस्वरूप सदाचारी एवं शास्त्रोक्त वर्णाश्रमधर्म-पालक अजामिल आज एक कुलटाके कुटुम्ब-पालनके लिये न्यायसे, अन्यायसे—जिस किसी प्रकार भी धन मिलता, लाता। बहुत दिनोंतक अपवित्र अन्न खाने तथा उस कुलटाका संसर्ग करनेसे अजामिलकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी। अब वह धन सञ्चित करनेके लिये कभी बटोहियोंको बाँधकर उन्हें लूट लेता, कभी लोगोंको जुएमें छलसे हरा देता, कभी किसीका धन चुरा लेता। दूसरे प्राणियोंको सतानेमें अब उसे तनिक भी हिचक नहीं थी। इसी प्रकार पाप कमाते-कमाते अजामिल बूढ़ा हो गया। उस वेश्यासे उसके दस सन्तानें हुईं। उसके सबसे छोटे पुत्रका नाम था 'नारायण'। वृद्ध अजामिल उसे बहुत प्यार करता था। अब वह अधिक समय उस बच्चेको खिलानेमें ही लगाता था। उसके प्रति उसका प्रगाढ़ ममत्व था।

मृत्यु किसको छोड़ती है? अजामिलकी मृत्युका समय भी आया। हाथोंमें फंदे लिये डरावने यमदूत उसे लेने पहुँचे गये। उन भयंकर यमदूतोंको देखकर उसने उच्च स्वरसे अपने प्रिय पुत्र नारायणको पुकारा—'नारायण! नारायण!!' उसके प्राण प्रयाण कर रहे थे।

'नारायण' नामका उच्चारण सुनते ही भगवान् विष्णुके पार्षद तत्काल अजामिलके पास पहुँच गये और उन्होंने बलपूर्वक अजामिलको उन यमदूतोंके पाशसे मुक्त कर दिया। यमदूतोंने बहुत कुछ कहा, परंतु कृपासिन्धुकी कृपा अजामिलपर मानो बरस गयी थी। विष्णुपार्षदोंने कहा—

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणायेति जगाद चतुरक्षरम्॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥
(श्रीमद्भा० ६। २। ८, १८)

'जिस समय इसने 'ना-रा-य-ण'—इन चार अक्षरोंका उच्चारण किया, उसी समय (केवल उतनेसे ही) इस पापीके समस्त पापोंका प्रायश्चित्त हो गया। यमदूतो! जैसे जान या अनजानमें ईंधनसे अग्निका स्पर्श हो जाय तो वह भस्म हो ही जाता है, वैसे ही जान-बूझकर या अनजानमें भगवान्के नामोंका संकीर्तन करनेसे मनुष्यके सारे पाप भस्म हो जाते हैं।'

भगवत्कृपा-प्राप्तिके लिये भगवन्नाम एक अमोघ साधन है। पापी-दुरात्मा अजामिलने 'नारायण' नामके उच्चारण-मात्रसे भगवत्कृपाका अनुभव कर कालान्तरमें विष्णुलोक प्राप्त किया।

को कृपाल संकर सरिस

मृत्युञ्जयकी कृपादृष्टि

करूणामूर्ति जगदम्बा

ज्योतिपतपर श्रीगणेशजीकी कृपा

भगवान् शंकरका कृपा-वैभव

(१)

हलाहल-पान

जरत सकल सुर बृंद बिषम गरल जेहिं पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपालु संकर सरिस ॥
(मानस ४ । ०)

'हे देवाधिदेव महादेव ! हमलोग आपकी शरणमें आये हैं, आप समस्त प्राणियोंके आत्मा एवं जीवनदाता हैं, रक्षक हैं। हे कृपालु प्रभो ! आप ही समस्त शक्तियोंके अधीश्वर और सर्वसमर्थ हैं । सर्वदेवस्वरूप अग्नि आपका मुख है । पृथ्वी आपका चरणकमल है । काल आपकी गति, दिशाएँ कान एवं वरुण रसनेन्द्रिय हैं । आकाश आपकी नाभि, वायु श्वास तथा सूर्य नेत्र हैं। प्रभो ! आपके यथार्थ स्वरूपको सारे लोकपाल यहाँतक कि ब्रह्मा, विष्णु और देवराज इन्द्र भी नहीं जान सकते । हे महेश्वर ! इस कार्य और कारणरूप जगत्‌से परे माया है और मायासे भी अत्यन्त परे आप हैं । आपके परम स्वरूपको हम नहीं जानते । आप अनन्त महिमामय हैं।' समुद्रसे निकले हलाहल विषकी ज्वालाओंसे भयभीत होकर समस्त प्रजापतिगण कैलासपर्वतपर विराजमान भगवान् शंकर एवं सतीजीकी स्तुति करते हुए उनके चरणोंमें प्रणत हो गये।

घटना इस प्रकार है—देवराज इन्द्रके अहंकारसे कुपित महर्षि दुर्वासाके शापवश देवताओंकी शक्ति क्षीण हो गयी थी। भगवान् विष्णुकी आज्ञासे अमृत निकालनेके लिये क्षीरसागर-मन्थनके निमित्त असुरोंको तैयार किया गया । मन्दराचलको मथानी बनाया गया। अमृतमें भाग देनेका प्रलोभन देकर नागराज वासुकिको नेती (वह रज्जु, जिसे मथानीमें लपेटकर मन्थन किया जाता है) बननेके लिये तैयार किया गया और उन्हें मन्दराचलमें लपेटकर समुद्र-मन्थनका शुभारम्भ हुआ। स्वयं भगवान् विष्णु भी इस कार्यमें सहायक थे। वे कूर्मावतार धारण कर मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किये हुए थे । वासुकिको निद्रामग्न रखना, असुरों एवं देवताओंके बाहुओंमें बलका संचार करना—ये तो उनकी अलौकिक कृपामयी क्रीड़ाएँ मात्र थीं। मेघके समान साँवले शरीरपर सुनहला पीताम्बर, कानोंमें बिजलीके समान चमकते हुए कुण्डल, सिरपर लहराते हुए घुँघराले बाल, गलेमें वनमाला—इस मनोमोहक स्वरूपसे वे समुद्र-मन्थनमें भी सहयोग दे रहे थे। समुद्र-मन्थन बड़े वेगसे हो रहा था। अचानक समुद्र उबल पड़ा। जल-जन्तु व्याकुल हो उठे और समुद्रसे हलाहल विष प्रकट हो गया। विषकी ज्वालाएँ समस्त प्राणियोंको दग्ध करने लगीं। सब चिन्तामग्न थे कि इस संकटसे कौन उबारे ? हलाहलको शान्त किये बिना कार्य चालू रखना असम्भव था। केवल भगवान् सदाशिव ही ऐसे थे, जिनकी कृपासे यह संकट दूर हो सकता था। देवताओं एवं प्रजापतियोंकी करुण-पुकारने करुणामय भगवान् श्रीशंकरको तपस्यासे विरत कर दिया । भगवान् शंकर तो कृपावश तीनों लोकोंके अभ्युदय और कल्याणके लिये ही तपस्या कर रहे थे । फिर देवताओं एवं प्रजापतियोंकी दीन पुकार वे कैसे अनसुनी कर सकते थे ?—

तद्वीक्ष्य व्यसनं तासां कृपया भृशपीडितः।
सर्वभूतसुहृद् देव इदमाह सतीं प्रियाम् ॥
(श्रीमद्भा० ८ । ७ । ३६)

प्रजाका यह संकट देखकर समस्त प्राणियोंके अकारण बन्धु देवाधिदेव भगवान् शंकरके हृदयमें कृपावश बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने अपनी प्रिया भगवती सतीसे कहा—'देवि ! समुद्र-मन्थनसे निकले इस हलाहल विषने सभीको त्रस्त कर दिया है। सभीपर प्राणोंकी आ पड़ी है। सज्जन पुरुष, जिनके पास शक्ति और सामर्थ्य है, कभी भी दूसरोंकी सहायतासे मुख नहीं मोड़ते । दूसरोंकी प्राण-रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी आहुति देनेमें भी नहीं चूकते । प्रिये ! मैं इस कालकूटको सम्पूर्ण प्राणियोंकी रक्षाके लिये अभी पी जाऊँगा।'

करुणामूर्ति भगवती जगदम्बा सतीजी भी दूसरोंका दुःख कैसे सहन कर सकती हैं। मातृ-हृदय तो सदैव करुणासे ओत-प्रोत रहता है । भगवती सतीजी भगवान् शंकरके प्रभावको पूर्णरूपसे जानती थीं, अतः उन्होंने पतिदेवके इस कार्यका हृदयसे समर्थन किया।

कृपानिधान भगवान् शंकर देखते-देखते ही प्रजाजनकी रक्षाके लिये उस तीक्ष्ण हलाहल विषका पान कर गये।

उस हलाहल विषने उनके कण्ठको नील वर्णमें परिवर्तित कर दिया, जो ऐसा प्रतीत होता था, मानो प्रभुने कोई आभूषण धारण कर रखा है। विषपायी भगवान् शिव 'नीलकण्ठ' नामसे विभूषित हो गये। तत्काल विषकी ज्वालाएँ शान्त हो गयीं। कृपालु शंकरकी कृपासे देवता एवं अन्य सभीका संकट दूर हो गया। देवताओंमें पुनः उत्साहका संचार हो गया और समुद्र-मन्थन पूर्ववत् आरम्भ हुआ।

भगवान् शंकर सर्वसमर्थ हैं। उनकी अहैतुकी कृपाका सभी गुणगान करते हैं—

निशम्य कर्म तच्छम्भोर्देवदेवस्य मीढुषः।
प्रजा दाक्षायणी ब्रह्मा वैकुण्ठश्च शशंसिरे॥
(श्रीमद्भा० ८। ७। ४५)

'देवाधिदेव भगवान् शंकर सबकी कामना पूर्ण करनेवाले हैं। उनका यह कल्याणकारी अद्भुत कर्म सुनकर सम्पूर्ण प्रजा, दक्षकन्या सती, ब्रह्माजी और स्वयं विष्णु-भगवान् भी उनकी प्रशंसा करने लगे।'

(२)

मार्कण्डेयपर कृपा

उत्तम कुलमें उत्पन्न मृकण्डु मुनि दिव्य गुणोंके भण्डार थे। मुद्गल मुनिकी गुणवती कन्या मरुद्वतीसे उनका विवाह हुआ था। पति-पत्नी सुशील एवं सदाचारसम्पन्न थे। मृकण्डु मुनिने दीर्घकालतक वेदाध्ययन किया था। पति-पत्नी-को किसी वस्तुका अभाव न था, परंतु उनके कोई संतान न थी। वे संतान-प्राप्तिके लिये भगवान् शंकरकी आराधना करने लगे। पिनाकपाणि शंकरको संतुष्ट होते क्या देर लगती, वे तो बड़े दयालु और आशुतोष हैं।

'मुने! मुझसे कोई वर माँगो।' एक दिन भगवान् शंकरने दम्पतिके सम्मुख प्रकट होकर कहा।

'कृपासिन्धो! महेश्वर!! हमारे अबतक कोई संतान नहीं है, एक पुत्र हो जाय, बस, यही मनःकामना है।' मृकण्डु मुनिने बड़ी दीनतासे याचना की।

'मुने! आप गुणहीन चिरंजीवी पुत्र चाहते हैं अथवा एकमात्र सोलह वर्षकी आयुवाला गुणसम्पन्न?' चन्द्रमौलिने मृकण्डुसे पूछा।

'जगदीश्वर! मुझे भक्त, सर्वज्ञ एवं गुणसम्पन्न पुत्र दीजिये।' मुनिने पुनः याचना की। 'तथास्तु' कहकर भगवान् शिव अन्तर्धान हो गये।

हिंदू-संस्कृतिमें संस्कारोंका बड़ा महत्त्व है। मृकण्डु मुनि संस्कार-कर्मोंके मर्मज्ञ थे। उन्होंने विधिपूर्वक गर्भाधान-संस्कार किया। गर्भकालमें मुनिने पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन भी किये। समयपर मरुद्वतीके गर्भसे सूर्यके समान तेजस्वी पुत्रका जन्म हुआ। बालकके जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन आदि सभी संस्कार वेदज्ञ ब्राह्मणोंद्वारा विधिपूर्वक सम्पन्न कराये गये। मृकण्डु मुनिने बालक मार्कण्डेयको विधिपूर्वक वेदोंका अध्ययन करवाया। मार्कण्डेयकी प्रतिभा अत्यन्त प्रखर थी। भगवान् शंकरकी कृपासे उन्होंने अल्प समयमें ही सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर लिया। वे प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक माता-पिताकी सेवा करते थे। बालक मार्कण्डेयकी आयुके पंद्रह वर्ष पूरा होते-होते पिताका हृदय शोकसे व्याकुल हो उठा। 'पिताजी! आप व्याकुल क्यों हैं?' पितृ-भक्त मार्कण्डेय अपने पितासे स्वाभाविक ही पूछ बैठे। 'बेटा! भगवान् शंकरने तुम्हें सोलह वर्षकी ही आयु प्रदान की है। उसकी समाप्तिका समय अब संनिकट है।' मृकण्डुने उत्तर दिया। 'पिताजी! आप शोक न करें। मैं भगवान् शंकरकी कृपासे अमर हो जाऊँगा। प्रलयंकर प्रभु बड़े दयालु हैं। वे कालके भी महाकाल, मृत्युको जीतनेवाले, कालकूट विषको भक्षण करनेवाले एवं औढरदानी हैं।' पितृभक्त मार्कण्डेयने बड़े विश्वासके साथ पिताको आश्वासन दिया। पुत्रकी बात सुनकर माता-पिताको किंचित् धैर्य हुआ। 'बेटा! तुम अवश्य कृपालु शंकरकी शरणमें जाओ। वे सम्पूर्ण विश्वके आश्रय और जगत्‌की रक्षा करनेवाले हैं। वे अपनी महिमासे कभी च्युत होनेवाले नहीं हैं।' माता-पिताने भी मार्कण्डेयको उत्साहित किया।

माता-पिताकी आज्ञा प्राप्तकर मार्कण्डेय दक्षिण-समुद्रके तटपर गये। वहाँ उन्होंने विधिपूर्वक एक शिवलिङ्गकी स्थापना की।

मार्कण्डेय त्रिकाल स्नान करके भगवान् शिवकी पूजा करते और अन्तमें 'महामृत्युंजयस्तोत्र'का पाठ करते। बड़े भक्तिभावसे वे शिवाराधनामें संलग्न रहते। इस प्रकार उनकी आयुके सोलहवें वर्षका अन्तिम दिन आ पहुँचा। वे पूजन समाप्तकर स्तोत्र-पाठ करने ही जा रहे थे कि काल

(यम) उन्हें लेने आ पहुँचा। उसके गोलाकार लाल-लाल नेत्र अत्यन्त डरावने थे। उसकी काली सूरत बड़ी भयंकर लगती थी। वह हाथमे पाश लिये हुए था।

'महामते काल ! मैं महामृत्युजयस्तोत्रका पाठ पूरा कर लूँ, तबतक तुम प्रतीक्षा करो। यह शिवस्तोत्र मुझे बहुत प्रिय है, इसके पूर्ण किये बिना मैं कहीं नहीं जाता।' मार्कण्डेयने कालसे प्रार्थना की।

'अरे ब्रह्मन्! सम्भवतः तुम कालके प्रवाहको नहीं जानते, क्या तुम्हे ज्ञात नहीं, मैं न जाने कितने चक्रवर्ती राजाओं और इन्द्रोंको अपना ग्रास बना चुका हूँ। धूलके कण गिन लेना सम्भव हो सकता है, पर मेरे ग्रासोंको गिनना कठिन है। मैं कभी किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता।' कालने क्रुद्ध होकर मार्कण्डेयसे कहा।

'कालदेव ! सावधान, भगवान् शिवके भक्तोंपर मृत्यु, यमराज, यमदूत तथा दूसरे कोई भी अपना प्रभुत्व नहीं जमा सकते। भगवान् शिवकी स्तुतिमें विघ्न डालनेवालेका शीघ्र नाश हो जाता है। भला, भगवान् नीलकण्ठके लिये कौन-सा कार्य दुष्कर है।' मार्कण्डेयने पुनः प्रार्थना की; परंतु कुपित कालदेवपर कोई प्रभाव न पड़ा और वह मार्कण्डेयको निगलनेके लिये झपटा।

परम कृपालु शंकर तत्काल शिवलिङ्गसे प्रकट हो गये। उनके मस्तकपर अमृतस्रावी अर्धचन्द्रका मुकुट शोभायमान था, उनकी अवस्था एवं रूपकी शोभा अवर्णनीय थी। भगवान् महादेवने हुंकार भरकर कालदेवकी छातीपर चरण-प्रहार किया। उस प्रहारसे आहत हो काल तुरंत दूर जा गिरा।

मार्कण्डेय भगवान् शंकरको सम्मुख उपस्थित देख गद्गद हो चरणोंमे गिर पड़े और 'मृत्युंजय-स्तोत्र'से* उनका स्तवन करने लगे।

कृपालु भगवान् शंकरने प्रसन्न हो मार्कण्डेयको अनेक कल्पोंकी आयु प्रदान की।

(३)

आहुक-दम्पतिपर कृपा

अर्बुदाचलके समीप आहुक नामक एक भील रहता था। उसकी पत्नीका नाम था आहुका। पति-पत्नीका स्वभाव सात्त्विक था तथा दोनों ही शिवके अनन्य-भक्त थे। वे निरन्तर बड़ी तत्परतासे भगवान् शंकरकी आराधनामे संलग्न रहते तथा वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए जीवन-यापन करते थे। उत्तम व्रतोंका पालन करना उनके जीवनका सहज-स्वाभाविक लक्ष्य था, जिसमे वे कभी नहीं चूकते थे।

एक दिन कृपालु भगवान् शंकरने उनकी परीक्षा लेनेकी सोची और उन्होंने एक यतिका रूप धारण किया। भगवान् शंकरका यही यतिरूप उनका 'यतिनाथ' अवतार कहलाता है। एक दिन संध्यासमय वे यतिरूपमे भक्तिमती आहुकाके यहाँ पहुँचे। शिव-भक्त आहुक उस समय आहार लेकर घर लौटे थे। दम्पतिने बड़े प्रेमसे यतिदेवका पूजन कर उनका आतिथ्य किया। यतिनाथने बड़ी विनम्रतासे उनसे रात्रिभरके लिये आवासकी याचना की। भक्त आहुककी झोंपड़ी बहुत ही छोटी थी, जिसमे दो व्यक्तिसे अधिक सो नहीं सकते थे। अब तो आहुकके लिये एक बहुत बड़ा धर्म-संकट उपस्थित हो गया। वह कुछ भी निर्णय न ले सका और मौन रहा। यतीश्वर जानेको उद्यत हो गये। भक्तिमती आहुकाको यह बात अच्छी न लगी। घरमे आये हुए अतिथिका निराश होकर लौटना गृहस्थके लिये एक अधर्मकी बात होगी। उसने अपने पतिसे प्रार्थना की—'नाथ! आप और यतीश्वर कुटियामे सोयें, मैं घरके बाहर शस्त्र लेकर प्रहरीका कार्य करूँगी।' आहुकको अपनी पत्नीकी अतिथि-सत्कारकी भावनासे प्रेरणा मिली। उसके मनका संकोच दूर हो गया। उसने यतीश्वरको बड़ी दीनतासे प्रार्थना करके जानेसे रोका। आहुकने यतीश्वर एवं अपनी धर्मपत्नीको घरके अंदर सुला दिया तथा स्वयं बाहर पहरा देने लगा।

रात्रिमे हिंसक पशुओंने आहुकपर आक्रमण किया। भगवान् शंकरका विधान तो पहलेसे ही निश्चित था। हिंसक पशुओंने आहुकको मार दिया। प्रातःकाल आहुका उठी और बाहर आकर देखा तो उसे अपने पति मृतक दिखायी पड़े। यतीश्वरको भी भीलके इस तरह अपने लिये मरनेका बहुत दुःख हुआ। पतिव्रता आहुकाने धैर्य नहीं छोड़ा। उसका एकमात्र आधार तो उसका पति ही था। उसने यतीश्वरके

* 'मृत्युजयस्तोत्र' बड़ा प्रभावशाली तथा अनुभूत है, इसके प्रयोगसे आश्चर्यजनक सफलताके कई उदाहरण मिले हैं। यह स्तोत्र 'कल्याण' के 'भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क' नामक विशेषाङ्कके पृष्ठ ६२० पर प्रकाशित है।

चरणोंमे प्रणाम किया और उनसे प्रार्थना की—'स्वामिन्! आप कृपा कर धर्म-पालनमे मेरे सहायक बनें। पतिका अनुगमन ही भारतीय पतिप्राणा नारियोंका धर्म है। मेरे पति मेरे सर्वस्व थे, अब मुझे सती होना है। आप चिता तैयार करनेमे मुझे सहयोग दे, जिससे मैं अपने पतिके साथ सती हो जाऊँ; क्योकि यही मेरे लिये परम सौभाग्यकी बात होगी।' यतिदेवने एक चिता तैयार कर दी। भीलनीने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक भीलके मृतक शरीरके साथ उस चितामे प्रवेश किया। भीलनीके चितामे प्रवेश करते ही भगवान् शंकर यतिरूपको छोड़कर अपने वास्तविक रूपमे प्रकट हो गये। भीलनी आहुका आराध्यदेवको अपने सामने प्रत्यक्ष खड़ा देखकर गद्गद हो उठी। वह अपने मनकी सारी व्याकुलता भूल गयी। भगवान् शंकरके सामने अपने पतिदेवके साथ इस तरहकी मृत्युको उसने अपना परम सौभाग्य माना। कृपासिन्धु भगवान् शंकरने उससे इच्छानुसार वर माँगनेका आग्रह किया, परतु उसे अब कुछ माँगनेकी सुध ही नहीं रही। उसने हँसते हुए मृत्युका वरण किया।

यही आहुक अगले जन्ममे निषधदेशके अवधपति महाराज वीरसेनके पुत्र नल हुए। नल गुण एवं रूप-सौन्दर्यमे अद्वितीय थे। उनके रूप-वैभवके सम्मुख कामदेव भी लज्जित था। उधर आहुकाने दमयन्ती नामक कन्याके रूपमे विदर्भराज भीमके यहाँ जन्म लिया। वह भी गुण और सौन्दर्यमें अद्वितीय थी। उसके गुण एवं रूपपर देवता लोग भी मुग्ध थे। दयालु भगवान् शंकर अपने निज-जन आहुक दम्पतिको अभी भी नहीं भूले थे। उन्होने 'हंस'रूपमे अवतार लिया। हंसका स्वर्णमय रूप बड़ा मनोहर था। हंसने नल एवं दमयन्ती दोनोंके पास जाकर उनके गुण एवं रूप-सौन्दर्यका वर्णन किया और उन दोनोंका एक दूसरेके प्रति पूर्ण राग उत्पन्न कर दिया। कालान्तरमे नल-दमयन्तीका विवाह हुआ। एक बार कलियुग इनपर अकारण कुपित हो गया; किंतु उसकी एक भी न चली। अन्तमें उसे हार ही नहीं खानी पड़ी, अपितु आजतक वह इनके नामसे डरता है। नल दमयन्तीके कथा-कीर्तनसे ही कलियुग दूर रहता है।

नल-दमयन्तीने भगवान् शंकरकी कृपासे बहुत कालतक राज-वैभवका सुख भोगा। अन्तमे उन्हे शिवजीकी कृपासे शिव-लोककी प्राप्ति हुई।

(४)

नभगपर कृपा

भक्त नभग राजा अम्बरीषके पितामह थे। वे बड़े कुशाग्रबुद्धि एवं अध्यवसायी थे। वे गुरुकुलमे विद्याध्ययन करने गये और विद्यामे रुचि होनेके कारण वे दीर्घकालतक अध्ययन करते रहे। इन्द्रियसंयम तो उन दिनों विद्यार्थियोंका मुख्य लक्ष्य था ही। नभगके दीर्घकालिक प्रवासके समय उनके भाइयोंने अपने पिता श्राद्धदेवके राज्य एव सम्पत्तिको आपसमे बाँट लिया। उन्होंने नभगके हिस्सेकी तनिक भी चिन्ता नही की और न उनके हिस्सेमे ही कुछ छोड़ा। सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करनेके पश्चात् नभग जब अपने घर लौटे, तब हिस्सेके नामपर भाइयोंने उन्हे कुछ भी नही दिया। भाइयोंने नभगको दिखावटी प्रेम प्रदर्शन करते हुए सफाई दी—'भैया! हम तो तुम्हें बँटवारेके समय एकदम भूल ही गये। अब तुम अपने हिस्सेमें पिताजीको ग्रहण कर लो।' नभगने झगड़ा करना उचित नहीं समझा। वे संतोषपूर्वक अपने पिताजीकी सेवामे लग गये। श्राद्धदेवके पास सम्पत्तिके नामपर कुछ भी न बचा था, वे अपने पुत्र नभगको क्या देते? माता-पिताकी सेवा अमोघ होती है। एक दिन श्राद्धदेवने कहा—'बेटा नभग! अङ्गिरसगोत्रीय ब्राह्मण एक बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे हैं, परंतु वे लोग यज्ञके अन्तिम दिनकी विधिमे कुछ भूल कर जाते हैं। तुम उनके पास जाओ और उनकी सहायता करो।' नभग पिताजीकी आज्ञा शिरोधार्य कर ब्राह्मणोंके पास गये और उन्होने उनका यज्ञ बहुत ही विधिपूर्वक सम्पन्न करवाया। ब्राह्मण लोग नभगपर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होने यज्ञसे बचा हुआ बहुत-सा धन नभगको दे दिया।

भगवान् शंकर बड़े कृपालु हैं। यज्ञके शेष भागपर सदैव उनका ही अधिकार होता है। दयामय भगवान् शंकर बड़े ही मनोहर वेषमें वहाँ प्रकट हुए। उस समय उनकी शोभा बड़ी निराली थी। यज्ञशेष धनको ग्रहण करते समय भगवान् शंकरने नभगसे पूछा—'भैया! तुम कौन हो? यह धन तो मेरा है। तुम्हारा इसपर कोई अधिकार नही है।' नभगने भगवान् शंकरको उस वेषमे पहचाना नहीं। उन्होंने कहा—'यह धन तो ब्राह्मणोने मुझे प्रदान किया है, अतः इसपर किसी दूसरेका अधिकार कैसे हो सकता है?' भगवान् शंकर बोले—'तुम अपने पितासे इस बातका निर्णय करा लो कि यह धन किसका है?'

नभग अपने पिताके पास आये और उन्होंने पूरी बात सुना दी। श्राद्धदेवको प्रजापति दक्षके यज्ञका इतिहास स्मरण हो आया। उन्होंने मन-ही-मन भगवान् शंकरको प्रणाम किया और कहा—'बेटा! वे और कोई नहीं हो सकते, साक्षात् भगवान् शंकर ही होंगे, जो तुमपर कृपा करने पधारे हैं। यह सम्पूर्ण विश्व ही उनकी सम्पत्ति है, जिसमें यज्ञसे बचा हुआ भाग तो निश्चय ही उनका होता है। अपने अपराधके लिये तुम उनसे क्षमा-याचना करो। कृपालु शंकर तुमपर अवश्य ही शीघ्र कृपा करेंगे। उनका प्राकट्य कृपावैभव-विस्तारके लिये ही होता है।'

नभग लौट आये भगवान् शंकरके पास। वे आते ही उनके चरणोंमें नतमस्तक हो गये और बोले—'प्रभो! मुझ अज्ञानीका अपराध क्षमा करें। मैं तो निरा मूर्ख हूँ। यह समस्त ब्रह्माण्ड ही आपकी सम्पत्ति है, फिर यज्ञावशिष्टकी तो बात ही क्या है?'—ऐसा कहकर नभग चन्द्रमौलिका स्तवन करने लगे।

भगवान् शंकर तो ठहरे भोलेबाबा। वे नभगकी दीन वाणीमात्रसे प्रसन्न हो गये। इतनेमें ही नभगके पिता श्राद्धदेव भी वहाँ आ पहुँचे।

अब भगवान्का कृपाकटाक्ष नभगपर पड़ा, उन्होंने अपना अमोघ आशीर्वाद दिया—'नभग! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। मैं तुम्हें दुर्लभ सनातन ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान प्रदान करता हूँ। तुम अभी तो इस संसारमें रहकर धर्मपूर्वक सुखोंका भोग करो। अन्त समयमें मेरी कृपासे तुम्हें मेरा दिव्य धाम मिलेगा।'

नभग अपने पिता श्राद्धदेवके साथ लौट आये। शिव-कृपासे उन्हें विपुल वैभव प्राप्त हुआ। उसका उपभोग करनेके पश्चात् अन्त समयमें उन्हें दिव्य कैलासवास मिला।

(५)

उपमन्युपर कृपा

उपमन्यु मुनिवर व्याघ्रपादके सुपुत्र थे। पूर्वजन्ममें वे साधनाकी बड़ी उच्चस्थितिको प्राप्त थे। अपनी शैशवावस्थामें वे एक बार अपने मामाके आश्रमपर गये। वहाँ उन्हें गायका थोड़ा-सा दूध पीनेको दिया गया। उनके ही सामने उनके ममेरे भाईने भरपेट दूध पिया। यद्यपि बालक उपमन्युका वहाँ कुछ वश न चला, परंतु दूध पीनेके लिये उनका मन बहुत छटपटाया। वे दुःखी मनसे अपनी माँके पास आये और बोले—'माँ! मुझे भी गरम-गरम दूध पीनेको दो, मुझे भूख लगी है।' माँके पास कुछ भी सम्पत्ति नहीं थी, वह बड़ी दीन दशामें थी। किसी तरह भिक्षा माँगकर बालकका पोषण करती थी। वह दुःखी उपमन्युको भुलावेमें डालने लगी; परंतु उपमन्युने दूध लेनेकी हठ ठान ली और रोने लगे। अन्तमें उनकी माँ कुछ बीज माँगकर ले आयी और उन्हें पीसकर उनमें कुछ पानी डाला। इस प्रकार बेटे उपमन्युको अपने कृत्रिम दूधसे प्रसन्न करना चाहा, किंतु उपमन्यु तो मामाके यहाँ असली गायके दूधका आस्वादन कर चुके थे, अतः व्याकुल होकर रोते हुए बोले—'माँ! तू मुझसे क्यों चिढ़ा रही है? यह दूध तो है नहीं।' बेटेकी करुण वाणी सुनकर माता कराह उठी और बोली—'बेटा! हम वनमें रहनेवाले हैं, अपने पास कुछ सम्पत्ति तो है नहीं, फिर दूध कहाँसे लाऊँ? सचमुच यह तो कृत्रिम दूध है। बेटा! असली दूध तो भगवान् शंकरकी कृपासे ही मिल सकता है। पूर्वजन्ममें जो कुछ भगवान् शंकर अथवा विष्णुके उद्देश्यसे किया जाता है, वही वर्तमान जन्ममें मिलता है। बेटा! यदि तुम्हें दूध चाहिये तो तुम उनसे ही माँगो, वे सब कुछ देनेमें समर्थ हैं।'

उपमन्युने माँकी बात ध्यानपूर्वक सुनी और कहा—'माँ! भगवान् शिव एवं माता पार्वती तो आज भी विद्यमान हैं, फिर मुझे चिन्ता किस बातकी? मैं भगवान् शंकरकी कृपासे क्षीरसागर भी प्राप्त कर सकता हूँ, मुझे आज्ञा दो, मैं हिमालयपर जाकर उनकी आराधना करूँगा।'

शिवभक्ता माताका हृदय अपने बेटेकी बात सुनकर प्रसन्न हो उठा। वह बोली—''बेटा! भगवान् शंकर बड़े कृपालु हैं। वे शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं। तुम जाकर 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रका जप करो। यह मन्त्र अनन्त शक्तिसम्पन्न है। प्रणवसहित दूसरे समस्त मन्त्र इसीमें लीन होते हैं। यह मन्त्र सबकी रक्षा करनेमें समर्थ है। इस मन्त्रका जप करनेसे सब कुछ सुलभ हो जाता है, यह बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंका निवारण करनेवाला है। तुम जाओ और इस पञ्चाक्षर मन्त्रका निष्ठासहित जप करो। तुम्हारा कल्याण हो।''

उपमन्युने माँके चरणोंमें प्रणाम कर हिमालय पर्वतकी ओर प्रस्थान किया। उपमन्युके हृदयमें आराधनाकी दृढ़ लगन थी, उन्होंने पर्वतके एक निर्जन स्थानमें पहुँचकर

भगवान् शंकरके एक छोटे-से मन्दिरका निर्माण किया। उसमें मिट्टीका एक शिवलिङ्ग स्थापित किया और माता पार्वती एवं गणोंसहित भगवान् शंकरका आवाहन करके जंगलके पत्र-पुष्प एकत्र कर माताद्वारा प्राप्त पञ्चाक्षर मन्त्रसे अपने आराध्यका पूजन करना आरम्भ किया। उन्होंने सब इन्द्रियोंको वशमें कर मनको भगवान् शिवके ध्यानमें एकाग्र कर दिया। उपमन्युकी जिह्वा निरन्तर 'ॐ नमः शिवाय'के जपमें लगी थी। दुष्ट राक्षसोंके विघ्न भी उन्हें तपस्यासे न डिगा सके।

सभी देवता उपमन्युकी तपस्यासे प्रसन्न हो गये और उन्होंने भगवान् शंकरसे प्रार्थना की—'प्रभो! उपमन्युपर अपनी कृपासुधाकी वर्षा कीजिये।' कृपासिन्धु भगवान् शंकर तो उपमन्युकी भक्ति और भी दृढ़ करना चाहते थे। वे उन्हें केवल दूधसे ही तृप्त नहीं करना चाहते थे, प्रत्युत स्वयं अपने-आपको भी दे देना चाहते थे। उपमन्युको दृढ़ करनेके लिये कृपासिन्धु शंकरने 'सुरेश्वरावतार' धारण किया। नन्दीश्वर वृषभने ऐरावत गजका, माता पार्वतीने शचीदेवीका और अन्य गणोंने विभिन्न देवताओंका रूप धारण किया। सुरेशावतार भगवान् शंकर इन्द्रके रूपमें ऐरावतपर चढ़कर उपमन्युके पास पहुँचे और बोले—'बेटा उपमन्यु! मैं तुमपर अनुग्रह करने आया हूँ। मैं तुम्हारी आराधनासे बहुत संतुष्ट हूँ। तुम वर माँगो, मैं तुम्हें सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुएँ दूँगा।'

'शचीनाथ! देवेश्वर!! मेरे अहोभाग्य हैं, जो आपने इस दासको याद किया। प्रभो! आप मुझे शिवभक्ति प्रदान करें। परमात्मा महादेवके चरणोंमें निरन्तर मेरी प्रीति बढ़ती रहे, यही आशीर्वाद मुझे दें।' उपमन्यु देवेश्वरके चरणोंमें नतमस्तक हो गये।

'उस निर्गुण रुद्रकी उपासना! उस मुण्डमालाधारी, पिशाचप्रेमीसे तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? मैं देवेश्वर हूँ, सब प्रकारसे तुम्हारा कल्याण कर सकता हूँ। तुम मेरे शरणागत होकर शिवाराधनका त्याग करो।' सुरेशावतारने बड़े प्रेमसे उपमन्युको समझाया।

अपने आराध्य महादेव शंकरका उपहास उपमन्यु सहन न कर सके। उन्होंने तत्काल भस्म उठायी और उसे अभिमन्त्रित कर शिव-निन्दक इन्द्रको नष्ट करनेके लिये अघोरास्त्रका आवाहन किया तथा शिवचरणोंका ध्यान करते हुए स्वयंको भी दग्ध करनेके हेतु उद्यत हो गये।

भक्त उपमन्युकी परीक्षा समाप्त हो गयी। भगवान् शंकर माँ पार्वती एवं नन्दी आदि गणोंसहित अपने वास्तविक रूपमें प्रकट हो गये। नन्दीश्वरने अघोरास्त्रको तुरंत रोक दिया। वे अपने प्रिय भक्तको भी दग्ध कैसे होने देते?

'बेटा उपमन्यु! मैं प्रसन्न हूँ। मैं ही तो तुम्हारा जनक हूँ और यह पार्वती ही तुम्हारी माता है। केवल दूध ही क्यों? सुधा, दधि, घृत, समस्त भोज्य पदार्थ तुम्हारे लिये आजसे सुलभ हैं।' चन्द्रमौलिने उपमन्युको आशीर्वाद दिया।

साक्षात् भगवान् शिव-पार्वतीको अपने सम्मुख वृषभारूढ़ देखकर उपमन्यु दण्डकी भाँति उनके चरणोंमें लेट गये, दीनवत्सल महादेवने प्रिय उपमन्युको गले लगाकर माता पार्वतीकी गोदमें डाल दिया। दयामूर्ति माता पार्वतीने उपमन्युको योगजनित ऐश्वर्य, संतोष, अविनाशिनी ब्रह्मविद्या और उत्तम समृद्धि प्रदान की। इधर औढरदानीको इतनेसे संतोष नहीं हुआ। उन्होंने उपमन्युको पाशुपतव्रत, पाशुपत ज्ञान, तात्त्विक व्रतयोग तथा प्रवचनकी परम पटुता भी प्रदान की।

उपमन्युने तो अपने आराध्यसे केवल अव्यभिचारिणी भक्ति माँगी थी; परंतु उन्होंने उसे अजर-अमर, दुःखरहित और दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न होनेका आशीर्वाद भी दिया। कृपालु शंकरके अनन्त कृपा-वैभवका अनुभव कर उपमन्यु कृतकृत्य हो गये।

(५)

अर्जुनपर कृपा

कौरवोंद्वारा अपमानित पाण्डव साध्वी द्रौपदीसहित द्वैतवनमें अपने वनवासकी अवधि व्यतीत कर रहे थे। दुष्ट दुर्योधनने महर्षि दुर्वासाको प्रेरितकर पाण्डवोंके पास भेजनेकी छलपूर्ण चाल चली थी। महर्षि अपने दस हजार शिष्योंसहित वनमें पाण्डवोंका आतिथ्य ग्रहण करने हेतु जा पहुँचे। अन्नाभावके कारण पाण्डवोंपर भीषण संकट आ पड़ा था, परंतु भक्तिमती द्रौपदीके आवाहनपर कृपासिन्धु श्रीकृष्णने प्रकट होकर तुरंत ही उनका वह संकट दूर कर दिया। भगवान् श्रीकृष्ण तो

त्रिकालज्ञ ठहरे, उन्होंने अपने सखा अर्जुनपर निकट भविष्यमें आनेवाले भीषण संकटके बादलोंको पहले ही जान लिया। अतः उन्होंने अपने सखाको शीघ्र प्रसन्न हो जानेवाले कृपालु भोलेनाथकी आराधना करनेका सुझाव दिया।

सखा श्रीकृष्णकी सम्मतिसे मन्दाकिनीके पावन तटपर पाण्डुनन्दन अर्जुन भगवान् व्यासदेवद्वारा बतायी गयी आराधना-विधिके अनुसार सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर नियन्त्रण कर भगवान् शंकरकी आराधनामें संलग्न हो गये।

उधर दुर्योधनने अर्जुनकी आराधनामें विघ्न डालनेकी नयी चाल चली। उसने मूल नामक मायावी दैत्यको इस कार्यके लिये सहमत किया। वह शूकरका रूप धारणकर वृक्षोंको रौंदता हुआ बड़े वेगसे उस क्षेत्रकी ओर दौड़ा, जहाँ अर्जुन आराधनारत थे। अर्जुनने शूकरवेषधारी असुरको अपनी ओर आते हुए देखा। उसकी दृष्टिमात्रसे ही वे समझ गये कि वह मुझे मारनेके लिये आ रहा है। उन्होंने तुरंत भगवान् शंकरके चरणोंका ध्यान किया।

कृपासिन्धु भगवान् शंकरसे क्या छिपा था! अर्जुनका भावी संकट उन्हें पूर्व ही ज्ञात था। वे अपने आराधकपर संकट कैसे सहन कर सकते थे! अतः जटाजूट-सर्पधारी चन्द्रमौलिने अद्भुत किरातका रूप धारण किया। शरीरपर श्वेत धारियाँ, पीठपर बाणोंसे भरा तरकस, हाथमें धनुष-बाण धारण किये हुए किरातावतार भगवान् शंकरकी शोभा बड़ी ही अद्भुत थी।

यदि कभी वे परीक्षाके लिये भक्तको कष्टमें डाल भी देते हैं तो अन्तमें दयालु स्वभाव होनेके कारण वे ही उसके त्राणदाता भी होते हैं। फिर तो वह भक्त उसी प्रकार निर्मल हो जाता है, जैसे आगमें तपाया हुआ कंचन। शूकर अब अर्जुनके पास पहुँच चुका था। किरातवेषधारी शंकर भी धनुषपर बाण चढ़ाये उसके पीछे-पीछे पहुँच गये। जैसे ही शूकर अर्जुनपर झपटा, भगवान् शंकरने अपना बाण उसपर छोड़ दिया, उधर अर्जुनने भी धनुर्ज्याको आकर्णान्त खींचकर उसपर अपना शर छोड़ दिया। भगवान् शंकरका बाण शूकरके पुच्छभागसे प्रवेश करता हुआ मुखसे होकर निकल गया और अर्जुनका शर उसके मुखभागसे प्रवेश कर उपस्थको चीरता हुआ बाहर निकल गया। वह शूकररूपधारी दानव उसी क्षण धराशायी हो गया और भगवान् शंकरके कृपाप्रसादसे मोक्षको प्राप्त हो गया। अन्तिम क्षणोंमें उसका वास्तविक शरीर प्रकट हो गया।

भगवान् शंकरने भिन्न-भिन्न प्रकारसे उसी समय वीर अर्जुनकी परीक्षा ली। यहाँतक कि वे अर्जुनके साथ युद्धस्थलमें भी उतर गये। अन्तमें अर्जुन भगवान् शंकरको पहचानकर उनकी इस प्रकार वन्दना करने लगे—'देवाधिदेव महादेव! आप तो बड़े कृपालु तथा भक्तोंके कल्याणकर्ता हैं। सर्वेश! आपको मेरा अपराध क्षमा करना ही पड़ेगा।'

कृपालु शंकर निजजनका अपराध कभी देखते ही नहीं। अन्तमें उन्होंने अर्जुनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर उन्हें अपना पाशुपत नामक अस्त्र प्रदान किया, जिसे प्राप्तकर अर्जुन अजेय हो गये। (इ० कृ० दु०)

कृपालु भगवान् शंकरकी महिमा

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥
यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥

(श्वेताश्वतर-उपनिषद् ३।२; ४।१८)

'एक रुद्र ही हैं, जो इन सब लोकोंको अपनी शक्तिसे वशमें रखते हैं, अतएव वे ईश्वर हैं, उन्हींकी सब उपासना करते हैं, वे सब लोकोंको उत्पन्न कर अन्तकालमें संहार भी करते हैं, वे ही सबके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। सृष्टिके आदिकालमें जब केवल अन्धकार-ही-अन्धकार था, न दिन था, न रात्रि थी, न सत् (कारण) था, न असत् (कार्य), केवल एक निर्विकार शिव ही विद्यमान थे। वे ही अक्षर हैं, वे ही सबके जनक एवं परमेश्वरके प्रार्थनीयस्वरूप हैं, उन्हींसे ज्ञानविद्या प्रकट हुई है।'

भगवती जगदम्बाका कृपा-कटाक्ष

(१)

देवताओंपर कृपा

रम्भका पुत्र महिषासुर असुरोंका सम्राट् था। रम्भने अग्निदेवकी आराधनाके द्वारा ऐसा बलशाली पुत्र प्राप्त किया था। महिषासुरने भी बड़ी कठोर तपस्या की। उसके कठोर तपको देखकर देवता भी आश्चर्यचकित हो गये थे। अन्तमें महिषासुरके आराध्य ब्रह्माजीने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया।

'पुत्र! मैं तुमपर पूर्ण प्रसन्न हूँ, वर माँगो।' ब्रह्माजीने महिषासुरसे कहा।

'देवाधिदेव! मुझे मृत्युसे निर्भय करते हुए अमरत्व प्रदान कीजिये।' महिषासुरने प्रसन्नतासे याचना की।

'बेटा! जन्मे हुए प्राणीकी मृत्यु निश्चित है। इसपर मेरा कोई वश नहीं। तुम कोई दूसरा वर माँग सकते हो।' पितामहने कहा।

'प्रभो! कम-से-कम मैं किसी पुरुषद्वारा वध्य न होऊँ। हाँ, स्त्री तो स्वयं ही अबला होती है, उसका मुझे कोई भय नहीं है।' महिषासुरने पुनः याचना की।

'बेटा! कोई पुरुष तुम्हें मार नहीं सकेगा।' पितामहने उसे वर प्रदान किया।

वर प्राप्त करनेके पश्चात् दैत्यराज महिषासुरके अभिमानकी सीमा न रही। समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीपर उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। उसके अत्याचारसे तपस्वी, ब्राह्मण आदि सभीने भयभीत होकर उसे यज्ञमें भाग देना स्वीकार कर लिया था। अखिल भूमण्डलपर अधिकार करनेके उपरान्त महिषासुरकी दृष्टि स्वर्गलोकपर गयी। उसने अपनी विशाल दैत्य-सेना लेकर देवराज इन्द्रपर चढ़ाई कर दी। घमासान युद्ध हुआ। देवराज परास्त होने लगे। वे देवगुरु बृहस्पतिजीके पास गये, परंतु उनके पास भी कोई उपाय न था, उन्होंने यही कहा—'देवराज! उद्यमसे कभी भी हटना नहीं चाहिये। कोई सुखी होना चाहे तो संतोषका आश्रय ले। संतोषके अतिरिक्त सुखका साधन और कोई नहीं है। यत्न करनेपर भी जो होनहार होगा, वह तो सामने आयेगा ही।' देवराज इन्द्र लगातार महिषासुरसे परास्त होते ही गये। उन्होंने भागकर ब्रह्माजी एवं भगवान् शंकरकी शरण ली। अन्तमें वे सभी लोग एक साथ वैकुण्ठमें भगवान् विष्णुके पास गये और देवताओंकी विजयके लिये प्रार्थना करने लगे—'करुणासिन्धु भगवन्! अब हमारी रक्षाका उपाय एकमात्र आपके ही हाथ है। आप ही पूर्ण सामर्थ्यवान् हैं। प्रभो! आप तो महिषासुरको ब्रह्माजीद्वारा प्रदत्त वरदानकी बात जानते हैं।'

दयासिन्धुने सभी देवताओंको रक्षाका आश्वासन दिया और तुरंत ही उनके दिव्य तेजसे महाशक्ति भगवती महादेवी दुर्गाके रूपमें प्रकट हो गयी। भगवान् विष्णुने सभी देवताओंसे उन अठारह भुजाओंवाली देवीको अपना-अपना शस्त्र प्रदान करनेके लिये कहा। सभी देवताओंने अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र, आभूषण एवं वस्त्र देवीको प्रदान किये। तत्पश्चात् देवतालोग भगवती देवीसे प्रार्थना करने लगे—'अपने सेवकोंपर कृपा करनेवाली देवि! हम सब आपकी शरण हैं। आप समस्त भूमण्डलके बाहर-भीतर व्याप्त हैं, मायाके अंदर प्रविष्ट होते हुए भी आप उससे अज्ञात हैं तथा अन्तःकरणमें रहकर उस मायाको प्रेरित करनेमें उद्यत रहती हैं। हे कल्याणस्वरूपिणी, अजन्मा जगदम्बे! आपको प्रणाम है। हे भगवति! दानवोंद्वारा सताये गये हमलोगोंपर कृपा कर हमारी रक्षा कीजिये।'

उनकी प्रार्थना सुनकर कृपामयी भगवतीने कहा—'देवताओ! अब आपलोग निर्भय हो जाइये।' भगवती दुर्गाने तारस्वरसे हुंकार किया। उनकी उस गर्जनासे दसों दिशाएँ गूँज उठीं। वह गगनभेदी हुंकार महिषासुरके कानोंमें भी पड़ी। उसने अपने दूतोंको उस ध्वनिका पता लगानेके लिये चारों दिशाओंमें भेजा। दूतोंने कल्याणमयी भगवतीका दर्शन कर उनकी अमित शक्तिकी बात महिषासुरसे जा कही। महिषासुर अपने अहंकारमें चूर था। उसने अपनी चतुरंगिणी सेना इकट्ठी की और भगवती चण्डिकासे युद्धके लिये प्रस्थान किया। वह देवीके दिव्य तेजको देखते ही

विमुग्ध हो गया। भगवती चण्डिकाने महिषासुरको समझाया कि वह स्वर्गलोक एवं पृथ्वीलोकको छोड़कर पाताललोकमें चला जाय, किंतु वे हितकारिणी बातें उस महान् अहंकारीको रुचिकर न लगीं। वह सोच रहा था कि संसारकी कोई भी अबला स्त्री मेरे सम्मुख टिक ही कैसे सकती है।

एक-एक करके महिषासुरके सभी सहायक दैत्य-सेनापति भगवती चण्डिकाके हाथों मारे गये। अन्तमें अकेला महिषासुर कालवश भगवतीपर अस्त्र-शस्त्रकी वर्षा करने लगा। भगवती जगदम्बाने अपनी तीक्ष्ण-धार तलवारसे उसके मस्तकको काटकर धड़से अलग कर दिया। इस प्रकार वह मृत्युको प्राप्त हुआ।

महिषासुरका निधन देखकर इन्द्रप्रभृति सभी देवता प्रफुल्लित हो उठे और वे भगवती जगदम्बाका स्तवन करने लगे—

> दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलं
> रूपं तथैतदविचिन्त्यमतुल्यमन्यैः।
> वीर्यं च हन्तृ हृतदेवपराक्रमाणां
> वैरिष्वपि प्रकटितैव दया त्वयेत्थम्॥
> केनोपमा भवतु तेऽस्य पराक्रमस्य
> रूपं च शत्रुभयकार्यतिहारि कुत्र।
> चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा
> त्वय्येव देवि वरदे भुवनत्रयेऽपि॥
> (मार्कण्डेयपुराण ४। २१-२२)

'हे देवि! आपका शील दुराचारियोंके दुर्वृत्तका शमन करनेवाला है। यह रूप ऐसा है, जो कभी चिन्तनमें नहीं आ सकता तथा जिसकी कभी दूसरोंसे तुलना भी नहीं हो सकती। आपका बल और पराक्रम तो उन दैत्योंका भी नाश करनेवाला है, जो सभी देवताओंके पराक्रमको भी नष्ट कर चुके थे। इस प्रकार आपने शत्रुओंपर भी अपनी दया ही प्रकट की है। वरदायिनी देवि! आपके इस पराक्रमकी किसके साथ तुलना हो सकती है तथा शत्रुओंको भय देनेवाला एवं अत्यन्त मनोहर ऐसा रूप भी आपके सिवा और कहाँ है! हृदयमें कृपा और युद्धमें निष्ठुरता—ये दोनों बातें तीनों लोकोंके भीतर केवल आपमें ही देखी गयी हैं।'

देवी जगदम्बा इस स्तवनसे प्रसन्न हो गयीं। उन्होंने देवताओंको भविष्यमें स्मरण करनेपर प्रकट होनेका आश्वासन दिया और वे अन्तर्धान हो गयीं। देवीकी इस विलक्षण कृपाका अनुभव कर देवतागण गद्गद हो गये।

कालान्तरमें पातालसे शुम्भ-निशुम्भ नामक दो दैत्य भूतलपर आये। इन्होंने पृथ्वीपर घोर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। चण्ड, मुण्ड, धूम्रलोचन, रक्तबीज आदि प्रतापी दैत्य इनकी सेवामें रहते थे। इन्होंने केवल पृथ्वीपर ही प्रभुत्व स्थापित नहीं किया, प्रत्युत इन्द्रप्रभृति देवताओंपर विजय प्राप्तकर स्वर्गमें भी अपना राज्य स्थापित कर लिया। त्रस्त देवतागण भगवती जगदम्बाकी कृपाको भूले न थे। अतः सब देवताओंने मिलकर अपनी रक्षा-हेतु माता जगदम्बाकी स्तुति की।

करुणामूर्ति भगवती जगदम्बा तुरंत प्रकट हो गयीं। देवगण भगवतीके चरणोंमें नतमस्तक हो अपना संकट दूर करनेके लिये प्रार्थना करने लगे।

कृपामयी जगदम्बाके श्रीविग्रहसे देवी कौशिकी एवं कालिका प्रकट हुईं। शुम्भ और निशुम्भ अपने साथी दैत्योंसहित उनके साथ युद्ध करते हुए धराशायी हो दिव्य-धामको प्राप्त हुए। मरनेसे बचे दानवोंने भगवतीसे क्षमा-याचना की। करुणामूर्ति माँने उन बचे हुए दानवोंको क्षमा करके पातालमें भेज दिया। इसी प्रकार देवतागण बहुशः भगवती जगदम्बाकी कृपा प्राप्तकर संकटमुक्त होते रहे।

(२)

सुदर्शनपर कृपा

भगवान् श्रीरामके कुलमें उनसे पंद्रह पीढ़ी पश्चात् महाराज ध्रुवसंधि नामक एक प्रसिद्ध राजा हुए हैं। ध्रुवसंधिके शासनकालमें अयोध्यामें प्रजाजन सुखी और समृद्धिशाली थे। सभी लोग वर्णधर्मानुसार आनन्दपूर्वक जीवन-यापन करते थे। राजा ध्रुवसंधिके दो रानियाँ थीं मनोरमा और लीलावती। दोनों ही विदुषी एवं सुन्दरी थीं। दोनों रानियोंके एक-एक पुत्र था। महारानी मनोरमाका पुत्र सुदर्शन रानी लीलावतीके पुत्र शत्रुजित्से एक मास बड़ा था। दोनों राजकुमार बलवान्, बुद्धिमान्, तेजस्वी एवं सुन्दर थे।

सब प्रकारसे निर्दोष महाराज ध्रुवसंधिको मृगयाका दुर्व्यसन था। एक बार वे वनमें शिकार खेलने गये। वहाँ

अचानक एक क्रुद्ध शेरने महाराजपर आक्रमण कर दिया। महाराजने आत्मरक्षाके अनेक प्रयत्न किये, परंतु भगवान्‌का विधान कुछ और ही था। शेरके साथ वे स्वयं भी स्वर्ग सिधार गये। यह समाचार पाकर मुनिवर वसिष्ठजी एवं राज्यके मन्त्रिगण वनमें इकट्ठे हुए। वसिष्ठजीने राजाकी सभी पारलौकिक क्रियाएँ सम्पन्न करवायीं। मन्त्रियोंने परामर्श कर बड़े राजकुमार सुदर्शनको राजगद्दीपर बैठाना चाहा; किंतु महाराज ध्रुवसंधिकी मृत्युका समाचार सुनकर लीलावतीके पिता (उज्जयिनीके) राजा युधाजित् तथा मनोरमाके पिता (कलिङ्गके) राजा वीरसेन अपनी-अपनी सेनासहित अयोध्या पहुँच गये थे।

युधाजित्‌ने अपने दौहित्र शत्रुजित्‌को राजगद्दी देनी चाही और वीरसेनने अपने दौहित्र सुदर्शनको। दोनोंमें बड़ा विवाद छिड़ गया। प्रजाजनों एवं ऋषियोंमें खलबली मच गयी, परंतु समस्याका कोई निदान न निकल सका, अन्तमें वीरसेन एवं युधाजित्‌के बीच युद्ध छिड़ गया। युद्धमें वीरसेन खेत रहे। रानी मनोरमाको अपने पिताकी मृत्युकी सूचना मिली, वह घबरा उठी। उसे अपने पुत्र सुदर्शनकी मृत्यु भी निकट प्रतीत होने लगी। उसने तुरंत प्रधान मन्त्री विदल्लको बुलवाया। मन्त्री विदल्ल बड़े ही दयालु प्रकृतिके पुरुष थे। उन्होंने रानी मनोरमाको अपने पुत्र सुदर्शनसहित अविलम्ब वह स्थान छोड़नेका परामर्श दिया। उसने एक रथमें रानी मनोरमा, राजकुमार सुदर्शन एवं एक दासीको बैठाकर काशीकी ओर प्रस्थान किया। मार्गमें डाकुओंने उन्हें घेर लिया और बहुत कष्ट दिया, परंतु किसी तरह वे लोग मुनि भरद्वाजजीके आश्रममें पहुँचे। मन्त्री विदल्लने मुनिवरको पूरी बात कह सुनायी। मुनिवर भरद्वाजजीको उन लोगोंकी दीन दशा देखकर दया आ गयी और उन्होंने अपने यहाँ उन्हें शरण दे दी। रानी मनोरमाके चित्तको कुछ शान्ति मिली और वे अपनी दासीके साथ रहते हुए वहीं सुदर्शनका पालन-पोषण करने लगीं।

उधर युधाजित्‌ने अपने दौहित्र शत्रुजित्‌को अयोध्याकी राजगद्दी दे दी और मन्त्रियोंको राज्य-भार सौंपकर वह अपनी राजधानी उज्जयिनी लौट गया; किंतु उसके मनमें राजकुमार सुदर्शनका भय अब भी लगा हुआ था। गुप्तचरोंद्वारा उसे ज्ञात हुआ कि रानी मनोरमा अपने पुत्र सुदर्शनसहित भरद्वाजमुनिके आश्रममें है। युधाजित्‌ने अपने मन्त्री और सेनाको साथ लेकर मुनिके आश्रमकी ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर उसने भरद्वाजजीसे अपने शत्रु सुदर्शन एवं रानी मनोरमाको माँगा, परंतु मुनिवर अपने शरणागतका त्याग करनेके लिये किसी भी प्रकार सहमत न हुए। वह मुनिवर भरद्वाजके कोपसे डरकर सुदर्शनकी आशा छोड़कर लौट गया।

पाँच वर्षके बालक सुदर्शनने एक बार कहींसे 'क्लीं' शब्द सुनकर याद कर लिया। 'क्लीं' भगवती जगदम्बाका बीज-मन्त्र है। इस मन्त्रमें उसकी आदरबुद्धि हो गयी और वह इस मन्त्रको बार-बार उच्चारण करने लगा। इस मन्त्रका सुदर्शनपर बड़ा विलक्षण प्रभाव पड़ा। मन्त्र-बलसे ग्यारह वर्षकी अवस्था होते-होते उसे धनुर्वेद, नीतिशास्त्र एवं सम्पूर्ण विद्याएँ भलीभाँति ज्ञात हो गयीं। एक दिन भगवती जगदम्बाने कृपा कर उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया। उस दिनसे राजकुमारकी उपासनामें और भी दृढ़ता आ गयी।

काशीनरेश सुबाहुकी उत्तम गुणोंसे सम्पन्न शशिकला नामकी एक सुन्दरी कन्या थी। उसने राजकुमार सुदर्शनके गुण एवं रूपकी चर्चा सुन रखी थी। एक रात स्वप्नमें भगवती जगदम्बाने उसे दर्शन देकर अपने भक्त सुदर्शनको वरण करनेका आदेश दिया। भगवती जगदम्बाका आदेश पाकर शशिकला प्रफुल्लित हो उठी और उसने मन-ही-मन सुदर्शनको ही वरण करनेका निश्चय कर लिया।

उधर शशिकलाके पिता सुबाहु उसे वयस्क हुई जानकर उसके विवाहकी तैयारी करने लगे थे। उन्होंने बड़ी धूमधामसे स्वयंवरकी तैयारी करवायी। शशिकलाने अपने लिये स्वयंवरकी बात सुनकर अपनी एक सखीद्वारा राजकुमार सुदर्शनको वरण करनेका अपना निर्णय अपने माता-पितासे कहला दिया। राजा सुबाहु अपनी पुत्रीका निर्णय सुनकर बड़े आश्चर्यमें पड़ गये। वे जानते थे कि सुदर्शन राजकुमार होते हुए भी बहुत निर्धन एवं दयनीय अवस्थामें भरद्वाजाश्रममें वास करते हैं। वे ऐसे दीन-हीन बालकको अपनी कन्या नहीं देना चाहते थे। अतः शशिकलाके माता-पिताने उसको अपना निर्णय वापस लेनेके लिये बहुत समझाया। शशिकलाने स्वप्नमें भगवती जगदम्बाके आदेशकी बात अपनी माताको कह सुनायी और राजकुमार सुदर्शनको वरण करनेके निश्चयपर अटल रही।

शशिकलाने एक योग्य ब्राह्मणद्वारा राजकुमार सुदर्शनको अपने स्वयंवरकी सूचना भेज दी और भगवती जगदम्बाके

आदेशकी बात कहला दी। उससे स्वयंवरमें अवश्य पधारनेके लिये आग्रह भी कर दिया।

सुदर्शन स्वयंवरमें जानेको तैयार हो गया। यद्यपि उसकी माता मनोरमाने उसे रोकना चाहा; क्योंकि उसे भय था कि स्वयंवरमें शत्रु युधाजित् कहीं उसके एकमात्र पुत्रको मार न डाले; परंतु सुदर्शनका आधार भगवती जगदम्बाका बीज-मन्त्र 'क्लीं' था, उसे भगवतीकी कृपापर पूर्ण विश्वास था। अतः एक रथपर अपनी माता और दासीके साथ सवार होकर उसने भगवती जगदम्बाका स्मरण करते हुए स्वयंवरके लिये प्रस्थान कर दिया।

काशीमें चारों दिशाओंके राजा शशिकलाके स्वयंवरके लिये एकत्र हो रहे थे। राजकुमार सुदर्शन भी स्वयंवरके लिये आये हुए राजाओंमें सम्मिलित हो गया। उधर युधाजित् भी अपने दौहित्र शत्रुजित्के साथ स्वयंवरमें आया था। राजकुमार सुदर्शनको देखकर युधाजित् आगबबूला हो उठा। उसने आगत राजाओंको उत्तेजित किया—'बलशाली एवं ऐश्वर्य-सम्पन्न राजाओंके रहते इस गरीब बालकका इतना साहस कि हमलोगोंके साथ स्वयंवरमें सम्मिलित हो रहा है।'

राजकुमार सुदर्शनने कहा—'शक्ति, सहायक, सम्पत्ति, सुरक्षित मित्र, सुहृद् और रक्षक—इन सब साधनोंके अभावमें भी स्वयंवरका समाचार सुनकर भगवती जगदम्बाकी कृपाका आश्रय ग्रहण करके मैं स्वयंवरमें आया हूँ। मेरी दृष्टिमें सर्वत्र भगवती जगदम्बा ही हैं। वे परम आराध्या शक्ति हैं। उनकी कृपासे ही सब कुछ सम्भव है, अतः मुझे किस बातका भय है, सहायक या संरक्षककी भी क्या आवश्यकता है?'

निर्भीक सुदर्शनकी बातोंसे समागत राजाओंको बड़ी शान्ति मिली, परंतु राजा सुबाहु भयभीत हो गये, उन्हें युधाजित्से भय लग रहा था। उन्होंने जाकर अपनी पुत्री शशिकलाको बहुत समझाया कि वह सुदर्शनको वरण करनेका अपना निर्णय त्याग दे, परंतु शशिकला भगवती जगदम्बाकी अनन्यभक्ता थी, उसे भगवतीकी कृपापर पूर्णरूपसे विश्वास था; अतः वह अपने निर्णयसे तनिक भी विचलित न हुई। अन्तमें सुबाहुको अपनी पुत्रीका विवाह रात्रिमें ही राजकुमार सुदर्शनसे करना पड़ा। महलमें सुबाहुने विधिपूर्वक कन्यादान किया। विवाहके सभी कृत्य शास्त्रानुसार सम्पन्न किये गये। उधर स्वयंवरके लिये काशीमें एकत्र राजाओंको शशिकलाके विवाहकी सूचना मिली। क्रुद्ध युधाजित् सुदर्शनको मार डालनेके लिये विरोधी राजाओंके साथ सेनाएँ लेकर चारों ओरसे नगरको घेरे रहा।

विवाहके सात दिन पश्चात् राजकुमार सुदर्शनने अपने श्वशुरसे विदा लेते हुए कहा—'पिताजी! भगवती जगन्माता सदैव हमारी रक्षा करेंगी, आप तनिक भी भय न करें।' सुदर्शनने बीज-मन्त्रका जप तथा भगवती जगदम्बाका ध्यान करते हुए अपनी पत्नी एवं मातासहित रथपर सवार होकर थोड़ी-सी सेनाके साथ प्रस्थान किया। नगरसे बाहर निकलते ही युधाजित् एवं शत्रुजित् उसे घेरकर बाणोंकी वर्षा करने लगे। सुदर्शनने भी अपनी रक्षाके लिये धनुष टंकारा और संग्राम छिड़ गया। इतनेमें ही अकस्मात् सिंहारूढ़ साक्षात् भगवती दुर्गा प्रकट हो गयीं। वे तो सुदर्शनपर कृपा करने ही पधारी थीं। देखते-ही-देखते युधाजित् और शत्रुजित्—दोनोंकी ही जीवनलीला समाप्त हो गयी। सुदर्शन भगवती दुर्गाकी स्तुति करने लगे—

अहो कृपा ते कथयाम्यहं किं त्रातस्त्वया यत्किल भक्तिहीनः।
भक्तानुकम्पी सकलो जनोऽस्ति विमुक्तभक्तेरवनं व्रतं ते॥

(देवीभा० ३। २४। १३)

'अहो! मैं आपकी कृपाकी क्या महिमा वर्णन करूँ, जो आपने मुझ-जैसे भक्तिहीनकी भी आश्चर्यरूपसे रक्षा कर ली। माँ! अपने भक्तपर अनुकम्पा करनेवाले तो सभी लोग होते हैं, परंतु भक्तिहीनकी रक्षा करना तो आपका ही व्रत है।'

कृपामयी भगवती दुर्गा सुबाहु एवं सुदर्शन—दोनोंपर अपनी कृपा-सुधा बरसाने लगीं। सुबाहुने काशीमें भगवती दुर्गाके भव्य मन्दिरका निर्माण कराया, जिसमें विधिपूर्वक प्रत्येक नवरात्रमें पूजन होने लगा।*

भगवती दुर्गाकी आज्ञासे सुदर्शनने अयोध्याका राज्य सँभाला। उसने अयोध्यामें माँ दुर्गाकी प्रतिमाकी स्थापना करायी और उनकी कृपासे सुखपूर्वक अपनी जननी मनोरमा, विमाता लीलावती एवं पत्नी शशिकलाके साथ रहने लगा। उसका राज्य भगवतीकी कृपासे सुख और वैभवसे पूर्ण था।

(श्री० कृ० दु०)

---

* यह मन्दिर काशीके दुर्गाकुण्ड मुहल्लेमें आज भी विद्यमान है।

अनुग्रहमूर्ति भगवान् श्रीगणेश

(१)

देवताओंपर अनुग्रह

पुण्यसलिला गौतमी (गोदावरी)का पावन तट था। देवगण वहाँ यज्ञानुष्ठानमें लगे थे। देवताओंने यज्ञ तो प्रारम्भ कर दिया, परंतु वे उसे पूर्ण नहीं कर पा रहे थे। उसमें बारबार विघ्न उपस्थित होने लगे। देवगण चिन्तित हो उठे और अन्तमें वे भगवान् विष्णु एवं ब्रह्माजीकी शरणमें गये। ब्रह्माजीने ध्यानद्वारा स्थितिको अवगत किया। फिर वे देवताओंसे बोले—'देवगण! अनुग्रहमूर्ति विघ्नविनाशक गणपति ही तुम्हारे यज्ञका विघ्न दूर कर सकते हैं। अतः उन्हींकी शरण ग्रहण करो।'

देव-समुदाय पुनः गौतमीके पावन तटपर लौट आया। उन्होंने गौतमीके पवित्र जलमें स्नान किया। तदनन्तर वे विघ्नेश्वर श्रीगणेशजीका अनुग्रह प्राप्त करनेके लिये स्तुति करने लगे—

यः सर्वकार्येषु सदा सुराणा-
मपीशविष्ण्वम्बुजसम्भवानाम्।
पूज्यो नमस्यः परिचिन्तनीय-
स्तं विघ्नराजं शरणं भजामः॥
न विघ्नराजेन समोऽस्ति कश्चिद्
देवो मनोवाञ्छितसम्प्रदाता।
निश्चित्य चैतत् त्रिपुरान्तकोऽपि
तं पूजयामास वधे पुराणाम्॥
× × ×
यो मातरं सरसैर्नृत्यगीतै-
सदाभिलाषैरखिलैर्विनोदैः।
संतोषयामास नगात्मजां
तं श्रीगणेशं शरणं प्रपद्ये॥

(गणेशपु० ११४। ६-७, १६)

'सदा सब कार्योंमें सम्पूर्ण देवता तथा शिव, विष्णु और ब्रह्माजी भी जिनका पूजन, नमस्कार और चिन्तन करते हैं, उन विघ्नराज श्रीगणेशजीकी हम शरण ग्रहण करते हैं। विघ्नराज श्रीगणेशजीके समान मनोवाञ्छित फल देनेवाला अन्य कोई देवता नहीं है, यह निश्चय करके त्रिपुरारि महादेवजीने भी त्रिपुर-वधके समय पहले उनका पूजन किया था। जिन्होंने अपने सरस संगीत, नृत्य, समस्त मनोरथोंकी सिद्धि तथा विनोदके द्वारा माता पार्वतीको पूर्ण संतुष्ट किया है, उन अत्यन्त संतुष्ट हृदयवाले श्रीगणेशजीकी हम शरण ग्रहण करते हैं।'

देवताओंद्वारा की गयी स्तुति सुनकर कृपानिधान श्रीगणेश तत्काल अपने चतुर्भुजरूपमें उनके सामने प्रकट हो गये और अनुग्रहकी वर्षा-सी करते हुए बोले—'देवताओ! अब तुम्हारा यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न होगा और तुमलोगोंद्वारा किये हुए इस स्तवनका जो पाठ करेगा, उससे दरिद्रता एवं दुःख सदैव दूर रहेंगे।'

भगवान् श्रीगणेशका अनुग्रह प्राप्तकर देवताओंने प्रसन्नतापूर्वक यज्ञानुष्ठान सम्पन्न किया।

(२)

शुक्लशर्मा एवं विद्रुमापर अनुग्रह

प्राचीन कालमें काशी नगरीमें शुक्लशर्मा नामके एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नीका नाम था विद्रुमा। उनके घरमें दरिद्रताका पूर्ण साम्राज्य था। घरमें पात्रके नामतक न थे। साध्वी विद्रुमा स्वयं वल्कल वस्त्र ही धारण करती। घरका छप्पर भी ऐसा था कि रात्रिमें सोते समय उसमेंसे तारे गिने जा सकते थे। भिक्षामें जो कुछ मिल जाता, वही उनके जीवनका आधार था। कभी-कभी भिक्षा न मिलनेपर निराहार रहनेमें भी उन्हें पूर्ण संतोष था। ब्राह्मण-दम्पतिके जीवनमें असंतोष नामकी कोई वस्तु न थी। उनके जीवनका आधार एकमात्र भगवान् गणपतिकी भक्ति ही थी।

एक बार महामहिम भगवान् विनायक काशीमें पधारे। पण्डित शुक्लशर्माको श्रीविनायकके पधारनेकी सूचना मिली, वे प्रफुल्लित हो उठे। उन्हें भिक्षामें जो भी मिला, उसे लेकर वे तुरंत घर पहुँचे। विद्रुमा तो पहलेसे ही उनकी प्रतीक्षामें थी। 'भगवान् विनायक पधारे हैं, हमें भी उनका स्वागत-पूजन करना चाहिये।' शुक्लशर्माने आग्रहपूर्वक विद्रुमासे कहा। 'स्वागत!' विद्रुमा बड़े

आश्चर्यमें पड़ गयी। 'हम दरिद्रोंके पास स्वागतके लिये रखा ही क्या है और ऐसे दरिद्रके घर भगवान् विनायक पधारेंगे भी क्यों ?'

शुक्लशर्माको कृपावत्सल विनायकपर पूर्ण विश्वास था। उन्होंने पत्नीसे कहा—'प्रिये ! भगवान् विनायक बड़े दयालु हैं, वे दीनोंपर अवश्य अनुग्रह करते हैं। वे हमारे पत्र-पुष्प भी स्वीकार करनेके लिये अवश्य आयेंगे।' पतिकी विश्वास-पूर्ण वाणीने विद्रुमाके मनमें भी श्रीविनायकके पधारनेकी आशाका संचार कर दिया। वह तुरंत पड़ोसियोंके घरसे श्रीविनायकके पूजनके लिये गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, वन्यफल एवं सूखा आँवला आदि वस्तुएँ माँग ले आयी। भिक्षामें थोड़े-से चावल भी मिले थे। विद्रुमाने उन्हीं चावलोंमें थोड़ा अधिक जल डालकर माड़ीके भात तैयार किये। ब्राह्मण-दम्पतिके उत्साहका पार न था। श्रीविनायककी अगवानीके लिये हरित पत्तोंसे तोरण बनाया गया। टूटे-फूटे घरको लीप-पोतकर स्वच्छ किया गया। सब तैयारी हो जानेपर ब्राह्मण-दम्पति श्रीविनायकके जप-स्मरणमें तल्लीन हो गये। उन्हें विश्वास था कि भगवान् विनायक उनपर अवश्य कृपा करेंगे।

थोड़ी ही देरमें भगवान् विनायक बालकोंके साथ खेलते-खेलते ब्राह्मण-दम्पतिके द्वारपर आ पहुँचे। उनकी वह रूप-माधुरी देखते ही ब्राह्मण-दम्पति आत्म-विभोर हो गये, उनकी वाणी गद्गद हो गयी, दोनोंके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे। आज उनके आनन्दकी सीमा न थी। बड़ी कठिनाईसे शुक्लशर्माने भगवान् विनायकको बैठनेके लिये एक आसन दिया और पादपद्म-प्रक्षालन किया। ब्राह्मण-दम्पतिने वह चरणामृत अपने सिरपर छिड़का और शेष जल पी गये।

'मैया ! बड़ी भूख लगी है।' भगवान् विनायकने विद्रुमासे बड़े ही आग्रहके साथ कहा। विद्रुमा 'मैया' शब्द सुनकर गद्गद हो गयी। भगवान् विनायकका अनुग्रह विलक्षण था। एक दरिद्र अकिंचन स्त्रीको 'मैया' कहना ! प्रेमविभोर विद्रुमा बड़े संकोचमें पड़ गयी कि भगवान् विनायकको भोग लगानेके लिये क्या दिया जाय। इतनेमें तो भगवान् विनायकने पुनः कहा—'मैया ! जो है, वही तुरंत दे दो।' साथके बालक उस दरिद्र दम्पतिकी हँसी कर रहे थे। बेचारी विद्रुमाने बड़े संकोचसे भगवान् विनायकके सामने भोग लगानेके लिये थोड़े-से माँड़-भात रखे। श्रीविनायक उन्हें तत्काल ही चट कर गये और बोले—'और दो माँ ! बड़ी भूख लगी है।' अन्तमें शुक्लशर्माने पूरे माँड़-भात दे दिये। श्रीविनायकने उन्हें बड़े प्रेमसे आरोगा। भोजन करते-करते भगवान् विनायक कहते जा रहे थे—'अहा ! आजतक मैंने इतना स्वादिष्ट भोजन कहीं नहीं किया।' देखते-ही-देखते वे द्विभुजकी जगह दशभुजधारी हो गये और अपने दसों हाथोंसे माँड़-भात आरोगने लगे—

ततोऽभवद् दशभुजो बुभुजे चौदनं च तैः॥
(गणेशपु० २। २३। ४२)

भगवान् विनायकका यह अनुग्रह देखकर सभी दर्शक, जो ब्राह्मण-दम्पतिकी दरिद्रताका उपहास कर रहे थे, परम विस्मयमें डूब गये और मन-ही-मन अपनी इस हेय-वृत्तिके लिये पश्चात्ताप करने लगे।

ब्राह्मण-दम्पतिके हर्षका पार न था। वे तो प्रेमसे उन्मत्त हो प्रभुके पाद-पद्मोंमें लोटने लगे। बड़ी कठिनाईसे उन्होंने भगवान्‌को आचमन कराया एवं मुख-शुद्धिके लिये ताम्बूलादि प्रदान किया।

'नाथ ! कृपावत्सल !! अनुग्रहमूर्ति !!! आप हमें अपने चरणोंकी भक्ति प्रदान कीजिये।' दम्पतिने गिड़गिड़ाकर भगवान् विनायकसे याचना की। मुस्कराते हुए भगवान् विनायक पुनः द्विभुज हो गये और 'एवमस्तु' कहते हुए चलने लगे। दम्पति उन्हें पहुँचानेके लिये उनके पीछे-पीछे हो लिये।

श्रीविनायकको पहुँचाकर जब वे लौटे तो इन्द्रभवनसे श्रेष्ठ राजप्रासाद, अपार वैभवयुक्त सम्पत्ति और सुन्दर वस्त्रोंसे आच्छादित सेवक—इन सब वस्तुओंको देखकर ब्राह्मण-दम्पति आश्चर्यमें पड़ गये। उनकी जीर्ण कुटियाका कहीं अस्तित्व ही नहीं दीख रहा था। 'महाराज ! अंदर पधारें।' सेवक-गण दम्पतिसे आग्रह कर रहे थे, 'प्रभो ! यह आपका ही प्रासाद है।'

शुक्लशर्मा एवं विद्रुमाको विश्वास ही नहीं हो रहा था कि यह प्रासाद उनका ही है, परंतु कृपानिधानकी कृपावत्सलता, उनके अनुग्रहके सामने क्या असम्भव था ! यह प्रासाद, यह वैभव सचमुच भगवान् श्रीविनायकका ही कृपा-प्रसाद—कृपावैभव था।

(३)

भक्त बल्लालपर कृपा

बल्लाल एक धनाढ्य सेठ कल्लाणमल्लका पुत्र था। धर्मपरायण कल्लाणमल्लने बालक बल्लालका जातकर्म एवं नामकरण-संस्कार वेदज्ञ ब्राह्मणोंद्वारा विधिपूर्वक करवाया। इस अवसरपर कल्लाणमल्लने ब्राह्मणों एवं दीनोंको बहुत-सा धन, गौएँ आदि दानमें दीं। बालक बल्लाल अन्य साधारण बालकोंकी तरह न था, वह अत्यन्त सात्त्विक विचारोंसे युक्त एवं सद्बुद्धिसम्पन्न था। बचपनसे ही उसमें माता-पिता एवं आचार्यके प्रति भक्ति कूट-कूटकर भरी हुई थी। वह भगवान् गणपतिका परम भक्त था। वह अपने साथी बालकोंको विभिन्न गणपति-लीलाएँ सुनाया करता था। जैसा सङ्ग, वैसा रंग; बल्लालके साथियोंके अन्तःकरण भी उसीकी तरह भक्ति-भावनासे रँगे जाने लगे थे। जैसे-जैसे बालक बल्लाल बड़ा हो रहा था, वैसे-ही-वैसे उसकी गणेश-भक्ति भी दृढ़ होती जा रही थी। वह जहाँ कहीं भी विनायक-मन्दिर देखता, वहीं भक्तिभावसे उनकी पूजा-स्तुति करने लगता था।

एक दिनकी बात है, बल्लाल अपने साथी बालकोंके साथ नगरके बाहर सरोवरतटवर्ती उपवनमें खेल रहा था। वहीं सरोवरसे एक सुन्दर पत्थर लेकर उसमें भगवान् विनायककी भावना कर वह उनकी पूजा करने लगा। साथी मित्रोंकी सहायतासे उसने लकड़ी तथा पत्तोंसे एक मन्दिरका निर्माण कर लिया और सबने मिलकर भगवान् विनायकका भजन-कीर्तन आरम्भ कर दिया। उस दिनसे बल्लाल एवं उसके साथी बालकोंका तो नित्यका यही क्रम बन गया था, वे प्रतिदिन वहाँ एकत्रित होकर भजन-कीर्तन एवं पूजन करते। नित्य भगवान् श्रीगणेशको पत्र-पुष्प-दूर्वा आदि अर्पित किये जाते थे। बालकोंमें भक्तिके भाव दृढ़ होने लगे। धीरे-धीरे सभी बालक भजन-कीर्तनमें तल्लीन रहनेसे अपने-अपने घर देर-सबेर पहुँचने लगे। बालकोंका समयपर घर न पहुँचना माता-पिताके उद्वेगका कारण बन गया और वे सारा दोष बालक बल्लालपर मढ़ने लगे।

एक दिन बालकोंके सभी अभिभावक मिलकर कल्लाण-मल्लके पास आये और बोले—'सेठजी! आपका बालक बल्लाल तो हमारा घर ही नष्ट करनेपर तुला हुआ है। हम सबके बालकोंको वह बिगाड़ रहा है, उनको बड़ी देरतक वह वनमें रोके रखता है और न जाने उनसे क्या-क्या करवाता है।' उस समय बल्लाल सब बालकोंके साथ जंगलमें बने गणपति-मन्दिरमें बैठा भजन कर रहा था। अभिभावकोंकी कटूक्तियाँ कल्लाणमल्ल सहन न कर सके। वे क्रोधित हो घरसे निकल पड़े और वनमें बालकोंके पास पहुँचे। उन्हें देखकर भी बालक बल्लाल अपने साथी अन्य बालकोंके साथ भगवान् विनायककी मूर्तिके सामने भजन-पूजनमें तल्लीन रहा। मनकी विपरीत परिस्थितिने कल्लाणमल्लकी क्रोधाग्निमें घृतकी आहुति डाल दी। कल्लाणमल्लने बालकोंद्वारा स्थापित मूर्ति एवं पूजाके सभी उपकरण उठाकर फेंक दिये और डंडा लेकर वह निर्दोष बालक बल्लालपर बरस पड़ा। बिना सोचे-समझे उसने बल्लालको बहुत पीटा और अन्तमें उसे रस्सीद्वारा एक पेड़से कसकर बाँध दिया और कहा—'आज मैं तुम्हारे विनायकको देखूँगा, वह तुम्हें कैसे बन्धनसे मुक्त करता है? आजसे तुम मेरे घरमें पैर भी मत रखना, मुझे तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं है।'

बेचारा बल्लाल अर्धमूर्च्छित अवस्थामें पड़ा-पड़ा सब सुन रहा था। पीड़ाके कारण उसके मुखसे कराहनेकी आवाजतक न निकल रही थी। उस समय भी वह मन-ही-मन भगवान् विनायकका स्मरण कर रहा था। बल्लालको उसी अवस्थामें छोड़कर कल्लाणमल्ल घर लौट आया। कुछ होश आनेपर बल्लालको अपने शरीरमें भयंकर वेदना प्रतीत हुई। अपने इष्टदेवकी मूर्ति एवं पूजा-उपकरणोंको इधर-उधर फेंका देखकर उसे अत्यधिक मानसिक कष्ट हुआ। बँधे-बँधे ही वह अपने आराध्य अनुग्रहमूर्ति भगवान् गणेशसे प्रार्थना करने लगा—'प्रभो! करुणासिन्धो!! क्या आपको मेरी यही स्थिति प्रिय है? प्रभो! आपके श्री-विग्रहकी यह दुर्दशा अब मुझसे देखी नहीं जा रही है। क्या आप मुझ तुच्छपर अब भी कृपा नहीं करेंगे? आप तो सभी विघ्नोंके नाशक हैं।'

बल्लाल प्रार्थना कर ही रहा था कि सहसा अनुग्रहमूर्ति भगवान् गणेश एक ब्राह्मणके वेशमें उसके सम्मुख प्रकट हो गये। उनके आते ही बल्लाल बन्धन-मुक्त हो गया। उन करुणामूर्तिकी दृष्टिमात्रसे बल्लालकी सारी पीड़ा दूर हो गयी। शरीर पूर्ववत् स्वस्थ हो गया। ब्राह्मण-

देवके तेजोमय मुखको देखकर बल्लालको समझते देर न लगी कि अवश्य ही ये देवाधिदेव करुणासिन्धु भगवान् गणेश ही हैं। बस, वह उनके श्रीचरणोंमें दण्डकी भाँति गिर पड़ा और गद्गद कण्ठसे बोला—'प्रभो ! आप ही मेरे सर्वस्व हैं। करुणामय ! अब आप मुझे अपनी भक्ति प्रदान करें। यही क्षेत्र मेरा निवासस्थान हो जाय और आप भी बराबर यहीं रहें।' अनुग्रहमूर्ति भगवान् गणेशने कहा—"वत्स ! तुम्हारी भक्ति नित्यप्रति बढ़ती रहेगी। यहाँ 'बल्लाल-विनायक'के नामपर मेरा प्रसिद्ध मन्दिर होगा, मैं यहाँ नित्य निवास करूँगा।" ऐसा कहकर भगवान् विनायक अन्तर्धान हो गये।

श्रीगणपतिका अनुग्रह प्राप्तकर बल्लाल निहाल हो गया। उसने उस स्थानपर भगवान् विनायकका एक बहुत सुन्दर मन्दिर बनवाया और वहीं रहकर श्रद्धा-भक्तिसहित षोडशोपचार पूजन-स्तवनादि करने लगा। वहाँ नाम-जप, कथा-कीर्तनादिके विविध आयोजन भी होने लगे।

बल्लालके पिता कल्लाणमल्लको अपने दुष्कर्मके कारण मूक, अंध और बधिर होना पड़ा। निस्सदेह यह भक्तके प्रति किये गये दुर्व्यवहारका ही फल था। पतिव्रता इन्दुमती अपने पतिकी दुर्दशा देखकर बड़ी व्याकुल हुई।

इन्दुमती एवं कुछ नागरिक पश्चात्ताप करने एवं बल्लालको खोजते हुए वनमें पहुँचे। भक्ति-भावमें लीन पुत्र बल्लालको देखकर इन्दुमतीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने कहा—'बेटा ! तुम्हारे पिताजी अत्यन्त रुग्ण अवस्थामें हैं। वे मूक, अंध एवं बधिर हो गये हैं। तुम घर लौट चलो। अपने पिताको क्षमा कर दो।' बल्लालने बड़ी विनम्रतासे कहा—'माँ ! मुझपर भगवान् गणपतिकी अद्भुत कृपा हुई है। अब तो मेरे माता-पिता, भाई-बन्धु एकमात्र वे करुणासिन्धु ही हैं। उनकी सेवा छोड़कर मेरी अन्यत्र कहीं भी जानेकी रुचि नहीं है। आप मुझे क्षमा करें तथा भगवान् विनायकमें दृढ़ भक्ति होनेका आशीर्वाद दें। पिताजीकी सेवा करते हुए आप भी भगवान् गणेशका भजन-स्मरण करें। वे बड़े कृपालु हैं, अनुग्रहमूर्ति हैं।'

माता इन्दुमतीके बहुत आग्रह करनेपर भी भक्त बल्लाल भगवान् गणपतिको छोड़कर घर नहीं गये। उसी स्थानपर रहकर उन्होंने भगवान् गणपतिकी सेवा-पूजा करते हुए अपना शेष जीवन व्यतीत किया।

(४)

भगवान् वेदव्यासपर अनुग्रह

पञ्चम वेद, पुण्यमय ग्रन्थ महाभारतके प्राकट्यसे पहले ही सत्यवतीनन्दन भगवान् वेदव्यास चिन्तित थे—'शिष्योंको किस प्रकार इस महान् ग्रन्थका अध्ययन कराया जाय ?' इतने बड़े ग्रन्थका लेखन भी कोई सहज कार्य न था और बिना लिखे इसका प्रचार-प्रसार भी सम्भव नहीं दीखता था।

भगवान् वेदव्यासको चिन्तित देखकर लोकपितामह ब्रह्माके मनमें करुणाका संचार हुआ और वे स्वयं व्यासदेवके समक्ष उपस्थित हुए।

चिन्ताके समय लोकस्रष्टा चतुराननका आगमन महर्षि वेदव्यासको ऐसा सुखद प्रतीत हुआ, मानो प्याससे संतप्त किसी व्यक्तिको स्वच्छ जलसे परिपूर्ण सरोवर दीख पड़ा हो। उन्होंने पितामहके चरणोंमें श्रद्धापूर्वक नमनकर उन्हें उच्च आसन दिया और स्वयं उनके चरणोंके समीप बैठ गये। महर्षिने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक निवेदन किया—'भगवन् ! मैंने सम्पूर्ण लोकोंसे वन्दित एक महान् ग्रन्थकी रचना की है। इस ग्रन्थमें सम्पूर्ण वेदोंका गुह्यतम रहस्य तथा शास्त्र और उपनिषदोंका सार संगृहीत है। जितने भी लोकोपयोगी विचार हो सकते हैं, सभीका मैंने इस ग्रन्थमें निरूपण करनेका प्रयत्न किया है; परंतु इस ग्रन्थको लिख सके, ऐसा पृथ्वीपर कोई नहीं है।'

महर्षिकी चिन्ता निराधार न थी। वस्तुतः पृथ्वीपर ऐसी प्रतिभा किसीकी न थी, जो यह कार्य कर सकता।

वेदगर्भ ब्रह्मा भी कुछ क्षणोंके लिये विचारमग्न हो गये। सहसा उन्होंने कहा—

काव्यस्य लेखनार्थाय गणेशः स्मर्यतां मुने।

(महा० आदि० १। ७४)

'मुनिवर ! अपने इस काव्यको लिखवानेके लिये आप गणेशजीका स्मरण करें।' ऐसा कहकर चतुरानन अपने लोकको चले गये।

भगवान् वेदव्यासकी प्रसन्नताकी सीमा न थी, उन्हें कार्य-साधनका मार्ग मिल गया। उन्होंने आर्त हो

अनुग्रहमूर्ति भगवान् गणेशका स्मरण किया। सच्चा आवाहन प्रभुको बलात् आकर्षित कर लेता है; अन्तर्यामी करुणा-वरुणालय भगवान् गणेश प्रकट हो गये।

महर्षि वेदव्यासने श्रद्धापूर्वक गिरिजानन्दन भगवान् श्रीमहागणपतिका अभिनन्दन कर उन्हें उच्चासन प्रदान किया। पाद्य-अर्घ्यादिसे भली प्रकार उनका पूजन करके वे बड़ी विनम्रतासे बोले—"करुणामूर्ति गणनायक! मैंने मन-ही-मन 'महाभारत' महाकाव्यकी रचना की है, परंतु इसे लिखनेमें असमर्थ हूँ और बिना लिखे इसका उपयोग ही क्या हो सकता है! अतः आप कृपापूर्वक लोकोपकारार्थ इस काव्यको लिख दें।"

परात्पर भगवान् गणेशके लिये क्या असम्भव है! उन्होंने महर्षिसे निवेदन किया—'व्यासदेव! मैं इसे लिख तो सकता हूँ, परंतु लिखते समय मेरी लेखनी रुकनी नहीं चाहिये।'

'प्रभो! ऐसा ही होगा, परंतु एक शर्त मेरी भी है कि आप बिना समझे कुछ भी न लिखें।' दोनोंको एक दूसरेकी शर्तें स्वीकार थीं। लेखनकार्य आरम्भ हुआ और पार्वतीनन्दन अविरत लिखते गये। व्यासदेवकी प्रतिभा भी कम न थी, वे कौतूहलवश बीच-बीचमें कुछ ऐसे (कूट) श्लोक रच डालते थे, जिन्हें समझनेमें गणनायकको कुछ क्षण लग जाते और उन क्षणोंमें व्यासदेव कई नये श्लोकोंकी रचना कर लेते थे।

भगवान् गणेशकी कृपासे ही विश्वको 'महाभारत'-जैसा अनुपम लोककल्याणकारी ग्रन्थ मिल सका। यह ग्रन्थ-रत्न अज्ञानान्धकारमें भटकते हुए लोगोंको ज्ञानरूप प्रकाशद्वारा सही मार्ग दिखानेवाला है। इसमें पद-पदपर सनातन पुरुष भगवान् श्रीकृष्णकी कीर्तिका वर्णन है।

जो श्रद्धापूर्वक इस महान् ग्रन्थका अध्ययन करता है, उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता भी इसी ग्रन्थका एक अङ्ग है।

(श० कु० गु०)

अनुग्रहमूर्ति भगवान् श्रीगणेशका स्तवन

अनन्तचिद्रूपमयं गणेशं ह्यभेदभेदादिविहीनमाद्यम्।
हृदि प्रकाशस्य धरं स्वधीस्थं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः॥
विश्वादिभूतं हृदि योगिनां वै प्रत्यक्षरूपेण विभान्तमेकम्।
सदा निरालम्बसमाधिगम्यं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः॥
यदीयवीर्येण समर्थभूता माया तया संरचितं च विश्वम्।
नागात्मकं ह्यात्मतया प्रतीतं तमेकदन्तं शरणं व्रजामः॥
सर्वान्तरे संस्थितमेकगूढं यदाज्ञया सर्वमिदं विभाति।
अनन्तरूपं हृदि बोधकं वै तमेकदन्तं शरणं व्रजामः॥
यं योगिनो योगबलेन साध्यं कुर्वन्ति तं कः स्तवनेन नौति।
अतः प्रणामेन सुसिद्धिदोऽस्तु तमेकदन्तं शरणं व्रजामः॥

जो भगवान् गणेश अनन्त हैं, चेतनरूप हैं, अभेद और भेद आदिसे रहित और सृष्टिके आदि कारण हैं, अपने हृदयमें जो सदा प्रकाश धारण करते हैं तथा अपनी ही बुद्धिमें स्थित रहते हैं, उन एकदन्त श्रीगणेशजीकी शरणमें हम जाते हैं। जो संसारके आदि कारण हैं, योगियोंके हृदयमें अद्वितीय रूपसे साक्षात् प्रकाशित होते हैं और निरालम्ब समाधिके द्वारा ही जानने योग्य हैं, उन एकदन्त श्रीगणेशकी शरणमें हम जाते हैं। जिनके बलसे माया समर्थ हुई है और उसके द्वारा यह संसार रचा गया है, उन आत्मरूपसे प्रतीत होनेवाले नामरूपधारी एकदन्त श्रीगणेशकी शरणमें हम जाते हैं। जो सब लोगोंके अन्तःकरणमें अकेले गूढ़भावसे स्थित रहते हैं, जिनकी आज्ञासे यह जगत् विराजमान है, जो अनन्तरूप हैं और हृदयमें ज्ञान देनेवाले हैं, उन एकदन्त श्रीगणेशकी शरणमें हम जाते हैं। जिनको योगीजन योगबलसे साध्य करते (जान पाते) हैं, स्तुतिद्वारा उनका वर्णन कौन कर सकता है? इसलिये हम उनको केवल प्रणाम करते हैं, वे हमें सिद्धि दें, उन प्रसिद्ध एकदन्तकी शरणमें हम जाते हैं।

भगवान् सूर्यकी कृपा

(१)

देवी अदिति

मानसं वाचिकं वापि कायजं यच्च दुष्कृतम् ।
सर्वं सूर्यप्रसादेन तदशेषं व्यपोहति ॥
(ब्रह्मपुराण २९ । ६०)

'मनुष्यके मानसिक, वाचिक अथवा शारीरिक जो भी पाप होते हैं, वे सब भगवान् सूर्यकी कृपासे निःशेष नष्ट हो जाते हैं।'

माता अदिति प्रजापति दक्षकी कन्या थीं। उनका विवाह महर्षि कश्यपसे हुआ। प्रायः अधिकांश देवगण, जो यज्ञभाग एवं त्रिलोकीके राज्यके अधिकारी हैं, इन्हींकी संतान हैं। देवताओंके वैमात्रेय बन्धुगण दैत्य-दानव थे, जो इनके प्रबल शत्रु हुए। कभी लंबे देवासुर संग्राममें दैत्य-दानवोंने मिलकर देवताओंको हरा दिया एवं उनका राज्य तथा यज्ञभाग भी अपहरण कर लिया। इससे माता अदिति बड़ी दुःखी हुईं और उन्होंने प्रखर तेजोमय भगवान् सूर्यदेवकी उपासना आरम्भ की। वे सूर्यको प्रसन्न करनेके लिये एकाग्रचित्त हो उनके मन्त्रका जप एवं स्तुति करती रहीं। नियमित आहार और नियम-पालन तो उनका सहज स्वभाव-सा बन गया था। करुणासिन्धु भगवान् सूर्यदेव तो एक दिनके पूजनसे वह फल देते हैं, जो शास्त्रोक्त दक्षिणासे युक्त सैकड़ों यज्ञोंके अनुष्ठानसे भी नहीं मिलता[१]। माता अदिति गद्गद हो प्रार्थना करने लगीं—'जगत्के आदि-कारण भगवान् सूर्य! आप मुझपर प्रसन्न हों। गोप (किरणोंके स्वामिन्)! मैं आपको भलीभाँति देख नहीं पाती। दिवाकर! आप ऐसी कृपा करें, जिससे मुझे आपके स्वरूपका भलीभाँति दर्शन हो सके। भक्तोंपर दया करने-वाले प्रभो! मेरे पुत्र आपके भक्त हैं। आप उनपर कृपा करें। प्रभो! मेरे पुत्रोंका राज्य एवं यज्ञभाग दैत्यों एवं दानवोंने छीन लिया है। आप अपने अंशसे मेरे गर्भद्वारा प्रकट होकर उनकी रक्षा करें।'

'देवि! मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा। मैं अपने हजारवें अंशसे तुम्हारे उदरसे प्रकट होकर तुम्हारे पुत्रोंकी रक्षा करूँगा।' भगवान् भास्करने प्रसन्न होकर अदितिको वरदान दिया और अन्तर्धान हो गये।

अब देवी अदिति यम-नियमसे रहने लगीं, समय पाकर भगवान् सूर्य उनके गर्भमें प्रविष्ट हुए। कुछ दिन बाद कृपालु भगवान् सविताने अदितिकी कोखसे जन्म लिया। कश्यपजीने भगवान्का स्तवन किया। भगवान् भास्करका यह अवतार 'मार्तण्ड' नामसे विख्यात हुआ।

साक्षात् भगवान् सूर्यनारायणको अपने भाईके रूपमें प्राप्तकर देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। उनमें नये बल एवं उत्साहका संचार हुआ और वे पुनः दैत्यों एवं दानवों-से जा भिडे। बड़ा भयानक युद्ध हुआ। भगवान् मार्तण्डकी तेजोमयी दृष्टिमात्रसे ही दैत्य एवं दानव भस्म होने लगे और अन्तमें देवताओंकी विजय हुई। उन्हें अपना राज्य एवं यज्ञभाग पुनः प्राप्त हो गया। भगवान् मार्तण्डकी कृपा प्राप्त करके देव-वृन्द माता अदिति एवं भगवान् मार्तण्डका स्तवन करने लगे।

(२)

मुनि याज्ञवल्क्य

मुनि याज्ञवल्क्यको ज्ञान-लाभकी पिपासा थी। उनकी इच्छा हुई—'मैं ऐसी श्रुतियाँ प्राप्त करूँ, जो आजतक किसी-को प्राप्त न हुई हों।' श्रुतियोंके ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उन्होंने भगवान्की शरण ग्रहण की।' उन्होंने भगवान् सूर्यका उपस्थान आरम्भ किया और उनकी स्तुतिमें संलग्न हो गये—

हिमाम्बुघर्मवृष्टीनां कर्ता भर्ता च यः प्रभुः।
तस्मै त्रिकालरूपाय नमः सूर्याय वेधसे ॥
अपहन्ति तमो यश्च जगतोऽस्य जगत्पतिः।
सत्त्वधामधरो देवो नमस्तस्मै विवस्वते ॥
(श्रीविष्णुपु० ३ । ५ । १९-२०)

'जो हिम, जल, उष्णता और वर्षाके कर्ता अर्थात् हेमन्त,

---

१. एकाहेनापि यद्भानो· पूजायाः प्राप्यते फलम्। यथोक्तदक्षिणैर्विप्रैर्न तत् क्रतुशतैरपि ॥
(ब्रह्मपुराण २९ । ६१)

वर्षा और ग्रीष्म आदि ऋतुओंके कारण हैं तथा जो जगत्का पोषण करनेवाले हैं, उन त्रिकालमूर्ति विधाता एवं सर्वसमर्थ भगवान् सूर्यको नमस्कार है। जो जगत्पति इस सम्पूर्ण जगत्के अन्धकारको दूर करते हैं, उन सत्त्वमय तेजोरूपधारी विवस्वान्को हमारा नमस्कार है।'

मुनि याज्ञवल्क्यद्वारा की गयी स्तुतिसे भगवान् सूर्य अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने कृपा करके उन्हें अश्वरूपसे दर्शन दिया। अश्वरूपधारी सूर्यभगवान्ने याज्ञवल्क्यको यजुर्वेदके उन मन्त्रोंका उपदेश किया, जो तबतक किसीको भी प्राप्त न थे—

एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः॥
(श्रीमद्भा० १२। ६। ७३)

भगवान् भास्करकी कृपा प्राप्त कर याज्ञवल्क्यने यजुर्वेदके असंख्य मन्त्रोंमें उनकी पंद्रह शाखाओंकी रचना की। भगवान् सूर्यद्वारा वाजि (अश्व)रूपमें दिये जानेके कारण वे ही वाजसनेयि शाखाके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्हें कण्व, माध्यन्दिन आदि ऋषियोंने ग्रहण किया।

(३)

महाराज राज्यवर्धन

भगवान् श्रीरामके पूर्वज सूर्यवंशी राजा दमके पुत्र महाराज राज्यवर्धन बड़े विख्यात नरेश हुए हैं। वे अत्यन्त सजगतासे धर्मपूर्वक अपने राज्यका शासन करते थे। उनके राज्यमें सभी लोग सुखी एवं प्रसन्न थे। प्रजा धर्मके अनुकूल रहकर ही विषयोंका उपभोग करती थी। दीनोंको दान दिया जाता एवं यज्ञोंका आयोजन होता था।

राजा राज्यवर्धनको सुखपूर्वक प्रजा-पालन करते हुए बहुत लंबा समय बीत गया। एक दिन महाराज राज्यवर्धनकी महारानी उनके सिरमें तेल लगा रही थीं। उसी समय उन्हें अपने पतिके सिरमें एक सफेद बाल दिखायी दिया। उसे देखकर उनकी आँखोंमें आँसू आ गये। आँसू देखकर पृथ्वीपति राज्यवर्धनने साग्रह पूछा—'प्रिये! तुम्हारे इस प्रकार दुःखी होनेका कारण क्या है?' 'नाथ! आपके मस्तकका यह पका हुआ श्वेत केश ही मेरे दुःखका कारण है।' रानीने उत्तर दिया। 'कल्याणि! मैंने सभी तरहसे अपना कर्तव्य-पालन कर लिया, अतः अब जीवनकी क्या चिन्ता है? मैंने बहुत शुभ कर्म किये हैं। जन्मनेवालेकी तो मृत्यु निश्चित है ही, अतः अब मुझे वनमें जाकर तपस्या करनी चाहिये।' राजाने उत्तर दिया।

महाराजके वनगमनकी बात सुनकर सभी प्रजाजन व्याकुल हो उठे। प्रजापालक राज्यवर्धनके अनुरागके सामने प्रजावर्ग नतमस्तक था, कृतज्ञ था। सभी लोगोंने महाराजसे आग्रहपूर्वक कहा—'नाथ! आप हमारी प्रार्थना सुनकर कुछ दिन और प्रजा-पालन करें।' तत्पश्चात् सभी प्रजाजन महाराज राज्यवर्धनकी दीर्घ-आयुके लिये भगवान् भास्करकी आराधनामें लग गये। कुछ लोगोंने विधिपूर्वक भगवान् भास्करको अर्घ्य देना आरम्भ किया। कुछ लोगोंने 'सूर्यसूक्त'का पाठ प्रारम्भ किया, कुछने वेदमन्त्रोंके जप, स्वाध्याय एवं कुछने व्रत-उपवासद्वारा भगवान् सूर्यदेवको प्रसन्न करना चाहा। सभी लोगोंकी एक ही अभिलाषा थी कि महाराज राज्यवर्धनकी आयु बढ़े। बहुत-से ब्राह्मणोंने सुदामा नामक गन्धर्वके परामर्शसे कामरूप पर्वतके गुरुविशाल नामक वनमें भगवान् भास्करकी आराधना आरम्भ की। उन्होंने भक्तिपूर्वक कई दिनोंतक भगवान् भास्करका स्तवन किया—

यो ब्रह्मा यो महादेवो यो विष्णुर्यः प्रजापतिः।
वायुराकाशमापश्च पृथिवीगिरिसागराः॥
ग्रहनक्षत्रचन्द्राद्या वानस्पत्यं द्रुमौषधम्।
× × ×
ब्राह्मी माहेश्वरी चैव वैष्णवी चैव ते तनुः।
त्रिधा यस्य स्वरूपं तु भानोर्भास्वान् प्रसीदतु॥
(मार्कण्डेयपु० १०९। ६९—७१)

'जो ब्रह्मा, महादेव, विष्णु, प्रजापति, वायु, आकाश, जल, पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा आदि हैं; वनस्पति, वृक्ष और ओषधियाँ जिनके स्वरूप हैं; ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी—ये त्रिधा शक्तियाँ जिनका वपु है, भानु (सूर्य) जिनका स्वरूप है, वे भुवन-भास्कर (हमपर) प्रसन्न हों।'

अन्तमें कृपालु भगवान् सूर्यदेव प्रजाजनकी आराधनासे प्रसन्न होकर उनके समक्ष प्रकट हो गये। उन्होंने उनका अभीष्ट वर (राज्यवर्धनकी यौवनयुक्त लम्बी आयु) प्रदान किया। सभी प्रजाजन भगवान् भास्करकी कृपा प्राप्त कर परम प्रसन्न हो गये।

महाराज राज्यवर्धनको जब यह बात ज्ञात हुई तो वे प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने सोचा—'मैं तो लंबी आयुका उपभोग करूँगा; परंतु मेरे परिवार एवं प्रजाके लोग तो समयपर मृत्युको प्राप्त होंगे ही।' अतः वे भी अपनी रानीके साथ कामरूप (आसाम) पर्वतपर जाकर भगवान् दिवाकरकी आराधनामे लग गये। भगवान् सूर्यको प्रसन्न करनेके लिये महाराज राज्यवर्धन एव रानी व्रत-उपवासादि करते हुए उनकी पूजा-स्तुति करने लगे। अन्तमें भगवान् सूर्य कृपा करके उनके सामने प्रकट हो गये और उनके इच्छानुसार उन्होंने राज-परिवार एव प्रजाजनकी आयु भी राजाके समान ही लंबी होनेका वर प्रदान किया।

भगवान् सूर्यकी कृपा प्राप्त कर महाराज राज्यवर्धन एवं सभी प्रजाजन सुखपूर्वक रहने लगे। जो मनुष्य ब्राह्मणोंके मुखसे भगवान् सूर्यके इस उत्तम माहात्म्यका श्रवण तथा स्वयं पठन करता है, वह एक सप्ताहतकके किये हुए पापोंसे मुक्त हो जाता है—

विप्रेस्तदखिलं श्रुत्वा भानोर्माहात्म्यमुत्तमम्।
पठंश्च मुच्यते पापैः सप्तरात्रकृतं नरः॥

(मार्कण्डेयपुराण ११० । ३८)

(४)

धर्मराज युधिष्ठिर

धर्मपरायण पाण्डवोंसे उनके सभी प्रजाजन प्रसन्न थे, ब्राह्मणोंकी तो उनपर अत्यधिक कृपा थी। धर्मराज युधिष्ठिर ब्राह्मण एवं अतिथियोंकी सेवामें सदैव तत्पर रहते थे।

पाण्डवोंके विपत्तिके दिन आये, उन्हे बारह वर्ष वनवासमे व्यतीत करने थे। उस कष्टप्रद समयमें ब्राह्मणोंने उनका साथ छोड़ना स्वीकार नहीं किया। वे भी उनके साथ हो लिये। धर्मराज उनके पोषणके लिये अत्यन्त चिन्तित हुए। वे तो कन्द-मूल खाकर किसी भी तरह काम चला सकते थे; परंतु 'ब्राह्मणोंको कैसे तृप्त किया जाय ?' यह सोचकर वे दुःखी हो उठे और अपने पुरोहित धौम्य मुनिके पास गये। धौम्य मुनिने कहा—'राजन्! सृष्टिके प्रारम्भमें सभी प्राणी भूखसे व्याकुल थे, उस समय कृपालु भगवान् सूर्यनारायणने पिताकी तरह सब प्राणियोंपर दया करके जल बरसाया तथा अन्न एवं ओषधियाँ उत्पन्न की थीं। भगवान् भास्कर ही पितृवत् परम दयालु हैं, आप उनकी शरणमे जायँ।'

महाराज युधिष्ठिर महर्षि धौम्यकी आज्ञा शिरोधार्य कर सूर्यभगवान्की आराधनामें संलग्न हो गये। वे एकाग्र-चित्त हो भगवान् दिवाकरकी पूजा करते। गङ्गाजीमें स्नान करके उन्हें पुष्प एवं नैवेद्य समर्पित करते। पुनः मनको एकाग्र कर वे सूर्यभगवान्का इस प्रकार स्तवन करते—

त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा सर्वदेहिनाम्।
त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वमाचारः क्रियावताम्॥

× × ×

त्वं ममापन्नकामस्य सर्वातिथ्यं चिकीर्षतः।
अन्नमन्नपते दातुमभित. श्रद्धयार्हसि॥

(महा० वन० ३। ३६, ६७)

'सूर्यदेव! आप सम्पूर्ण जगत्के नेत्र तथा समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं। आप ही सब जीवोंके उत्पत्ति-स्थान और कर्मानुष्ठानमें लगे पुरुषोंके सदाचार हैं। अन्नपते! मैं श्रद्धापूर्वक सबका आतिथ्य करनेकी इच्छासे अन्न प्राप्त करना चाहता हूँ। आप मुझे अन्न देनेकी दया करें।'

धर्मराजके नित्य स्तवन-पूजनसे भगवान् सूर्य बहुत प्रसन्न हुए और एक दिन उनके सम्मुख प्रकट हो गये। उनके श्रीअङ्ग प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित हो रहे थे। भगवान् सूर्यके दर्शन कर युधिष्ठिर उनके चरणोंमें गिर पड़े। भगवान् भास्करने कहा—'धर्मराज! मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारे वनवासकी अवधिमें तुम्हे अन्नका कोई कष्ट नहीं होगा। मेरी दी हुई यह बटलोई लो, इस पात्रमे बने हुए भोजनके जो भी पदार्थ होंगे, वे सब जबतक द्रौपदी स्वयं भोजन न कर लेगी, तबतक अक्षय रहेंगे। आजसे चौदहवें वर्ष तुम अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लोगे।' इतना कहकर भगवान् सूर्य अन्तर्धान हो गये। धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् सूर्यकी विलक्षण कृपा प्राप्त कर ब्राह्मण-सेवा और अतिथि-सत्कारके लिये सदैव निश्चिन्त रहे, उन्हें अन्नका कष्ट कभी नहीं हुआ।

(इ० कृ० दु०)

'भक्तोंकी करुण पुकार सुन—तुम विविध रूप धर आये'

(रचयिता—पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

भक्तोंकी करुण पुकार सुन—तुम विविध रूप धर आये;
निज जनके कष्ट मिटाये ॥ ध्रुव० ॥

सत्त्वयुक्त है विरद तुम्हारा,
फिर भी आदि दैत्यको मारा।
दुष्ट-दलनका विरद सँभारा—
बन 'वाराह' पाताल-विवरसे पृथ्वी माताको लाये ॥ तुम० ॥

फिर 'सुयज्ञमय' देह बनाकर,
अग्नि-प्रकाश रूपमें आकर।
सब संकटको दूर हटाकर—
'कपिलदेव'का पावन तन धर सभी तत्त्व समझाये ॥ तुम० ॥

सत्त्वरजस्तम अंश मिलाया,
'दत्तात्रय'का रूप बनाया।
काम-मोक्ष-संदेश सुनाया—
'सनकादिक' ऋषिवेषमें तप-संयम-नियम बताये ॥ तुम० ॥

'नर-नारायण' आकृति-धारी,
ब्रह्मचर्य-महिमा विस्तारी।
'ध्रुव' बनकर ध्रुव-भक्ति-प्रचारी—
'पृथु' अवतार बनाय कर, धन-धान्यादिक उपजाये ॥ तुम० ॥

कर्मोंकी भरमार हुई जब,
'ऋषभदेव' अवतार धरा तब।
जग-जंजाल निवृत्त किये सब—
'हयग्रीव' बन सृष्टिमें फिर वेदोंको प्रकटाये ॥ तुम० ॥

'मत्स्य' रूप धर वेद उबारा,
'कच्छप' बने रत्न दातारा।
गजने आधा नाम पुकारा—
'हरि' बन नंगे पाँवही वैकुण्ठ छोड़कर धाये ॥ तुम० ॥

बन नृसिंह 'हिरणाकुश' मारा,
श्रीप्रह्लाद भक्त उद्धारा।
'हंस' रूप धर ज्ञान उचारा—
'मन्वन्तर' अवतार धर युग-युगके पाप हटाये ॥ तुम० ॥

'वामन' बन कर गर्व विदारा,
'धन्वन्तरि' बन स्वास्थ्य सुधारा।
'परशुराम' अद्भुत अवतारा—
धर्म-हेतु इक्कीस बार क्षत्रिय निर्वंश बनाये ॥ तुम० ॥

दुर्जनता भूतलपर व्यापी,
'राम' बने मर्यादा स्थापी।
भीत हुए दुनियाके पापी—
'व्यास' विविध विज्ञानसे जगके गुरुदेव कहाये ॥ तुम० ॥

जब धर्मी पापोंसे हारे,
'कृष्ण' पूर्ण अवतार पधारे।
लीलामय बन दुःख निवारे—
'बुद्ध' रूप बन प्रेमसे करुणाके कण बरसाये ॥ तुम० ॥

जब जब जैसे संकट आये,
तब तब तैसे रूप बनाये।
कलियुगने दुर्दश्य दिखाये—
'कल्किदेव'के रूपमें संतोंके ऊपर छाये ॥ तुम० ॥

दीनोंसे बन्धुत्व तुम्हारा,
उन्हें दिया सत्प्रेम-सहारा।
द्रोह-मोह-तम दूर निवारा—
दिवस-निशामें आज भी फिर सूर्य-चन्द्र चमकाये ॥ तुम० ॥

भक्तोंकी करुण पुकार सुन—तुम विविध रूप धर आये ॥
निज जनके कष्ट मिटाये ॥

भगवान् श्रीकृष्णका कृपा-विलास

कौरव-सभामें द्रौपदी

[पृष्ठ ४५२

वनवासिनी द्रौपदीको श्रीकृष्णका कृपादान

[पृष्ठ ४५४

भक्तवत्सल भगवान्‌का प्रतिज्ञा-भंग

[पृष्ठ ४५५

अर्जुनपर कृपा

[पृष्ठ ४५५

भगवत्कृपासे कृतकृत्य भक्त
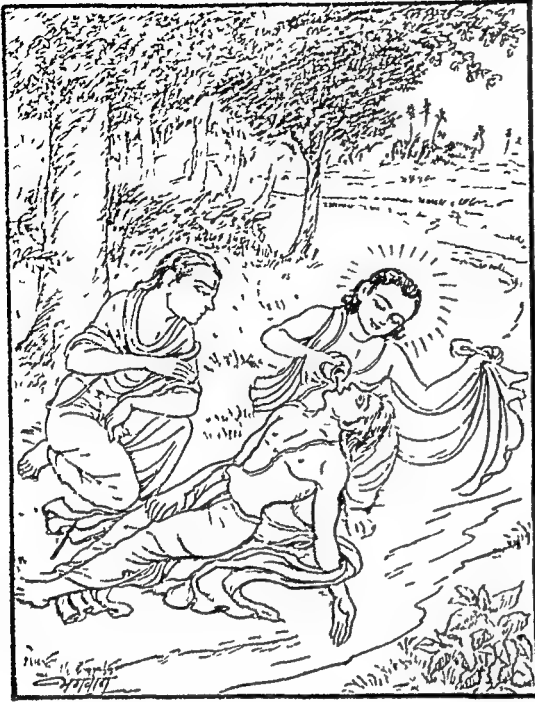
कृपाभाजन जयदेवजी

[पृष्ठ ४६३

कृपासे धन्य सखूबाई

[पृष्ठ ४६५

नरहरिपर हार-हरकी कृपा

[पृष्ठ ४६८
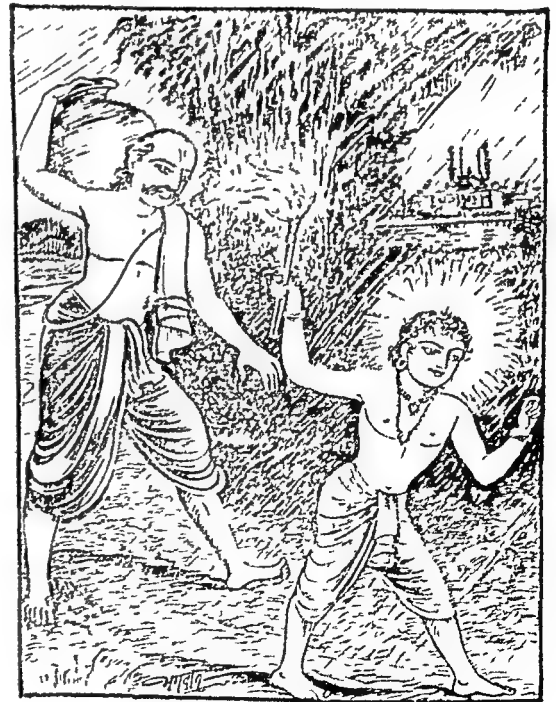
प्रेमनिधिपर कृपा

[पृष्ठ ४७२

राजर्षि सत्यव्रतपर मत्स्यभगवान्‌की कृपा

(लेखक—पं० श्रीरामाधारजी शुक्ल, शास्त्री, साहित्यकेसरी)

प्रलयपयसि धातुः सुप्तशक्तेर्मुखेभ्यः
श्रुतिगणमपनीतं प्रत्युपादत्त हत्वा ।
दितिजमकथयद् यो ब्रह्म सत्यव्रतानां
तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोऽस्मि ॥
(श्रीमद्भा० ८ । २४ । ६१)

'प्रलयकालीन समुद्रमें जब ब्रह्माजी शयन कर चुके, उनकी सृष्टि-शक्ति लुप्त हो चुकी, उस समय हयग्रीव दैत्य उनके मुखोंसे निकली हुई श्रुतियोंको चुराकर पातालमें ले गया । भगवान्‌ने उसे मारकर श्रुतियाँ ब्रह्माजीको लौटा दीं एवं राजर्षि सत्यव्रत तथा सप्तर्षियोंको ब्रह्मतत्त्वका उपदेश किया । उन समस्त जगत्‌के परम कारण भगवान् लीला-मत्स्यको मैं नमस्कार करता हूँ ।'

× × ×

कृतयुगके आदिमें सत्यव्रत-नामसे विख्यात एक राजर्षि थे । ये ही वर्तमान महाकल्पमें श्राद्धदेव नामसे प्रसिद्ध विवस्वान्‌के पुत्र हुए, जिन्हें भगवान्‌ने वैवस्वतमनु बना दिया था । राजा सत्यव्रत क्षमाशील, श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न और सुख-दुःखको समान समझनेवाले एक वीर पुरुष थे । वे पुत्रको राज्य-भार सौंपकर स्वयं तपस्याके लिये वनमें चले गये और मलयपर्वतके एक शिखरपर उत्तम योगका आश्रय लेकर कठोर तपमें संलग्न हो गये । दस हजार वर्ष बीतनेके पश्चात् प्रजापति ब्रह्माजी राजाके समक्ष प्रकट हुए और बोले—'वरं वृणीष्व' अर्थात् वर माँगो । तब राजाने पितामह ब्रह्माके चरणोंमें प्रणाम करके कहा—'देव ! मैं आपसे केवल एक ही उत्तम वर प्राप्त करना चाहता हूँ कि प्रलयकाल उपस्थित होनेपर मैं चराचर समस्त भूत समुदायकी रक्षा करनेमें समर्थ होऊँ ।' विश्वात्मा ब्रह्मा 'एवमस्तु' कहकर वहीं अन्तर्हित हो गये । देवताओंने राजापर पुष्पवृष्टि की ।

एक दिनकी घटना है, राजर्षि सत्यव्रत नदीमें स्नान करके तर्पण कर रहे थे । इतनेमें ही जलके साथ एक छोटी-सी मछली उनकी अञ्जलिमें आ गयी । राजाने जलके साथ ही उसे फिरसे नदीमें डाल दिया । तब उस मछलीने बड़ी करुणाके साथ राजासे कहा—'राजन् ! आप बड़े दयालु हैं । आप जानते ही हैं कि बड़े-बड़े जल-जन्तु अपनी जाति-वाले छोटे-छोटे जल-जन्तुओंका भक्षण कर लेते हैं, तब फिर आप मुझे इस नदीके जलमें क्यों छोड़ रहे हैं ।' राजा सत्यव्रतने उस मछलीकी अत्यन्त दीनतापूर्ण वाणी सुनकर उसे अपने कमण्डलुमें रख लिया और आश्रमपर ले आये । एक ही रातमें वह मछली इतनी बढ़ गयी कि उसके रहनेके लिये कमण्डलुमें स्थान ही नहीं रह गया । वह राजासे बोली—'राजन् ! अब तो इस कमण्डलुमें मेरा किसी प्रकार भी निर्वाह नहीं हो सकता, अतः मेरे सुखपूर्वक रहनेके लिये कोई बड़ा-सा स्थान नियत कीजिये ।' राजर्षि सत्यव्रतने उस मछलीको कमण्डलुसे निकालकर पानीसे भरे एक बहुत बड़े मटकेमें रख दिया, परंतु दो ही घड़ीमें वह वहाँ भी बढ़कर तीन हाथकी हो गयी । उसने राजासे फिर कहा—'राजन् ! यह मटका भी मेरे लिये पर्याप्त नहीं है, अतः सुखपूर्वक रहनेके लिये मुझे कोई दूसरा बड़ा-सा स्थान दीजिये ।' राजा सत्यव्रतने उस मछलीको वहाँसे उठाकर एक बड़े सरोवरमें डाल दिया, परंतु थोड़ी ही देरमें उसने उस सरोवरके जलको भी घेर लिया और कहा—'राजन् ! यह स्थान भी मेरे सुखपूर्वक रहनेके लिये पर्याप्त नहीं है ।' इस प्रकार राजा उसे अन्यान्य अगाध जलराशिवाले सरोवरोंमें छोड़ते गये और वह उन्हें अपनी शरीर-वृद्धिसे परिव्याप्त करती गयी । तब राजाने उसे समुद्रमें डाल दिया । समुद्रमें छोड़े जाते समय उस लीला-मत्स्यने कहा—'वीरवर नरेश ! समुद्रमें बहुत-से विशालकाय मगरमच्छ रहते हैं, वे मुझे निगल जायँगे; अतः आप मुझे समुद्रमें मत डालिये ।'

मत्स्यभगवान्‌की मधुर वाणी सुनकर राजा सत्यव्रत बोले—'हमें मत्स्यरूपसे मोहित करनेवाले आप कौन हैं ? आपने एक ही दिनमें सौ योजन विस्तारवाले सरोवरको आच्छादित कर लिया । ऐसा अद्भुत जल-जन्तु तो हमने आजतक न देखा और न सुना ही है । निश्चय ही आप साक्षात् सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी अविनाशी श्रीहरि हैं । जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही आपने जलचरका रूप धारण किया है । पुरुषश्रेष्ठ ! आप जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कर्ता हैं, आपको नमस्कार है । विभो ! हम शरणागत भक्तोंके आप ही आत्मा और आश्रय हैं । यद्यपि आपके सभी लीलावतार प्राणियोंके अभ्युदयके लिये ही होते हैं, तथापि मैं यह जानना

चाहता हूँ कि आपने यह मत्स्यरूप किस उद्देश्यसे धारण किया है ?'

राजाके इस प्रकार पूछनेपर मत्स्यभगवान् बोले— "शत्रुसूदन ! आजसे सातवें दिन (भूर्लोक आदि) तीनों लोक प्रलय-पयोधिमें निमग्न हो जायँगे । उस समय त्रिलोकीके प्रलय-जलराशिमें डूब जानेपर मेरी प्रेरणासे एक विशाल नौका तुम्हारे पास आयेगी । तुम समस्त ओषधियों, छोटे-बड़े सभी प्रकारके बीजों और प्राणियोंके सूक्ष्मशरीरोंको लेकर सप्तर्षियोंके साथ उस बड़ी नावपर चढ़ जाना और निश्चिन्त होकर उस एकार्णवके जलमें विचरण करना । उस समय प्रकाश नहीं रहेगा, केवल ऋषियोंके दिव्य तेजका ही सहारा होगा । जब झंझावातके प्रचण्ड वेगसे नाव डगमगाने लगेगी, उस समय मैं इसी रूपमें तुम्हारे निकट उपस्थित होऊँगा, तब तुम वासुकि नागके द्वारा उस नावको मेरे सींगमें बाँध देना । इस प्रकार जबतक ब्राह्मी निशा रहेगी, तबतक मैं तुम्हारे तथा ऋषियोंके द्वारा अधिष्ठित उस नावको प्रलयसागरमें खींचता हुआ विचरण करूँगा । उस समय तुम्हारे प्रश्न करनेपर मैं उनका उत्तर दूँगा, जिनसे मेरी महिमा, जो 'परब्रह्म' नामसे विख्यात है, तुम्हारे हृदयमें प्रस्फुटित हो जायगी ।" राजासे यों कहकर भगवान् वहीं अन्तर्हित हो गये ।

राजर्षि सत्यव्रत भगवान्के बताये हुए (उस) कालकी प्रतीक्षा करने लगे । वे कुशोंको, जिनका अग्रभाग पूर्वकी ओर था, बिछाकर उसपर ईशानकोणकी ओर मुख करके बैठ गये और मत्स्यरूपधारी श्रीहरिका चिन्तन करने लगे । इतनेमें ही राजाने देखा कि समुद्र अपनी मर्यादा भङ्ग करके चारों ओरसे पृथ्वीको डुबाता हुआ बढ़ रहा है और मेघ भयंकर वर्षा कर रहे हैं, तब उन्होंने भगवान्के आदेशका ध्यान किया और निकट आयी हुई नावको देखा । वे शीघ्र ही ओषधि, बीज, प्राणियोंके सूक्ष्म शरीर और सप्तर्षियोंको साथ लेकर उस नावपर सवार हो गये । तब सप्तर्षियोंने प्रसन्न होकर कहा—'राजन् ! केशवका ध्यान कीजिये । वे ही हमलोगोंकी इस संकटसे रक्षा करके कल्याण करेंगे ।' तदनन्तर राजाके ध्यान करते ही करुणावरुणालय श्रीहरि मत्स्यरूप धारण करके उस प्रलयाब्धिमें प्रकट हो गये । उनका शरीर स्वर्ण-सा देदीप्यमान तथा लाख योजन विस्तृत था । उनके एक सींग भी था । राजाने पूर्वकथनानुसार उस नावको वासुकिनाग-द्वारा मत्स्यभगवान्के सींगमें बाँध दिया और स्वयं प्रसन्न होकर उन मत्स्यरूपधारी मधुसूदनकी स्तुति करने लगे—

अनाद्यविद्योपहतात्मसंविद-
स्तन्मूलसंसारपरिश्रमातुराः ।
यदृच्छयेहोपसृता यमाप्नुयु-
र्विमुक्तिदो नः परमो गुरुर्भवान् ॥
न यत्प्रसादायुतभागलेश-
मन्ये च देवा गुरवो जनाः स्वयम् ।
कर्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंस-
स्तमीश्वरं त्वां शरणं प्रपद्ये ॥
तं त्वामहं देववरं वरेण्यं
प्रपद्य ईशं प्रतिबोधनाय ।
छिन्ध्यर्थदीपैर्भगवन् वचोभि-
र्ग्रन्थीन् हृदय्यान्विवृणु स्वमोकः ॥

(श्रीमद्भा० ८ । २४ । ४६, ४९, ५३)

'अनादि अविद्यामें जिनका आत्मज्ञान आच्छादित हो गया है, वे अविद्यामूलक संसार-श्रममें आतुर पुरुष दैवात् जिन आपके अनुग्रहसे ही आपकी शरणमें पहुँचकर आपको प्राप्त कर लेते हैं, वे आप हमारे मुक्तिदायक परमगुरु हैं । हे प्रभो ! देवता, गुरु और अन्य जन—ये सब मिलकर भी जिनके अनुग्रहके दस हजारवें अंशके समान भी किसी पुरुषपर स्वयं कृपा नहीं कर सकते, उन आप परमेश्वरकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ । इस समय मैं तत्त्वज्ञानका उपदेश पानेकी इच्छासे आप देवश्रेष्ठ परमपूजनीय परमेश्वरकी शरणमें आया हूँ । हे भगवन् ! आप परमार्थका प्रकाश करनेवाले अपने वचनोंसे मेरी हृदयग्रन्थियोंका छेदन कीजिये और अपने स्वरूपको प्रकाशित कीजिये ।'

राजा सत्यव्रतके स्तवन कर चुकनेपर मत्स्यरूपधारी पुरुषोत्तम भगवान्ने राजर्षि सत्यव्रतपर कृपा करके प्रलय-पयोधिमें विहार करते हुए उन्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया, जो 'मत्स्यपुराण' नामसे प्रसिद्ध है । भगवान्की कृपासे राजा सत्यव्रत ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होकर इस कल्पमें वैवस्वत-मनु हुए ।

देवताओंपर कूर्मभगवान्‌की कृपा

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः ।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति ॥

(श्रीमद्भा० १२ । १३ । २)

'जिस समय भगवान्‌ने कच्छप-रूप धारण किया और उनकी पीठपर अत्यन्त विशाल मन्दराचल मथानीकी भाँति घूम रहा था, उस समय मन्दराचलकी चट्टानोंकी नोकसे खुजलाने (रगड़ लगने)के कारण भगवान्‌को थोड़ा सुख मिला, जिससे उन्हें नींद आ गयी और उनकी श्वास-गति कुछ बढ़ गयी। उस समय उस श्वास-वायुसे समुद्रके जलको जो धक्के लगे थे, उनके प्रभावसे आज भी समुद्र ज्वार-भाटेके रूपमें दिन-रात चढ़ता-उतरता रहता है, उसे अभीतक विश्राम नहीं मिल पाया। भगवान्‌की वही श्वास-वायु आपलोगोंकी रक्षा करे।'

× × ×

घटना है चाक्षुष-मन्वन्तरकी। एक बार देवराज इन्द्र ऐरावतपर आरूढ़ हो कहीं जा रहे थे। मार्गमें महर्षि दुर्वासासे उनकी भेंट हो गयी। महर्षिने देवराजको एक प्रसाद-माला दी। मदमत्त इन्द्रने उसे लेकर ऐरावतके मस्तकपर डाल दिया। ऐरावतने उसे सूँडसे पकड़कर नीचे गिरा दिया और पैरों-तले कुचल डाला। यह देखकर महर्षिने क्रुद्ध हो इन्द्रको शाप देते हुए कहा— 'तू त्रिलोकीसहित श्रीहीन हो जायगा।' शापवश देवराज श्रीहीन हो गये। तीनों लोकोंमें यज्ञादि धर्म-कर्मोंका लोप-सा हो गया। इस प्रकार देवताओंकी शक्ति क्षीण हुई देखकर असुरोंने उनपर आक्रमण कर दिया। देवगण पराजित हो गये। अमरावती असुरोंकी क्रीड़ास्थली बन गयी। इन्द्र, वरुण आदि प्रधान देवताओंने भागकर ब्रह्माकी शरण ली। ब्रह्माजी देवताओंको साथ लेकर भगवान् श्रीविष्णुके निजधाम वैकुण्ठमें गये। वहाँ उन्हें कुछ दिखायी न पड़ा, तब विधाताने एकाग्रमनसे वाणीद्वारा भगवान्‌की स्तुति करते हुए प्रार्थना की—

त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करणगोचरम्।
प्रपन्नानां दिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम् ॥

(श्रीमद्भा० ८ । ५ । ४५)

'प्रभो ! हम आपके शरणागत हैं और मन्द-मन्द मुसकानसे युक्त आपके मुखकमलको अपने इन्हीं नेत्रोंसे देखना चाहते हैं, अतः आप हमें उसका दर्शन कराइये।'

देवगणके स्तवनसे प्रसन्न होकर अमिततेजस्वी सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि उनके मध्य प्रकट हो गये। उस समय उनकी बड़ी ही मनोहर झाँकी थी—

स्वच्छां मरकतश्यामां कञ्जगर्भारुणेक्षणाम् ॥
तप्तहेमावदातेन लसत्कौशेयवाससा ।
प्रसन्नचारुसर्वाङ्गीं सुमुखीं सुन्दरभ्रुवम् ॥
महामणिकिरीटेन केयूराभ्यां च भूषिताम् ।
कर्णाभरणनिर्भातकपोलश्रीमुखाम्बुजाम् ॥
काञ्चीकलापवलयहारनूपुरशोभिताम् ।
कौस्तुभाभरणां लक्ष्मीं बिभ्रतीं वनमालिनीम् ॥
सुदर्शनादिभिः स्वास्त्रैर्मूर्तिमद्भिरुपासिताम् ।

(श्रीमद्भा० ८ । ६ । ३-७)

'उनका मरकतमणिके समान स्वच्छ श्यामल शरीर था, उसपर तपाये हुए स्वर्णकी-सी सुनहली कान्तिवाला रेशमी पीताम्बर शोभा पा रहा था, कमलके भीतरी भागके सदृश सुकुमार नेत्रोंमें अरुणवर्ण रेखाएँ झलक रही थीं, सर्वाङ्गसुन्दर शरीरसे प्रसन्नता टपक रही थी, मुख अत्यन्त सुन्दर था, धनुष-सी झुकावदार भौंहें बड़ी मनोरम लग रही थीं, सिरपर बहुमूल्य मणियोंद्वारा निर्मित किरीट और भुजाओंमें बाजूबंद शोभा पा रहे थे, कानोंमें झलमलाते हुए कुण्डलोंका आभा पड़नेसे कपोलोंकी शोभा अनोखी हो रही थी, जिससे मुखकमल खिल उठता था, कटि-प्रदेशमें करधनीकी लड़ियाँ, हाथोंमें कङ्कण, गलेमें हार और चरणोंमें नूपुर शोभायमान थे, वक्षःस्थल-पर लक्ष्मी, गलेमें कौस्तुभमणि तथा वनमाला सुशोभित थीं। सुदर्शन चक्र आदि भगवान्‌के निज आयुध मूर्तिमान् होकर उनकी सेवा कर रहे थे।'

उन सर्वसमर्थ प्रभुका दर्शन करके देवताओंने उनकी स्तुति करते हुए अपना अभीष्ट निवेदन किया—

त्वामार्ताः शरणं विष्णो प्रयाता दैत्यनिर्जिताः ।
वयं प्रसीद सर्वात्मंस्तेजसाप्याययस्व नः ॥

(श्रीविष्णुपु० १ । ९ । ७२)

'विष्णो ! दैत्योंसे पराजित हुए हमलोग आर्त होकर

आपकी शरणमें आये हैं। सर्वात्मन्! आप हमपर प्रसन्न होइये और अपने तेजसे हमें शक्तिशाली बनाइये।'

देवताओंकी प्रार्थना सुनकर भगवान्ने कहा—'देवताओ! तुमलोग सावधान होकर मेरी बात सुनो। इस समय असुरों-पर कालकी कृपा है, इसलिये तुमलोग दैत्यों और दानवोंसे संधि कर लो तथा उनको साथ लेकर अविलम्ब अमृत निकालनेका प्रयत्न करो, जिसे पी लेनेसे प्राणी अमर हो जाता है। पहले तुमलोग क्षीरसागरमें घास, तिनके, लताएँ और ओषधियाँ डाल दो। फिर मन्दराचलकी मथानी और वासुकि नागकी नेती बनाकर मेरी सहायतासे समुद्र-मन्थन करो। विश्वास रखो—दैत्योंको तो केवल श्रम और क्लेश मिलेगा, परंतु तुमलोगोंको अवश्य ही शुभ फल मिलेगा। इसलिये असुरगण तुमसे जो चाहें, सब स्वीकार कर लो।' शिक्षा देकर भगवान् वहीं अन्तर्धान हो गये।

देवराज इन्द्र मुख्य-मुख्य देवताओंके साथ दैत्यराज बलिके पास पहुँचे। स्वार्थ-साधक इन्द्रने उन्हें अपने बन्धुत्वका स्मरण कराया और उनके साथ संधि करके अमृत-प्राप्तिके लिये समुद्र-मन्थनका प्रस्ताव रखा। भगवत्प्रेरणासे वे सहमत हो गये। फिर तो धरातलकी समस्त ओषधियाँ क्षीरसागरमें डाल दी गयीं। दोनों पक्षोंने मतभेद त्यागकर मन्दराचलको उखाड़ लिया और ले चले, परंतु भारी पड़नेके कारण थककर उन्होंने उसे थोड़ी ही दूरपर पटक दिया। उसके गिरनेसे बहुत-से सुर-असुर दबकर चकना-चूर हो गये। उनको हतोत्साह देख कृपानिधान सर्वान्तर्यामी गरुड़वाहन भगवान् वहीं प्रकट हो गये और उन्होंने अपनी पीयूषवर्षिणी दृष्टिसे देखकर मरे हुए देवोंको जीवन-दान दिया। फिर एक हाथसे मन्दराचलको उठाकर गरुड़पर रख लिया और सुरासुरोंके साथ वे क्षीरसिन्धुके तटपर पहुँचे। मन्दराचल समुद्रमें डाल दिया गया और वासुकि नागकी नेती बनाकर दैत्य और देवता समुद्रका मन्थन करने लगे। मथते समय मन्दराचल नीचे धँसता जा रहा था, क्योंकि उसके नीचे कोई आधार न था। यह देखकर अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न करुणासिन्धु भगवान् विशाल एवं विचित्र कच्छपका रूप धारणकर मन्दराचलके नीचे पहुँच गये और उन्होंने उसे अपनी पीठपर धारण कर लिया। मन्दराचल तीव्रतासे घूम रहा था और भगवान् उसकी रगड़से अपनी पीठपर खुजलीके-से सुखका अनुभव कर रहे थे।

इस प्रकार कच्छप-रूपधारी भगवान्की कृपासे समुद्र-मन्थनका कार्य सम्पन्न हुआ। उसमेंसे अमृतसहित चौदह रत्न उद्भूत हुए। कृपामूर्ति भगवान्ने उन्हें यथायोग्य वितरित कर दिया। अमृत केवल देवताओंको ही मिला, जिससे वे सशक्त होकर पुनः अपने-अपने पदपर आसीन हो गये।

(रा० शुक्ल)

'कृपा-सुधा-सागरतट प्यासा प्यासा ही रहता है'

(रचयिता—श्रीगयाप्रसादजी द्विवेदी 'प्रसाद')

कृपासिन्धुकी परमकृपा ही करती प्रकृति पसारा,
बड़ी निपुणतासे रचती है कण-कण न्यारा-न्यारा।
हम मानव प्राणी ही होते हैं अनन्य अधिकारी,
मानो वह निश्चिन्त हो जाती सौंप हमें कृति सारी॥

करते हैं अतएव देव भी नर तनकी अभिलाषा,
जीव समझ सकता इसमें ही जीवनकी परिभाषा।
जिसे समझकर सूझ-बूझके द्वार सभी खुल जाते,
और चिरन्तन मानस पटके अमिट-दाग धुल जाते॥

प्रभुका कृपासिन्धु लहराता चारों ओर हमारे,
मिलनेको उत्सुक हैं लहरें अगणित भुजा पसारे।
कितना कोमल सरस सुशीतल वह आलिङ्गन होता,
जिसके स्पर्शमात्रसे पावन तन, मन, जीवन होता॥

पर हम महामोह-मदिरा पी रहते सुधि-बुधि खोये,
भ्रमते हैं भ्रम-विषम-जालमें लोकाचार विगोये।
सुर-दुर्लभ जीवन-रस इससे नीरस बन बहता है,
कृपा-सुधा-सागरतट प्यासा प्यासा ही रहता है॥

पृथ्वीपर वराहभगवान्‌की कृपा

स्रुक्तुण्ड सामस्वरधीरनाद
प्राग्वंशकायाखिलसत्रसंधे ।
पूर्तेष्टधर्मश्रवणोऽसि देव
सनातनात्मन् भगवन् प्रसीद ॥
(श्रीविष्णुपु० १ । ४ । ३४)

'प्रभो ! स्रुक् आपका तुण्ड—थूथुन है, सामस्वर धीर-गम्भीर शब्द है, प्राग्वंश—यजमान-गृह शरीर है तथा सत्र शरीरकी संधियाँ है। देव! इष्ट—श्रौत और पूर्त—स्मार्त धर्म आपके कान हैं। नित्यस्वरूप भगवन्! प्रसन्न होइये।'

× × ×

ब्रह्माजीका दिन बीत जानेपर जब अवान्तर प्रलय होता है, तब सम्पूर्ण त्रिलोकीको व्याप्त करके केवल जल-ही-जल रह जाता है। उस समय त्रिभुवनमें जितने भी जीव होते हैं, उन सबको ग्रसकर ब्रह्मस्वरूप जगदीश्वर भगवान् विष्णु उस एकार्णव जलके भीतर सहस्रों फणोंसे सुशोभित शेषनागकी शय्यापर सहस्र युगोंतक चलनेवाली रात्रिमें शयन करते हैं। तत्पश्चात् निद्रावसानमें उन्हींकी प्रेरणासे पुनः सृष्टि होती है।

× × ×

पूर्वकालमें सनकादि ऋषियोंके शापसे वैकुण्ठधामके द्वारपाल जय-विजयको दैत्य-योनिमें जन्म लेना पड़ा था। वे ही कश्यपजीसे दितिके पुत्ररूपमें हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष नामसे उत्पन्न हुए थे। वे महान् बलशाली और पराक्रमी थे। हिरण्याक्ष पातालमें रहता था और स्वर्गके देवताओंपर आक्रमण करके उनकी पुरीपर घेरा डाल देता था। इतना ही नहीं, वह पृथ्वीपर यज्ञ करनेवाले मनुष्योंका भी अपकार करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहता था। एक बार उसने सोचा—'मर्त्यलोकमें रहनेवाले मनुष्य पृथ्वीपर रहकर देवताओंका यजन करेंगे, इससे उनका बल, वीर्य और तेज बढ़ जायगा।' इस प्रकार विचारकर महान् असुर हिरण्याक्ष (ब्रह्माजी द्वारा सृष्टि-रचना-कालमें उत्पन्न) भूमिकी धारणा-शक्तिको ले जलके भीतर-ही-भीतर रसातलमें चला गया। आधारशक्तिसे रहित पृथ्वी भी रसातलमें चली गयी।

× × ×

ब्रह्माजी सृष्टि-विस्तारके लिये मन-ही-मन श्रीहरिका स्मरण कर रहे थे। इतनेमें ही उनके शरीरके एक भागसे 'नर' और दूसरे भागसे 'नारी' उत्पन्न हुई। उन दोनोंको देखकर विधाताको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने दोनोंका नामकरण किया—नरका 'मनु' और नारीका 'शतरूपा'। फिर मनुको आज्ञा दी कि तुम शतरूपाको अपनी अर्धाङ्गिनीके रूपमें स्वीकार कर लो। तत्पश्चात् मनुने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर ब्रह्माजीसे प्रार्थना की—'पूज्यपाद! हम आपको नमस्कार करते हैं। आप हमसे हो सकने योग्य किसी ऐसे कार्यके लिये हमें आज्ञा दीजिये, जिससे इस लोकमें हमारी सर्वत्र कीर्ति हो और परलोकमें सद्गति प्राप्त हो सके।' तब ब्रह्माजीने कहा—'वीर! तुम अपनी इस भार्यासे अपने ही समान गुणवती संतति उत्पन्न करके धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करो और यज्ञोंद्वारा श्रीहरिकी आराधना करो।' मनुने पुनः निवेदन किया—'पिताजी! मैं आपकी आज्ञाका पालन अवश्य करूँगा, किंतु आप इस जगत्‌में मेरे और मेरी भावी संततिके रहनेके लिये स्थान बतलाइये। देव! सम्पूर्ण जीवोंकी आश्रयभूता पृथ्वी तो इस समय प्रलयके जलमें निमग्न है। आप इसके उद्धारका प्रयत्न कीजिये।'

ब्रह्माजी पृथ्वीके उद्धारार्थ मन-ही-मन सर्वशक्तिमान् श्रीहरिका ध्यान कर ही रहे थे कि अकस्मात् उनके नासाछिद्रसे अंगूठेके बराबर आकारका एक वराह-शिशु प्रकट हुआ। लोकस्रष्टा विस्मय-विमुग्ध हो उसकी ओर देख ही रहे थे कि वह क्षणभरमें बढ़कर विशाल गजराजके बराबर हो गया। यह देखकर मरीचि आदि मुनिजन, सनकादि और मनुसहित विचार करते हुए ब्रह्माजी इस निष्कर्षपर पहुँचे कि निश्चय ही यज्ञमूर्ति भगवान् हमलोगोंको मोहित कर रहे हैं। यह मङ्गलमय प्रभुका ही वेदयज्ञमय वराह-वपु है। थोड़ी ही देरमें वह वराह-वपु पर्वताकार हो गया। उनकी भयंकर गर्जना चतुर्दिक् व्याप्त हो गयी। वे घुरघुराते और गरजते हुए गजराजकी-सी लीला करने लगे। उनका स्वरूप अत्यन्त अद्भुत था—

वेदपादं यूपदंष्ट्रं चितिवक्त्रं नराधिप ॥
व्यूढोरस्कं महाबाहुं पृथुवक्त्रं नराधिप ।
अग्निजिह्वं स्रुवं तुण्डं चन्द्रार्कनयनं महत् ॥
पूर्तेष्टधर्मश्रवणं दिव्यं तं सामनिःस्वनम् ।
प्राग्वंशकायं हविर्नासं कुशदर्भतनूरुहम् ॥
सर्ववेदमयं तच्च पुण्यसूक्तं महासटम् ।
नक्षत्रताराहारं च प्रलयावर्तभूषणम् ॥
(नरसिंहपु० ३९ । ११-१४)

'चारों वेद ही उनके चरण थे, यूप—पशु-बन्धनके लिये बना हुआ काष्ठ-स्तम्भ ही दाढ़ था और चिति—श्येनचित् आदि मुख । मुखमण्डल स्थूल और छाती चौड़ी थी, भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं । अग्नि ही जिह्वा और स्रुक्—स्रुवा ही थूथुन थी । चन्द्रमा और सूर्य विशाल नेत्र थे, पूर्त—बावली-निर्माण आदि और इष्ट-धर्म—यज्ञ-यागादि उनके कान थे, साम ही स्वर था, प्राग्वंश—पत्नीशाला या यजमान-गृह ही शरीर था, हवि ही नासिका थी, कुश-दर्भ ही रोमवलियाँ थे । इस प्रकार उनका सम्पूर्ण शरीर वेदमय था, पवित्र वैदिक सूक्त ही उनके बड़े-बड़े अयाल थे । नक्षत्र और तारे उनके हार थे तथा प्रलयकालीन आवर्त—भँवर ही उनके लिये भूषणका काम दे रहे थे ।'

सर्वप्रथम वे वराह-वपु भगवान् पूँछ उठाकर बड़े वेगसे आकाशमें उछले और अपनी गर्दनके बालोंको फटकार कर खुरोंके आघातसे बादलोंको छिन्न-भिन्न करने लगे । उनका शरीर अत्यन्त कठोर था, त्वचापर कड़े-कड़े बाल थे, दाढ़ें श्वेतवर्णकी थीं और नेत्रोंसे तेज निकल रहा था । वे अपनी नाकसे सूँघ-सूँघकर पृथ्वीका पता लगा रहे थे । उन्होंने बड़ी सौम्य दृष्टिसे मुनियोंकी ओर निहारते हुए जलमें प्रवेश किया । उनके वज्रमय पर्वतके समान कठोर कलेवरके आघातसे समुद्रके जलमें बादलोंकी गड़गड़ाहटके समान बड़ा भीषण शब्द हुआ, उसकी उत्ताल तरंगें तटप्रान्तको आप्लावित करने लगीं । इस प्रकार वे खुरोंसे जलको चीरते हुए रसातलमें जा पहुँचे । वहाँ उन्होंने समस्त जीवोंकी आश्रयभूता पृथ्वीको देखा । भगवान्‌को अपने सम्मुख उपस्थित देखकर पृथ्वीने उनकी अनेक प्रकारसे स्तुति करते हुए प्रार्थना की—

नमस्ते पुण्डरीकाक्ष शङ्खचक्रगदाधर ।
मामुद्धरास्मादद्य त्वं त्वत्तोऽहं पूर्वमुत्थिता ॥
(विष्णुपु० १ । ४ । १०)

'शङ्ख, चक्र और गदाधारी कमलनयन भगवन् ! आपको नमस्कार है । आज आप इस रसातलसे मेरा उद्धार कीजिये । पूर्वकालमें मैं आपसे ही उत्पन्न हुई थी ।'

धरित्रीकी प्रार्थना सुनकर वराहभगवान् उसे अपनी दाढ़ोंपर रखकर रसातलसे ऊपर आये । उस समय उनकी शोभा अद्भुत थी । बाहर निकलते समय उनके मार्गमें विघ्न डालनेके लिये महापराक्रमी हिरण्याक्षने जलके भीतर ही उनपर गदासे आक्रमण किया । इससे उनका क्रोध उद्दीप्त हो उठा और उन्होंने उसे (लीलापूर्वक) उसी प्रकार मार डाला, जैसे सिंह गजराजको मार डालता है । उसके रक्तसे उनके थूथुन और कनपटी लथपथ हो गयी थी । उस समय वे ऐसे जान पड़ते थे, मानो कोई गजराज लाल मिट्टीके टीलेपर टक्कर मारकर आया हो । इस प्रकार वे अपने उज्ज्वल दाँतोंपर पृथ्वीको धारण किये जलसे बाहर निकले । उन्हें देखकर मरीचि आदि ऋषि वेदवाक्योंद्वारा उनकी स्तुति करने लगे ।

उन ब्रह्मवादी मुनियोंके स्तुति कर चुकनेपर सर्वरक्षक कृपासिन्धु भगवान् वराहने अपने खुरोंसे जलको स्तम्भित कर उसीपर पृथ्वीको स्थापित कर दिया । तत्पश्चात् वे करुणावरुणालय श्रीहरि सबके देखते-देखते वहीं अन्तर्धान हो गये । इस प्रकार वराह-रूपधारी करुणाकर भगवान्‌ने कृपा करके मनु-शतरूपाकी भावी संततियोंके लिये आश्रयभूता पृथ्वीकी स्थापना कर दी ।

(रा० शुक्ल)

भक्त प्रह्लादपर नृसिंहभगवान्‌की कृपा

स्वभक्तपक्षपातेन परपक्षविदारणम् ।
नृसिंहमद्भुतं वन्दे परमानन्दविग्रहम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १ श्रीधरस्वामिकृत मङ्गलाचरण)

'जिन्होंने अपने भक्तका पक्ष लेकर उसके विपक्षीको नष्ट कर दिया, उन परमानन्दस्वरूप अद्भुत नृसिंह-रूपधारी भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ ।'

× × ×

कृतयुगकी बात है, एक बार ब्रह्माके मानसपुत्र सनकादि, जिनकी अवस्था सदा पञ्चवर्षीय बालककी-सी ही रहती है, घूमते हुए वैकुण्ठलोकमें जा पहुँचे । वे भगवान् विष्णुके पास जाना चाहते थे, परंतु जय-विजय नामक द्वारपालोंने उन्हें बालक समझकर भीतर जानेसे रोक दिया । यह देख ऋषियोंको क्रोध आ गया और उन्होंने शाप देते हुए कहा—'तुमलोगोंकी बुद्धि तमोगुणसे अभिभूत है, अतः तुम दोनों असुर हो जाओ । तीन जन्मोंके बाद पुनः तुम्हें इस स्थानकी प्राप्ति होगी ।' ऋषि-शापवश वे ही दोनों दितिके गर्भसे हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्षके रूपमें उत्पन्न हुए । हिरण्याक्षको भगवान् विष्णुने वराहावतार धारण करके मार दिया । भाईके वधसे संतप्त हिरण्यकशिपु दैत्यों और दानवोंको सब ओर अत्याचार करनेके लिये आज्ञा देकर, स्वयं महेन्द्राचलपर चला गया । उसके हृदयमें वैरकी आग धधक रही थी, अतः वह भगवान् विष्णुसे बदला लेनेके विचारसे घोर तपस्यामें संलग्न हो गया ।

इधर हिरण्यकशिपुको तपस्या-निरत देखकर इन्द्रने दैत्योंपर चढ़ाई कर दी । दैत्यगण अनाथ होनेके कारण भागकर रसातलमें चले गये । इन्द्रने राजमहलमें प्रवेश करके राजरानी कयाधूको बंदी बना लिया । उस समय वह गर्भवती थी । उसे वे अमरावतीकी ओर ले जा रहे थे । मार्गमें देवर्षि नारदसे उनकी भेंट हो गयी । नारदजीने कहा—'इन्द्र ! इसे कहाँ ले जा रहे हो ?' इन्द्रने कहा—'देवर्षे ! इसके गर्भमें हिरण्यकशिपुका अंश है, उसे मारकर इसे छोड़ दूँगा ।' यह सुनकर नारदजीने कहा—'देवराज ! इसके गर्भमें बहुत बड़ा भगवद्भक्त है, जिसे मारना तुम्हारी शक्तिके बाहर है, अतः इसे छोड़ दो ।' नारदजीके कथनका गौरव मानते हुए इन्द्र कयाधूको छोड़कर अमरावती चले गये । नारदजी कयाधूको अपने आश्रमपर ले आये और उससे बोले—'बेटी ! तुम यहाँ तबतक सुखपूर्वक निवास करो, जबतक तुम्हारा पति तपस्यासे लौटकर नहीं आ जाता ।' समय-समयपर नारदजी गर्भस्थ बालकको लक्ष्य करके कयाधूको तत्त्वज्ञानका उपदेश देते रहते थे । यही बालक जन्म लेनेपर परम भागवत प्रह्लाद हुआ ।

जब हिरण्यकशिपुकी तपस्यासे त्रिलोकी संतप्त हो उठी और देवताओंमें खलबली मच गयी, तब वे सब संगठित होकर ब्रह्माकी शरणमें गये और उनसे हिरण्यकशिपुको तपसे विरत करनेकी प्रार्थना की । ब्रह्मा हंसपर आरूढ़ होकर वहाँ आये, जहाँ हिरण्यकशिपु तपस्या कर रहा था । उसके शरीरको चीटियाँ चाट गयी थीं, केवल अस्थिगत प्राण अवशेष थे और वह एक बाँबीके आकारका दीख पड़ता था । ब्रह्माने उस बाँबीपर अपने कमण्डलुका जल छिड़क दिया । फलतः हिरण्यकशिपु अपने असली रूपमें निकल आया । तब ब्रह्माने कहा—'बेटा ! ऐसी तपस्या तो आजतक न किसीने की है और न आगे कोई करेगा ही । अब तुम अपना अभीष्ट वर माँग लो ।' यह सुनकर हिरण्यकशिपु बोला—'प्रभो ! आपके बनाये हुए किसी प्राणीसे—चाहे वह मनुष्य हो या पशु, प्राणी हो या अप्राणी, देवता हो या दैत्य अथवा नागादि—मेरी मृत्यु न हो । भीतर-बाहर, दिनमें, रात्रिमें, आपके बनाये प्राणियोंके अतिरिक्त और भी किसी जीवसे, अस्त्र-शस्त्रसे, पृथ्वी या आकाशमें—कहीं भी मेरी मृत्यु न हो । युद्धमें कोई मेरा सामना न कर सके । मैं समस्त प्राणियोंका एकछत्र सम्राट् हो जाऊँ । देवताओंमें आप-जैसी महिमा मेरी भी हो और तपस्वियों एवं योगियोंके समान अक्षय ऐश्वर्य मुझे भी दीजिये ।'

ब्रह्मा उसकी तपस्यासे प्रसन्न तो थे ही, अतः उसे मुँहमाँगा वरदान देकर वहीं अन्तर्धान हो गये । हिरण्यकशिपु अपनी राजधानीमें चला आया । कयाधू भी नारदजीके आश्रमसे राजमहलमें आ गयी । उसके गर्भसे भागवत-रत्न प्रह्लाद उत्पन्न हुए । हिरण्यकशिपुके चार पुत्र थे । प्रह्लाद उनमें सबसे छोटे थे, अतः उनपर हिरण्यकशिपुका विशेष स्नेह था । उसने अपने गुरुपुत्र षण्ड और अमर्कको बुलवाया और शिक्षा देनेके लिये प्रह्लादको उनके हवाले कर दिया । प्रह्लाद गुरु-गृहमें शिक्षा पाने लगे । कुशाग्रबुद्धि

होनेके कारण वे गुरु-प्रदत्त शिक्षा शीघ्र ही ग्रहण कर लेते थे। साथ ही उनकी भगवद्भक्ति भी बढ़ती जा रही थी। वे असुर-बालकोंको भी भगवद्भक्तिकी शिक्षा देते। एक दिन हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको गोदमें बैठाकर बड़े प्रेमसे पुचकारते हुए कहा—'बेटा! अपनी पढ़ी हुई अच्छी-से-अच्छी बात सुनाओ।' तब प्रह्लादने भगवद्भक्तिकी ही प्रशंसा की। यह सुनते ही हिरण्यकशिपु क्रोधसे आगबबूला हो गया और उसने प्रह्लादको अपनी गोदसे उठाकर भूमिपर पटक दिया तथा असुरोंको उन्हें मार डालनेकी आज्ञा दे दी। फिर तो प्रह्लादका काम तमाम कर देनेके लिये असुरोंने उनपर विभिन्न अस्त्रोंका प्रयोग किया, परंतु वे सभी निष्फल हो गये। तत्पश्चात् उन्हें हाथियोंसे कुचलवाया गया, विषधर सर्पोंसे डँसवाया गया, पुरोहितोंसे उन्हें मारनेके लिये कृत्या राक्षसी उत्पन्न करायी गयी, पर्वतकी चोटीसे नीचे डलवा दिया गया, शम्बरासुरसे उनपर अनेकों प्रकारकी मायाका प्रयोग करवाया गया, अँधेरी कोठरियोंमें बंद करा दिया गया, विष पिलाया गया, भोजन बंद कर दिया गया, बर्फ, दहकती हुई आग और समुद्रमें डलवाया गया, आँधीमें छोड़ा गया तथा पर्वतके नीचे दबवा दिया गया, परंतु किसी भी उपायसे प्रह्लादका बाल भी बाँका न हो सका।

एक दिन गुरु-पुत्रोंकी शिकायतपर हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको अपने निकट बुलाया और उन्हें तरह-तरहसे डराने-धमकाने लगा। फिर उनसे कहा—'रे दुष्ट! जिसके बलपर तू ऐसी बहकी-बहकी बातें बोल रहा है, तेरा वह ईश्वर कहाँ है? वह यदि सर्वत्र है तो इस खंभेमें क्यों नहीं दिखायी देता?' तब प्रह्लादने कहा—'मुझे तो वे प्रभु खंभेमें भी दीख रहे हैं।' यह सुनकर हिरण्यकशिपु क्रोधके मारे अपनेको सँभाल न सका और हाथमें खड्ग लेकर सिंहासनसे कूद पड़ा, उसने बड़े जोरसे उस खंभेपर एक घूँसा मारा। उसी समय उस खंभेसे बड़ा भयंकर शब्द हुआ। ऐसा जान पड़ता था, मानो ब्रह्माण्ड फट गया हो। उस शब्दको सुनकर हिरण्यकशिपु घबराया हुआ-सा इधर-उधर देखने लगा कि यह शब्द करनेवाला कौन है, इतनेमें ही वहाँ बड़ी अलौकिक घटना घटी—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ८। १८)

'इसी समय अपने भृत्य प्रह्लादकी वाणी सत्य करने तथा समस्त भूतोंमें अपनी व्यापकता दिखलानेके लिये सभाके भीतर उसी खंभेमेंसे अत्यन्त अद्भुत रूप धारण करके कृपासिन्धु भगवान् प्रकट हुए। वह रूप न तो समूचा सिंहका ही था और न मनुष्यका ही।'

जिस समय हिरण्यकशिपु शब्द करनेवालेकी खोज कर रहा था, उसी समय उसने खंभेके भीतरसे निकलते हुए उस अद्भुत प्राणीको देखा। वह सोचने लगा—'अहो! यह न तो मनुष्य है न पशु, फिर यह नृसिंहके रूपमें कौन-सा अलौकिक जीव है?' जिस समय हिरण्यकशिपु इस उधेड़-बुनमें लगा हुआ था, उसी समय करुणासागर भगवान् नृसिंह उसके ठीक सामने ही खड़े हो गये। उनका रूप बड़ा भयंकर था।

'उनकी आँखें तपाये हुए सोनेके समान पीली-पीली एवं भयावनी थीं, गरदन तथा मुखके चमचमाते हुए बालोंसे उनका चेहरा भग-भग दीख रहा था, उनकी दाढ़ें बड़ी विकराल थीं, उनकी जीभ तलवारके समान लपलपाती हुई तथा छुरेकी धारके सदृश तीखी थी, टेढ़ी भौंहोंके कारण उनका मुख और भी भीषण प्रतीत होता था, उनके कान निश्चल एवं ऊपरकी ओर उठे हुए थे, उनकी फूली हुई नासिका और खुला हुआ मुख पर्वतकी गुफाके सदृश अद्भुत जान पड़ता था, फटे हुए जबड़ोंके कारण उनकी भीषणता बहुत बढ़ गयी थी। उनका विशाल शरीर स्वर्गका स्पर्श कर रहा था, गरदन कुछ नाटी और मोटी थी, छाती चौड़ी और कमर पतली थी। चन्द्रमाकी किरणोंके समान सफेद रोएँ सारे शरीरपर चमक रहे थे। चारों ओर सैकड़ों भुजाएँ फैली हुई थीं, उनके बड़े-बड़े नख आयुधका काम दे रहे थे।'

हिरण्यकशिपु सिंहनाद करता हुआ हाथमें गदा लेकर नृसिंहभगवान्पर टूट पड़ा। लीलाविहारी भगवान् भी कुछ देरतक उसके साथ युद्धलीला करते रहे। अन्तमें उन्होंने बड़ा भीषण अट्टहास किया, जिससे हिरण्यकशिपुकी आँखें बंद हो गयीं। तब भगवान्ने झपटकर उसे उसी प्रकार दबोच लिया, जैसे साँप चूहेको पकड़ लेता है। फिर उसे सभाके

दरवाजेपर ले जाकर अपनी जाँघोंपर गिरा लिया और खेल-ही-खेलमें अपने नखोंसे उसके कलेजेको फाड़कर पृथ्वीपर पटक दिया। सहायतार्थ आये हुए सभी दैत्योंको उन्होंने खदेड़-खदेड़कर मार डाला। उस समय उनकी क्रोधसे भरी आँखोंकी ओर देखा नहीं जा सकता था। वे अपनी लपलपाती हुई जीभसे दोनों जबड़ोंको चाट रहे थे। उनके मुख और गरदनके बालोंपर खूनके छींटे झलक रहे थे। उस समय भगवान् नृसिंहकी गरदनके बालोंके झटकेसे बादल तितर-बितर हो रहे थे। उनके नेत्रोंकी ज्वालासे सूर्य आदि ग्रहोंका तेज फीका पड़ गया। उनके श्वासके धक्केसे समुद्र क्षुब्ध हो उठे। उनके सिंहनादसे भयभीत होकर दिग्गज चिग्घाड़ने लगे। उनकी गरदनके बालोंसे टकराकर देवताओंके विमान अस्त-व्यस्त हो गये। स्वर्ग डगमगा गया, पैरोंकी धमकसे भूकम्प आ गया, वेगसे पर्वत उड़ने लगे, तेजकी चकाचौंधसे दिशाओंका दीखना बंद हो गया। उनका क्रोध बढ़ता जा रहा था। वे हिरण्यकशिपुकी राजसभामें ऊँचे सिंहासनपर विराजमान हो गये। उनकी क्रोधपूर्ण भयंकर मुखाकृतिको देखकर किसीका भी साहस नहीं हुआ, जो निकट जाकर उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करे।

तब ब्रह्माने प्रह्लादसे कहा—'बेटा! तुम्हारे पितापर ही तो भगवान् कुपित हुए थे। अब तुम्हीं जाकर उन्हें शान्त करो।' प्रह्लाद 'जो आज्ञा' कहकर भगवान्‌के निकट जा, हाथ जोड़ पृथ्वीपर साष्टाङ्ग लोट गये। अपने चरणोंमें एक नन्हे-से बालकको पड़ा हुआ देखकर कृपानिधान भगवान् दयार्द्र हो गये। उन्होंने प्रह्लादको उठाकर उनके सिरपर अपना कर-कमल रख दिया। फिर तो प्रह्लादको तत्काल परमतत्त्वका साक्षात्कार हो गया। उन्होंने भावपूर्ण हृदय तथा निर्निमेष नयनोंसे भगवान्‌को निहारते हुए प्रेम-गद्गद वाणीसे स्तुति की।

प्रह्लादद्वारा की गयी स्तुतिसे नृसिंहभगवान् संतुष्ट हो गये और उनका क्रोध जाता रहा। तब वे प्रेमसे भरकर प्रसन्नतापूर्वक बोले—

प्रह्लाद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम।
वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्॥
मामप्रीणत आयुष्मन् दर्शनं दुर्लभं हि मे।
दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति॥
प्रीणन्ति ह्यथ मां धीराः सर्वभावेन साधवः।
श्रेयस्कामा महाभागाः सर्वासामाशिषां पतिम्॥

(श्रीमद्भा० ७।९।५२–५४)

'भद्र प्रह्लाद! तुम्हारा कल्याण हो। असुरोत्तम! मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो अभिलाषा हो, माँग लो, मैं मनुष्योंकी कामना पूर्ण करनेवाला हूँ। आयुष्मन्! जो मुझे प्रसन्न नहीं कर लेता, उसके लिये मेरा दर्शन दुर्लभ है; परंतु जब मेरे दर्शन हो जाते हैं, तब प्राणीके हृदयमें किसी प्रकारकी जलन नहीं रह जाती। मैं समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ, इसीलिये सभी कल्याणकामी परम भाग्यवान् साधुजन जितेन्द्रिय होकर अपनी समस्त वृत्तियोंसे मुझे प्रसन्न करनेका प्रयत्न करते हैं।'

तब प्रह्लादने कहा—'मेरे वरदायकशिरोमणि स्वामिन्! यदि आप मुझे मुँहमाँगा वरदान देना चाहते हैं तो ऐसी कृपा कर दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित ही न हो।'

यह सुनकर दयासागर नृसिंहभगवान्‌ने कहा—'वत्स प्रह्लाद! तुम्हारे-जैसे एकान्तप्रेमी भक्तको यद्यपि किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं रहती, तथापि तुम केवल एक मन्वन्तरतक मेरी प्रसन्नताके लिये इस लोकमें दैत्याधिपतियोंके समस्त भोग स्वीकार कर लो। यज्ञभोक्ता ईश्वरके रूपमें मैं ही समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हूँ, अतः तुम मुझे अपने हृदयमें देखते रहना और मेरी लीला-कथाएँ सुनते रहना। समस्त कर्मोंके द्वारा मेरी ही आराधना करके अपने प्रारब्ध-कर्मका क्षय कर देना। अन्त समयमें शरीरका त्याग करके समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर तुम मेरे पास आ जाओगे। देवलोकमें भी लोग तुम्हारी विशुद्ध कीर्तिका गान करेंगे। इतना ही नहीं, जो भी हमारा और तुम्हारा स्मरण करेगा, वह समस्त कर्म-बन्धनोंसे मुक्त हो जायगा।'

तदनन्तर प्रह्लादने कहा—'दीनबन्धो! मेरी एक प्रार्थना यह है कि मेरे पिताने आपको भ्रातृहन्ता समझकर आपसे और आपका भक्त जानकर मुझसे जो द्रोह किया है, उस दुस्तर दोषसे वे आपकी कृपासे मुक्त हो जायँ।'

तब करुणावरुणालय नृसिंहभगवान्‌ने हिरण्यकशिपुकी पवित्रताको प्रमाणित करते हुए प्रह्लादको उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया करनेकी आज्ञा दी और स्वयं ब्रह्माद्वारा की गयी स्तुतिको सुनकर उन्हें फिर किसीको वैसा वर देनेसे मना करते हुए वहीं अन्तर्धान हो गये। (रा० शुक्ल)

दैत्यराज बलिपर वामनभगवान्‌की कृपा

पूर्वकालकी बात है, देवताओं और दैत्योंमें युद्ध छिड़ गया। देवता पराजित हुए। दैत्योंने स्वर्गपर अधिकार कर लिया।

इस प्रकार दैत्येश्वर बलिका आधिपत्य देखकर देवराज इन्द्र अपनी माता अदितिके सुन्दर आश्रमपर, जो सुमेरुगिरिके शिखरपर विद्यमान था, पहुँचे। वहाँ दानवोंसे पराजित हुए उन सभी देवताओंने माता अदितिके निकट जाकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और अपनी सारी कष्ट-कहानी कह सुनायी। फिर माता अदितिके आदेशानुसार इन्द्रादि देवगण परम तपस्वी मरीचिनन्दन कश्यपके समीप जा, उनके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—'पिताजी! बलशाली दैत्यराज बलि युद्धमें हमारे लिये अजेय हो गया है, इसलिये कोई ऐसा उपाय कीजिये, जो हम देवताओंके लिये श्रेयस्कर और पुष्टिवर्धक हो।'

पुत्रोंकी बात सुनकर महर्षि कश्यपने देवताओंको साथ लिया और वे ब्रह्माकी परमोत्कृष्ट विशाल सभामें पहुँचे। ब्रह्माकी उस सर्वकामप्रदायिनी सभामें प्रवेश करके धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कश्यप, उनके पुत्र देवराज इन्द्र एवं सभी देवताओंने पद्मासनपर विराजमान ब्रह्माका दर्शन किया और ब्रह्मर्षियोंके साथ उनके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया। ब्रह्माके चरणोंका स्पर्श करते ही वे सभी पाप-मुक्त हो गये। तब देवेश्वर ब्रह्माने उन्हें क्षीरसागरके उत्तर तटपर जाकर कठिन तप करनेकी आज्ञा दी।

पितामहकी आज्ञा स्वीकार करके देवताओंने उन्हें सिर झुकाकर प्रणाम किया और फिर वे श्वेतद्वीपमें पहुँचनेके उद्देश्यसे उत्तर दिशाकी ओर चल पड़े। थोड़ी ही देरमें वे सरित्पति क्षीराब्धिके तटपर पहुँच गये। वहाँसे वे सातों समुद्रों, काननोंसहित पर्वतों तथा अनेक पुण्यसलिला नदियोंको लाँघते हुए पृथ्वीकी सीमापर जा पहुँचे। वहाँ चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार व्याप्त था। महर्षि कश्यप वहीं एक निष्कण्टक स्थानपर पहुँचकर ब्रह्मचर्य एवं मौनपूर्वक वीरासनसे बैठ गये और उन्होंने सहस्र-वार्षिक दिव्य व्रतकी दीक्षा ले ली; क्योंकि उन्हें सहस्रनेत्रधारी योगाधिपति भगवान् नारायणको प्रसन्न करना था। इसी प्रकार क्रमशः सभी देवता तपस्यामें निरत हो गये। तदनन्तर महर्षि कश्यपने भगवान् नारायणको रिझानेके लिये वेदोक्त 'परमस्तव' नामक स्तोत्रद्वारा उनकी स्तुति की।

द्विजवर मरीचिपुत्र कश्यपद्वारा किये गये स्तवनको सुनकर कृपानिधान भगवान् नारायणका मन प्रसन्न हो गया और उन्होंने गम्भीर वाणीमें कहा—'देवगण! आपका मङ्गल हो। आप कोई अभीष्ट वर माँग लें। मैं आपलोगोंको वर देना चाहता हूँ।'

कश्यपजीने कहा—'सुरश्रेष्ठ! यदि आप हमपर प्रसन्न हैं तो मैं सभी लोगोंकी ओरसे यह याचना कर रहा हूँ कि आप स्वयं अदितिके गर्भसे इन्द्रके छोटे भाईके रूपमें प्रकट हों।' उधर वरार्थिनी देवमाता अदितिने भी वरदायक कृपालु भगवान्‌से पुत्रके लिये ही प्रार्थना की। साथ ही सभी देवताओंने भी एक साथ निवेदन किया—'महेश्वर! आप हम सारे देवताओंके इसी प्रकार त्राता, भर्ता, दाता और आश्रय बनें।'

भगवान् विष्णुने उन देवताओंसे कहा—"देवगण! आपलोगोंके जितने भी शत्रु होंगे, वे सभी मिलकर मेरे सामने एक क्षण भी नहीं ठहर सकते। मैं यज्ञभागके अग्रभोजी सारे असुरोंका संहार करके सभी देवताओंको 'हव्याशी' तथा पितृगणोंको 'कव्याशी' बनाऊँगा। सुरश्रेष्ठगण! आप-लोग जिस मार्गसे आये हैं, उसी मार्गसे लौट जायँ।"

करुणावरुणालय भगवान् विष्णुके यों कहनेपर उन सभी देवताओंने महर्षि कश्यपको आगे कर भगवान् विष्णुकी पूजा की। तदनन्तर उन्हें प्रणाम करके वे कश्यपाश्रमकी ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अदितिको समझा-बुझाकर घोर तपस्याके लिये राजी कर लिया। उस समय महर्षियोंको दैत्योंद्वारा तिरस्कृत होते देखकर अदितिके मनमें महान् निर्वेद उत्पन्न हुआ। वे सोचने लगीं कि मेरा पुत्र उत्पन्न करना ही व्यर्थ हो गया। इसलिये वे इन्द्रियोंको वशमें करके शरणागतवत्सल भगवान् विष्णुकी आराधनामें तत्पर हो गयीं। उस समय वायु ही उनका आहार था। वे उन सर्वव्यापी भगवान्‌की स्तुति करने लगीं।

अदितिके द्वारा किये गये स्तवनसे प्रसन्न होकर करुणा-सिन्धु भगवान् विष्णु सभी प्राणियोंसे अलक्षित रहते

हुए अदितिके सम्मुख प्रकट हो गये और बोले—'महाभागा अदिति ! तुम्हारे हृदयमे जिस वर-प्राप्तिकी अभिलाषा है, वह मुझे ज्ञात है । धर्मज्ञे ! तुम जिन-जिन वरोंको प्राप्त करनेकी इच्छा रखती हो, वे सभी मेरी कृपासे निस्संदेह तुम्हें मिल जायँगे । मेरा दर्शन कभी निष्फल नहीं होता ।'

उन्होंने पुनः कहा—'देवि ! तुम्हारी कामनाके अनुसार ही मैं कार्य करूँगा । मैं महर्षि कश्यपके द्वारा अपने अंशसे तुम्हारे गर्भमे प्रवेश करूँगा । इस प्रकार तुम्हारे गर्भसे उत्पन्न होनेके पश्चात् जो कोई भी देवताओंके शत्रु होंगे, उन सबका मैं संहार करूँगा । नन्दिनि ! तुम शान्ति धारण करो ।'

> कृतः प्रसादो हि मया तव देवि यथेप्सितम् ।
> स्वांशेन चैव ते गर्भे सम्भविष्यामि कश्यपात् ॥
> तव गर्भसमुद्भूतस्ततस्ते ये सुरारयः ।
> तानहं निहनिष्यामि निर्वृता भव नन्दिनि ॥
>
> (वामनपु० २८ । १०-११)

अदितिसे यों कहकर दयालु भगवान् अन्तर्हित हो गये । उस समय अदितिको यह जानकर कि स्वयं भगवान् मेरे गर्भसे जन्म लेंगे, महान् हर्ष हुआ । वह बड़े प्रेमसे अपने पतिदेव कश्यपकी सेवामें जुट गयी । कश्यपजी भी तत्त्वदर्शी थे । उन्होंने समाधियोगके द्वारा यह जान लिया कि भगवान्‌का अंश उनके अंदर प्रविष्ट हो गया है । तब जैसे वायु लकड़ीमें अग्निका आधान करती है, उसी प्रकार कश्यपजीने समाहित-चित्तसे अपनी तपस्याद्वारा चिरसंचित वीर्यका अदितिमे आधान किया । इस प्रकार भगवान् विष्णु अदितिके गर्भमें क्रमशः बढ़ने लगे ।

समय बीतते देर नहीं लगती । अन्ततोगत्वा दसवें मासमे भगवान्‌का प्राकट्यकाल उपस्थित हुआ । उस समय चन्द्रमा श्रवणनक्षत्रपर थे । भाद्रपदमासके शुक्लपक्षकी द्वादशी तिथि थी । अभिजित् मुहूर्त चल रहा था । सभी नक्षत्र और तारे मङ्गलकी सूचना दे रहे थे । ऐसी शुभ वेलामें भगवान् विष्णु अदितिके सामने प्रकट हुए । उस समय उनका रूप अलौकिक था । भगवान्‌के चार भुजाएँ थीं, जिनमे शङ्ख, गदा, कमल और चक्र सुशोभित थे । शरीरपर पीताम्बर फहरा रहा था । कमल-पुष्पके समान विशाल एवं सुन्दर नेत्र थे । उज्ज्वल श्यामवर्णका शरीर था । मकराकृति कुण्डलोंकी कान्तिसे मुख-कमलकी शोभा विशेषरूपसे उल्लसित हो रही थी । वक्षःस्थलमे श्रीवत्सका चिह्न, हाथोंमें कंगन, भुजाओंमें बाजूबंद, मस्तकपर किरीट, कमरमें करधनीकी लड़ियाँ और पैरोंमे सुन्दर नूपुर शोभा दे रहे थे । गलेमें वनमाला विराजमान थी, जिसके चारों ओर झुंड-के-झुंड भौंरे गुंजार कर रहे थे । कण्ठ कौस्तुभमणिसे विभूषित था । वे अपनी प्रभासे प्रजापति कश्यपके घरके अन्धकारका विनाश कर रहे थे ।

सबके देखते-देखते भगवान्‌ने चतुर्भुजरूपका परित्याग कर अपनेको वामनाकृतिमें परिवर्तित कर लिया । यह देखकर माता अदितिको महान् हर्ष हुआ । तब कश्यपजीने उनका जातकर्म-संस्कार किया । तदनन्तर भगवान् वामनद्वारा अपने उपनयनकी इच्छा व्यक्त किये जानेपर ब्रह्मर्षियोंने उनका उपनयन-संस्कार सम्पन्न किया । तब भगवान् वामन ब्रह्मचारीके वेषमें छत्र-दण्ड-कमण्डलु आदिसे सुसज्जित होकर दैत्यराज बलिके यज्ञमे पहुँचनेके लिये कुरुक्षेत्रकी ओर चले ।

उधर दैत्यगुरु शुक्राचार्यने अमिततेजस्वी राजा बलिको विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञके लिये दीक्षित कर रखा था । दैत्यराज बलि श्वेत वस्त्र धारण किये हुए श्वेत पुष्पोंकी माला तथा श्वेत चन्दनसे विभूषित थे । उनकी पीठपर मोरपंखसे चिह्नित मृगचर्म बँधा हुआ था । वे हयग्रीव, क्षुर, मय और बाणासुर आदि सदस्योंसे घिरे हुए बैठे थे । उनकी पत्नी ऋषिकन्या विन्ध्यावली भी, जो सहस्रों नारियोंमे प्रधान थी, यज्ञकर्ममें दीक्षित थी । शुक्राचार्यने शुभलक्षणसम्पन्न श्वेतवर्णवाले यज्ञिय अश्वको पृथ्वीपर विचरनेके लिये छोड़ दिया था । तारकाक्ष उसकी रक्षामें नियुक्त था । इस प्रकार यज्ञ सुचारुरूपसे चल रहा था । इतनेमें ही पृथ्वी काँपने लगी । समुद्रोंमें ज्वार आने लगा । दिशाएँ क्षुभित हो गयीं । असुरोंने यज्ञभाग ग्रहण करना छोड़ दिया । यह देखकर बलिने शुक्राचार्यजीसे पूछा—'गुरुदेव ! सहसा ये जो उत्पात उठ खड़े हुए हैं, इसका क्या कारण है ?'

तब वेदज्ञश्रेष्ठ महाबुद्धिमान् शुक्राचार्यजी दीर्घकालतक ध्यान करनेके बाद कहने लगे—'दानवश्रेष्ठ ! जगद्योनि सनातन परमात्मा श्रीविष्णु वामनरूपसे कश्यपके घरमें अवतीर्ण हुए हैं । निश्चय ही वे तुम्हारे यज्ञमें आ रहे हैं ।

उन्हींके पाद-प्रक्षेपसे यह पृथ्वी चलायमान हो गयी है, पर्वत काँप रहे हैं और सागर क्षुब्ध हो उठे हैं। पृथ्वी उन जगदीश्वरको वहन करनेमें समर्थ नहीं है। उन्होंने ही देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पन्नगोंसहित समूची पृथ्वीको धारण कर रखा है तथा वे ही जल, अग्नि, पवन, आकाश और समस्त देवताओं, मनुष्यों एवं असुरोंको भी धारण करते हैं। जगद्धाता विष्णुकी यह माया दुरत्यय है। उन्हींके संनिधानसे देवता यज्ञभागभोजी हो गये हैं, इसी कारण तीनों अग्नियाँ आसुरभागको ग्रहण नहीं कर रही हैं।'

शुक्राचार्यकी बात सुनकर हर्षातिरेकके कारण बलिके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। उन्होंने कहा—'ब्रह्मन्! मैं धन्य हूँ। मैंने पूर्वजन्ममें कोई अवश्य ही महान् पुण्यकर्म किया है, जिसके फलस्वरूप स्वयं यज्ञपति भगवान् मेरे यज्ञमें पधार रहे हैं। भला, मुझसे बढ़कर भाग्यशाली दूसरा और कौन होगा; क्योंकि योगिजन सदा योगयुक्त होकर जिन अविनाशी परमात्माका दर्शन करनेकी अभिलाषा करते हैं (परंतु देख नहीं पाते), वे ही भगवान् मेरे यज्ञमें पधारेंगे ! इसलिये गुरुदेव ! अब मेरे लिये जो कर्तव्य हो, उसका आदेश देनेकी कृपा कीजिये।'

आचार्य शुक्रने कहा—"दैत्यराज! वेदोंके प्रमाणसे देवता ही यज्ञभागके अधिकारी हैं, किंतु तुमने दानवोंको यज्ञभागका भोक्ता बना दिया है। ये भगवान् देवताओंका कार्य सम्पन्न करना चाहते हैं, अतः जब वे देवताओंकी उन्नतिके लिये उद्यत होकर तुमसे कोई याचना करें तो तुम्हें यही कहना चाहिये कि 'देव! मैं यह देनेमें समर्थ नहीं हूँ।'"

यह सुनकर बलिने उत्तर दिया—"ब्रह्मन्! जब मैं किसी साधारण याचकको निराश नहीं करता, तब भला, संसारके पाप-समूहको नष्ट करनेवाले देवेश्वर भगवान् विष्णुद्वारा कुछ माँगे जानेपर मैं 'नास्ति'—अर्थात् नहीं है, कैसे कह सकता हूँ? जो भगवान् श्रीहरि विभिन्न प्रकारके व्रतोपवासोंद्वारा प्राप्त किये जाते हैं, वे ही गोविन्द मुझसे याचना करें—इससे बढ़कर मेरा और कौन-सा सौभाग्य होगा!"

यह सुनकर महर्षि शुक्राचार्य कुपित हो उठे और बलिको शाप देते हुए बोले—

दृढं पण्डितमान्यज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया।
मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद् भ्रश्यसे श्रियः॥

(श्रीमद्भा० ८। २०। १५)

'मूर्ख! है तो तू अज्ञानी, परंतु अपनेको महान् पण्डित समझता है। तुझे गर्व हो गया है, इसी कारण तू मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन कर रहा है। मेरी उपेक्षा करनेके कारण तू शीघ्र ही अपनी राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट हो जायगा।'

महर्षि शुक्राचार्य यों कह ही रहे थे, तबतक भगवान् वामन देवगुरु बृहस्पतिको आगे करके सुरगणोंके साथ उस यज्ञशालामें आ पहुँचे। वामनभगवान्‌को यज्ञशालामें प्रविष्ट हुआ देखकर उनके प्रभावसे सभी असुरगण विक्षुब्ध हो उठे, उनके तेजसे उन सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी तथा उस महायज्ञमें पधारे हुए वसिष्ठ, विश्वामित्र, गर्ग और अन्यान्य महर्षि भी कुछ भयभीत हो गये; परंतु बलिने अपना जन्म सफल माना। उस समय सक्षुब्ध होनेके कारण कोई किसीसे कुछ बोल न सका। सभीने उन देवदेवेश्वरकी पूजा की। असुरराज बलि तथा मुनीश्वरोंको विनम्र हुआ देखकर देवदेवेश्वर वामनरूपधारी साक्षात् विष्णु उस यज्ञ, अग्नि, यजमान, ऋत्विज, यज्ञकर्माधिकारी सदस्य और द्रव्य-सम्पत्ति आदिकी प्रशंसा करने लगे। यह सुनकर सभी ब्राह्मणोंने उन्हें साधुवाद दिया। तत्पश्चात् जिनके शरीरमें हर्षके मारे रोमाञ्च हो रहा था, वे राजा बलि अर्घ्य लेकर भगवान् वामनकी पूजा करने लगे। उस समय महारानी विन्ध्यावली झारी लेकर जल गिरा रही थीं और बलि वामनभगवान्‌के पद पखार रहे थे। यह देखकर चतुर्दिक् बलिके भाग्यकी सराहना हो रही थी। दैत्यराज बलिने उस चरणोदकको अपने सिरपर धारण करके भगवान्‌से कहा—'विप्रवर! सुनिये, सुवर्ण और रत्नोंके ढेर, गज, महिष, स्त्रियाँ, वस्त्र, अलंकार, गौएँ, अन्य बहुत-सी धातुएँ और सारी पृथ्वी—मेरी इन सम्पत्तियोंमें जो भी आपको प्रिय लगे अथवा जो अभीप्सित हो, उसे कहिये, मैं सब देनेके लिये तैयार हूँ।'

दैत्याधिप बलिके ये प्रेमभरे वचन सुनकर वामनरूपधारी भगवान् विष्णु मुसकुराते हुए गम्भीर वाणीमें बोले—

ममाग्निशरणार्थाय देहि राजन् पदत्रयम्।
सुवर्णग्रामरत्नादि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम्॥

(वामनपुराण ३१। ४९)

'राजन्! सुवर्ण, ग्राम, रत्न आदि पदार्थ उनकी याचना करनेवालोंको दीजिये। मुझे तो अग्निहोत्रके लिये केवल तीन पग भूमि प्रदान कीजिये।'

तब बलिने कहा—'मानवश्रेष्ठ ! तीन पग भूमिसे आपका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? सैकड़ों-हजारों पग क्यों नहीं माँग लेते ?'

यह सुनकर भगवान् वामन बोले—

एतैः पदैर्दैत्यपते कृतकृत्योऽस्मि मार्गणे ।
अन्येषामर्थिनां वित्तमिच्छया दास्यते भवान् ॥
(वामनपु० ३१ । ५१)

'दैत्यपते ! मैं तो इन तीन पगोंकी याचनासे ही कृतकृत्य हूँ । आप अन्य याचकोंको उनके इच्छानुसार धन दीजियेगा ।'

महात्मा वामनके यों कहनेपर बलिने झारीसे जल लेकर उन्हें तीन पग भूमि दान करनेका संकल्प किया । उसी समय एक अद्भुत घटना घटी । भगवान्के हाथमें संकल्पका जल पड़ते ही वे वामनसे अवामन हो गये और उसी क्षण उन्होंने अपना सर्वदेवमय रूप प्रकट कर दिया । अब वे अखिल ज्योति तथा परमोत्कृष्ट तपकी मूर्ति थे ।

भगवान् विष्णुके उस सर्वदेवमय रूपको देखकर महाबली दैत्य उसी प्रकार उनके निकट नहीं जा सके, जैसे पतिंगे अग्निके । इसी बीच महादैत्य चिक्षुरने भगवान्के पादाङ्गुष्ठको दाँतोंसे पकड़ लिया । तब श्रीहरिने अङ्गुष्ठसे ही उसकी ग्रीवापर प्रहार किया और पैरों तथा हाथोंके तलवोंसे ही सारे असुरोंको मार डाला । तत्पश्चात् उन्होंने एक पगसे चराचरसहित पृथ्वी अपने अधिकारमें कर ली । पुनः दूसरा पग ऊपर बढ़ानेपर उस महारूपके दाहिने चन्द्रमा और बायें सूर्य आ गये । इस प्रकार आधे पगसे उन्होंने स्वर्ग, महः, जन और तपोलोकको तथा आधेसे समूचे आकाशको आच्छादित कर लिया । तीसरा पग आगे बढ़ानेपर वह ब्रह्माण्डोदरका भेदन करके निरालोक प्रदेशमें जा पहुँचा । इसी समय भगवान्के पैरके आगे बढ़नेसे अण्डकटाह फूट गया तथा विष्णुपदसे जलकी बूँदें झरने लगीं । इसीलिये तापस-लोग इसे 'विष्णुपदी' कहकर इसकी स्तुति करते हैं । इस प्रकार तीसरे पगके पूर्ण न होनेपर सर्वव्यापी भगवान् विष्णु बलिके निकट आकर क्रोधावेशमें होंठको कुछ कँपाते हुए इस प्रकार कहने लगे—

ऋणे भवसि दैत्येन्द्र बन्धनं घोरदर्शनम् ।
त्वं पूरय पदं तन्मे नो चेद् बन्धं प्रतीच्छ मे ॥
(वामनपु० ९२ । ३४)

'दैत्येन्द्र ! अब तो तुम ऋणी हो गये, जिसके परिणाम-स्वरूप (जीवको) घोर बन्धनकी प्राप्ति होती है । इसलिये या तो तुम मेरा तीसरा पग पूरा करो अन्यथा मेरे बन्धनमें आ जाओ ।'

भगवान्के ये वचन सुनकर बलिने कहा—

पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ॥
(श्रीमद्भा० ८ । २२ । २)

'आप कृपा करके अपना तीसरा पग मेरे सिरपर रख लीजिये ।'

बलिपर कृपा करते हुए कृपासिन्धु भगवान्ने मधुर वाणीमें कहा—

इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तु ते ।
सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः ॥
न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशाः किमुतापरे ।
त्वच्छासनातिगान् दैत्यांश्चक्रं मे सूदयिष्यति ॥
रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम् ।
सदा संनिहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान् ॥
(श्रीमद्भा० ८ । २२ । ३३—३५)

'महाराज इन्द्रसेन ! तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम अपने भाई-बन्धुओंके साथ उस सुतललोकमें जाओ, जिसे स्वर्गवासी भी चाहते रहते हैं । बड़े-बड़े लोकपाल भी अब तुम्हें पराजित नहीं कर सकते, दूसरोंकी तो बात ही क्या है । तुम्हारी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाले दैत्योंको मेरा चक्र छिन्न-भिन्न कर डालेगा । मैं तुम्हारी, तुम्हारे अनुचरोंकी और भोग-सामग्रीकी भी सब प्रकारसे रक्षा करूँगा । वीरवर ! तुम मुझे वहाँ सदा अपने पास ही देखोगे ।'

दयासागर मधुसूदनने दैत्यराज बलिसे इस प्रकार कहकर उसे पत्नी-पुत्रसहित विदा कर दिया और स्वयं पृथ्वीको लेकर ब्रह्मा और देवगणोंके साथ तुरंत ही इन्द्रके पास पहुँचे । वहाँ वे इन्द्रको स्वर्गका अधिपति और देवगणोंको यज्ञभाग-भोजी बनाकर सबके देखते हुए अन्तर्हित हो गये ।

(रा० शुक्ल)

भगवान् परशुरामकी कृपा

यः कार्तवीर्यं निजघान रोषात्
त्रिःसप्तकृत्वः क्षितिपात्मजानपि ।
तं जामदग्न्यं क्षितिभारनाशकं
नतोऽस्मि विष्णुं पुरुषोत्तमं सदा ॥
(नरसिंहपुराण ५३ । २७)

'जिन्होंने कोपवश राजा कार्तवीर्यको मार डाला तथा इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार किया, पृथ्वीका भार दूर करनेवाले परशुरामरूपधारी उन पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुको मैं सदा नमस्कार करता हूँ ।'

× × ×

महर्षि ऋचीकने राजा गाधिको शुल्करूपमें एक सहस्र श्यामकर्ण घोड़े प्रदान कर उनकी कन्या सत्यवतीसे विवाह किया । समय आनेपर सत्यवतीके गर्भसे जमदग्निका जन्म हुआ । महर्षि जमदग्निने रेणु ऋषिकी कन्या रेणुकाका पाणिग्रहण किया । रेणुकाके गर्भसे महर्षि जमदग्निके पाँच पुत्र हुए—वसुमान्, वसुषेण, वसु, विश्वावसु और परशुराम । परशुरामजी सबसे छोटे थे । कहते हैं कि हैहयवंशका अन्त करनेके लिये स्वयं भगवान्ने ही परशुरामके रूपमें अंशावतार ग्रहण किया था ।

उन दिनों हैहयवंशका अधिपति था सहस्रार्जुन । उसने नारायणके अंशावतार दत्तात्रेयजीको प्रसन्न करके उनसे एक सहस्र भुजाएँ तथा युद्धमें अजेयताका वरदान प्राप्त कर लिया था ।

एक बार सहस्रार्जुन महर्षि जमदग्निकी कामधेनुको छीनकर अपनी राजधानीको ले जा रहा था । वह नगरमें प्रवेश कर ही रहा था, तबतक परशुरामजी ललकारते हुए वहाँ जा पहुँचे । वहाँ उसकी विशाल वाहिनीके साथ उनकी मुठभेड़ हुई । परशुरामजीने थोड़ी देरमें ही उसकी सारी सेनाको कालके गालमें भेज दिया । तब सहस्रार्जुन सामने आया । परशुरामजीने देखते-ही-देखते बड़ी फुर्तीसे उसकी हजारों भुजाएँ काटकर उसका सिर भी धड़से अलग कर दिया । यह देख उसके दस हजार पुत्र युद्ध-स्थलसे भाग खड़े हुए । परशुरामजी कामधेनुको साथ लेकर आश्रमपर लौट आये और पिताके चरणोंमें नमस्कार करके सारा वृत्तान्त कह सुनाया । तत्पश्चात् पिताकी आज्ञासे सम्राट्-वधके पापसे निवृत्त होनेके लिये वे तीर्थयात्राके लिये चले गये और एक वर्षतक तीर्थोंमें भ्रमण करके लौट आये ।

एक बार सहस्रार्जुनके दस हजार पुत्र पिताका बदला लेनेके लिये महर्षि जमदग्निके आश्रमपर जा पहुँचे । उस समय भाइयोंसहित परशुरामजी समिधा लानेके लिये वनमें गये हुए थे । महर्षि जमदग्नि अग्निशालामें बैठे हुए भगवान्के ध्यानमें तल्लीन थे । उसी समय उन पापियोंने महर्षिका सिर काट डाला । माता रेणुका 'हा राम ! हा राम !' पुकारती हुई करुण-क्रन्दन करने लगीं । परशुरामजीके कानोंमें माताकी पुकार पहुँची, वे तुरंत आश्रमपर आये । पिताकी दशा देखकर उनका क्रोध भड़क उठा और वे हाथमें फरसा उठाकर माहिष्मतीकी ओर दौड़ पड़े । वहाँ पहुँचकर उन्होंने सहस्रार्जुनके पुत्रोंका सफाया कर दिया । तत्पश्चात् पितृ-वधको निमित्त बनाकर उन्होंने इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियहीन किया और कुरुक्षेत्रके समन्तपञ्चकमें ऐसे-ऐसे पाँच तालाब बना दिये, जो रक्तसे पूर्ण थे ।

उन्होंने यज्ञोंद्वारा सर्वदेवमय आत्मस्वरूप भगवान्का यजन किया । उस यज्ञमें उन्होंने कृपापूर्वक पूर्व दिशा होताको, दक्षिण दिशा ब्रह्माको, पश्चिम दिशा अध्वर्युको और उत्तर दिशा साम-गान करनेवाले उद्गाताको दी । इसी प्रकार अग्निकोण आदि विदिशाएँ ऋत्विजोंको दीं, कश्यपजी-को मध्यभूमि दी, उपद्रष्टाको आर्यावर्त दिया तथा अन्य सदस्योंको अन्यान्य दिशाएँ प्रदान कर दीं । इसके बाद यज्ञान्त-स्नान करके वे समस्त पापोंसे मुक्त हो गये ।

जब महर्षि कश्यपने उनसे कहा कि तुम मेरी पृथ्वी छोड़ दो और अपने लिये समुद्रसे स्थान माँग लो, तब वे महेन्द्रपर्वतपर चले गये । महर्षि भरद्वाजके पुत्र द्रोणको जब यह मालूम हुआ कि परशुरामजी अपना सर्वस्व दान कर रहे हैं, तब वे भी महेन्द्रपर्वतपर भगवान् परशुरामके पास जाकर बोले—'द्विजश्रेष्ठ ! मैं महर्षि भरद्वाजका पुत्र द्रोण हूँ और धनकी कामनासे आपके पास आया हूँ ।'

यह सुनकर कृपालु परशुरामजीने कहा—

शरीरमात्रमेवाद्य मया समवशेषितम् ।
अस्त्राणि वा शरीरं वा ब्रह्मन्नेकतमं वृणु ॥
(महा० आदि० १६५ । १०)

'ब्रह्मन् ! अब तो मैंने केवल अपने शरीरको ही बचा रखा है, अतः अब तुम मेरे अस्त्रों अथवा यह शरीर—दोनोंमेंसे किसी एकको माँग लो ।'

तब द्रोणने प्रार्थना की—'भगवन् ! आप मुझे प्रयोग और उपसंहारकी विधिसहित अपने सम्पूर्ण अस्त्र प्रदान करें ।' परशुरामजीने प्रसन्न-चित्त होकर कृपापूर्वक उन्हें ब्रह्मास्त्रसहित अपने सम्पूर्ण अस्त्र दे दिये । द्रोणाचार्य उन सबको ग्रहण करके कृतार्थ हो गये । इस प्रकार भगवान् परशुरामने ब्राह्मणोंको सर्वस्व दान करके उनपर महती कृपा की ।

(रा० शुक्ल)

भगवान् श्रीरामकी कृपामयी लीलाएँ*

लोकाभिरामं रणरंगधीरं राजीवनेत्रं रघुवंशनाथम्।
कारुण्यरूपं करुणाकरं तं श्रीरामचन्द्रं शरणं प्रपद्ये ॥
(रामरक्षास्तोत्र ३२)

'जो करुणावरुणालय, जगत्‌में सबसे सुन्दर, रणधीर, कमलनयन, रघुवंशनायक और करुणाकी मूर्ति हैं, उन श्रीरामचन्द्रजीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।'

× × ×

कोसलराज महाराज दशरथका चौथापन आ गया, परंतु उन्हें अपने उत्तराधिकारीके मुख-दर्शनका सौभाग्य न प्राप्त हुआ। महाराजको इसकी बड़ी चिन्ता थी। एक दिन वे व्यग्रताभरे हृदयसे अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठके आश्रमपर पहुँचे और उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके उन्होंने अपना अभीष्ट कह सुनाया। गुरुदेवने आश्वासन देते हुए आशीर्वाद दिया—

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी॥
(मानस १ । १८८ । २)

तत्पश्चात् महर्षि वसिष्ठने शृङ्गी ऋषिको बुलवाया और महाराजसे पुत्रेष्टि-यज्ञका अनुष्ठान कराया। उस यज्ञमें प्रसन्न होकर अग्निदेव हाथमे पायस लिये हुए हवनकुण्डसे प्रकट हुए और बोले—

गृहाण पायसं दिव्यं पुत्रीयं देवनिर्मितम्।
लप्स्यसे परमात्मानं पुत्रत्वेन न संशयः ॥
(अ० रा० १ । ३ । ८)

'राजन्! यह देवताओंकी बनायी हुई पुत्रप्रदायिनी दिव्य पायस लो। इसके द्वारा तुम निस्संदेह साक्षात् परमात्माको पुत्ररूपसे प्राप्त करोगे।'

अवध-नरेशने उस पायसको विभाजित करके अपनी तीनों पटरानियों—कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयीको दे दिया। पायस-भक्षणके उपरान्त रानियाँ गर्भवती हुईं। समय आनेपर कौसल्याके गर्भसे श्रीराम, कैकेयीके भरत और सुमित्राके लक्ष्मण और शत्रुघ्न प्रकट हुए। चारों राजकुमार द्वितीयाके चन्द्रमाकी भाँति बढ़ने लगे और अपनी बाल-लीलाओंसे राजमहल तथा अवधपुरीके निवासियोंको आनन्दित करने लगे। तदुपरान्त कुछ काल बीतनेपर उन चारों भाइयोंने कौमार-अवस्थामें प्रवेश किया, तब वसिष्ठजीने उनका उपनयन-संस्कार किया और उन्हें विद्याध्ययन कराया। वे चारों भाई अल्प समयमें ही समस्त शास्त्रोंके मर्मज्ञ तथा धनुर्वेद आदि सम्पूर्ण विद्याओंके पारगामी विद्वान् हो गये।

(१)

महर्षि विश्वामित्रपर कृपा

एक दिन धर्मात्मा राजा दशरथ पुरोहित तथा बन्धु-बान्धवोंके साथ बैठकर पुत्रोंके विवाहके विषयमें विचार कर रहे थे, उसी समय उन महामना नरेशके यहाँ महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र पधारे। द्वारपालके मुखसे महर्षि विश्वामित्रका आगमन सुनकर रघुवंश-भूषण महाराज दशरथ पुरोहितको आगे करके उनका स्वागत करनेके लिये राजद्वारपर आये और बड़े विनीतभावसे महर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके उन्हें राजमहलके भीतर लिवा ले गये। यथाविधि पूजन और अभिवादनके पश्चात् राजाने हाथ जोड़कर कहा—'मुनिराज! आपके दर्शनसे मैं कृतकृत्य हो गया। आपका शुभागमन किस हेतुसे हुआ है? कृपाकर बतलाइये, मैं आपकी उस आज्ञाका अवश्य पालन करूँगा।'

तब परमतेजस्वी विश्वामित्रजीने कहा—'नरेश! जब कभी पर्वकाल उपस्थित देखकर मैं देव और पितृगणोंके लिये यजन करना आरम्भ करता हूँ, तब उसमे मारीच, सुबाहु तथा उनके अनुयायी अन्यान्य असुरगण आकर विघ्न डाल देते हैं। अतएव उनका वध करनेके लिये आप अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको उनके भाई लक्ष्मणके सहित मुझे दे दीजिये। इससे आपका भी परम कल्याण होगा'—

अतस्तयोर्वधार्थाय ज्येष्ठं रामं प्रयच्छ मे।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा तव श्रेयो भविष्यति ॥
(अ० रा० १ । ४ । ७)

अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा ॥
(मानस १ । २०६ । ५)

यह बात सुनते ही रघुवंशशिरोमणि दशरथ चिन्ताकुल हो गये। उन्हें श्रीराम प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय थे, अतः श्रीराम-

* भगवान् श्रीरामकी ये कृपामयी लीलाएँ वाल्मीकि-रामायण, अध्यात्मरामायण एवं रामचरितमानसके आधारपर लिखी गयी हैं। इनमें कहीं-कहीं परस्पर मतभेद भी मिल सकता है, फिर भी कल्पभेदसे सभी कथाएँ ठीक माननी चाहिये।

का वियोग उनके लिये असह्य था। इसलिये एक बार तो उन्होंने श्रीरामको देनेसे इन्कार कर दिया, परंतु परम-तेजस्वी विश्वामित्रजीके शापभयसे व्याकुल होकर उन्होंने अपने गुरुदेव महर्षि वसिष्ठकी शरण ली। तब गुरुदेवने उनके समक्ष श्रीरामके रहस्यमय स्वरूपका उद्घाटन किया, जिससे राजाका मोह दूर हो गया। दशरथजीने अपने दोनों पुत्रोंको बुलाकर महर्षि विश्वामित्रको सौंप दिया।

मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र दोनों राजकुमारोंको साथ लेकर वहाँसे चल पड़े। कुछ दूर जानेपर महर्षिने श्रीरामको बुलाकर उन्हें बला और अतिबला नामकी ऐसी दो विद्याएँ प्रदान कीं, जिनको धारण करनेसे क्षुधा, पिपासा और दुर्बलता आदि बाधाएँ नहीं होतीं। तदनन्तर गङ्गा-पार करके वे ताटका-वनमें आये। वहाँ विश्वामित्रजीने श्रीरामसे कहा—'राम! यहाँ ताटका नामकी एक राक्षसी रहती है। वह यहाँके निवासियोंको अत्यन्त कष्ट पहुँचाती है। तुम निस्संकोच उसे मार डालो।' तब श्रीरघुनाथजीने अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर घोर टंकार किया। उसे सुनकर क्रोधसे तिलमिलाती हुई ताटका श्रीरामकी ओर दौड़ी। श्रीरामने एक ही बाणसे उसे यमलोकका पथिक बना दिया। शापवश पिशाचताको प्राप्त हुई ताटका कृपासिन्धु भगवान् श्रीरामकी कृपासे शापमुक्त होकर दिव्यलोकको चली गयी। तब मुनिवर विश्वामित्रजीने अत्यन्त हर्षित होकर श्रीरामका आलिङ्गन किया तथा रहस्य और मन्त्रोंसहित उन्हें समस्त अस्त्र-शस्त्र प्रदान कर दिये।

तदनन्तर वे सब सिद्ध और चारणोंसे सेवित सिद्धाश्रम-में आये। वहाँ श्रीरामके कहनेसे मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र ऋषि-मण्डलीसहित यज्ञ-दीक्षामें स्थित हो गये। इतनेमें मारीच और सुबाहु रक्त तथा अस्थियोंकी वर्षा करते हुए वहाँ आ धमके। श्रीरामने बिना फरके एक ही बाणसे मारीचको आकाशमें घुमाते हुए सौ योजन दूर समुद्रमें फेंक दिया और दूसरे अग्निबाणसे सुबाहुको भस्म कर दिया। उसके अनुयायी अन्यान्य निशाचरोंको लक्ष्मणजीने तुरंत कालके हवाले कर दिया। इस प्रकार उस वनको राक्षस-शून्य करके कृपानिधान भगवान् श्रीरामने ऋषि-मण्डलीसहित महर्षि विश्वामित्रपर कृपा की।

(२)

अहल्यापर कृपा

सिद्धाश्रममें तीन दिन व्यतीत होनेके पश्चात् मुनिवर विश्वामित्रने श्रीरामसे कहा—'राम! मिथिलानरेश महाराज जनकका निमन्त्रण आया है। उन महात्मा नरेशका महान् यज्ञ देखनेके लिये हमलोग जनकपुर चलेंगे। वहाँ धरोहरके रूपमें रखा हुआ श्रीमहादेवजीका विशाल धनुष तुम्हें देखनेको मिलेगा और महाराज जनक तुम्हारा भली-भाँति सत्कार करेंगे।' ऐसा कहकर मुनिमण्डली तथा श्रीराम-लक्ष्मणको साथ लेकर विश्वामित्रजी प्रस्थित हुए। चलते-चलते वे गङ्गाजीके निकट मुनिश्रेष्ठ गौतमके उस आश्रममें आये, जहाँके वृक्ष फलोंसे लदे हुए थे और अहल्या पाषाणरूपा हो तप कर रही थी। उस आश्रमको देखकर श्रीरामने मुनिवर कौशिकसे पूछा—

> कस्यैतदाश्रमपदं भाति भास्वच्छुभं महत्।
> पत्रपुष्पफलैर्युक्तं जन्तुभिः परिवर्जितम्॥
> आह्लादयति मे चेतो भगवन् ब्रूहि तत्त्वतः।
> (अ० रा० १।५।१७-१८)

'भगवन्! यह पत्र, पुष्प और फल आदिसे सम्पन्न तथा जीवशून्य महान् आश्रम, जो परम सुन्दर, रमणीय और पवित्र दीख पड़ता है, किसका है? इसे देखकर मेरा चित्त अत्यन्त आह्लादित हो रहा है। आप इसका वृत्तान्त यथावत् कहिये।'

तब विश्वामित्रजीने इन्द्रके दुष्कर्मका उद्घाटन करते हुए महर्षि गौतमद्वारा इन्द्र और अहल्याको दिये गये शाप-का वर्णन किया। अन्तमें उन्होंने बतलाया—

> गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
> चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥
> (मानस १।२१०)

तदनन्तर विश्वामित्रजी श्रीरामका हाथ पकड़कर उन्हें आश्रममें ले गये और अहल्याको दिखलाया। कृपासागर श्रीरामने उस शिलासे अपने चरणका स्पर्श करा दिया। फिर तो—

> परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
> (मानस १।२१०।१ छं०)

> राम-पद-पदुम-पराग परी।
> ऋषितिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी॥
> (गीतावली १।५७।१)

'श्रीरामजीके चरणकमलोंका पराग पड़नेसे ऋषि-पत्नी अहल्याने तुरंत पत्थरका शरीर त्यागकर अत्यन्त सौन्दर्यमय शरीर धारण कर लिया।'

भगवान् श्रीरामने 'मैं राम हूँ'—ऐसा कहकर उसे प्रणाम किया। अहल्याने पतितपावन भगवान् श्रीरामको सम्मुख देखकर सर्वाङ्ग पुलकित हो गद्गद वाणीसे स्तुति करते हुए कहा—

भवभयहरमेकं भानुकोटिप्रकाशं
करधृतशरचापं कालमेघावभासम्।
कनकरुचिरवस्त्रं रत्नवत्कुण्डलाढ्यं
कमलविशदनेत्रं सानुजं राममीडे॥
(अ० रा० १।५।६०)

'जो एकमात्र भव-भयके निवारक, करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान तथा करकमलोंमें धनुष-बाण धारण किये हैं, जिनकी शरीर-कान्ति श्याम मेघके समान है, जो सुनहला सुन्दर पीताम्बर धारण किये हैं, रत्नजटित कुण्डलोंसे सुशोभित हैं, कमलके समान जिनके सुन्दर विशाल नेत्र हैं, भाई लक्ष्मणसहित उन श्रीरामकी मैं स्तुति करती हूँ।'

इस प्रकार सम्मुख खड़े हुए साक्षात् परमपुरुष करुणा-वरुणालय श्रीरघुनाथजीकी स्तुति, परिक्रमा और वन्दना कर उनकी आज्ञा ले अहल्याने पतिलोककी यात्रा की।

(३)

महाराज जनकपर कृपा

त्रिपुर-संहारके पश्चात् श्रीमहादेवजीने अपना वह विशाल धनुष विदेहराज देवरातके यहाँ धरोहरके रूपमे रख दिया था। उस वंशमे धनुषकी पूजा होती चली आ रही थी। मिथिलानरेश जनककी परम सुन्दरी अयोनिजा कन्या सीता उस धनुषको वाम हाथसे उठाकर उस स्थानको लीप-पोतकर स्वच्छ किया करती थी। यह देखकर महाराजने यह प्रण कर लिया था कि जो राजा या राजकुमार इस धनुषको तोड़ देगा, वही मेरी कन्याका पाणिग्रहण कर सकेगा। स्वयंवरके बहाने धनुष-यज्ञका आयोजन किया गया। उस यज्ञमे द्वीप-द्वीपके भूपति और राजकुमार पधारे। उसी समय मुनिवर कौशिक भी मुनिमण्डली तथा श्रीराम और लक्ष्मणको साथ लिये हुए जनकपुरमे पहुँचे और एक शीतल अमराईमे ठहर गये। विश्वामित्रजीका आगमन सुनकर महाराज जनक अपने पुरोहित तथा मन्त्रीके साथ उनका स्वागत करनेके लिये आये और साष्टाङ्ग दण्डवत् कर उन्होंने मुनिवर कौशिककी पूजा की। तत्पश्चात् उन्होंने दोनों राजकुमारोंके परिचयकी जिज्ञासा की। तब महर्षिने राजाको श्रीरामके जन्मसे लेकर तबतकका सारा वृत्तान्त कह सुनाया। विदेहराज जनक श्रीरामकी शोभा देखकर सचमुच विदेह हो गये थे।

स्वयंवरके समय वन्दियोंद्वारा महाराज जनकका प्रण घोषित कर दिया गया। सभी भूपाल परिकर बाँधकर धनुष-भङ्गके लिये क्रमशः अपने-अपने आसनोंसे उठकर चल पड़े, परंतु उसे स्पर्श करके नमित-मुख हो लौट आये। कोई उस चापको हिलातक न सका। तब महाराज जनकने निराशाभरी वाणीमे कहा—

अब जनि कोउ माखै भटमानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥
(मानस १।२५१।२-३)

'अब कोई वीरताका अभिमान न करे। मैंने जान लिया कि सारी पृथ्वी वीरोंसे खाली हो गयी। अब सब लोग आशा छोड़कर अपने-अपने घर जाओ, ब्रह्माने सीताका विवाह लिखा ही नहीं अर्थात् सीताके भाग्यमे विवाहका विधान है ही नहीं। यदि मैं यह जानता कि पृथ्वी वीरोंसे शून्य है तो प्रण करके उपहासका पात्र न बनता।'

विदेहराजकी व्यथापूर्ण वाणी सुनकर लक्ष्मणजी तिलमिला उठे। उन्होंने खडे होकर उसके उत्तरमें कुछ कटूक्तियाँ कहीं, परंतु भगवान् श्रीरामने सकेतसे ही उन्हें मना कर दिया, जिससे वे चुपचाप बैठ गये। तब विश्वामित्रजीने शुभ समय जानकर श्रीरामको आज्ञा देते हुए कहा—

उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनक परितापा॥
(मानस १।२५३।३)

'तात राम! उठो, शिवजीका धनुष तोड़ो और जनकका संताप मिटाओ।'

गुरुदेवके वचन सुनकर श्रीरामजीने उनके चरणोंमें सिर नवाया और सिंहके समान चलते हुए वे चापके समीप आये। फिर—

गृहीत्वा वामहस्तेन लीलया तोलयन् धनुः।
आरोपयामास गुणं पश्यत्स्वखिलराजसु॥
ईषदाकर्षयामास पाणिना दक्षिणेन सः।
बभञ्जाखिलहृत्सारो दिशः शब्देन पूरयन्॥
(अ० रा० १।६।२४-२५)

'सबके हृदयसर्वस्व श्रीरामने उस धनुषको लीलापूर्वक

बायें हाथसे उठाकर थाम लिया और सम्पूर्ण राजाओंके देखते-देखते उसपर प्रत्यञ्चा चढा दी तथा अपने दायें हाथसे उस धनुषको थोड़ा-सा खींचा और दसों दिशाओंको निनादित करते हुए तोड़ डाला।'

तदनन्तर जनकदुलारी सीताने रघुवंशभूषण श्रीरामके गलेमें जयमाला डाल दी। फिर अवधपुरीसे महाराज दशरथ बारात लेकर आये। बड़ी धूम-धामके साथ राजा जनकने अपनी तथा अपने भाई कुशध्वजकी कन्याओंका विवाह दशरथजीके चारों राजकुमारोंके साथ कर दिया। इस प्रकार कृपानिधान श्रीरामकी कृपासे विदेहराजका संताप दूर हुआ।

(४)

निषादराज गुहपर कृपा

गुह निषादोंके राजा थे। सुरसरिके पावन तटपर स्थित शृंगवेरपुर इनकी राजधानी थी। ये राघवेन्द्र श्रीरामके सखा थे। श्रीरामके चरणोंमें इनका प्रगाढ प्रेम था।

वन-यात्राके समय जब कौसल्यानन्दन श्रीराम अपने भाई लक्ष्मण और पत्नी सीताजीके साथ शृंगवेरपुरके निकट गङ्गा-तटपर पहुँचे और यह समाचार गुहको प्राप्त हुआ तो उनके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने अपने प्रियजनों और भाई-बन्धुओंको बुलवाया और भेंट देनेके लिये फल मूल आदि लेकर प्रभुसे मिलनेके लिये चले। श्रीरघुनाथजीके निकट पहुँचकर उन्होंने साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया, भेंटकी सामग्री सामने रख दी और प्रेमपूर्वक प्रभुके मुखारविन्दकी ओर देखने लगे। कृपानिधान प्रभुने उन्हें अपने निकट बैठाकर उनकी कुशल पूछी। तब निषादराजने उत्तर दिया—

नाथ कुसल पद पंकज देखें। भयउँ भागभाजन जन लेखें॥
देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ।.....................॥

(मानस २। ८७। ३-४)

'नाथ! आपके चरणकमलोंके दर्शनसे सब कुशल है। आज मैं भाग्यवान् पुरुषोंकी श्रेणीमें गिनने योग्य हो गया। देव! यह पृथ्वी, धन और धाम सब आपका ही है। मैं तो परिवारसहित आपका एक नीच सेवक हूँ। अब कृपा करके शृंगवेरपुरमें पधारिये।

यह सुनकर करुणासागर श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'सुजान सखे! तुम्हारेद्वारा कही हुई सभी बातें सत्य हैं, परतु मुझे तो पिताजीके आज्ञानुसार चौदह वर्षतक मुनियोंका व्रत और वेष धारण कर मुनियोंके योग्य आहार करते हुए वनमें ही निवास करना है, गाँवमें जाना उचित नहीं है।' यह सुनकर निषादराज दुःखसे विह्वल हो गये। किसी प्रकार धैर्य धारणकर उन्होंने एक शिंशपा-वृक्षके नीचे कुश और किसलयोंकी कोमल तथा सुन्दर साथरी सजाकर बिछायी। दोनोंमें भर-भरकर पवित्र और मीठे फल तथा जल लाकर रख दिये। रघुकुलमणि श्रीरामजीने सीताजी, लक्ष्मणजी और सुमन्तजीसहित कन्द-मूल-फलका भोजन करके रात्रिमें विश्राम किया। लक्ष्मणजी धनुष-बाण लेकर पहरा देने लगे। निषादराज भी जगह-जगह सुरक्षाकी व्यवस्था करके लक्ष्मणजीके पास जा बैठे। श्रीरामजीको सीताजीसहित भूमिपर शयन करते देखकर दुःखके कारण गुहका कलेजा फटा जा रहा था। लक्ष्मणजीने विविध प्रकारसे समझाकर उन्हें शान्त किया।

प्रातःकाल श्रीरामचन्द्रजी सीताजी, लक्ष्मणजी और निषादराजके साथ नावद्वारा गङ्गा-पार पहुँचे। कृपासिन्धु श्रीरघुनाथजीने गुहसे कहा—'भैया! अब तुम अपने घरको लौट जाओ।' यह सुनते ही निषादराजका मुख सूख गया, उन्होंने दीनतापूर्वक हाथ जोड़कर कहा—'नाथ! मैं आपके साथ रहकर वनमें मार्ग बतलाऊँगा और जहाँ आप रहना चाहेंगे, वहाँ पर्णशाला तैयार कर दूँगा। इस तरह कुछ दिनतक आपके चरणोंकी सेवा कर लेनेके बाद फिर आपकी जैसी आज्ञा होगी, वही करूँगा।' निषादराजका सहज स्नेह देखकर रघुकुलशिरोमणि कृपासागर श्रीरामजीने उन्हें अपने साथ ले लिया। कुछ दिनतक सेवा करनेके बाद निषादराज शृंगवेरपुर लौट आये।

× × ×

इधर ननिहालसे लौटकर भरतजीने जब पिताकी मृत्यु और राम-वनवासकी बात सुनी तो वे विकल हो गये। भरतजी अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजीको मनानेके लिये दलबलसहित शृंगवेरपुरके निकट आ चुके हैं—यह समाचार निषादराजको ज्ञात हुआ। उन्होंने सुरसरिकी मध्य धारामें पाँच सौ नावें खड़ी करायीं और प्रत्येकपर सशस्त्र सैनिक नियुक्त कर दिये। तत्पश्चात् नीतिनिपुण गुह भेंटकी सामग्री लेकर भरतजीसे मिलने चले। निषादराजने

मुनिराज वसिष्ठजीको देखकर अपना नाम बतलाकर दूरसे ही उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। मुनीश्वरने उन्हें श्रीरामका कृपापात्र जानकर आशीर्वाद दिया और भरतजीको सकेतित किया कि यह श्रीरामका सखा है। यह सुनते ही भरतजी स्यन्दनसे उतरकर पैदल ही गुहसे मिलने चले। निषादराजने अपना गाँव, जाति और नाम बतलाकर पृथ्वीपर माथा टेक दिया। उन्हे प्रणाम करते देखकर भरतजीने उठाकर गुहको छातीसे लगा लिया—

भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥
(मानस २। १९३। १)

सारा रहस्य समझ लेनेपर गुहने अत्यन्त आदरपूर्वक ससैन्य भरतजीको पार उतार दिया और स्वय भी उनके साथ चित्रकूट पहुँचे। वहाँ प्रभुका दर्शन करके वे भजन-मग्न हो गये। सबका परस्पर मिलन हुआ। श्रीरामचन्द्रजी जिनके चरणोंमें प्रणाम करते, निषादराज भी वहीं माथा टेक देते। इनकी श्रीरामभक्ति देखकर वसिष्ठजीने भी आनन्दविह्वल हो इन्हें अपने अङ्कमें ले लिया। भरतजीके साथ निषादराज भी चित्रकूटसे लौट आये।

× × ×

वनवाससे लौटते समय जब पुष्पकविमान श्रृंगवेरपुरके निकट गङ्गातटपर पहुँचा और वह समाचार निषादराजको मालूम हुआ, तब वे प्रेमसे विह्वल होकर दौड़े और आनन्द-सिन्धुमें गोते लगाते प्रभुके निकट पहुँचे। श्रीसीताजीसहित प्रभुको देखकर वे चरणोंमें गिर पड़े, उन्हे शरीरकी सुधि न थी। तब करुणानिधि श्रीरघुनाथजीने उन्हे प्रेमसे उठाकर हृदयसे लगा लिया—

लियो हृदयँ लाइ कृपा निधान सुजान रायँ रमापती।
बैठारि परम समीप बूझी कुसल सो कर बीनती॥
अब कुसल पद पंकज बिलोकि बिरंचि संकर सेब्य जे।
सुख धाम पूरनकाम राम नमामि राम नमामि ते॥
(मानस ६। १२१ का छन्द)

"सुजानशिरोमणि लक्ष्मीकान्त कृपानिधान श्रीरामने उन्हे हृदयसे लगा लिया और अत्यन्त निकट बैठाकर कुशल पूछी। तब गुह विनती करने लगे—'नाथ! आपके जो चरणकमल ब्रह्माजी और शंकरजीके द्वारा सेवित हैं, उनका दर्शन करके अब मैं सकुशल हूँ। सुखधाम पूर्णकाम श्रीराम! आपको बारंबार नमस्कार है।"'

दीनबन्धु श्रीराघवेन्द्र अयोध्या पधारे और राज्य-सिंहासनपर अधिष्ठित हुए। इस उत्सवमें निषादराज आदिसे अन्ततक सम्मिलित थे। अन्तमें सबको विदा करते समय श्रीरघुनाथजीने निषादराजको बड़े प्रेमसे अपने निकट बुलाया और बहुमूल्य भूषण-वस्त्र प्रदान करके अत्यन्त मधुर वाणीमें कहा—

जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू॥
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥
(मानस ७। १९। १-२)

दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामके कृपापूर्ण वचन सुनकर निषादराजके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू उमड आये और वे प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े। फिर 'चरन नलिन उर धरि गृह आवा।' चरणकमलोंको हृदयमें धारणकर गुह श्रृंगवेरपुर लौट आये।

(५)

केवटपर कृपा

कुछ दिन जनकपुरमें रहकर कोसलनरेश महाराज दशरथ अपने पुत्रों और पुत्रवधुओंसहित सकुशल अपनी राजधानी अयोध्यापुरीमें आ गये। बड़ी चहल-पहलके साथ (आनन्दमय) जीवन बीत रहा था। एक दिन अवधनरेशने गुरुदेव तथा मन्त्रियोंके साथ सभामें बैठकर श्रीरामको युवराज-पद देनेके लिये विचार-विमर्श किया। सभीने एक स्वरसे स्वीकृति दे दी। शुभ मुहूर्त निश्चित हो गया। अभिषेक-सामग्री एकत्रित हो गयी। इसी बीच मन्थराके कुचक्रमें रानी कैकेयीने विघ्न उपस्थित कर दिया। उन्होंने थातीरूप रखे हुए अपने दो वरदानोंमेंसे एकसे भरतको राज्य और दूसरेसे श्रीरामको चौदह वर्षका वनवास माँगा। परिणामस्वरूप श्रीराम भाई लक्ष्मण और पत्नी सीताको साथ लेकर सभीको रोते-बिलखते छोड़ वनके लिये चल पड़े। गङ्गातटपर पहुँचकर पार जानेके लिये उन्होंने केवटसे नाव माँगी—

नाम अजामिल से खल कोटि अपार नदीं भव बूड़त काढ़े।
जो सुमिरें गिरि मेरु सिलाकन होत, अजाखुर बारिधि बाढ़े॥
तुलसी जेहि के पद पंकज तें प्रगटी तटिनी, जो हरै अघ गाढ़े।
ते प्रभु या सरिता तरिबे कहुँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े॥
(कवितावली २। ५)

'जिनके नामने संसाररूपी अपार नदीमें डूबते हुए अजामिल-जैसे करोड़ों पापियोंका उद्धार कर दिया और

जिनके स्मरणमात्रसे सुमेरुके समान पर्वत पत्थरके कणके बराबर तथा बढ़ा हुआ समुद्र भी बकरीके खुरके समान हो जाता है, तुलसीदासजी कहते हैं—जिनके चरण-कमलसे महान् पातकोंका नाश करनेवाली श्रीगङ्गाजी प्रकट हुई हैं, वे समर्थ भगवान् श्रीराम उनके पार जानेके लिये तटपर खड़े होकर नाव माँग रहे हैं।'

तब केवट कहने लगा—'नाथ! यह बात प्रसिद्ध है कि आपके चरणोंमें मनुष्य बना देनेवाला कोई चूर्ण है, जिसका स्पर्श होते ही शिला सुन्दर स्त्री हो गयी। शिला और काठमें भेद ही क्या है; अतः नौकापर चढ़नेसे पूर्व मैं आपके चरण-कमलोंको पखारूँगा। उन्हें धो लेनेके पश्चात् ही मैं आपको गङ्गाके उस पार ले चलूँगा। अन्यथा प्रभो! आपकी चरण-रजके स्पर्शसे यदि कहीं मेरी नौका सुन्दर युवती बन गयी तो मेरे कुटुम्बकी आजीविका ही मारी जायगी। इसलिये यदि आप अवश्य पार जाना चाहते हैं तो मुझे अपने चरणकमलोंको पखारनेके लिये कह दीजिये—

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं॥
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥
(मानस २।९९।छं०)

'नाथ! मैं चरणकमलोंको धोकर आपलोगोंको नावपर चढ़ा लूँगा। मैं आपसे कुछ उतराई नहीं चाहता। श्रीराम! मुझे आपकी दुहाई और दशरथजीकी सौगन्ध है। मैं सब सच-सच कहता हूँ। भले ही लक्ष्मणजी मुझे तीर मारें, पर जबतक मैं पैरोंको पखार न लूँगा, पार नहीं उतारूँगा।'

केवटके प्रेम-रस-पगे अटपटे वचन सुनकर करुणाधाम श्रीराम जानकीजी और लक्ष्मणजीकी ओर देखकर हँसे और केवटसे मुसकराते हुए बोले—

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई॥
बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू॥
(मानस २।१००।२)

'भाई! तू वही कर, जिससे तेरी नाव न जाय। शीघ्र पानी ला और पैर धो ले। देर हो रही है, पार उतार दे।'

केवट भगवान् श्रीरामकी आज्ञा पाकर कठौतेमें जल भरकर ले आया तथा अत्यन्त आनन्दपूर्वक प्रेमसे उमगकर भगवान्‌के चरण-कमल धोने लगा। तत्पश्चात्—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥
(मानस २।१०१)

'चरणोंको धोकर और सारे परिवारसहित स्वयं उस चरणोदकको पीकर पहले अपने पितरोंको भवसागरसे पार कर दिया, फिर आनन्दपूर्वक प्रभु श्रीरामको गङ्गाजीके पार ले गया।'

नावसे उतरकर भगवान् श्रीराम सीता और लक्ष्मण-सहित सुरसरिकी रेतीमें खड़े हैं। दयासागर प्रभुको संकोच हो रहा है कि इसे कुछ दिया नहीं। तबतक पतिके हृदयकी बात जाननेवाली जानकीजीने अपनी मणिनिर्मित अँगूठी उतारी और उसे केवटको देना चाहा, परंतु केवटने लेना स्वीकार नहीं किया। लक्ष्मणके अनुरोध करनेपर भी उसने उतराई नहीं ली—

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥
(मानस २।१०२)

तब करुणाधाम भगवान् श्रीरामने उसपर कृपा की और निर्मल भक्तिका वरदान देकर उसे विदा किया।

(६)

भरतजीपर कृपा

भरतजीने ननिहालसे लौटकर जब पिताजीकी मृत्यु और भैया श्रीरामके वनवासकी बात सुनी तो वे व्याकुल हो गये। गुरु वसिष्ठके आज्ञानुसार पिताजीका अन्त्येष्टि-संस्कार सम्पन्न कर दूसरे दिन ही भरतजी पूरे समाज और दल-बलके साथ श्रीरामको लौटानेके लिये वनको प्रस्थित हुए। मार्गमें निषादराज गुहसे उनकी भेंट हुई।

तदनन्तर वे महर्षि भरद्वाजजीके आश्रमपर पहुँचे। प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी मुनिवर भरद्वाजजीको आश्रममें बैठे देखकर उन्हें अत्यन्त भक्तिपूर्वक साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

उस स्वर्ग-सदृश आश्रममें एक दिन रहकर प्रातःकाल मुनिवरको प्रणामकर उनकी आज्ञा ले भरतजी चित्रकूटकी

ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचकर वे धीरे-धीरे श्रीरामके आश्रमके निकट पहुँचे। वहाँ उन्होंने दूर्वादलके समान श्याम-शरीर और विशालनयन श्रीरघुनाथजीको बैठे हुए देखा, जो जटाओंके मुकुट और नवीन वल्कल वस्त्र धारण किये हुए थे। वे प्रसन्नवदन और मध्याह्नकालिक सूर्यके समान प्रभायुक्त प्रतीत हो रहे थे। उन्हे देखते ही भरतजी दौड़कर उनके चरणोंमे लोट गये। तब—

रामस्तमाकृष्य सुदीर्घबाहु-
दोर्भ्यां परिष्वज्य सिषिञ्च नेत्रजैः।
जलैरथाङ्कोपरि संन्यवेशयन्
पुनः पुन. सम्परिषस्वजे विभु.॥
(अ० रा० २। ९। ७)

'विशाल भुजाधारी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपनी दोनों भुजाओंसे उठाकर उनका आलिङ्गन किया और गोदमे बैठाकर अपने ऑसुओंसे सींचते हुए बारंबार उन्हें हृदय लगाया।' धन्य कृपालु !

दूसरे दिन भरतजीने भगवान् श्रीरामसे कहा—'महाभाग! आप अपना अभिषेक कीजिये। यह पैतृकराज्य आपका ही है, आप इसका पालन करे। मेरी माताका जो कुछ अपराध है, उसे भूल जाइये और मेरी रक्षा कीजिये।' भरतजीकी प्रार्थना सुनकर श्रीरघुनाथजीने कहा—'भाई! पिताजीने मुझे आज्ञा दी है कि चौदह वर्ष दण्डकारण्यमे रहकर पुनः अयोध्यामे आना, इस समय यह सम्पूर्ण राज्य मैं भरतको देता हूँ। अतः पिताजीने यह राज्य तो तुम्हींको दिया है, और वैसे ही उन्होंने मुझे दण्डकारण्यका राज्य दिया है, इसलिये हम दोनोंको ही प्रयत्नपूर्वक पिताजीके वचनोंको सफल करना चाहिये।' इस प्रकार दोनों भाइयोंमे परस्पर अपने कथनकी सफलताके लिये खींचातानी चलती रही। अन्तमे भरतजी आमरण अनशनका व्रत लेकर धूपमे कुशा बिछाकर पूर्वाभिमुख बैठ गये। भरतजीका ऐसा हठ देखकर श्रीरामचन्द्रजीने गुरु वसिष्ठजीको नेत्रोंसे सकेत किया। तब मुनिवर वसिष्ठजीने भरतजीको एकान्तमे ले जाकर श्रीरामावतारका रहस्य समझाया।

गुरुजीके वचन सुनकर भरतजीको परम विस्मय हुआ और उन्होंने आश्चर्यचकित हो श्रीरामजीके निकट आकर कहा—'राजेन्द्र! आप मुझे राज्य-शासनके लिये अपनी जगत्पूज्य चरण-पादुकाएँ दीजिये। जबतक आप लौटेंगे, तबतक मैं उन्हींकी सेवा करता रहूँगा। यदि चौदह वर्षके व्यतीत होनेपर पहले दिन ही आप अयोध्या न पहुँचे तो मैं महान् अग्निमे प्रवेश कर जाऊँगा।' तब—

प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्ही॥
(मानस २। ३१५। २)

'प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने कृपा करके खड़ाऊँ दे दी और भरतजीने आदरपूर्वक उन्हे सिरपर धारण कर लिया।' तत्पश्चात् वे समाजसहित अयोध्या लौट आये और वहाँ नगरवासियोंकी सुरक्षाका प्रबन्ध करके वे स्वयं नन्दिग्राममे चले आये। वे उन पादुकाओंको एक सिंहासनपर पधराकर स्वयं सेवककी भाँति उनसे नीचे बैठते थे और सारा राजकार्य उन्हींको निवेदन करके करते थे। इस प्रकार वे जटा-वल्कलधारी फलमूलाशी तपस्वी ब्रह्मचारीके वेषमे समय बिताने लगे।

उधर वनवासकी अवधिका अन्तिम काल आ पहुँचा। भगवान् श्रीरामने राक्षसराज रावणको मारकर लंकापर विजय प्राप्त की। विभीषण लंकाके राज्यपर अभिषिक्त हो गये। तब श्रीरघुनाथजी सीताजी एवं सखाओंके साथ पुष्पक विमानद्वारा अवधपुरी पहुँचनेके लिये उद्यत हुए। इसी समय विभीषणने कुछ दिन लंकामे ठहरनेके लिये प्रभुसे प्रार्थना की। तब श्रीरघुवीरने कहा—

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि॥
बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥
(मानस ६। ११६ क–ग)

तदनन्तर विमान अयोध्याकी ओर चला। मार्गमें भगवान् श्रीराम सीताजीको अपनी लीलास्थलियोंका परिचय देते हुए प्रयाग पहुँचे। वहाँसे प्रभुने हनुमान्‌जीको भरतजीका कुशल-समाचार लानेके लिये भेजा।

इधर भरतजीकी दाहिनी ऑख और भुजा बारंबार फड़क रही थी। इस शुभ शकुनको देखकर वे अत्यन्त हर्षपूर्वक मनमे विचार करने लगे—'प्राणोंकी आधारभूता अवधिका एक ही दिन शेष रह गया है, परंतु प्रभु क्यों नहीं आये!'—इसी चिन्तामें उनका मन मग्न हो रहा।

वे ध्यानस्थ होकर 'राम-राम'का जप करने लगे और उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। इसी समय विप्र-वेषमें श्रीहनुमान्‌जी वहाँ पहुँच गये और बोले—

आसु बिरहँ सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुल तिलक सुजन सुखदाता। आयउ कुसल देव मुनित्राता॥
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित अनुज प्रभु आवत॥
(मानस ७।१।२-३)

ये वचन सुनते ही भरतजी सारे दुःख भूल गये। उन्होंने उठकर हनुमान्‌जीको गले लगाया और दोनोंमें परस्पर कुशल-संवाद होनेके पश्चात् श्रीहनुमान्‌जी भगवान् श्रीरामके पास लौट गये। इधर भरतजी अयोध्यापुरीमें आये और उन्होंने यह शुभ समाचार गुरुजी तथा माताओंको सूचित किया। अवधपुरी सब तरहसे सजायी गयी। भरतजी गुरुजनों तथा नगर-वासियोंको साथ लेकर प्रभुके स्वागतके लिये चले। प्रभुकी आज्ञासे विमान नगरके निकट पृथ्वीपर उतर पड़ा। भरतजी दौड़कर भगवान् श्रीरामके चरणोंमें लोट गये। श्रीरघुनाथजीने बलपूर्वक उठाकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। उनका प्रेम हृदयमें समाता न था। मिलनके पश्चात् राजमहलमें स्नानके अवसरपर भगवान्‌ने भरतजीकी जटाओंको अपने हाथोंसे सुलझाया—

पुनि करुनानिधि भरतु हँकारे। निज कर जटा राम निरुआरे॥
(मानस ७।१०।२)

इस प्रकार करुणानिधान प्रभुने भरतजीपर कृपा-वृष्टि कर उन्हें निहाल कर दिया।

(७)

शरभङ्ग मुनिपर कृपा

वनवास-कालमें भगवान् श्रीराम चित्रकूटको छोड़कर जब दण्डकारण्यमें प्रविष्ट हुए, तब वहाँ उन्हें सर्वप्रथम विराध नामक भयंकर राक्षस मिला। उसको दिव्यगति प्रदानकर श्रीराम शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर पहुँचे। वहाँ देवराज इन्द्र अपने विमानके साथ महर्षिको ब्रह्मलोक ले जानेके लिये पहलेसे ही पधारे हुए थे। देवराजका महर्षिके साथ वार्तालाप चल रहा था। भगवान् श्रीरामको आते देखकर स्वर्गाधिप इन्द्र वहाँसे चम्पत हो गये। श्रीरघुनाथजीने लक्ष्मण और जानकीसहित उस आश्रममें प्रवेश किया। शरभङ्गजीने दशरथनन्दन श्रीरामका विधिवत् आतिथ्य किया। कुशल-प्रश्नके अनन्तर श्रीरघुवीरने उनसे इन्द्रके आनेका कारण पूछा, तब शरभङ्गजी कहने लगे—

'श्रीराम! ये वरदायक इन्द्र मुझे ब्रह्मलोकमें ले जाना चाहते हैं; क्योंकि मैंने अपनी उग्र तपस्यासे उस लोकपर विजय पायी है। परंतु पुरुषसिंह! जब मुझे ज्ञात हुआ कि आप इस आश्रमके निकट आ गये हैं, तब मैंने यह निश्चय किया कि आप-जैसे अतिथिका दर्शन किये बिना मैं ब्रह्मलोकको नहीं जाऊँगा। पुरुषशिरोमणे! मैंने ब्रह्मलोक और स्वर्गलोक आदि जिन अक्षय शुभ लोकोंपर विजय पायी है, मेरे उन सभी लोकोंको आप ग्रहण करें।'

शरभङ्ग मुनिके ऐसा कहनेपर नरश्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीने कहा—

अहमेवाहरिष्यामि सर्वाँल्लोकान् महामुने।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने॥
(वा० रा० ३।५।३३)

'महामुने! मैं ही आपको उन सब लोकोंकी प्राप्ति कराऊँगा। इस समय तो मैं इस वनमें आपके बताये स्थानपर निवासमात्र करना चाहता हूँ।'

श्रीराघवेन्द्रके ये वचन सुनकर शरभङ्गजी बोले—'श्रीराम! यहाँसे थोड़ी ही दूरपर महातेजस्वी धर्मात्मा सुतीक्ष्ण मुनि नियम-संयम पूर्वक निवास करते हैं; आप उनके पास चले जाइये। वे आपके निवासस्थानकी व्यवस्था करेंगे।' तत्पश्चात् वे मन-ही-मन कहने लगे—'अहो! स्मरण करनेमात्रसे कामनाओंको पूर्ण करनेवाला इस संसारमें श्रीरघुनाथजीको छोड़कर और कौन दयालु है? मैं अनन्यभावसे उनका स्मरण करता रहा, इसी कारण ये स्वयं ही यहाँ चले आये। देवेश्वर दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम मेरी ओर निहारते रहें, मैं अब अपना शरीर जलाकर निष्पाप हो ब्रह्मलोकको जा रहा हूँ। मेरे हृदयमें सर्वदा अयोध्याधिपति श्रीरामचन्द्रजी विराजमान रहें, जिनके वामाङ्कमें श्रीसीताजी सुशोभित हैं।'

इस प्रकार भगवान् श्रीरामका ध्यान करते हुए तथा अपने सम्मुख उनके स्वरूपको देखते हुए मुनिवर शरभङ्गने अग्नि प्रज्वलित कर अपने पाञ्चभौतिक शरीरको भस्म कर दिया तथा भगवत्कृपासे दिव्य देह धारणकर ब्रह्मलोकको चले गये।

(८)

मुनिवर सुतीक्ष्णपर कृपा

दण्डकारण्यवासी मुनिगणोंके साथ अन्यान्य मुनियोंके आश्रमोंका दर्शन करते हुए भगवान् श्रीराम मुनिवर सुतीक्ष्णके आश्रमपर पहुँचे, जो ऋषियोंसे सुशोभित समस्त ऋतुओंके गुणोंसे युक्त और सब समय सुखदायक था। रघुनन्दन श्रीरामका आगमन सुनकर 'राम मन्त्रके' उपासक और मुनिवर अगस्त्यके शिष्य सुतीक्ष्ण उन्हें लेनेके लिये स्वयं आगे आये और उनकी विधिवत् पूजा की। कुशल प्रश्नके अनन्तर उग्र तपस्वी सुतीक्ष्णजीने कहा—

'रघुकुलभूषण श्रीराम! मैं आपकी ही प्रतीक्षामें था, इसीलिये अबतक अपने शरीरको त्यागकर मैं यहाँसे देवलोक नहीं गया। मैंने सुना था कि आप चित्रकूट पर्वतपर आकर निवास कर रहे हैं। यहाँ शतक्रतु देवराज इन्द्र आये थे और कह रहे थे कि 'महर्षे! आपने अपने पुण्य-कर्मके द्वारा समस्त शुभ लोकोंपर विजय पायी है।' उनके कथनानुसार मैंने तपस्याके बलसे जिन देवर्षिसेवित लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, उन लोकोंमें आप भगवती सीता और अनुज लक्ष्मणके साथ विहार करें। मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ वे सारे लोक आपकी सेवामें समर्पित करता हूँ।'

यह सुनकर मायापति श्रीरामने महर्षिको उत्तर दिया—

अहमेवाहरिष्यामि स्वयं लोकान् महामुने ।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥
(वा० रा० ३ । ७ । १४)

'महामुने! वे लोक तो मैं स्वयं ही आपको प्राप्त कराऊँगा, इस समय तो मेरी यह इच्छा है कि आप बतायें, मैं इस वनमें अपने ठहरनेके लिये कुटिया कहाँ बनाऊँ?'

श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर महर्षिने बड़ी मधुर वाणीमें कहा—'रघुवंशशिरोमणे! यही आश्रम सब प्रकारसे सुविधाजनक है, अतः आप यहीं सुखपूर्वक निवास कीजिये। जाइये, ऋषियोंके आश्रमोंका दर्शन करके यहीं लौट आइये।'

ऋषि-आश्रमोंका दर्शन करके सायंकाल वीरशिरोमणि श्रीराम महर्षि सुतीक्ष्णके आश्रमपर लौट आये और वहीं रात्रि व्यतीत की। प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त हो जब श्रीरघुनाथजी चलनेको उद्यत हुए, तब मुनिवर सुतीक्ष्णने भक्तिगद्गद वाणीसे उनका स्तवन किया। उनके स्तवनसे संतुष्ट होकर भगवान् श्रीरामने कहा—

मुने जानामि ते चित्तं निर्मलं मदुपासनात् ॥
अतोऽहमागतो द्रष्टुं मदृते नान्यसाधनम् ।
मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः ॥
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम् ।
× × ×
त्वं ममोपासनादेव विमुक्तोऽसीह सर्वतः ॥
देहान्ते मम सायुज्यं लप्स्यसे नात्र संशयः ।
(अ० रा० ३ । २ । ३५—३९)

'मुने! मैं यह जानता हूँ कि आपका चित्त मेरी उपासनासे निर्मल हो गया है और आपका मेरे अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है, इसीलिये मैं आपको देखनेके लिये आया हूँ। संसारमें जो लोग मेरे मन्त्रकी उपासना करते हैं और मेरे ही शरणागत हैं तथा नित्य निरपेक्ष और अनन्यगति रहते हैं, उन्हें मैं नित्य-प्रति दर्शन देता हूँ। आप केवल मेरी उपासनासे इस जीवितावस्थामें ही सर्वथा मुक्त हो गये हैं। शरीर छूटनेपर आप निस्संदेह मेरा सायुज्यपद प्राप्त करेंगे।'

इस प्रकार मुनिश्रेष्ठ सुतीक्ष्णपर कृपा करके भगवान् श्रीराम सीता और लक्ष्मणके सहित सुतीक्ष्ण-मुनिके साथ महर्षि अगस्त्यके आश्रमकी ओर प्रस्थित हुए।

(९)

गृध्रराज जटायुपर कृपा

मार्गमें महर्षि अगस्त्यके भाई मुनिवर अग्निजिह्वका दर्शन करते हुए श्रीरघुनाथजी मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजीके आश्रममें पहुँचे। साष्टाङ्ग दण्डवत् करते समय अगस्त्यजीने उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। फिर उन्होंने अपने योगबलसे भगवान् श्रीरामका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया और रहस्यसहित बहुत से अस्त्र शस्त्र भी प्रदान किये। सीतापति श्रीरामद्वारा अपने लिये निवास-स्थानकी जिज्ञासा किये जानेपर महर्षिने पञ्चवटीको ही

उपयुक्त स्थान बतलाया। तब सीता-लक्ष्मणसहित श्रीराम पञ्चवटीके लिये चल पड़े। मार्गमें उनकी गृध्रराज जटायुसे भेंट हुई। परस्पर वार्तालापमें दोनोंने अपना-अपना परिचय दिया। तब रघुवंशभूषण श्रीरामने जटायुको पितृ-सखा मानकर उनका अभिनन्दन किया। तत्पश्चात् प्रभु श्रीराम पञ्चवटीमें आये और गोदावरीके तटपर पर्णकुटी बनाकर जनककिशोरी सीता और लक्ष्मणके साथ सुखपूर्वक निवास करने लगे।

कुछ काल व्यतीत होनेपर राक्षसराज रावणकी बहन शूर्पणखा घूमती-घामती भगवान् श्रीरामके आश्रमपर आयी और श्रीरामके रूपपर मोहित होकर प्रणय-याचना करने लगी। तब श्रीरघुनाथजीके संकेतसे लक्ष्मणजीने उसके नाक-कान काट डाले। उसकी पुकारसे चौदह सहस्र असुरों-सहित खर-दूषण और त्रिशिरा युद्धके लिये आ धमके, परंतु क्षणमात्रमें ही श्रीरघुवीरके हाथों दिव्य गतिको प्राप्त हुए। शूर्पणखाके उकसानेपर रावण अपने साथ मारीचको लेकर भगवान् श्रीरामके आश्रमपर आया। मारीचने स्वर्ण-मृगका रूप बनाकर सीताजीको प्रलोभनमें डाल दिया। सीताजीके आग्रहसे श्रीराम उसका वध करने चले। पीछे उनकी सहायताके लिये लक्ष्मणजी भी चले गये। इसी बीच आश्रमको सूना देखकर रावण बलपूर्वक सीताजीको अपने रथमें बैठाकर ले भागा। सीताजी करुणक्रन्दन कर रही थीं।

सीताजीका वह आर्त-क्रन्दन सुनकर तीखी चोंचवाले पक्षिश्रेष्ठ जटायु दौड़े और रावणको देखकर उसे ऐसे दुष्कर्मसे विरत होनेके लिये समझाने लगे। जब उसने इनकी एक भी न सुनी, तब इन्होंने रावणको युद्धके लिये ललकारा। फिर तो दोनोंमें बड़ा घमासान युद्ध हुआ। जब रावण विह्वल हो गया और उसके सभी उद्यम विफल हो गये, तब—

तस्य व्यायच्छमानस्य रामस्यार्थे स रावणः।
पक्षौ पादौ च पार्श्वौ च खड्गमुद्धृत्य सोऽच्छिनत्॥
(वा० रा० ३। ५१। ४२)

'रावणने तलवार निकाली और श्रीरामचन्द्रजीके लिये पराक्रम करनेवाले जटायुके दोनों पंख, पैर तथा पार्श्वभाग काट डाले। गृध्रराज जटायु पृथ्वीपर गिर पड़े और रावण सीताजीको लेकर भाग गया।'

भगवान् श्रीराम लक्ष्मणजीके साथ विदेहकुमारीका अन्वेषण करते हुए वन-वन भटक रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि विशालकाय जटायुपर पड़ी। 'रघुनन्दन! मैं जटायु हूँ। मैंने आपकी भार्याको ले जानेवाले रावणका पीछा किया था। शत्रुदमन! मेरा उससे युद्ध हुआ और मैंने उसके रथ, घोड़े और धनुष भी काट डाले, किंतु अब मैं उसके द्वारा घायल होकर पड़ा हूँ। जगन्नाथ! आप मेरी ओर देखिये, अब मैं प्राण छोड़ना ही चाहता हूँ।' जटायु बड़ी कठिनतासे बोल पा रहे थे।

सीतासे सम्बन्ध रखनेवाली यह प्रिय वार्ता सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने गृध्रराज जटायुको गलेसे लगा लिया—

राखो गीध गोद करि लीन्हों।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहु अरघ-जल दीन्हों॥
(गीतावली ३। १३। १)

'श्रीरघुनाथजीने गृध्रराज जटायुको अपनी गोदमें उठा लिया और अपने नयनकमलोंके स्नेहरूप पवित्र जलसे मानो उन्हें अर्घ्यदान किया।'

तत्पश्चात् उन्होंने सुमित्राकुमारसे कहा— 'लक्ष्मण! ये महाबली गृध्रराज जटायु पिताजीके मित्र हैं, किंतु आज मेरे दुर्भाग्यवश मारे जाकर इस समय पृथ्वीपर पड़े हैं।' इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर श्रीरघुनाथजीने जटायुके शरीरपर हाथ फेरा और इन्हें पितृ-तुल्य मानकर स्नेह प्रदर्शित किया। पंख कट जानेसे गृध्रराज जटायु लहू-लुहान हो रहे थे। उसी अवस्थामें उन्हें गलेसे लगाकर श्रीरघुनाथजीने पूछा— 'तात! मेरी प्राणोंके समान प्रिया मिथिलेशकुमारी सीता कहाँ चली गयी?'

जटायुने रक्त वमन करते हुए लड़खड़ाती हुई बोलीमें कहा—'रघुनन्दन! महापराक्रमी राक्षसराज रावण मिथिलेश-नन्दिनी सीताको दक्षिणकी ओर ले गया है अब और अधिक कहनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। मैं अभी आपके सामने ही प्राण-त्याग करना चाहता हूँ। अनघ! आप साक्षात् परमात्मा विष्णु ही हैं। आज बड़े भाग्यसे मरते समय मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। अब मैं आपके परमपदको प्राप्त होऊँगा।' इतना कहकर जटायु प्राण-शून्य होकर धराशायी हो गये। तब कौसल्यानन्दनने सुमित्राकुमारसे कहा—

सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम्।
गृध्रराजं दिधक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम्॥
(वा० रा० ३। ६८। २७)

'सुमित्रानन्दन ! तुम सूखे काष्ठ ले आओ, मैं मथकर अग्नि प्रकट करूँगा और मेरे लिये मृत्युको प्राप्त हुए इन गृध्रराजका दाह-संस्कार करूँगा।'

फिर कृपालु दशरथनन्दनने जटायुको सम्बोधित करके कहा—

या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः।
अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम्॥
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान्।
गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज॥
(वा० रा० ३। ६८। २९-३०)

'महापराक्रमी गृध्रराज ! यज्ञ करनेवाले, अग्निहोत्री, युद्धमें पीठ न दिखानेवाले और भूमिदान करनेवाले पुरुषोंको जिस गतिकी—जिन उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है, मेरी आज्ञासे उन्हीं सर्वोत्तम लोकोंमें तुम भी जाओ। मेरेद्वारा दाह-संस्कार किये जानेपर तुम्हारी सद्गति हो।'

ऐसा कहकर दयासागर श्रीरघुनाथजीने जटायुका दाह-संस्कार किया। तदनन्तर जटायु तुरत दिव्य रूप धारणकर एक सूर्य-सदृश प्रकाशमान विमानपर आरूढ़ हुए और रघुवंशभूषण श्रीरामका स्तवन करके वैकुण्ठधामको चले गये।

(१०)

शबरीपर कृपा

दोनों रघुवंशी वीर सीताजीका अन्वेषण करते हुए दूसरे वनमें पहुँचे। वहाँ मार्गमें उन्हें एक ऐसा भयंकर राक्षस मिला, जिसका मस्तक और पैर शरीरमें घुसे हुए थे, वक्षःस्थलमें विशाल मुख और दोनों भुजाएँ एक-एक योजनतक फैली हुई थीं। उसका नाम कबन्ध था। कबन्धका उद्धार करके उसके बताये अनुसार श्रीराघवेन्द्र शबरीको दर्शन देनेके लिये पम्पासरकी ओर चले।

शबरी जातिकी भीलनी थी। वह मतङ्गमुनिके आश्रमके निकट कुटिया बनाकर रहती थी। वह मुनिकी सेवाके निमित्त आश्रमके मार्गको झाड़-बुहारकर स्वच्छ करती और जंगलसे सूखी लकड़ियाँ काटकर आश्रममें पहुँचाती थी। मतङ्गमुनिकी उसपर बड़ी कृपा थी। परमधामको गमन करते समय मुनिवरने शबरीसे कहा— 'शबरी ! तू एकाग्रचित्त होकर यहीं रह। सनातन परमात्मा राक्षसोंको मारने और ऋषियोंकी रक्षा करनेके लिये अवधनरेश दशरथके पुत्ररूपमें अवतार लेकर यहाँ आयेंगे। आजकल भगवान् श्रीराम चित्रकूटके आश्रममें विराजमान हैं। जबतक वे आयें, तबतक तू अपने शरीरका पालन कर। श्रीरघुनाथजीके आनेपर उनका दर्शन करते हुए इस शरीरको जलाकर तू उनके परमधामको चली जायगी।' ऐसा कहकर मुनीश्वर मतङ्ग परम धामको चले गये।

तबसे शबरी उसी आश्रममें रहती हुई भगवान् श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा करती रही। वह प्रातःकाल उठकर आश्रमकी ओर आनेवाले मार्गोंको दूरतक झाड़-बुहारकर साफ कर देती, आश्रमको लीप-पोतकर स्वच्छ कर देती, वनसे बेर आदि मीठे-मीठे स्वादिष्ट फलोंको चख-चखकर लाती और अपने प्रिय प्रभुके लिये चुन-चुनकर रखती तथा द्वारपर खड़ी हो पलक-पाँवड़े बिछाये श्रीराघवेन्द्रकी बाट जोहती रहती। जरा-सा भी पत्ता खटका कि वह चौकन्नी होकर उधर ही देखने लगती और सोचती, सम्भवतः हमारे श्रीराम आ गये। आठों याम उसका यही कार्यक्रम बन गया था।

भक्तवत्सल भगवान् तो भक्तके वशीभूत ही हैं। स्वयं उनके श्रीमुखके वचन हैं—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥
(गीता ४। ११)

'जो मुझे जैसा भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।' इस सिद्धान्तके अनुसार श्रीरघुनाथजी घूमते हुए शबरीके आश्रमपर पहुँचे। लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीको अपने समीप आते देख शबरी हर्षविभोर हो तुरंत उठ खड़ी हुई। उसके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु भर आये। वह भगवान् श्रीरामके चरणोंपर गिर पड़ी तथा स्वागत कर कुशल-प्रश्नादिके अनन्तर उन्हें सुन्दर आसनपर बैठाया। फिर उसने भक्तिपूर्वक श्रीराम और लक्ष्मणके चरण पखारे और चरणोदकको अपने शरीरपर छिड़का। तत्पश्चात् अर्घ्यादि विविध सामग्रियोंसे उन दोनोंका विधिवत् पूजन कर उनके सामने उन अमृतके समान बेर आदि दिव्य फलोंको, जिन्हें उसने पहलेसे ही संग्रह कर रखा था, लाकर

रख दिया। श्रीरामजी उनके स्वादका बखान करते हुए अघाते न थे।

शबरीके फलोंकी प्रशंसा यहीं समाप्त नहीं हो जाती, अपितु भगवान् श्रीरामको आजीवन जहाँ-कहीं भी प्रेमोपहार-स्वरूप भोजन करनेका अवसर आया, वहाँ उन्होंने शबरीके फलोंकी तुलनामें सबको फीका ही बतलाया—

घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई॥
(विनयप० १६४ । ४)

अतिथि-सत्कार हो चुकनेपर शबरीने भगवान् श्रीरामको मतङ्गवनका परिचय देकर कहा—'देवेश्वर! मैं तो नीच जातिमें उत्पन्न हुई एक गँवारी नारी हूँ। मैं आपकी स्तुति करना नहीं जानती। आप स्वयं ही मुझपर कृपा कीजिये।'

यह सुनकर भगवान् श्रीराघवेन्द्र बोले—'भामिनि! पुरुषत्व-स्त्रीत्वका भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम—ये कोई भी मेरे दर्शनके कारण नहीं हैं। उसका कारण तो एकमात्र मेरी भक्ति ही है। जो मेरी भक्तिसे विमुख हैं, वे यज्ञ, दान, तप अथवा वेदाध्ययन आदि किसी भी कर्मसे मुझे कभी नहीं देख सकते।' तदनन्तर भगवान् श्रीरामने शबरीको नवधा भक्तिका उपदेश दिया। अन्तमें उसपर कृपा करते हुए उन्होंने कहा—

इतो मद्दर्शनान्मुक्तिस्तव नास्त्यत्र संशयः।
यदि जानासि मे ब्रूहि सीता कमललोचना॥
कुत्रास्ते केन वा नीता प्रिया मे प्रियदर्शना॥
(अ० रा० ३ । १० । ३२-३३)

'अब मेरा दर्शन होनेसे तेरी मुक्ति हो जायगी—इसमें संदेह नहीं है। यदि तू जानती हो तो बता कि इस समय कमललोचना सीता कहाँ है? मेरी प्रियदर्शना प्रियाको कौन ले गया है?'

तब शबरी बोली—'विश्वभावन! आप सभी कुछ जानते हैं, तथापि लोकाचारका अनुसरण करते हुए यदि मुझसे पूछते हैं तो मैं बतलाती हूँ। सीताजीको राक्षसराज रावण हर ले गया है और इस समय वे लंकामें हैं। प्रभो! आप पम्पासरोवरपर जाइये, वहाँ वानरराज वालीके भाई सुग्रीवसे आपकी मित्रता होगी। वे सीताजीकी खोज करायेंगे। भगवन्! जबतक मैं अपने शरीरको जलाकर आपके परमधामको न चली जाऊँ, तबतक आप (एक मुहूर्त) यहाँ और ठहरिये।'

ऐसा कहकर शबरी अग्निमें प्रवेश कर गयी और दिव्य रूप धारणकर उस प्रदेशको प्रकाशित करती हुई परमधामको चली गयी।

जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि।
(मानस ३ । ३६)

इतना ही नहीं, कृपासिन्धु श्रीराघवेन्द्रने शबरीको जननीकी भाँति अपने हाथसे जलाञ्जलि भी दी—

तेहि मातु-ज्यों रघुनाथ अपने हाथ जल-अंजलि दई।
(गीतावली ३ । १७ । ८)

ऐसा कृपालु स्वामी और कौन होगा!

(११)

वानरराज सुग्रीवपर कृपा

प्राचीन कालकी बात है, एक बार जगत्स्रष्टा ब्रह्माजी अपनी सभामें बैठे हुए थे। अकस्मात् उनके नेत्रोंसे कुछ अश्रुबिन्दु ढुलक पड़े। उसी अश्रुसमूहसे एक वानरकी उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजीने उनका नाम ऋक्षरजा (ऋक्षराज) रखकर उन्हें किष्किन्धापुरीमें भेज दिया। वहाँ वे वानर-राज्यपर अभिषिक्त किये गये। पिताके स्वर्गवासी होनेपर इनके ज्येष्ठ पुत्र वाली वानराधिपति हुए और सुग्रीव भाईकी सेवामें रहकर राज्य-कार्यमें सहयोग देते रहे।

एक बार ऐसी घटना घटी कि मयकुमार मायावीने अर्धरात्रिके समय किष्किन्धापुरीके राजद्वारपर आकर वालीको युद्धके लिये ललकारा। बलशाली वाली शत्रुकी ललकारको न सहकर उसी समय अकेले ही उसे मारनेके लिये निकल पड़े। भ्रातृ-स्नेहवश सुग्रीव भी उनके पीछे-पीछे गये। कुछ दूर जाकर वह राक्षस एक गुफामें घुस गया। वालीने सुग्रीव-को पंद्रह दिनोंतक प्रतीक्षा करनेके लिये कहकर उस गुफामें भी राक्षसका पीछा किया। सुग्रीव एक मासतक अपने ज्येष्ठ भ्राताकी प्रतीक्षा करते रहे। जब उस गुफासे रुधिरकी धारा निकली, तब उन्होंने समझा कि उस राक्षसने भाईको तो मार ही डाला, अब आकर मुझे भी मार डालेगा; अतः गुफा-द्वारपर एक बहुत बड़ी शिला रखकर वे

किष्किन्धापुरी लौट आये । मन्त्रियोंने नगरको राजारहित देखकर राज्य-पदपर सुग्रीवका अभिषेक कर दिया । तत्पश्चात् वाली उस राक्षसका वध करके अपनी राजधानीमे आये तो सुग्रीवको सिंहासनासीन देखकर उनके मनमे दुर्भावना उत्पन्न हो गयी । उन्होंने सुग्रीवका धन, स्त्री आदि सर्वस्व छीनकर उन्हे राज्यसे निकाल दिया । सुग्रीव वालीके भयसे भागकर अपने चार मन्त्रियोंसहित ऋष्यमूक-पर्वतपर रहने लगे; क्योंकि वहाँ मतङ्ग ऋषिके शापवश वालीके आनेकी सम्भावना न थी ।

भगवान् श्रीराम लक्ष्मणसहित विदेहकुमारीको खोजते हुए शबरीके कथनानुसार पम्पासरोवरकी ओर बढ़ते जा रहे थे । सयोगवश सुग्रीवकी दृष्टि उन दोनों रघुवंशी वीरोंपर पड़ी । फिर तो वे भयसे उद्विग्न हो उठे और हनुमान्‌जीको बुलाकर कहने लगे—'मन्त्रिप्रवर ! तुम शीघ्र ही वहाँ जाकर पता लगाओ कि ये दोनों वीर पुरुष कौन हैं ? ये मुझे मारनेके लिये वालीके भेजे हुए तो नहीं आ रहे हैं ?' हनुमान्‌जी श्रीरघुनाथजीके समीप पहुँचे । कुछ देर वार्तालाप-के पश्चात् परस्पर परिचय स्थापित हुआ । तब हनुमान्‌जी दोनों वीर बन्धुओंको अपने दोनों कंधोंपर बैठाकर सुग्रीव-के पास ले गये । अग्निके साक्ष्यमे श्रीराम और सुग्रीवकी मित्रताका गँठबन्धन हुआ तथा दोनों मित्रोंने एक-दूसरेके दुःख-निवारणकी प्रतिज्ञा की । सुग्रीवने अपना सारा दुःख भगवान् श्रीरामसे कह सुनाया । सुनते ही कृपासिन्धु श्रीरघुनाथजीकी विशाल भुजाएँ फड़क उठीं, उन्होंने कहा—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान ।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ॥

(मानस ४ । ६)

सुग्रीवके मनमे भगवान् श्रीरामके कथनपर विश्वास नहीं जम रहा था, अतः उन्होंने परीक्षाके लिये दुदुंभि राक्षस-का अस्थिसमूह दिखलाया, जिसे श्रीरामजीने पैरके अँगूठेसे ही गिरा दिया । फिर सात ताड़ वृक्षोंको एक ही बाणसे बींधकर धराशायी कर दिया । यह देखकर सुग्रीवके मनमे विश्वास हो गया कि वे अवश्य वालीका वध करेंगे । तदनन्तर करुणासिन्धु श्रीरघुनाथजी सुग्रीवको साथ लेकर किष्किन्धापुरीमे आये और उसे वालीके पास युद्धके लिये भेजा । सुग्रीवकी गरजना सुनकर वाली क्रुद्ध हो दौड़े । उन्होंने अपनी पत्नी ताराके समझानेपर भी कुछ ध्यान नहीं दिया । दोनोंमे मल्लयुद्ध प्रारम्भ हुआ । सुग्रीव विकल होकर भाग खड़े हुए । भगवान् श्रीरामके हृदयमे दया उमड़ आयी । उन्होंने पहचानके लिये सुग्रीवके गलेमे पुष्पोंकी माला डालकर पुनः युद्धके लिये भेजा । युद्ध करते-करते जब सुग्रीव शिथिल पड़ने लगे, तब श्रीरामजीने वालीकी छातीको लक्ष्य करके बाण छोड़ दिया । उसके लगते ही वाली व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और उनके प्राणपखेरू उड़ गये ।

वालीकी अन्त्येष्टि-क्रियाके पश्चात् कृपासिन्धु श्रीरघुनाथजी-ने सुग्रीवको राज्य और वालि-पुत्र अङ्गदको युवराज-पद प्रदान किया । तबतक वर्षा ऋतु आ गयी, इसलिये भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके साथ प्रवर्षणगिरिपर ही ठहर गये । शरद्-ऋतु आनेपर सुग्रीवने समस्त वानर-यूथपतियोंको आमन्त्रित किया । वे सभी अपनी-अपनी सेनाके साथ उपस्थित हुए । उन्हे चार भागोंमे विभक्त करके चारों दिशाओंमे सीताजीकी खोजके लिये भेजा गया । दक्षिण दिशाके दलमे हनुमान्‌जी थे, उन्होंने समुद्र-पार लंकामे जाकर सीताजी-का पता लगाया । समाचार पाकर सुग्रीव अपनी असंख्य वानरी सेनाके साथ लकापर चढ़ाई करनेके लिये प्रस्थित हुए । मार्गमे वानरोंकी सहायतासे नल-नीलने समुद्रपर पुल बनाया, जिससे सेना उस पार पहुँची । वहाँ असुरोंके साथ युद्धमे सुग्रीवने अनिर्वचनीय पुरुषार्थ दिखलाया ।

लंकाविजयके पश्चात् श्रीरघुनाथजी वानरराज सुग्रीव-पर कृपा करके उन्हें अपने साथ अयोध्या लाये । नगर-यात्रा-के समय सभी वानर मानव-रूप धारण किये हुए थे । उस समय भगवान् श्रीरामकी कृपासे महातेजस्वी वानरराज सुग्रीव शत्रुंजय नामक पर्वताकार गजराजपर आरूढ़ थे—

ततः शत्रुंजयं नाम कुञ्जरं पर्वतोपमम् ।
आरुरोह महातेजाः सुग्रीवः प्लवगर्षभः ॥

(वा० रा० ६ । १२८ । ३१)

सबके निवासस्थानकी व्यवस्था करते समय श्रीराघवेन्द्र-ने वानरराज सुग्रीवपर विशेष कृपा प्रदर्शित करते हुए उन्हे अपने महलमे ठहरानेके लिये भरतजीसे कहा—

तच्च मद्भवनं श्रेष्ठं साशोकवनिकं महत् ।
मुक्तावैदूर्यसंकीर्णं सुग्रीवाय निवेदय ॥

(वा० रा० ६ । १२८ । ४५)

'भरत ! मेरा जो अशोकवाटिकासे घिरा हुआ मुक्ता एवं वैदूर्यमणियोंसे जटित विशाल भवन है, वह सुग्रीवको दे दो।'

राज्याभिषेकके लिये तुरंत समुद्र-जलकी आवश्यकता थी। भरतजीने सुग्रीवको सूचित किया। सुग्रीवने चार यूथपतियोंको प्रातःकाल ही समुद्र-जलसे भरे हुए चार घड़े लेकर उपस्थित होनेकी आज्ञा दी। इस प्रकार असम्भव कार्य सम्भव हुआ। श्रीराम-कृपासे राज्याभिषेकके अवसरपर वानरेन्द्र सुग्रीवको हाथमें श्वेत चँवर लेकर भगवान्‌की सेवा करनेका अवसर प्राप्त हुआ। पुरस्कार-वितरणके समय प्रभुने अपने सखा सुग्रीवपर विशेष कृपा की और उन्हें प्रथम पुरस्कार दिया—

> अर्करश्मिप्रतीकाशां काञ्चनीं मणिविग्रहाम्॥
> सुग्रीवाय स्रजं दिव्यां प्रायच्छन्मनुजाधिपः।
> (वा० रा० ६। १२८। ७५-७६)

'राजा श्रीरामने अपने मित्र सुग्रीवको सोनेकी एक दिव्य माला भेंट की, जो सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशित हो रही थी। उसमें बहुत-सी मणियोंका संयोग था।'

इस प्रकार वानरश्रेष्ठ सुग्रीव श्रीरामके राज्याभिषेकका उत्सव देखकर कृपानिधान श्रीरामकी कृपासे विभूषित हो किष्किन्धापुरी लौट आये।

(१२)

राक्षसराज विभीषणपर कृपा

विभीषण महर्षि विश्रवाद्वारा कैकसीके गर्भसे उत्पन्न हुए राक्षसराज रावणके छोटे भाई थे। ये बचपनसे ही धर्मात्मा थे, सदा धर्ममें ही स्थित रहते, स्वाध्याय करते और नियमित आहार करते हुए इन्द्रियोंको स्वाधीन रखते थे। इन्होंने पाँच हजार वर्षोंतक सदाचारका पालन करते हुए एक पैरसे खड़ा रहकर घोर तपस्या की। फिर अपनी दोनों बाँहें और मस्तक ऊपर उठाकर स्वाध्यायपरायण हो पाँच सहस्र वर्षोंतक सूर्यदेवकी आराधना की। इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माजी प्रकट हुए और इन्हें वर माँगनेके लिये कहा। तब विभीषणने कहा—'भगवन्! बड़ी-से-बड़ी आपत्ति पड़नेपर भी मेरी बुद्धि धर्मसे विचलित न हो और बिना सीखे ही मुझे ब्रह्मास्त्रका ज्ञान हो जाय। जिस-जिस आश्रमके विषयमें मेरा जो-जो विचार हो, वह धर्मके अनुकूल हो और उस-उस धर्मका मैं पालन करूँ।' ब्रह्माजीने विभीषणकी अभिलाषा-पूर्ति तो की ही, साथ ही इन्हें अमरत्व भी प्रदान किया। तपस्यासे विरत होकर ये अपने ज्येष्ठ भ्राता राक्षसराज रावणके पास लंकामें रहने लगे। रावणने एक राक्षस-कन्या सरमाके साथ इनका विवाह कर दिया। ये भगवद्भजन करते हुए सुखपूर्वक जीवनयापन करने लगे।

नीति-निपुण विभीषण रावणकी सभाके प्रधान सभासद् थे। ये समय-समयपर रावणके अन्यायका प्रतिरोध करते और उसे उचित परामर्श देते थे। रावण बहुसंख्यक देवताओं और नागोंकी कन्याओंका अपहरण करके लंकामें लाया, तब विभीषणने उसे उनपर बलात्कार न करनेके लिये समझाया था। धर्मात्मा विभीषण भगवान् श्रीरामके भक्त थे। इनके महलमें भगवान्‌का एक मन्दिर भी था, जिसकी दीवालोंपर रामास्त्रोंकी चित्रकारी की गयी थी। उनके यहाँ नये-नये तुलसीवृक्षोंका उपवन था। विदेहनन्दिनीका अन्वेषण करते हुए हनुमान्‌जीकी दृष्टि जब इस मन्दिरपर पड़ी तो उन्हें विश्वास हो गया कि यहाँ कोई संत रहता है। उसी समय श्रीरामभक्त विभीषण 'राम-राम' जपते हुए जाग पड़े। तब हनुमान्‌जी उनके निकट गये। दोनोंमें परस्पर परिचय हुआ। हनुमान्‌जीके पूछनेपर विभीषणने ही सीताजीका पता बतलाया था।

जब मेघनादने हनुमान्‌जीको ब्रह्मास्त्रसे बाँधकर राक्षससम्राट् रावणके सामने उपस्थित किया, तब उसने राक्षसोंसे हनुमान्‌जीको मार डालनेके लिये कहा। उस समय भी न्यायकुशल विभीषणने रावणको ऐसा करनेसे रोकते हुए कहा—'राक्षसराज! दूतका वध करना नीति-विरुद्ध है; अतः कोई अन्य दण्ड दिया जाना चाहिये।'

लंका-दहनके पश्चात् राजसभामें धर्मपरायण विभीषण जनकनन्दिनीको लौटा देनेके लिये रावणको समझा रहे थे। उसे सुनकर अन्यायी रावण क्रुद्ध हो उठा और उसने विभीषणको लात मारकर राज्यसे बहिष्कृत कर दिया। यह बहिष्कार विभीषणके लिये स्वर्ण-अवसर सिद्ध हुआ। उसी समय उनपर भगवत्कृपा मानो बरस पड़ी, जिसने विभीषणको श्रीराम-पादारविन्दकी ओर आकृष्ट कर दिया। विभीषण अपने चार मन्त्रियोंके साथ उमंगसे उल्लसित होकर प्रभुचरण-दर्शनके लिये चल पड़े—

> जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।
> ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥
> (मानस ५। ४२)

इस प्रकार हर्षोल्लाससे भरे हुए विभीषण समुद्रके इस पार आये और उन्होंने आकाशस्थित होकर वानरराज सुग्रीवको सम्बोधित करके अपना परिचय दिया। वानराधिपति सुग्रीवने श्रीराघवेन्द्रको इसकी सूचना दी। भगवान् श्रीरामने सुग्रीवसहित सभी प्रधान यूथपतियोंसे विभीषणको स्वीकार करनेके विषयमें परामर्श किया। सभीने राजनीतिके अनुसार विभीषणको कैद कर लेना अथवा मार डालना ही उचित बतलाया। तब करुणामूर्ति श्रीरघुनाथजीकी अहैतुकी कृपा विभीषणपर प्रस्फुटित हो गयी। उन्होंने सखा सुग्रीवको समझाते हुए कहा—'मित्र! तुमने नीति तो बहुत अच्छी बतलायी, परंतु मेरा प्रण तो है—भक्तोंका भय दूर करना—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥
(वा० रा० ६। १८। ३३-३४)

''कपिश्रेष्ठ सुग्रीव! जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ'—ऐसा कहकर मुझसे रक्षाकी याचना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ। यह मेरा सदाके लिये व्रत है। अतः वह विभीषण हो या स्वयं रावण आ गया हो, तुम उसे ले आओ। मैंने उसे अभय-दान दे दिया।''

तब भक्तराज विभीषण पृथ्वीपर उतरे और वानर उन्हें आदरसहित आगे करके करुणानिधान श्रीरघुनाथजीके पास चले। शोभाधाम श्रीरामके सौन्दर्यको देखकर विभीषण उन्हें एकटक देखते ही रह गये। उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक आये और शरीर रोमाञ्चित हो गया। फिर मनमें धैर्य धारणकर अपना परिचय देते हुए बोले—

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥
(मानस ५। ४५)

ऐसा कहते हुए विभीषण दण्डकी भाँति धरतीपर लेट गये, तब करुणावरुणालय श्रीरामजीने उन्हें अपनी विशाल भुजाओंसे उठाकर हृदयसे लगा लिया और फिर निकट बैठाकर कुशल पूछी। विभीषणने अपना सारा प्रसङ्ग कह सुनाया। तब कृपासिन्धु प्रभुने उन्हें हृदयसे लगा लिया और प्रसन्न होकर लक्ष्मणसे कहा—

..............समुद्राज्जलमानय॥
तेन चेमं महाप्राज्ञमभिषिञ्च विभीषणम्।
राजानं रक्षसां क्षिप्रं प्रसन्ने मयि मानद॥
(वा० रा० ६। १९। २४-२५)

'दूसरोंको मान देनेवाले सुमित्रानन्दन! तुम समुद्रसे जल ले आओ और उसके द्वारा परम बुद्धिमान् राक्षसराज विभीषणका लंकाके राज्यपर शीघ्र ही अभिषेक कर दो। मेरे प्रसन्न होनेपर उन्हें यह लाभ मिलना ही चाहिये।'

तदनन्तर विभीषणने लंका-दुर्गका सारा भेद श्रीरघुनाथजीको बतलाया। वानरी सेना नल-नील-निर्मित सेतुद्वारा समुद्र पार करके सुवेल पर्वतपर जा टिकी। असुरोंके साथ युद्ध छिड़ा। विभीषण अपनी सूक्ष्म बुद्धिद्वारा समय-समयपर उचित परामर्श देते रहे। जिस समय युद्ध-सज्जासे सुसज्जित विशाल रथपर आरूढ़ हो रावण संग्राम-भूमिमें आया, उस समय श्रीराघवेन्द्रको देखकर विभीषणका हृदय काँप उठा—एक ओर प्रचण्ड पराक्रमी विश्वविजयी रावण-जैसा शत्रु और उधर श्रीराम रथहीन, शरीरपर कवच भी नहीं और पैर भी पदत्राणरहित। वे अकुलाकर बोल उठे—

नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥
(मानस ६। ७९। २)

तब कृपानिधान प्रभुने विभीषणपर कृपा करके उन्हें आध्यात्मिक रथका स्वरूप बतलाया और कहा—

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥
(मानस ६। ८० क)

'मेरे धीर बुद्धिवाले मित्र! सुनो, जिसके पास ऐसा दृढ़ रथ हो, वह वीर संसाररूप महान् दुर्जय शत्रुको भी जीत सकता है। (जिसके समक्ष रावणकी कोई गणना ही नहीं है।)'

करुणासागर श्रीराम अपने भक्तोंकी विपत्ति भी स्वयं झेलनेको तैयार हो जाते हैं। युद्धस्थलमें जब विभीषण रावण-के सम्मुख लोहा ले रहे थे, तब रावणने उनका काम तमाम कर देनेके लिये उनपर भयंकर शक्तिसे वार किया। कृपा-निधान प्रभुकी दृष्टि उसपर पड़ गयी। उन्होंने विभीषणपर कृपा करके उन्हें पीछे ढकेल दिया और सामने होकर वह शक्ति स्वयं झेल ली—

तुरत बिभीषन पाछें मेला। सनमुख राम सहेउ सोइ सेला॥
(मानस ६। ९३। १)

कृपानिधान श्रीरघुनाथजी स्वजनोंपर ही कृपा करते हों, ऐसी बात नहीं है, शत्रुओंपर भी उनकी वैसी ही कृपा होती है। संग्राममें रावण-जैसा उद्भट शत्रु मारा गया। भ्रातृवधसे दुःखी होकर विभीषण विलाप करने लगे। प्रभुने उन्हें सान्त्वना दी और अन्तमें रावणके प्रति कृपासूचक वाणी बोले—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥

(अ० रा० ६। १०। ३३)

'विभीषण! वैर जीवनकालतक ही रहता है। मरनेके बाद उसका अन्त हो जाता है। अब हमारा प्रयोजन सिद्ध हो चुका है, अतः तुम इसका संस्कार करो। इस समय यह जैसे तुम्हारे स्नेहका पात्र है, उसी प्रकार मेरा भी स्नेह-भाजन है।'

इस प्रकार करुणा-मूर्ति भगवान् श्रीरामने रावणका अन्त्येष्टि-संस्कार कराया। तत्पश्चात् कृपानिधान प्रभुने (लक्ष्मणद्वारा) विभीषणको राज्य-सिंहासनपर अभिषिक्त कर दिया। अवधपुरीको लौटते समय कृपा करके प्रभु विभीषणको भी साथ ले आये। वहाँ नगर-यात्रा तथा राज्याभिषेकके अवसरपर करुणासागर श्रीरामपर श्वेत चँवर डुलानेका सौभाग्य विभीषणको भी प्राप्त हुआ। अन्तमें विदाईके समय करुणावरुणालय श्रीरघुनाथजीने विभीषण-को अपने साकेतधाममें निवासकी भी अनुमति दे दी—

करेहु कल्प भरि राजु तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं॥

(मानस ६। ११६ ख)

कृपासिन्धु श्रीरघुनाथजीकी कृपा सदा-सर्वदा सर्वत्र समस्त प्राणियोंपर होती रहती है। जिसका हृदय श्रीराम-भक्तिके प्रतापसे जितनी मात्रामें शुद्ध होता है, उसी अनुपात-से उसे भगवत्कृपाकी अनुभूति होती है। अतः मानवको भक्तिदेवीका आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

(१३)

स्वजनोंपर कृपा

प्रजावत्सल भगवान् श्रीराम धर्मपूर्वक अयोध्याके राज्यका पालन कर रहे थे। कुछ समय व्यतीत होनेपर काल तपस्वीके वेषमें राजद्वारपर आया। वहाँ उसने धैर्यशाली एवं यशस्वी लक्ष्मणको देखकर कहा—'महाबली लक्ष्मण! मैं अमित तेजस्वी महर्षि अतिबलका दूत हूँ और एक आवश्यक कार्यवश श्रीरामचन्द्रजीसे मिलना चाहता हूँ। तुम महाराजको मेरे आगमनकी सूचना दे दो।' उनकी बात सुनकर लक्ष्मण-जीने शीघ्रतापूर्वक भीतर जाकर श्रीरघुनाथजीसे उन तपोधनके आनेकी सूचना दी। तब श्रीराघवेन्द्रने कहा—'भैया! उन मुनिराजको तुरंत ही सत्कारपूर्वक अंदर ले आओ।' आज्ञा पाकर सुमित्राकुमार उन तेजस्वी मुनिको भीतर ले गये। अपनी कान्तिसे उद्दीप्त रघुकुलतिलक श्रीरामके पास पहुँचकर ऋषिने उनसे अत्यन्त मधुर वाणीमें कहा—'रघुनन्दन! आपका अभ्युदय हो।' श्रीरघुनाथजीने मुनि की विधिपूर्वक पूजा की। जब वे शान्तभावसे आसनपर विराजमान हो गये, तब भगवान् श्रीरामने कुशल-समाचार पूछते हुए कहा—'मुने! आप जिस कार्यके निमित्त यहाँ पधारे हैं, वह मुझसे कहिये।' भगवान् श्रीरामके वाक्यसे प्रेरित होकर मुनिने कहा—'प्रभो! वह बात किसी अन्यको प्रकट न करते हुए हम दोनोंके बीच ही कही जा सकती है। उसे न तो कोई सुने और न वह किसीसे कही जाय। यदि उसे कोई सुने अथवा देखे तो वह आपका वध्य होगा।'

तब रघुवंशभूषण श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन! तुम द्वारपर खड़ा रहकर पहरा दो, यहाँ कोई आने न पाये। यदि यहाँ कोई भी आया तो निस्संदेह वह मेरे हाथों मारा जायगा।' फिर वे समागत महर्षिसे बोले—'मुने! आपको जिसने भेजा है और आपके मनमें जो बात है, वह सब मुझसे कहिये। मेरे हृदयमें भी उसे सुननेकी उत्कण्ठा है।' फिर तो महर्षिने कहना प्रारम्भ किया—''रघुनन्दन! लोकनाथ भगवान् ब्रह्माने कहा है—'सौम्य! आपका कल्याण हो। आपने लोकोंकी रक्षाके लिये जो प्रतिज्ञा की थी, वह पूरी हो गयी। अब यदि आपका परमधाममें पधारनेका विचार हो तो अवश्य आइये। आपके स्वधाममें प्रतिष्ठित होनेपर सम्पूर्ण देवता सनाथ एवं निश्चिन्त हो जायँगे।''' कालके मुखसे ब्रह्माजीका संदेश सुनकर भगवान् श्रीरामने कहा—'काल! तुम्हारा कल्याण हो। मैं ब्रह्माजीके कथनानुसार जहाँसे आया था, वहीं पुनः चला जाऊँगा।'

इन दोनोंमें इस प्रकार वार्तालाप हो ही रहा था कि महर्षि दुर्वासा बड़ी उतावलीके साथ राजद्वारपर पहुँचे और लक्ष्मणजी से बोले—'सौमित्रे! तुम शीघ्र ही मुझे श्रीरामचन्द्रजीसे मिला दो, मेरा उनसे एक अत्यन्त आवश्यक कार्य आ पड़ा है।' यह सुनकर लक्ष्मणजीने कहा—'ब्रह्मन्! इस समय श्रीरघुनाथजी दूसरे कार्यमें संलग्न हैं, अतः दो घड़ीतक उनकी प्रतीक्षा कीजिये।' यह सुनते ही महर्षि दुर्वासा रोषसे तमतमा उठे और बोले—'लक्ष्मण! यदि इसी क्षण तुमने मुझे भगवान् रामसे न मिलाया तो निस्संदेह मैं सम्पूर्ण

राज्यसहित तुम्हारे वंशको अभी भस्म कर डालूँगा ।' इस सर्वनाशसे बचनेके लिये लक्ष्मणजीने भगवान् श्रीरामके पास जाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया । लक्ष्मणजीके वचन सुनकर कृपालु श्रीरामने कालको विदा कर दिया और शीघ्र ही बाहर आकर दुर्वासाजीसे मिले । उन्हें भीतर ले जाकर उनका आतिथ्य किया तथा अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन कराया । मुनिवर दुर्वासा तृप्त होकर अपने आश्रमको चले गये ।

महर्षि दुर्वासाके चले जानेपर भावी भ्रातृवियोगके दृश्यको दृष्टिपथमें लानेवाले कालके उस वचनपर विचार करके कृपानिधान श्रीरामके मनमें महान् दुःख हुआ । महर्षि वसिष्ठके समझानेपर भ्रातृवत्सल श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन ! मैं तुम्हारा परित्याग करता हूँ, जिससे धर्मका लोप न हो ।' यह सुनकर लक्ष्मणजी सरयू-तटपर आये और अपने शरीरके साथ ही सबकी दृष्टिसे ओझल हो गये ।

लक्ष्मणजीका परित्याग करके करुणासागर श्रीराम दुःख-शोकमें निमग्न हो गये । उन्होंने स्वधाम पधारनेका निश्चय किया । वे भरतजीको अयोध्याके राज्यपर अभिषिक्त करना चाहते थे, परंतु भरतजी भी सहगमनके लिये ही उतारू थे । पुनः शत्रुघ्नजीको भी सूचना भेजी गयी । वे भी अपने पुत्रोंको राज्य देकर सहगमनके लिये आ गये । इसी बीच इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानर, रीछ और राक्षसोंके समुदाय भी बहुत बड़ी संख्यामें वहाँ आ पहुँचे । वे सभी भगवान् श्रीरामको प्रणाम करके बोले—'प्रभो ! हमलोग भी आपके साथ चलनेका निश्चय लेकर यहाँ आये हैं ।' सुग्रीवने तो पृथक् रूपसे उनके समक्ष अपनी प्रार्थना प्रस्तुत की । मित्रवत्सल भगवान् श्रीरामने सुग्रीवपर कृपाकी वर्षा करते हुए कहा—

सखे शृणुष्व सुग्रीव न त्वयाहं विनाकृतः ।
गच्छेयं देवलोकं वा परमं वा पदं महत् ॥
(वा० रा० ७ । १०८ । २५)

'सखा सुग्रीव ! मेरी बात सुनो । मैं तुम्हारे बिना देवलोकमें और महान् परमपद या परम धाममें भी नहीं जा सकता ।' धन्य मित्र-वत्सलता !

तदनन्तर कृपासिन्धु श्रीरामने राक्षसराज विभीषणपर कृपा करके कहा—'महापराक्रमी राक्षसराज विभीषण ! मैं तुम्हें अपनी शपथ कराता हूँ, जबतक पृथ्वी प्रजाको धारण करे, तबतक तुम मेरे कहनेसे राक्षस-राज्यपर शासन करो ।'

धरिष्यति धरा यावत्प्रजास्तावत्प्रशाधि मे ।
वचनाद्राक्षसं राज्यं शापितोऽसि ममोपरि ॥
(अ० रा० ७ । ९ । ३३)

पुनः दयासागर श्रीराम हनुमान्‌जीको भी सह-गमनसे रोकते हुए बोले—

मारुते त्वं चिरंजीव ममाज्ञां मा मृषा कृथाः ।
(अ० रा० ७ । ९ । ३५)

'मारुते ! तुम चिरकालतक जीवित रहो, मेरी आज्ञाको मिथ्या मत करो ।'

इसी प्रकार दयानिधान भगवान् श्रीरामने जाम्बवान्, मैन्द और द्विविद—इन तीनोंको भी द्वापरके अन्ततक रहनेकी आज्ञा देकर सहगमनसे रोक दिया । शेष सभी रीछ-वानरों और राक्षसोंको साथ चलनेकी अनुमति दे दी ।

तदनन्तर प्रातःकाल करोड़ों चन्द्रमाओंके समान कान्तिमान् भगवान् श्रीराम महाप्रयाणमें चित्त लगाये नगरसे बाहर निकले । उस समय अयोध्यामें जितने स्थावर-जङ्गम जीव थे, वे सभी संसारसे विरक्त होकर अनन्तशक्ति परमात्मा श्रीरामके साथ चले । भगवान् श्रीराम जन-समुदायसहित सरयू-तटपर पहुँचे । उस समय देवताओंके विमान आकाशमें मँडराने लगे । तब ब्रह्माजीने निवेदन किया—'परमात्मन् ! आप अपने विष्णु-शरीरमें अथवा जिसमें आपकी इच्छा हो, प्रवेश करके देव-समुदायको सनाथ कीजिये ।' पितामहकी प्रार्थना सुनकर श्रीरघुनाथजीने भाइयोंके साथ सशरीर अपने वैष्णव तेजमें प्रवेश किया ।

स्वजनोंको अपने साथ चलनेके लिये लालायित देखकर कृपासिन्धु श्रीरामकी कृपा उच्छ्वलित हो उठी । उन्होंने ब्रह्मासे कहा—

एषां लोकं जनौघानां दातुमर्हसि सुव्रत ॥
इमे हि सर्वे स्नेहान्मामनुयाता यशस्विनः ।
भक्ता हि भजितव्याश्च त्यक्तात्मानश्च मत्कृते ॥
(वा० रा० ७ । ११० । १६-१७)

'सुव्रत ! इस सम्पूर्ण जनसमुदायको भी आप उत्तम लोक प्रदान करें । ये सब लोग स्नेहवश मेरे पीछे आये हैं । ये सभी यशस्वी और मेरे भक्त हैं । इन्होंने मेरे लिये अपने लौकिक सुखोंका परित्याग कर दिया है, अतः ये सर्वथा मेरे अनुग्रहके पात्र हैं ।'

भगवान् श्रीरामका यह वचन सुनकर ब्रह्माजी बोले—'भगवन् ! यहाँ आये हुए ये सब लोग 'संतानक' नामक लोकोंमें जायँगे । यहाँतक कि पशु-पक्षियोंकी योनिमें पड़े हुए जीवोंमेंसे भी जो कोई आपका चिन्तन करता हुआ प्राण-परित्याग करेगा, वह संतानक-लोकोंमें ही निवास करेगा ।'

इस प्रकार कृपानिधान भगवान् श्रीरामकी कृपासे अयोध्यापुरीके तिर्यग्योनिगत जीव भी संतानक-लोकके वासी हो गये । धन्य है कृपालुकी कृपावत्सलता ! (रा० शुक्ल)

रघुवर ! रावरि यहै बड़ाई

रघुवर ! रावरि यहै बड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीबपर करत कृपा अधिकाई ॥
थके देव साधन करि सब, सपनेहुँ नहिं देत दिखाई।
केवट कुटिल भालु कपि कौनप, कियौ सकल सँग भाई ॥
मिलि मुनिवृंद फिरत दंडक बन, सो चरचौ न चलाई।
बारहि बार गीध सबरीकी बरनत प्रीति सुहाई ॥
स्वान कहे तें कियो पुर बाहिर, जती गयंद चढ़ाई।
तिय-निंदक मतिमंद प्रजारज निज नय नगर बसाई ॥
यहि दरबार दीनको आदर रीति सदा चलि आई।
दीन-दयालु दीन तुलसीकी काहु न सुरति कराई ॥
(विनयप० १६५)

करनी करुना-सिंधुकी, मुख कहत न आवै

करनी करुना-सिंधुकी, मुख कहत न आवै।
कपट हेतु परसें बकी, जननी गति पावै ॥
बेद-उपनिषद जासु कौं, निरगुनहिं बतावै।
सोइ सगुन ह्वै नंदकी दाँवरी बँधावै ॥
उग्रसेनकी आपदा सुनि-सुनि बिलखावै।
कंस मारि, राजा करै, आपहु सिर नावै ॥
जरासंध बंदी कटै नृप-कुल जस गावै।
असय-तन गौतम-तिया कौ साप नसावै ॥
लच्छा-गृह तैं काढ़ि कैं पांडव गृह ल्यावै।
जस गैया बच्छ कैं सुमिरत उठि धावै ॥
बरुन-पास तैं ब्रजपतिहिं छन माहिं छुड़ावै।
दुखित गयंदहिं जानिकै आपुन उठि धावै ॥
कलि मैं नामा प्रगट ताकि छानि छवावै।
सूरदास की बीनती कोउ लै पहुँचावै ॥
(सूरसागर ४)

भगवान् श्रीकृष्णका कृपाविलास*

(लेखक—श्रीहरिकृष्णजी दुजारी)

(१)

पूतना-मोक्ष

रत्नमाला, दैत्यराज बलिकी पुत्री थी। यज्ञ-मण्डपमे भगवान् वामनकी अद्भुत शोभा निरखकर उसका मातृभाव जाग उठा, अन्तस्की ममता पुकार उठी—'हे देव! यह सौन्दर्यनिकेतन मेरे वक्षःस्थलपर क्रीड़ा करता तो मैं इसे स्तन-पान कराकर निहाल हो जाती।' वात्सल्यसे उसका हृदय भर आया। अन्तर्यामी भगवान् वामनने तत्काल उसकी मनोऽभिलाषा समझ ली और मन-ही-मन उसकी इस मङ्गलमयी इच्छाको पूर्ण करनेका संकल्प भी कर लिया। बादमे उन्हे पिताके साथ छल करते देखकर रत्नमाला अपना मनोरथ भूल गयी तथा कुपित होकर भगवान् वामनके प्राणतक लेनेपर उतारू हो गयी; किंतु कृपानिधि अपनी स्वीकृति कैसे भूल सकते थे! उस अभिलाषाकी पूर्ति कुछ अन्य प्रयोजन होनेके कारण उस अवतार-कालमे सम्भव न थी।

द्वापरमें रत्नमाला पूतना नामक मायाविनी राक्षसीके रूपमे उत्पन्न हुई और वह कंसकी राजसभाकी सदस्या बनी। वह अनेक प्रकारकी माया जानती थी। गगनमे विचरण करना और स्वेच्छानुसार रूप परिवर्तित करना आदि तो उसके लिये सामान्य कार्य थे।

आकाशचारिणी अष्टभुजा देवीने कंसको सावधान किया था कि उसका वध करनेवाला व्रजभूमिमें अवतरित हो चुका है, अतः कंसने अपने अनुचरोंको आज्ञा दी कि व्रजभूमिमें जो भी नवजात शिशु मिले, उसका प्राण हरण कर लिया जाय। पूतनाने अकेले ही इस कार्यको पूरा करनेका बीड़ा उठाया, उसकी दृष्टिमे तो यह एक सामान्य कौतुक था। वह गगनमें उड़ चली और व्रज पहुँची। उसने परम सुन्दर षोडशवर्षीया रमणीका रूप बनाया और व्रजकी गलियोंमें घूमती हुई गोपराज नन्दके द्वारपर पहुँच गयी। उस दिन नीलमणिका पालना-झूलन-संस्कार सम्पन्न हो रहा था। घर-बाहरके सभी लोग आनन्दोत्सवमें व्यस्त थे। अप्सरा-सदृश रूपवती पूतनाको देखकर सभी आश्चर्यमे डूब गये। 'अहो! यह सुन्दरी कौन है?' सब कानाफूसी कर रहे थे। पूतनाने मानो मधुमिश्रित स्वरमें अपना परिचय दिया—'मैं मथुरावासिनी ब्राह्मण-पत्नी हूँ और सर्वगुणसम्पन्न नन्दनन्दनको आशीर्वाद देने चली आयी हूँ। मेरे स्तनोंसे अमृतमय दूध झरता है, जो बालक इसे पी लेता है, वह अमर हो जाता है।'

मैया यशोदा, मैया रोहिणी और समस्त गोपियाँ प्रफुल्लित हो उठीं, उस षोडशीकी बात सुनकर। उनका लाला कन्हैया अमर हो जाय, इससे बढ़कर उन लोगोंके लिये और क्या हो सकता था! पालनेमें झूलते यशोदानन्दनकी शोभा अद्भुत थी। वे भी अपनी आँख बंद किये हुए मुनिमनोहारिणी लीला करनेको तैयार हो गये। उधर छद्म-वेशधारिणी उस सुन्दरीने उन्हें अपनी गोदमें उठा लिया। व्रजेन्द्रनन्दन अपनी आँखें बंद ही किये रहे, ऐसा लगता था, जैसे वे पूतनाके पूर्वजन्मकी स्मृति कर रहे हों। यदि वे अपनी आँख खोल देते तो पूतनापर दृष्टिपात होते ही उसकी माया टिक न सकती और मायाके हटते ही लीलाधरकी लीलामें बाधा उपस्थित हो जाती, जिससे पूतना मातृसुखकी अलौकिक कृपासे वञ्चित हो सकती थी।

उस बालघातिनीने अपने विष-युक्त स्तनको नन्दनन्दनके मुखमे दे दिया। अनन्त ब्रह्माण्डोंके संचालक श्रीहरि नेत्र बंद किये बड़े प्रेमसे विषाक्त पय पान करने लगे, जैसे वे अनभिज्ञ ही हों। माता यशोदा, रोहिणी एव गोप-सुन्दरियाँ आदि लालाकी अमरताकी कल्पना कर प्रसन्न हो उठीं। वह विषधारा सुधानिधिके स्पर्शमात्रसे सुधा बन गयी थी, परंतु इधर पूतना जोरसे चीत्कार कर उठी—'अरे छोड़ दे रे! छोड़ दे।' यशोदानन्दन केवल दूध ही नहीं पी रहे थे, साथ-ही-साथ उस निशाचरीके प्राण भी पीते जा रहे थे। अब तो पूतनाके मर्मस्थान फटने लगे। वह उन्हें अपने स्तनोंसे लटकाये ही अन्तिम हिचकियाँ भरने लगी। उसके सारे अङ्गोंसे स्वेद प्रवाहित होने लगा। आँखोंकी पुतलियाँ उलटने लगीं। उसकी कर्कश कराहसे दिशाएँ गूँज उठीं। बहुतसे प्राणी अचेत हो गये। स्तनके माध्यमसे भगवान्ने उसकी माया एवं प्राणोंका भी पान कर लिया। अब उसका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो गया था। उसका गगनस्पर्शी विशाल शरीर पृथ्वीपर गिरने-गिरते कंसके उद्यानतकके बड़े-बड़े विशाल वृक्षोंको भी ले गिरा, लगभग छः कोसके सभी वृक्ष कुचल गये।

* कृपासिन्धु श्रीकृष्णकी ये लीलाएँ श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्तपुराण, गर्ग-संहिता, गोपालचम्पू, महाभारत आदि ग्रन्थोंके आधारपर लिखी गयी हैं।

वह शरीर बड़ा भयंकर था। उसे देखकर ग्वाल, गोप, गोपी—सभी डर गये। सभीके हृदय धड़कने लगे।

इधर बालकृष्ण तो अपनी क्रीड़ामें मग्न थे, जैसे इस घटनासे उनका कोई सम्बन्ध ही न हो। बाल-गोपालने पूतना-पर कोई कृपा की है, इसका तो उन्होंने किसीको भानतक न होने दिया—

ऐसी कवन प्रभु की रीति।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति॥
गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु जादवराइ॥
(विनयप० २१४। १-२)

कैसी अनोखी कृपा है श्रीकृष्णकी! उधर सब गोपियाँ दौड़ीं और उन्होंने यशोदानन्दनको राक्षसीके वक्षःस्थलसे उठा लिया। देखने लगीं, कहीं शिशुको चोट तो नहीं लगी है! मैया यशोदाने अपने लाड़लेको छातीसे चिपका लिया। गोपियाँ और रोहिणी मैया दृष्टि-परिहार-हेतु गायोंकी पूँछ शिशुपर घुमाने लगीं। गोमूत्रसे स्नान कराकर, बालकृष्णके अङ्गोंमें गोबर लगाया गया। कैसा विनोद था प्रभुका! कहीं ऐश्वर्यका प्रदर्शन ही न था। उस स्वस्तिमान् अजन्मा शिशु श्रीकृष्णके लिये भी स्वस्तिवाचन होने लगा, सृष्टिबीजका भी बीजमन्त्रोंसे अलग-अलग अङ्गन्यास एवं बीजन्यास होने लगा। दौड़ते-दौड़ते नन्द बाबा एवं उपनन्द आये, बालकृष्णको सुरक्षित देखकर सभी आनन्दोल्लासमें डूब गये। मैया यशोदाने शिशु श्रीकृष्णको अपना स्तनपान कराया।

उधर पूतनाके शरीरको कुल्हाड़ियोंसे खण्ड-खण्ड करके सैकड़ों चिताएँ रची गयीं और उनपर शरीर-खण्डोंको रखकर एक-एक करके वे सभी प्रज्वलित कर दी गयीं। चिताओंसे अगरुकी सुगन्ध उड़ने लगी। प्रभुने जिसे कृपावश अपनी माता बनाया, उसकी चिताओंसे सुगन्ध उड़े, इसमें आश्चर्य ही क्या है!

(२)

नलकूबर एवं मणिग्रीवका उद्धार

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ॥
(श्रीमद्भा० १०। ९। २२)

'कन्हैयाको ऊखलमे बाँधनेके पश्चात् नन्दरानी यशोदा तो घरके काम-धंधोंमें उलझ गयीं और ऊखलमें बँधे हुए भगवान् श्यामसुन्दरने उन दोनों अर्जुन-वृक्षोंको मुक्ति देनेकी सोची, जो पहले यक्षराज कुबेरके पुत्र थे।'

× × ×

अखण्ड समाधिमे निरन्तर ध्यानमग्न रहनेवाले मुनियों-द्वारा भी जो परम पुरुष अगम्य हैं, वे ही परमेश्वर उनकी पकड़में आ जाते हैं, जो केवल उन्हींका लक्ष्य लेकर उन्हींकी ओर दौड़ पड़ते हैं। नित्यमुक्त मुक्तिस्वरूप भगवान् प्रेमी भक्तके बन्धनमें बँध जाते हैं। मथानी फोड़कर भागते हुए श्यामसुन्दर मैया यशोदाकी पकड़में आकर मैयाके सामने प्रेमवश भयभीत हो गये। मैयाने उन्हें रस्सीसे बाँधकर रस्सीका दूसरा छोर ऊखलसे बाँध दिया और स्वयं गृह-कार्यमें लग गयी। ऊखलसे बँधे हुए भगवान् श्यामसुन्दर यमलार्जुन वृक्षोंपर कृपा करनेके लिये घुटनोंके बल चल पड़े।

नलकूबर एवं मणिग्रीव यक्षराज कुबेरके पुत्र और भगवान् शंकरके अनुचर थे। यौवन, वैभव और पद—इन तीनोंके कारण वे मदमत्त हो गये थे। मदका नशा केवल संत-कृपा अथवा भगवत्कृपासे ही दूर होता है, अन्यथा यह मनुष्यका नाश करके ही छोड़ता है। नलकूबर और मणिग्रीवको यौवन, वैभव और पदका नशा तो चढ़ा हुआ था ही, ऊपरसे मदिराका नशा भी था। बस, नशेमें चूर हुए दोनों भाई झूमते-फिरते थे। इनके साथ अप्सराओंका भी दल था। अप्सराओंके साथ वे दोनों जलक्रीड़ाके लिये दिगम्बर अवस्थामें मन्दाकिनीकी पुनीत धारामें उतर गये। अप्सराएँ भी विवस्त्रा ही थीं। दैव-योगवश देवर्षि नारद उस मार्गसे आ निकले, उनकी दृष्टि इन लोगोंपर पड़ी। अप्सराओंने तो लज्जित होकर तुरंत वस्त्र धारण कर लिये; परंतु कुबेरपुत्र देवर्षिको देखते हुए भी उसी तरह नग्न एवं उन्मत्त बने रहे। देवर्षि नारदको उनकी इस स्थितिपर बड़ी दया आयी। उन्होंने सोचा—'अहो! ये लोकपाल कुबेरके पुत्र और इनकी ऐसी दुरवस्था!'

जो दुष्ट मदसे अंधे हो रहे हों, उनकी आँखोंमें ज्योति डालनेके लिये दरिद्रता ही सबसे बड़ा अञ्जन है; क्योंकि दरिद्र यह देख सकता है कि दूसरे प्राणी भी मेरे-जैसे ही हैं। अतः दरिद्रमे घमंड नहीं होता। देवर्षि उन दोनों कुबेर-पुत्रोंपर (कृपापूर्वक) कुपित हो गये। उन्होंने कहा—'हे कुबेर-पुत्रो! तुम दोनों अपनी इस जडताके अनुरूप

ही जड-योनि ग्रहण करो—वृक्ष बनकर जन्म धारण करो, परंतु वृक्षयोनि प्राप्त होनेपर भी तुमलोगोंको भगवत्स्मृति बनी रहेगी, कालान्तरमें तुम्हें भगवान् श्रीकृष्णकी संनिधि प्राप्त होगी और उनकी कृपासे तुम दोनों पुनः देव-योनि प्राप्त करोगे ।' यह कहकर देवर्षि बदरिकाश्रमकी ओर चले गये। ये ही दोनों यक्ष व्रजभूमिमे यमलार्जुन नामक वृक्ष बने।

नन्द-प्राङ्गणमें खड़े-खड़े वे वर्षोंसे गोलोकविहारी भगवान् श्रीश्यामसुन्दरकी प्रतीक्षा कर रहे थे। दोनों वृक्ष प्रचण्ड झंझावात, ग्रीष्मकी तेज धूप, वर्षाकी झड़ी और शिशिरके हिमको सहनकर अपना सम्पूर्ण अहंकार खो बैठे थे। इनका सम्पूर्ण अहं (मद) धुल गया था। केवल भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रकी अहैतुकी कृपाकी प्रतीक्षामें थे वे दोनों।

ऊखलसे बँधे भगवान् श्यामसुन्दर उन दोनों वृक्षोंके अतीतकी स्मृति करते हैं। सारी घटनाएँ उनके समक्ष आ जाती हैं। तदनुसार उन्हे अपने प्यारे भक्त देवर्षि नारदकी वाणी सत्य करनी है। इधर गोप-शिशु नाना प्रकारकी युक्तियों-द्वारा अपने प्यारे सखाको बन्धनमुक्त करनेकी चेष्टामें लगे हैं। अन्तमे कन्हैयाको बन्धन-मुक्तिकी एक युक्ति सूझती है। वे धीरे-धीरे यमलार्जुन वृक्षोंकी ओर बढते हैं। यमलार्जुन मन-ही-मन प्रसन्न हो उठते हैं। भगवत्कृपाकी बाट जोहते-जोहते आज स्वय भगवान् उनपर कृपा करनेको बढ रहे हैं। गोप-शिशु भारी ऊखलको लुढकानेमें कन्हैयाकी सहायता करते हैं। भगवान् दामोदर धीरे-धीरे यमलार्जुन वृक्षोंके पास पहुँच गये। वे दोनों वृक्षोंके बीचसे निकलते हैं। ऊखल दोनों वृक्षोंमें टेढ़ा होकर फँस जाता है।

> बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद्
> दामोदरेण तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ।
> निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेप-
> स्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ ॥
> (श्रीमद्भा० १० । १० । २७)

'दामोदर भगवान् श्रीकृष्णकी कमरमें रस्सी कसी हुई थी। उन्होंने अपने पीछे लुढ़कते हुए ऊखलको ज्यों ही तनिक जोरसे खींचा, त्यों ही पेड़ोंकी सारी जड़ें उखड़ गयीं। समस्त बलके केन्द्र भगवान्का थोड़ा-सा जोर लगते ही पेड़ोंके तने, शाखाएँ, छोटी-छोटी डालियाँ और एक-एक पत्ता काँप उठा और वे दोनों बड़े जोरसे तड़तड़ाते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े।'

वृक्ष गिरे, परंतु किसीको किसी प्रकारकी क्षति नहीं हुई। देखते-देखते दोनों वृक्षोंसे दो तेजस्वी पुरुष निकले और भगवान्के चरणोंमें प्रणत हो गये। वे दोनों सिद्ध नलकूबर एवं मणिग्रीव भगवान्की विलक्षण कृपा प्राप्त कर अपने लोकको प्रस्थान कर गये।

(३)

फलवालीपर कृपा

> क्रीणीहि भोः फलानीति श्रुत्वा सत्वरमच्युतः।
> फलार्थी धान्यमादाय ययौ सर्वफलप्रदः ॥
> (श्रीमद्भा० १० । ११ । १०)

"एक दिन कोई फल बेचनेवाली आकर पुकार उठी—'फल लो, फल !' यह सुनते ही समस्त कर्म और उपासनाओं-के फल-प्रदाता भगवान् अच्युत फल खरीदनेके लिये अपनी छोटी-सी अञ्जलिमे अनाज लेकर दौड़ पड़े।"

× × ×

एक दीन-हीन मालिनी व्रजकी वीथियोंमे घूम-घूमकर फल बेचती और अपना उदर-पोषण करती थी। वृद्ध शरीर था। एक दिन प्रातः वह घरसे अपनी फलसे भरी टोकरी सिर-पर रखकर फल बेचने निकली। 'फल ले लो, फल'—कहती वह गली-गली घूमती रही, परंतु उस दिन बोहनीतक न हुई। किसी गोप-बालकने पूछातक नहीं कि 'तुम्हारे पास कौन-से फल हैं और क्या भाव ?' वह थककर चूर हो गयी। मध्याह्नका समय हो गया था। अन्तमें उस फलवालीने क्लान्त होकर एक पीपलके वृक्षकी शरण ली। वह पीपलकी घनी छायामें विश्राम करने लगी। उसके चेहरेपर निराशा-सी छा गयी थी, वह सोचने लगी—'आज क्या होगा ?' उसे क्या पता आज ही उसके जीवनका स्वर्णिम दिवस है। आज उसकी सिरपर रखी टोकरीके फल ही नहीं बिकेंगे, अपितु उसकी जन्म-जन्मकी साध पूरी होगी।

जहाँ वह विश्राम कर रही थी, ठीक उसके सामने ही नन्दरायका राजप्रासाद था और उसके बगलमें उनका खलिहान था। खलिहानमें पड़ी विशाल अन्नराशिको देख-कर वह मन-ही-मन सोच रही थी कि 'क्या आज इसमेंसे मेरे भाग्यमें कुछ लिखा है ?' इतनेमें ही उसने देखा—नन्हेसे श्यामसुन्दर महलके द्वारसे निकलकर खलिहानमें आये और धानको बिखेरने लगे। उन बाल श्रीकृष्णचन्द्रकी शोभा निरखकर फलवाली थकित रह गयी—

(यह) सोभा मेरे स्यामहिं पै सोहै ।
बलि-बलि जाउँ छबीले मुखकी, या उपमा कों को है ॥
या छबिकी पटतर दीजे कों सुकवि कहा टकटोहै ?
देखत अंग-अंग-प्रति बानक, कोटि मदन-मन छोहै ॥
ससि-गन गारि रच्यो बिधि आनन, बाँके नैननि जोहै।
सूर स्याम-सुंदरता निरखत, मुनि-जन कौ मन मोहै ॥
(सूरसागर ७७६)

वह उस रूपमाधुरीको निर्निमेष निरखती रही । पलकें उठी-की-उठी रह गयीं । एकाएक उसे याद आया—'अरे ! मुझे तो फल बेचने हैं ।' बस, वह बोल उठी—'फल ले लो, फल ।' नन्दनन्दन चौंक उठे—'वह फल क्या वस्तु है ?' वे अकुलायी दृष्टिसे फलवालीको देखने लगे । फलवाली तो पहले ही उस रूपमाधुरीपर न्यौछावर हो चुकी थी ।

यशोदानन्दनने चारों ओर दृष्टि घुमायी—'कहीं कोई देख तो नहीं रहा है ।' गोपियोंके नित्य-प्रतिके उलाहनोंसे मैया यशोदा तंग आ गयी थी । अतः उसने महलमें प्रहरियाँ नियुक्त कर दी थी कि लालाको कहीं बाहर ही न जाने दिया जाय । अस्तु, यशोदानन्दन चारों ओर देखते हुए शीघ्र ही फलवालीके पास पहुँच गये । प्रहरियाँ भी ठगी-सी दरवाजेकी ओटसे कन्हैयाकी यह लीला देख रही थीं । 'अरी ! फल क्या होता है ?' नन्दनन्दनका प्रश्न था ।

फलवालीके नेत्र अश्रुपात कर रहे थे, उसमे बोलनेकी शक्ति ही कहाँ बची थी । बड़ी कठिनाईसे वह टोकरीकी ओर संकेत कर केले, नारंगी, बेर आदि फलोंका परिचय दे पायी । अब कन्हैया समझ गये थे कि फल क्या होते हैं । 'ये फल मुझे दे दो ।' बड़े मीठे वचनोंमें कन्हैयाने याचना की । फलवाली हतप्रभ-सी नन्दनन्दनकी इस बाल-सुलभ भङ्गिमाको निरख रही थी । उसके नेत्र निरन्तर बह रहे थे । कन्हैयाने पुनः कहा—'मैं फल लूँगा ।' फलवालीने अपने-आपको सँभाला, उसने कहा—'फलके बदले कुछ मूल्य दो ।' 'मूल्य क्या होता है ?' शिशु कन्हैया चकित-से खड़े थे । आजतक उन्होंने 'मूल्य' शब्द ही न सुना था । वे फिर बोले—'मूल्य क्या होता है ? मैं कुछ नहीं समझा, तू मुझे शीघ्र फल दे दे ।' 'लाड़िले ! वस्तुके बदले कुछ दिया जाता है, उसे मूल्य कहते हैं ।' फलवालीने बड़े प्रेमसे शिशुको समझानेका प्रयत्न किया । "अरी ! मुझे मेरी मैया नित्य माखन-मिश्री खिलाती है, दूध पिलाती है । गोपिकाएँ प्रतिदिन मेरी चाह करके मुझे माखन खिलाती हैं, परंतु वे तो कभी मुझसे 'मूल्य' नहीं माँगतीं ।" कन्हैया तुरंत बोल उठे । प्रेम-विह्वल फलवाली क्या उत्तर देती । कन्हैयाने सोचा—'यह फलोंके बदले कुछ लेना चाहती है ।' वे दौड़े खलिहानकी ओर और बड़ी कठिनाईसे अपनी नन्ही-सी अञ्जलिमें कुछ धान भरकर लाये । 'अरी ! ले, मैं फलोंका मूल्य ले आया' और उन्होंने अपनी बँधी अञ्जलि, जिसमें धानके कुछ ही दाने बचे थे, फलवालीकी टोकरीमें खोल दी । कन्हैयाको यह तो पता ही न चला कि उसकी नन्ही-नन्ही अङ्गुलियोंके बीचसे धानके प्रायः सभी दाने मार्गमें ही गिर गये थे । वे तो मूल्य चुकानेपर प्रसन्न हो रहे थे । जैसे उन्होंने कोई बहुत महान् कार्य कर दिया हो । 'अरी ! अब तो फल दे दे ।' नन्दकुमारने इधर-उधर देखते हुए फलवालीसे पुनः याचना की ।

फलवाली विलक्षण आनन्दके वेगको रोक नहीं पा रही थी, वह गद्गद हो बोल उठी—'यशोदानन्दन ! क्या मेरे इतने फलोंका मूल्य केवल ये पाँच-सात दाने ही हैं ?' अब श्रीकृष्णचन्द्रकी समझमें आया कि मेरी अञ्जलिसे तो धानके प्रायः सभी दाने गिर गये थे । 'मैं तेरे फलोंका मूल्य फिर कभी चुका दूँगा । अब यदि मैं पुनः धान लेने जाऊँगा तो मुझे कोई देख लेगा और फिर लौटकर आने नहीं देगा । अतः तू शीघ्र मुझे फल दे दे ।' फलवाली कुछ कहना चाहती थी, परंतु संकोचवश उसके मुखसे कुछ भी निकल नहीं रहा था । अन्तमें साहस बटोरकर उसने अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे कह ही दिया—'दुलारे ! एक बार तू मुझे 'माँ' कह दे और मेरी गोदमें आ जा ।' कन्हैया समझ गये कि यह फलवाली गोदमें चढ़कर 'माँ' पुकारनेसे प्रसन्न हो जायगी । यशोदानन्दनने पुनः चारों ओर दृष्टि दौड़ायी कि कहीं कोई उन्हें देख तो नहीं रहा है और वे तुरंत उस फलवालीकी गोदमें चढ़ गये और बोले—'मैया ! मैया !! मुझे शीघ्र फल दे दो ना ।'

वेद जिन्हें 'नेति-नेति' कहकर पुकारते हैं, श्रुतियाँ जिनका अन्त नहीं पातीं, पुराण जिनका यशोगान नहीं कर सकते, मुनिजन घोर तपस्यासे जिनकी एक झलक भी नहीं पा सकते, वे ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म कृष्णरूपमें अवतरित हो 'माँ' कहकर एक दीन-हीन और अनाथ नारीसे फल माँगते हैं । कैसी अद्भुत कृपा है उनकी !

विश्वदुलारेको गोदमे पाकर फलवाली निहाल हो गयी । वह मानो अखण्ड परमानन्दमें डूब गयी । कन्हैया गोदसे उतरे और अञ्जलि फैलाकर उसके सामने खड़े हो गये । टोकरीके समस्त फल उनकी नन्ही-सी अञ्जलिमे समा गये । टोकरीमें गिरे हुए वे धान-कण अनमोल रत्नोंमें परिणत हो गये—उसकी टोकरी रत्नोंसे परिपूर्ण हो गयी—

फलविक्रयिणी तस्य च्युतधान्यं करद्वयम्।
फलैरपूरयद् रत्नैः फलभाण्डमपूरि च॥
(श्रीमद्भा० १०। ११। ११)

'उनकी अञ्जलिमेंसे अनाज तो मार्गमें ही बिखर गया, पर फल बेचनेवालीने उनके दोनों हाथ फलसे भर दिये। इधर भगवान्‌ने भी उसकी फलोंकी टोकरी रत्नोंसे भर दी।'

(४)

कालिय-मानमर्दन

ग्रीष्मका साम्राज्य था। श्रीश्यामसुन्दर अपने प्यारे सखागण—सुबल, श्रीदामा आदिके साथ गोचारण कर रहे थे। ग्रीष्म ऋतुमें भी वहाँ हरी घासका बाहुल्य था। सखागण कन्हैयाके साथ विभिन्न मनोहारिणी क्रीड़ाएँ कर रहे थे। उधर गौएँ सघन वनमें दूरतक चली गयीं। अचानक श्यामसुन्दरका ध्यान गायोंकी ओर गया। सखाओंको तो संकेत ही बहुत था, वे 'हैं-हैं' करते हुए दौड़े। उधर ग्रीष्म-तापसे व्यथित गौएँ श्रीयमुनाके कूलपर पहुँच चुकी थीं। वे यमुना-जलसे अपनी प्यास बुझाने लगीं। उनके पीछे-पीछे सखागण भी पहुँच गये। वे भी धूपसे व्यथित हो गये थे, अतः अञ्जलिमें यमुनाका शीतल जल भर-भरकर पीने लगे। वे भूल गये कि यह कालिय-दह है और यहीं कालियनाग निवास करता है। गौएँ एवं ग्वालबाल विषैला जल पीते-पीते ही चेतनाशून्य होकर गिर पड़े। श्रीकृष्ण चिन्तित-से हो उठे, उनके प्यारे सखागण एवं गौएँ अभीतक लौटे नहीं थे। वे उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कालिय-दहपर पहुँचे और उस करुण दृश्यको देखकर आर्त हो कह उठे—

या गावः खलु देवता व्रजसदामस्माकमुच्चैस्तरां
ये बालाश्च सदैव जीवतुलितास्तेऽमी विपन्नाः पुरः।
हा! हन्त! स्वयमस्मि तत्सहचरः किं भ्रातरं मातरं
तातं सर्वजनं च वच्मि मम धिक् चापल्यतः साहसम्॥
(श्रीगोपालचम्पू, पू० १३। १३)

'ओह! जो गौएँ हम व्रजवासियोंके लिये सर्वाधिक आदरणीय देवता हैं तथा जो ग्वालबाल नित्य हमारे प्राण-तुल्य हैं, वे सभी इस विपन्न दशामें मेरे सामने पड़े हैं और मैं स्वयं, हाय रे, इनका सहचर हूँ! अब मैं दाऊ भैया, मैया और बाबासे तथा समस्त पुरवासियोंसे क्या कहूँगा? धिक्कार है मेरे चपलताजन्य ऐसे साहसको!' कहते-कहते षडैश्वर्यसम्पन्न श्रीकृष्ण एक क्षणके लिये अपना समस्त ऐश्वर्य भूल-से गये। उनके नेत्रोंसे अविरल अश्रुपात हो रहा था।

भगवान् चाहे अपने ऐश्वर्यको भूल जायँ; परंतु उनकी कृपादृष्टि स्वयमेव ही परम सक्रिय शक्ति है—

वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत्॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ५०)

'उन्हें ऐसी अवस्थामें देखकर योगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अमृत बरसानेवाली दृष्टिसे उन्हें जीवित कर दिया।'

गौएँ तुरंत ही हुंकार करती हुई उठ खड़ी हुईं। उन्होंने प्यारे कन्हैयाको घेर लिया और सभी सखा अपने प्यारे कन्हैयाको गलबाँही देकर नाचने लगे।

सखागण तो अल्पकालमें ही कालिय-दहकी भयंकरताको भूलकर अपने प्यारेके साथ नया कौतुक करनेके विचारमें लग गये; परंतु श्रीकृष्ण अपने सखागण एवं प्यारी गौओंके इस शूल-को कैसे भूल सकते थे? भविष्यमें भी मेरे व्रजवासी न जाने कब, किस समय इस कालियदहके कारण इसी तरह पुनः विपत्तिमें पड़ जायँ? यह कल्पना कन्हैयाके हृदयको विदीर्ण कर रही थी।

एक क्षणमें ही लीलामय श्यामसुन्दरके मनमें सब योजना बन गयी, वे तत्काल पासके कदम्बपर जा चढ़े; क्या करेंगे, यह तो उन्होंने अपने प्यारे सखागणको नहीं बताया। केवल एक बार उन सबकी ओर देखा और कहा—'मेरे प्यारे सखाओ! घबराना मत, मैं शीघ्र ही लौट आऊँगा' और वे कूद पड़े कालिय-दहके विषैले अगाध जलमें।

कालिय-दहमें डुबकी लगाकर श्यामसुन्दर कालियकी शय्याके पास पहुँचे। कालिय उस समय निद्रामें मग्न था। सौन्दर्यनिकेतन नन्दनन्दनको देखकर नागपत्नियाँ विस्मित हो उठीं, ऐसे सौन्दर्यकी झलक तो उन्होंने कभी स्वप्नमें भी न देखी थी। उन सौन्दर्यनिधिको जलक्रीड़ामें तन्मय देखकर नागपत्नियोंके प्राण उद्विग्न हो उठे—'कहीं कालिय इनका कोई अनिष्ट न कर दे।' उन्होंने संकेतद्वारा नन्दनन्दनको रोका कि वे जलक्रीड़ा करके कालियको उद्विग्न न करें; परंतु उनकी सुने कौन? श्यामसुन्दर तो अपनी क्रीड़ामें मग्न थे। कन्हैया-की जलक्रीड़ाने दहमें तूफान-सा उपस्थित कर दिया। जलके

प्रचण्ड वेगने कालियको जगा दिया। वह जलीय झंझावातका कारण न समझ सका। जैसे ही उसकी दृष्टि सौन्दर्य-निकेतन श्रीकृष्णकी ओर गयी, वह विस्मित हो उठा। उसके नेत्र तृप्त ही नहीं हो रहे थे उन सौन्दर्यसिन्धुको देखकर। वह अपलक उस रूपसुधाको निरखता रहा। वे नीलसुन्दर पूरे ह्रदमें एक श्याम ज्योत्स्ना फैलाये हुए थे, पीताम्बरकी चमक विद्युत्-सी शोभित हो रही थी।

नीलसुन्दर निर्भय हो क्रीडामें तन्मय थे। उनके चेहरेपर भयकी एक रेखा भी न थी। उन्मत्त गजकी तरह वे जल उछाल रहे थे। कालिय नाग इसे सहन न कर सका। उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठी और उसके सभी फण ऊपर उठ गये। सौन्दर्य-निकेतन बार-बार जल उछालकर कालियको कुपित कर रहे थे। कालिय अपने फणोंसे श्यामसुन्दरके चरणसरोजोंपर प्रहार करनेको उद्यत था। अन्तमें करुणासिन्धुने कालियपर कृपा-दृष्टि की और उसे अपने चरण-स्पर्शका सौभाग्य प्रदान किया। कालियने अपने समस्त फणोंसे एक साथ प्रभुके चरणोंपर प्रहार किया; परंतु नीलसुन्दरपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कृपा-निकेतन तो उसे बारंबार अपने चरणस्पर्शका सौभाग्य प्रदान कर उसकी अहंकाररूपा मलिनताको खींच रहे थे; परंतु श्यामसुन्दरको अभी और भी क्रीडा करनी थी। अन्ततः कालियने कन्हैयाको अपने पाशमें कस लिया। श्यामसुन्दर निश्चेष्ट-से हो गये।

लीलाविहारी श्यामसुन्दरका नागपाशमें बँधना एक साधारण-सी लीला थी, परंतु ह्रदके तटपर खड़े सखागण इसको कैसे सहन कर सकते थे! उनके प्राणोंके आधार तो एकमात्र कन्हैया ही थे। जैसे ही कन्हैया निश्चेष्ट हुए, वैसे ही सखागण शोकाकुल हो पछाड़ खाकर मूर्च्छित हो गये। गौएँ भी अपने प्यारे गोपालके वियोगमें विकल हो हुंकार भरने लगीं।

उधर कन्हैयाने अपने शरीरको फुलाना आरम्भ किया। देखते-देखते ही कालिय-नागका शरीर टूटने लगा और उसे अपना बन्धन खोलना पड़ा। वह क्रुद्ध हो अपने नथुनोंसे विषकी ज्वाला उगलने लगा। अपने फणोंसे श्यामसुन्दरपर आघात करने लगा। प्रभु नये-नये पैंतरे बदलकर उसे खेल खिलाने लगे। अन्तमें भगवान् उछलकर उसके फणोंपर चढ़ गये और नृत्य करने लगे। नृत्यने ताण्डवका रूप ले लिया। देवता, किंनर और चारण आदि यह अवसर चूकनेवाले न थे, उन्होंने देखा भगवान् तो बिना तालके ही नृत्य कर रहे हैं तो वे लोग लगे मृदंग, ढोल और नगारे बजाने। एक समा बँध गया संगीत और नृत्यका। प्यारे श्यामसुन्दर-का बड़ा मनोहर और आकर्षक रूप था। नागराजके फणोंसे निकलता हुआ खून कन्हैयाके तलुओंकी लालिमा बढ़ा रहा था। कालिय कितनी देरतक यह सहन करता, उसकी शक्ति नष्ट होने लगी, वह प्राण-शून्य-सा होने लगा। बेचारी नागपत्नियाँ बिलख उठीं। वे अपने पतिकी प्राण-रक्षाके लिये प्रभुके चरणोंमें जा गिरीं। विभिन्न प्रकारसे विलाप करती हुई वे प्यारे श्यामसुन्दरसे कृपा-याचना करने लगीं—

अनुग्रहोऽयं भवतः कृतो हि नो
दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः।
यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः
क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः॥

अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१६।३४,५२)

'आपने हमलोगोंपर यह बड़ा ही अनुग्रह किया। यह तो आपका कृपा-प्रसाद ही है; क्योंकि आप जो दुष्टोंको दण्ड देते हैं, उससे उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इस सर्पके अपराधी होनेमें तो कोई संदेह ही नहीं है। यदि यह अपराधी न होता तो इसे सर्पकी योनि ही क्यों मिलती? इसलिये हम सच्चे हृदयसे आपके इस क्रोधको भी आपका अनुग्रह ही समझती हैं। भगवन्! कृपा कीजिये, अब यह सर्प मरनेवाला ही है। साधु पुरुष सदासे ही हम अबलाओंपर दया करते आये हैं। अतः आप हमें हमारे प्राणस्वरूप पतिदेवको दे दीजिये।'

दयामय प्रभुने नागपत्नियोंकी प्रार्थना सुनकर नृत्य बंद कर दिया। धीरे-धीरे कालियनागकी इन्द्रियों और प्राणोंमें पुनः चेतना और बोलनेकी शक्ति आयी। वह भी प्रभुसे कृपा-की भीख माँगने लगा। नागराज एवं उसकी पत्नियोंने विविध प्रकारसे भगवान्‌की पूजा की। तदनन्तर वह अपने परिवारसहित रमणकद्वीप चला गया और श्यामसुन्दरकी प्यारी यमुनाका वह क्षेत्र विषसे मुक्त हो गया।

(५)

महाराज मुचुकुन्दपर विलक्षण कृपा

महाराज मुचुकुन्द गाढ निद्रामे सोये हुए थे। मास एवं वर्ष ही नहीं, युग-पर-युग बीतते गये, पर वे सोये ही रहे। उन्हे निद्रासे उठाये कौन ? जो उन्हे निद्रासे उठाता, वही भस्म हो जाता, देवताओंसे उन्हें इस प्रकारका वरदान जो मिला था।

मुचुकुन्द इक्ष्वाकुवंशी महाराज मांधाताके पुत्र थे। वे भगवान्के भक्त, शूरवीर एवं सत्यप्रतिज्ञ थे। एक बार देवराज इन्द्र और असुरोंमे युद्ध छिड़ गया, इन्द्र परास्त होनेकी दशामें थे, उनके पास कोई योग्य सेनापति न था। अन्तमे वे महाराज मुचुकुन्दकी शरणमें गये और उनसे देवताओंकी रक्षाकी याचना की। दयालु महाराज मुचुकुन्दने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके बहुत दिनोंतक देवताओंकी ओरसे घमासान युद्ध किया और असुरोंसे उनकी रक्षा की। भगवान् शंकरके ज्येष्ठ पुत्र स्वामि-कार्तिकेयद्वारा सेनापति-पद स्वीकार किये जानेपर राजा मुचुकुन्दको अवकाश मिला। देवराज इन्द्र मुचुकुन्दके संरक्षणसे बड़े प्रसन्न हुए।

'राजन्! कोई वर प्राप्त कर हमे अनुगृहीत करें। कैवल्य-मोक्षके अतिरिक्त हमारे पास सब कुछ सुलभ है। मोक्ष प्रदान करनेका अधिकार तो एकमात्र कृपासिन्धु भगवान्-का ही है।' देवराजने बड़ी विनम्रतासे राजा मुचुकुन्दसे कहा।

राजा मुचुकुन्द अपरिमित श्रान्त और क्लान्त हो रहे थे। युद्धकालमे वे लगातार कई दिनोंतक बिल्कुल न सो पाये थे। 'देवराज! मैं निद्रा चाहता हूँ, मेरी निद्रामें बाधा देनेवाला तत्काल भस्म हो जाय, यही वर मुझे प्रदान करें।' राजा मुचुकुन्दने देवराजसे कहा और उन्हे यही वर मिल गया।

× × ×

राजा मुचुकुन्द युगोंसे गहरी निद्रामे निमग्न उस गुफामे सोये हुए थे। कृपासिन्धु भगवान् अपने जनको कैसे भूल सकते हैं! वे लीलाविहारी सभी प्रकारकी लीला जानते हैं। उनके लिये क्या असम्भव है!

कालयवन भगवान् श्रीकृष्णका विरोधी और जरासंधका मित्र था। वह अत्यन्त पराक्रमी था। उसने अपनी सेनासे मथुराको घेर लिया। कृपासिन्धु भगवान् श्रीकृष्णकी लीला कौन समझ सकता है! वे अपनी सौन्दर्य-छटा बिखरते हुए बिना कोई शस्त्र लिये मथुराके मुख्य द्वारसे निकले। कालयवनने उन्हें तुरंत पहचान लिया और वह झपटा उन पीताम्बरधारी लीलाविहारीपर। भगवान् तेजीसे भागे, मानो अत्यन्त भयभीत होकर भाग रहे हों। आगे-आगे भगवान् रणछोड़ और पीछे-पीछे कालयवन था। दौड़ते-दौड़ते भगवान् उस गुफामे घुस गये, जिसमें राजा मुचुकुन्द सोये थे। भगवान्ने गुफामें घुसकर शीघ्र ही अपना पीताम्बर राजा मुचुकुन्दपर डाल दिया और स्वय एक शिलाकी आड़मे छिपकर खड़े हो गये। कालयवन भी पीछे-पीछे गुफामें घुसा, उसने देखा कोई पीताम्बरधारी सो रहा है; सोचा, छलिया श्रीकृष्ण ही मुझे छलनेके अभिप्रायसे मुख ढककर सोया है और उनपर लातसे प्रहार किया। लात लगते ही राजा मुचुकुन्दकी ऑखें खुलीं और उनकी दृष्टि सीधी कालयवनपर पड़ी, वह तत्काल वहीं भस्म हो गया।

कालयवनके भस्म होते ही कृपालु भगवान् श्रीकृष्ण अपनी दिव्य ज्योति फैलाते हुए राजा मुचुकुन्दके समक्ष प्रकट हुए। उनके चौड़े वक्षःस्थलपर श्रीवत्स एवं गलेमें कौस्तुभमणि सुशोभित थी। उनकी प्रेमभरी चितवन और मनोहारी मुस्कानने राजा मुचुकुन्दको स्तम्भित कर दिया। उन्हें गर्गाचार्यजीकी बात स्मरण हो आयी और पहचानते देर न लगी कि ये अखिल सौन्दर्य-निकेतन परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। राजा मुचुकुन्दके मनमे भगवान्-के इस समय अचानक पधारनेका कौतूहल होना स्वाभाविक था। समाधानार्थ कृपा-निकेतनने कहा—

सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः।
प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः॥

(श्रीमद्भा० १०।५१।४३)

'मैं तुमपर कृपा करनेके लिये ही इस गुफामें आया हूँ। तुमने पहले मेरी बहुत आराधना की है। मैं भक्तवत्सल (जो) हूँ।'

राजा मुचुकुन्द भगवान्की अद्भुत कृपा प्राप्त कर गद्गद हो गये। भगवान्ने मुचुकुन्दसे वर माँगनेके लिये बहुत आग्रह किया, परंतु वे प्रार्थना करने लगे—'प्रभो!

इस अत्यन्त पवित्र कर्मभूमिमे मनुष्यका जन्म होना परम दुर्लभ है । मनुष्य-जीवन इतना पूर्ण है कि उसमें भजनके लिये कोई भी असुविधा नहीं है । अपने परम सौभाग्य और आपकी अहैतुकी कृपासे उस (शरीर)को अनायास ही प्राप्त करके भी जो अपनी मति, गति असत् संसारमें लगा देते हैं और तुच्छ विषयसुखके लिये ही सारा प्रयत्न करते हुए घर-गृहस्थीके अँधेरे कुएँमे पड़े रहते हैं—आपके चरणकमलोंकी उपासना नहीं करते, भजन नहीं करते, वे तो ठीक उस पशुके समान हैं, जो तुच्छ तृणके लोभसे अँधेरे कुएँमे गिर जाता है । भगवन् ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आपने मेरे ऊपर परम अनुग्रहकी वर्षा की है । मैं आपके चरणकमलोंकी शरण लेता हूँ । सारे जगत्के एकमात्र स्वामी कृपासिन्धो ! आप मेरी रक्षा कीजिये ।'

भगवान्के वार-बार आग्रह करनेपर भी जब राजा मुचुकुन्दने कुछ नहीं माँगा, तब करुणासिन्धु प्रभुने उन्हें अपनेमें नित्य-निरन्तर रहनेवाली अनपायिनी भक्तिका वरदान देकर कहा कि तुम मुझमें मनको लगाकर पृथ्वीपर स्वच्छन्द विचरण करो—

विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः ।
अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भक्तिर्मय्यनपायिनी ॥
(श्रीमद्भा० १० । ५१ । ६२)

(६)

भक्त सुदामापर कृपा

सुदामा एक सर्वथा अकिंचन ब्राह्मण थे । वे अत्यन्त अभावग्रस्त होकर भी प्रसन्नतापूर्वक गृहस्थ-धर्मका पालन करते थे । सुदामा स्वयं तो फटे-पुराने चिथड़ोंमें रहते ही थे, उनकी धर्मपत्नीके पास भी तन ढकनेको पूरे वस्त्र नहीं थे । रहनेके लिये घास-फूसकी एक जीर्ण झोंपड़ी थी और सम्पत्तिके नामपर थे दो-चार मिट्टीके पात्र । यदि भिक्षामें कुछ न मिलता तो वे जल पीकर ही संतोष कर लेते । उनके मनमे तनिक भी क्षोभ नहीं होता था । पतिके सुखमें ही सुखी रहनेवाली ब्राह्मणी भी सब अवस्थाओंमें संतुष्ट रहती थी। दरिद्रताका पूरा परिकर उनके यहाँ निवास करता था ।

सुदामाको श्रीकृष्ण-सखा होनेका सौभाग्य प्राप्त था । दरिद्रता उस सौभाग्यको छीन न सकी थी। गुरुदेव महर्षि सांदीपनिके गुरुकुलमे सुदामा और श्रीकृष्ण साथ-साथ पढ़ते थे। दोनोंमे प्रगाढ़ मित्रता थी। एक बार गुरुपत्नीने सुदामाको सूखा ईंधन लानेके लिये आज्ञा दी । सुदामाके साथ मित्र श्रीकृष्ण भी हो गये और दोनों ईंधन लेने निकल पड़े । कुछ देर बाद रात्रि होनेसे अन्धकार छा गया, घनघोर वर्षा आरम्भ हो गयी, जिससे दोनों मित्र मार्ग भूल गये। रात्रिभर दोनों एक वृक्षके नीचे पड़े रहे । प्रातः गुरुजी दोनोंको खोजते हुए आये । गुरुजीका हृदय द्रवित हो उठा। उनकी कृपा हुई, अमोघ आशीर्वाद मिला और गुरु-कृपासे सुदामाको सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान एवं मन्त्र तत्काल उपलब्ध हो गये । अध्ययन समाप्त हो गया । सुदामा अपने प्यारे सखा श्रीकृष्णकी मधुर स्मृति लेकर अपने घर लौटे ।

विप्र-पत्नी बड़ी साध्वी थी । पातिव्रत्य-धर्मका पालन करते हुए वह सदैव पतिकी सेवामें तत्पर रहती थी । उसका प्राणाधार था पति-सेवा और सुदामाके जीवनका आधार था अपने सखा श्रीकृष्णकी मधुर स्मृति । वेद-पाठ, हवनादि नित्य कर्म पूरा होनेके बाद वे अपने प्यारे सखाके गुण-चिन्तन, मननमें लग जाते थे। अपनी पत्नीके साथ भी उनकी चर्चाका विषय श्रीकृष्ण-गुण-गान ही था । गुरुकुलके उन दिनोंको सुदामा भूले नहीं थे । उन सर्वलोकमहेश्वरके साथ उठना, बैठना, खाना, सोना—सभी उनको विलक्षण लगा था । ब्राह्मण-पत्नी घास-फूसके बिस्तरपर आरामसे सोती थी । उसने कभी सुन्दर वस्त्राभूषण, धातुके बर्तन, स्वादिष्ट भोजन आदि देखे ही न थे। उसने कभी पतिसे इन वस्तुओंकी चाह भी नहीं की थी। अपने आहारकी भी ब्राह्मण-पत्नीने कभी चिन्ता न की । जिस दिन भिक्षामे कुछ नहीं मिलता, सुदामा तो व्रत करके संतोष कर लेते थे और इसीमे अपना अहोभाग्य समझते थे; परंतु बेचारी ब्राह्मणी पतिको निराहार देखकर उद्विग्न हो उठती थी । वह अपने पतिको भूखा देख सकनेमे असमर्थ थी । पतिका जर्जर तन, जिसमें शरीरकी एक-एक नस गिनी जा सकती थी, देख-देखकर उसका हृदय दहल उठता था ।

'करुणानिधि श्रीद्वारकाधीश आपके मित्र हैं, आप एक बार द्वारका जाकर उनसे मिल तो आइये ।' ब्राह्मणी बार-बार सुदामासे यह निवेदन करती रहती । दरिद्रता असह्य हो जानेपर एक दिन उसने डरते-डरते अपने पतिसे यह प्रार्थना की—

भगवान् श्रीकृष्णका कृपाविलास

पूतनापर कृपा

कालियनागपर कृपा

द्रौपदीपर कृपा

सुदामापर कृपा

पूरन पैज करी प्रहलाद की, खंभ सों बॉंध्यो पिता जिहि बेरे।
द्रौपदी ध्यान धर्‌यौ जबहीं, तबही पट-कोट लगे चहुँ फेरे ॥
ग्राह तें छूटि गयंद गयो पिय, है हरि को निहचै जिय मेरे।
ऐसे दरिद्र हजार हरैं वे, कृपानिधि लोचन-कोर के हेरे ॥

सुदामा इस प्रकारकी बातें प्रायः बार-बार ही सुनते थे, परंतु संतोष ही उनकी परम निधि थी, वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। उनका तो एक ही कहना था, 'औरन को धन चाहिये बावरि, बॉंभनको धन केवल भिच्छा।' वे पूर्णरूपसे निःस्पृह थे।

ब्राह्मणीको द्वारकाधीशकी करुणापर पूर्ण विश्वास था। वह गजेन्द्र, प्रह्लाद, द्रौपदी आदिपर करुणानिधानकी करुणाके विषयमे जानती तो थी, परतु सम्भवतः वह उनकी सर्वव्यापकताकी बात भूली हुई थी।

आस्तेऽधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः। (श्रीमद्भा० १०। ८०। ११) 'आजकल वे भोज, वृष्णि और अन्धकवंशी यादवोंके स्वामीके रूपमे द्वारकामे ही निवास कर रहे हैं।' यह बात ब्राह्मणीके हृदयमे जँची हुई थी, इसीलिये वह सुदामाको बार-बार द्वारका जानेकी ही प्रेरणा करती। 'धनकी याचना लेकर अपने प्यारे सखाके पास जायँ'—यह बात सुदामाको अच्छी न लग रही थी। ब्राह्मण-पत्नीका आग्रह था—'आप धनकी याचना न करें, परंतु अपने सखाका दर्शन तो कर आइये।' सौन्दर्यनिधिके रूप-सौन्दर्यके दर्शनकी इच्छा तो उनकी भी थी ही, अतः इस लालसाको ठुकराना सुदामाके लिये इतना सहज नहीं था।

अन्तमे एक दिन सुदामाने अपनी साध्वी पत्नीसे कहा—'बिना किसी उपहारके खाली हाथ मित्रके पास कैसे जाऊँ?' इन शब्दोंने विप्र-पत्नीको उल्लसित कर दिया। उसने दो-चार घरोंसे भिक्षा मॉंगकर चार मुट्ठी चिउड़ेकी कनी इकट्ठी की; परंतु उन्हे कैसे ले जाया जाय—यह एक समस्या थी सुदामाके लिये। घरमे किसी पात्रकी बात तो अलग रही, स्वच्छ कपडा भी न था। अन्तमे विप्र-पत्नीको एक फटा-पुराना चिथड़ा मिल गया। उसमे किसी तरह चिउड़ेके दानोंकी छोटी पोटली बॉंधकर सुदामाने बगलमे दबा ली और वे द्वारकाकी ओर चल पडे।

सुदामा-जैसे दुर्बलके लिये मार्ग तय करना सरल काम न था, परंतु त्रिभुवनसुन्दर प्यारे सखाके दर्शनकी लालसा मार्गकी बीहड़ताको भुलाये हुए थी।

अपने प्यारे सखाकी मधुर स्मृतिमे मग्न सुदामा चलते-चलते मार्गमे एक घने वृक्षकी छायामें बैठ गये और प्यारे श्यामसुन्दरके साथ गुरुकुल-निवासकी मधुर स्मृतिमे खो गये। वे कितने समयतक अपने प्यारे सखाकी स्मृतिमे लीन रहे, पता नहीं; परंतु जब ऑंखें खुलीं और बाह्य ज्ञान हुआ तो उन्होंने अपने-आपको एक मनोहर उद्यानमे मौलश्रीके वृक्षके नीचे पाया। वे आश्चर्यमें डूब गये—'मैं कहॉं हूँ ? मार्ग तो नही है, यह तो एक सुन्दर उद्यान है।' इधर-उधर सुन्दर वेश-भूषामें संतरी-माली घूम रहे थे। उन्होंने एकसे पूछा—'भैया! यह कौन जगह है ? कौन-सा नगर है ? मैं कहॉं हूँ ?'

मालीने चरणोंमे सिर रखकर विनम्रतापूर्वक कहा—'महाराज! यह द्वारका नगरी है। जिस मनोरम बगीचेमें आप बैठे हैं, यह सर्वलोकेश्वर श्रीद्वारकाधीशका उद्यान है।'

'द्वारकापुरी! क्या सचमुच यह द्वारका ही है। भैया! मुझे अपने प्यारे सखा श्रीकृष्णसे मिलना है। वे कहॉं मिलेंगे ?' सुदामाने बडे कौतूहलसे याचना की।

'श्रीमन्! आपको खोजना नहीं होगा। देखें, वह सामने महाराज द्वारकाधीशका ही महल है।'

द्वारकाके वैभवने सुदामाको विस्मित कर दिया। ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ देखकर सुदामा आश्चर्यमें डूब गये। सखाके महलपर पहुँचते सुदामाको देर न लगी। अतिथिका आदर श्रीकृष्ण-महलके द्वारपालोंका परम लक्ष्य था। एक द्वारपाल दौड़ा और द्वारकाधीशको सूचना दी—

सीस पगा न झगा तनपै प्रभु!
जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी दुपटी,
अरु पायँ उपानह की नहिं सामा ॥
द्वार खडो द्विज दुर्बल देखि,
रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयालको धाम,
बतावत आपनो नाम सुदामा ॥

श्रीकृष्ण रुक्मिणीजीके महलमे भोजन करके आचमन कर रहे थे। जैसे ही उन्होंने 'सुदामा' नाम सुना, वे द्वारकी

ओर दौड़ पड़े। मुकुट वहीं रह गया, पादुका भी कौन पहने ? पीताम्बर मार्गमें गिर गया और वे लिपट गये अपने प्रिय सखा सुदामासे। कैसा अनोखा मिलन था प्रभुका अपने मित्रके साथ ! दोनोंके नेत्र झर रहे थे। प्रभु अपने प्रिय सखाको अपने मुख्य महलमें लाये और सिंहासनपर बैठाया। प्रभुने पखारनेके लिये मित्रके चरण अपने हाथमें लिये, परंतु धोये कौन, वे तो मित्रके चरणोंकी ओर देखकर परम व्याकुल हो गये थे—

ऐसे बिहाल बिवाइनसों, पग कंटकजाल गड़े पुनि जोए।
हाय ! महादुख पाये सखा, तुम आये इतै न किते दिन खोए॥
देखि सुदामाकी दीन दसा, करुना करके करुनानिधि रोए।
पानी परातको हाथ छुयौ नहिं, नैननके जलसों पग धोए॥

श्रीरुक्मिणीजी स्वर्णनिर्मित सुगन्धित शीतल जलमय झारी लिये स्वामीके सखाके पैर पखारनेके लिये खड़ी ही रह गयीं। प्रभुने तो नेत्रोंके जलसे ही अपने प्रिय सखाके पाँव पखार दिये। बड़ा हृदयस्पर्शी दृश्य था। उद्धव एवं अक्रूरादि सभी इकट्ठे हो गये प्रभुके इस दीन सखाका स्वागत करनेके लिये। अन्ततः रुक्मिणीजीने स्वर्णमय झारीके जलसे सुदामाके पैर पखार कर चरणोदक लिया। महलोंको पवित्र करनेके लिये चरणोदक छिड़का गया। प्रभुने विधिवत् चन्दन, धूप, दीप आदिसे प्रिय सखा (ब्राह्मणदेवता)की पूजा की। श्रीकृष्ण उन्हें अन्तःपुरमें पलंगपर ले आये। स्वयं भगवती रुक्मिणीजी पंखा लिये सुदामाको हवा करने लगीं। अन्तःपुरकी सभी रानियाँ लक्ष्मीनाथकी इस ब्राह्मण-सेवाको देख विस्मित हो रही थीं—'न जानें इस दीन दरिद्रने कौन-सा पुण्य किया था, जो स्वयं लक्ष्मीपति इसकी सेवामें संलग्न हैं।' स्वर्णपात्रोंमें सुदामाको भोजन कराया गया और फिर वे विश्राम करने लगे।

'भैया ! तुमने इतने दिन मेरी कुछ खबर ही नहीं ली।' सुदामाके पैर दबाते हुए रमानाथ कह रहे थे। 'गुरुकुलके उन मधुर दिनोंकी स्मृति मुझे आज भी प्रफुल्लित कर रही है। गुरुजी हमें कितना प्यार करते थे !'

सुदामा तो मानो सुध-बुध ही भूल गये थे। श्रीकृष्णका अलौकिक स्नेह-सौहार्द उनके हृदयको विह्वल किये हुए था। सुदामा चित्रलिखित-से बैठे थे, उनके नेत्रोंसे अविरल अश्रु-धारा प्रवाहित हो रही थी। मुखसे वाणी नहीं निकल पा रही थी।

'प्रिय सखे ! गुरुकुलमें तुम्हारा वैराग्य अनुपम था। गुरुकुलसे लौटनेके बाद तुम्हें मनोऽनुकूल ही पत्नी प्राप्त हुई होगी ? तुम्हारा गृहस्थ-धर्म सुखपूर्वक निभ रहा होगा ?' रमापतिने विनम्रतासे पूछा। सुदामाके मौनसे वे समझ गये कि वे गृहस्थ हो गये हैं।

'भाभीने मेरे लिये अवश्य कुछ उपहार भेजा होगा ?' श्रीकृष्णने अपने प्रिय सखाका हाथ दबाते हुए, उनसे पूछा। सुदामाकी विचित्र स्थिति थी। वहाँका ऐश्वर्य देखकर वे जमीनमें गड़े-से जा रहे थे। वे सकोचवश बगल दबा रहे थे, कहीं छोटी-सी पोटली दीख न जाय।

'सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णसे क्या कुछ छिपा रह सकता है ?' यह बात सुदामा भूल गये। लीलाविहारीकी लीला चल रही थी और वे सर्वथा ही अनभिज्ञ-से बने हुए थे, परंतु सुदामाकी भावभङ्गिमा बता रही थी कि उनकी बगलमें कुछ दबा है।

'मुझसे भी छिपा रहे हो।' करुणानिधानने अपने प्यारे मित्रका हाथ खींच लिया। चिथड़ोंमें लिपटी पोटली फर्शपर गिर पड़ी और चिउड़ोंके दाने बिखर गये। रमानाथ दोनों हाथोंसे बटोरकर उन चिउड़ोंको बड़े प्रेमसे पाने लगे। ऐसा लगता था मानो वे कई दिनोंसे भूखे हों। 'सखे ! भाभीद्वारा मेरे लिये प्रेमसे भेजे गये इतने स्वादिष्ट चिउड़े इतनी देर तुमने मुझसे क्यों छिपाये ?' चिउड़ोंका भोग लगाते समय लक्ष्मीपति बीच-बीचमें तिरछी दृष्टिसे अपने सखाको निहारते जाते थे।

वे बार-बार चिउड़ोंके स्वादका बखान कर रहे थे। सुदामाने रात्रिभर वहीं विश्राम किया। प्रातः उठकर उन्होंने सखा श्रीकृष्णसे जानेकी आज्ञा माँगी। श्रीकृष्णने अपने मित्रको रोकनेका बहुत आग्रह किया। सभी महारानियोंने भी सुदामासे आतिथ्यका सुअवसर देनेकी प्रार्थना की, परंतु सुदामाको बड़ा संकोच हो रहा था। उन्होंने प्यारे श्रीकृष्णसे पुनः आज्ञा माँगी और अपने घरको चल दिये। द्वारकाधीश अपने मित्रको पहुँचाने बहुत दूर-तक पैदल साथ आये। सुदामा जैसे आये थे, वैसे ही, उन्हीं फटे वस्त्रोंमें जा रहे थे। श्रीकृष्णने उन्हें कुछ भी न दिया। एक मुट्ठी अन्न या एक वस्त्रतक सुदामाको नहीं मिला।

श्रीकृष्ण-स्मृतिमें लीन सुदामा आगे बढ़ रहे थे। उनके पाँव जमीनपर पड़ रहे थे, परंतु मन प्यारे सखाकी

मधुर स्मृतिमें रम रहा था—'वे दीनानाथ कितने दयालु हैं! मुझ नगण्यको भुजाओंमें बाँध लिया। प्यारे प्रभुने वे न खानेयोग्य चिउड़े कितने प्यारसे खाये !! सुदामा प्रभुकी कृपावत्सलतापर विमुग्ध थे, वे मानो अपने आपसे ही कह रहे थे—

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात्॥
(श्रीमद्भा० १०। ८१। २०)

'परम कृपालु श्रीकृष्णने मुझे थोड़ा-सा भी धन नहीं दिया, उन्होंने सोचा कहीं यह दरिद्र ब्राह्मण धन पाकर मतवाला न हो जाय, मुझे भूल न बैठे। उनकी कितनी कृपा है, कैसा संरक्षण है!' सुदामा गद्गद हुए जा रहे थे।

प्रभुकी मधुर स्मृतिमें डूबे सुदामा न जाने कब अपने गाँव पहुँच चुके थे। एकाएक वे चौंक पड़े—'अरे! मैं कहीं वापस द्वारका तो नहीं पहुँच गया हूँ?' सामने ही उनके घरकी जगह एक विशाल महल खड़ा था। आस-पास मनोहर उद्यान-उपवन लगे थे। पास ही सरोवरमें कमलके पुष्प विकसित हो रहे थे। रंग-विरंगे पक्षिगण कलरव कर रहे थे। सुदामाने आस-पासके मकानोंको बहुत ध्यानसे देखा। वे सोचने लगे कि यह द्वारका तो नहीं है, परंतु अपनी झोपड़ी न देखकर वे विस्मित थे। उन्होंने देखा कि उनकी अगवानीके लिये हाथमें आरतीकी थाल लिये एक लक्ष्मी-जैसी सुन्दरी आ रही है। किसी पर-स्त्रीकी ओर न देखनेवाले सुदामाने मुख मोड़ लिया। तभी मधुर स्वर सुनायी दिया—'देव! इस दासीको कृतार्थ करें।' सुनकर सुदामा चौंक पड़े। यह वाणी तो उनकी साध्वी पत्नीकी ही थी। वे कुछ भी समझ न सके। 'कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ।' सुदामा अपनी आँखें मलने लगे।

'स्वामिन्! यह आपके चरणोंकी दासी है।' ब्राह्मण-पत्नीने सुदामाके चरण पकड़ लिये। वह नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत थी। उसके साथकी दासियाँ भी नूतन वस्त्राभूषण पहने हुए थीं। वे महलमें गये। महलके अंदरकी शोभा तो और भी निराली थी। स्वर्णकी चौकियाँ, रत्नमय पलंग और मखमली गद्दोंसे सुशोभित कक्ष। बहुत-से दास और दासियाँ जगह-जगह अपने कामपर नियुक्त थे।

अब सुदामाको अपने प्यारे सखा श्रीकृष्णका कृपा-विलास समझमें आया। वे मन-ही-मन कहने लगे—'मैं जन्मसे ही भाग्यहीन और दरिद्र हूँ। मेरी इस सम्पत्ति-समृद्धिका कारण क्या है? अवश्य ही परमैश्वर्यशाली यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके कृपाकटाक्षके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं हो सकता।'

नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य
शश्वद्दरिद्रस्य समृद्धिहेतुः।
महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो
नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य॥
(श्रीमद्भा० १०। ८१। ३३)

(६)

द्रौपदीपर कृपा

कौरवोंकी राजसभा लगी थी। पितामह भीष्म, गुरु द्रोण, महाराज धृतराष्ट्र आदि वयोवृद्धजन उपस्थित थे। शकुनिकी द्यूतक्रीडामें उसकी, दुर्योधन और कर्णकी सभी छलपूर्ण चालें सफल हुईं। युधिष्ठिर अपना सर्वस्व हार चुके थे। अपना सम्पूर्ण धन-वैभव, राज्य, चारों भाई, तदनन्तर स्वयं अपनेको, एक-एक करके वे सभी कुछ जुएमें हार गये थे। अन्तमें शकुनिके उकसानेपर द्रौपदी भी दाँवपर रखी गयी और युधिष्ठिर उसे भी अन्य वस्तुओं-की तरह ही हार गये।

'प्रातिकामी! पाण्डव-कुलवधूको इसी समय सभामें ले आओ। तुम्हें अब पाण्डवोंसे कोई डर नहीं है।' दुर्योधन-ने अपने सारथिको आदेश दिया। वचनबद्ध पाण्डव चुप-चाप सुन रहे थे।

'द्रुपदकुमारी! आपको दासीके रूपमें कौरव-सभामें उपस्थित होना है। दुर्योधनने द्यूतमें धर्मराज युधिष्ठिरका सर्वस्व जीत लिया है। दुर्योधनके आदेशसे आपको उनके महलमें दासीका कार्य करना होगा।' पाञ्चालकुमारीको प्रातिकामीने यह आदेश सुनाया। वह सुनकर विस्मित हो उठी। उसने प्रातिकामीसे द्यूतक्रीडाका पूरा विवरण सुना और बोली—'प्रातिकामी! तुम जाकर सभासदोंसे पूछो कि क्या इस तरह मेरा सभामें उपस्थित होना न्याययुक्त है? क्या धर्मराज स्वयं अपनेको हारकर मुझे भी दाँवपर रख सकते हैं?'

प्रातिकामीको अकेला आते देखकर दुर्योधन क्रुद्ध हो उठा—'दुःशासन! यह प्रातिकामी बड़ा मूर्ख है, तुम तुरत जाओ और द्रौपदीको पकड़कर सभामें ले आओ।' अपने छोटे भाईको उसने आदेश दिया। इस बीभत्स आदेशको सुनकर भी सभासद् पूर्ववत् मौन थे।

'पाञ्चाली! आजसे तुम हमारी दासी हो। अब तुम्हें दुर्योधनकी सेवा करनी है। शीघ्र सभामें चलो।' क्रुद्ध हुए दुःशासनने द्रौपदीके महलमें पहुँचकर उसको आदेश दिया।

दुःखिता द्रौपदी शीघ्रतासे धृतराष्ट्रके रनिवासकी ओर बढ़ी, सम्भव है, मैया गान्धारी कुछ सहायता करें। 'ठहरो!' क्रोधित दुःशासनने दौड़कर द्रौपदीके खुले केशोंको पकड़ लिया।

'दुःशासन! मैं रजस्वला हूँ। एकवस्त्रा हूँ। गुरुजन, वृद्धजन एवं आदरणीय सभासदोंके सम्मुख मुझे इस अवस्थामें मत ले जाओ।' द्रौपदीने अत्यन्त दीनतासे गिड़गिड़ाते हुए कहा।

'दुर्योधनका आदेश है। मैं कुछ नहीं जानता, अब तुम हमारी दासी हो। तुमको चलना ही होगा।' ऐसा कहकर दुःशासन बाल पकड़कर द्रौपदीको घसीटने लगा। पाण्डव-कुलवधू लज्जासे मानो गड़ी जा रही थी। स्वयंवरके बाद जिसको वायुने भी स्वच्छन्दतासे नहीं देखा था, वही नारी-भूषण द्रुपदसुता आज दुष्ट दुःशासनके द्वारा बलपूर्वक सभा-प्राङ्गणमें घसीटकर लायी गयी। सभासदोंका मस्तक इस भीषण अन्यायके सामने उठ नहीं पा रहा था।

'आज महापुरुषोंका सदाचार लुप्त हो गया है, आज नरेशोंका क्षत्रिय-धर्म नष्ट हो गया। आज पितामह, आचार्य, महाराज धृतराष्ट्र, महात्मा विदुर आदिकी धर्मपरायणता समाप्त हो गयी। अहो! इस पापाचारकी ओर दृष्टिपात करनेवाला कोई नहीं है।' द्रौपदी इस प्रकार करुण-विलाप कर रही थी। दुर्योधन, कर्ण, शकुनि आदि प्रसन्न हो रहे थे। दुःशासनकी प्रशंसा की जा रही थी। पाण्डवोंकी दृष्टि जमीन-पर लगी थी और चेहरे व्यथापूर्ण थे। द्रौपदी सभासदोंसे कृपा-याचना करती हुई बोली—'सभासदो! धर्म एवं नीतिके मर्मज्ञो! क्या स्वयको हारे हुए धर्मराजका पुनः मुझको दाँव-पर लगाना न्याययुक्त था? अरे! कुलवधूके सम्मानकी रक्षा करो।' परंतु सभी मौन थे। निर्लज्ज कर्णने दुःशासनको पाण्डवों एवं पाञ्चालीके वस्त्र उतारनेके लिये प्रेरित किया। पाण्डवोंने तत्काल उत्तरीय वस्त्रोंका त्याग कर दिया। अब दुःशासन द्रौपदीकी साड़ीका छोर हाथमें लिये था। द्रौपदी बड़ी करुण-दृष्टिसे सभासदोंकी ओर बारबार देख रही थी। उसकी दृष्टि कभी पितामह, कभी द्रोण और कभी धृतराष्ट्रके चेहरेपर टिक जाती थी। उसने एक निरीह दृष्टि पाण्डवोंपर भी डाली; परन्तु वे सभी निष्प्राण-से थे। नारीके शीलकी रक्षा करनेवाला कोई न था। जिन पतियोंके बलपर द्रौपदीको गर्व था, जिन धर्मज्ञों और नीतिज्ञोंसे उसे आशा थी, वे सभी निर्जीव-से थे। उन सबके देखते द्रौपदी सभामें निर्वस्त्रा की जा रही थी। द्रौपदी बारंबार चीख रही थी, परंतु उसका रक्षक कोई न था।

नीच दुःशासनका हाथ बढ़ा और वह द्रौपदीकी साड़ी-का छोर खींचने लगा। याज्ञसेनी विह्वल पड़ी। संसारके सभी प्राणियोंसे उसकी आशाएँ टूट गयीं और अब उसकी धारणा एकमात्र कृपासिन्धु करुणावरुणालय दीनबन्धु श्याम-सुन्दरपर टिक गयी। वह आर्तस्वरसे पुकार उठी—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥

(महा० सभा० ६८। ४१–४३)

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण! हे गोपाङ्ग-नाओंके प्राणवल्लभ केशव! कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं। क्या आप नहीं जानते? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे संकटनाशन! हे जनार्दन! मैं कौरवरूप समुद्रमें डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये। सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण! महायोगिन्! विश्वात्मन्! विश्वभावन! गोविन्द! कौरवोंके बीचमें कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अबलाकी रक्षा कीजिये।' कृपानिधि श्रीकृष्णका कृपाके रूपमें वस्त्रावतार हुआ। वे रंग-बिरंगे वस्त्रोंमें तुरंत प्रकट हो गये।

सभा सभासद निरखि पट पकरि उठायो हाथ।
तुलसी कियो इगारहौं बसन बेस जदुनाथ॥

(दोहावली १६८)

दुःशासन खींचता गया और खींचता ही गया। रंग-बिरंगी साड़ियोंका अम्बार लग गया। भाँति-भाँतिके सुन्दर वस्त्रोंसे द्रौपदी आच्छादित होती गयी। जैसे-जैसे वह दुरात्मा

याज्ञसेनीकी साड़ी खींच रहा था, वैसे-वैसे ही मानो कृपालु श्रीकृष्णकी कृपाकी बाढ़-सी आ रही थी। बड़ा अद्भुत दृश्य था। कृपासिन्धुकी करुणाकी बौछार सबको भिगो रही थी। लज्जासे दुष्ट दुःशासनका सिर ऊँचा नहीं उठ रहा था, उसकी भुजाओंकी शक्ति समाप्त हो गयी थी। वह थककर चूर हो गया और अन्तमें उसे श्रीकृष्ण-कृपाविलासके सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा। वह सिर नीचा करके सभामें एक किनारे जाकर चुपचाप बैठ गया।

× × ×

पाण्डवगण द्रुपदकुमारीसहित वनवासमें थे। वे काम्यकवनमें नाना प्रकारके कष्ट झेलते हुए वनवासकी अवधि व्यतीत कर रहे थे। उधर दुष्ट दुर्योधन किसी भी प्रकारसे पाण्डवोंका अन्त कर देनेके प्रयासमें था; क्योंकि वे किसी भी समय दुर्योधनसे अपने राज्यका अधिकार माँग सकते थे।

'यदि महर्षि दुर्वासा पाण्डवोंपर कुपित हो जायँ तो शीघ्र काम बन सकता है।' यह दुर्योधनके मस्तिष्ककी एक नयी सूझ थी। महर्षि दुर्वासाको प्रसन्न करनेकी योजना बनायी गयी। दुर्योधन स्वयं अपने सुखकी परवाह छोड़कर तत्परतासे महर्षिकी सेवामें लग गया। रात्रि हो अथवा दिन, महर्षि किसी भी समय कुछ भी चाहें, तैयार मिलता था। उन्हें प्रसन्न करनेका कोई भी अवसर दुर्योधनने नहीं खोया।

अन्तमें महर्षि पूर्णरूपसे संतुष्ट होकर जाने लगे और जाते-जाते बोले—'दुर्योधन! मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ।' धूर्त दुर्योधन अपनी चाल सफल हुई जानकर मन-ही-मन प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'मुने! आपकी दयासे सभी कुछ सुलभ है। आपने आतिथ्यका सुअवसर देकर हमलोगोंपर बड़ी कृपा की। ऐसी ही कृपा आप हमारे बड़े भाई युधिष्ठिरपर करें। वे हमारे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भ्राता हैं। आजकल वे अपने भाइयों एवं पत्नी द्रौपदीसहित वनमें निवास कर रहे हैं। मुनिदेव! एक बातका और ध्यान रखें। जब द्रौपदी समस्त ब्राह्मणों तथा पाँचों पतियोंको भोजन कराकर स्वयं भी भोजन कर विश्राम करने लगे, तब आप उनके यहाँ अपने शिष्योंसहित भोजनके लिये पधारें तो उत्तम होगा।' महर्षिने बिना किसी हिचकके इतनी-सी बात स्वीकार कर ली। दुर्योधनको तो मानो निधि ही प्राप्त हो गयी, वह सोच रहा था—'द्रौपदीके भोजन करनेके उपरान्त उस सूर्यपात्रमें महर्षिके आतिथ्यके लिये कुछ नहीं बचेगा। महर्षि अवश्य कुपित होंगे और इनका कोप पाण्डवोंके विनाशका कारण होगा ही।'

महर्षि दुर्वासाको दुर्योधनके कपटका क्या पता? वे अपने सहज स्वभावसे अपने दस हजार शिष्योंसहित द्रौपदीके भोजन करनेके उपरान्त पाण्डवोंके विश्रामके समय उनके यहाँ पहुँच गये। महर्षि दुर्वासाके आगमनका समाचार सुनकर राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंसहित उनकी अगवानीमें पहुँच गये। विधिपूर्वक उनका पूजन एवं आतिथ्य करनेमें युधिष्ठिरने कोई कमी न रखी। आये हुए अतिथि भोजन किये बिना युधिष्ठिरके यहाँसे कैसे लौटते? युधिष्ठिरने आदरपूर्वक उन लोगोंसे भोजनके लिये आग्रह किया। महर्षिने मध्याह्नकालिक नित्यकर्म—संध्यावन्दन करनेके उपरान्त प्रसाद ग्रहण करना स्वीकार किया।

महर्षि अपने शिष्योंसहित नित्यकर्मके लिये नदी-तटपर चले गये। इधर पतिव्रता द्रौपदीको इस बातका पता लगा। दस हजार व्यक्तियोंके भोजनकी व्यवस्था कोई सहज बात न थी। 'इतने अन्नकी व्यवस्था कैसे हो?' सभी विचार-मग्न हो गये। महर्षिकी कोप-कथाएँ उन्हें भी ज्ञात थीं, परंतु इस विपत्ति-नाशका कोई निर्णय वे लोग न निकाल पाये। अपने विनाशका समय उन्हें समीप जान पड़ा; परंतु पाञ्चाली वस्त्रावतारी कृपानिधिकी कृपाको इतना शीघ्र कैसे भूल सकती थी? 'क्या आज वे कृपासिन्धु कृपा नहीं करेंगे?' द्रौपदी विचारमग्न थी। मन-ही-मन पुकारने लगी—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय ॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन ।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ॥

× × ×

दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा ।
तथैव संकटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥

(महा० वन० २६३। ८-९, १६)

'हे कृष्ण! हे महाबाहु श्रीकृष्ण! देवकीनन्दन! हे अविनाशी वासुदेव! चरणोंमें पड़े हुए दुःखियोंका दुःख दूर करनेवाले हे जगदीश्वर! आप ही सम्पूर्ण जगत्के आत्मा हैं। अविनाशी प्रभो! आप ही इस विश्वकी उत्पत्ति और संहार करनेवाले हैं। हे भगवन्! पहले कौरव-सभामें दुःशासनके हाथसे जैसे आपने मुझे बचाया था, उसी प्रकार इस वर्तमान संकटसे भी मेरा उद्धार कीजिये।'

भगवान् तो ठहरे कृपामूर्ति, करुणावरुणालय, द्रौपदीकी पुकार सुनते ही तुरंत दौड़ पड़े।

'कृष्णे! बहुत दूरसे आ रहा हूँ। थककर चूर हो गया हूँ। शीघ्र ही मुझे कुछ खानेको दो।' माधवने पहुँचते ही द्रौपदीसे कहा। भगवान्‌को देखकर द्रौपदीका हृदय गद्गद हो गया। वह बड़े विस्मयसे बोली—'प्रभो! आप क्या विनोद कर रहे हैं? यदि मेरे पास इस समय कुछ भी भोज्य सामग्री होती तो मैं आपको कष्ट क्यों देती? महर्षि दुर्वासाने दस हजार शिष्योंसहित हमारा आतिथ्य

स्वीकार किया है। उन लोगोंके भोजनका शीघ्र प्रबन्ध करना है। अब आप ही हमारे रक्षक हैं। हमें तो इस संकटसे उबरनेका कोई मार्ग नहीं सूझता।'

भगवान् श्रीकृष्णने मुस्कुराते हुए कहा—'कृष्णे! मैं तनिक भी विनोद नहीं कर रहा हूँ। मैं क्षुधातुर हूँ। पहले तुम मुझे कुछ खिलाओ। तुम अपनी वह बटलोई तो यहाँ लाओ, अवश्य ही तुमने मेरे लिये उसमें कुछ छोड़ा है।' द्रौपदी भगवान्‌की वाणीका तिरस्कार कैसे कर सकती थी, वह शीघ्र जाकर बटलोई ले आयी। भगवान् उसके हाथसे बटलोई लेकर ध्यानपूर्वक देखने लगे, थोड़ा-सा शाक-कण उसमें एक ओर लगा हुआ था। विश्वात्मा-यज्ञभोक्ता श्रीकृष्णने तुरंत उस शाक-कणको अपने मुख-में रख लिया और तृप्त एवं संतुष्ट हो गये। उन विश्वात्माका तृप्त होना अत्यन्त रहस्यपूर्ण था। भगवान् श्रीकृष्णने सहदेवको आदेश दिया—'भैया! शीघ्र जाकर मुनिगणको ले आओ।'

इधर महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंसहित नदीमें संध्या-वन्दन कर रहे थे। एकाएक उन्हें एवं उनके शिष्योंको एक साथ डकारें आने लगीं। उन सबको ऐसे लगा, जैसे उनके गलेतक अन्न भरा है। दुर्वासा असमञ्जसमें पड़ गये कि राजा युधिष्ठिरके यहाँ बनी रसोईका क्या होगा? उन्हें तुरंत पुरानी बात स्मरण हो आयी—

स्मृत्वानुभावं राजर्षेरम्बरीषस्य धीमतः।
बिभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात्॥
पाण्डवाश्च महात्मानः सर्वे धर्मपरायणाः।
शूराश्च कृतविद्याश्च व्रतिनस्तपसि स्थिताः॥
सदाचाररता नित्यं वासुदेवपरायणाः।
(महा० वन० २६३। ३३-३५)

'ब्राह्मणो! परम बुद्धिमान् राजर्षि अम्बरीषके प्रभावको याद करके मैं उन भक्तजनोंसे सदा डरता रहता हूँ, जिन्होंने भगवान् श्रीहरिके चरणोंका आश्रय ले रखा है। सब पाण्डव महामना, धर्मपरायण, विद्वान्, शूरवीर, व्रतधारी तथा तपस्वी हैं। वे सदाचार-परायण तथा भगवान् वासुदेवको अपना परम आश्रय माननेवाले हैं।'

महर्षिको बड़ा भय लगा। वे सोचने लगे—'पाण्डव एवं पतिव्रता द्रौपदी—सभी भगवान्‌के परम भक्त हैं, कहीं वे लोग कुपित हो गये तो हम सबको भस्म होनेमें देर न लगेगी।' वे सुदर्शनचक्रको भूले नहीं थे, अतः उन्होंने शिष्योंसहित वहाँसे भागनेमें ही अपना श्रेय समझा। वे लोग नदीतटसे ही लौट गये। इधर सहदेव उन लोगोंको खोजते हुए वापस आये और उन्होंने आकर मुनिगणके लौट जानेकी सूचना दी। दीनवत्सल भगवान्‌की कैसी अनोखी कृपा थी!

(७)

द्रौपदी और भीष्मपितामहपर कृपा

महाभारत-युद्धमें आठ दिनोंकी पराजयके बाद भी दुर्योधनके मनमें यह बात दृढ़तासे जँची हुई थी कि यदि पितामह सच्चे हृदयसे चाहें तो हमारी विजय हो सकती है। यह सोचकर वह पितामहके शिविरमें गया और दुःखी हो उसने अपने मनकी बात उनके सामने प्रकट की। उसे व्यथित देख भीष्मपितामहने कहा 'देखो, यदि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञापर दृढ़ रहें और शिखण्डी (जो जन्मसे स्त्री था, बादमें वरदानसे पुरुष हुआ, उसे मैं अभी भी स्त्री ही मानता हूँ) मेरे सम्मुख न आये तो कल मैं पाँचों पाण्डवोंका अन्त कर दूँगा।'

पाँचों पाण्डवोंके अन्तकी बात सुनकर दुर्योधन प्रफुल्लित हो उठा। उसने पितामहके चरणोंमें प्रणाम किया और अपने शिविरकी ओर चल दिया। उसने सबसे पितामहकी प्रतिज्ञाकी बात कह दी। कौरव-दलमें चारों ओर प्रसन्नता-की लहर दौड़ गयी।

भीष्म-प्रतिज्ञाका समाचार गुप्तचरोंद्वारा पाण्डवोंके पास भी पहुँचा। द्रौपदीने भीष्म-प्रतिज्ञा सुनी और उसकी प्रतिक्रिया भी देखी। उसके शोकका तो अन्त ही न था। वह भी अपने अन्तिम आधार भगवान् श्रीकृष्णके शिविरमें पहुँची। उसने वहाँ पहुँचकर श्रीकृष्णसे पूछा—'माधव! क्या आपके रहते मेरा सौभाग्य लुट जायगा?'

श्रीकृष्णने कहा—'पाञ्चाली! भक्तकी प्रतिज्ञाके आगे मैं विवश हूँ। पितामहकी प्रतिज्ञा मिथ्या हो, यह सम्भव नहीं।'

'माधव! क्या आज आपकी कृपाका स्रोत सूख गया।' शोकातुर द्रौपदी भगवान्‌पर क्रुद्ध-सी होने लगी। 'श्यामसुन्दर! आपने मुझे लंबे-लंबे आश्वासन दिये थे। क्या वे सभी मिथ्या होंगे? मेरे बिखरे बाल देखकर आपने जो कहा था, क्या आज वह सब व्यर्थ हो जायगा?' उसकी आँखोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे।

श्रीकृष्ण गम्भीर ही बने रहे। वे कुछ न बोले। तब द्रौपदीने पुनः कहा—'प्रभो! आपके सामने ही यदि मुझे वैधव्यके महान् दुःखको देखना है तो इससे यही अच्छा है कि मैं पहले ही चिता-रोहण करके शरीर त्याग दूँ।' यह सुनकर भी भगवान् पूर्ववत् मौन ही रहे, अतः द्रौपदी चितारोहणकी तैयारी करने लग गयी। चिताकी परिक्रमाके समय भगवान् श्रीकृष्ण साथ थे।

अचानक भगवान्ने कहा—'चलो मेरे साथ' और द्रौपदी भगवान्के पीछे-पीछे चलने लगी। पितामहका शिविर आया, तब दयानिधि भगवान्ने आज्ञा दी—'द्रौपदी! शिविरके अंदर जाकर चुपचाप पितामहको प्रणाम करो और देखो, प्रणाम करते समय अपने आभूषणोंको बजा देना।' द्रौपदीने शिविरमें प्रवेश किया। उसने देखा, पितामह नेत्र मूँदे बैठे थे। उसने पितामहके चरणोंमें सिर टेककर प्रणाम किया। आभूषणोंकी झंकार सुनकर पितामहने कहा—'बेटी! सौभाग्यवती हो।' शोकातुर द्रौपदी रो पड़ी तथा गद्गद होकर बोली—'पूज्यवर! आपका आशीर्वाद कभी मिथ्या नहीं हो सकता।'

पितामह चौंक पड़े—'द्रौपदी! तुम, इस समय!' भीष्मने सोचा था कि दुर्योधनकी पत्नी आयी होगी। वे तो चिन्तामग्न थे यह सोचकर कि 'आज मैंने यह क्या प्रतिज्ञा कर डाली। जिन पाण्डवोंके रक्षक स्वयं कृपा-सिन्धु श्रीकृष्ण हैं, उनको मैं कैसे मारूँगा?' वे मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना कर रहे थे—'प्रभो! इस विपत्तिसे छुड़ा लो, मैं यह क्या अनर्थ करने जा रहा हूँ।' अस्तु! पितामहने समझ लिया कि इस घटनाका सूत्रधार तो निश्चितरूपसे कोई और ही है। 'बेटी! तुम्हारे साथ और कौन है?' इतना कहकर पितामह दौड़े द्वारकी ओर। द्वारकी ओटमें छिपे श्रीकृष्णको देखकर वे प्रणत हो गये उनके चरणोंमें और बोले—'प्रभो! आपकी लीला विचित्र है, जिनके रक्षक आप हैं, उन्हें कौन मार सकता है? परंतु नाथ! आज आप मेरी प्रतिज्ञा तुड़वा रहे हैं, कल आपको भी अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ेगी।' भगवान् मुस्करा दिये—'भीष्म! मैं तो सदैव भक्तोंके अधीन हूँ।'

महाभारत-युद्धके नौवें दिन वही हुआ, जो कृपा-सिन्धु भगवान्को स्वीकार था। भक्तवत्सल भगवान् अपनी युद्धमें शस्त्र न उठानेकी प्रतिज्ञा तोड़कर हाथमें चाबुक लिये भीष्मकी ओर दौड़ पड़े। वस्तुतः यह तो भगवान् श्रीकृष्णका एक कृपाविलासमात्र था, जिससे उन्होंने अपने भक्तोंकी रक्षा और अपने भक्त भीष्मकी आन्तरिक इच्छा पूर्ण की। यद्यपि पितामह दुर्योधनकी बातोंमें अवश्य आ गये थे, परंतु हृदयसे भगवान्के आश्रित पाण्डवोंकी रक्षा ही चाहते थे।

(८)

अर्जुनपर कृपा

महाभारत-युद्धका अन्तिम समय था। कौरव-सेनापति महारथी भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं शल्यका रणभूमिमें अन्त हो चुका था। दुर्योधनने भागकर द्वैपायनसरोवरमें शरण ले ली थी, परंतु पाण्डवोंने खोजकर उसका पता लगा लिया और उसे गदायुद्धके लिये सहमत कर लिया था। भीमसेनने कौरव-सभामें द्रौपदीके वस्त्रहरणके समय अपनी भुजाएँ उठाकर की हुई प्रतिज्ञा सत्य की। उन्होंने अपनी गदासे दुर्योधनकी दोनों जाँघें तोड़ दीं। अब दुर्योधन रणभूमिमें पड़ा अन्तिम साँसें ले रहा था। पाण्डव-विजयकी शङ्ख-ध्वनि हो चुकी थी। पाण्डवोंने कौरवोंके श्रीहीन शिविरोंमें प्रवेश किया। दुर्योधनके सेवकोंने नतमस्तक हो पाण्डवोंको नमन किया। पाण्डव अपने-अपने रथसे उतरने लगे।

'अर्जुन! जरा सावधान हो जाओ।' भगवान् श्रीकृष्णने रथमें बैठे पाण्डुनन्दनसे कहा। अर्जुन चौंक गये, वे समझ नहीं पाये कि अब सावधान होनेकी क्या बात है। कौरव तो परास्त हो ही चुके थे; परंतु भगवान्की आज्ञा अर्जुनको शिरोधार्य थी।

'अर्जुन! पहले अपने गाण्डीव धनुष एवं बाणोंसे भरे हुए दोनों अक्षय तरकसोंको उतार लो, तदनन्तर तुम स्वयं उतरो। तुम्हारे रथसे उतरनेपर मैं उतरूँगा'
बड़ी सावधानीसे कहा।

नित्य श्रीकृष्ण स्वयं पहले उतरकर रथ थामते थे, परंतु आज तो वे विपरीत ही कर रहे थे। भगवान्की आज्ञा थी। अर्जुनने ठीक उसी तरह किया। रथसे पाण्डुनन्दनके उतरते ही भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर स्वयं रथसे उतरे। भगवान्के रथसे उतरते ही रथमें अग्निकी ज्वालाएँ प्रज्वलित हो उठीं। देखते-देखते ही वह विशाल रथ उपासंग, बागडोर, जूआ, बन्धुकाष्ठ एवं घोड़ोसहित भस्म हो गया। पवनसुत हनुमान्जी तो भगवान्के उतरते ही ध्वजापरसे अन्तर्हित हो ही गये थे।

चारों भाइयोंसहित अर्जुन आश्चर्यचकित हो उठे। भगवान्की कृपाने ही आज अर्जुनकी रक्षा की थी। अर्जुनका रथ तो नाना प्रकारके अस्त्रों एवं ब्रह्मास्त्रके तेजसे कभीका दग्ध हो गया था, भगवान् श्रीकृष्णकी कृपाने ही उसे ध्वस्त होनेसे बचा लिया था।

युधिष्ठिर भगवान्का स्तवन करते हुए कहने लगे—

भगवतस्तु प्रसादेन संशप्तकगणा जिताः ॥
महारणगतः पार्थो यच्च नासीत् पराङ्मुखः ।

'भगवन्! आपकी कृपासे संशप्तकगण परास्त हुए हैं और कुन्तीकुमार अर्जुनने उस महासमरमें जो कभी पीठ नहीं दिखायी है, वह भी आपके ही अनुग्रहका फल है।'

———

भगवान्

भक्तिके समक्ष जहाँ लक्ष गुण वै[illegible];
कुलको न मानको महत्त्व दिया जाता है।
भक्तिहीन भूपका भी मेवा है न भाता जिसे,
भक्त-गेह सागका कलेवा ही सुहाता है॥
भक्त-हेतु ऊपरसे भूपर उतर आता
होके मुक्तिदाता बन्धनोंमें बँध जाता है।
उस भगवान्को है वन्दन हमारा नित्य,
भक्तको रिझानेमें सदा जो मोद पाता है॥

भक्त

पाहन दे प्रिय, याकि रस अवगाहन दे,
चाह न घटा जो लिये चातक-सा पन है।
व्यथित वियोगमें गुविन्द मन-भावनके,
दृग-अरविन्द हुए सावनके घन हैं॥
प्रीतम सुखी हों, प्रीत मनका यही है सुख,
दुखको प्रसाद मान रहता मगन है।
सरवस श्यामको दे, परवश कामके न,
नर अभिराम उस भक्तको नमन है॥

—'राम'

भगवत्कृपा

वरस रही प्रभु-कृपा सभीपर विना भेद अनवरत अपार।
किंतु न कर पाते अनुभव विश्वासहीन हम मोहागार॥
पर प्रभु-कृपा न वंचित रखती कभी किसीको परम उदार।
समुचित मधुर-तिक्त औषध दे हरती रहती रोग-विकार॥

—'श्रीभाईजी'

भगवत्कृपासे कृतकृत्य भक्तोंके पावन चरित

(लेखक—पं० श्रीराजेन्द्रजी शर्मा)

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने एक स्थलपर लिखा है—'भक्तोंके चरित सदा ही मङ्गलमय, सात्त्विक, स्फूर्तिदायक, चिन्तन, मनन और सेवन करने योग्य एवं नित्य-नवीन हैं। आदर्श व्यवहार, इन्द्रिय-मनपर विजय, पवित्र सेवा-भाव, त्याग और तपस्या, विषय-विरक्ति, भगवद्भक्ति और प्रेम आदिका सच्चा स्वरूप उपदेशोंमें नहीं मिलता, वह तो भक्त-चरितोंमें ही प्रत्यक्ष प्राप्त होता है। भक्त-चरित स्वयं मूर्तिमान् उपदेश हैं। भक्तोंके विभिन्न विचित्र भाव होते हैं। अपने प्रभुके साथ वे अपने भावके अनुसार ही सम्बन्ध स्थापित करते हैं और भक्तवत्सल भगवान् भक्तोंके उसी भावको स्वीकारकर तदनुकूल ही लीला करके उन्हें सुख देते हैं और उनके पवित्र प्रेम-रस-पूर्ण भावका रसास्वादन करते हैं। भक्तोंका स्मरण अन्तःकरणको पवित्र करता है और भगवान्में प्रीति उत्पन्न करता है। भक्त-चरितोंको श्रद्धा, भक्ति और चित्तकी संलग्नतासे पढ़नेपर दुर्लभ भगवद्भक्तिकी प्राप्ति सहज हो सकती है। इसलिये भक्त-चरितकी बहुत बड़ी उपयोगिता है।'

कलिकालमें ऐसे अनेक भगवद्भक्त हुए हैं, जिनकी भक्तिके वशीभूत हो भगवान्ने साक्षात् दर्शन देकर उनपर अद्भुत अनुग्रह किया है। इनमेंसे भगवत्कृपाके सहस्रों रूपोंको परिलक्षित करनेवाले कतिपय भक्त-चरितोंकी झलकियाँ प्रस्तुत हैं, जिन्हें श्रद्धापूर्वक पढ़नेसे निश्चय ही भगवत्प्रेम—भगवद्भक्तिकी प्राप्ति और भगवत्कृपाका अनुभव किया जा सकता है। भक्तोंकी महिमा इतनेसे ही जान लेनी चाहिये कि भगवान् उन्हे अपना 'मुकुटमणि' मानते हैं, उनके वशमें रहते हैं, उनकी सेवामें प्रस्तुत होनेके लिये नाना रूप धारण करते हैं और घोषणा करते हैं—'**न मे भक्तः प्रणश्यति।**' (गीता ९ । ३१) अर्थात् मेरे भक्तका कभी विनाश नहीं होता।

भगवत्कृपासे कृतकृत्य हुए कलिकालके इन भक्तोंके पवित्र चरित पढ़कर हमारे हृदयोंमें भी भगवद्भक्तिकी अखण्ड ज्योति जग उठे, यही उन भक्तवत्सल प्रभुसे प्रार्थना है।

गोस्वामी तुलसीदासजीपर भगवत्कृपा

भगवान्की प्रतिज्ञा है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(गीता ४ । ११)

'जो मुझे जैसे भजते हैं, मैं भी उन्हे वैसे ही भजता हूँ।' अपनी इसी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् भक्तोंके हाथ बिक जाते हैं और भक्तोंका योगक्षेम वे ही वहन करते हैं। अपनी अहैतुकी कृपासे वे भक्तको विभोर कर देते हैं। उन कृपायतनके अतिरिक्त ऐसा कृपालु और कौन हो सकता है! उनकी तो यही बान है—

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

(मानस ३ । ४२ । ३)

जो सांसारिक आश्रय तजकर एकमात्र भगवान्को ही भजते हैं, भगवान् उनकी सदा वैसे ही रखवाली करते हैं, जैसे माता बालककी रक्षा करती है।

संतशिरोमणि भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदासजीको अपने जीवनमे भगवत्कृपाका कुछ ऐसा ही आह्लादकारी अनुभव हुआ था। बात तबकी है, जब गोस्वामीजी 'श्रीरामचरितमानस'की रचना सम्पूर्ण करनेके पश्चात् भगवान् विश्वनाथकी पावन नगरी काशीमें आये। उन दिनों 'अस्सी' नालेसे आगे खेत और जंगल ही थे। वहीं आपकी पर्णकुटी थी। सुनसान स्थान, दूर-दूर तक जन-मानसका कोई चिह्न नहीं, स्वर नहीं, शब्द नहीं। सामने भागीरथीकी मन्द-मन्द धारा बहती थी और उस छोटी-सी कुटियामे भी भक्ति-भागीरथीकी धारा प्रवहमान थी। गोस्वामीजी भगवान् गौरीपति, गजानन और माता पार्वतीको श्रीरामचरितमानसका श्रवण करानेके पुण्य-संकल्पसे काशी आये थे।

पूरी निष्ठा और श्रद्धाके साथ तुलसीदासजीने गद्गद वाणीसे भगवान् आशुतोष और माता पार्वतीको 'मानस'का पाठ सुनाया और तत्पश्चात् अपनी 'तुच्छ' रचना भगवान्को समर्पित कर दी। विश्वनाथ-मन्दिरके पट बंद कर दिये गये; क्योंकि संस्कृतज्ञ पण्डितोंका दुराग्रह था कि यदि

बाबा शिवजीको हिंदीमे 'श्रीरामचरितमानस' श्रेष्ठ प्रतीत होगा तो प्रातः उनकी सही इस पोथीपर होनी चाहिये।

भगवत्कृपाके प्रकार भी विलक्षण होते हैं। प्रातःकाल प्रकाण्ड पण्डितों, विद्वानों और साधु-संन्यासियोंके समक्ष जब मन्दिरके पट खोले गये तो कहते हैं 'श्रीरामचरितमानस'पर सुन्दर-सुन्दर अक्षरोंमे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' लिखा मिला। मन्दिर-में यही दिव्य घोप सुनायी भी दिया। भक्त भगवान्की कृपाके समक्ष भक्तिपूर्वक नत हो गया; किंतु ईर्ष्यालु पण्डित वैमनस्य-की अग्निमे झुलसने लगे। उन्हे चिन्ता हुई कि तुलसीदास तो हमारी मान-प्रतिष्ठा ही समाप्त कर देगा। 'मानस'की और प्रतियाँ तो उस समय थीं नहीं। पण्डितोंने 'श्रीरामचरितमानस'-की 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'के दिव्याक्षरोंसे अलंकृत पोथीको नष्ट करनेका कुकृत्य विचारा।

कृष्णपक्षकी काले मेघोंसे घिरी गहरी अन्धकारपूर्ण रात्रिमें दो चोर धीरे-धीरे 'अस्सी'के खेतों और जगलोंको पार करते जा रहे थे। धड़कते हृदयोंसे वे अन्ततः गोस्वामीजीकी कुटीके समीप पहुँचकर एक विशाल वृक्षके तनेकी ओटमें छिप गये। वे आहट लेना चाहते थे। दूरसे उन्हे दीपकके मन्द प्रकाशमे तुलसीदासजी गहरी निद्रामे निमग्न दिखायी दिये। उनके सिरहाने ही छोटी-सी चौकीपर लाल रेशमी वस्त्रमें बँधी भगवान् शंकरद्वारा सम्मानित 'मानस'की पोथी रखी थी। चोरोंने सोचा—'अब देर नहीं करनी चाहिये।' उनकी दृष्टिमें तो वे स्वर्णमुद्राएँ नाच रही थीं, जो उन्हें 'मानस'की प्रतिके बदलेमे मिलनेवाली थीं।

वृक्षकी ओटसे निकलकर उन्होंने जैसे ही कुटियाकी ओर पहला पग दबाकर बढाया, वे भयसे काँप उठे और ठिठक-कर पुनः वृक्षकी ओटमे आकर छिप गये। मोटे तनेकी ओटसे उन्होंने एक बार फिर कुटियाकी ओर झाँका। उस गहन अन्धकारमे उन्होंने देखा—दो राजकिशोर कुटियाके द्वारके साथ सीधे तनकर खड़े हैं। एक श्यामवर्ण प्रतीत होता है, दूसरा गौरवर्ण। दोनों मणियोंसे युक्त मुकुट और हार पहने हुए हैं। दोनोंके उन्नत ललाट हैं, नेत्र विशाल हैं। वे पीताम्बर धारण किये और रत्नजटित स्वर्ण करधनी पहने हैं। उनके कंधेपर निपङ्ग और लंबे बाहुओंमें भृकुटियोंकी तरह झुके हुए धनुष हैं। ऐसे अद्भुत किशोरको देखकर वे भयविकम्पित हो काष्ठवत् खड़े रहे। बार-बार ध्यानपूर्वक देखा। यह स्वप्न तो नहीं था। वास्तविकता थी। उनके मनमें फिर स्वर्णमुद्राएँ झनझना उठीं। वे धीरे-धीरे पर्ण-कुटीके पीछे गये। वहाँ भी वे ही राजकिशोर पहरा दे रहे हैं। दायीं ओर भी वही भय उत्पन्न करनेवाला दृश्य और बायीं ओर भी वही। उन्हें लगा मानो राजकुँवर अभी प्राणभेदी बाण छोड़ देंगे। चोर इतने घबराये कि मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़े।

सूर्योदय होनेवाला ही था, गोस्वामीजी गङ्गाजीसे स्नान करके लौट रहे थे। कुटियाके समीप वृक्षकी आड़में दो अपरिचित क्रूर आकृतिवाले व्यक्तियोंको पड़े देख उन्होंने पूछा—'तुम कौन हो रे, भैया!'

संतकी मधुर वाणीसे उन्हे चेत हुआ। आँखें खोलीं तो देखा सामने भक्तशिरोमणि गोस्वामीजी खड़े हैं। उन्होंने दयाकी याचना करते हुए तुलसीदासजीके चरण पकड़ लिये—'क्षमा करें महाराज! हम बड़े पापी हैं।' और विस्मित खड़े तुलसीदासजीको उन्होंने रात्रिकी सारी घटना सुना दी।

तुलसीदासजी उनकी निश्छल वाणीसे अपने प्रभुके रूप-माधुर्यका वर्णन सुनकर श्रीरामके कृपा-समुद्रमें मानो डूबने-उतराने लगे। प्रेम-विह्वल हो अश्रुओंको किंचित् पोंछते हुए वे बोले—'तुम दोनों धन्य हो। भाग्यवान् हो। तुम्हें भगवान्के दिव्य दर्शन प्राप्त हुए। भुवन-मोहन दीन-हित-कारी प्रभुको मेरे कारण ऐसा कष्ट·······!' गोस्वामीजीकी वाणी अवरुद्ध हो गयी। चोरोंने उसी दिनसे चौर्यकर्म त्याग दिया और श्रीरामचन्द्रजीके भजनमें लग गये।

तुलसीदासजीने 'श्रीरामचरितमानस'की वह प्रति टोडर-मलजीके पास सुरक्षित रख दी और पुनः एक अन्य प्रतिलिपि तैयार की। इस घटनाके पश्चात् ईर्ष्यालु विद्वान् भी शान्त हो गये। जिसपर भगवत्कृपा है, उसे किसका भय?

सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥

(मानस १।१२५।४)

भगवत्कृपाके अप्रतिम पात्र भक्त नरसी मेहता

भगवान् श्रीकृष्णके परमप्रिय भक्त नरसी मेहताने अपने एक पदमे गाया है—

भक्त आधीन छे, श्यामसुन्दर सदा,
ते तारां कारज सिद्ध करशे।

× × ×

ईशने ईर्षा छे नहीं जीव पर,
आपनो अवगुणे रह्यो रे अलगो॥

'द्वारकानाथ श्यामसुन्दर सदा ही भक्तोंके अधीन हैं, वे ही

कृपा कर भक्तका कार्य सिद्ध करते हैं। ईश्वरको जीवोंसे कोई ईर्ष्या नहीं है, अपने ही अवगुणोंसे यह (जीव) ईश्वरसे अलग (दूर) हो रहा है।' भक्त नरसी मेहताकी इन पङ्क्तियोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् सदा-सर्वदा कृपालु हैं। वे भक्तोंके तो अधीन हो जाते हैं। नरसी मेहताके जीवनमें ऐसे प्रेरक निश्छल एवं भक्तिकी पावन गङ्गा प्रवाहित करनेवाले प्रसङ्गोंका बाहुल्य रहा है, जिनसे भगवत्कृपाकी अलौकिक अनुभूति होती है।

वास्तवमें नरसी मेहतापर बाल्यकालसे ही भगवत्कृपा-का अमृत बरसता रहा। उनका जन्म लगभग सं० १४७० वि० में जूनागढ़के निकट 'तलाजा' नामक ग्रामके एक प्रतिष्ठित नागर-ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। नरसीराय अभी पाँच वर्षके ही थे कि उनके माता-पिताका शरीरान्त हो गया। बाईस वर्षीय बड़े भाई बंशीधर और दादी जयकुँवरीने उनका लालन-पालन किया।

आठ वर्षकी आयु होनेको आयी, पर अभीतक नरसी मेहताकी वाणी मूक थी। संयोगवश,दादी उन्हें एक दिन दर्शनार्थ बडनगर-स्थित हाटकेश्वरके मन्दिरमें ले गयीं। वहाँ एक संत विराजमान थे। जयकुँवरीने उन्हें अपने पौत्रकी दयनीय स्थिति बतायी। इन महात्माका दर्शन नरसी मेहतापर पहली भगवत्कृपा थी—'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।' (मानस ५।६।२) महात्माने अपने दिव्य स्पर्शसे मानो बालकको पवित्र कर दिया। उन्होंने आशीर्वाद दिया—'यह बालक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका परम भक्त होगा।' बालकके निर्दोष नेत्रोंमें महात्माने अपनी अलौकिक दृष्टिसे झाँका और कहा—'बच्चे! बोलो राधाकृष्ण, राधाकृष्ण।' नरसीने सर्वप्रथम 'राधा-कृष्ण'—इस पावन नामका उच्चारण किया। प्रभु-कृपासे मूक वाचाल हो गया। साथ-ही-साथ बालक नरसीको इष्ट-मन्त्र भी मिल गया।

जैसे-जैसे आयु बढ़ती गयी, वैसे-वैसे नरसीजीके भक्ति-रूप चन्द्रमाकी कलाएँ भी बढ़ती गयीं—कभी क्षीण न होने-वाली पूर्णताकी ओर। सांसारिक जीव तो स्वभावसे ईर्ष्यालु होते हैं। नरसी मेहताको सर्वप्रथम अग्रज वंशीधर और भाभी दुरितगौरीकी ईर्ष्याका शिकार होना पड़ा। नरसी मेहताने भजन-कीर्तन, साधु-सङ्गत और भगवत्प्रेमका कल्याणकारी मार्ग अपनाया था। पढ़ना-लिखना, खाना-पीना, दुःख-सुख, निन्दा-स्तुति—सब कुछ उन्होने भगवत्प्रेमपर वार दिया था। दुरितगौरीको यह सहन नहीं हुआ। अन्ततः नरसीजीको अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूके साथ परिवारसे अलग होना पड़ा। यद्यपि उनकी दादी जयकुँवरीने नरसीजीकी पुत्री कुँवरबाईका विवाह काठियावाड़-स्थित 'ऊना' गाँवके एक श्रीमन्त नागर श्रीरंगधर मेहताके पुत्र वसन्तरायके साथ करा दिया था, तथापि निर्धनताके कारण नरसीजीको कुँवरबाईके श्वशुरकी ओरसे अपमानित एवं लाञ्छित करनेकी कुचेष्टाएँ होती रहती थीं।

कालान्तरमें उनकी पुत्री कुँवरबाईके एक कन्या पैदा हुई, जिसका नाम नानीबाई रखा गया। धीरे-धीरे वह सुन्दरी कन्या विवाहके योग्य हो गयी। कुँवरबाईके श्वशुर रंगधरजी नागर-ब्राह्मणोंमें बहुत सम्पन्न माने जाते थे, इसलिये नानीबाईका विवाह भी वे बड़ी धूम-धामसे कर रहे थे। इस माङ्गलिक अवसरपर सब सम्बन्धियोंको निमन्त्रण भेजे गये; पर नरसीजी-को निर्धन होनेके कारण वञ्चित रखा गया। कुँवरबाईकी सास-ननदने उपालम्भ दिया कि 'वह जादूगर तुलसीदल और गोपीचन्दनके अतिरिक्त और दे ही क्या सकता है।' कुँवरबाईका हृदय विदीर्ण हो गया। उसने कातर वाणीमें कहा—'आखिर वे मेरे पिता हैं। यदि कुछ भी न दे सके तो आकर मिल तो जायँगे।' श्वशुर रंगधरजीने अन्ततः समधीको भी कुङ्कुम-पत्रिका भेज दी।

नरसीजीको तो प्रभुकी अनुकम्पाका ही आश्रय था। उन्होंने वह कुङ्कुम-पत्रिका द्वारकानाथके चरणोंमें अर्पित कर दी। समय आनेपर वे साधु-मण्डलीके साथ 'ऊना' जा पहुँचे। उनकी निर्धनता और साधु-सङ्गतको देखते हुए उन्हें एक जीर्ण-शीर्ण मकानमें ठहराया गया। सम्भवतः रंगधरजी उन्हें अपने समीप ठहरानेमें हीनताका अनुभव करते।

पुत्री कुँवरबाई पितासे मिलने आयी। उसने एक निगाहमें ही पिताकी असमर्थताका अनुमान लगा लिया और उनके जाति-अपमानकी कल्पनासे वह सिहर उठी। पिता उसका भाव समझ गये और बोले—'बेटी! मैं 'भात'में देनेके लिये लाता भी क्या? मेरे पास रखा क्या है? मुझे तो गिरधर गोपालका ही आश्रय है। तू निश्चिन्त रह, समय आनेपर वे भक्तकी लाज अवश्य रखते हैं।' पर सांसारिक जीवोंको भगवत्कृपापर ऐसा अडिग विश्वास कहाँ होता है! अस्तु,

अगले दिन 'भात' भरनेका समय आया तो नरसीजी रंगधरजीके सुसज्जित मण्डपमें बैठकर अपनी साधु-सङ्गतके

साथ परम दयालु अशरणशरण भगवान्‌का गुणानुवाद गाने लगे । करताल-मंजीरोंकी आनन्द-वर्षामें सास-ननदके उपालम्भ डूबने लगे । संस्कार आरम्भ हुआ । नरसीजी भजन-कीर्तनमें सुध-बुध खो चुके थे । उनकी तन्मयता, गद्गद गिरा, पुलकावलि और नेत्रोंसे होनेवाले अविरल प्रेमाश्रु-प्रवाहको देखकर लगता था मानो भगवान् द्वारकानाथ उनके समीप ही उपस्थित हों ।

उसी समय रंगधरजीके उस शोभायमान मण्डपमें एक दिव्य देहधारी सेठ अनेक सुन्दर स्त्रियोंके सहित आकर उपस्थित हुए। नरसीजीके अतिरिक्त और कोई भी अपने चर्म-चक्षुओंसे उन दिव्य पुरुषके रहस्यको न पहचान सका । नरसीजी अपने इष्टदेवके चरणोंमें बेसुध हो लोट गये। उन 'सेठजी'ने रंगधर मेहताको सम्बोधित करते हुए कहा—'मेहताजी ! नरसीजी मेरे अभिन्न सखा हैं । द्वारकामें रहकर मैं इनकी साझीदारीमें व्यवसाय करता हूँ । मेरी समस्त सम्पत्ति इन्हींकी कृपाका फल है ।' इतना कहकर उन्होंने रंगधरजीके सभी स्वजन-सम्बन्धियोंको नाना प्रकारके बहुमूल्य वस्त्राभूषण भेंट किये । सभी जातिवाले नरसीजीके प्रति श्रद्धावनत हो गये । सेठजीने रंगधरजीके आग्रहपर एक दिनका आतिथ्य स्वीकार करनेके पश्चात् अगले दिन विदा ली । प्रभुकी कृपालुताका अनुभवकर नरसीजीके नेत्र अविरल अश्रु-धारा बहा रहे थे । रूँधे कण्ठसे वे गाने लगे—

कृष्णजी ए अहल्या तारी, गुणका ओधारी ।
कृष्णजीना नाम ऊपर, जाऊँ बलिहारी ॥

भगवत्कृपा-गुण-गायक—सूरदास

भक्तोंको आनन्द देना भगवान्‌का स्वभाव है । यद्यपि 'करनी करुनासिन्धुकी मुख कहत न आवे', तथापि उनकी भक्तवत्सलता, भक्तकी ढिठाईको सहन करना, भक्त-कष्ट-हरण, शरणागतवत्सलता, दीन-बन्धुत्व और अभयदान—ये ऐसी बातें हैं, जो उनके किसी विरले भक्तके ही अनुभवमें आती हैं । भक्त-शिरोमणि, व्रजरत्न सूरदासजी भगवान् श्रीकृष्णके ऐसे ही अनोखे भक्त थे । भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही वे 'भक्तिके सागर' और 'पुष्टिमार्गके जहाज' कहलाये ।

बात संवत् १५५३वि०की है। सूरदासजी तब अठारह वर्षके युवक थे और यमुनाके किनारे गऊघाटपर स्थित एकान्त कुटियामें कृष्ण-लीलाके पदोंकी रचना किया करते थे । दिल्लीके निकट सीहीगाँवमें एक सारस्वत ब्राह्मण-परिवारमें उनका जन्म हुआ था । बाल्यकालसे ही उनके नेत्रोंमें ज्योति नहीं थी । माता-पिता उदास हो गये । बालक जन-जनकी उपेक्षासे खिन्न हो गया । तब छोटी-सी अवस्थामें ही भगवत्कृपाके फलस्वरूप अन्तर्ज्योति प्रकट हुई । बालक सूरदास श्रीकृष्ण-प्रेमका आश्रय लेकर मथुरा आ गया । शकुन-विचारमें उसे अद्भुत सफलता प्राप्त थी । इसी कारण उसके पास लोगोंकी भीड़ लगी रहती थी, जिससे भजन-कीर्तन और भगवान्‌का यशोगान करनेमें बाधा पहुँचती थी । प्रभु-प्रेरणा उसे गऊघाटपर ले आयी ।

गऊघाट सूरदासके लिये सही अर्थोंमें श्रीकृष्णचन्द्रजीकी अपार कृपाका स्रोत बन गया । मधुर पद-रचनाके कारण सूरदासकी ख्याति तो थी ही । उन्हीं दिनों (संवत् १५६०वि० के लगभग) पुष्टिसम्प्रदायके आचार्य महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य व्रजयात्रा करते हुए गऊघाटपर पधारे । सूरदासजी आचार्य महाप्रभुसे मिलनेके लिये उत्सुक थे । श्रीवल्लभने भगवान् श्रीकृष्णके बालस्वरूपकी सेवा-पूजाको नया स्वरूप दिया था और श्रीकृष्ण-उपासकोंमें वे अग्रगण्य थे । सूरदासजीने उनसे पुष्टिमार्गमें दीक्षा ली । महाप्रभुने भी पूर्व-जन्मोंके संस्कारवश श्रीकृष्ण-भक्त सूरको अपनाया और अपने पावन संस्पर्शसे सूरदासके अङ्ग-अङ्गमें भगवद्भक्तिकी रसामृतधारा प्रवाहित कर दी । सूरने महाप्रभुको 'विनय'के पद सुनाये । जिनमें अपनेको 'पतित', 'नमकहरामी' आदि कहा था । आचार्यश्रीने सूरको 'घिघियाना' छोड़कर भगवान्‌की लीलाके पद गानेके लिये प्रेरित किया । बस, तीन-चार दिनके संसर्गसे ही सूरदासके दिव्य चक्षु भगवान्‌की लीलाका दर्शन करने लगे ।

श्रीमद्भागवतका श्रवण करना, नित्य श्रीनाथजीके दर्शनार्थ गोवर्धन जाना और वहाँ जाकर श्रीनाथजीको लीलाके पद सुनाना—यही सूरदासजीका क्रम बन गया । जब वे पहले गोकुलमें रहे तो नवनीतप्रियके दर्शन कर, उनके श्रृङ्गार-का अपने पदोंमें अपूर्व माधुर्यके साथ वर्णन करते थे । भक्तवत्सल अपने भक्तकी वाणीको वही शब्द दे देते, जिनसे उनके अलौकिक स्वरूप और छविका सही-सही वर्णन होता । इस 'चमत्कार'की परीक्षा उस दिन हुई, जब गोसाईं विट्ठलनाथजीके पुत्र गिरधरजीने भगवान्‌का अद्भुत श्रृङ्गार किया, उन्हें वस्त्रोंके स्थानपर बहुमूल्य मोतियोंकी मालाएँ

धारण करायीं और सूरदासजीने भावविभोर हो अश्रु बहाते हुए गाया—

'जलसुत भूषन अंग विराजत, बसन हीन छवि उठत तरंगा।
अंग-अंग प्रति अमित माधुरी, निरख लजित रतिकोटि अनंगा॥'

सूरदासजीपर गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजीकी विशेष कृपा हुई। उन्होंने सूरदासजीको अष्टछापके कवियोंमें प्रथम स्थान प्रदान किया और अन्त समयमें उन्हें 'पुष्टिमार्गका जहाज' शब्दसे सम्बोधित किया। सूरदासजी श्रीनाथजीके आठों दर्शन नित्य किया करते थे। अन्त समयमें वे परासोली गाँवमें चन्द्रसरोवरपर रह रहे थे। मङ्गला-आरतीके दर्शन कर उस दिन सूरदासजी अपनी कुटिया-पर लौट आये। लगभग दस बजे जब शृङ्गारके दर्शन हुए तो श्रीनाथजीका अनन्य गायक मन्दिरके प्राङ्गणमें नहीं था। आज श्रीनाथजीका श्रीमुख भी मानो उदास था। श्रीविट्ठलनाथजीने जब लक्ष्य किया कि सूरदासजी नहीं हैं, तब वे करुण स्वरमें कह उठे—'आज पुष्टिमार्गका जहाज जानेवाला है।' शृङ्गारके दर्शनके पश्चात् राजभोगकी सेवा अर्पित कर गोसाईं विट्ठलनाथजी परासोली पहुँचे। सूरदास श्रीनाथजीके ध्वजका वन्दन कर उसी ओर मुद्रा किये चबूतरेपर अर्धचेतनावस्थामें लेटे थे। श्रीविट्ठलनाथजीके आते ही उनमें मानो प्राणोंका नव-संचार हुआ। उन्होंने चित्तवृत्तिको पूर्णतया एकाग्र कर श्रीनाथजीमें ध्यान लगाया। गोसाईंजीने उनका हाथ अपने हाथमें ले लिया। भक्तको मानो भगवान्का ही सानिध्य मिल गया हो। गोसाईंजीके पहुँचते ही भगवान्की भक्तवत्सलताका कृतज्ञतासे स्मरण कर सूरदासजीने गाया—'देखो जू हरि जूको एक सुभाय।' फिर एक और पद गाकर श्रीवल्लभके प्रति अनन्य दृढ़ भाव प्रकट किया—'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।' और फिर भक्तने इहलीला-संवरण करनेसे पूर्व भक्तवत्सल भगवान्के करुणापूर्ण नेत्र देखे। 'खंजन नैन रूप-रस माते' पद गाते-गाते वे भगवान्के परमधाममें पधार गये। कैसी महती कृपा थी सूरदासजीपर भगवान् श्रीकृष्णकी! आज भी जब उनके पद गाये जाते हैं तो ऐसी अनुभूति होती है, मानो सूरदासजी गा रहे हैं और श्रीकृष्ण कन्हैया प्रेमसे उनका श्रवण कर रहे हैं!

गिरधरकी कृपासे निहाल—मीरा

गोपियोंका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति जैसा अनन्य प्रेम था, वैसा ही राठौर रतनसिंहजीकी इकलौती कन्या मीराका भी था। उसे बाल्यकालसे एक ही रट लगी थी—'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।' (श्रीवल्लभ-चतुःश्लोकी १) एक दिन रतनसिंहजीके प्रासादमें एक संत पधारे। उनके पास भगवान् श्रीकृष्णकी एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति थी। उन्होंने मीराकी उत्सुकता देखकर उसे बाल-सुलभ सरलतासे ही समझाया—'ये वृन्दावनविहारी गिरधरलाल हैं भगवान् श्रीकृष्ण! तू प्रतिदिन प्रेमसे इनकी पूजा किया कर।' शुद्ध और सरल-हृदया मीराबाईको महात्माकी बात बड़ी रुचिकर प्रतीत हुई और वह उसी समयसे भगवान्की पूजा, सेवा, भक्तिमें सलग्न हो गयी। दस वर्षकी उस अबोध बालिकाने सूरदासजीका एक पद भी कण्ठस्थ कर लिया। भगवान्की उस मूर्तिको अपनी शुद्ध भक्तिका अर्घ्य चढ़ाते हुए वह गाती—

'कहा करौं छवि-राशि श्यामघन, लोचन द्वै न अवाऊँ।
ये ते पर ये निमिष 'सूर' सुनु यह दुख काहि सुनाऊँ॥'

गाते-गाते मीरा भाव-विभोर हो जाती, उसे अपनी सुध-बुध न रहती। उसपर घनश्यामका ऐसा रंग चढ़ा कि वह श्याममयी ही हो गयी। भक्तिके इस अबाध प्रवाहमें प्रवहमाना मीरा अब स्वयं भी पद-रचना कर अपने श्यामसुन्दर-को रिझाने लगी। उसका भगवत्प्रेम दिनानुदिन बढ़ता गया।

संवत् १५७३ वि०में जब सीसोदिया-वंशके राजकुमार भोजराजके साथ मीराका विवाह हुआ, तब मीराने अपने ठाकुरजीकी मूर्ति मण्डपमें विराजमान कर दी और श्रीगिरधर गोपालजीके साथ सात फेरे ले लिये। मीराने बादमें गाया भी—

'ऐसे बर को क्या बरूँ जो जन्मै और मर जाय।
बर बरिये गोपालजी म्हारो चुड़लो अमर हो जाय॥'

विवाह हुआ, मीरा ससुराल पहुँची। कुलाचारके अनुसार देव-पूजाका आयोजन हुआ, पर मीराने श्रीकृष्णको छोड़कर और किसीकी पूजा नहीं की। सम्बन्धी रुष्ट हो गये, सास रुष्ट हुई; पर मीराबाईने तो गोपालको वरा था। यही यथार्थ था। पति भोजराजने अन्ततः उसकी प्रसन्नताके लिये राजप्रासादमें ही रणछोड़जीका एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया। मीराकी श्रीकृष्ण-भक्ति बढ़ती गयी। साधु-सङ्गति, भजन-कीर्तन और पद-रचनाद्वारा वह अपने 'साँवरेके'

रंगमें रँगने लगी। विरहाग्नि सताती तो वह विह्वल होकर गाती—

'सूली ऊपर सेज हमारी किस विध सोणा होय।
गगन मँडल पै सेज पिया की, किस विध मिलणा होय॥'

भक्तिका यह अविरल प्रवाह भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे निर्बाध गतिसे चलता रहा। दस वर्ष यों ही बीत गये। उसी समय भोजराजका स्वर्गवास हो गया; परंतु मीराने तो गोपालको वरकर अपना सुहाग अमर कर लिया था।

मीराके दूसरे देवर विक्रमाजीत राजसिंहासनपर बैठे। वे राजोन्मादमे ऐसे बहे कि मीराबाईके रणछोड़-मन्दिरमें साधु-संतोंका आना कठिन हो गया। मीराके भजन-कीर्तनमें बाधा पड़ने लगी। कुल-मर्यादा, लोक-लाजकी दुहाई देकर उन्हे तरह-तरहके कष्ट दिये जाने लगे, पर मीराको तो भगवत्कृपापर पूर्ण विश्वास था। वे जानती थीं कि भगवच्चरणारविन्दकी कृपासे ही गौतम-नारी तर गयी थी, कालियनागका उद्धार हो गया था, भक्त ध्रुव अटल हो गये थे—फिर उसे दुःख कैसा?

उन्हें भगवत्कृपाका पूर्ण आश्रय था। उन्होंने दृढ़तासे गाया—'सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हारो काईं कर लेसी?' मीराका भक्ति-हठ देखकर विक्रमाजीत ईर्ष्याग्निमे जलने लगे। मीराकी भक्ति-परक चेष्टाएँ उन्हे तनिक भी न सुहातीं। अन्तमे उनकी दुष्ट प्रकृतिने मीराकी इहलीला ही समाप्त करनेका दुःसंकल्प किया। एक दिन मीरा जब अपने रणछोड़जीके सम्मुख भाव-विभोर हो नृत्य-कीर्तन कर रही थीं, तभी विक्रमाजीतकी एक विश्वासपात्रा दासी आयी और कृत्रिम मधुरतासे मीरासे बोली—'राणाजीने आपके लिये भगवान्का चरणामृत भेजा है।'

'अहो भगवान्का चरणामृत!' मीरा आनन्दसे मानो पागल हो उठीं। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे विषभरा चाँदीका पात्र हाथमें लिया, मस्तकसे लगाया और हृदयमे अपने साँवरेका ध्यान करते हुए वे बड़े शान्तभावसे उसे पी गयीं। भगवान्के चरणामृतसे बढ़कर और अमृत हो ही क्या सकता है! सचमुच भगवत्कृपासे वह विष मीराबाईके लिये अमृत ही हो गया।

उधर विक्रमाजीतके अत्याचार बढ़ते गये और इधर मीराकी तन्मयता बढ़ती गयी—

'जबसे तुमसे बिछुरे प्रभुजी, कबहुँ न पायो चैन।'

विष पिलाकर भी विक्रमाजीत संतुष्ट नहीं हुए। वे ईर्ष्याकी अग्निमें और अधिक जलने लगे। उनका रहा-सहा विवेक भी नष्ट हो गया। तब उन्होंने मीराके पास एक विषैली नागिनको पिटारीमें रखकर भेजा। अपने कुटिल स्वामीकी आज्ञाका पालन करनेवाली विश्वासघातिनी दासीने एक बार पुनः मीराके निकट जाकर कहा—'बाई! राणाजीने आपके लिये शालग्रामकी मूर्ति भेजी है।'

'प्रभुकी कैसी कृपा है! देवरजीने शालग्राम भेजे हैं। ओह! मेरा बड़ा भाग्य है। लाओ, आज शालग्रामजीको पञ्चामृतसे स्नान कराऊँगी।'

दासीने कुटिलतासे भौंहें सिकोड़कर पिटारी मीराबाईको सौंप दी। मीराबाईने शालग्रामके दर्शनकी उत्सुकताके कारण जल्दीसे पिटारी खोली। उसमें सचमुच शालग्राम-की दिव्य मूर्ति थी। मीराकी आँखोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। वह दासी पश्चात्तापसे गल गयी और मीराके पाँव पकड़-कर क्षमा माँगने लगी। मीराके हृदयमें तो वैरभावका कभी स्वप्नमें भी उद्रेक नहीं हुआ था।

'सदा सहाई' और 'राखे विघ्न हटाय' पदोंसे मीराने भगवदनुग्रहकी महिमा ही बतायी है। अन्तमें एक दिन ऐसा आया कि मीरा सब कुछ छोड़कर अपने प्रियतम गिरिधर नागरकी पावन, आनन्ददायिनी वृन्दावन-भूमिमें आ गयी। प्रेमदिवानी मीरा वृन्दावनकी कुञ्ज-वीथियोंको गुंजायमान करने लगी—'श्यामको निहारि इन आँखिन तें, मीरा भइ बावरी सुबावरी सुबावरी।'

जीवनके अन्तिम चरणमें मीराबाई द्वारका आ गयी थीं। वे प्रभुकी कृपाके लिये उनसे बराबर याचना करती रहीं—

'तुम बिन मेरे और न कोई कृपा रावरि कीजै।'

कहते हैं, संवत् १६३०वि०के लगभग मीराबाई रणछोड़जीके स्वरूपमें विलीन हो गयीं—

नृत्यत नूपुर बाँधिके गावत लै करतार।
देखत ही हरि में मिली तृण-सम गनि संसार॥
मीराको निज लीन किय, नागर नन्द किशोर।
जग प्रतीत हित-नाथ-मुख, रह्यो चुनरी छोर॥

श्रीराधा-माधवके कृपाभाजन जयदेवजी

भगवान् प्रेम-पयोधि हैं, करुणाके सागर हैं। भक्तकी कीर्तिका विस्तार करना और पग-पगपर उसका योग-क्षेम वहन करना उन दयासिन्धुकी 'बान' है। भक्त जयदेवपर तो मानो उनकी अपार कृपा बरस ही गयी थी।

आजसे लगभग छः-सात सौ वर्ष पूर्व जयदेवजीका आविर्भाव बंगालके वीरभूमि जिलेके केन्दुबिल्व ग्राममें हुआ था। वे भारद्वाज-गोत्री श्रीहर्षके वंशज थे। प्रभुने बाल्यकालसे ही उनकी बाँह पकड़ ली। छोटी अवस्थामें ही उनके माता-पिताका स्वर्गवास हो गया। निर्धनताके कारण कष्ट सदा उन्हें घेरे ही रहते, पर भगवदाश्रित तो सांसारिक विपत्तियोंमें भी प्रभुकी अहैतुकी कृपाका दर्शन करता हुआ अपने मार्गपर निर्बाध बढ़ता रहता है। जयदेवजीने परिश्रम करके अच्छा विद्याभ्यास भी कर लिया था। रूखा-सूखा खाकर निरन्तर भगवद्भजनमें लगे रहना उनका स्वभाव बन गया था।

धनके लोभी मनुष्य विपत्तिमे गरीबको दबाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। जयदेवजीके पिताका स्वर्गवास होते ही निरञ्जन नामका एक ब्राह्मण, जो कभी-कभी जयदेवजीके पिताको ऋण दिया करता था, लोभवश जयदेवजीका जीर्ण-शीर्ण मकान हड़पनेकी सोचने लगा। वह उनके पास आकर बोला—'जयदेव! तुम्हारे पिताने ऋण लिया था, उसे चुकाना तुम्हारा कर्तव्य है; पर तुम्हारे पास अतिरिक्त युगल-सरकारकी मूर्तिके और है ही क्या! लो कागजपर सही कर दो और यह टूटा-फूटा मकान मेरे नाम लिखकर ऋणमुक्त हो जाओ।' सांसारिक सम्पत्तिको तो जयदेव भगवद्भजनमे बाधा मानते थे। उन्होंने बड़े हर्षसे कागज लेकर उसपर सही कर दी। ठीक उसी समय निरञ्जनकी कन्या दौड़ी-दौड़ी वहाँ आयी और रोती हुई कहने लगी—'बाबा! घरमें भीषण आग लगी है, जल्दी चलो।' निरञ्जन अब उलटे पैरों दौड़ पड़ा। इस समाचारसे जयदेवजीपर तो मानो दुःखका पहाड़ ही टूट पड़ा। वे निरञ्जनसे भी तीव्र गतिसे दौड़े और सीधे ही उस लोभी ब्राह्मणके जलते घरमे घुस गये। घरमें भगवद्भक्त जयदेवके चरण पड़ते ही अग्नि अदृश्य हो गयी, ऐसा लग रहा था जैसे कुछ हुआ ही न हो। ब्राह्मणका हृदय पलट गया। अपने कुकृत्यके लिये उसने जयदेवजीसे क्षमा माँगी।

इस घटनासे जयदेवजीको पहली बार प्रभुके प्रत्यक्ष अनुग्रह-का साक्षात्कार हुआ। वे प्रेम-विह्वल हो नेत्रोंसे अश्रु बहाने लगे। कुछ ही दिनों बाद वे घर-द्वार छोड़कर प्रभुका गुणगान करते हुए पुरुषोत्तमक्षेत्र पुरीकी ओर चल पड़े। चलते-चलते उन्हें प्यास सताने लगी। दूरतक कहीं जल नहीं मिला। जयदेवजीके पास भगवन्नामका ही सम्बल था। जबतक जिह्वासे श्रीकृष्णका नाम निकलता रहा, वे उन्मत्तभावसे उन्हें पुकारते रहे और चलते गये। अन्तमे पार्थिव शरीर उस ग्रीष्मकी दोपहरीमे निश्चेष्ट होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। कृपा-कटाक्ष-से भक्तको जीवन-दान देनेवाले प्रभु ग्वालेके वेशमें प्रकट हुए और मूर्च्छित जयदेवजीपर पीताम्बरसे हवा करने लगे। इससे उनकी चेतना कुछ-कुछ लौटी। भगवान्ने जयदेवजीको अर्धचेतनावस्थामें ही अमृत-सदृश धारोष्ण दूध पिलाया और अदृश्य हो गये। जयदेवजीको ऐसा लगा मानो हाथमे आया हुआ अमूल्य रत्न निकल गया हो। उनकी समाधि लग गयी। ध्यानावस्थामे उन्हे युगल-सरकारकी मनोहारिणी छविके दर्शन हुए। मन्दस्मित और विशाल नेत्रोंकी मोहिनीने जयदेवजीको ठग लिया। कविताका स्फुरण हुआ और यह छवि उन्होंने पद्यबद्ध कर ली। कृपासिन्धुकी कीर्तिका गुणगान 'गीत-गोविन्द' यहींसे प्रारम्भ हुआ। भगवत्कृपासे अभिभूत हो उन्होंने भगवान्के दसों अवतारोंकी गद्गद कण्ठसे स्तुति की।

पुरी आकर जयदेवजीने भगवान् श्रीजगन्नाथजीके भव्य दर्शनका लाभ उठाया और वहीं एक विरक्तकी भाँति रहने लगे। संन्यासियोंकी तरह वे मधुकरीसे क्षुधा-निवृत्ति करते और कहीं भी वृक्षके नीचे पड़ रहते। यहीं कुछ समय बीतनेपर उन्होंने दैवी आज्ञासे सुदेव नामक ब्राह्मणकी कन्या पद्मावतीसे विवाह किया। वह भी पतिकी तरह ही भगवान्की अपार कृपा-पात्र थी। कुछ समयके बाद पति-पत्नी केन्दुबिल्व लौट आये। घर आकर वे युगल-सरकारकी सेवा-पूजामे इस तरह संलग्न हो गये जैसे गृहस्थका और कोई काम ही न हो।

समय बीतता गया। भक्तिने उन्हे निष्पाप, निष्कपट, सरल स्वभाव और दयालु बना दिया था। इतना दयालु कि अपना अहित करनेवालेका भी वे उपकार ही करते। अहर्निश वे भगवान्के प्रेममें ही निमग्न रहते। उनकी असीम कृपाको बार-बार स्मरण करते हुए वे विरह-व्यथित हो अश्रु बहाते रहते थे। उन्हीं दिनों उन्हे भगवत्कृपाका एक

और भी विलक्षण अनुभव हुआ । 'गीत-गोविन्द'के एक पदकी रचना करते समय जयदेवजी बीचमें रुक गये । पत्नीसे बोले—'आगेका पद सूझ नहीं रहा है । मैं स्नान कर आऊँ, फिर लिखूँगा ।' पत्नी भोजन तैयार करनेमें लगी थी । कुछ ही समय बाद जयदेवजी लौट आये । पत्नीको आश्चर्य हुआ । उसने पूछा—'क्या गङ्गा-स्नान कर आये ?'

'नहीं, बीचमेंसे लौट आया । पदका स्फुरण हुआ, सोचा लिख ही दूँ ।' और उन्होंने पद सम्पूर्ण किया । पत्नीसे जल माँगकर स्नान किया, पूजा की, प्रभुको भोग लगाया और फिर भोजन भी किया । यह सारा कार्य-व्यवहार ऐसा था जैसा पद्मावती नित्य ही देखती थी । भोजनके बाद जयदेवजी शय्यापर लेट गये । पद्मावती प्रसाद पाने लगी ।

कुछ समय और बीता । किसीने कुंडी खटखटायी । द्वार खोला तो पद्मावतीके आश्चर्यका ठिकाना न रहा । 'अरे आप ?' सामने पति जयदेवजी खड़े थे । हाथमें गङ्गाजलकी लुटिया थी । कंधेपर गीली धोती । 'क्या हुआ ?' पत्नीकी व्याकुलता देख उन्होंने पूछा ।

किंचित् घबराकर पद्मावतीने कहा—'आप तो मार्गमेंसे लौट आये थे, आकर पदकी रचना पूरी की थी । मुझसे जल माँगकर स्नान किया, पूजा की, भोजन किया और पलंगपर विश्रामके लिये लेट गये । मैं अभी भोजन करने बैठी ही थी ।' पद्मावतीके नेत्रोंसे अश्रु झरने लगे । जयदेवजी तेजीसे पलंगकी ओर दौड़े, वहाँ कोई न था । केवल वनमाला पड़ी थी । जयदेवजीने उस मालाको हृदय और नेत्रोंसे लगाया । प्रभु-प्रेममें विह्वल हो वे बालकोंकी तरह रो पड़े । वाणी अवरुद्ध हो गयी । पद-रचनाका अवलोकन किया—'पद्मावती ! यह पद तो मेरे मनमें भी आ रहा था, परंतु⋯।' उनकी गद्गद गिरासे वचन नहीं निकल पा रहे थे । प्रभुकी कृपासे उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग रोमाञ्चित थे ।

अब जयदेवजीके लिये केन्दुबिल्वमें रहना असम्भव-सा हो गया । उनकी भक्ति पराकाष्ठाको पहुँच चुकी थी । प्रभुकी कृपाने उन्हें वृन्दावनधामकी ओर आकर्षित किया । वे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी लीला-भूमि वृन्दावनमें आ गये । संस्कारवश जबतक शरीर रहा, वे सपत्नीक भगवान् आनन्द-कन्द करुणाकरकी लीलाओंका प्रत्यक्ष दर्शन कर उन्हींका तन्मयतासे गायन करते हुए वृन्दावनमें रहे ।

लीलापुरुषोत्तमकी कृपासे धन्य हुई सखूबाई

संतोंका कथन है कि देहाभिमान छूटनेसे भगवत्प्राप्ति होती है । देहाध्यास छूटनेका सरल उपाय है—स्वयं कष्ट सहकर भी सबकी सेवा करना और बदलेमें कुछ न चाहना । स्पृहा-रहित होकर पर-सेवा करनेसे भगवान् प्रसन्न होकर सेवकको अपनी कृपासे निहाल कर देते हैं । साध्वी सखूबाई एक ऐसी ही भगवत्कृपापात्र भक्त महिला थीं ।

महाराष्ट्रमें कृष्णानदीके तटपर बसे 'कर्हाड़' गाँवके एक ब्राह्मण-परिवारकी उस कुल-वधू सखूबाईका नियम-धर्म मानो सबको सुख देना ही था । परिवारमें श्वशुर, सास और पति—तीन प्राणी और थे । सखू जितनी सरल, सौम्य और उदारमना थी, उतने ही वे तीनों कलह-प्रिय और कृपण-मन । ऐसा लगता था मानो लोभ, क्रोध और कामने शान्तिको घेर लिया हो । रात-दिन सबकी सेवामें संलग्न रहनेपर भी सखूको सासकी मार ही खानी पड़ती । उसके माता-पिताको अपशब्द कहे जाते । अस्वस्थ होनेपर भी रूखी-सूखी रोटी ही मिलती, वह भी क्षुधा-निवृत्तिके लिये पर्याप्त न होती । पर उसने तो भगवन्नाम-स्मरण और सबमें प्रभुका दर्शन कर उनकी निष्कपट सेवा करना ही अपना एकमात्र धर्म बना लिया था । दिन बीतते गये । सखू ज्यों-ज्यों शारीरिक कष्ट सह रही थी, त्यों-त्यों उसकी भक्ति दृढ होती जा रही थी । उसके मुखपर कभी भी क्रोधका भाव नहीं आता था ।

आषाढ शुक्ला एकादशी समीप आ गयी थी । 'कर्हाड़' गाँवसे होकर यात्रियोंकी टोलियाँ भगवान् विट्ठलनाथके दर्शन-लाभके लिये पण्ढरपुर जा रही थीं । उस दिन जब वह कृष्णा नदीपर जल लेने गयी तो उसके भक्तिसे ओतप्रोत मनमें पण्ढरपुर जाकर भगवान्‌के दर्शन करनेका शुभ संकल्प उदय हुआ । आतङ्कित सखूने सोचा—'यही अवसर सर्वश्रेष्ठ है । इन यात्रियोंके साथ ही पण्ढरपुर प्रस्थान कर अपने प्रभुका दर्शन करूँगी । मेरे तो सर्वस्व वे ही हैं ।'

सब कुछ भूलकर हर्षोन्मत्त हुई वह यात्रियोंके साथ पण्ढरपुरकी ओर बढ चली, पर उसके प्रेमरूप कञ्चनको कुछ देर और तपना शेष था । यह शुभ-यात्रा बीचमें ही रुक गयी । एक पड़ोसिनने सखूकी सासको सूचना दे दी । उस कर्कशाने अपने पुत्रको तुरंत ही सखूको पकड़ लानेके लिये भेज दिया । सखूको निर्दयतापूर्वक घसीटते हुए घर

भगवत्कृपासे कृतकृत्य भक्त

दीन-हितकारीकी धन्नापर कृपा

गङ्गाधरदास एवं श्रियाजीपर कृपा

[पृष्ठ ४७५

भक्त सदन कसाईपर कृपा

[पृष्ठ ४७७

कूर्मदासपर विठोबाका अनुग्रह

[पृष्ठ ४७८

भगवत्कृपासे [illegible]कृत्य भक्त
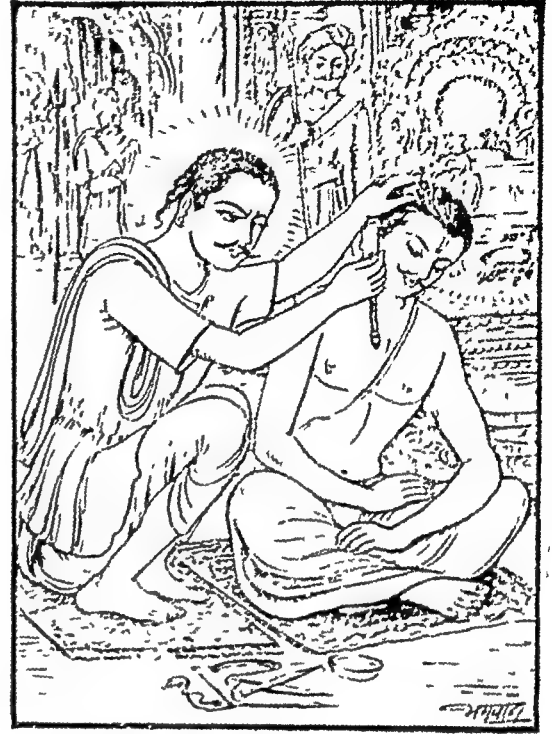
कृपासे कृतार्थ कूबा

[पृष्ठ ४७९

भगवा[illegible]न्द्र सेना नाईके रूपमें

[पृष्ठ ४८०

भगवत्कृपाकी अधिकारिणी करमैतीबाई
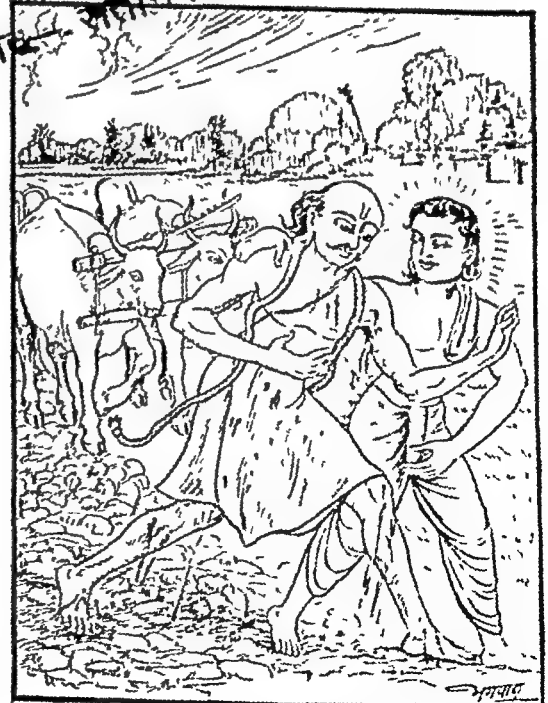
[पृष्ठ ४८१

जोग परमानन्दपर कृपा

[पृष्ठ ४८७

लाया गया, निर्ममतासे पीटा भी गया और बाँध दिया गया। चेतावनी दी गयी—'अब एकादशीतक तू यहीं बँधी रहेगी।' सखूने उन्हें एक शब्द भी नहीं कहा। व्यथित-मनसे वह अपने प्रभुसे कह उठी—'हे नाथ! आप ही मेरे सर्वस्व हैं। आपके दर्शनकी उत्कट अभिलाषा थी, दयासिन्धो! उसे आप ही पूरा कर सकते हैं। मेरा और कौन है, स्वामी? एक बार आपके दर्शन हो जाते तो सुखपूर्वक शरीर त्याग सकती।'

भक्तकी आर्त पुकार सुनकर वे करुणानिधि द्रवित कैसे न होते? अकस्मात् अर्धमूर्च्छित-सी सखूको एक सुन्दर महिलाके सुखद स्पर्श और मधुर वाणीने चकित कर दिया। वह बोली—'सखू! तू मुझे नहीं पहचानती? मैं तेरी सहेली हूँ। मैं तेरे बन्धन खोल देती हूँ और तेरे स्थानपर स्वयं बध जाती हूँ, तू चुपकेसे पण्ढरपुर चली जा।'

'सास क्या कहेगी?'

'कुछ नहीं, तू मेरी बतायी युक्तिसे ही घर लौट आना। तबतक मैं यहाँ बँधी रहूँगी।' लीलापुरुषोत्तमने सखूके वस्त्र पहने और अपने उसे पहनाये। यह स्वाँग पूरा हुआ और सखू मानो पवन-पखपर बैठकर [illegible] पहुँच गयी।

प्रभुको सखूबाईके स्थानपर बँधे हुए पन्द्रह दिन बीत गये। उसके पतिको चिन्ता हुई कि यदि यह अन्न-जलके बिना मर गयी तो हमे हत्या तो लगेगी ही, राज्य-दण्ड भी मिल सकता है। उसने पत्नीरूपधारी प्रभुको मुक्त किया। वे भी सखूकी भाँति ही घरके कार्यमे लग गये। भोजन बनाकर सबको खिलाया। बहूके व्यवहारमे नयापन न होते हुए भी उस दिन रसोईमे सबको अपूर्व स्वादका अनुभव हुआ। कुछ ही दिनोमे सास-श्वशुर एव पति अपना दुर्व्यवहार त्यागकर उसके साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार करने लगे।

इधर प्रभु-कृपाका विलक्षण दृश्य उपस्थित हुआ। सखूबाई पण्ढरपुर न छोड़नेकी प्रतिज्ञा कर निराहार, निर्जला ही प्रभुके ध्यानमे मग्न हो पार्थिव तनको त्यागकर अपने प्रियतम साँवरे प्रभुसे जा मिली। संयोगवश एक ब्राह्मणने उसके शवको पहचानकर अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न करायी।

इधर भगवान् सखूबाईका अभिनय कर रहे थे। श्रीरुक्मिणीजीको चिन्ता हुई, किंतु सखूबाईके अपने घर पहुँचनेसे पूर्व भगवान् श्रीकृष्ण वहाँसे आ कैसे सकते थे। स्वय बँधकर भक्तको मुक्ति देना उनका स्वभाव जो है। अतः रुक्मिणीजीने सखूकी अस्थियाँ समेटकर उनमें पुनः प्राण-संचार कर उसे समझाया कि तेरी पण्ढरपुरसे बाहर न जानेकी प्रतिज्ञा उस शरीरसे थी। अब तेरा शरीर नया हो गया है, तू लौट जा। यह जानकर कि उसके स्थानपर बँधे हुए उसके प्रभु कष्ट उठा रहे हैं, सखूका हृदय दुःखसे भर आया। विठ्ठलनाथकी कृपाका अनुभव कर वह गद्गद हो रो उठी और चल पड़ी मुक्तिदाताको भी मुक्त कराने, उसके पैर मानो पंख हो गये थे।

वह 'करहोड़' जा पहुँची। लीलाधारी भगवान् भी उस समय पानीका घड़ा लेकर कृष्णाके तटपर आये थे। वहीं भक्त और भगवान्का अपूर्व मिलन हुआ। सखूबाईको घड़ा देकर प्रभु तो अन्तर्धान हो गये। पर सखूबाईने मानो पाकर भी सब खो दिया हो, पंथमे लुटे पथिक-सी वह छटपटा-कर रह गयी। लुटी-लुटी-सी घड़ा लेकर वह घर पहुँची और अपने काम-काजमे लग गयी। सास, श्वशुर एवं पतिके व्यवहारमे अप्रत्याशित परिवर्तन देखकर उसने समझ लिया कि यह उन आर्तिहर प्रभुकी ही कृपा है।

कुछ समय बीतनेपर 'किवल' गाँवका वह ब्राह्मण, जिसने पण्ढरपुरमें सखूकी अन्त्येष्टि-क्रिया करवायी थी, वहाँ आया। सखूबाईको सास-श्वशुरकी सेवामें लगी हुई देखकर एक बार तो अपनी आँखोंपर उसे विश्वास नहीं हुआ। उसने सखूके सास-श्वशुरको पण्ढरपुरमें घटित पूरी घटना सुनायी और कहा—'मैंने तो वहाँ इसका मृतक-कर्म कराया था।' सासने पूरे विश्वाससे कहा कि सखूको तो हमने बाँधकर रखा था। वह पण्ढरपुर जा कैसे सकती थी। ब्राह्मण भी कैसे मान लेता? आखिर सखूको बुलाकर पूछा गया। भगवान्की उस सरल-हृदया अनन्य सेविकाने सारी घटना सुना दी।

उसके सास-श्वशुर एवं पतिदेव घोर पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे—'हाय! हम कैसे पापी हैं! जो हमने कृपानाथको ही रस्सोसे बाँधकर रखा।' वे अत्यन्त दुःखी हो प्रलाप करने लगे। सखूके विरोध करनेपर भी वे उसके पैर पकड़कर बोले—'हमे क्षमा करना, देवि! हमने तुम्हे और कृपालु प्रभुको बहुत कष्ट दिये। हे कृपानाथ! आप भी हमे क्षमा करना, हम अज्ञानी हैं।'

सच्चे हृदयसे जो पश्चात्ताप करता है, उसे भगवान् अपनी भक्ति अवश्य प्रदान करते हैं। भक्त और भगवान्की कृपासे वह पूरा परिवार ही श्रीविठ्ठलनाथजीका कृपाभाजन बन गया।

आर्त भक्त ज्योतिपंतपर श्रीगणेश-कृपा

भगवान्ने अपने भक्तोंके चार प्रकार बताये हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
(गीता ७ । १६)

ये चार पुण्यात्मा हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी । ये चारों जो कुछ भी चाहते हैं, केवल भगवान्से ही चाहते हैं । 'आर्त' वे है, जो दुःख पड़नेपर भगवान्का भजन करते हैं । दुःख होता है अभावके अनुभवसे । अभाव चाहे धनका हो, चाहे सतानका, चाहे मान-बड़ाई या विद्याका । किसी भी प्रकारके अभावके अनुभवमे दुःख होगा ही । आर्त भक्तकी एक विशेषता है, उसमे जिज्ञासु और अर्थार्थीकी अपेक्षा अनन्यता शीघ्रतासे उत्पन्न होती है । ज्ञानीको तो भगवान्ने अपना आत्मा ही कहा है । अस्तु,

महाभागवत ज्योतिपंत भी भगवान्के आर्त भक्त थे । महाराष्ट्रके सातारा जिलान्तर्गत 'विरे' ग्राममे गोपालपंत नामक एक निर्धन ब्राह्मणके यहाँ ज्योतिपंतका जन्म हुआ था । इनका जन्म-समय अठारहवी शताब्दी माना जाता है । इनके पिता गोपालपंत शास्त्रके पण्डित थे । वे विद्यार्थियोंको निःस्वार्थ-भावसे विद्याध्ययन कराते और बिना माँगे जो कुछ मिल जाता, उसीमे संतोषपूर्वक निर्वाह करते । ज्योतिपंत उनके एकमात्र पुत्र थे । अतः उन्हें भी विद्यामे पारगत करनेकी उनकी बड़ी प्रबल इच्छा थी । उनकी दृष्टिमे बिना विद्याके तो मनुष्य इस पृथ्वीपर बिना पूँछ-विषाणका पशु है । पर दुर्भाग्य ! बीस वर्षीय ज्योतिपंतके लिये तो अबतक 'काला अक्षर भैंस-बराबर' ही था । पिताने हर सम्भव उपाय किया, पर उन्हे गायत्री-मन्त्रतक याद न करा सके ।

एक दिन पिता बहुत क्रुद्ध हुए । सोचने लगे, वज्र-मूर्ख पुत्रसे तो मैं निःसंतान ही अच्छा था । इस दुःखसे दुःखी होकर उन्होने ज्योतिपंतको बहुत मारा-पीटा तथा घरसे निकाल दिया । उन्होंने कठोर वाणीमे कहा—'विद्योपार्जन कर पण्डित हो जानेके पश्चात् ही घरमे घुसना, अन्यथा यहाँ कदापि न आना ।'

ज्योतिपंत रोते-चिल्लाते ग्रामसे बाहर वनप्रदेशमें आ गये । वहाँ उनके समवयस्क कुछ बालक खेल रहे थे । उनके साथ खेल-कूदमे वे मारकी पीड़ा भूल गये । खेलते-खेलते उनकी दृष्टि उस एकान्त प्रदेशमें बने एक गणेश-मन्दिरपर चली गयी । अनायास बालक ज्योतिपंतने सोचा—'गणेशजी तो विद्यावारिधि हैं, क्यों न इन्हींसे विद्या माँगूँ ।' उन्होंने अपने साथियोंसे कहा—'आओ, सब मिलकर श्रीगणेशजीकी स्तुति करे और इनसे विद्या माँगें ।' बालकोंने सोचा—'इस मूर्खकी बातोंमे क्या मिलेगा ? अपने घर चलो ।' वे उन्हे अकेला छोड़कर ग्राममें वापस जाने लगे तो ज्योतिपंतने सरल हृदयसे कहा—'अच्छा ! तुमलोग आप ही अपना अहित करोगे, मत रुको; पर मेरे कहनेसे एक काम करो, इस मन्दिरके द्वारको बाहरसे लीप-पोतकर बंद कर दो और ग्राममे जाकर मेरे यहाँ रहनेका समाचार किसीसे मत कहना ।' बालकोंने सोचा—'यह मूर्ख है, आज इसे मूर्खताका ही मजा लेने दो ।' बस, उन्होंने पासके पोखरेसे मिट्टी और जल लाकर मन्दिरका द्वार लीप-पोतकर बंद कर दिया ।

ज्योतिपंत गणेशजीके विग्रहके सामने बैठकर नेत्र मूँदे अपनी टूटी-फूटी, किंतु प्रेम-लपेटी वाणीमे उनकी स्तुति करने लगे ।

छः दिन बीत गये । उन आर्त भक्तको निद्रा, क्षुधा, पिपासा आदि किसी भी शारीरिक क्लेशका किंचित् भी भान न हुआ । उधर क्रोध शान्त होनेपर गोपालपंत पश्चात्ताप करने लगे—'हाय ! न जाने वह मूर्ख कहाँ, किस स्थितिमे होगा ?' उनकी पत्नी भी पुत्र-शोकमे व्याकुल हो रोने लगीं । रोते-रोते उसकी आँखें सूज गयीं । छठे दिन गोपालपंतको स्वप्नमे अवढर दानी चन्द्रमौलि भगवान् शिवने आश्वासन दिया—'बालककी चिन्ता मत करो, वह यशस्वी और महान् भगवद्भक्त होगा ।'

उधर सातवे दिन मन्दिर एक अलौकिक प्रकाशसे जगमगा उठा । गजानन गणेश अपने विग्रहसे दिव्य चतुर्भुज रूपमे प्रकट हो गये । उनका दक्षिणहस्त वरद-मुद्रामे था । एक अजस्र कृपाधारा मानो उनके दिव्य शरीरसे प्रवहमान होकर ज्योतिपंतको आप्लावित कर रही थी । भगवान् गणेशका ऐसा दिव्य स्वरूप देखकर वे पुलकित हो उठे । गणेशजीने प्रसन्न होकर कहा—'वत्स ! जो इच्छा हो माँग, मै तेरी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये ही प्रकट हुआ हूँ ।'

ज्योतिपतने निष्कपट भावसे कहा—'महाराज! पहले तो मैं विद्या ही चाहता था, परंतु अब मेरी अभिलाषा तत्त्वज्ञान और भगवान्‌की प्रेमा-भक्ति पानेकी ही है।' गणेशजीने प्रसन्नतापूर्वक कहा—'वत्स! तेरी विद्यामें पारंगत होनेकी अभिलाषा अभी—इसी समय पूर्ण होगी और दूसरा मनोरथ कुछ समय पश्चात् पूरा होगा।' तत्पश्चात् गणेशजीने कृपापूर्वक ज्योतिपंतकी जिह्वापर 'ॐ' लिख दिया और इस प्रकार उसे सम्पूर्ण विद्याका दान कर वे अन्तर्धान हो गये। जानेसे पूर्व उन्होंने कहा—'वत्स! जब तू मेरा प्रेमसे आह्वान करेगा, उसी समय मैं प्रकट हो जाऊँगा।'

अब ज्योतिपंत ग्राममें आये। उन्हें अनायास विद्या-विनयसम्पन्न देखकर माता-पिताके हर्षका पार न था। उनके सखा गणेश-दर्शनसे वञ्चित रहनेके कारण बहुत पछताये।

कालान्तरमें ज्योतिपंतने पूनामें पेशवाके यहाँ प्रधान पदपर कार्य करनेवाले अपने मामा महीपतिके पास नौकरी की। वहाँ भी गणेशजीकी कृपासे उन्होंने कई मासमें पूरा होनेवाले हिसाब-किताब (बही-खाता)को तीन दिनमें पूरा किया और राजासे पुरस्कृत हुए।

तत्त्वज्ञान और प्रेमा-भक्तिकी प्राप्तिके लिये वे भगवत्प्रेरणासे काशी गये। वहाँ गङ्गा-स्नान और मन्त्र-जप करते हुए छः मास बीतनेपर उन्हें भगवान् वेदव्यासने दर्शन दिया और कृपा कर श्रीमद्भागवतकी पावन पोथी भेंट की। तत्पश्चात् ज्योतिपत मणिकर्णिकाघाटपर प्रातःस्नान करके बैठ जाते और सूर्यास्तपर्यन्त भागवत-पारायण करते। इसी स्थितिमें एक दिन इनपर कृपा कर भगवान् शंकरने दर्शन दिया तथा आश्वासन देते हुए कहा—'वत्स! मेरी कृपासे तुम्हें तत्त्वज्ञान और प्रेमा-भक्ति दोनों प्राप्त हो। आज तुम्हारा मनोरथ सफल हुआ। अब अन्य लोगोंको भगवद्भजनमें लगाकर उनका कल्याण करो।' विद्वानोंने श्रीमद्भागवतके साथ उन्हें भी पालकीमें बैठाकर उनकी सम्मान-सवारी निकाली। वे आजीवन भगवद्भक्तिका ही प्रचार करते रहे। संवत् १८४५ वि० मार्गशीर्ष त्रयोदशीको महाभागवत ज्योतिपंतकी इहलीलाका संवरण हुआ। महाराष्ट्रमें उनकी प्रेरणासे निर्मित अनेकों मन्दिर आज भी उनपर हुई श्रीगणेश, श्रीवेदव्यास और भगवान् शंकरकी महती कृपाका पावन स्मरण कराते हैं।

नरहरिपर हरि-हरकी कृपा

कण-कणमें रमण करनेवाले परब्रह्म परमात्माके हरि, हर एवं राम, कृष्ण आदि सगुण रूप निज-जनोंको आनन्द प्रदान करनेके लिये मोहक अभिनय हैं। वे चतुर रसिक हैं, भक्तरूप रसिक दर्शकोंको वे स्वयं एक होते हुए भी लीला-रसास्वादन-हेतु अनेक भेदमय पात्रताएँ दिखा-दिखाकर चकित करते रहते हैं, हैं तो वे अभेद ही—

बहु रस धन रसिकेशके, रमण रास अभिराम।
कहीं शेषशायी बने, कहीं शेषधर नाम॥

रसिकविहारीने कृपाकौतुकवश अपने ऐसे ही भेदमय अभेदस्वरूपका दर्शन देकर अपने भक्त नरहरि सुनारको कृतकृत्य कर दिया। पण्ढरपुरके ये स्वर्णकार भक्त भगवान् शिवके अनन्य उपासक थे। पण्ढरपुर ठहरा विठोबा (श्रीविट्ठलनाथजी)का पावन धाम; पर नरहरिजीको स्वप्नमें भी विट्ठलनाथजीके मन्दिरमें जाना स्वीकार न था। भवसिन्धुका विष पीकर भी निर्मलताका अमृत बाँटनेवाले नरहरिको तो विषपायी भोले धूर्जटि ही प्रिय लगते थे।

एक बार श्रीविट्ठलनाथजीके एक भक्तने भगवद्विग्रहके लिये स्वर्णकी करधनी भेंट करनेका संकल्प किया। पुजारीसे भगवान्‌की कटिका माप लेकर वे नरहरिके पास आये और उन्हें पर्याप्त स्वर्ण देकर करधनी बनानेका कार्य सौंप दिया। उनके अतिरिक्त उन्हें किसी अन्यकी शिल्पचातुरीपर विश्वास न था। भेंटकर्ता जानते थे कि नरहरि शिव-भक्त हैं, इसलिये उन्होंने यह प्रकट नहीं किया कि करधनी श्रीविट्ठलनाथजीके लिये बनवायी जा रही है। नरहरिने बड़े मनोयोगसे अपनी कला-कुशलताका प्रयोग किया। पर उन कृपानाथकी कलाकारी तो अनोखी ही होती है; किस रूपमें वे कैसे और कब कृपा करेंगे, इसे जाननेमें कौन समर्थ है? करधनी तैयार हुई, किंतु चार अङ्गुल बड़ी हो गयी। उन्होंने उसे पुनः सँवारा तो इस बार वह चार अङ्गुल छोटी पड़ गयी। कई बार करधनी बड़ी और छोटी हुई। अन्तमें श्रद्धालु भेंटकर्ताने भेद खोल ही दिया और नरहरिजीसे प्रार्थना की कि 'आप स्वयं ही चलकर श्रीविठोबाकी कटिका माप ले लें।'

अत्यधिक अनुनय-विनयके पश्चात् किसी प्रकार नरहरि अपना प्रण तोड़ श्रीविठोबाके मन्दिरमें जानेको तैयार हुए। विट्ठलदेवजीसे उन्होंने इतनी उपरामता प्रदर्शित की कि अपनी आँखोंपर पट्टीतक बाँध ली और भोले शंकरका ध्यान करते हुए वे मन्दिरमें जा पहुँचे। राजमन्दिरमें आकर जब उन्होंने

भगवद्विग्रहका पुनीत स्पर्श किया तो एक विलक्षण घटना घटी। उन्हें व्याघ्रचर्मधारी भगवान् शिवजीके स्पर्शका ही अनुभव हुआ। सर्पोंकी मालापर नरहरिकी अँगुलियाँ काँपने लगीं। मस्तकपर हाथ गये,तो गङ्गाजीकी अजस्र प्रवाहित धारासे शीतल हो गये। पावन जलसे धुले हाथोंने आगे पाँच मुखोंका स्पर्श-सुख लिया। दस भुजाओंका स्पर्श करते-करते तो उनके रोम-रोममें विद्युत्की लहर-सी दौड़ गयी। प्रसन्नतासे वे चिल्ला उठे—'मेरे भोलानाथ! भोले बाबाकी जय!' और झटकेसे आँखोंपर बँधी पट्टी उतार फेंकी। नेत्र खुले तो वहाँपर पञ्चवदन चन्द्रशेखर नहीं, श्रीविठ्ठलनाथजी विराज रहे थे। लज्जित हो नरहरिने पुनः शीघ्र ही पट्टी आँखोंपर बाँध ली। पुनः उसी विग्रहका स्पर्श हुआ, वही भूलभुलैया, कैसा कौतुक था! शिवजीने फिर अपने मङ्गलमय स्वरूपकी हृदयहारिणी अनुभूति करायी। भक्त किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। तीन बार इसी प्रकार आँखमिचौनी होनेके पश्चात् जब नरहरि कैलासपतिकी कृपाका स्मरण कर भावविह्वल हो अश्रु बहाने लगे, तब भगवत्कृपावश उनके हृदयमें श्रीविट्ठलनाथ और चन्द्रमौलि भगवान् शंकरमें अभेदकी भावना प्रकाशित हो गयी।

अब सम्पूर्ण सृष्टि ही उनके लिये 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' थी। अपने स्वर्णशिल्प-व्यवसायको भी उन्होंने भगवद्भक्तिका रूप दे दिया। उनके कृपा-विभोर अन्तस्तलके भाव मुखरित हो उठे, शब्दोंके स्वरोंमें कीर्तनके गहने गढ़े जाने लगे, एक अभंग (पद्य)में उन्होंने गाया—'मैं आपके नामका व्यवहार करनेवाला स्वर्णकार हूँ। अन्तरात्मा स्वर्ण है। त्रिगुणके साँचेमें मैंने ब्रह्मरस भरा और विवेकके हथौड़ेसे काम-क्रोधका मैल चूर-चूर करके मन-बुद्धिकी कतरनीसे तुम्हारा नाम चुराता रहा। ज्ञानके काँटेसे 'हरि-हर' दोनों अक्षरोंको तौला और थैलीमें रखा। मार्गका यह सम्बल कंधेपर रखकर मैं दुर्गम पथ पार कर गया। हे विट्ठलनाथ! हे महादेव!! मैं नरहरि सुनार रात-दिन आपका ही तो स्मरण करता हूँ।'

कृपा-सुधा-सिन्धुमें गोते लगाते बिल्वमङ्गल

जन्म-जन्मान्तरसे विषय-वासनाओंकी भूल-भुलैयामें भटकते हुए इस जीवपर जब महती भगवत्कृपा होती है, तब इसके चर्मचक्षुओंसे संसार ओझल हो जाता है। दीनवत्सल भगवान् इसे दिव्य चक्षु प्रदान करते हैं और यह करुणासिन्धुकी मनोहारिणी छविका दिव्य दर्शन कर कृतार्थ हो जाता है।

भगवान्‌की ऐसी ही विशिष्ट कृपाके पात्र थे बिल्वमङ्गल। दक्षिण प्रदेशकी कृष्णवेणी नदीके तटपर स्थित एक ग्रामके भगवद्भक्त ब्राह्मण श्रीरामदासजीके यहाँ बिल्वमङ्गलका जन्म हुआ था। आपके पिता भगवान्‌के परम भक्त थे। इसलिये बिल्वमङ्गलकी शिक्षा-दीक्षा भी भक्तिमय वातावरणमें हुई। वे स्वभावसे शान्त, सम्भ्रान्त और भगवत्परायण थे।

किंतु माता-पिताके देहावसानके पश्चात् कुसङ्गके कारण बिल्वमङ्गलके जीवनमें कालुष्य छा गया। बिल्वमङ्गलका धन-वैभव देखकर नीच प्रकृतिके कुछ स्वार्थी मित्रोंने उन्हें घेर लिया। एक बार ग्राममें नदीके उस पार रहनेवाली चिन्तामणि नामक एक वेश्याके नृत्यका आयोजन हुआ। मित्रोंके कहनेसे बिल्वमङ्गल भी उस नृत्यको देखने गये। वे उस वेश्याके रूपपर आसक्त हो गये। रज (महान्) पवनके साथ आकाश छूती है और (नीच) जलके साथ मिलकर कीच बन जाती है। संस्कारी ब्राह्मण-युवक कुलकी लाज, मान-मर्यादा, धन-वैभव सब कुछ भूलकर चिन्तामणिके दास हो गये।

बिल्वमङ्गल अब न रात देखते, न दिन; न पर्व, न त्योहार। प्रायः हर समय वे चिन्तामणिके कोठेपर ही बैठे रहते। काम-लोलुपताने बिल्वमङ्गलको विवेकहीन बना दिया था। एक बार उनके पिताका श्राद्ध था। घरमें विद्वान् ब्राह्मण आमन्त्रित थे; परंतु बिल्वमङ्गलका मन तो चिन्तामणिके चिन्तनमें लगा था। श्रद्धावान् पिताका पुत्र श्रद्धाविहीन हो गया था। पिताका श्राद्ध जिस-किसी प्रकारसे सम्पन्न कर वे नदी-पार जानेके लिये तैयार हो गये। उस रात तूफानसे नदी मानो उफन रही थी, पर कामान्ध बिल्वमङ्गलको तो केवल चिन्तामणिका रूप-लावण्य ही दिखायी दे रहा था। मल्लाहोंने नाव खोलनेसे इन्कार कर दिया। बिल्वमङ्गल जीवनकी परवाह न करते हुए, तैरकर पार जानेके लिये नदीमें कूद पड़े। उन्होंने नदीमें बहते एक शवको काष्ठ समझकर पकड़ लिया। गहन अँधेरी रात, सनसन करती डरावनी हवा। बिल्वमङ्गल किसी प्रकार नदी पार कर कौंधती बिजलीके प्रकाशमें चिन्तामणिके द्वारपर आ पहुँचे। उन्होंने चिन्तामणिको आवाज दी, पर ऐसे डरावने और तूफानी वातावरणमें वह उनकी आवाज कहाँ सुनती। फिर, चिन्तामणिको पता था कि 'आज उनके पिताका श्राद्ध है, इसलिये वे नहीं आयेंगे।' अतः वह दरवाजा बंद करके सो गयी थी।

पर बिल्वमङ्गलने ऊपर पहुँचकर किवाड़ोंपर एक जोरका धक्का मारा। सहसा डरकर चिन्तामणि चीख उठी, फिर

विल्वमङ्गलको खड़ा देख वह आश्चर्यमें पड़ गयी—'अरे! तुम ऐसी भयंकर रातमें यहाँ कैसे पहुँचे? ऊपर कैसे आये विल्वमङ्गल?'

वह कामलोलुप युवक हँसा—'अरे, इसमें क्या कठिनाई थी, वह देखो, छज्जेपर जो मोटा रस्सा बँधा है, उसीके सहारे ऊपर आ गया और सुनो चिन्तामणि! तुम्हारे लिये आज मैंने भयंकर नदी एक काष्ठके सहारे तैरकर पार की।'

फटी हुई आँखोंसे चिन्तामणि उन्हे देख रही थी, उसे विश्वास न हुआ। 'कैसा रस्सा? मैंने तो कोई रस्सा नहीं लटकाया। दिखाओ तो विल्वमङ्गल!' दोनों साथ-साथ छज्जेपर आये। दीपके प्रकाशमें छज्जेसे लटके हुए एक विशालकाय अजगरको देखकर चिन्तामणि भयसे चिल्ला उठी—'अरे! तुम इस अजगरके सहारे ऊपर आये?' विल्वमङ्गल भी अपनेपर विश्वास न कर सके। तभी चिन्तामणिने कहा—'दिखाओ तो सही, वह काष्ठ कहाँ है, जिसके सहारे तुम तैरकर आये हो?'

अब दोनों नदी-तटपर आये। बिजलीकी चमकमें चिन्तामणिने देखा, नदी-तटपर एक फूला हुआ दुर्गन्धयुक्त शव पड़ा था। सहसा वह रोषभरे स्वरमें बोली—'धिक्कार है तुम्हें, विल्वमङ्गल! मुझे पानेके लिये तुमने मुर्देको नाव और विषैले सर्पको सीढ़ी बनायी! तुम सचमुच कामान्ध हो। इतनी ही आसक्ति यदि तुम श्यामसुन्दरमें करते तो नदीके स्थानपर आज भवसागर पार हो जाते। छिः, छिः, जाओ! जैसे आये हो, वैसे ही लौट जाओ। तुम्हारे इस कुकृत्यने आज मुझे अपने जीवनके प्रति भी घृणासे भर दिया है।'

क्षण भर तो विल्वमङ्गल निश्चेष्ट खड़े रहे। अचानक उनके हृदयमें पिछले संस्कार जगे, कर्तव्यकी बिजली कौंधी। तूफान शान्त हो गया, ज्ञानका प्रकाश फैलने लगा। उन्होंने चिन्तामणिको गुरु माना और उसके पैर पकड़ लिये—'माता! आज तुमने मेरी आँखे खोल दी हैं। मेरा इतना जीवन श्यामसुन्दरकी आराधनाके बिना व्यर्थ ही गया।' पश्चात्तापके आँसुओंसे उनका हृदय निर्मल हो गया था, उसमें भगवान् श्यामसुन्दर आकर विराज गये।

उनकी मधुर मुरली सुननेके लिये, उनकी हृदयहारिणी झाँकीके लिये अब विल्वमङ्गल जगह-जगह भटकने लगे। वे सब कुछ भूल गये।

कुछ समय ऐसी ही उन्मत्त अवस्थामें बीता, पर मनका कलुष अभी पूरी तरह धुला नहीं था। एक दिन मार्ग चलते विल्वमङ्गलकी दृष्टि एक अत्यन्त रूपवती युवतीपर पड़ गयी। वे फिर भटक गये। उसके रूपमें बँधे पैर उन्हें उस युवतीके घरतक ले आये। युवती घरमें चली गयी। विल्वमङ्गल द्वारपर ही बैठ गये। थोड़ी देर पश्चात् ही गृहस्वामी उधर आये। एक सीधे-सादे-से दीखनेवाले व्यक्तिको बैठा देखकर उन्होंने उससे घरके द्वार-पर बैठनेका कारण पूछा। विल्वमङ्गल सर्वथा दुराचारी तो थे नहीं, उन्होंने सत्य बता दिया। गृहस्वामीने सोचा—'यदि ब्राह्मण मेरी पत्नीका सौन्दर्य एक बार निगाह भरकर देख भी लेगा तो क्या बिगड जायगा?' उन्होने विल्वमङ्गलसे कहा—'मैं आपकी अभिलाषा पूरी करके ही आपको द्वारसे लौटाऊँगा।' वे भीतर चले गये। विल्वमङ्गलके हृदयपर जैसे कोई आघात हुआ, वे सँभले। उन्होंने तुरंत ही पासके बेल-वृक्षसे दो काँटे तोड़ लिये। इसी बीच गृहपति अपनी पत्नीके साथ आये। उन्होंने सुना—'हे अभागी आँखो! तुम्हारे कारण ही आज पुनः मेरा यह पतन हुआ है।' और विल्वमङ्गलने दोनों काँटे अपनी आँखोंमें चुभो लिये। रक्तकी धार बह चली। गृहस्थके हृदयमें बड़ा शोक हुआ, पर विल्वमङ्गल श्यामसुन्दरको पुकारते, हर्षसे नाचते हुए अपनी राह चल पड़े, मानो उन्हें कुछ कष्ट ही न हुआ हो। वास्तवमें आज उनके चर्मचक्षु नष्ट हो गये थे और उनके स्थानपर प्रभु-कृपासे उन्हे मिल गये थे दिव्यचक्षु।

विल्वमङ्गल अपने मुरलीमनोहरको ढूँढ़ते रहे—ढूँढते ही रहे। न भूखका पता है, न प्यासका; न अपना पता है, न पन्थका। मुखसे 'कृष्ण-कृष्ण'की ध्वनि निकल रही है और विल्वमङ्गल ग्राम-ग्राम, वन-वन श्यामसुन्दरकी छविके पीछे मतवाले-से फिर रहे हैं।

ऐसे ही भटकते-भटकते भक्त विल्वमङ्गलका बहुत समय बीत गया। भूखे-प्यासे विल्वमङ्गलके पास एक दिन सहसा एक बालकका मधुर स्वर गूँज उठा—'सूरदास बाबा! तुम बहुत भूखे जान पड़ते हो। लो, मैं तुम्हारे लिये रोटी लाया हूँ।'

ऐसी मधुर वाणी विल्वमङ्गलने पहले कभी नहीं सुनी थी। उन्होंने नन्हे बालकका कोमल हाथ पकड़ लिया।

स्पर्शसे ही उसके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये वे उसे टटोलने लगे—'तुम्हारा नाम क्या है ? तुम कहाँ रहते हो ? अरे ! तुम्हारे हाथमें यह छोटी-सी लकुटी कैसी है ? तुम क्या करते हो ?' अंधी आँखें भी एक विचित्र हर्षसे फैलने लगी थीं । मधुर वाणीसे यह बालक बोला—'बाबा ! मेरा गाँव पास ही है, जो जिस नामसे पुकारता है, उसी नामसे मैं बोल पड़ता हूँ और मेरा काम भी साधारण है, गायें चराता हूँ, बाबा ! अच्छा, लो पहले यह रोटी खा लो । मैं तुम्हें नित्य रोटी दे जाया करूँगा ।' बिल्वमङ्गलके हाथमें रोटी थी और बालकका स्वर श्रवणातीत हो चुका था ।

ऐसी मधुर रोटी बिल्वमङ्गलने पहले कभी न खायी थी । बालककी एक-एक बात उनके हृदयमें मानो अमृत घोलने लगी । कैसे विलक्षण कृपालु हैं वे प्रभु ! वे करुणासिन्धु गोप-बालकके रूपमें नित्य आते और वन-प्रदेशके एकान्तमें बैठे बिल्वमङ्गलको देव-दुर्लभ प्रसाद देकर अदृश्य हो जाते । जबतक वह बालक रोटी लेकर नहीं आता, बिल्वमङ्गल छटपटाते रहते । इसी तरह कुछ समय बीता । बालककी मधुर-मधुर बातोंसे उन्हें अनुराग हो गया । वे हर समय उसीका चिन्तन करते थे । गलेकी वनमाला, हाथकी लकुटिया, कोमल-कोमल नन्हे हाथ, अमृत-सी मीठी वाणी । बिल्वमङ्गल उसीके ध्यानमें मग्न रहने लगे । एक दिन फिर उन्हें कुछ चेत हुआ । मनको धिक्कारते हुए अपने-आपसे कहने लगे—'अरे मूढ़ ! पहले वेश्यामें अनुरक्त हुआ, फिर उस युवतीके रूपपर भौंरा बनकर उड़ चला और अब यह बालक—अब तुझे यह बालक श्यामसुन्दरसे दूर ले चला है ।' तभी बिल्वमङ्गलको उस बालककी मनोमोहिनी वाणी सुन पड़ी—'अरे बाबा ! आज किस सोचमें बैठे हो ?'

तभी आँख खोलकर बिल्वमङ्गल बोले—'ओह ! तू है, मैं तुम्हें बतलाना भूल गया था । अब आगे प्यारे श्यामसुन्दरके पास वृन्दावन ही क्यों न चला चलूँ' और पेड़की छायासे उठ खड़े हुए ।

'आज रोटी नहीं खाओगे, बाबा ?'

'रोटी ?—नहीं मेरे कुँवर ! अब तो वृन्दावनमें ही प्रसाद लूँगा ।'

'तो चलो, मैं तुम्हें वृन्दावन ले चलूँ ।'

'चल !' बिल्वमङ्गल हँसते हुए उठे और मधुर वाणीसे बोले—'मैं तो अंधा ठहरा ! ले चल ! बड़ी कृपा होगी, तुम्हारी लाठी कहाँ है ! लाओ, लाठी मुझे पकड़ा दो और ले चलो वृन्दावन !' बिल्वमङ्गलने लाठी पकड़ ली । भक्त और भगवान् चल पड़े ।

भक्त बेसुध और भगवान् अन्तर्यामी ! कुछ ही दूर चलनेके पश्चात् वह गोपकिशोर बोला—'बाबा ! वृन्दावन आ गया । मैं अब चलूँ ?' आश्चर्यचकित बिल्वमङ्गलने बालकका हाथ पकड़ लिया । उनके दिव्य हाथका स्पर्श करते ही एक साथ बिल्वमङ्गलके शरीरमें दिव्य प्रकाश दौड़ गया । चक्षुओंको दिव्य ज्योति मिली और उनके सामने मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरकी भव्य मोहिनी मूर्ति थी । नेत्रोंसे आँसुओंकी गङ्गा-यमुनाकी धार बह चली । बिल्वमङ्गलने भगवान्‌का हाथ और भी कसकर पकड़ लिया और बोले—'अब कैसे छोड़ूँ नन्दनन्दन ! बहुत खोजा है, बहुत खोजा है ।' प्रभुके नेत्रोंसे भी प्रेमाश्रु गिरने लगे । भगवान्‌का कोमल स्पर्श पाकर बिल्वमङ्गलके नेत्र सचमुच ज्योतिर्मय हो गये थे । दोनोंने एक-दूसरेको हृदयसे लगा लिया, दोनों तन्मय थे, अभिन्न थे ।

व्रजाधिपतिके अनन्य कृपा-पात्र भक्त रसखान

प्रभुकी जब असीम कृपा होती है, तब इस संसारी जीवको सत्सङ्ग प्राप्त होता है । सत्सङ्गसे जन्म-जन्मान्तरके पापोंका नाश हो जाता है, भगवान्‌में अनन्य-भक्तिका उद्भव होता है और यह जीव सदाके लिये भगवान्‌के अनन्त, दिव्य प्रेम-साम्राज्यका ही एक अङ्ग हो जाता है ।

भगवान् वृन्दावनविहारीके परम भक्त रसखान दिल्लीके बादशाही-वंशसे सम्बन्धित थे । उनके किसी प्रकारका लौकिक अभाव नहीं था । वे स्वभावसे उदार और संत-सेवी थे । एक बार उन्होंने भागवत-कथाका श्रद्धापूर्वक श्रवण किया । वहाँ श्यामसुन्दरका चित्र देखकर वे उनकी अतुलित छवि और रूप-माधुरीपर आसक्त हो गये । श्रवणेन्द्रियोंसे ही तो संसार हमारे भीतर आकर घुस गया है, इसलिये भगवन्नामोंका श्रवण करके ही संसारको निकाला जा सकता है । संसार हृदयसे निकला कि भगवान्‌को सिंहासन मिला ।

भक्त रसखानने कथा-व्याससे भगवान् श्यामसुन्दरके मिलनेका ठिकाना पूछा। उन्होंने रसखानजीकी बातपर विशेष गम्भीरतासे विचार नहीं किया और साधारण रीतिसे कह दिया—'अरे वृन्दावन जाओ, पठान!' पर रसखान तो भगवत्प्रेमका अमृत-रस चख रहे थे। उनका सासारिक अनुराग पारमार्थिक अनुरागमे बदलने लगा।

भगवान् श्रीकृष्णके रूप-माधुर्यके प्रेमी रसखान वृन्दावनके लिये चल पड़े। श्रीमद्भागवतका फारसी अनुवाद सुननेके पश्चात्से ही वे गोपी-प्रेमका पुनः-पुनः चिन्तन करते हुए एक विचित्र सुखानुभूतिका अनुभव कर रहे थे। बाँकेविहारीकी मनोहारिणी झाँकीने उनका चित्त चुरा लिया था। राज-वैभव छोड़कर वे लीलाभूमि वृन्दावनमें आ गये।

वृन्दावनकी तो रज ही मनकी मलिनताका नाश कर हृदयमे भगवद्भक्तिका स्फुरण करनेवाली है। रसखान वहाँ सर्वत्र ही भगवान् श्रीकृष्णकी चित्त चुरानेवाली छविको खोयी हुई अमूल्य निधिकी भाँति ढूँढ़ रहे थे। उन्हें कदम्बकी छायामे वेणु-वादकके दर्शन होते, कुञ्ज-लताओंके बीच राधा-कृष्णकी रास-लीलाका दर्शन होता, यमुना-पुलिन-पर भी उन्हींकी जलक्रीड़ाका दिव्य दृश्य दिखायी देता, गौ-बछड़ोंके बीच वे काली-कमली और लकुटिया धारण किये दीखते, दूध-माखनकी मटकियोंके पीछे भी उन माखन-चोरके चपल नयन और दधि-लिपटा मुख दिखायी देता, और तो और, मयूर, हंस, सारस, तोते आदि पक्षियोंके कलरवमे भी उन्हीं श्यामसुन्दरकी मधुर ध्वनि सुनायी देती। उनके लिये वृन्दावनका कोना-कोना उन्ही आनन्दघन कृपासिन्धु भगवान् श्रीकृष्णकी अनुपम छविसे ही ओतप्रोत था।

ऐसी भाव-भूमिमे विचरण करते हुए रसखान गोवर्धन (जतीपुरा) श्रीनाथजीके दर्शन करने पहुँचे। श्रीकृष्णके प्रति उनके आत्मनिवेदनके भावको न पहचाननेके कारण मन्दिरके द्वारपालने उन्हे सिंहद्वारसे ही बलपूर्वक हटा दिया। भगवान्-की कृपा अनन्त होती है। उनका वास तो भक्तके हृदयमे होता ही है। रसखानजीने सोचा—'कोई पूर्वजन्मका पाप है, जो श्रीनाथजीके दर्शनका लाभ नहीं मिला।' पर इसीसे उन्होंने संतोष नहीं कर लिया। वे मन्दिरके बाहर ही डेरा डालकर पड़ गये। अन्न-जल त्यागकर वे प्रेमाश्रु बहाते हुए केवल व्रजाधिपतिका अनन्य भावसे स्मरण करने लगे। उन्हें पूर्ण विश्वास था—'अहीरको लाड़लो छैल' मेरी पीर अवश्य मिटायेगा।

भगवान्मे भक्तके दृढ़ विश्वासको मिटानेकी शक्ति नहीं है। श्रीनाथजीने चौथे दिन ही उन्हे अपने दिव्य स्वरूपसे साक्षात् दर्शन दिया। साँवली सूरतपर मोरपिच्छका मुकुट, उन्नत ललाटपर केसरका तिलक, ग्रीवामे मणियोंका हार, **'मुक्तामाल श्याम उर ऊपर मनु फूले बनराय'**, बाहोंमें रत्नजटित बाजूबंद, हाथमें प्राणप्यारी बाँसुरी, पीताम्बरकी मनोहारिणी छवि और पगोंमे ब्रह्मनाद करते नूपुर, अधरोंमे स्मितकी रेखा और नयनोंसे झरते भक्तानुरागी प्रभुके दिव्य अश्रु देख भक्त-हृदयका विरह-ताप सदाके लिये शान्त हो गया। रसखान धन्य हो गये। उसके पश्चात् ही गोसाईं श्रीविठ्ठलनाथजी महाराजने उन्हें गोविन्दकुण्डमे स्नान कराया और ब्रह्म-सम्बन्ध (पुष्टिमार्गीय दीक्षा) दे दिया। अब तो रसखानजी इस अद्भुत भगवत्कृपासे निहाल हो गये। उन्हे भगवान् श्रीकृष्णकी सेवाका अधिकार मिल गया। भगवान्की प्रेमभरी भक्त-मनोमल-हारिणी लीलाओंका उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन होने लगा। वे प्रेमामृतमे डूबकर मधुर भाषामें भगवान् श्रीकृष्णका यशोगान करने लगे। व्रजराज ही उनके सखा, स्नेही, सम्बन्धी, स्वजन—सर्वस्व थे।

पैंतालीस वर्षकी अल्प आयुमे ही रसखानजीने परमधाम-की यात्रा की। प्रसिद्ध है, भगवान्के परम कृपापात्र इस भक्तने जब ससार छोड़ा तो स्वयं भक्तवत्सल राधारमणजीने उन्हे दर्शन दिये। रसखानने अपनी अन्तिम अभिलाषा प्रभुके चरणोंमे निवेदित की—'हे कृपानाथ! मनुष्य-जन्म फिर मिले तो व्रजके गाँवोंसे बाहर न भेजना, पशु बनूँ तो व्रजकी गौओंमे रहूँ, पत्थर बनूँ तो इसी गोवर्धन पर्वतका, वृक्ष बनूँ तो वही कदम्ब, जिसकी छाया आपको अत्यन्त प्रिय है, पक्षी बनूँ तो भी व्रजमे यमुना-किनारेके तरुओंपर मेरा निवास हो।' कहा जाता है, अपने ऐसे विलक्षण प्रेमीकी अन्त्येष्टि-क्रिया भी श्यामसुन्दरने अपने हाथों की। भगवान्की कृपासे रसखान उन्हींके हो गये और उनकी भक्तिसे भगवान् श्रीकृष्णको अपना विरद अक्षुण्ण रखनेका सुयश मिल गया—ऐसा सुयश जिसे गा-गाकर आज भी अनेकों जीव उनकी कृपाका सौभाग्य पा जाते हैं।

प्रेमनिधिपर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा

शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और सांसारिक पदार्थमात्र, जिन्हें संसारी लोग अपना मानते हैं, भक्त उन सबको परमात्माका मानता है। उसकी प्रत्येक क्रिया भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये पूजारूपसे ही होती है। उसका भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य कहीं राग नहीं होता। प्रेमके अगाध उदधि भगवान् ही तो प्रेम करने योग्य हैं।

प्रभुकी सेवामें कभी भी प्रमाद न करना, सोते-जागते, उठते-बैठते उन्हीं 'कामकोटि छबि स्यामसरीरा'की रूप-माधुरीका रस पान करना भक्त प्रेमनिधिके जीवनका श्रेय, प्रेय और सर्वस्व था।

प्रेमनिधिने अपने प्रभुके स्नान-पानके लिये सूर्योदयसे पूर्व ही यमुना-स्नान करके गागरमें पावन यमुना-जल ले आनेका नियम बना रखा था। यमुनाजी भगवान् श्रीकृष्णकी पटरानी हैं। उनके जलसे वे बहुत आनन्दित होते हैं—इसी भावनासे प्रेमनिधिने यह व्रत लिया था। नित्य यमुना-जलसे प्रभुका जलपात्र भरे बिना उन्हें अपना जीवन ही अधूरा लगता था।

समय बीतता गया। वर्षा-ऋतुकी एक रात्रिके दूसरे प्रहरसे मूसलधार जल बरसना आरम्भ हो गया। घोर अन्धकारमें बिजली कौंधती तो भयसे छाती काँप जाती। अरुणोदयसे पूर्व प्रेमनिधि जाग तो पड़े, किंतु कभी बुद्धि कहती कि इतने कीचड़में कैसे यमुना पहुँचोगे? और कभी भावुक भक्त-हृदय कहता—'चलो प्रेमनिधि! अपने प्यारे श्रीकृष्णकी सेवामें प्रमाद करना ठीक नहीं। यमुना मैया आप ही राह दिखायेंगी'—अन्तमें भक्तको हृदयकी ही बात माननी पड़ी।

कीचड़से लथपथ मार्गमें लड़खड़ाते हुए प्रेमनिधि बढ़ चले। ऊपरसे वर्षाका वेग, बिजलीकी कड़कड़ाहट, पवन-प्रेरित बूँदें मानो चपत लगा रही थीं। उसी समय एक दस-बारह वर्षका बालक मशाल लिये यमुनाजीकी ओर जाता हुआ दिखायी पड़ा। प्रेमनिधिको थोड़ा प्रकाशका सहारा मिला। बालकको राजपथका मशालची समझ वे उसके पीछे चलते हुए यमुना-तटपर पहुँच गये। मशालचीका अब कहीं पता न था। प्रेमनिधिने सोचा कि 'वह अपने रास्ते गया होगा'; पर यमुना-जलसे गागर भरकर जब वे लौटे, तब कुछ ही पग चलनेपर वैसा ही एक मशालची फिर उनके आगे चलने लगा। घरके द्वारतक सुखपूर्वक आकर वे ठिठके। एक दृष्टि मशालचीपर डालनेके लिये वे मुड़े, पर वहाँ न मशालची था, न प्रकाश। अँधेरा-ही-अँधेरा, किंतु अन्तरात्मामें अरुणोदय हो चुका था। वे विह्वल हो उठे, 'हे गोपाल! तुम कैसे कृपायतन हो, नयन-भर दर्शन भी नहीं करने दिये और अन्तर्धान हो गये!' ऐसा कहते हुए वे विलाप करने लगे। वे प्रभुकी सेवा करते जाते और प्रेमाश्रु भी बहाते जाते।

इस घटनासे उनकी सेवा और भक्तिभावनामें और भी निखार आ गया था। अब तो उन्हें उस रासेश्वरके नित्य, सर्वदा अपने अत्यन्त समीप होनेकी अनुभूति होने लगी।

भागवत-कथाका समय बढ़ाकर प्रेमनिधि प्रभुकी लीलाका अधिक गायन करने लगे। कथामें अब मानो विशेष रसानुभूति एवं रस-वर्षा होने लगी थी। प्रभुकी लीलाओंका गुणानुवाद वे ऐसी विलक्षण मधुरतासे करते थे, मानो उनका गोपाल मयूर-पिच्छका मुकुट धारण किये मुखपर चपल भङ्गिमाओंसहित कहीं पास ही खड़ा बातें कर रहा हो। श्रोतागण भी आनन्द-उदधिमें डूबने लगे। उनकी संख्या प्रतिदिन बढ़ने लगी। प्रेमनिधिके कथामृत-वर्षणकी ख्यातिका विस्तार होने लगा। महिलाएँ भी उसका पान करने अधिकतासे आने लगीं।

यह देखा गया है कि भगवद्भक्त जब संसारसे विमुख होकर पूर्णतया ईश्वरोन्मुख हो जाता है, तब उसे प्रायः संसारसे तिरस्कार, लाञ्छन, अपमान और निन्दाका पुरस्कार भी मिलने लगता है; पर इससे उसकी भक्तिकी दृढ़तामें कमी थोड़े ही आती है। सोना तो आगमें तपकर और भी निखर उठता है।

उस समय यवन-शासन था। कुछ ईर्ष्यालु लोगोंसे भक्तका बढ़ता हुआ यश देखा न गया। षड्यन्त्र रचा गया। प्रेमनिधिपर अनेक स्त्रियोंको कथाके बहाने अपने पास बुलाने और उनके साथ सांसारिक प्रेम-वासनामें फँसे रहनेका दूषित आरोप लगाया गया। प्रभुता-मदसे उन्मत्त शासकने उन्हें कारागारमें डालनेका आदेश दिया। एक दिन प्रेमनिधि अपने कन्हैयाके लिये यमुना-जल लेने जा रहे थे कि क्रूर सिपाही घरमें घुस आये और उनका हाथ पकड़कर खींचने लगे।

जलपात्र प्रभु-विग्रहके सम्मुख ही ढुलक गया । वे प्रेमनिधिको बाँधकर ले चले । प्रेमनिधि तो प्रत्येक क्रियाको प्रभुका ही विधान मानते थे, अतः किसीके प्रति भी उनके मनमे द्वेषकी भावना कैसे उत्पन्न हो सकती ।

कारागारकी कोठरीमे पड़े-पड़े वे सोचने लगे—'हाय ! मैं कैसा अधम जीव हूँ, जो आज अपने नन्दलालको प्यासा ही छोड आया ? धिक्कार है मुझे, अब मेरे नन्दलालको यमुना-जल कौन पिलायेगा ?'

समय क्षणोंको पीता जा रहा था, किंतु प्रेमनिधिकी विरह-प्यास बढ रही थी । ऐसी स्थिति थी, मानो पपीहेकी चञ्चुमे गिरनेसे पूर्व स्वातिबिन्दु किसीने बीचमे ही पी लिया हो । भक्तको तो अपने प्रभुका वियोग सहन होता ही नहीं, पर करुणाकरको भी अपने भक्तका वियोग कब सहन होता है !

उसी रात यवन-शासकने स्वप्नमे देखा कि बालक-रूपमे श्रीकृष्ण असहाय-से खडे रोनी सूरत बनाकर कह रहे हैं—'मोए बड़ी प्यास लगी है, अरे अत्यारी, तोने मोकूं नेक जमुना जल भी पीवे नांय दिओ ।' बालककी मोहिनी सूरतने यवनराजपर जादू-सा कर दिया था । स्वप्नमे ही वह गागरमे बडे यत्नपूर्वक यमुना-जल लाया और उसे प्रभुको अर्पित किया, किंतु वे छिटककर दूर खड़े हो गये और उपालम्भभरे स्वरमे कहने लगे—'ना, ना ! मैं तेरे हाथको जल नांय पीऊँ ! मेरे प्यारेको तो तोने बन्दीगृहमें डार दीन्हों है । मैं तो वाइके हाथको जल पीऊँगो ।' स्वप्न-लीला समाप्त हुई ।

भयसे काँपता हुआ यवन-शासक उसी समय कारागारकी ओर दौड़ा । अपने हाथोंसे ही प्रेमनिधिकी कोठरीका ताला खोलकर वह उनके चरणोपर गिर पड़ा—'क्षमा करना महाराज !'—उसका कण्ठ आर्द्र था—'मैंने झूठी शिकायतोंको सच मानकर आपको व्यर्थ कष्ट दिया । आप शीघ्र अपने घर जाइये । आपके प्यारे कन्हैया प्यासे बैठे हैं ।' आगे वह कुछ बोल न सका । उसकी वाणी पश्चात्तापसे अवरुद्ध हो गयी थी ।

प्रेमनिधिको रात्रिके उसी क्षण उनके घर पहुँचाया गया । प्रेमनिधिजी भी घरसे गागर उठाकर अविलम्ब यमुना-तटपर जा पहुँचे । स्नान किया । यमुना-जलसे गागर भरी और आकर अपने नन्दनन्दन गिरिधर गोपालको शीतल यमुना-जल अर्पित किया । भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य विग्रहपर उस समय एक अनोखी तृप्ति झलक रही थी । अखिल ब्रह्माण्डको तृप्त करनेवाले प्रभु कृपावश आज प्रेमी भक्त प्रेम-निधिसे जल-ग्रहण कर तृप्तिका अनुभव कर रहे थे । कैसे कृपायतन हैं वे श्रीहरि !

दीन-हितकारी भगवान्‌की धन्नापर कृपा

भगवान् न तो जाति देखते हैं, न धन, न रूप, न वय, न बल; बस, वे तो सच्ची भावनाके ही भूखे हैं। उनकी तो एक ही प्रतिज्ञा है—

'भक्त हमारो पग धरै, तहाँ धरौं मैं हाथ ।
लारे लागो ही फिरूँ, कबहूँ न छोड़ौं साथ ॥'

जाट-परिवारका धन्ना तब पाँच वर्षका अबोध शिशु था । उसके घर एक ईश्वर-भक्त ब्राह्मण पधारे । ब्राह्मणने स्वय कुएँसे जल भरा, स्नान किया और फिर वे श्रद्धासे भगवान् शालग्रामकी पूजा करने लगे । बालक धन्ना अपरिचित ब्राह्मणकी सभी चेष्टाओंको पूरे मनोयोगसे देखकर अपने हृदय-पटलपर उतार रहा था—ब्राह्मणदेवने शालग्रामको स्नान कराया, चन्दन लगाया, तुलसीदल अर्पित किये, तत्पश्चात् धूप दिखाकर नैवेद्य अर्पण किया और फिर उन्होंने प्रेमपूर्वक चरणामृत पान किया । पूजा समाप्त हुई । बाल-सुलभ उत्सुकतासे धन्नाने पूछा—'बाबा ! क्या ये आपके भगवान् हैं ?'

'हाँ, बेटा !'

'तो इन्हे मुझे दे दीजिये न !' धन्नाने हठ किया—'मैं भी भगवान्‌की पूजा करूँगा ।'

ब्राह्मणदेवता बालकको शालग्राम कैसे दे देते ? पर धन्नाका हठ सीमा पार कर जब रुदनमे बदल गया, तब उन्हे एक युक्ति सूझी । उन्होंने झोपड़ीके बाहरसे ही एक काले पत्थरका टुकड़ा उठाया और धन्नाको दे दिया—'ले, बेटा ! ये ही तेरे भगवान् हैं ।' रोने-धोनेमे बालक धन्ना यह नहीं देख पाया कि ब्राह्मणने झोलीमेसे भगवान्‌की मूर्ति दी है अथवा बाहरसे पत्थरका टुकड़ा उठाया है । बच्चेको बहकाकर ब्राह्मण चलते बने । धन्नाको क्या पता था कि करुणा-सागर भगवान् तो कण-कणमे व्याप्त है और प्रेमसे प्रकट होते हैं । धन्ना तो उस शिलाखण्डकी पूजा-अर्चामें तुरंत सलग्न हो गया । जैसा उसने ब्राह्मणको करते देखा था, वैसा ही किया । पर तुलसीदल तो था नहीं, उसने पाससे नीमकी पत्तियाँ ही एकत्रकर प्रभुको अर्पित कर दीं ।

सूखे तृण जलाकर धूप दिखा दी और माँने मोटी-मोटी बाजरेकी रोटियाँ सेंककर दी थीं, उनको पूरी श्रद्धासे नैवेद्य-रूपमें अर्पित कर दिया। अब आँखें मूँदकर वह अबोध बालक ध्यानकी मुद्रामें बैठ गया। मनमें अपूर्व प्रसन्नता थी कि अब भगवान् आयेंगे और प्रसाद पायेंगे।

पर समय बीतते-बीतते उसकी प्रसन्नता उदासीमें बदल गयी। भगवान् नहीं आये। हताश बालकने सोचा, 'कोई मेरी ही भूल होगी—कल सही, कल तो आयेंगे भगवान्!' रोटी उसने भी नहीं खायी और माताकी आँख बचाकर उसे खेतमें डाल आया। इसी तरह एक दिन और बीता, दो दिन बीते, तीन दिन बीते। बालक और भी अधिक मनोयोगसे अपने भगवान्‌की पूजा करता और फिर निराश होकर जंगलमें रोटी डाल आता। पहले दिनकी रोटियाँ जब वहाँ नहीं मिलतीं, तब बालक धन्ना सोचता—'सम्भव है, भगवान् यहीं आकर खा जाते हैं चुपचाप।' पर उसका तो प्रण था कि 'जबतक भगवान् मेरेद्वारा अर्पित रोटी मेरे हाथसे नहीं खायेंगे, तबतक मैं भी अन्न ग्रहण नहीं करूँगा।'

घरमें किसीको इस रहस्यका पता नहीं चला। भक्तका धैर्य नहीं टूटा; परंतु भक्तवत्सलका धैर्य टूट गया। करुणासिन्धुका हृदय पिघल गया और एक दिन वे धन्नाके सम्मुख प्रकट हो गये। बाजरेकी रोटियाँ उस दधिचोरको मक्खन-मिश्रीसे भी कहीं अधिक मधुर लगीं। तब धन्नाने उपालम्भ देते हुए उनका हाथ पकड़ लिया—'क्यों, इतने दिनतक तो मुझे भूखों मारा और आज आये हो तो सारी ही रोटियोंपर हाथ साफ करने लगे?' भक्तवत्सलने धन्नाके लिये शेष रोटियाँ छोड़ दीं और एक पत्ता खाकर ही विश्वको तृप्त करनेवाले वे कृपासिन्धु अदृश्य हो गये। यह भक्त-भगवान्‌की लीला अब नित्य चलने लगी। किसीको भी इस बातका पता न चला। उधर धन्ना भगवान्‌के प्रेमका रस पान कर उन्मत्त हो नाचने लगा। उसके मुखपर अलौकिक तेज छा गया, वाणीमें माधुर्य भर आया और शनैः-शनैः वह पूजाका पूरा विधि-विधान सीख गया।

कालान्तरमें किशोरावस्था पार करते-करते धन्ना प्रभुप्रेरणासे काशी गया। वहाँ संत रामानन्दजीने उसे कृपापूर्वक 'मन्त्र' दिया। तदनन्तर जब वह अपने गाँव लौटा तो लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये घरके काम-काजमें भी प्रेमसे हाथ बँटाने लगा।

एक बार ऐसी घटना घटी कि धन्ना पिताकी आज्ञासे खेतमें बीज डालने जा रहा था। पर मार्गमें साधुमण्डलीके दर्शन हुए तो वह बड़ी प्रसन्नतासे वहीं सत्सङ्ग करने लगा। जब उसे ज्ञात हुआ, साधुगण क्षुधार्त हैं तो धन्नाने अपना सारा गेहूँ (बीज) उन्हें भेंट कर दिया।

साधु अपनी राह चले गये और धन्ना अपनी धुनमें भगवन्नाम जपते हुए खेतपर पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसे स्मरण हुआ कि 'गेहूँ तो महात्माओंको दे दिया, अब बीज काहेका डालूँ।' बिना सोचे-विचारे उसने खेत उसी प्रकार जोत दिया, जैसे बीज बोते समय जोता जाता है और अपनी कुटियापर लौट आया। पितासे आँखें चुराता रहा, पर भगवान्‌को तो अपने भक्तकी 'चोरी'का पता था।

चार-पाँच दिन बाद गाँवमें यह चर्चा होने लगी कि 'इस बार जाटके खेतमें तो बड़ी जोरदार फसल आयी है।' धन्ना इस चर्चाको सुनकर सहम जाता। उसकी समझमें नहीं आया कि जब बीज ही नहीं डाला तो फसल कैसे उग आयी? सम्भवतः ग्रामीण उसके पितापर व्यङ्ग कस रहे हैं। जब सब ओर यही चर्चा होने लगी तो एक दिन धन्ना सायंकालके झुटपुटेमें स्वयं खेतपर पहुँचा। सचमुच गेहूँके पौधे जोरसे फूट पड़े थे। उसे अपनी आँखोंपर विश्वास नहीं हुआ।

धन्ना प्रभु-कृपाका साक्षात् चमत्कार देखकर प्रेममें पागल हुआ नृत्य कर उठा। भला, जिसपर भगवान्‌की ऐसी कृपा हो, वह अपनी सुध-बुध क्यों न खो बैठेगा?

गङ्गाधरदासपर अगाध कृपा

भगवान्‌को स्वामी, सखा, मित्र, पुत्र आदि जिस सम्बन्ध, भाव, रूप अथवा प्रकारसे याद किया जाता है, वे कृपापूर्वक उसीको मानकर भक्तके समीप उपस्थित हो उसे कृतार्थ करते हैं। हनुमान्‌जीके स्वामी, सुदामाके सखा, अर्जुनके सारथि और इसी प्रकार माता कौसल्या, देवकी एवं यशोदाके पुत्र बनकर उन्होंने अपने प्यारे भक्तोंके प्रति अगाध स्नेहका परिचय दिया।

इस कलियुगमें भी भगवान्‌ने अपने भक्त गङ्गाधरदासपर ऐसी ही कृपाकी वर्षा की थी। गङ्गाधरदास राजा प्रतापरुद्रके समयमें पुरुषोत्तम-क्षेत्रके गोविन्दपुर नामक ग्रामके निवासी थे। वे और उनकी धर्मपत्नी श्रियाजी—दोनों ही भगवान्‌के अनन्य उपासक थे। दिन-रात भगवान्‌का नाम-स्मरण-जप करते हुए संतोषपूर्वक दिन कट रहे थे, परंतु

जब वृद्धावस्थाने आकर द्वार खटखटाया तो श्रियाजीको थोड़ी लौकिक चिन्ता भी हुई। वे निःसंतान थीं। दूसरोंके बच्चोंको देखकर ही वे प्रसन्न होतीं, उनका लाड़-दुलार भी मातृवत् ही करतीं, पर ग्रामकी अन्य पुत्रवती युवतियाँ श्रेष्ठताके अभिमानसे उन्हें भाँति-भाँतिके ताने मारा करती थीं। कभी-कभी किसीकी कटूक्तिपूर्ण वाणी सरल हृदयमे चुभ जाया करती है। ऐसे ही एक अवसरपर श्रियाजी अत्यन्त अधीर होकर अपने पतिसे कहने लगीं—'आप किसी दरिद्र बालकको ही गोद ले लीजिये अथवा किसी बालकका यज्ञोपवीत और विवाह करा दीजिये—किसी प्रकार कुछ तो इस वृद्धावस्थामे मनको संतोष हो।'

गङ्गाधरदासजीने भार्याको समझाया कि सच्चा संतोष तो हरि-भजनमे ही है। संतान होनेसे सांसारिक मोह-मायामे ही फँसना पड़ेगा। इस सत्परामर्शसे श्रियाजीका नारी-हृदय संतुष्ट नहीं हुआ। गङ्गाधरदासजी पत्नीको सान्त्वना देकर बाजार चले गये। घर लौटे तो उनकी गोदमें एक अत्यन्त सुन्दर अर्चा-विग्रह था। वे उसे एक शिशुके समान ही सार-सँभालके साथ गोदमे ला रहे थे।

उनकी मुद्रापर ऐसी ही प्रसन्नता थी, जैसे वे अपने ही आत्मजको कहींसे ढूँढ़ लाये हों। घर आकर पत्नीसे बोले—'देवि! लो, यह तुम्हारा पुत्र है। इसकी सेवामे अब किसी प्रकारकी कोर-कसर न रखना। यही हमारे बुढ़ापेकी लाठी होगा। इसीसे हमारा कल्याण होगा। सुपुत्र जैसे पिता-माताकी सारी कामनाएँ पूर्ण करता है, वैसे ही यह बालक हमारी समस्त कामनाओंको पूर्ण करेगा, यहाँतक कि परलोकमें भी हमारा हाथ नहीं छोड़ेगा।'

उस भक्त-दम्पतिने सुन्दर सिंहासनपर अपने 'लाला'को विराजमान किया। वे अपने शरीरसे भी अधिक उसकी सुविधाका ध्यान रखते। उत्तम-से-उत्तम भोजन-वस्त्र अर्पित करते। समयसे शयन कराते, पंखा डुलाते, उष्ण जलसे स्नान कराते, ग्राममे खिलौने बिकने आते तो अपने लालाके लिये खरीदते। श्रियाजी अपने लालाको कभी गोदमे बैठातीं, कभी प्यारसे चुम्बन करतीं, कभी स्तान-पान करानेका 'अभिनय' करतीं। उनकी प्रसन्नता सम्भवतः कोख-जनित-बालक पाकर भी इस सीमाको नहीं छू पाती। चौबीस घंटे लालाके चिन्तन और उसे सुख पहुँचानेमे ही वे पति-पत्नी अपनेको धन्य मानने लगे। कैसा आत्म-विश्वास! कैसी प्रसन्नता! कैसा पुत्रवत् स्नेह! कैसा उदार वात्सल्य!

कुछ समय बाद गङ्गाधरदास कमानेके लिये बाहर गये, पर 'लाला'का वियोग उनसे सहन नहीं हुआ। वे शीघ्र ही बहुत-से फल, मिठाई और रेशमी वस्त्र लेकर गोविन्दपुर लौट चले। मुखपर श्रीकृष्णका नाम था और पैरोंमे उतावलापन। दैवयोगसे वे ग्राममे पहुँचते-पहुँचते ठोकर खाकर गिर पड़े और श्रीकृष्ण-नाम जपते-जपते ही गोलोक-वासी हो गये।

ग्रामवासियोंने करुणावश यह समाचार श्रियाजीको सुनाया। वे शोकातुर हो अपने पुत्रके आगे जाकर बोलीं—'तू ही बता, बेटा! अब मैं क्या करूँ? हे बंशीधर! तू तो हमारे बुढ़ापेका सहारा बना था। तूने हमारी रक्षाका भार अपने ऊपर लिया और तेरे ही पिता यों मार्गमे गिरकर गोलोक सिधार गये।' उनकी करुण पुकार सुन वात्सल्यके भूखे कृपानिधि बोल उठे—'अरी मैया! तू क्यों विलाप करै है? मेरो बाबा तो थक कै सोय रह्यो है। जा तो, तू वाय सँभाल जगाके लै आ।' श्रियाजी यह दिव्य वाणी सुनकर आश्वस्त हुईं। वे दौड़ी-दौड़ी पतिके पास पहुँचीं। साध्वी नारीकी भाँति ही उन्होंने चरण-स्पर्श कर उन्हे उठाया। भगवत्कृपासे गङ्गाधरदास अपने लाला श्रीकृष्णका नामोच्चारण करते हुए उठ बैठे।

घर आकर दोनों पति-पत्नी अपने लालासे और भी अधिक लाड़ लड़ाने लगे, परंतु यह संसारी जीव कभी-कभी भूलवश घरमे धन-धान्यकी वृद्धिको ही भगवत्कृपा मान बैठता है। ऐसी ही मोह-मायामे फँसकर एक दिन गङ्गाधरदास अपने लालासे कहने लगे—'ओ, मैया कृष्ण! तेरा एक क्षणका भी वियोग मुझसे सहन नहीं होता। फिर भी यह पेट बड़ा पापी है। इसके लिये कभी-कभी व्यापारके चक्करमे तुझसे दूर जाना ही पड़ता है।' प्रभुकी इच्छा-अनिच्छाकी चिन्ता न कर गङ्गाधरदासने घरसे जानेकी तैयारी की। भगवान्ने देखा—भक्त मेरा वियोग सहन न करनेकी बात बनाकर मुझे छोड़े जा रहा है। बस, वे यों कहते-कहते अन्तर्धान हो गये—'पिताजी! आप चिन्ता न करें। आपका घर धन-धान्यसे भर जायगा। जिसके मेरे-जैसा पुत्र हो, उसे अभाव नहीं सता सकते।' भगवान्की वाणी अमोघ होती है। गङ्गाधरदासका घर धनधान्यसम्पन्न तो हुआ, पर सिंहासन तत्काल सूना हो गया।

अब तो दम्पतिकी बुद्धि ठिकाने आ गयी। श्रीकृष्ण-वियोगकी वेदनासे वे तड़पने लगे—'हा वत्स! तेरे बिना यह जीवन व्यर्थ है। तनिक-से लोभने मुझे प्राणप्यारेसे विलग कर दिया। हा कृष्ण! हा कृष्ण! तुम कहाँ गये, बेटा!' विलापका अन्त ही नहीं हो रहा था। ओठोंमें कृष्ण-नामकी और आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग गयी। गङ्गाधरदासने अपने प्यारे 'लाला'के वियोगमें प्राण त्याग दिये। प्रातःकाल पति-परायणा श्रियादेवीने घरकी सारी सामग्री दान कर दी और चिता बनाकर पतिके शवके साथ ही 'कृष्ण-कृष्ण' उच्चारण करते हुए परम शान्तभावसे सती हो गयीं।

प्रसिद्ध है, वहाँ उपस्थित ग्रामवासियोंने एक दिव्य प्रकाश देखा और चितासे निकली दो दिव्य ज्योति-धाराएँ उस महान् ज्योतिमें विलीन हो गयीं। करुणानिधान श्रीभगवान् स्वयं विमानपर पधारे और अपनेमें वात्सल्यभाव रखनेवाले भक्त-दम्पतिको गोलोक ले गये।

भक्त सदन कसाईपर कृपा

'महाभारत'में धर्मव्याधकी कथा पढ़नेको मिलती है। पैतृक व्यवसायके रूपमें उन्हें कसाईका कर्म मिला था, परंतु थे वे पूर्णतः ईश्वर-परायण।

कलियुगमें भी बहुत समय पहले भक्त सदन हुए हैं, वे भी जन्मसे कसाई थे; किंतु उन्होंने स्वयं किसी जीवका वध नहीं किया। वे दूसरे कसाइयोंसे मांस खरीद लेते और अपनी दूकानपर तौलकर बेच देते। इस कार्य-व्यापारको भी वे यन्त्रवत् ही करते, रुचिके साथ नहीं। पारिवारिक व्यवसायके रूपमें केवल जीविकोपार्जनके लिये। पूर्वजन्मके संस्कारवश सारा व्यवहार करते हुए भी उनका मन निरन्तर श्रीहरिके चरणोंमें ही रमा रहता। इनकी जिह्वासे अविकल 'हरि-हरि'का ही जप होता रहता।

भगवान्‌की प्रतिज्ञा है, जहाँ उनका नाम-कीर्तन होता है, वहाँ वे सदैव प्रसन्नमुद्रामें विराजमान रहते हैं। सदनके पास भी शालग्राम विराजमान थे, पर सरल-हृदय भक्त भगवान्‌की उपस्थितिका रहस्य जानते न थे। वे तो उस शालग्राम-शिलाको बाट मानकर उससे मांस तौलते थे।

एक बार एक साधु अकस्मात् उधरसे निकले, उनकी श्रद्धापूर्ण दृष्टिने शालग्रामके स्वरूपको पहचाना। 'मांस-विक्रेताके तराजूका बाट? प्रभु शालग्रामका यह उपयोग? छिः! छिः!!' घृणासे उनका मुख बिचक गया। उन्होंने सदनसे शालग्राम-शिलाकी माँग की। सदनने सोचा—'एक पत्थरके टुकड़ेसे साधु प्रसन्न होते हैं तो मेरा अहोभाग्य! मैं दूसरा पत्थर तराजूमें रख लूँगा।' सदनने साधुको शालग्राम दे दिया।

पर भगवान् भक्तका पार्थक्य कैसे सहते? साधुने शालग्रामकी पूजा की, भोग लगाया, पूरे विधि-विधानका पालन किया। पूजा करने और कसाईके यहाँसे शालग्रामके 'उद्धार'की भावनाके अहंकारसे वे अपनेको महान् समझ बैठे; पर भगवान् तो विधि-विधानसे कहीं अधिक भावनाके भूखे हैं। अहंकारी उपासकसे उन्हें प्रसन्नता नहीं होती, वे तो सरल सहृदय भक्तके प्रेमपर आठ-आठ आँसू बहाकर उसके ही आगे-पीछे फिरते हैं।

उसी रात साधुको स्वप्न हुआ। भगवान्‌ने कहा—'मुझे सदनके ही यहाँ पहुँचा दो। उसके कीर्तनको सुन-सुनकर मेरा रोम-रोम पुलकित होता था। उसका स्पर्श मुझे सुखद शीतल जान पड़ता था। मेरा मन यहाँ बिल्कुल नहीं रमता। मुझे अपने भक्त सदनके पास ही वापस ले चलो।' साधु भय और ग्लानिसे अपनेको धिक्कारने लगे। स्वप्नकी बात सुनाते हुए उन्होंने शालग्राम वापस सदनको भेंट कर दिये तथा सदनके भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उनके दर्शनसे अपने आपको कृतकृत्य माना। प्रभुकी इस कृपाका वृत्तान्त सुनकर सदन भी प्रभुके प्रेममें निमग्न हो गये। वे रो-रोकर प्रभुसे अपने दुर्व्यवहारकी क्षमा माँगने लगे। उन्होंने अपने घृणित व्यवसायको तिलाञ्जलि दे दी और पुरुषोत्तमक्षेत्र पुरीकी यात्रापर चल पड़े।

जगन्नाथपुरी अभी दूर थी। मार्गमें दैवयोगसे सदन एक गृहस्थके यहाँ रात्रि व्यतीत करनेकी दृष्टिसे ठहर गये। हृदयमें हरिनाम था और थी भगवान्‌का दर्शन पानेकी उत्कट इच्छा। उस छोटे परिवारमें पति-पत्नी दो ही प्राणी थे। सदनका स्वस्थ शरीर तथा रूप-यौवन देखकर उस घरकी मालकिन उनपर आसक्त हो गयी। रात्रिके अन्धकारमें वह इनके कक्षमें आयी और अपनी वासना शान्त करनेकी कुचेष्टा करने लगी। सच्चा भक्त प्रपञ्चमें कैसे फँस सकता है? सदनजीने दीनतासे कहा—

'माताजी ! मैं आपका पुत्र हूँ, मुझे क्षमा कीजिये । मैं अभी अपनी यात्रापर चला जाता हूँ ।' उस कुलटाने समझा कि यह मेरे पतिके कारण डर रहा है, अतः उसने बाहर आकर सोते हुए अपने पतिका सिर काट डाला और पुनः सदनके पास आकर काम-याचना करने लगी—'देखो यात्री ! अब इस घरमें मेरे और तुम्हारे अतिरिक्त कोई अन्य नहीं है । मैंने अपने पतिको भी यमलोक भेज दिया है, हमें डरनेकी कोई आवश्यकता नहीं ।' वह सदनकी ओर बढ़ने लगी; पर भक्त सदनपर इसका क्या प्रभाव होता । हताश हो वह पिशाचिनी द्वारपर बैठकर रोने लगी—'हाय ! इस यात्रीने मेरे पतिकी हत्या कर दी और अब मुझे पाप-गर्तमें ढकेलना चाहता है ।'

ग्रामवासी इकट्ठे हो गये । भक्त सदनके मुखपर न पश्चात्ताप था, न शोक । भगवान् और उनकी कृपामयी लीलाको स्मरण करते हुए वे मौन रहे । अन्तमें उन्हें न्यायाधीशके सम्मुख उपस्थित होना पड़ा । वहाँ भी वे हरि-स्मरणमें ही अनुरक्त रहे । वाणी संसारकी ओरसे मौन हो गयी थी । दण्ड मिला । दोनों हाथ काटकर उन्हें नगरीसे निकाल दिया गया ।

प्रभुकी लीलाका गुणगान करते हुए वे पुरीकी ओर चल पड़े । प्रभुका अनुग्रह भी अनेक बार बड़ा रहस्यमय होता है । जगन्नाथपुरीके पुजारीको स्वप्नमें आदेश हुआ कि 'मेरा एक प्रिय भक्त आ रहा है । उसके हाथ कटे हुए हैं । उसे सम्मानपूर्वक ले आओ ।'

मन्दिरके लोग सदनके पास पहुँचे और उनसे पालकीमें बैठनेका आग्रह करने लगे । सदनकी समझमें कुछ भी न आ रहा था । 'एक स्थानपर तो हाथ काट लिये गये, दूसरे स्थानपर पालकी आ रही है । जिन भक्तवत्सलको मेरा इतना ध्यान है, उन्हें क्या हाथ कटनेका पता न होगा ?' सोचते-सोचते वे प्रभुके ध्यानमें बेसुध हो गये । भक्तलोग उन्हें पालकीमें बैठाकर पुरीकी ओर बढ़ते जा रहे थे ।

जगन्नाथपुरी पहुँचकर जब सदनने भगवान्‌को दण्डवत्-प्रणाम किया और उनका नाम-कीर्तन करनेके लिये उन्मत्त हो जैसे ही उन्होंने भुजाएँ ऊपर उठायीं, उनके हाथ पूर्ववत् हो गये और वे 'हरि हरि बोल, बोल हरि बोल'के मधुर स्वरके साथ नृत्य करने लगे । नाम-स्मरण करते-करते ही उन्हें कब निद्रा आ गयी, पता नहीं चला । मनमें एक ऊहापोह उठा था कि 'भगवन् ! मेरे हाथ किस अपराधके कारण कटे थे ?' पर यह वृत्ति आकर चली गयी थी । अन्तर्यामी प्रभुसे तो हमारी कोई वृत्ति छिपी नहीं है । निद्रामग्न सदनको स्वप्न हुआ—'पूर्वजन्ममें तुम एक सदाचारी ब्राह्मण थे । एक कसाई गायके पीछे दौड़ रहा था । तुमने दोनों भुजाएँ गायके कण्ठमें डालकर उसे रोक दिया । इस जन्ममें वही कसाई उस स्त्रीका पति बना । गाय ही उस स्त्रीके रूपमें जन्मी और पूर्व-जन्मका बदला लेनेके लिये उसने उसका गला काटा । तुमने भुजाओंसे गायको रोकी थी, इस अपराधसे तुम्हारे हाथ कटे ।' प्रभुने स्वप्नमें दर्शन दिया । भक्तका समाधान हुआ । अब तो भक्त सदन हर समय भगवान्‌की रूप-माधुरीका ही दिव्य दर्शन करने लगे ।

कालान्तरमें उन्होंने भगवान् जगन्नाथजीके चरणोंमें ही यह नश्वर शरीर त्यागकर परमधामकी यात्रा की । भगवान्‌ने अनुग्रह कर उन्हें इस जीवनमें भी साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ किया था ।

भक्त कूर्मदासपर विठोबाका विशेष अनुग्रह

महात्माओंसे सुना गया है कि कृपासिन्धु भगवान् गृहस्थ या संन्यासीको नहीं, अपितु भक्तिमान्‌को मिलते हैं । 'कृपा-सिन्धु जन हित तनुधारी ।' भक्त वे हैं, जो हर समय अपने प्यारे श्यामसुन्दरका स्मरण करते हैं, उन्हें अपना मानते हैं; निरन्तर उनके ही ध्यानमें डूबे रहते हैं । भक्त कूर्मदास ऐसे ही भक्तोंमेंसे एक थे ।

महाराष्ट्रके पैठण नगरमें कूर्मदासका जन्म एक सद्‌गृहस्थ ब्राह्मणके यहाँ हुआ था । ये संत श्रीज्ञानदेवके समकालीन थे । जन्मसे ये कर-पाद-विहीन थे । सम्भवतः इसी कारण इन्हें कूर्मदासकी संज्ञा प्राप्त हुई हो । माता-पिताने ऐसे बालकको भी प्रभुका प्रसाद मानकर उसे पूरी ममतासे पाला-पोसा । विशेषकर माताके स्नेहने कूर्मदासको हीन भावनासे ग्रस्त होनेसे बचाया । पर माता-पिताकी छाया भी उनपर अधिक समयतक न रह सकी ।

सम्भवतः उनमें अपनी शारीरिक असमर्थताके कारण ही भगवान् विठोबा (विट्ठलनाथ)की भक्तिका संचार हुआ । आयु बढनेके साथ-साथ शरीर भी वृद्धिको प्राप्त हुआ और बालक कूर्मदास कच्छपकी भाँति ही रेंग-रेंगकर इधर-उधर आने-जाने लगे । कुटिल जन उनकी असमर्थतापर हँसते और उदार पुरुष उनकी भक्ति-भावनाके लिये

उनकी सराहना करते; परंतु सच्चे भगवद्भक्तकी तरह कूर्मदास न तो उपहास करनेवालोंकी निन्दा करते, न अपनी प्रशंसा सुनकर कोई अभिमान ही करते। जहाँ भी भगवच्चर्चा होती, धीरे-धीरे रेंगकर वे वहाँ पहुँच जाते। उन्हें भगवान् विट्ठलनाथकी भक्तिके आगे अपना शारीरिक कष्ट भूल जाता। जो मिल जाता, वे उससे ही उदर-पूर्ति कर संतोष कर लेते।

संयोगकी बात, एक बार पैठणमें एक संस्कारी भक्तके यहाँ श्रीहरि-कथाका आयोजन हुआ। संत-महात्माओंके दर्शनसे कूर्मदासको एक विशेष प्रकारका आनन्द मिलता था। वे रेंगते-रेंगते वहाँ पहुँच गये, जहाँ आयोजन था। कथा-वाचक महोदयने अनेक दृष्टान्तों और आख्यानोंके द्वारा पण्ढरपुरकी आषाढ़ी-कार्तिकी-यात्रा और विठोबाके पुण्य-दर्शनका माहात्म्य सुनाया। शुद्ध-हृदय कूर्मदास इसके श्रवणमात्रसे विठोबाकी कृपाका स्मरण कर भक्तिभावसे रोने लगे। मन-ही-मन उन्होंने कार्तिकी एकादशीको पण्ढरपुर पहुँचकर विठोबाके दर्शनका दृढ़ संकल्प कर लिया। शारीरिक असमर्थतासे तनिक भी विचलित हुए विना उन्होंने तुरंत यात्रा आरम्भ कर दी।

कार्तिकी एकादशीके अभी चार मास थे और कूर्मदास दिनभरमें कठिनाईसे एक कोस ही रास्ता तय कर पाते। पर उन्हें विश्वास था कि अपने भक्तका दुलार रखनेके लिये जिन द्वारकाधीशने डाकोर पहुँचकर भक्तको दर्शन दिये थे, वे ही मेरा भी व्रत निभायेंगे। उनकी निष्ठामें कोई कमी न आयी। रास्तेमें कहीं भोजन मिल जाता तो ग्रहण कर लेते, अन्यथा भगवत्स्मरणमें तल्लीन हुए यात्रा करते। किसीने उन्हें बैलगाड़ीपर बैठानेका प्रस्ताव भी नहीं रखा; पर भगवद्भक्त संसारकी आशा ही कब करता है? उनके तो सर्वस्व वे ही कृपासिन्धु भक्तवत्सल नारायण होते हैं। चार मासतक रात-दिन विट्ठलनाथमें लौ लगाये कूर्मदास 'लहुल' गाँवतक ही पहुँच पाये। उस दिन दशमी थी। भगवान्‌की लीलाभूमि पण्ढरपुर अभी सात कोस दूर थी। एक दिनमें सात कोस? असम्भव था कूर्मदासके लिये; किंतु प्रभुके लिये भी क्या कोई कार्य असम्भव है? कूर्मदासने मनमें निराशाका भाव नहीं आने दिया। प्रभुकी कृपामें उनका अडिग विश्वास था। उन्होंने दीन भावसे अपने विठोबाके नाम उलाहना-भरा पत्र लिखा—

'हे शरणागतवत्सल! मुझ अङ्गहीनपर दया कीजिये। कल एकादशीकी पुण्य तिथि है। मैं आपतक कैसे पहुँच सकूँगा। दयासिन्धो! क्या आप मुझ अधम जीवको दर्शन देनेकी कृपा नहीं करेंगे? प्रभो! आपका विरद सुनकर आया हूँ—कृपा करो! कृपा करो!!' पण्ढरपुर जानेवाले एक यात्रीको कूर्मदासने यह पत्र दे दिया।

पत्र एकादशीके दिन ही प्रभु विठोबाके चरणकमलोंमें पहुँच गया। घट-घटकी जाननेवाले करुणासागर भगवान्‌के कानोंमें कोई व्याकुल होकर यह घोष कर रहा था—'प्रभो! बहुत देर हो गयी। कब दर्शन दोगे, दीनानाथ! हे विठोबा! मुझ दीन-हीनको अब तो करुणा कर दर्शन दो।' सचमुच कूर्मदास विलाप कर रहे थे। भगवान् भक्तकी व्याकुल पुकारसे द्रवित हुए और 'लहुल'में ही कूर्मदासके समक्ष प्रकट हो गये। कूर्मदासजी एकादशीको प्रभुके चरणोंका स्पर्श पाकर कृतकृत्य हो गये। प्रसिद्ध है, जबतक कूर्मदासजी सशरीर इस गाँवमें रहे, विठोबा भी वहीं उनके समीप रहे। 'लहुल'में श्रीविट्ठलनाथका मन्दिर कूर्मदासपर भगवद्-नुग्रहका ही मूर्तरूप है।

कृपानाथकी कृपासे कृतार्थ कूवा

हरि अनन्त हैं, उनकी कथाएँ भी अनन्त हैं। इसी प्रकार उनकी कृपाका भी कोई ओर-छोर नहीं है। कई सौ वर्ष पूर्व राजस्थानके एक गाँवमें एक कुम्भकार रहते थे। नाम था भक्त कूवा। उनकी धर्मपत्नी पुरी भी भक्तिमती थी। एक तो कुम्हार वैसे ही सम्पन्न नहीं होते, फिर कूवा तो संसार-व्यापारको भगवान्‌के भजनमें बाधा मानकर जीविकोपार्जनकी ओर पूरा ध्यान ही नहीं देते थे। ध्यान देने योग्य वस्तु तो केवल भगवान् ही हैं, इस दृष्टिसे कूवा मासमें केवल तीस बर्तन गिनकर गढ़ते थे और उनकी साधारण-सी आयसे ही उदरपूर्तिके साधन जुटाते। शेष समय उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते वे अपने प्रभुका ही ध्यान करते। लोभ था तो भजनका, मोह था तो भजनका और संग्रह था तो वह भी भजनका ही। कोई दूसरा काम था तो वह था घर आये अतिथियोंकी भगवद्-बुद्धिसे यथाशक्ति सेवा करना। इस प्रकार कूवाका प्रभु-परायण आदर्श जीवन था।

एक बार भक्त कूबाकी ख्याति सुनकर उनके ग्राममें-से जाती हुई एक साधु-मण्डली उनकी कुटियापर जा पहुँची। गाँवमें अन्य धनी-मानी व्यक्ति भी थे; पर साधु भी तो भगवान्‌की ही तरह भावके भूखे होते हैं। अस्तु, कूबाने बड़ी प्रसन्नतासे साधुओंका स्वागत किया और यथाशक्ति उनके ठहरनेकी व्यवस्था की। अब निर्धन कूबाके सम्मुख साधुओंको भोजन करानेका धर्म-संकट उपस्थित हुआ। साधु भी थोड़े-बहुत नहीं, दो सौ थे। घरमें अन्न दो व्यक्तियोंके लिये भी न था, पर वे तो अपने भाग्यपर फूले नहीं समा रहे थे, सोच रहे थे—'साधु भगवान्‌के ही स्वरूप होते हैं। इनकी सेवा करके मेरा जन्म सफल हो जायगा।' इसी उधेड़-बुनमें वे ग्रामके एक धनी महाजन-के घर जा पहुँचे और अपनी समस्या उनके सामने रखी। महाजनने वणिक्-बुद्धिसे सौदा किया; बोला—'देखो कूबा! आटा, दाल, चावल, दूध, घी—सब सामग्री जुटा देता हूँ; पर मेरी एक शर्त है, मुझे ग्रामके पूर्वी छोरपर एक कुआँ बनवाना है, यदि तुम बिना किसी और श्रमिककी सहायता लिये यह कार्य कर सको तो·······।'

कूबाको और चाहिये ही क्या था? उन्होंने महाजनको आगे बोलनेका भी अवसर नहीं दिया। सौदा तय हो गया। भोजन-की सामग्री कूबाकी कुटियामें पहुँच गयी। भण्डारा हुआ। बड़ी शान्तिसे उस छोटे-से गाँवमें एक अपूर्व महायज्ञ हो गया और वह भी एक अकिंचन कुम्हारके घर। साधु उनकी सेवासे संतुष्ट हुए। कूबाकी श्रद्धा-भक्ति देखकर तो उनकी प्रसन्नताका ठिकाना ही न रहा। उन्होंने कूबाको भगवद्भक्तिका आशीर्वाद दिया और वहाँसे विदा ली।

भगवान्‌में पूर्ण निष्ठा रखनेवाले कूबा साधुओंके प्रस्थानके अनन्तर ही अपनी पत्नी पुरीके साथ ग्रामके पूर्वी छोरपर यथास्थान कुआँ खोदनेमें संलग्न हो गये। हरिनाम-संकीर्तनकी ध्वनिके साथ वे पति-पत्नी मिट्टी खोदते और बाहर डालते जाते। क्षण-क्षणपर मानो श्रमरूप भगवान्‌की ही उपासना हो रही थी। कूबाके लिये तो यह महान् नाम-यज्ञ था। अन्तमें भक्तके शुभ श्रमकी विजय हुई, जल-का स्रोत निकल आया; पर कुएँकी तलीमें बालू थी। वह मिट्टीका बोझ न [illegible]। कुआँ बै[illegible] और भक्त कूबा नीचे [illegible] पुरी [illegible] कर उठी। कूबाको मिट्टी खोदकर बचानेका साहस किसीको न हुआ। सबने यह विवशता स्वीकार कर ली कि 'कूबाको जल-समाधि मिल गयी। प्रभुकी इच्छा!'

कालान्तरमें वह स्थान वर्षा-जलसे बहकर आनेवाली मिट्टीसे पट गया। ग्रामवासी कूबाको भूल गये; पर करुणासागर अपने भक्तको कैसे भूलते? वे तो अपने अनन्य सेवककी सब प्रकारसे, सब स्थितियोंमें कृपापूर्वक रक्षा करते हैं।

कुछ समय बीतनेपर उस ग्राममें यात्रियोंका एक दल आया। वे रात्रि-विश्राम-हेतु उसी स्थानपर ठहरे, जहाँ भक्त कूबाने कुआँ खोदा था। उन्हें नींद नहीं आ रही थी। भूमिके नीचेसे करताल-मृदङ्गके मधुर स्वरोंके बीच—'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव'-का घोष स्पष्ट सुनायी दे रहा था। ज्यों-ज्यों रात्रिकी नीरवता बढ़ी, यह कृष्ण-कीर्तन और भी स्पष्ट सुनायी देने लगा। ग्रामके लोग एकत्र हुए। कोई कहता—'कूबाका भूत है।' कोई कहता—'ऐसा न कहो, यह भगवान्‌के परम भक्तकी वाणी है।' होते-होते उस प्रदेशका राजा भी अपने अमात्योंसहित वहाँ आया। सावधानीपूर्वक मिट्टी खोदी गयी। अनेक श्रमिक थे, राजशक्ति थी। कुछ ही समयमें राजा और उपस्थित जनोंके सम्मुख प्रकाश हो गया। कुएँके तलमें निर्मल जलकी धारा प्रवाहित हो रही थी। एक ओर दिव्य कमलासनपर शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म-धारी चतुर्भुज भगवान् विराजमान थे तथा दूसरी ओर हाथमें करताल लिये कूबा तन्मय होकर कीर्तन कर रहे थे। भगवान्‌के विग्रहसे अश्रु-प्रवाहके बीच दिव्य मुस्कान चमक रही थी और उधर कूबाकी वाणीमें कम्प था, नेत्रोंसे नीर बह रहा था तथा रोमावलि खड़ी थी। ऐसा अनोखा दृश्य देखकर सभीने अपने भाग्यको सराहा।

भक्तपर प्रसन्न होकर उन कृपानाथने सबको दिव्य दर्शन दिया और अन्तर्धान हो गये। राजाने कूबाकी चरण-धूलि मस्तकपर धारण की तथा उनके नित्य-दर्शनका नियम लिया। पुरीके जीवनकी तो सम्पूर्ण साधना ही फलवती हो गयी थी। पति-पत्नी पूर्ववत् भगवद्-भजन और सत्सङ्गमें लग गये। कूबा भगवत्कृपाका स्मरण प्रायः विदेहावस्थामें ही रहते थे।

भगवान् राघवेन्द्रके कृपापात्र भक्त सेना नाई

गोस्वामी तुलसीदासजीने 'मानस'मे कहा है—

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सत संगति संसृति कर अंता ॥
(७। ४४। ३)

संत-कृपा वास्तवमें कल्पतरुके समान है। संतोंकी कृपासे यह पामर जीव अनन्त ब्रह्माण्डके नायक श्रीराघवेन्द्रका साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाता है।

लगभग छः सौ वर्षपूर्व बघेलखण्डके बान्धवगढ़ नगरमें भक्त सेना नाईपर श्रीराघवेन्द्र सरकारकी ऐसी ही अपार कृपा हुई। बान्धवगढके राजा वीरसिंहके राजप्रासादमे सेना प्रायः नित्य ही क्षौर-कर्म करने जाते थे। वे अपना कार्य पूरी कर्तव्य-निष्ठाके साथ करते थे; परंतु लौकिक कर्मोंके साथ-साथ सेना भगवद्भजनमें भी तत्परतासे लगे रहते। ब्राह्ममुहूर्तमे उठना, स्नान आदिसे निवृत्त होकर भगवान्‌की उपासना करना, संत-अतिथियोंकी निष्कपट सेवा करना उनका सहज स्वभाव था। उनकी सरलता, उदारता, अद्वेष-भावना और भगवत्परायणतासे स्वयं राजा-तक प्रभावित थे। भगवत्परायण साधककी सांसारिक वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, इसलिये उसके जीवनमें सरलता और यथालाभ-संतुष्ट रहनेकी प्रवृत्ति तो स्वाभाविक आ ही जाती है।

जिसपर भगवान्‌की विशेष कृपा होती है, उसपर संत-महात्मा भी अनुग्रह करते हैं। एक बार सेना नाई जब राजप्रासाद-की ओर जानेके लिये घरसे निकले तो मार्गमे उन्हे एक संत-मण्डली आती दिखायी दी। मृदङ्गकी सुमधुर तालके साथ वे लोग मँजीरे बजाते हुए भावावेशमे 'रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीता राम'की भक्ति-प्रदायिनी ध्वनिका घोष कर रहे थे। सेना नाईने इस अनायास संत-समागमको भगवदनुग्रह माना और उन श्रीराम-भक्तों-को अपनी कुटियापर ले आये। वे एकनिष्ठ हो उनके आतिथ्यमे लगे रहे। फिर सत्सङ्ग हुआ, श्रीरामका यशोगान करते हुए सभी तन्मय हो गये।

बहुत समय बीत गया। संत-महात्माओंने प्रसाद पाकर प्रस्थानकी तैयारी की। तब सेना भी उस भक्ति-सागरकी आह्लाद-कारिणी शान्तिसे बाह्य जगत्‌में आये। राजप्रासाद पहुँचनेका समय बीत चुका था। अब उन्हें अपनी भूल ध्यानमें आयी। बिना प्रसाद पाये उन्होंने कैंची, दर्पण, उस्तरा आदिकी पेटी कंधेपर डाली और राजमहलकी ओर लपके।

राजप्रासादका सिंहद्वार आया ही था कि एक सैनिकने उन्हें टोका—'अरे अभी तो तुम बाहर गये थे, क्या कुछ भूल गये ?'

सरल-हृदय सेनाने सोचा—'नाईसे सभी लोग मसखरी करते हैं।' उसकी बातका कोई उत्तर न देकर वे लंबे-लंबे डग भरकर राजा वीरसिंहके कक्षमें पहुँचे। भयके कारण उनका चेहरा पीला पड गया था। उन्हें देखकर राजा वीरसिंह आश्चर्यमें पड़ गये और स्वयं सेना भी उन्हें देखकर एक क्षण विस्मय-विमुग्ध रह गये। राजा क्षौर-कर्म करा चुके थे, उनके शरीरपर तेल-मर्दन और स्नानके कारण एक अलौकिक तेज दृष्टिगत हो रहा था, सारा कक्ष एक दिव्य सुगन्धसे महक रहा था। सेनाने निष्कपटतासे कहा—'महाराज! मुझसे भूल हुई। क्षमा करें। घरपर साधु पधारे थे, उनकी सेवामें लगा रहा, अतः देर ·······।'

आश्चर्यमिश्रित मुस्कानमे राजा बोले—'तुम क्या कह रहे हो, अभी-अभी तुम नहीं आये थे तो कौन आया था? तुम्हारी-सी ही वाणी, तुम्हारी-सी ही सेवा, और तो और तुम्हारी-सी ही अन्तरङ्ग बातें और कौन करता? पर ऐसा सुख तथा मधुर स्पर्श मैंने तुम्हारे हाथोंमे आजतक कभी नहीं पाया।'

अब तो सेनाके भक्त-हृदयमे सारा खेल स्पष्ट हो गया। प्रेमाधिक्यके कारण उनके नेत्रोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे। वे बोले—'महाराज! हो-न-हो स्वय श्रीराघवेन्द्रने ही आज आपपर और मुझपर यह अवर्णनीय अनुग्रह किया है। आप धन्य हैं, मैं अधम हूँ, जो मेरे लिये पतितपावन श्रीराघवेन्द्रने इतना कष्ट उठाया।' सेना भगवन्नाम जपते-जपते भाव-विभोर हो रो पड़े। राजा वीरसिंहने कृतज्ञतावश अपने भृत्य सेना नाईके चरण छू लिये; क्योंकि राजाके लिये अब वे अपने सेवक न होकर भगवान्‌के परम सेवक थे। राजाने सेनासे कहा—'महा राज! आपके कारण आज हमारा वंश पवित्र हो गया। आपके कारण ही आज हमे भगवान् राघवेन्द्रके मङ्गलकारी दर्शन हुए। आप-जैसे प्रभुके कृपापात्रको पाकर आज बान्धवगढ़-की भूमि पवित्र हो गयी।'

राजाकी आज्ञासे अब सेना अपना सारा समय एकान्तमें भगवद्भजन करते हुए बिताने लगे।

भगवत्कृपाकी अधिकारिणी—करमैती

भगवत्कृपासे अनेक संतोंके जीवनमें अलौकिक घटनाएँ घटी हैं। प्रभुकी कृपाका सर्वोत्तम फल तो उनके चरणोंमें सच्चा अनुराग हो जाना ही है। भगवत्कृपाकी ऐसी ही पात्रा थी राजस्थानकी भक्त करमैती बाई। करमैती जयपुर राज्यान्तर्गत 'खंडेला'के सेखावत सरदारोंके कुलपुरोहित पण्डित परशुराम-जीकी गुणवती कन्या थी।

पूर्वजन्मके संचित पुण्योंसे बचपनमे ही उसके हृदयमें भक्तिभावका स्फुरण हुआ। माता-पिताके संस्कार भी भक्तिमय थे। इसलिये पुत्रीका भगवान् श्रीकृष्णमें सच्चा अनुराग देखकर वे अपने भाग्यको सराहने लगे। करमैती प्रायः सारा समय एकान्तमे श्रीकृष्ण-नाम जपनेमें व्यतीत करती। प्रतिदिन उसकी प्यारे श्यामसुन्दरमे प्रीति गाढी होती गयी अथवा यों कहें कि उसपर श्रीकृष्णकी कृपाका अमृत विशेषरूपसे बरसने लगा। माता-पिताने छोटी अवस्थामे ही करमैतीके हाथ पीले कर दिये थे। उन्हें भय था कि कन्याके कन्हैया-प्रेमको सजातीय बन्धु उन्माद मानकर कहीं विवाहका प्रस्ताव ही स्वीकार न करें और कन्या कुँवारी रह जाय; पर मीराबाईकी तरह ही करमैतीने भी साँवले-सलोने श्यामसुन्दरका ही वरण कर लिया था।

कुछ वर्षों बाद जब पतिगृह जानेका अवसर आया, तब करमैतीको ज्ञात हुआ कि मेरी ससुरालमे तो भगवान्का नाम लेना भी अपराध माना जाता है। वहाँ मै अपने 'नाथ'का स्तवन, भजन, गायन कैसे कर पाऊँगी। वह मन-ही-मन बहुत दुःखी हुई। उसने प्रार्थना की—'हे कृपालो! अब संसार-चक्रसे उबारनेवाले आप ही हैं। मुझे अपनी शरणमे ले लीजिये, प्रभो!

करमैतीके माता-पिता कन्याको ससुराल भेजनेकी तैयारीमे लगे रहे; पर प्रभुकी जिसपर असीम कृपा हो, वह तो उनका ही हो जाता है, संसारसे उसका क्या नाता। करमैतीको कुछ न सूझा। प्रभु-प्रेरणासे वह ब्राह्मण-कन्या, जो कभी घरसे बाहर भी नहीं निकली थी, रात्रिमे चुपकेसे घरसे निकल पड़ी और निर्जन वन-प्रान्तमे रात्रिके गहन अन्धकारको चीरती हुई दौड़ने लगी, दौड़ती रही—दौड़ती रही। उधर प्रातःकाल ही घरमे कन्याको न देखकर पिता परशुराम घबरा गये। माता विलाप करने लगी। इधर-उधर घुड़सवार भेजे गये। दो घुड़सवार उत्तर दिशामे भी दौड़े। करमैतीने वही राह तो पकड़ी थी—अपने प्रियतम श्याम-सुन्दरकी दिव्य भूमिकी राह! निर्जन मरुभूमिमे सहसा घोड़ोंकी टापोंका कर्णभेदी स्वर सुनकर करमैती भयसे काँप उठी। अब इस निर्जन वनमे क्या करे! छिपनेका भी कोई स्थान नहीं। तभी उसने देखा, रेतीली भूमिपर एक मरा हुआ ऊँट पडा है। गीदड़ोंने मांस खाकर उसके पेटमे पोल बना दी थी। करमैतीने संसारकी दुर्गन्धमयी वासनाओंमें फँसनेकी अपेक्षा ऊँटके उस दुर्गन्धयुक्त कंकालको श्रेष्ठ समझा। वह उसीमे छिप गयी। उसे इस अवस्थामें श्रीकृष्णका ही ध्यान था, उनका ही स्मरण था। दुर्गन्धसे घृणा नहीं थी, पकड़े जानेपर श्रीकृष्ण-भक्तिके पथसे विचलित होनेका भय था। घुड़सवार आगे निकल गये। फिर भी, कहते हैं, करमैती तीन दिनतक उसी अवस्थामे पड़ी भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करती रही।

समय बीता और भक्तिमती करमैती श्रीकृष्णकी लीला-भूमि वृन्दावनमें पहुँच गयी।

पिता परशुरामकी भूख-प्यास तो करमैतीके साथ ही चली गयी थी। पुत्रीको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे भी वृन्दावन पहुँच गये। बहुत खोज करनेपर एक दिन वे एक वृक्षपर चढ़कर देखने लगे, पुत्रीको ब्रह्मकुण्डके निकट सघन वनमे श्रीकृष्णके गुण-गानमे तल्लीन देखकर वे हर्ष और शोकके मिश्रित भावोंसे घिर गये। कन्याकी अवस्था देखकर उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे।

करमैतीके समीप आकर वे भी श्रीकृष्ण-प्रेममे देरतक रोते रहे। कुछ समय पश्चात् सुधि आयी तो पुत्रीसे घर लौटने-की अनुनय-विनय करने लगे, परंतु करमैती तो भक्ति-सागरमें आकण्ठ डूब चुकी थी। सासारिक विषय अब उसके लिये काकविष्ठाके समान तुच्छ थे। वह घर लौटनेके लिये राजी न हुई। अन्ततः पिता परशुराम उसकी अनन्य-भक्तिके आगे नतमस्तक हुए और 'खंडेला' लौट आये। पत्नीसे उन्होंने भारी कण्ठसे इतना ही कहा—'तू धन्य है, आर्ये! तूने श्रीकृष्ण-भक्त पुत्रीरत्नको जन्म दिया।'

करमैतीने माता-पिताको ही नहीं, अपने राज्य और देशको भी धन्य किया। तत्कालीन सेखावत राजा भी वृन्दा-वन गये। करमैतीको भक्तिमे तल्लीन देखकर वे भी

अपने भाग्यकी सराहना करने लगे। पुरोहितजीकी भक्तिमती कन्याके लिये उन्होंने कुटिया बनवानेका प्रस्ताव किया। करमैतीने संत-स्वभावसे प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, पर राजाके अत्यधिक आग्रह करनेपर उसने तटस्थ भावसे उनके कार्यमें बाधा नहीं डाली। जिसे भगवदनुराग हो गया हो, उसके लिये क्या कुटिया, क्या वन! भगवत्प्रेमसे बढ़कर भी क्या कोई सुख है उसके लिये। करमैती यही देव-दुर्लभ भगवत्कृपा पा चुकी थी।

सरलहृदय कण्णप्पपर कृपा-वृष्टि

परमात्मा सर्वत्र समानरूपसे व्याप्त हैं। सबके हृदयोंमें वे ही विराजते हैं, परंतु उनका दर्शन नहीं होता; क्योंकि हृदय-सिंहासनपर जीवने ममता और प्रियतावश संसारको बैठा लिया है। उसने संसारकी वस्तुओंमें सुख और संग्रह-बुद्धि कर ली और बँध गया है। जिसने सांसारिक भोगों तथा देहकी सुविधा-सामग्रीकी आसक्तिको भी त्याग दिया है, उसका हृदय निश्चय ही निर्मल हुआ है। वह चाहे पापात्मा भी क्यों न हो, प्रभुकी कृपा और अपने दृढ निश्चयके बलपर वह जीवनका चरम फल भगवत्साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। क्रूर, हिंसा-धर्म-प्रेमी, कर्मसे शून्य कण्णप्पका ऐसा ही शिक्षाप्रद आख्यान है।

कण्णप्प दक्षिणके वनप्रदेशमें रहनेवाली एक व्याध-जातिके सरदारका बलिष्ठ पुत्र था। उसके पिताका नाम 'नाग' और माताका नाम 'तत्ता' था। दोनों ही स्वभावसे क्रोधी, कामी और पशु-वृत्तिसे पूर्ण थे। पुत्रका जन्म होनेपर पिताने जब उसे गोदमें उठाया तो वह बोझिल जान पड़ा। इसलिये उसका नाम रखा गया—'तिण्ण' अर्थात् भारी। यही तिण्ण सोलह वर्षकी अवस्थामें सिंह-शावककी भाँति बलवान्, शिकार-प्रेमी और बाण-संधानमें अत्यन्त कुशल हो गया। जब वह शिकार करने निकलता तो तीक्ष्ण बाणोंसे अनेक पशु-पक्षियोंकी हत्या करके लौटता था। पिताकी वृद्धावस्था आनेपर तिण्ण अपने कबीलेका सरदार हो गया।

पहली बार वह अपने कुशल सेवकों—'नाण' और 'काण'के साथ शिकारपर निकला। अनेक पशुओंका संहार करते हुए उसने गहन वनमें जाकर एक विशालकाय सूकरको अपने तीक्ष्ण बाणसे धराशायी कर दिया। बहुत समय हो चुका था। वह भूख-प्याससे व्याकुल होने लगा। तब वनके सभी भागोंसे पूर्णतया परिचित नाणसे उसने पूछा—'नाण! यहाँ पानी कहाँ मिलेगा?'

नाणने इसे उस भयानक वन-प्रदेशकी जानकारी देते हुए बताया—'उस पहाड़ीपर चढ़ चलिये। उसीके दूसरी ओर नीचे स्वर्णा नामक नदी है और पहाड़ीपर जटाजूटधारी शिवका एक मन्दिर भी है। चाहें तो आप पूजा भी कर सकते हैं।'

तिण्ण पहली बार उस क्षेत्रमें आया था। पहाड़ीका मनोरम दृश्य उसे अत्यन्त रमणीक जान पड़ा। नाणके साथ वह पहाड़ीपर चढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों वह चढ़ाई चढ़ता जाता था, त्यों-त्यों उसे अधिक आनन्द आ रहा था, मानो सिरसे कोई बोझ उतर रहा हो। ऊपर पहुँचकर उसने जैसे ही देव-प्रतिमाका दर्शन किया, एक अनिर्वचनीय आनन्दसे वह पुलकित हो उठा। उसने प्रतिमाको बाहुपाशमें जकड़ लिया और प्रेमाश्रु गिराते हुए बोला—'जंगली जानवरोंके बीच आप अकेले कैसे रहते हैं? आपको डर नहीं लगता, मेरे प्यारे परमात्मा?' प्रेमाधिक्यके कारण वह रोमाञ्चित हो उठा। उसका धनुष खिसककर नीचे गिर पड़ा। उसे उठानेके लिये जब वह नीचे झुकने लगा तो उसने देखा मूर्तिके शीशपर हरे पत्ते, जंगली फूल और शीतल जल चढ़ा हुआ था। दुःखित हो वह नाणसे पूछने लगा—'कौन नराधम मेरे देवताको ये वस्तुएँ चढ़ाता है?' नाणने बताया—'आपके पिताजीके साथ मैं कई बार पहले इधर आया हूँ। एक ब्राह्मणने हमारे सामने इसपर पानी चढ़ाकर जंगली फूल रखे थे। सम्भवतः आज भी यह निन्दनीय कर्म उसीने किया होगा।'

तिण्णने पूजाकी विधि तो कहीं सीखी, सुनी, देखी नहीं थी, परंतु फिर भी उसके मनमें उस देव-प्रतिमाकी पूजा करनेका विचार उठा। बस, उसने संकल्प किया—'मैं अपने भूखे भगवान्‌को फलका गूदा पकाकर भोजन कराऊँगा।' तिण्ण मन्दिरसे बाहर आने लगा, पर तुरत ही किसी अज्ञात शक्तिसे बँधा हुआ-सा वह फिर प्रतिमाके निकट लौट आया। बार-बार ऐसा ही हुआ। वह फलका गूदा ले आनेकी दृष्टिसे बाहर आता, फिर उलटे पैरों वापस लौट जाता। प्रतिमामें ऐसा विलक्षण आकर्षण था कि तिण्ण उससे बँध-सा गया। अन्तमें

अपने प्रिय परमात्माकी भूखकी कल्पनासे व्याकुल हो वह फलका गूदा पकानेके लिये पहाड़ीसे नीचे उतर आया। नीचे आनेपर उसके अन्य सेवकोंको नाणसे जब यह ज्ञात हुआ कि उनका स्वामी देव-प्रतिमाका आलिङ्गन कर प्रेममें रोया है और अब वह उसके लिये फलका गूदा पकाकर ले जानेके लिये आया है तो वे सभी उसके पागलपनपर नाक-भौं सिकोड़ने लगे। तिण्णने उनके प्रलापकी ओर कोई ध्यान न दिया। फलका गूदा पकाया, उसे चखा और उसके स्वादसे संतुष्ट होकर उसने उसे शालके पत्तेमें सावधानीसे लपेट लिया। भगवान्‌को भोजन करानेकी भावनासे वह फिर पहाड़ीपर चढ़ चला। न उसने अपनी भूख-प्यासकी चिन्ता की और न नौकरोंकी ही, फलस्वरूप नौकर उसे छोड़कर चले गये। संसार जब हृदयसे निकाल दिया जाता है, तब मनुष्य संसारमें रहता हुआ भी उससे निर्लिप्त ही रहता है।

तिण्णने देव-प्रतिमाके अभिषेकके लिये पहाडीके नीचे बहते एक झरनेका स्वच्छ पानी मुखमें भर लिया, अपनी केशराशिमें कुछ पुष्प खोंस लिये और एक हाथमें धनुष एवं एक हाथमें फलके गूदेका पत्ता लेकर वह मन्दिरकी ओर चढ़ता चला जा रहा था। दोपहरकी कड़ी धूपमें अपनी भूख-प्यास भूलकर पहाड़ीपर चढ़नेमें उसे तनिक भी क्लेश प्रतीत नहीं हो रहा था। अध्यात्म-पथपर चलनेवालोंको भला शारीरिक क्लेश क्या रहना! मन्दिरमें पहुँचकर तिण्णने पैरोंसे ही प्रतिमापर पड़े फूल-पत्ते हटा दिये, क्योंकि उसके हाथ खाली न थे। मुखसे जल छिड़ककर उसने प्रतिमाको नहलाया और फलके गूदेका पत्ता आगे रख दिया। स्नेहसे उसने अपनी कबाली बोलीमें प्यारे प्रभुसे भोजन करनेकी प्रार्थना की। तबतक रात्रिका सनाटा और अन्धकार छा गया। तिण्णने हिंस्र पशुओंसे आक्रान्त उस प्रदेशमें अपने भगवान्‌की रक्षाके लिये धनुष-बाण साधा और वहीं वीरासन लगाकर बैठ गया, रात बीत गयी, पर उसे देव-प्रतिमा (परमात्मा)-को संतुष्ट करनेके अतिरिक्त और किसी कामका ध्यान नहीं था। वह प्रातःकालकी पहली किरणोंके साथ अपने 'देवता'के लिये ताजा आहार लेने निकल पड़ा।

उधर पुजारी मन्दिरमें आया। यत्र-तत्र फलका गूदा बिखरा देखकर वह बड़ा खिन्न हुआ। उसने पूरे विधि-विधानसे मन्दिरकी शुद्धि की और प्रभुसे दीन-भावसे क्षमा माँगने लगा।

यही क्रम पूरे पाँच दिनतक चला। तिण्ण शहदके छत्ते तोड़कर फलके गूदेमें शहद मिलाता। अपनी दृष्टिमें अत्यन्त सुस्वादु गूदा बनाकर भगवान्‌की भूख मिटाना ही उसका लक्ष्य था। इस लक्ष्यकी पूर्तिमें उसे अपनी भूख, प्यास, नींद—किसीका ध्यान न था। उसका अब यही कार्य हो गया था। निष्कपट सेवामें उसका अन्तःकरण निर्मल हो गया, उसमें भगवत्प्रेमकी ज्योति उद्दीप्त हो उठी।

इधर पुजारी नित्यकी इस दुर्घटनासे भयभीत हुआ प्रभुसे प्रार्थना करने लगा—'हे भगवन्! इस कुकृत्यको रोकिये।' तबतक एक रात स्वप्नमें उसे भगवान् शिवने दर्शन दिया और कहा—'पुजारी! एक शिकारी मेरी इस प्रकार पूजा करता है। वह मेरा अत्यन्त प्रेमी भक्त है। वह अशिक्षित जब अपने हाथोंसे मुझपर फूल चढ़ाता है तो मैं नन्दनवनको भी भूल जाता हूँ। उसके अट-पटे प्रेमलपेटे बैन मुझे देवर्षि नारदकी मधुर वीणाके स्वरोंपर की जानेवाली स्तुतिसे भी मधुर लगते हैं। यदि उसकी सच्ची भक्ति देखना चाहते हो तो कल आकर मेरी प्रतिमाके पीछे छिपकर खड़े हो जाना। उसके हृदयमें अब मेरे अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं है।'

पुजारीने प्रभुकी आज्ञा स्वीकार की। प्रातःकाल हुआ। नित्यकी भाँति इस दिन भी तिण्ण मन्दिरमें आया। पर आज वह कुछ देरीसे आया था। वह चिन्तित था; क्योंकि अपनी जातिमें प्रचलित अन्धविश्वासोंके आधारपर आज उसे कहीं रक्त गिरनेकी आशङ्का थी। जैसे ही वह प्रतिमाके सम्मुख आया, उसने देखा प्रतिमाकी दाहिनी आँखसे रक्तकी धारा बह रही है। वह दौड़ता हुआ गया, जंगलसे अनेक जड़ी-बूटियाँ लाया, पर उपचारमें सफल न हुआ। तब उसने अपने बाल नोचकर घावमें भरे, पर रक्त न रुका; पत्ते लगाये, रक्त बहता रहा; कपड़ा फाड़कर ठूँस दिया, पर रक्त नहीं थमा। अन्तमें उसे एक उपाय सूझा, उसने सोचा, 'मांसका घाव मांससे ही भरता है'—यह विचार आते ही उसने अपने बाणसे अपनी एक आँख निकाली और भगवान्‌की आँखमें घुसेड़ दी। रक्तधारा रुक गयी। वह हर्षसे मस्त हो उठा। फलके गूदेका पत्ता प्रतिमाके आगे सरकाया। पर यह क्या! तभी देव-प्रतिमाकी दूसरी आँखसे भी रक्त-प्रवाह होने लगा। अब तिण्णने विचार करनेमें देर नहीं की। उसने सोचा—'दूसरी आँख निकालते ही

मुझे दिखायी नहीं देगा।' इसलिये प्रतिमाके पीड़ित नेत्रपर उसने पैर रख लिया, जिससे अपनी दूसरी आँख यथास्थान लगा सके। बस, जैसे ही उसने बाणकी नोंकसे अपनी दूसरी आँखको गोलकसे निकालनेका कार्य आरम्भ किया, देवता फूल बरसाने लगे और जटाजूटधारी भगवान् शिवने प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लिया—'ठहर, मेरे प्यारे कण्णप्प[1]! ठहर, तू मेरा अभिन्न भक्त है। त्याग और प्रेमकी मूर्ति कण्णप्प! तू अब सदा मेरे पास ही रहना।' प्रभुने उसे हृदयसे लगा लिया। उनके हृदयमें बसकर तिण्ण अब 'कण्णप्प' हो गया था। प्रभु-कृपासे उसकी दुष्प्रवृत्ति और दुराचार मिटकर सद्भाव और सदाचारमें परिणत हो गये। पुजारीने अब समझा कि भगवान् भावशून्य आडम्बरयुक्त भक्तिके वशमें नहीं हैं, वे तो आडम्बरहीन, छल-कपटरहित सच्ची भक्तिके वशमें ही होते हैं।

घाटमपर दीनवत्सलका अलौकिक अनुग्रह

कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि क्रमशः कल्पित, इच्छित और चिन्तित लौकिक पदार्थ ही प्रदान करते हैं, परंतु सत्सङ्गति तो दुःखोंका नाश कर लौकिक-पारलौकिक—समस्त शुभ फलोंकी प्राप्ति कराती है। सत्सङ्गतिसे तृष्णाका नाश हो जाता है, उन्माद शान्त होकर ज्ञान और नीतिका उदय होता है एवं विपत्ति टलकर सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है। निकृष्ट धूल भी श्रेष्ठ पवनके सङ्गसे (ऊँचाईपर) आकाशमें पहुँच जाती है। सचमुच, सत्सङ्गकी महिमा अपार है।

घाटम जातिसे मीना और कर्मसे चोर होते हुए भी भगवान्‌की भक्तिका अधिकारी हो गया, यह सत्सङ्गका ही प्रभाव था। एक बार वह चोरी करने निकला तो मार्गमें उसे एक संत मिल गये। पूर्वजन्मका कोई पुण्य ही उदय हुआ था कि घाटमको उनकी बात सुनकर अपने कर्मसे ग्लानि हुई और उसका विवेक किंचित् जगा।

घाटम जयपुर राज्यके घोड़ी (खोड़ी) ग्रामका रहनेवाला था। वह चोरी करनेमें दक्ष, निर्भय और निःशङ्क था। भगवद्भक्त भी दक्ष, निर्भय और निःशङ्क होता है, परंतु उसकी ये वृत्तियाँ पारमार्थिक होती हैं। अस्तु,

संत-कृपा ईश्वर-कृपासे भिन्न नहीं होती। संतने अपने अनुभवी नेत्रोंसे अन्तःकरणतक झाँककर घाटमको देखा—परख लिया। सरलस्वभाव घाटमने निवेदन किया—'महाराज! चोरी तो मेरी जीविका है, इसे छोड़ दूँगा तो भूखों मरना पड़ेगा। यह स्वभाव अब बदल नहीं सकता। खोटा कर्म है तो मैं क्या करूँ?' महात्माने युक्तिसे घाटमको समझाया—'देख, चोरी नहीं छूटती तो न छोड़, परंतु मेरे कहनेसे चार बातें अपना ले।'

संत चोरी छोड़नेके लिये नहीं कह रहे थे, अब घाटमको उनकी बात माननेमें कोई आपत्ति न थी। वह बोला—'कहो, महाराज! मैं आपकी चार बातें अवश्य मानूँगा।'

'तो सुन' कृपालु संत बोले—'एक तो सदा सत्य बोलना, दूसरे साधु-सेवामें प्रमाद न करना, तीसरे जो कुछ लाना, उसे पहले भगवान्‌को अर्पण कर देना और चौथे भगवान्‌की आरतीमें नित्य सम्मिलित होना।' घाटम राजी हो गया। इन चारों बातोंमें उसे कोई कठिनाई न थी।

संत जिसे कृपादृष्टिसे देख लेते हैं, उसके समस्त दुष्कर्म शनैः-शनैः छूट जाते हैं। चौर्य-कर्मके साथ-साथ घाटम उन महात्माके चारों उपदेशोंका दृढ़तासे पालन करने लगा। उसे पता न था कि उसका हृदय पवित्र हो चला है। घाटम भगवत्कृपासे सर्वथा अनभिज्ञ था!

जिन गुरुने घाटमको उपदेश किया था, उन्हें भी इस बातसे प्रसन्नता थी कि घाटम चाहे कुछ भी करे, उनकी चार बातोंका नियमपूर्वक निर्वाह कर रहा है। एक बार उन्होंने भी उसे अपने यहाँ भगवत्-उत्सवमें आमन्त्रित किया। गुरुके यहाँ बिना भेंट-सामग्रीके जाना घाटमने उचित न समझा। अतः सुन्दर वेश धारण कर वह राजप्रासादमें गया और एक श्याम रंगका सुन्दर घोड़ा चुराकर चल पड़ा। सिंहद्वारपर उसे प्रहरियोंने रोका तो उसने सत्य बोल दिया कि 'मैं घाटम चोर हूँ और घोड़ा चुराकर ले जा रहा हूँ।' प्रहरियोंने समझा कि कोई हमारा ही साथी है, हँसी-ठट्ठा कर रहा है। कहीं चोर भी अपनेको चोर कहता है और वह भी राजमहलके प्रहरियोंके समक्ष।

घाटम निर्द्वन्द्व-भावसे गुरुके आश्रमकी ओर चल पड़ा। संध्या-समय वह एक मन्दिरके निकटसे जा रहा था।

१. कण्णप्प (कण्ण—आँख, अप्प—वत्स।)

तभी आरतीका समय हुआ। घण्टे-घड़ियालोंका आनन्ददायी स्वर कानोंमें पड़ा। घाटमने घोड़ा वृक्षसे बाँध दिया। गुरु-आज्ञानुसार वह आरतीमें सम्मिलित हो गया।

उधर घोड़ेकी खोज हो रही थी। राजाके सिपाही घोड़ेके पदचिह्न देखते हुए उस मन्दिरतक पहुँच गये। पर घोड़ा देखते ही वे ठिठककर रह गये। घोड़ेके सभी लक्षण वही थे, अलंकार भी वही थे, परंतु रंग श्यामके स्थानपर स्फटिकवत् श्वेत था। राजाके सेवक भयसे काँप उठे—'घोड़ा न मिलनेमें राजा उनके प्राण ले लेगा।'

आरतीके पश्चात् प्रभुका प्रसाद ग्रहण कर घाटम मन्दिरसे बाहर आया। अश्वके समीप राजसेवकोंको देखकर वह सीधा उनके पास ही पहुँच गया। हड़बड़ीमें उसने घोड़ेकी ओर ध्यानपूर्वक देखा भी नहीं। राजाके सिपाहियोंसे बोला—'देखो, मैंने तो आपसे सत्य ही कहा था कि मैं घाटम चोर हूँ और घोड़ा चुराकर ले जा रहा हूँ।'

राजसेवक उसे देखकर चकित थे। वेश वही, वाणी वही, सवाद वही, किंतु अश्व! अश्व कैसे बदल गया! तब उनमेंसे एक वरिष्ठ सेवकने कहा—'भाई घाटम! तू तो काला घोड़ा लाया था?'

अब घाटमने अश्वकी ओर ध्यानसे देखा। प्रभुकी भक्ति जो दीर्घ कालसे उसके हृदयमें पूरी गोपनीयताके साथ सुदृढ़ और पुष्ट हो रही थी, सहसा प्रकट हो गयी। वह भावुक हो अश्रु गिराते हुए बोला—'राजसेवको! मेरी रक्षाके लिये स्वयं भगवान् श्यामसुन्दरने ही इस अश्वको श्यामसे श्वेत कर दिया है। आप यह अश्व ले जाकर राजाको दे दें।' वह पुनः मन्दिरमें जाकर भगवान्‌के चरणोंमें गिरकर अधीर हो रोने लगा।

राजसेवकोंने जब महलमें जाकर वह सारी घटना राजाको सुनायी, तब चकित हो वे घाटमके पास दौड़े आये। गुरु-उत्सवके लिये उन्होंने घाटमको बहुत-सा धन दिया तथा उसके चरण छूकर अपनेको कृतार्थ माना। राजाने वह अश्व भी उसे ही भेंट कर दिया।

गुरु-कृपासे घाटमके अन्तश्चक्षु खुल चुके थे। उन्होंने समस्त पदार्थ गुरु-चरणोंमें अर्पित कर दिये और वे स्वयं पूर्णतया भगवान्‌के श्रीचरणोंमें समर्पित हो गये।

वीर भुवनसिंह चौहानपर भगवत्कृपा

भगवान् अहंकार तो किसीका भी नहीं टिकने देते, फिर अपने भक्तमें वे अभिमान कैसे देख सकते हैं! अकारण कृपा कर अपनी अहैतुकी कृपाद्वारा वे उसका अभिमान विगलित कर देते हैं। फिर वह चाहे रूपका हो या विद्याका, चाहे धन, ऐश्वर्य, सम्पत्ति, बल अथवा अन्य किसी वस्तुका।

उदयपुरके महाराणाके एक दरबारी भुवनसिंह चौहान बड़े शूरवीर, साहसी और युद्ध-कलामें निष्णात थे। इसके साथ ही श्रीनाथजीके चरणोंमें भी उनका परम अनुराग था। ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर वे भगवद्भजन करने बैठ जाते और ग्यारह बजेतक सेवा-पूजा आदि नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर ही दरबारमें उपस्थित होते। रात्रिमें फिर भगवदाराधनमें घंटों तल्लीन रहते। उनकी उदारता, सत्यनिष्ठा, सेवा-परायणता और विनम्रतासे महाराणा भी अत्यधिक संतुष्ट रहते। जिसपर समग्र भूमण्डलके महाराणाकी प्रसन्नता हो, उसपर संसारी महाराजाओंकी प्रसन्नता क्यों न हो।

एक बार महाराणा शिकारके लिये गये। यद्यपि मृगया राजाओंका अवश्य पालनीय धर्म नहीं है, तथापि अधिकांश राजाओंको इसका व्यसन रहा है। महाराणाके साथ सभी प्रमुख सामन्त थे। कई पशुओंका शिकार किया गया; पर भुवनसिंह-द्वारा किसी जीवने प्राणोंसे हाथ नहीं धोया। अकस्मात् उन भगवद्भक्तसे भी परिस्थितिवश भयंकर भूल हो गयी। महाराणाको एक सुन्दर हिरणी दिखायी दी और उन्होंने उसके पीछे अपना घोड़ा लगा दिया, पर उस पर्वतीय प्रदेशमें हिरणी कहीं छिप गयी। महाराणा क्लान्त थे। उन्होंने अपने विश्वसनीय शूर भुवनसिंह चौहानको संकेत किया। अपने स्वामीका संकेत पाकर अपनी शूरवीरताका गर्व रखनेवाले भुवनसिंह उस हिरणीको खोजने लगे। वे उसे ढूँढ़नेमें सफल ही नहीं हुए, प्रत्युत उन्होंने अपनी बिजली-सी चमकती खड्गसे एक वृक्षके पीछे छिपी हुई उस निरीह हिरणीके पलक झपकते दो टुकड़े भी कर डाले। उसके नेत्रोंकी करुणासे भुवनसिंह चौहानका हृदय बिंध गया। उनके नेत्रोंके सामने वह मूक पशु अपने उदरस्थ शावकसहित तड़पकर शान्त हो गया।

भुवनसिंहका हृदय उन्हें धिक्कार उठा—'अरे अभिमानी योद्धा! तूने एक गर्भवती हिरणीका वध कर कौन-सी शूर-वीरता दिखायी! क्या तेरी यही भगवद्भक्ति है? जीवघाती चौहान! तुझे धिक्कार है!!'

आत्मग्लानिसे दग्ध होते हुए भुवनसिंह चौहान घर लौट आये। उन्होंने आठ-आठ आँसू रोकर भगवान्‌से अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी। उसी समय उन्होंने तलवारका त्याग कर दिया और काष्ठ (दारु)की तलवार म्यानमें डाल ली।

महाराणाको भुवनसिंहके हृदयकी बातका क्या पता! वे तो उनका और भी अधिक सम्मान करने लगे। शूरवीरताके लिये उन्हें पुरस्कृत किया गया; पर भक्त तो शूरवीरताका अभिमान छोड़ चुका था। एक ईर्ष्यालु सामन्तने उनके काठकी तलवार ग्रहण करनेके भेदका पता लगाकर महाराणासे चुगली की। दरबारका एक मुकुटमणि सरदार दारुकी तलवार रखे, यह असम्भव था। राजाको विश्वास नहीं हुआ; परंतु बार-बार राणाके कानोंमें जब यही बात दुहरायी गयी तो वे भ्रमित हो गये। अन्तमें उन्होंने एक युक्ति निकाली, जिससे भुवनसिंहजीकी तलवार भी देख ली जाय और वे अपमानित भी न हों।

राणाने एक वन-भोजका आयोजन किया और उसमें सभी दरबारियोंको आमन्त्रित किया। नाना प्रकारके मनोरञ्जक कार्यक्रमोंके बीच महाराणा सहसा बोले—'अच्छा सभी सामन्त अपनी-अपनी तलवारें दिखायें। देखें, किसकी तलवारमें अधिक चमक है?' बारी-बारी सभी अपनी-अपनी तलवारें म्यानोंसे निकालते और रख देते। भुवनसिंह चौहान बड़े धर्म-संकटमें पड़े। सभीके नेत्र उन्हींकी ओर लगे थे। उन्होंने कहना चाहा—'मेरी तलवार तो दारु (काठ)-की है', पर भगवत्कृपासे उनसे कहते यह बन पड़ा कि 'मेरी तलवार सार (असली लौह धातु)की है' और जैसे ही विकम्पित हाथसे उन्होंने तलवार म्यानसे निकाली तो उनके सहित सबके नेत्र आश्चर्यसे फटे-से रह गये। वह तलवार सचमुच सारकी थी और वही सबसे अधिक चमक रही थी। लगता था, जैसे बिजली कौंध गयी हो। भगवान्‌ने अपने भक्तकी लाज रखी, उसके वचनको सत्य किया। अब राणासे नहीं रहा गया। वे गोदमें आनन्दमग्न हो गये और भरी सभामें उन्होंने भुवनसिंहजीको सारी घटना सुनानेके बाद उस चुगलखोर सामन्तका सिर उड़ा देनेकी घोषणा की।

भुवनसिंहने उस सारे घटनाचक्रमें श्रीनाथजीकी अहैतुकी कृपाका दर्शन किया और अपराधी सामन्तके लिये प्राणदानकी याचना करते हुए आर्द्रवाणीसे कहा—'राणाजी! जंगलमें गर्भवती हिरणीका प्राण लेनेके पश्चात् मैंने दारुकी तलवार ही धारण कर रखी थी। यह तो भगवत्कृपा है कि आपको यह सारकी दृष्टिगोचर हुई।' उन्होंने फिर म्यानसे तलवार निकाली तो वह इस बार दारुकी ही थी। सब लोग और भी चकित हुए। राणा उनकी भगवद्भक्ति और अहिंसा-भावनासे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'सरदार भुवनसिंह! अब आपको दरबारमें आनेकी आवश्यकता नहीं। मैं नहीं चाहता कि आपकी भगवदाराधनामें विघ्न पड़े। आवश्यकता होनेपर मैं ही आपके पास आऊँगा। आप तो भगवान् त्रिलोकीनाथके ही दरबारी होने योग्य हैं। आजसे आपकी जागीर दो लाखके स्थानपर चार लाख रुपये वार्षिक की जाती है। आप धन्य हैं।'

विनयावनत भुवनसिंहजीने निवेदन किया—'राणाजी! मुझे जागीर नहीं चाहिये। आपसे यही प्रार्थना है कि आप भी शिकारका व्यसन छोड़कर सभी मूक प्राणियोंके प्रति दयाका भाव अपनायें।' प्राणिमात्रके प्रति निर्वैर होना ही तो भक्तका लक्षण है—'निर्वैरः सर्वभूतेषु' (गीता ११।५५)। राणाने उनकी सम्मति स्वीकार कर ली। जिसे अनन्त ब्रह्माण्डोंके अधिपतिकी कृपा प्राप्त हो गयी हो, उसे सांसारिक सम्पत्ति—जागीरसे क्या काम! भुवनसिंहजीकी भक्ति-भावना दिनोंदिन पुष्ट होती गयी। वे शेष जीवनमें भगवदाराधन करते हुए अन्तमें दिव्य भगवद्धामको प्राप्त हुए।

भगवदनुग्रहसे जोग परमानन्दकी बन्धन-मुक्ति

भगवान् केवल भक्तिका ही नाता मानते हैं। भक्तकी जाति-पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण और चतुराईकी ओर तो वे आँख उठाकर भी नहीं देखते। भक्तकी दृढ़ता देखकर ही वे करुणानिधि

जोग परमानन्दके हो गये थे। वे 'बारसी'के रहनेवाले एवं जातिके तेली थे। उनकी भगवद्भक्तिका इसीसे थोड़ा परिचय मिल जाता है कि वे 'बारसी'के मुख्य देव-मन्दिरतक दण्डवत् करते हुए दर्शनार्थ जाते थे। श्रीमद्भगवद्गीताके प्रत्येक श्लोक-पर एक-एक दण्डवत् करते जोग परमानन्द भगवान् श्रीकृष्ण-की पावन स्मृतिमें लीन हुए शनैः-शनैः मन्दिरकी ओर बढ़ते जाते थे। सात सौ श्लोक समाप्त होते-होते वे श्रीविग्रहके सम्मुख पहुँच जाते। उस समय उनके मुखपर अद्भुत संतोषकी झलक होती थी। नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बह चलती और प्रभु-प्रेममें उन्मत्त जोग परमानन्द अनिर्वचनीय आनन्दकी अनुभूतिसे आह्लादित हो जाते।

सात सौ दण्डवत्-प्रणाम करनेके इस उपक्रममें जोग परमानन्दका शरीर मार्गके कण्टकों एवं रोड़े-पत्थरोंसे क्षत-विक्षत हो जाता। प्रायः रक्त भी बह चलता, पर उनकी एकाग्रता श्रीमद्भगवद्गीताके पाठ और प्रभुके चरणारविन्दोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करनेमें ही बनी रहती। जोग परमानन्दकी ऐसी साध देखकर एक सज्जन उनपर मुग्ध हो गये। उन्होंने भक्तकी कुछ सेवा करनेकी इच्छा प्रकट की, पर सच्चे भक्तकी कोई सांसारिक इच्छा तो होती नहीं। उन्होंने सेवा स्वीकार नहीं की, पर वे सज्जन बड़े हठी थे; भाँति-भाँतिसे अनुनय-विनय करके उन्होंने जोग परमानन्दको एक मूल्यवान् पीत उपरना भेंट कर ही दिया।

जोग परमानन्दने उस सद्गृहस्थकी प्रसन्नताके लिये वह बहुमूल्य दुपट्टा ओढ़कर जब दण्डवत्-प्रणामका नित्य-नियम आरम्भ किया तो बार-बार उनका ध्यान दुपट्टेकी ओर ही खिंचने लगा। उसे कीच-धूलके लेपसे बचाने और श्लोकोंका पाठ करते हुए वे आगे बढ़ते जाते थे। परिणाम यह हुआ कि आज वे देव-मन्दिर किंचित् विलम्बसे पहुँचे। उन्हें अपनेपर बड़ी ग्लानि हुई—'ओह! मैं रेशमी दुपट्टेके मोहमें फँसकर अपने प्रभुका विस्मरण कर बैठा। कैसी भूल हुई, प्रभो! क्षमा करना, दयानिधे!' ग्लानिसे भरे हुए जोग परमानन्दने उसी समय वह रेशमी वस्त्र त्यागनेका संकल्प किया। संयोगवश उस मार्गसे एक व्यक्ति जुएमें जुते दो बैलोंको हाँककर ले जा रहा था। जोग परमानन्दने उसे रोका। बोले—'भाई! देखो, मेरे पास यह मूल्यवान् उपरना है। तुम्हारे बैलोंमें इसका मूल्य कहीं अधिक है। क्या तुम यह उपरना लेकर बदलेमें मुझे बैलोंकी जोड़ी दे दोगे?' बैलोंका स्वामी इस विनिमयके लिये तैयार हो गया।

बस, जोग परमानन्दने तुरंत प्रभुकी सेवामें त्रुटिके लिये अपने शरीरको दण्डित करनेकी योजना बना ली। जुएकी रस्सीमें अपने पैर बाँध दिये और उस व्यक्तिसे प्रार्थना की कि बैलोंको तेजीसे भगाओ। वह भोला व्यक्ति कुछ न समझा। बैल बहुत तेजीसे दौड़ रहे थे और पैरोंसे बँधे हुए जोग भी बैलोंके पीछे-पीछे घिसटने लगे। मुखसे गीताके श्लोक निकल रहे थे और प्रभुको हाथ जोड़कर प्रणाम करते वे घिसटते जा रहे थे। शरीरकी क्या दुर्गति हो रही थी, इसकी उन्हें कोई परवाह न थी। शरीर लहू-लुहान हो चला। बैलोंको कोई रोकता तो वे स्तम्भित होकर और भी वेगसे भागते। ग्राम, खेत, वन और ऊबड़-खाबड़ प्रदेशको कूदते-फाँदते वे बहुत दूर निकल गये।

जोग परमानन्द बेसुध हो गये, पर मुखसे भगवन्नामका उच्चारण अब भी हो रहा था। कृपासिन्धु प्रभु अपने भक्तकी यह दशा कैसे देख सकते! उनके संकेतमात्रसे बैल रुक गये। प्रभुके वरदहस्तसे जोगका शरीर पूर्ववत् सुगठित, सुकुमार हो गया। उसका बन्धन खोलते हुए करुणाकर बोले—'ऐसा कठोर दण्ड अपने शरीरको क्यों दिया जोग? तुम जो कुछ ग्रहण करते हो, वह मैं ही तो प्राप्त करता हूँ। तुम जहाँ-कहीं भी चलते हो, वह मेरी परिक्रमा ही तो करते हो, तुम सुखपूर्वक सोते हो, वही तो मेरा साष्टाङ्ग नमन है। जोग! तुम्हारी वाणीसे जो कुछ निःसृत होता है, वह मेरी ही तो स्तुति होती है।'

जोग परमानन्द तो मानो किसी वशीकरणमन्त्रसे मोहित हो गये थे। उन्होंने प्रेमाकुल होकर अपने सामने खड़े श्यामसुन्दरको साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। प्रभुने उन्हें बलपूर्वक उठाया और गलबहियाँ देकर प्रेमसे बातें करते हुए धीरे-धीरे चलने लगे।

'बारसी' में उस महान् भक्तकी, जिसके जन्म-जन्मके बन्धन स्वयं भक्तवत्सल भगवान्‌ने अपने हाथोंसे खोले थे, समाधि आज भी विद्यमान है।